

5-4

आर्य

आर्य प्रतिनिधी सभा का मासिक पत्र

1935

355
~~27.11.84~~

yes

आर्य

आ.पा.द.
१९९२

वैदिक तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रचार



मूल्य (३)

16/7/35



संपादक—

पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर.

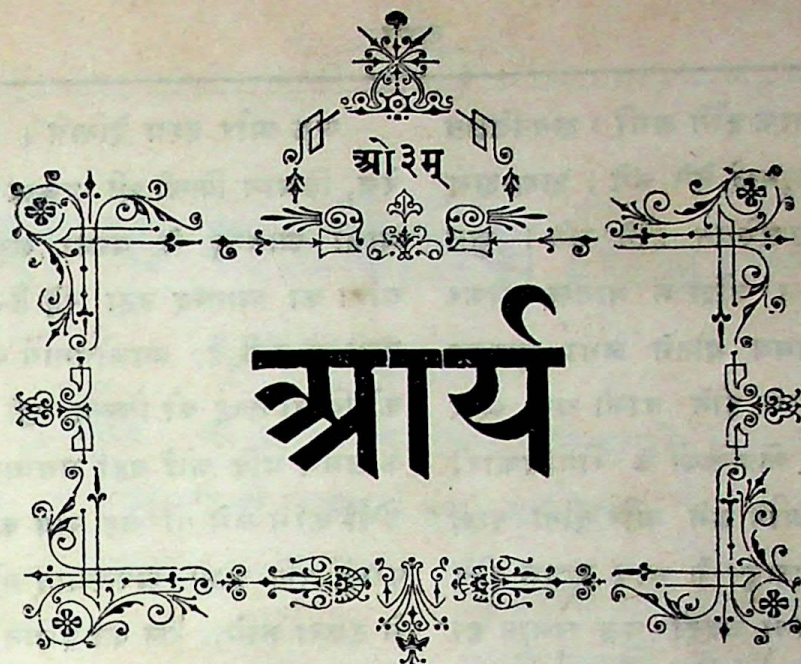
विषय-सूची

सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश—संकट में उसे सभी पुकारते हैं	सम्पादक	८५
२.	वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त—राजा के चुनाव का अधिकार	श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति	८७
३.	मूर्ति में मन नहीं टिकता	श्री पं० देवराज जी विद्यावाचस्पति	९३
४.	लड़के और लड़कियों का सह-शिक्षण	श्री बद्रीदास जी बी. ए. एल. एल. बी.	९५
✓ ५.	आर्यसमाज का प्रचार कैसे हो सकेगा ?	श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज	९७
६.	पाप पर विजय	श्री पं० नित्यानन्द जी वेदालङ्कार	९९
७.	वेद-वाटिका—मनुष्य ! अपनी शक्ति को पहिचान	सम्पादक	१०४
८.	दर्शन (कविता)	श्री द्विरेफ विद्यालङ्कार	१०५
९.	उपनिषदों में यज्ञ की प्रतीयमान हीनता	श्री पं० विश्वनाथ जी शास्त्री	१०६
१०.	ईश्वर महिमा (कविता)	श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति	१०९
११.	बाह्याडम्बर से क्या लाभ ?	श्री पं० मुनीश्वरदेव जी सिद्धान्त-शिरोमणि	११०
१२.	त्याग (कहानी)	श्री केशव	११२
✓ १३.	सम्पादकीय—	...	११४
	१. अष्टाध्यायी और कौमुदी		
	२. विद्यार्थियों से व्यभिचार		
	३. झालावाड़ के मन्दिर		
	४. भारतीय भाषाओं की परिषद्		
	✓ ५. गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य और मुख्याध्यापता		
१४.	शतपथ ब्राह्मण का भाष्य	श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार	१९५-२०२

आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये, यह आपका कर्तव्य है ।

ग्राहकों से—आर्य अङ्कुरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है । पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये । फिर अङ्कुरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दोजिये । इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे । अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये ।

पत्र व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
ग्राहक संख्या, पते वाली चिट पर लिखी होती है ।



ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपमन्तोऽरावणः ॥

भाग १७

लाहौर, आषाढ़ १९६२, जुलाई १९३५

[दयानन्दाब्द १११]

अंक ३

वेदोपदेश

—ॐ—

संकट में उसे सभी पुकारते हैं !

यं क्रन्दसी संयती विह्वेते परेऽवर उभया अमित्राः ।

समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥ ऋक्० २।१२।८

अर्थ—(क्रन्दसी) शब्द भरती हुई (संयती) परस्पर भिड़ रही सेनायें (यं) जिसे (विह्वेते) भांति-भांति के शब्द बोल कर अपनी रक्षा के लिये बुलाती हैं (परे) श्रेष्ठ और (अवर) अश्रेष्ठ (अमित्राः) परस्पर झगड़नेवाले अमित्र लोग (यं) जिसे पुकारते हैं (समानं) एक (चित्) ही (रथं) रथ पर (आतस्थिवांसा) बैठे हुए यात्री (नाना) भिन्न प्रकार से (हवेते) जिसे बुलाते हैं (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) परमेश्वर्यशाली भगवान् ही है ।

लेकर कलह होगया । शान्ति और न्याय के उपायों का अवलम्बन करके वे अपने झगड़े को नहीं निपटा सके । इसलिये तलवार और रुधिर के रास्ते वे निर्णय कर लेना चाहते हैं । न्याय से जो प्राप्त नहीं हो सकता उसे रक्त की नदियों बहाकर प्राप्त करना चाहते हैं । दोनों ओर की सेनायें युद्धक्षेत्र आ डटीं । लगे दोनों ओर से जयघोष होने । शत्रु को काट डालो, पकड़ लो, मार भगाओ की धमकियों से आकाश भरने लगा । लड़ते हुए योद्धाओं के शस्त्रों की खनखनाहट और भागते हुए रथों की

आज दो राज्यों में परस्पर किसी बात को गड़गड़ाहट से विशाये फटने लगीं । बात की व

में योद्धाओं की कतारें साफ़ होने लगीं। क्षत-विक्षत सैनिकों के करुण-क्रन्दन सुनाई देने लगे। क्षण-क्षण में रोमाञ्चकारी दृश्य उपस्थित होने लगे। कुछ समय तक तो दोनों दल जोश में पागल होकर लड़ते रहे। ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा युद्ध का ज्वर उतरने लगा। युद्ध से होने वाली धन और जन की हानि तथा दूसरी विपत्तियों के रोमाञ्चकारी दृश्य आंखों के सामने आने लगे और दोनों पक्षों के हृदयों में भय और आशङ्का के भाव उत्पन्न होने लगे। दोनों दलों को जितना जल्दी युद्ध समाप्त हो जाने की आशा थी वह उतना जल्दी समाप्त नहीं हो रहा है। क्या किया जाये? विजय कैसे प्राप्त हो? और कोई उपाय नहीं भगवान् से प्रार्थना करो, वही हमारे दल को विजय दिलवा सकते हैं। लगी होने दोनों राज्यों के धर्म-मन्दिरों और दूसरे स्थानों में अपने-अपने पक्ष को जितवाने के लिये प्रार्थनायें। संकट में पड़कर राष्ट्र के राष्ट्र भगवान् को स्मरण करने लगते हैं।

यह तो हुई रष्ट्रों की बात। अब व्यक्तियों की पुनिये। जब कोई दो व्यक्ति लड़ते हैं तो उनमें से कोई एक सच्चाई पर होता है और दूसरा झूठ पर। जो सत्य पर है वह पर है—श्रेष्ठ है। जो असत्य पर है वह अवर है—अश्रेष्ठ है। ये दोनों ही व्यक्ति जब किसी बात पर झगड़ पड़ते हैं और प्रापस में उनके झगड़े का निपटारा नहीं होता तो राज्य के न्यायालय में उनका झगड़ा जाता है। अब दोनों ही भगवान् से प्रार्थनायें करने लगते हैं के हे दयानिधे! कृपा करना निर्णय मेरे पक्ष में करवा देना। सच्चाई पर आश्रित तो ऐसी प्रार्थनायें करने ही लगा, जिसकी बात झूठी थी वह भी भगवान् से प्रार्थना करने लगा। संकट में सभी को भगवान् याद आने लगते हैं।

एक और दृश्य देखिये। एक रथ में—मोटर, रेल, विमान किसी भी प्रकार के रथ में—बैठे हुए यात्री आनन्द से यात्रा करते जा रहे हैं। सभी यात्रा का आनन्द उठा रहे हैं—गर्पें चल रही हैं, हंसी हो रही है, आलोचनायें की जा रही हैं। किसी को किसी तरह को चिन्ता नहीं है। इस निश्चिन्तता के समय यदि कोई वहां भगवान् के सम्बन्ध में कुछ चर्चा करने लगे तो वह सब को खलने लगती है। परन्तु यदि अभी अकस्मात् मोटर किसी वृक्षादि से टकरा जाये, रेल का इंजिन पटरी से उतर जाये, विमान के पंखे चलने बन्द हो जायें—मृत्यु का मुंह खुला हुआ सामने दिखाई देने लगे—तो लोगों की अवस्था देखिये। प्रत्येक भांति भांति के शब्दों में, भांति-भांति की भाव भंगी के साथ, भगवान् को स्मरण करने लगता है। प्रभो! बचाओ! स्वामिन् रक्षा करो! की पुकारें हरेक के मुंह से निकल पड़ती हैं। जब मृत्यु सामने आती है तब भगवान् का स्मरण अनायास ही हो आता है।

हे मनुष्य! जिस भगवान् को तू केवल संकट के समय ही स्मरण करता है उसे यदि जीवन के आनन्द और सुख के दिनों में भी स्मरण कर लिया करे तो तेरा कितना कल्याण हो जाये। खाली संकट में किये हुए नाम-स्मरण से कोई विशेष लाभ नहीं। भगवान् अपनी न्याय व्यवस्था को छोड़ कर तेरी प्रार्थना पर कुछ तेरा हित नहीं कर देंगे। हाँ यदि तू जीवन में सर्वदा ही भगवान् को स्मरण करके उन के गुणों को अपने में धारण करने का यत्न करेगा तो भगवान् अवश्य तेरा कल्याण करेंगे। उस परमेश्वर्यशाली को जीवन भर स्मरण करना सीख। मनुष्य! तभी तेरा कल्याण है।

वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त

नवम अध्याय

[लेखक—श्री पण्डित प्रियव्रतजी वेदवाचस्पति]

राजा के चुनाव का अधिकार

अब अगला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राजा को चुनेंगे कौन ? क्या प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से राजा के चुनाव में अपनी सहमति प्रकाशित करने का, अपना मत—या आज कल की बोलचाल में कहें तो वोट (Vote)—देने का अधिकार होगा या किन्हीं विशेष प्रकार के लोगों की सम्मति पर ही किसी व्यक्ति को राजसिंहासन पर बिठा दिया जायगा ? अथवा इन दोनों ही बातों का संमिश्रण होगा अर्थात् प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को अपना मत देने का समान रूप से अधिकार तो होगा ही, परन्तु एक विशेष योग्यता के लोगों को विशेष मत देने का अधिकार भी होगा। चुनाव विषयक प्रकरणों पर ज़रा सूक्ष्मता से दृष्टिपात करने पर वेद इन तीनों विकल्पों में से किसका समर्थन करते हैं यह आसानी से मालूम किया जा सकता है। पहले तो हम राजा के चुनाव के सम्बन्ध में देखते हैं कि—

अग्निं वृणाना वृणते कविक्रतुम् ।

ऋग् ५।११।४।

अग्निं.....वृणीध्वं हव्यवाहनम् ।

ऋग् ५।२८।६।

त्वामिदत्र वृणते.....मनवः.....।

ऋग् १०।६१।६।

हवामहे.....अग्निम्.....। यजुः ०११।७६।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु । यजुः ० १२।११।

अग्निं हवामहे परमात् सधस्थात् ।

अथर्व ७।६३।१।

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः ।

ऋग् १।११।१।

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम् ।

ऋग् ३।३०।२२।

इन्द्रं.....सहोदामिह तं हुवेम ।

ऋग् ३।४७।५।

वृणीमहे सख्याय प्रियाय शूरा.....।

ऋग् ४।४१।७।

इन्द्रः.....सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ।

ऋग् ६।१९।१।

त्वां हीन्द्रावसे विवाचो हवन्ते चर्षणयः ।

ऋग् ६।३३।२।

तं धिषणे निष्टतक्षतुः । ऋग् ८।६१।२।

नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजुश्च राजसे ।

ऋग् ८।९७।१०।

अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र । ऋग् १०।७३।१।

सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु ।

अथर्व ३।४।१।

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः ।

पञ्च देवाः ।

अथर्व ३।६।२।

सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन् तास्त्वा सर्वाः
संविदाना ह्वयन्तु...। अथर्व० ३।४।७।
इन्द्रं वयमनूगधं हवामहे ।

अथर्व० १६।१५।२।

इन्द्रं.....हवामहे.....।

अथर्व० २०।७०।१६।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु ।

ऋगू० १०।१७३।१।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु ।

अथर्व० ४।८।४।

इन मन्त्रों में यह बताया गया है कि राजा को सारी प्रजायें ही चुनती हैं। मन्त्रों में प्रयुक्त हुए “हवामहे”, “हुवेम”, “वृणते”, “वृणीध्वं”, “वृणीमहे”, “ततश्चुः”, “जजनुः”, “ह्वयन्तु”, “वाञ्छन्तु” आदि बहुवचनान्त क्रियापद प्रजामात्र की सूचना देते हैं। इन के साथ किसी विशेषग्राही शब्द का प्रयोग नहीं है। “सर्वा विशः वाञ्छन्तु” के “सर्वा विशः” ये दो पद प्रजामात्र को अपने भीतर लिये हुए हैं। इन मन्त्रों में वेद असंदिग्ध कह रहा है कि राजा के चुनाव में समग्र प्रजा की सहमति का प्रकाशित होना आवश्यक है। इन मन्त्र-खण्डों का शब्दार्थ हम यहाँ नहीं दे रहे हैं क्योंकि इनके पूर्ण-मन्त्रों का प्रकरण सहित विस्तृत अर्थ चतुर्थ अध्याय में दिया जा चुका है। इसी भांति—

वसवो रुद्रा आदित्या उपरिस्पृशं मोग्रं चेतार-
मधिराजमक्रत । यजुः ३४।४६।

अर्थात्— “ (वसवः) वसु (रुद्रः) रुद्र (आदित्याः) और आदित्य नामक ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्या-प्राप्त विद्वानों ने (मा) मुझे (उग्रं) उग्र (चेतारं) और हानी को (उपरिस्पृशं) सप्रकार के

ऊपर रहने वाला (अधिराजं) अधिराज (अक्रत) बनाया है ।”

और

आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवानां
न मिनामि धाम । ते मा भद्राय शवसे ततश्चुर-
पराजितमस्तृतमपाळहम् ॥

ऋगू० १०।४८।११।

अर्थात्— “ (आदित्यानां) आदित्य (रुद्रियाणां) रुद्र (वसूनां) और वसु (देवानां) विद्वानों के (धाम) तेज या प्रभाव को मैं (न) नहीं (मिनामि) नष्ट करता हूँ, क्योंकि (ते) उन्होंने (मा) मुझे राष्ट्र के (भद्राय) मंगलकारी (शवसे) बल के लिये (अपराजितं) अपराजित (अस्तृतं) अहिंसनीय (अपाळहम्) और शत्रुओं और दुष्टों के लिये असह्य बनाया है ।”

वेद के इन और ऐसे ही अन्य मन्त्रों में बताया गया है कि सम्राट्, वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारी रह कर जिन्होंने विद्या प्राप्त की है, ऐसे विद्वानों द्वारा चुना जाता है। अब वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचर्य किसी एक ही वर्ण के लोगों की विशेष सम्पत्ति नहीं है। वेद के धर्म के अनुसार सभी वर्णों के लोगों को कम से कम वसु ब्रह्मचर्य का पालन तो अवश्य ही करना होगा और रुद्र तथा आदित्य ब्रह्मचर्य का पालन भी अपनी शक्ति के अनुसार सभी वर्णों के लोग कर सकते हैं। इस प्रकार वसु, रुद्र और आदित्य शब्दों के प्रयोग से भी यही सूचित होता है कि सभी वर्णों—प्रजामात्र—का राजा के चुनाव में हाथ होना चाहिये। ऐसे ही अथर्ववेद के

ये धीवानो रथकाराः कर्मांरा ये मनीषिणः ।

उपस्तीन् पर्य मयं त्वं सर्वान् कृण्वमितो जनान् ॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।

उपस्तीन् पर्णं मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥

अथ० ३।५।६, ७।

इन मन्त्रों में सम्राट् चुना जाना चाहने वाला व्यक्ति कहा रहा है कि—

“(ये) जो (धीवानः) झीमर लोग हैं (रथ-काराः) रथों को बनाने वाले बढ़ई लोग हैं (कर्माः) लोहे आदि धातुओं का काम करने वाले लुहार सुनार आदि लोग हैं (ये) जो (मनीषिणः)^१ दिमागी काम करने वाले लोग हैं (अभितः) चारों ओर रहने वाले (सर्वान्) उन सब (जनान्) लोगों को (पर्ण) हे चुनाव के लिये प्रयुज्यमान पत्र (Ballot paper) (त्वं) तू (मह्यं) मेरे लिये (उपस्तीन्) अनुकूल (कृणु) कर दे ॥१॥

“(ये) जो (राजकृतः) राजाओं को बनाने वाले (राजानः) राजा लोग हैं (सूताः) रथों को हांकने वाले सूत लोग हैं (ग्रामण्यः) गांवों को चलाने वाले कृषक आदि लोग हैं (अभितः) चारों ओर रहने वाले (सर्वान्) उन सब (जनान्) लोगों को (पर्ण) हे चुनाव के लिये प्रयुज्यमान पत्र (त्वं) तू (मह्यं) मेरे लिये (उपस्तीन्) अनुकूल (कृणु) कर दे ॥२॥”

इन मन्त्रों से भी स्पष्ट है कि राजा के चुनाव में प्रजा के सभी प्रकार के लोगों की सहमति का प्रकाशित होना आवश्यक है। प्रजा के सभी वयः-प्राप्ति लोगों को उसके चुनाव में मत देने का अधिकार रहना चाहिये। परन्तु इसके साथ ही हमें वेद के

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे ।

अथ० २।६।३।

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे ।

यजु० २७।३

तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते

ऋगू० ३।१०।९

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ।

ऋगू० १।१०।१

इन और ऐसे ही अन्य प्रकरणों से यह भी प्रतीत होता है कि राजा के चुनाव में ब्राह्मणों का विशेष सहमति होनी चाहिये। इन मन्त्रखण्डों के शब्दार्थ हम नहीं दे रहे हैं। पीछे चतुर्थ अध्याय में इनके सम्पूर्ण मन्त्रों का प्रकरण-निर्देशपूर्वक विस्तृत अर्थ दिया जा चुका है। इन मन्त्रखण्डों की शब्द रचना अत्यन्त स्पष्ट और सरल है। इन्हें पढ़ते ही पाठक को अर्थ-बोध हो जाता है। राजा के चुनाव विषयक मन्त्रों में और किसी वर्ण का अलग नाम नहीं लिया गया है। वहाँ अधिकांश मन्त्रों में ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो सारी प्रजा मात्र का—चारों वर्णों का—समान रूप से भान कराते हैं। किसी एक वर्ण का आग्रह उनसे नहीं निकलता। परन्तु इन मन्त्रों में ब्राह्मण का विशेष निर्देश है। जब “विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु”—

‘सारी प्रजायें तुझे चाहें’—में सब वर्णों के साथ ब्राह्मण का भी समावेश हो ही जाता है तो इन मन्त्रों में ‘ब्राह्मणों’ का अलग नाम लेकर क्यों कहा गया कि वे राजा को चुनते हैं, जब कि अन्य किसी वर्ण का ‘विशेष’ रूप में नाम नहीं लिया गया है। इसका अभिप्राय यही है कि वेद की सम्मति में किसी व्यक्ति को राजा चुनते समय उसके सम्बन्ध में ब्राह्मणों की सम्मति का विशेष मूल्य होना चाहिये। जब तक ब्राह्मणों की सहमति न मिल जाये तब तक उसे राजा नहीं चुना जा सकता।

अथ० २।६।३ और यजु० २७।३ का अर्थ पाठक
चुनाव विषयक प्रकरण में पीछे पढ़ आये हैं। यहाँ
मन्त्र का एक बार फिर अर्थ दे देना हमारे
स मत की पुष्टि में सहायक होगा। मन्त्र आप
पढ़ चुके हैं:—

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने
संवरणे भवानः ।

अर्थात्—“(अग्ने) हे सम्राट् (त्वां) तुझे
(इमे) ये (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण लोग (वृणते)
चुन रहे हैं (नः) हमारे (संवरणे) चुनाव में भी
शिवः) राष्ट्र के लिये कल्याणकारी (भव) हो।”

यह मन्त्र प्रजाजनों की ओर से बोला जा रहा
है। वे कह रहे हैं कि हे सम्राट् तुम्हें ब्राह्मणों ने
चुन लिया है, अब हम भी चुन रहे हैं, हमारे
इस चुनाव में तू राष्ट्र के लिये कल्याणकारी सिद्ध
हो। इस मन्त्र से स्पष्ट सूचित होता है कि ब्राह्मणों
द्वारा चुन लिये जाने पर ही प्रजा के दूसरे लोग
किसी व्यक्ति को राजा चुन सकेंगे। इसी प्रकार,
आ त्वा हार्षमन्तरोधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ।

वेत्तस्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्वाष्ट्रमधिभ्रशत् ॥
ऋग्वेद के इस मन्त्र में पुरोहित कह रहा है
कि “आ त्वा हार्षम्”—‘मैंने तुझे बुला लिया है,’
अब “विस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु”—‘सारी प्रजायें
भी तुझे चाहें।’ इस वाक्य से भी यही असंदिग्ध
ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण पहले अपनी सम्मति
प्रकाशित कर देते हैं तब दूसरे प्रजाजन अपना मत
देते हैं। अथ० ६।८७।१ में तथा यजुः १२।११ में
भी हल के शाब्दिक परिवर्तन के साथ यही मन्त्र
आता है। इसका विस्तृत शब्दार्थ प्रकरण-निर्देश-
पूर्वक हम चतुर्थ अध्याय में पीछे दे चुके हैं।

अब अगला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि

राजा के चुनाव में ब्राह्मणों की सम्मति का विशेष
आदर होना है तो वह सम्मति प्रकाशित किस प्रकार
हो। इसके प्रकाशित करने के तीन विकल्प हो सकते
हैं—(१) सामान्य प्रजा पहिले चुन ले और फिर
उस व्यक्ति के सम्बन्ध में ब्राह्मणों की सम्मतियां
ली जायें। यदि ब्राह्मण अस्वीकार कर दें तो फिर
नये सिरे से चुनाव हो। (२) अन्य लोगों में से
जहां प्रत्येक व्यक्ति को एक सम्मति देने का अधि-
कार हो वहां ब्राह्मणों में से प्रत्येक को दो सम्मतियों
देने का अधिकार हो, और इस प्रकार ब्राह्मणों को
अपनी सम्मति का प्रभाव डालने का अवसर दिया
जाय। अथवा (३) ब्राह्मण लोग पहले दो-चार
व्यक्तियों को राष्ट्र में से चुन लें। फिर इन ब्राह्मणों
द्वारा चुने हुए व्यक्तियों में से सामान्य प्रजा के
लोग जिसे चाहें चुन कर राजा बना लें।
इन में से पहले दो विकल्प तो, वेद का सूक्ष्म
अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि, वेद
को स्वीकार नहीं हैं। इनके समर्थन में वेद में
ध्वनि से या स्पष्ट रूप से कहीं कुछ नहीं कहा गया
है। इनमें अपने दोष भी हैं। पहले विकल्प में तो
बड़ा दोष यह है कि सामान्य प्रजा द्वारा पसन्द
किये हुए व्यक्ति को यदि ब्राह्मण लोग अस्वीकार
कर दें तो प्रजा को फिर नये सिरे से चुनाव में समय
और धन नष्ट करना पड़ेगा। एक के बाद झट
दूसरा राष्ट्र-व्यापी आन्दोलन चुनाव के लिये खड़ा
करना जनता और राज्याधिकारियों के लिये बहुत
अधिक असुविधा की बात होगा। दूसरे विकल्प में
बड़ा दोष यह है कि किसी भी राष्ट्र में सामान्य
प्रजा की तुलना में ब्राह्मण लोग सदा ही थोड़े—
बहुत थोड़े—होंगे। उन्हें प्रत्येक को दो सम्मतियों
देने का अधिकार होने पर भी उनके मत सामान्य
प्रजा के लोगों की तुलना में सदा ही थोड़े रहेंगे।

एक व्यक्ति को यदि ब्राह्मणों के सारे मत (वोट, Vote) भी मिल जायें परन्तु दूसरी प्रजा के मत उसे न मिल सकें तो वह व्यक्ति निश्चित ही चुनाव में हार जायेगा—राजा न चुना जा सकेगा। और ऐसी अवस्था में वेद ब्राह्मणों की सम्मति को जो मूल्य देना चाहता है उसका राजा के चुनाव पर कोई प्रभाव न पड़ सकेगा। तीसरे विकल्प में ये दोष नहीं रहते। पहले राष्ट्र के ब्राह्मण लोग राजा बनने के प्रार्थी पुरुषों में से किन्हीं दो चार को स्वीकार कर लेंगे। फिर उनमें से सारी प्रजा मिल कर किसी एक को राजा चुन लेगी। यदि प्रार्थी एक ही हुआ और वह ब्राह्मणों को भी स्वीकार हुआ तो सामान्य-प्रजा द्वारा वह प्रतिद्वन्द्विता के बिना ही (Unopposed) राजा बना लिया जायेगा। इस तीसरे विकल्प का ही वेद समर्थन करते हैं। हमने अभी अथ० २।६।३ और यजुः० २७।३ मन्त्र—

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवानः ।

देखा है। इसमें प्रजाजन स्पष्ट कह रहे हैं कि हे सम्राट् ! तुझे ब्राह्मणों ने चुन लिया है, अब हम भी चुनते हैं, तू इस चुनाव में राष्ट्र के लिये कल्याणकारी सिद्ध हो। ऊपर दिये गये “आ त्वा हार्षपम्”—मन्त्र से भी यही ध्वनि निकलती है। इसमें पुरोहित कह रहा है कि मैंने तुझे बुला लिया है, अब प्रजायें भी तुझे स्वीकार कर लें। इसकी व्यञ्जना यही है कि ब्राह्मण पहले अपनी सहमति प्रकाशित कर लें तभी कोई व्यक्ति सामान्य प्रजाओं द्वारा राजा चुना जा सकता है। यजुर्वेद के नवम और दशम अध्याय राज्याभिषेक-विषयक हैं। सभी भाष्यकार उनका अर्थ राज्याभिषेक-परक करते हैं। वहां दशम अध्याय के तीसरे और चौथे मन्त्र को देखिये। इन दोनों बड़े-बड़े

मन्त्रों में अभिषिच्यमान राजा प्रजाओं के बहुत से गुणों में से क्रम से एक-एक की ओर निर्देश करके कहता है कि हे अमुक गुण वाली प्रजाओ मुझे राज्य प्रदान करो। इस पर पुरोहित कहता है—हां, हे अमुक गुण वाली प्रजाओ ! इसे राज्य प्रदान करो। उदाहरण के लिये तृतीय मन्त्र का पहला वाक्य है—

अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा ।

यजु० १०।३।

अर्थात्—“हे प्रजाओ ! तुम (अर्थेतः) अर्थ अर्थात् प्रयोजन या ऐश्वर्य को लक्ष्य में रख कर चलने वाली, व्यवहार करनेवाली (स्थ) हो (राष्ट्रदाः) तुम राज्य देने वाली हो (मे) मुझे (राष्ट्रं) राज्य (दत्त) दो (स्वाहा) मैं विधिपूर्वक वाणी से मांग रहा हूँ।”

इस पर दूसरे वाक्य में पुरोहित प्रजाओं को सम्बोधन करके कहता है—

अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त ।

यजुः० १०।३।

अर्थात्—“हे प्रजाओ ! तुम (अर्थेतः) प्रयोजन या ऐश्वर्य को लक्ष्य में रख कर चलने वाली, व्यवहार करने वाली हो (राष्ट्रदाः) राज्य देने वाली हो (अमुष्मै) इस को (राष्ट्रं) राज्य (दत्त) प्रदान करो।”

इसी प्रकार इन दोनों मन्त्रों में अभिषिच्यमान व्यक्ति ने बहुत से वाक्यों द्वारा प्रजा से राज्य की प्रार्थना की है और उसी प्रकार के वाक्यों में पुरोहित ने उसे राज्य प्रदान करने की प्रजा को अनुमति दी है। इस से यह स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि जब तक पुरोहित अर्थात् ब्राह्मण अपनी अनुमति न दे लेवे तब तक किसी व्यक्ति को राज्य नहीं मिल सकता।

इसी सम्बन्ध में वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में ब्राह्मणों के लिये बहुत बार प्रयुक्त होने वाले “पुरोहित” शब्द पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिये। पुरोहित शब्द का अर्थ है—“पुर एनं दधति” (निरु. २।३।१२)—“जिसे सब कामों में आगे रखते हैं”, “पुरः सर्वकर्मसु धीयते”—“जो सभी कामों में आगे रखा जाता है।” एक आदर्श पुरोहित अथवा ब्राह्मण का वेद की दृष्टि में कितना अधिक महत्त्व है, वह राष्ट्र के ज्ञान, बल, वीर्य और गौरव को बढ़ाने में कितना कार्य कर सकता है, इसे जानना चाहने वाले अथर्ववेद के तृतीय काण्ड का १६ वाँ सूक्त पढ़ें। इस सारे सूक्त का देवता ही पुरोहित अथवा ब्रह्मणस्पति अर्थात् ब्राह्मण है। जो लोग ब्राह्मणों को पुरोहित बना कर रखते हैं, उन्हें प्रत्येक काम में आगे रखते हैं, प्रत्येक कार्य करने से पहिले उनकी सम्मति ले लेते हैं उनके राष्ट्र का कैसा अभ्युदय होता है यही इस सूक्त का विषय है। ब्राह्मण को पुरोहित कहना—

यह कहना कि प्रत्येक काम में उसे आगे रखना चाहिये, उसकी सम्मति से प्रत्येक कार्य करना चाहिये,—यह स्पष्ट ध्वनित करता है कि राजा के चुनाव के समय भी पहले ब्राह्मणों की सम्मति ले लेनी चाहिये कि किस व्यक्ति को राजा बनाना राष्ट्र के लिये हितकर होगा। उन द्वारा सहमति मिल जानेपर ही कोई व्यक्ति सामान्य प्रजा द्वारा राजा चुना जा सकेगा। वेद ब्राह्मणों को इतना अधिक महत्त्व क्यों देता है कि इस से पहले कि प्रजाजन किसी व्यक्ति को राजा चुनें, देश के ब्राह्मणों की सम्मति उसके सम्बन्ध में पहले प्राप्त कर ली जाये, और, ब्राह्मण किन लोगों को कहा जाता है, इस विषय पर हम आगे “सभा और समिति” नामक अध्याय में विस्तार से लिखेंगे। क्योंकि उस अध्याय में फिर हमें पाठकों का ध्यान इस ओर खेंचना होगा कि सभा और समिति के कार्यों में भी ब्राह्मणों की सम्मति की वेद की दृष्टि में विशेष कीमत होनी चाहिये।

स्वाध्यायशील व्यक्तियों के लिए अनोखा उपहार

वेदार्पकोष

वेदार्पकोष का प्रथम भाग मुद्रित हो चुका है। इस कोष में महर्षि दयानन्द जी महाराज ने अपने वेदभाष्य में जो वैदिक शब्दों के अर्थ किये हैं उनका संकलन किया गया है। इसके अतिरिक्त निघण्टु, निरुक्त, उपनिषद् तथा ब्राह्मणों द्वारा किये गये वैदिक शब्दों के अर्थों को भी साथ साथ संग्रह किया गया है।

इस प्रथम भाग में अकार से लेकर ओकार तक के वर्णों से प्रारम्भ होने वाले शब्द आये हैं। इस कोष को श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब ने वेद के स्वाध्याय करने वाले व्यक्तियों के हितार्थ प्रकाशित किया है। ऐसी अनुपम पुस्तक का मूल्य प्रचारार्थ केवल ५) रखा गया है। अकार

२० × ३० पृष्ठ संख्या २६८ है।

मूर्ति में मन नहीं टिकता

[ले०—श्री पं० देवराज जी विद्यावाचस्पति]

एक भक्त सज्जन प्रश्न करते हैं कि जब गोविन्द जी के मन्दिर में जाता हूँ और उनकी मूर्ति के दर्शन करता हूँ तब बड़ा प्रयत्न करता हूँ कि मूर्ति पर से मेरा मन न हटे परन्तु दर्शन प्रारम्भ किये एक मिनिट भी नहीं होने पाता कि मन इधर उधर चला जाता है। दृष्टि तो गोविन्द जी की मूर्ति पर ही रहती है परन्तु मन मूर्ति पर नहीं रहता और मन न रहने से आँख के खुले होते हुए भी मूर्ति दीखनी बन्द हो जाती है। थोड़ी देर के बाद फिर याद आता है कि दर्शन करने आया था यह क्या हो रहा है तब फिर मन को मूर्ति पर लगाता हूँ। लगाते ही ज़रा सी देर के बाद फिर वह मूर्ति को छोड़ कर भाग जाता है। अतः यह बतलाइये कि मन क्यों नहीं लगता और कैसे लग सकता है।

ये सज्जन आर्यसमाजी नहीं हैं। परम्परा से अपने पिछलों को और अगलों को गोविन्द जी के मन्दिर में दर्शन करने के लिये जाते देखते हैं अतः स्वयं भी जाते और दर्शन करते हैं। जाने से कुछ पुण्य होगा मन को शान्ति मिलेगी इतनी भावना के साथ तो हर कोई जाने वाला जाता होगा इस में सन्देह करना अनुचित है। परन्तु दर्शन करने से पुण्य मिलता है और मन को शान्ति मिलती है इसमें अनेकों को सन्देह हो सकता है।

मैंने इन सज्जन से कहा कि मूर्ति का दर्शन मन का विषय नहीं है वह तो आँख का विषय है। किसी बड़े सुन्दर अनुपम दृश्य को उत्सुकता से देखने के लिये लोग इधर से उधर दौड़ते फिरते हैं। किसी ऐसे स्थान पर जाते हैं जिसे पहिले कभी नहीं देखा तो वहाँ रहने वालों से पूछते हैं कि भाई! यहाँ कौनसी चीज़ें देखने की हैं? पहाड़ के सुन्दर २ दृश्यों को मनुष्य जब पहिले २ देखता है तो कुछ देर तक तो उसकी दृष्टि उन पर से नहीं हटती और समय मिलने पर प्रतिदिन उन्हें देखने जाता है। परन्तु इस प्रकार कई दिन तक देखते २ उसका मन उकता जाता है और वह कहता है “बस! देख लिया इन सब दृश्यों को सचमुच बड़े सुन्दर हैं अब और इनमें क्या रक्खा है।” यह कह कर वह उन्हें छोड़ कर चला जाता है। जो मनुष्य हर समय उन दृश्यों के पास रहते हैं वा प्रायः जिन्हें वे दृश्य देखने का अवसर प्राप्त होता है उन मनुष्यों को वे दृश्य आकर्षित नहीं करते और उन दृश्यों के लिये उन मनुष्यों को उत्सुकता भी नहीं होती।

गोविन्द जी की मूर्ति निस्सन्देह बहुत सुन्दर बनाई है मैंने भी दर्शन किये हैं। वह सुन्दर मूर्ति आँख का विषय है प्रतिदिन उसके दर्शन करते-करते

उसकी सुन्दरता देखने के लिये उत्सुकता शान्त हो जाती है परन्तु मन वैसा ही अशान्त रहता है जैसा पहिले था। अतः परम्परा के अनुसार दर्शन करने चले जाते हैं। जाने का अभ्यास पड़ गया है। न जावें तो कुछ कमी मालूम पड़ती है कि कुछ काम करने से रह गया है। परन्तु इस दर्शन से मन की चञ्चलता दूर नहीं होती वह तो वैसा ही चञ्चल रहता है जैसा पहिले था।

मनुष्य का मन उस विषय में टिकता है जिससे वह मनुष्य अपने किसी प्रयोजन को सिद्ध होते हुए देखता है और साथ ही उस विषय में टिकता है जो विषय विचार का विषय हो। जिसको गोविन्द जी की मूर्ति से अपना कुछ प्रयोजन सिद्ध होते हुए नहीं दीखता उसका मन गोविन्द जी की मूर्ति में नहीं टिकता और मूर्ति कोई विचार का विषय नहीं है। जो गहरे तत्त्व ज्ञान के विषय हैं उन में मन टिकता है। बेशक भक्त श्रद्धालु लोग किसी आशा से वस्त्र अन्न आदि की भारी भेंट गोविन्द जी की मूर्ति के अर्पण करते हैं उस भेंट से अनेक मनुष्यों की आजीविका चलती है। इन मनुष्यों का प्रयोजन तो सचमुच गोविन्द जी की मूर्ति ही सिद्ध करती है। ये मनुष्य यदि मूर्ति के सामने हाथ जोड़े दण्डवत् करें उसे अन्नदा प्राणदा वस्त्रदा सर्वकामदा कहें और भक्ति में तल्लीन हो जावें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है क्योंकि उनका प्रयोजन सचमुच उसके निमित्त से सिद्ध होता है। यदि भक्त जनों की श्रद्धा विश्वास किसी कारण से गोविन्द जी की मूर्ति की ओर से उठ जाय अन्य किसी ओर चली जावे तो सचमुच उनके प्रयोजन की सिद्धि में बाधा होने लगेगी जिनकी प्रयोजन सिद्धि पहिले निर्बाध होती थी। प्रयोजन सिद्धि के रुक जाने से तो फिर उनकी भी श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, उपासना, पूजा, आराधना, आदिक सब के साथ खूब सजा-

उस भूति को पहिले सर्वकामदा समझते थे।

श्रद्धालु लोग यदि यह समझ जावें कि उनके प्रयोजनों की सिद्धि तन्मय होकर विधिपूर्वक पुरुषार्थ करने से होती है मूर्ति को अन्न वस्त्रादि द्रव्य की भेंट करने से नहीं तो भी मन्दिर की आमदनी में कमी आजाने से मूर्ति सेवकों के प्रयोजन पूर्ण नहीं हो सकते तो इस कारण से भी मूर्ति पर उनकी श्रद्धा नहीं रह सकती।

इसके अतिरिक्त चूंकि मन्दिर की मूर्तियां केवल कुछ लोगों की आजीविका का साधन रह गई हैं अतः एक मन्दिर के मूर्ति के सेवक यदि अपनी आजीविका बढ़ाने के लिये अन्य मन्दिर में जाने वाले श्रद्धालु लोगों को, अपनी देव मूर्ति की विशेष स्तुति आदि से और अन्य की देव मूर्ति की विशेष निन्दा आदि से, अपने मन्दिर की ओर आकर्षित करें और अन्य के मन्दिर की तरफ से हटावें तो भी एक मन्दिर की आजीविका में कमी आकर उसके सेवकों में से मूर्ति के प्रति श्रद्धा उखड़ जावेगी। और साथ ही एक ही ईश्वर की महिमा के विविध रूपों को बतलाने वाली विविध देव मूर्तियों के देव भाव में विरोध खड़ा हो जावेगा। इस विरोध के कारण श्रद्धालु लोगों के मन इस प्रकार से भी सब जगह से उखड़ जावेंगे।

आज कल मन्दिर केवल आजीविका का साधन हो जाने से बाज़ार की दुकानों के रूप में हो गये हैं। जैसे दुकानदार अधिक प्राप्ति के लिये अपनी वस्तुओं की तरफ मनुष्यों को अधिक आकर्षित करने के लिये दुकान को और दुकान की वस्तुओं को अधिक सजधज के साथ सुभूषित करके रखता है वैसे ही मूर्ति सेवक मन्दिरों को और उनकी मूर्तियों को अपनी २ सामर्थ्य के अनुकूल अधिक २ सुभूषित और सजधज के साथ खूब सजा-

वट करके रखता है। यह बाह्य आडम्बर लोगों को आकर्षित करने के लिये केवल एक प्रकार की इशतहारवाजी है। मनुष्य मूर्ति पूजक हों या अमूर्ति पूजक सबने अपने २ मन्दिरों में दिखावे को प्रधानता दे रखी है। जिसका प्रयोजन लोगों के मनो को आकर्षित करके आजीविका के लिए अधिक धन प्राप्त करना है। कहने वाले सब अपने २ यहां की बड़ाई करते हैं—हमारे विद्यालय में आओ, हमारे देवालय में आओ, हमारे इष्ट देव की भक्ति पूजा करो तो तुम्हारी सब मनोकामना पूरी होगी और तुम्हारे मन को शान्ति मिलेगी।

श्रद्धालु लोग गोविन्द जी की मूर्ति पर मन टिकाते हैं परन्तु मन नहीं टिकता वह तो उस विषय में टिकता है जिससे उनका प्रयोजन सिद्ध होता है मूर्ति पर से भाग जाता है। एक टाइपिस्ट का मन यह ढूँढने में चारों ओर चक्कर लगाता है कि कहां ३ से उसके पास टाइप कराने का काम आ सकता है। जहां २ से आ सकता है वहां २ से काम लाने के लिये वह तल्लीन होकर अच्छी २ आयोजना करता है। इस सब चिन्तन में वह ऐसा लीन हो जाता है—उसका मन ऐसा लग जाता

है—कि कोई मनुष्य उसको कई आवाजें देता है परन्तु वह एक भी नहीं सुनता। टाइपिस्ट के लिए मन की एकाग्रता का विषय टाइपिस्ट के काम की उन्नति हो सकता है गोविन्द जी की मूर्ति नहीं। इसी प्रकार अन्य मनुष्यों के विषयों में भी समझना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपने किसी भी कार्य के समय उस कार्य के अनुसार एक लक्ष्य अपने मन में कायम करना चाहिए उस लक्ष्य के साथ अपने मनको बांधे रखना चाहिए। इस प्रकार लक्ष्य के अनुसार मन को रखने से शनैः २ मन में स्थिरता आती जाती है। बस ! प्रयत्न इतना करना है कि कार्य करते समय मन लक्ष्य से न छूटे। मन का यह एकाग्रता का बल सब बलों का आधार है। मन के साथ जब इस बल की तद्रूपता हो जाती है तब निरतिशय बल की प्राप्ति होती है जो ईश्वर में है। इस प्रकार ईश्वरीय बल में प्रवेश करके मनुष्य ईश्वर को पहिचान पाता है जो सर्व बलाधिष्ठान है। सर्व बलाधिष्ठान ईश्वर में स्थित हो जाने से मनुष्य निरतिशय आनन्द को वा शान्ति को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रयत्न करने से मन अवश्य लगेगा और अभीष्ट की प्राप्ति होगी।

लड़के और लड़कियों का सह-शिक्षण

[ले०—श्री बद्रीदास जी, बी. ए. एल-एल, बी. प्लीडर, फ़िरोज़पुर]

भारत-निवासी पाश्चात्य देशों का अंधाधुंध अनुकरण कर रहे हैं। जो कुविचार और कुप्रथाएँ उन देशों में प्रचलित हैं उन्हें हम अपनाते चले जा रहे हैं। मदिरा-पान, मांस सेवन, धूम्रपान, जूआ खेलना, सिनेमाओं में जाना इत्यादि बातें अब निश्छिद्रवाद-सी प्रतीत होती हैं। इन प्रथाओं के साथ २ हम लड़कों और लड़कियों को स्कूलों व कालिजों में इकट्ठा पढ़ाने के इच्छुक हो रहे हैं। यह प्रथा भारतीय संस्कृति के

कितनी प्रतिकूल है, यह प्रत्येक भारत-निवासी भलीभाँति जानता है। भारतवर्ष सदा से इस प्रथा के विरुद्ध रहा है। यहां लड़के और लड़कियाँ पृथक् २ शिक्षा प्राप्त करते रहे हैं। वैदिककाल में भी जब कि स्त्रियों का बहुत मान था कन्याओं के पृथक् गुरुकुल थे। महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती सत्यार्थ-प्रकाश तृतीय समुल्लास में लिखते हैं “विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश होना चाहिए और लड़के और लड़कियों का

पाठशाला दो कोस एक दूसरे से दूर होनी चाहियें। जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर हों वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एका-न्तसेवन, भाषण, विषय कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शीलस्वभाव, शरीर और आत्मा से बल युक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।”

आजकल आर्यसमाज की ओर से जो गुरुकुल स्थापित हैं उनमें उक्त नियम की पालना की जाती है। उक्त नियम प्रत्येक दृष्टिकोण से अत्युत्तम है। बालक और बालिका के शरीर के अंगों की वृद्धि में बड़ा अन्तर होता है। जहाँ कन्या १६ वर्ष की आयु में विवाह के योग्य हो जाती है वहाँ लड़का २५ वर्ष की आयु में गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने के योग्य होता है। उन्हें एक ही प्रकार की शिक्षा देनी बड़ी भारी भूल है। वैसे तो जो शिक्षा स्कूलों और कॉलिजों में इस समय दी जा रही है उसमें बड़े भारी परिवर्तन की आवश्यकता है। वे हमें उत्तम नागरिक बनाना तो क्या साधारण नागरिक भी नहीं बनाती परन्तु सह-शिक्षण (Co-education) के बहाव में बह जाना तो अपने आप को उन दुष्परिणामों के लिये तैयार करना है जिन्हें पाश्चात्य देश भुगत रहे हैं। पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगे हुए लोग यह कहते सुने जाते हैं कि कोएजुकेशन (Co-education) से कन्याओं में अधिक निर्भयता आएगी और बालकों में अधिक मधुरता आएगी। यह तो स्वप्न है जो कि कभी भी चरितार्थ नहीं हो सकते। शारीरिक,

मानसिक और आत्मिक उन्नति के लिए ब्रह्मचर्य का धारण करना अति आवश्यक है। पहिले ही पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार से हमारे युवकों के मस्तिष्क और मन विलासिता में लिप्त हो गये हैं। अब उनके साथ २ कन्याओं को पढ़ा कर यदि अपनी जाति का पतन करना नहीं तो और क्या है। उपरोक्त विचारों को ध्यान में रखते हुए कन्याओं के स्कूलों में पुरुष अध्यापकों (Male teachers) का होना भी उचित प्रतीत नहीं होता। हमारे शहर फ़िरोज़पुर में कन्याओं के स्कूलों और गर्ल्स-कॉलिज में उक्त नियम की अवहेलना की जा रही है। इस वर्ष रामसुखदास कॉलिज की प्रबन्धकर्त्री कमेटी ने डिगरी क्लासों में अर्थात् थर्ड फ़ोर्थ इयर में लड़कों के साथ लड़कियों को शिक्षा देने का प्रस्ताव पास किया है। आजकल हमारे स्कूलों और कॉलिजों का वायुमंडल कितना दूषित हो रहा है यह सब सज्जनों को जो कि थोड़ी बहुत जानकारी रखते हैं भली प्रकार मालूम है। लड़कों के साथ व्यभिचार के खिलाफ़ प्रेस में और प्लेटफ़ार्म से आन्दोलन जारी है। थोड़े ही दिन हुए हैं यूथ वेलफ़ेयर एसोसिएशन (youth welfare association) का एक डिपुटेशन (deputation) पंजाब के शिक्षा मंत्री महोदय को इस सम्बन्ध में मिला और अपने विचार प्रगट किये। कॉलिजों के विपैले वातावरण को दृष्टिगोचर रखते हुए पंजाब युनिवर्सिटी (Punjab University) ने प्रोक्टर (Proctor) प्रथा जारी की है। इस अवस्था में तो लड़कों और लड़कियों को इकट्ठा पढ़ाना मानो आग के साथ खेलना है। मुझे आशा है कि देश और जाति के हित-चिन्तक इस कुप्रथा की रोक थाम करेंगे और जहाँ जहाँ इसने प्रवेश किया है वहाँ वहाँ से इसे दूर करेंगे। लड़कियों के संरक्षकों से मेरी यह प्रार्थना है कि वे अपनी कन्याओं को लड़कों के शिक्षणालयों में कदापि न भेजें। यही भारतीय शिष्टाचार चाहता है। इसी में उनका हित व देश और जाति का भला है।

आर्यसमाज का प्रचार कैसे हो सकेगा ?

(ले० — श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज)

आर्यसमाज में प्रचार एक मुख्य कार्य है। परन्तु जितनी उदासीनता इससे है उतनी यदि किसी अन्य कार्य से होती तो वह समाप्त हो गया होता। यदि इस समय प्रचार में जीवन शेष है तो इसका कारण इस कार्य की अत्यन्त उपयोगिता है, न कि आर्यसमाजियों की तत्परता। यदि आर्यसमाज को कोई बाहर से देखे तो इसका प्रचार-कार्य दिखाई ही नहीं देता है। उसे अन्य कार्य ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनसे ही वह आर्यसमाज को समझने का यत्न करता है। इस लिये कई सज्जन असली आर्यसमाज को समझ ही नहीं सकते हैं।

जिस भांति कई लताएँ दूसरे वृक्षों के आश्रय से ही उठती हैं और बढ़ती हैं, प्रथम वह वृक्ष, जिसके आश्रय वह लता बढ़ती है हरा-भरा होता है, जब वह लता उसका आश्रय लेती है उस समय यह निर्बल प्रतीत होती है पश्चात् धीरे धीरे लता बढ़कर उस वृक्ष को आच्छादित कर लेती है, उस समय लता के बढ़ने से बाहर से वह वृक्ष दिखाई ही नहीं देता है। और कई लताएँ ऐसी हैं जिनका अपना मूल भूमि पर होता ही नहीं है। वह भूमि से कुछ न लेकर अपना भोजन उस वृक्ष को ही बनाती हैं। इन दोनों अवस्थाओं में कुछ समय के पश्चात् वृक्ष प्रायः शुष्क हो जाता है।

इसके सूखने पर उस लता के सूखने की धारा आती है और वह भी सूख जाती है।

इसी प्रकार आर्यसमाज ने वेद-प्रचार को प्रथम आरंभ किया था। इस का स्थान वही था और है, जो लता के आश्रय वृक्ष का होता है। पश्चात् अन्य संस्थाएँ लता-रूप से लगाई गईं। उन्होंने इसका आश्रय प्राप्त करके अब इसको ढाँप लिया है। इस समय वेदप्रचार सभा के कार्यालय वा समाजों के उत्सवों पर कुछ प्रतीत होता है और कुछ वर्षों से वृक्ष की भांति यह भी हास की ओर पग बढ़ा रहा है। आशंका है कि कुछ वर्षों के पश्चात् यदि यही ढंग रहा तो इसकी अवस्था अधिक विगड़ जाय। दूसरे चिंतनीय यह है कि आर्यसमाज के प्रचार का कार्य उपदेशकों पर निर्भर है। जितने परिश्रम से आर्यसमाज के उपदेशकों ने कार्य किया है वह उसके लिये अभिमान कर सकते हैं। उनके त्याग, उनकी दृढ़ता और उत्साह की आर्यसमाजें जितनी प्रशंसा करें वह न्यून ही होगी। परन्तु आर्यसमाजों ने जो पद्धति प्रचार की बना ली है वह प्राकृतिक नहीं है। और नही आर्य-संस्कृति के इतिहास में इस पद्धति का कहीं पता लगता है। प्रतीत तो यही होता है कि आर्यसमाजियों ने यह पद्धति ईसाइयों से ली है। इनके पश्चात् इनका अनुकरण सिक्खों ने किया और सनातनधर्मियों ने भी अपनाया। परन्तु आश्चर्य की बात है कि सिक्ख और सनातनधर्मों इसमें सर्वथा अनुत्तीर्ण हुए हैं। आर्यसमाज ही इसको अब तक

चला रहा है। इसे भी इस पर पुनः विचार करके सुधार करना चाहिये।

वर्तमान पद्धति का एक अंश इस प्रकार है (इस समय उसी पर विचार करना है) आर्य-प्रतिनिधि सभा उपदेशक नियत करती है। उनको आजीविका के लिये कुछ वेतन वा दक्षिणा दी जाती है। सभा वह धन आर्यसमाजों से संग्रह करती है। इसमें जहां उपदेशक त्याग और प्रचार की दृष्टि से आते हैं वहां यह कहना अनुचित नहीं है कुछ उपदेशक आजीविका की दृष्टि से भी आते हैं। जो प्रचार की भावना से नहीं आते हैं उनको स्वयं भी कष्ट होता है और वह कार्य को भी उत्तमता से नहीं करते हैं। और उपदेशकों का कार्य सर्वदा भ्रमण करना है। एक युवक जिम्मे गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया है वह सर्वदा भ्रमण करे यह असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। इस अवस्था में यह कार्य दीर्घ काल तक स्थायी रूप से चलता प्रतीत नहीं होता। ईसाई विदेशी थे, विधर्मी थे; आर्यसमाज न विदेशी है और न विधर्मी। वह इस पद्धति को क्यों न छोड़े। अब प्रश्न होगा इसे छोड़ कर किस की पद्धति का आश्रय लें ? मेरे विचार में आर्यसमाजी ब्राह्मण को किसी एक स्थान में रह कर प्रचार करना चाहिए। वह जहां रहे कथा को उचित समझे, किसी को पढ़ा देवे, औषधालय बना ले, अथवा कुछ-न-कुछ और कार्य

देख ले। वह भ्रमण करनेवाला न हो। उसे अपनी जीविका का प्रबंध स्वयं करना चाहिये। और जहां वह हो वहां से कुछ धन सभा को प्रतिवर्ष अवश्य दे। उदाहरण के लिये उदासी साधु जहां बैठते थे अपना निर्वाह करते थे और अखाड़े को कुछ वन देते थे। आज उनके आने स्थान भी बड़े बड़े हैं और अखाड़े के पास भी पुष्कल धन है। पुनः प्रश्न होगा भ्रमण कौन करे ? मेरा उत्तर है भ्रमण का कार्य संन्यासी और वानप्रस्थियों का है। वह भ्रमण करें वा एक स्थान पर बैठें यह उनकी शारीरिक अवस्था और मनोबल पर निर्भर है। वही प्रचार-कार्य का संचालन करें। वः यथाशक्ति निर्वाहमात्र भी श्रद्धालुओं से लें वा सभा उसको, जो भ्रमण करता है, देदे। जो बैठ जाय उसे उन नियमों का ही पालन करना होगा जो ब्राह्मण करता है। जब तक यह अवस्था न लाई जायगी उन समय तक प्रचार-कार्य संदेह में ही रहेगा।

इस पर भी पूछा जा सकता है कि वानप्रस्थ और संन्यासी न्यून हैं। यह सत्य है। इस समय ये न्यून हैं। इनको बढ़ाना चाहिये। यदि आर्यसमाज इनकी संख्या नहीं बढ़ा सकता है तो प्रचार का विचार अपने मस्तिष्क से निकाल देना चाहिये। यदि न निकालेंगे तो समय आने पर मुँहकी खाकर बैठने के लिये उद्यत रहना चाहिये।

उत्तर-भारत के एकमात्र आर्यभाषा-प्रचारक मासिक पत्र 'आर्य' के ग्राहक बनकर वैदिक धर्म के प्रचार में क्रियात्मक सहयोग दीजिए। यह प्रत्येक आर्य का सर्व-प्रथम कर्तव्य है।

पाप पर विजय

[ले०—श्री पं० नित्यानन्द जी आर्यसमाज शिमला]

“व्यहं सर्वेण पाप्मना वियक्ष्मेण समायुपा ।”

अर्थ—(अहं) मैं (सर्वेण) समस्त (पाप्मना) पाप से (वि) पृथक् हो जाऊँ (यक्ष्मेण) क्षयादि रोग से (वि) पृथक् हो जाऊँ और (आयुपा) जीवन से संयुक्त हो जाऊँ ।

पाप क्या चीज़ है, इस बात को प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तःकरण में पर्याप्त स्पष्टता से समझता है । साधारण व्यक्ति पाप की चाहे दार्शनिक विवेचना न कर सके, अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों से रहित पाप का लक्षण भी चाहे बतान सके, परन्तु फिर भी यह बात सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति का अन्तःकरण इस बात की गवाही अवश्य देता है कि यह पाप है और यह पुण्य है ।

यह भी सत्य है कि मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक तौर पर सत्य या पुण्य के प्रति प्रेम या श्रद्धा है और असत्य या पाप के प्रति घृणा अथवा अश्रद्धा है । किसी पुण्यात्मा के चरित्र को सुनकर उसके चरणों में हृदय अपने आप झुकना चाहता है । हरिश्चन्द्र की आदर्श सत्यवादिता, प्रताप की अनुपम देशभक्ति और आचार्य दयानन्द के कठोर ब्रह्मचर्य-व्रत की कथा सुनते-सुनते आँखों से प्रेम के आँसू और मुँह से अनायास धन्य-धन्य की ध्वनि निकल पड़ती है । इसके विपरीत पापियों के चरित्र से हृदय में उपेक्षा, क्रोध और घृणा पैदा होती है । तात्पर्य यह कि मानव हृदय की रचना

भगवान् ने कुछ इस प्रकार की है कि यह स्वभावतः पुण्य से प्रेम और पाप से घृणा करता है ।

परन्तु फिर भी न जाने मनुष्य क्यों पाप की ओर चल देता है । मुख से पुण्य की अनथक प्रशंसा करता है परन्तु व्यवहार में पुण्य की ओर पीठ फेर लेता है । पाप जब मोहिनी मूरत बनाकर मीठी आवाज़ से पुकारता है तो जी थामे भी थमता नहीं है । मनुष्य बेवस हो जाता है । साधारण मनुष्य की बात नहीं, बड़े-बड़े महात्माओं के लिये भी पाप के प्रलोभन और जाल से बच सकना कोई आसान बात नहीं है । मनुष्य पाप की तरफ सचमुच चलना चाहता हो सो बात भी नहीं है । पाप के विषय में जनसाधारण के अनुभव को गीता में अर्जुन ने बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है—‘अनिच्छन्नपि वाष्ण्येय बलादिव नियोजितः’—न जाने कौन सी ज़बरदस्त शक्ति है जो न चाहते हुए भी मनुष्य को कान पकड़ कर पाप की ओर लगा देती है । मनुष्य अन्तरतम हृदय से तो पाप से बचना ही चाहता है । परन्तु दुनिया के आरम्भ से अब तक पाप से बच कौन पाया है । बचनेवाला कोई देव पुरुष ही होगा । विचित्र बात तो यही है कि पाप से बचना सब चाहते हैं परन्तु बच पाता कोई विरला ही है । इसलिये सचमुच यह समस्या है कि पाप के आक्रमण से इन्सान बच कैसे सकता है ?

अथर्ववेद के २१वें सूक्त के ११ मंत्रों में उत्त

लिखित यह मंत्रभाग बार-बार आता है—‘अहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा’—मैं सब पाप और रोग से अलग हो जाऊँ जिससे मुझे उत्तम जीवन प्राप्त हो। जिसका नाम जीवन है उस जीवन से युक्त होने के लिये मानसिक पाप और शारीरिक पाप (रोग) से बचना आवश्यक है। इसी लिये भक्त के दिल में पाप से बचने की उत्कट अभिलाषा है, परन्तु सवाल यही है, सब समस्याओं की यह एक समस्या है कि आखिर इन्सान पाप से बचे कैसे ?

मनुष्य जब तक संसार में है पाप से मुकाबला अवश्य करना पड़ेगा। धरती का कोई कोना नहीं, जहाँ पर मनुष्य पाप से बिलकुल सुरक्षित हो। कोई ऐसा पूर्ण और पवित्र व्यक्ति नहीं, जिसके दरवाज़े को पाप कभी खटखटाता न हो। पहुँचे हुए महात्माओं के पास भी पाप ख़म ठोक घर पहुँचता है और ख़ूब ठोक बजाकर पाप उनके बल की परीक्षा करता है। इस घमण्ड और उद्दण्ड पाप को पछाड़ने में ही पुरुष का पुरुषत्व है। युद्धक्षेत्र में हज़ारों शत्रुओं के सामने अकेला छाती तान कर खड़ा होने वाला वीर है सही, परन्तु अपने हृदय में पैदा होने वाले पाप को जो पछाड़ सकता है वह कहीं अधिक वीर है। भगवान् बुद्ध उन्हीं वीरों में से एक हैं। बड़ी साधना और तपस्या से उन्होंने पाप पर विजय प्राप्त की थी। एक-एक पापवासना को उखाड़ फेंक कर अपने जीवन को निष्पाप किया, उस समय उनकी पवित्र आत्मा में एक अमरज्योति जगी। साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त करके वे सच्चे अर्थों में ‘बुद्ध’ बने। उन्हीं भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को अपना जीवन निष्पाप बनाने के लिये स्थान-स्थान पर उपदेश दिये हैं, और मानव-स्वभाव की निर्बलता को समझ कर उन्होंने पाप

पर विजय पाने के उपाय बतलाने की भी कोशिश की है। उनका एक यह अमूल्य उपदेश है जिस पर संसार के लाखों रत्न न्यौछावर किये जा सकते हैं :—

माप्यमञ्जेथ पापस्स न मं तं आगमिस्सति ।
उदचिन्दु निपातेन उदकुम्भोपि पूरति,
पूरति बालो पापस्स थोकं थोकं पि आचिनं ॥

अर्थ—(हे मेरे शिष्यो !) पाप का यह समझ कर कभी तिरस्कार मत करो कि यह मेरे पास नहीं आयेगा। पानी की एक-एक बूंद से घड़ा भर जाता है। वैसेमझ मनुष्य थोड़ा-थोड़ा पाप इकट्ठा करता हुआ पाप से भर जाता है।

कितनी सादी और सरल बात है, परन्तु मनुष्य-मात्र का अनुभव इसमें छिपा हुआ है। और पाप पर विजय पाने का रहस्य भरा पड़ा है। थोड़ा-थोड़ा करके पाप बढ़ जाया करता है। दुनिया के सब पाप थोड़े से रूप में आरम्भ होते हैं। जुआरी जिसका जुये में सर्वस्व नाश हो चुका है वह कान को हाथ लगा लेता है और निश्चय कर लेता है कि अब आगे से जुआ नहीं खेलेंगे। परन्तु जब पासों की आवाज़ सुनता है तो सोचता है चलो जुआ देख तो आवें, देखने में क्या हानि है। देखते-देखते जी करता है चलो बस एक दाव लगा लें, फिर यहाँ से चल देंगे, परन्तु फिर एक दाव के बाद दूसरा दाव लगता है दूसरे के बाद तीसरा फिर तो चौकड़ी जम जाती है। दिन रात की कुछ फ़िकर नहीं। परिणाम सर्वस्व नाश है।

दूसरा कोई व्यक्ति जिसका शराब से सत्यानाश हुआ है वह सोचता है अब से शराब नहीं पियेंगे; परन्तु जिस समय शराबी के नाक में शराब के गन्ध के गुब्बार पहुँचते हैं, तो शराबी शराब की दूकान की ओर यों ही—शापद कुछ देर बैठ कर अपनी

थकावट उतारने के लिये चल देता है। वहाँ शरा-बियों को पीकर मस्ताने देखकर थोड़ी सी पी लेने की सोचता है। परन्तु कुछ हिचकता है फिर अजी ! थोड़ी सी पियो जी, थोड़ी सी पीने में क्या हानि है—इस प्रकार पियकड़ों का आग्रह सुनकर प्याली मुंह से लगा लेता है। फिर सोचता है अब पी तो ली है, थोड़ी और पी लेने में क्या हानि है। फिर तो प्याले पर प्याले चढ़ने लगते हैं, नशे का दौर चढ़ने लगता है। आँखों के सामने अँधेरा छा जाता है। परिणाम पतन है।

तीसरा कोई व्यक्ति मेले में पहुंचा है। मिठाई, चाट, गोलगप्पे, मलाई की बरफ, सोडावाटर, कुलफी इत्यादियों की खूब सजी हुई दूकानें देखता है। यार-दोस्त साथ हैं। भोजन पर बड़ा संयम रखने वाला है। परन्तु यार-दोस्त उसे समझाते हैं कि मेला रोज थोड़े ही जुटता है। बस आज थोड़ी सी कुलफी खा लो, इस से कुछ नुकसान थोड़े ही होता है। यारों का आग्रह टालना मुश्किल होगया। कुलफी की दूकान पर बैठ ही तो गये, इसके बाद मिठाई की बारी आई, फिर तो धीरे-धीरे सब दूकानों पर कृपा होने लगी, पेट खूब तन गया, चलना मुश्किल हो गया, फिर भी लैमन की एक बोतल पीने से रहा ही नहीं जाता। परिणाम बीमारी है।

चौथे कोई चंचल वृत्ति के पुरुष हैं, सायंकाल खूब चटपटे मसालों का भोजन कर सैर को निकले हैं। बाज़ार की शोभा देखते २ उधर भी निकल पड़े हैं जिधर जाना चाहिये नहीं था। किसी छज्जे-वाली के गान की मधुर तान कान में पड़ी, जी मचल गया, मुंह ऊपर उठा दिया, आँखें चार हुई, सोचा, चलो एक गाना सुन आवें, गाना सुनने में क्या हानि है। सीढ़ी पर चढ़ गये, गाना सुनने लगे,

धीरे २ मस्ताने लगे, समाप्ति कहाँ है कौन जा परिणाम भयंकर पतन है।

संसार के और सब पापों की भी यही कह है। यार-दोस्तों के कहने से मांस का स्वाद चख चखते मनुष्य को मांस का चस्का लग जाता है ज़रा सा झूठ मनुष्य को झूठा बना देता है। मामूली चोरी मनुष्य को पक्का चोर बना सकती है। थोड़ा सा रूप-चिन्तन मनुष्य के हृदय में काम-वासना भयंकर अग्नि जला देता है। पाप कितने निर्दोष में आरम्भ होता है। खाली एक विचार या मानस तरंग ही तो है। अगर इस प्रथम मानसिक तरंग उठते-उठते मनुष्य ने अपने आपको सम्भाल लिया तब तो वह पाप के भयंकर तूफान से बच जाये। अगर उसी समय नहीं सम्भला तो फिर सम्भल मुश्किल है। संयम टूटना शुरू हो गया तो फिर कर ही रहता है। पाप का तूफान उस व्यक्ति ले डूबेगा। हां, जब ठोकर लगती है, पाप का भयंकर परिणाम आँखों के सामने आता है, कड़वा जब चखना पड़ता है तो मनुष्य को सुध आती थोड़ी देर के लिये वह पाप से अलग हो जाता वह भी संभलने का समय है। परन्तु मनुष्य-स्वभाव है। कड़वे फल को थोड़ी देर के बाद भूल जाता फिर फलों के बाह्य रूप-रंग से आकर्षित होता फिर फलों का चखना शुरू होता है, फिर कड़वा फिर निवृत्ति (पाप से थोड़ी देर के लिये बचना होना)—फिर विस्मृति, फिर आकर्षण—इस प्रक्रिया का चक्र चलता जाता है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश का अभिप्राय यह पाप को छोटा या तुच्छ समझ कर कभी तिरस्कार मत करो। शुरू में पाप बड़े छोटे से रूप में दरवाज़े पर आता है सही, परन्तु इस को समझ कर हृदय-रूपी मन्दिर में घुसने दि

धीरे २ पांव पसारने लगेगा, और अपना प्रकार जमा लेगा। शुरु में पाप के वामन (छोटे) को देख कर अभिमान मत करो। अभिमानी ॥ बलि ने वामन को छोटा समझ कर साढ़े कदम ज़मीन नाप लेने की आज्ञा दे दी थी। तब जब उस वामन ने पांव पसारना शुरू किया एक ही डग में उसकी सारी जमीन नाप ली थी। ॥ बलि बांधा गया। कुछ विदेशी व्यापारियों सुरत में कोठी बनाने का परवाना दे देने से चे भारत में उनका राज्य जम ही तो गया। इसी प्रकार पाप को पैर जमाने के लिये ज़मीन जायगी तब तो यह अपना राज्य जमा लेगा। समय पाप से लड़ना मुश्किल हो जायगा, पर विजय पा सकना असम्भव ही हो जायगा। लिये पाप पर विजय पाने का समय यही है तब तो पाप बाहर खड़ा हुआ हमारे दरवाजे को खटखटाता है और हाथ जोड़ कर भीतर जाने की आज्ञा मांगता है। उसी समय पाप को ने दरवाजे से चलता करो। पाप उस समय बड़े पैर जोड़ेगा, खुशामद करेगा, लालच और भ्रम देगा, बड़े-बड़े जाल फैलायेगा, बड़े-बड़े ऋण रूप रचेगा; परन्तु उसका विश्वास मत करो। उसी समय वेद के शब्दों में कड़क कर जवाब दो—
 "अन्तर्कोसि मृत्युरसि।"—अथर्ववेद। पाप तू यम है, तू मृत्यु-रूप है, मेरे दरवाजे से तू दूर भाग। उसी समय अपनी सम्पूर्ण संकल्प-शक्ति को ट कर पाप से कह दो कि मैं मर मिटूंगा, परन्तु सामने झुकूंगा नहीं। जिस प्रकार बोधि-वृक्ष के वे साधना और तपस्या करते हुए भगवान् बुद्ध के मन को कामलोक के अधिपति मार ने जब अनेक प्रकार प्रलोभन दिखाकर उनके मन को मोहित करना चाहता था उस समय उन्होंने मार को जवाब दिया था—
 "मम हृदयं त्वं न विजयिष्य"।

मेरुः पर्वत राजस्थानतु चलेत् सर्वजमन्त्रो भवेत्;
 सर्वे तारकसंघभूमिप्रपतेत् सज्योतिषेन्द्रा नभात्।
 सर्वे सत्त्वकदेय एकमतयः शुष्ये महासागरो;
 न त्वेव द्रुमराज मूलोपगतश्चाल्येत अस्मद्विधः ॥

पर्वतराज मेरु भले ही अपने स्थान से कहीं उठ कर चल देवे, समूचा संसार शून्य में मिल जाय, सारे तारों का मण्डल इन्द्र के साथ भूमि पर गिर पड़े, संसार के सारे जीव एक सम्मति वाले भले हो जाय, और महासागर भी चाहे सूख जाय, परन्तु बुद्ध को इस बोधि वृक्ष के नीचे बिछाये अपने तपस्या के आसन से मार के प्रलोभन उठा नहीं सकते।

इसी प्रकार पाप को हमारा जवाब होना चाहिये तब तो हम पाप पर विजय पा जायेंगे। और अगर पाप को शुरु में घुसने दिया, तब तो बूंद २ करके घड़ा भरना शुरू हो जायगा, पाप धीरे-धीरे प्रबल हो जायगा, आत्मा निर्बल होता जायगा, संयम और संकल्प टूटता जायगा। आत्मा का स्वराज्य छिन जायगा और पाप की विजय-दुन्दुभि बजेगी।

पाप पर विजय पाने के इसी रहस्य को थोमस ए. कैम्पिस ने बड़े सुन्दर शब्दों में रखा है—

"Yet we must be watchful, especially in the begining of temptation; for the enemy is then more easily overcome, if he be not suffered to enter the door of our hearts, but be resisted without the gate at his first knock."

हम को सावधान होना चाहिये, विशेषतः पाप के प्रारम्भ होने के समय में क्योंकि यदि शत्रु को हमारे हृदय के दरवाजे से घुसने न दिया जाय परन्तु

जिस समय वह पहले पहल दरवाजे को खटखटाता है उसी समय मुकाबला किया जाय तो पाप रूपी शत्रु को सुगमता से जीता जा सकता है।

शत्रु जिस समय किले में घुस गया फिर विजय पाने की आशा कहाँ है। इसलिये जब शत्रु बाहर खड़ा हो उसी समय वीर सिपाही की तरह बहादुरी से लड़ो। यदि उस समय पाप से लड़ते लड़ते थक जाओ और कुछ देर के लिये गिर जाओ तो कुछ पर्वाह नहीं, हिम्मत न हारो, फिर मर्द की तरह डटो, परमात्मा पर विश्वास रखते हुए फिर दुगनी शक्ति से पाप से लड़ो, उसे अपने हृदय मन्दिर में घुसने ही मत दो, प्रण कर लो कि मर मिटूंगा, परन्तु पाप को अन्दर घुसने की स्वीकृति नहीं दूँगा। विजय फिर निश्चित है।

मनुष्य यदि समय पर सावधान हो तो पाप पर विजय पाना कौन सी मुश्किल बात है। व्यक्ति समय पर चूक जाता है इसीलिये तो पाप बड़ा शक्तिशाली और दुर्जेय मालूम पड़ता है। वैसे मनुष्य के सामने पाप में शक्ति क्या है? हृदय-रूपी किले में बैठे हुए आत्मा के पास पाप का मुकाबला करने के लिये बड़े से बड़े अस्त्र-शस्त्र हैं। सबसे बड़ा शस्त्र संकल्प-रूपी वज्र है जिसकी शक्ति के विषय में वेद मनुष्य को विश्वास दिलाता है कि—

“प्रेक्ष्यभीति धृष्णुहि न ते वज्रो नियंमते”

ऋग्वे० १।८०।३

अर्थात्—ऐ मनुष्य! संकल्प-रूपी तेरे वज्र को रोक सकने की शक्ति किसी में भी नहीं है। बड़े से बड़े पाप या प्रलोभन के सिर को भी चकनाचूर कर देने की यह शक्ति रखता है। इसके विपरीत पाप शुरू में कितना निर्बल होता है। खाली एक विचार मात्र ही तो है। गाना सुनने का विचार, जुआ देखने का ख्याल, न खाने योग्य पदार्थ को

खा लेने की इच्छा, सुन्दर रूप का चिन्तन, इन सब विचारों को तो बड़ी आसानी से कुचला जा सकता है। परन्तु मनुष्य अपनी असावधानी और उपेक्षा-वृत्ति से पाप को बढ़ने का समय दे देता है। परिणाम यह होता है कि पाप हृदय में बैठकर उग्र रूप धारण करना शुरू करता है। सुन्दर रूप चिन्तन भयंकर कामवासना की अग्नि में परिवर्तित हो जाता है। फिर तो आत्मा को अपने अस्त्र-शस्त्र डालकर सिर झुकाना ही पड़ता है।

इसलिये पाप पर विजय पाने के लिये शुरू में ही सावधान होना चाहिये। जहाज़ में छोटा सा छेद हो गया। यदि शुरू में ही सावधानी की जाय, और छेद को बन्द कर दिया जाय, तो जहाज़ समुद्र की छाती पर सैर करता हुआ अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जायगा। यदि शुरू में उपेक्षा और असावधानी की तो समुद्र की ऊँची-ऊँची लहरों की थपेड़ों से जहाज़ का छोटा सा छेद बड़ा बन जायगा, फिर संभलना मुश्किल हो जायगा; जहाज़ समुद्र में डूब कर ही रहेगा। सवार को शुरू में ही अपने घोड़े की नाल की निकली हुई एक छोटी सी कील को लगवा लेना चाहिये नहीं तो रास्ते में घोड़े की टाँग और सवार की कमर टूट कर ही रहेगी। ठीक यही बात पाप के विषय में है। यदि शुरू में ही सावधान हुए तब तो पाप पर विजय निश्चित है, नहीं तो पाप प्रबल हो जायगा; फिर पाप का दुष्परिणाम भोगना ही पड़ेगा।

इसलिये “पाप जब दरवाजे को खटखटावे उसी समय मनुष्य को अपने संकल्प रूपी वज्र को लेकर पाप से लड़ने के लिये सावधान होना चाहिये। वीर सिपाही की तरह मैदान में डटे रहो, परमात्मा पर विश्वास रखो, पाप पराजित होगा। विजय तुम्हारी होगी।”

वेद-वाटिका

मनुष्य ! अपनी शक्ति को पहचान

[अथर्व ३।११ सूक्त छोटे-छोटे ५ मन्त्रों का सूक्त है। इनमें यह उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को कभी अपने आपको तुच्छ और हीन नहीं समझना चाहिये। अपनी अवमानना कभी नहीं करनी चाहिये। अपने आपको शक्ति से भरा हुआ समझकर सदा उन्नति के मार्ग में आगे ही बढ़ते जाना चाहिये। नीचे सूक्त के मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। पाठक पढ़ें और अपने लिये उत्साह प्राप्त करें।—सम्पादक।]

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥

अर्थ—हे पुरुष तू (दूष्याः) तुझे दूषित कर देने वाली बातों का (दूषिः) दूषित कर देने वाला (असि) है (हेत्याः) तुझे मारने वाली चीजों का (हेतिः) मारने वाला (असि) है (मेन्याः) वज्र का (मेनिः) वज्र है, तू (समं) अपने बराबर वाले से (अतिक्राम) आगे निकल जा (श्रेयांसम्) जो तुझसे श्रेष्ठ है उस की अवस्था को (आप्नुहि) प्राप्त कर ।

भाव—मनुष्य को कभी अपने-आपको तुच्छ और हीन नहीं समझना चाहिये। उसे सदा ही यह स्मरण रखना चाहिये कि उसमें सभी प्रकार की विघ्न-बाधाओं को हटाकर आगे बढ़ने की असीम शक्ति है। इस प्रकार की भावना को लेकर उसे सदा ही पुरुषार्थपूर्वक आगे बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिये। वह यदि अपने समान योग्यता वालों में ही रहा तो उसने अपनी शक्ति का कौशल नहीं दिखाया। उसे योग्यता प्राप्त करके

अपने से अधिक योग्य पुरुषों की श्रेणी में जाने की चेष्टा करनी चाहिये और इस प्रकार सदा आगे-आगे ही बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिये ।

सक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ २ ॥

अर्थ—हे पुरुष तू (सक्त्यः) सदा ही नई-नई रचनायें करने की अवस्था में रहने वाला (असि) है (प्रतिसरः) विरोध में आगे ही बढ़ने वाला (असि) है (प्रत्यभिचरणः) दूसरों के आक्रमणों का प्रत्युत्तर देने वाला (असि) है, तू (समं) अपने समान योग्यता वाले से (अतिक्राम) आगे निकल जा (श्रेयांसम्) जो तुझ से श्रेष्ठ है उस की अवस्था को (आप्नुहि) प्राप्त कर ।

भाव—मनुष्य में नई-नई रचनायें करने की शक्ति है, आगे बढ़ने का बल है, आक्रमणों को रोकने की शक्ति है। उसे अपने आप को किसी बात में हीन नहीं समझना चाहिये। उसे आगे-आगे ही बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिये ।

प्रतितमभि चर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं
द्विष्मः । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥३॥

अर्थ—(यः) जो हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है, और इसी लिये बाधित होकर (यं) जिस को (वयं) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, हे हमारे वीर पुरुष (तं) ऐसे द्वेषी पुरुष पर (प्रति+अभिचर) आक्रमण कर (समं) अपने समान से (अतिक्रम) आगे निकल जा (श्रेयांसम) जो तुझ से श्रेष्ठ है उसकी अवस्था को (आप्नुहि) प्राप्त कर ।

भाव—जो हमारी उन्नति से ईर्ष्या करके हमारे साथ शत्रुता करने लगें, हमें उनसे डर नहीं जाना चाहिये प्रत्युत उनका मुँहतोड़ उत्तर देना चाहिये और इस प्रकार उन्नति के रास्ते पर आगे-आगे ही बढ़ते जाना चाहिये ।

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानो असि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥४॥

अर्थ—हे पुरुष ! तू (सूरिः) हरेक बात को समझने वाला विद्वान् (असि) है (वर्चोधा) अपने भीतर तेज रखने वाला (असि) है (तनूपानः) अपने और अपनों के शरीरों की रक्षा करने की शक्ति वाला (असि) है, तू (सम) अपने समान

से (अतिक्रम) आगे निकल जा (श्रेयांसम्) ज तुझ से श्रेष्ठ है उसकी अवस्था को (आप्नुहि) प्राप्त कर ।

भाव—मनुष्य को ज्ञानवान् और तेजस्वी बन कर अपनी और अपनों की रक्षा करने में समर्थ बनना चाहिये और हरेक क्षेत्र में आगे ही बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिये ।

शुक्रोसि भ्राजोसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

अर्थ—हे पुरुष ! तू (शुक्रः) शत्रुओं को शोक में डाल देने वाली शक्ति रखने वाला (असि) है (भ्राजः) अपनी शक्ति से चमकने वाला (असि) है (स्वरः) तपा देने वाला अथवा सूर्य के समान तेजस्वी (असि) है (ज्योतिः) प्रकाशमान (असि) है, तू (समं) अपने समान से (अतिक्रम) आगे निकल जा (श्रेयांसम्) तुझ से श्रेष्ठ है उसकी अवस्था को (आप्नुहि) प्राप्त कर ।

भाव—मनुष्य को अपने आप को शक्तिशाली और तेजस्वी बनाना चाहिये और समझना चाहिये । अपनी अवमानना कभी नहीं करनी चाहिये । सदा ही उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ते जाना चाहिये ।

दर्शन

(रचयिता—द्विरेक विद्यालङ्कार)

दर्शन विन यह जीवन सूनो ।

सुमिर-सुमिर हरि-नाम मनायो ॥

हृत्-पट में कलु अजहूँ न छूनो ।

रटत-रटत दिन रैन बितायो ॥

रस-प्यासी भइ जिह्वा दूनो ।

फिरत-फिरत जग ढूँढ मचायो ॥

नैन विरह जल सिञ्चत सूनो ।

दर्शन विन कस प्रेम की पूनो ॥



उपनिषदों में यज्ञ की प्रतीयमान

अपेक्षाकृत हीनता

[ले०—श्री पं० विश्वनाथजी, शास्त्री, एम. ए.]

हम अधोलिखित पंक्तियों में उपनिषदों के कुछेक संदर्भों का परिशीलन करना चाहते हैं जिनसे यज्ञ की कुछ हीनता प्रतीत होती है। वह हीनता भी वस्तुतः अपेक्षाकृत है। इन स्थलों से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषत्कार ज्ञान, श्रद्धा और तपस्या को यज्ञ की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थान देते हैं। परन्तु उससे यह तात्पर्य कभी नहीं निकाला जा सकता कि यज्ञ कोई हीन वा अपेक्षा करने योग्य कर्म है। तत्कालीन कर्म-काण्ड की प्रवृत्ति कुछ इस प्रकार से प्रतीत होती है कि वे लोग यज्ञ (हवन) को ही सबसे उत्कृष्ट कर्म मानते थे और उनका विश्वास था कि कर्म-काण्ड ही मुक्ति का साधन है। वे लोग वेदादि सच्छास्त्रों के मनन और निदिध्यासन पर अधिक बल न देते थे। वे वेदमन्त्रों का प्रयोजन केवल यज्ञ के अवसर पर उच्चारण-मात्र ही समझते थे। वे वेद को सब सत्य विद्याओं का भण्डार मान कर इसकी विवेचना नहीं करते थे। बस, उनके लिए यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। और उन का कथन है कि “स्वर्गकामो यजेत”—जिसकी इच्छा स्वर्ग प्राप्त करने की है उसको उचित है कि यज्ञ करे। इस प्रकार के विश्वास रखने वाले कर्म-काण्डियों के लिए उपनिषत्कार के हृदय में सम्मान नहीं। उपनिषत्कार अग्निहोत्र को एक नैतिक शुभ कार्य मानता है और अग्निहोत्र के अनुष्ठान की कथाओं को अपनी रचना में स्थान देता है, जैसा

कि मेरे पूर्व लेख से स्पष्ट होता है। यज्ञ की महिमा का वर्णन इसके अनुरूप ही है। अग्निहोत्र कई वैदिक शुभ कर्मों से उत्कृष्ट स्थान रखता है और कइयों से निकृष्ट। यह बात तो साधारण पाठक भी भली भांति समझ सकते हैं कि अग्निहोत्र सर्वोत्तम धर्मकृत्य नहीं माना जा सकता। संन्यास को ग्रहण करता हुआ यजमान यज्ञोपवीत, शिखा, तथा अग्निहोत्रादि कार्यों से मुक्त हो जाता है। अग्निहोत्र एक ऐसा कार्य है जो कि एक विशेष अवस्था आने पर छोड़ा भी जा सकता है। अतएव यदि उपनिषद् अग्निहोत्र को ज्ञान, श्रद्धा और तपस्या से कुछ कम कह दे तो कोई सिद्धान्त-दानि नहीं होगी। उपनिषत्कार का तात्पर्य ऐसे संदर्भों से केवल इतना है कि जो लोग एक महायज्ञ—देवयज्ञ को ही सब से उत्कृष्ट कर्तव्य-कर्म और मुक्ति का साधन बताते हैं उनकी भूल को पाठकों पर प्रकाशित कर देना है।

मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक के द्वितीय खण्ड में कर्म-काण्ड का प्रतीयमान खण्डन उपलब्ध होता है। बिना ज्ञान और तपस्या के कोरा अग्निहोत्र ईश्वर के समीप नहीं ले जा सकता। बिना अर्थ और तात्पर्य-ज्ञान के वेद-मन्त्रों को घोख कर यज्ञ करना तो एक (Mechanical Function) हो जाता है। केवल शब्द-उच्चारण मनुष्य के चरित्र पर कोई अत्यन्त उत्कृष्ट प्रभाव नहीं

डाल सकता । केवल अग्नि-कुण्ड खनन, पात्रादि के शोधन और लाल-पीली रेखाओं के खेंचने आदि से कोई आत्म-सुधार नहीं हो सकता । जहाँ केवल कोरा ज्ञान मनुष्य को विवादी, बातूनी-सा बना देता है । वहाँ केवल कर्म-काण्ड मनुष्य को स्थाणु समान (Unproductive mind) जड़ मन का बना देता है । उसकी स्फुरण शक्ति मन्द पड़ जाती है । जो कर्म-काण्डी केवल हवन के पात्रों और रेखाओं की समीचीनता पर ही अपने सम्पूर्ण विचार केन्द्रित कर देते हैं उनके सम्बन्ध में ही निम्न श्लोक कहे गए हैं—

स्रवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं
येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा
मृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥

अर्थ—ये यज्ञ-रूप नौकाएँ अदृढ़ हैं जिनमें सोलह ऋत्विज, यजमान और यजमान-पत्नी कथन किये गये हैं । जो अविद्येकी पुरुष इनको श्रेष्ठ मान कर प्रसन्न होते हैं वे निश्चय करके जरा और मृत्यु को पुनः-पुनः प्राप्त होते हैं । पुनः कहा है—

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था
इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति
रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥

अर्थ—अज्ञानी पुरुष अविद्या में बहुत प्रकार से ग्रस्त, हम कृतार्थ हैं—ऐसा मानते हुए हैं । फल की इच्छा रखने वाले राग ग्रस्त कर्म-काण्डी लोग (तत्व को) नहीं जानते । दुःखों से आर्त्त ऐसे अज्ञानी लोग पतित होते हैं । पुनः —

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेद-
यन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं
लोकं हीनतरं चाविशन्ति ॥

अर्थ—मूढ़ अज्ञानी पुरुष इष्ट=यज्ञादि और आपूर्त्त=वापी, कूप, तड़ागादि कर्मों को श्रेष्ठ मानते हुए कि इसके अतिरिक्त अन्य कोई कल्याण का मार्ग नहीं यह जानते हैं वे स्वर्ग के ऊपर अपने किये हुए कर्मों को भोग कर इस हीनतर—दुःखमय लोक को प्राप्त होते हैं ।

उपर्युक्त श्लोकों में यज्ञ की उत्तमता और अपेक्षा कृत हीनता पर प्रकाश डाला गया है । निस्सन्देह इष्ट और पूर्त्त स्वर्ग सुख को देने वाले हैं इन कर्मों से मनुष्य अपने जीवन को सुखमय बना सकता है । परन्तु केवल यज्ञ करने मात्र से असीम आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती । कर्म-काण्डियों को पुनः मर्त्य-लोक में शीघ्र ही लौटना पड़ता है । उपनिषत्कार इष्ट और पूर्त्त को सुकृत=पुण्य-कर्म कहता है । जब ये पुण्य-कर्म हैं तो इन का फल भी यज्ञकर्त्ता को अवश्य मिलेगा । अल्प काल के लिए पुण्य का फल भोग चुकने के पश्चात् उस को पुनः जन्म लेना पड़ेगा । कर्म-काण्डियों के सर्व कर्म सकाम होते हैं । किन्तु तपस्वी, ज्ञानी तथा श्रद्धालु मुमुक्षु के समूचे कर्म निष्काम होते हैं उसे सांसारिक भोगैश्वर्य की कामना नहीं होती उसे उत्तम-उत्तम दक्षिणाओं की इच्छा नहीं होती वह जब विदेह हो गया और उसने अपने पांच भौतिक देह से प्रेम ही छोड़ दिया तो फिर उस सांसारिक पदार्थों से कैसे मोह हो सकता है उस को किसी वस्तु के सञ्चय की आवश्यकता नहीं रहती । जहाँ से दो रोटी मिल गई खाली ब्रह्म-ध्यान ही उस का मुख्य ध्येय है । कर्म-काण्डियों का बहुत-सा समय वेदि-चयन, समिध-एकत्रीकरण, पात्र-शोधन और मन्त्र, स्वर इत्यादि बाह्य आडम्बरों में अधिक व्यय होता है । ईश्वर को समाधि द्वारा साक्षात् करने वाले भक्त स

त्माओं के समान वे अपना जीवन निष्काम नहीं बना सकते। अतएव इस का फल भी थोड़े समय में क्षीण हो जाता है। फल के क्षीण हो जाने से उन्हें पुनः शीघ्र ही जन्म लेना पड़ता है। इसी बात को प्रश्नोपनिषद् में और अधिक स्पष्ट किया है:—

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्तं कृतमित्युपासते। ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते त एव पुनरावर्तन्ते। तस्मादेते प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयियः पितृयाणः।

वर्ष ही प्रजापति है। उस के दक्षिणायन और उत्तरायण ये दो मार्ग हैं। जो लोग निश्चय कर के इष्ट=यज्ञादि आपूर्त्त=वापी, कूप-तडागादि बनवाने आदि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं वे चन्द्रलोक=आह्लादित रजो-गुण-रूप लोकों को जीत लेते हैं वे लोग पुनः-पुनः संसार को लौट आते हैं। अतः प्रजा=उत्तम सन्तान, ऐश्वर्यादि की कामना वाले सज्जन दक्षिणायन को प्राप्त होते हैं। ऐसा दक्षिणायन जो पितृ-याण है यह ही रयि है, उत्पत्ति का स्थान तथा कारण है।

अथोत्तरेण, तपसा, ब्रह्मचर्येण, श्रद्धया, विद्यया ऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते, एतद्वै प्राणानामायतनमेतद् मृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते इत्येष निरोधः।

अर्थ:—उत्तरायण—तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, और विद्या से आत्मा को खोज कर आदित्य लोक को जीतते हैं। यह ही प्राणों का स्थान है, यह ही अमृत, भय-रहित है। यही परम-पद है। वे लोग फिर उस अवस्था से चलायमान नहीं होते। यही योग है।

उपर्युद्धृत श्लोकों से स्पष्ट है कि याज्ञिक लोगों का मार्गपितृ-याण है। पितृ याण का अर्थ पितरों का मार्ग है। जिन कर्मों को कर के मनुष्य का आत्मा ऐसे लोक में जन्म ले, जहाँ माता पिता आदि के दर्शन हों, सन्तान की उपलब्धि हो, सुखैश्वर्य हो वह पितृ-याण है। दान, पुण्य, यजन-याजनादि सकाम कर्मों से सुख समृद्धि तो अवश्य प्राप्त होती है परन्तु उसे पुनः-पुनः योनिचक्र में पड़ना पड़ता है। इसके मुक्ताबिले में तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्यादि से मुक्ति का आनन्द प्राप्त होता है, और वहाँ आत्मा चलायमान नहीं होता।

छान्दोग्य उपनिषद् के पञ्चम प्रपाठक के दशवें खण्ड में भी निष्काम और सकाम कर्मों का वर्णन आया है। जिन का हिन्दी-अनुवाद उद्धृत किया जाता है:—

“जो भगवान् के नियम को जानते हुए श्रद्धालु भक्त तपस्या का जीवन व्यतीत करते हैं वे ज्योति को प्राप्त होते हैं। वे ज्योति से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण को, उत्तरायण से वर्ष को, वर्ष से आदित्य को, आदित्य से चन्द्र को, और उस के उपरान्त विद्युत् सदृश धाम को प्राप्त होते हैं। वह तेजोमय पुरुष अमानव है, मनुष्य नहीं। वह परम प्रकाशमय पुरुष इन उपासकों को ब्रह्म में ले जाता है, अपना स्वरूप प्रदर्शन करता है। यह देव-यान मार्ग है।

“और जो ये उपासक लोग ग्राम में रह कर सकाम कर्म करते हैं, वैदिक यज्ञ और कुएँ, तालाब आदि बनवाते तथा दान करते हैं वे मर कर धूँ के समान सूक्ष्म शरीर में रहते हैं। उस से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष को, कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन को प्राप्त होते हैं। (सकाम कर्म करने वाले उपासक वर्ष को प्राप्त नहीं होते) वे दक्षिणा-

यन से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। यह ही सोम राजा है। यहाँ कर्म फल देने वाला ईश्वर प्रियस्वरूप से विराजता है। वह देवों का अन्न, भोगविधान करता है। उसी कर्म-फल को देव भोगते हैं। उस चन्द्र-लोक में जितने वर्षों की नियति हो तब तक रह कर फिर इसी ही मार्ग को पीछे लौटते हैं। जैसे इस आकाश को, आकाश से वायु को, वायु होकर धूम्र हो जाता है। धूम्र हो कर अन्न बनता है। अन्न बन कर मेघ हो जाता है। मेघ हो कर बरसता है। तदनन्तर वहाँ वे चावलदि धान्य, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, तिल, उड़दादि उत्पन्न होते हैं। निश्चय से इस से निकलना कठिन है [क्योंकि अन्न में जीवन है] जो जो मनुष्य अन्न खाता है और जो वीर्य सींचता है उस

से दुबारा ही गर्भ हो जाता है। गर्भ ही चन्द्र से लौटते प्राणी के जन्म का स्थान है और वह गर्भ अन्न से उत्पन्न हुए वीर्य से बनता है।

“वे लोग जो इस लोक में शुभ आचरण वाले होते हैं तत्काल ही इस शुभ कर्म के प्रभाव से वे शुभ जन्म को पाते हैं, जैसे ब्राह्मण-जन्म को, क्षत्रिय-जन्म को तथा वैश्य जन्म को। और जो इस लोकमें निन्दित आचरण वाले होते हैं शीघ्र ही वे नीच जन्म को पाते हैं, जैसे कुत्ते के जन्म को, शूद्र के जन्म को तथा चाण्डाल के जन्म को। और जो जीव इन दोनों मार्गों में से किसी भी मार्गसे नहीं जाते वे क्षुद्र बार-बार मरने जन्मने वाले जीव हैं यह तीसरा स्थान है जो जायस्व, म्रियस्व—जन्मो और मरो इस नाम से प्रसिद्ध है।”

ईश्वर-महिमा

[ले०—श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति]

तेरी महिमा का नहि पार।

कोई पावे जगदाधार ॥ ध्रुव

ऋषि मुनि सन्त विचारक सारे।

तेरी महिमा गा गा हारे ॥

निर्भय विचरें तेरे सहारे।

तू है अगणित गुण भण्डार ॥

सूर्य चन्द्र ये पर्वत तारे।

भूमि सिन्धु कुसुमादिक सारे ॥

तुझको मिलकर हरे पुकारें।

हे सारे जग के करतार ॥

तू ने अद्भुत विश्व बनाया।

सबके अन्दर आप समाया ॥

तेरी शक्ति कहावे माया।

हे सबके स्वामी भरतार ॥

भक्ति सुधा का पान करा दे।

दुर्गुण सारे दूर भगा दे ॥

हमको सच्चा आर्य बना दे।

तू है अनुपम करुणागार ॥

बाह्याडम्बर से क्या लाभ ?

[ले० श्री पं० मुनेश्वरदेव जी सिद्धान्तशिरोमणि]

आर्यवृन्द ! यह तो आप जानते ही हैं कि आगामी दिसम्बर मास में पञ्जाब तथा सिन्ध-विलोचिस्तान के समाजों की शिरोमणि सभा—आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब लाहौर—की अर्द्ध-शताब्दी मनाई जायगी, इस समारोह को सर्वाङ्ग सफल बनाने के लिए आर्य-जगत् की विभूति श्री आचार्य रामदेव जी प्रधान कार्य-कर्ता शताब्दी समिति तथा प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, कितनी कोशिशें कर रहे हैं, हम चाहते हैं कि इस उत्सव को सफल बनाने के लिए आर्य-विद्वानों, आर्य-सम्पादकों, आर्य-सभासदों और आर्य-युवकों तथा युवतियों से कुछ भिक्षा मांगी जाय । हमारा विश्वास है कि उनकी भिक्षा से यह उत्सव—समारोह अपूर्व सफलता को प्राप्त होगा ।

आर्य-विद्वान्

आर्य-विद्वद्गण ! हम आपकी सेवा में विनम्र निवेदन करना चाहते हैं कि आप कृपा करके अब आगामी आर्य-पत्र-पत्रिकाओं में अपने २ विचारानुसार नवीन आयोजनाओं से विभूषित लेखमाला का सूत्रपात कीजिएगा, जिससे सर्वसाधारण में नवीन उत्साह उत्पन्न हो । अब एक दूसरे पर अनुचित टीका-टिप्पणी, आक्षेप, करके और व्यर्थ में आर्यजनता की नज़रों में किसी कर्मठ को गिरानेवाले विचारों के लेखों के लिखने का समय नहीं है, अन्यथा सर्व साधारण में अमिट निरुत्साह की असद् भावना उत्पन्न होगी, जो कि निश्चित रूपेण सफलता में बाधक सिद्ध होगी, अतः इस प्रगति को रोकने क बड़ी आवश्यकता है । आशा है विद्वान् महानुभाव इस ओर ध्यान देकर अनुगृहीत करेंगे ।

आर्य-सम्पादक

आर्यसम्पादकगण ! परमात्मा ने आपके हाथ में—लेखनी में—बहुत शक्ति दी है, आप जिस आन्दोलन को चाहें अपने सम्पादकीय वक्तव्यों द्वारा चार चाँद लगा सकते हैं, और जिस प्रगति का अवरोध करना चाहें, आपके लिए बायें हाथ का खेल है, हमारी सम्मति में पूर्व जितने भी आर्य समारोह सफल हुए हैं, उनकी असीम सफलता का श्रेय भी आप को ही प्राप्त है । हम चाहते हैं, और हमारा पूर्ण विश्वास है कि इस आगामी समारोह की सफलता भी आप पर ही निर्भर है । आप कृपा करके अपने पत्रों-पत्रिकाओं में उन्हीं लेखों समाचारों को स्थान दें, जो कि आर्य-जनता में, सर्व-साधारण में नवीन उत्साह को उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हों । ऐसे लेखों, विचारों, समाचारों को अपने सफल पत्र में स्थान न दें जो प्रमुख कार्य कर्ताओं के उत्साह को भंग करनेवाले हों, आर्य जनता में पारस्परिक वैमनस्य की आग सुलगाने वाले हों, और परस्पर की आलोचना-प्रत्यालोचना से पुर हों, तथा जिनमें अवाच्य—वचन प्रहार, तीक्ष्णतीर प्रहार के तुल्य हों, कदापि प्रकाशित न करें, ऐसा करने से ही आप की पत्र-पत्रिका को सफलता तथा लोक-प्रियता प्राप्त हो सकती है, और साथ ही आर्य जनता के साधुवाद के अधिकारी बन सकते हैं ।

आर्य-सभासद्

आर्य-सभासद्गण ! आप पर इस समय बड़ी ज़िम्मेदारियों का भार है । आपके सहयोग के द्वारा ही 'कर्मवीर नेता' अपनी आशाओं को पूर्ण हुआ

देखा चाहता है। आप उस भिक्षुक की पवित्र झोली में अपना धन डालकर धन की सफलता समझें। इस से उत्तम और विशेषकर इस अवसर पर दान के लिए और कौन-सा सुपात्र मिलेगा, आप जो धन अनावश्यक कार्यों में व्यय करते हैं, वही बचा कर देना चाहिए। हमारे तुच्छ विचार में जब तक यह उत्सव अपूर्व सफलता को प्राप्त न हो जाए, तब तक विवाह, मुण्डन, उपनयन, और नाम करण आदि संस्कारों में बाजे का बजाना, लड्डुओं का बांटना, बड़े पैमाने का सहभोज करना, सुनहरी अक्षरों में निमंत्रणपत्र छपवाना, दूर स्थानों से बरात आदि में भारी संख्या में लोगों को बुलवाना, दहेज में दिखावे के लिए कीमती और अनावश्यक—काम में न आने वाली—वस्तुओं को देना, भारी वजन के जेवर—कज्जा ले लेकर—बनवाना, और खान-पान में—नाम कमाने के लिए—हलुआ, खीर, पूरी, मिठाई की बहुतायत का होना, और दस २ हण्डों की रोशनी के बीच वर महाशय का जलूस निकालना, और इसी प्रकार मनोरञ्जन के लिए १००) प्रति-दिन के हिसाब से देकर स्वांगियों—नाच व परियों—को बुलाना, आदि सब बातें बिल्कूल फ़िजूल हैं, और मानो अपनी गाड़ी कमाई को गहरी खाई में अपने हाथों डालना है। आपको ज़रा सोच विचार कर पग उठाना चाहिए, संसार गति एक विचित्र गति है, जो जितना सादा होगा, और ऐसे अवसरों पर सब कुछ होते हुए केवलमात्र आदर्श की रक्षा के लिए कम खर्च करनेवाला होगा, वही यशस्वी और संसार की नज़रों में चमकनेवाला देवता कहलायेगा।

इस प्रकार सभासद्गण ! आप युक्त फ़िजूल खर्चा से बचे हुए धन से आर्य भिक्षुक की झोली भर कर अपने नाम को अमर कर सकते हैं। आशा है

आप इस ओर अवश्य ध्यान देकर इस आयोजना का स्वागत करते हुए क्रियात्मक रूप देंगे।

आर्य-युवक और युवती

आर्य-युवको तथा युवतियो ! आप से हम अधिक क्या कहें, आप पर तो सारे आर्य-जगत् की आंखें लगी हुई हैं। आप से आर्य-जनता को भारी आशाएँ हैं, आप के पूर्ण सहयोग से ही यह अर्द्ध-शताब्दी समारोह अपूर्व सफलता को प्राप्त होगा। आप घरों में, स्कूलों में, कालिजों में अथवा अन्यत्र रहते हुए किस प्रकार सहयोग दे सकते हैं, और आर्य-भिक्षुक की झोली भर सकते हैं। सुनिये हम आप को एक सरल विधि बताते हैं इस ओर ज़रा ध्यान दीजिए—

सबसे प्रथम सादे और कम कीमत के वस्त्रों को पहनना आरम्भ करो, अपनी आवश्यकताओं को—अधिक जूते रखना, अधिक धोती, कर्ता, बुनयन, कोट नीकर, पतलून, सलवार, साड़ी, दुपट्टे, आदि को—भारी संख्या में जमा करना छोड़ दो, दो पैसे वाली चीज़ से काम निकलता हो तो आठ आने वाली खरीद कर धन का अपव्यय न करो, जहां तक बन पड़े स्वात्मावलम्बी बनो, आठ या दस रुपएमासिक वेतनभोगी नौकरों पर आश्रित न रहो, जब बाज़ार में निकलो तो प्रण करके कि आज एक भी पैसा व्यर्थ चाय वगैरः में खर्च नहीं करना, एक आनेवाली हजामत बनवाया करो, पान बीड़ी में भी अधिक व्यय न करो। यह व्यसन है, बीमारी है, समझ कर त्याग दो, यदि आप आदत से मजबूर हैं तो चार की जगह दो कर दो, इस प्रकार करने से जो धन बचे, वह भिक्षुक की झोली में डाल कर अमर कीर्ति को पाओ, यही आप का इस समय काम है, यही आप की सहायता है।

त्याग

[ले०—श्री केशव]

एक संस्कृत-कवि ने कहा है कि जिस प्रकार संसार की प्रत्येक वनस्पति उपयोगी है उसी प्रकार यहाँ का प्रत्येक प्राणी भी अपनी विशेषता रखता है। न्यूनता इस बात की है कि उसको उपयोग में लानेवाला नहीं मिलता।

ग्रे नामक अंगरेज़ कवि ने भी कहा है—“कितने ही फूल जंगल में खिल कर मुरझा जाते हैं। कितने ही कीमती मोती समुद्र गर्भ में ही दबे रहते हैं और कितने ही होनहार युवक अवसर न मिलने से कुछ कर नहीं पाते।”

+ + +

मिस्टर और मिसिज़ जौन-सी-स्टैम कई वर्षों से चीन देश में ईसाइयत का प्रचार करते थे। उन की ३ वर्ष की एक लड़की मिस हैलन भी उनके साथ थी, जिस समय की यह घटना है, १ दिसम्बर १९३३ की शाम थी। कुछ कम्युनिस्टों ने सब फिरंगियों को मारना शुरू किया। अन्हवी प्रान्त में वुहू एक छोटा सा गाँव है। वहाँ फिरंगियों की संख्या सौ-पचास से क्या अधिक रहेगी। कम्युनिस्ट हज़ारों में थे। पादरी स्टैम का परिवार भी उस समय वहीं था। एक जटथा कम्युनिस्टों का पादरी स्टैम के बंगले में घुसा। बिना पूछे-ताछे गोलियाँ दागीं। केवल उस तीन वर्ष की मिस हैलन को छोड़ कर और कोई जीवित नहीं बचा। कम्युनिस्ट मिस हैलन को उठाकर स्टेशन पर ले आये। स्टेशन पर और भी अनेक बच्चे आये हुए थे।

कम्युनिस्टों ने उनके विषय में मंत्रणा की। कइयों की सम्मति थी कि इन अबोध बच्चों को छोड़ दिया जाय। परन्तु उनके नेता ने कहा “साँप के बच्चों को दूध पिलाकर बड़ा करने में क्या लाभ है? शत्रु छोटा भी विषवृक्ष के समान प्रारम्भ में काट देना चाहिये।”

दूसरे दिन प्रातःकाल उन बच्चों की किस्मत का फैसला था। लगभग एक सौ अबोध बालक एक पंक्ति में खड़े हुए थे। सिपाहियों को हुक्म था कि क्रमशः इन को गोलियों से दागा जाय। इतने में एक अश्वेड़ चीनी वहाँ पहुँचा। उसके वस्त्र फटे थे। दाढ़ी बड़ी थी। बाल भी महीनों से न कटे थे। ऐसा प्रतीत होता था मानो अभी जेल में से या क़त्र में से निकल कर आ रहा है।

+ + +

यह अज्ञात चीनी आज से छः मास पूर्व अपनी स्त्री को घायल करने के अपराध में दण्डित हुआ था। उसका कहना था कि उसकी स्त्री ने पड़ोसी के साथ दुराचार किया है। इसी लिये उसने उसे पीटा। परन्तु उसकी स्त्री, स्वाभाविक चतुरता से, अदालत में रो-धोकर, पाक-दामन बन गई। परिणाम यह हुआ कि अज्ञात चीनी को छः मास कठिन कारावास भोगना पड़ा।

अभी वह सीधा जेल से छुट कर चला आ रहा था। उसने मार्ग में गोलियों की आवाज़ सुनी। कौतूहल वश वह भी स्टेशन पर गया। अबोध

१. अध्वर्यु कहे “अग्नये समिध्यमानायानु-
ब्रूहि ।
२. यह सब ऋचा अग्नि-सम्बन्धिनी
(आग्नेयी) हों ।
३. इन का छन्द गायत्री हो ।
४. संख्या में ११ हों ।
५. प्रथम और अन्तिम ३ वार बोली जावें ।
६. इस प्रकार १५ हों ।
७. कोई कहते हैं १७ हों ।
८. कोई कहते हैं २१ हों ।
९. वस्तुतः १५ ही हों ।
१०. एक सांस में बोली जावें (यथाशक्ति) ।
११. एक दूसरे के साथ मिला कर लगातार
बोली जावें ।
१२. हिङ्कार अर्थात् स्वरदर्शनपूर्वक बोली जावें ।
१३. हिङ्कार मुख में हो ।
१४. ऋचाएं “आ” वाली या “प्र” वाली हों ।
यह सब क्यों हो इस की व्याख्या
आगे सुनिये ।
इति तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

अथ तृतीयाध्याये पंचमं ब्राह्मणम्

इन्धे ह वा एतदध्वर्युः । इध्मेनाग्निं
तस्मादिध्मो नाम समिन्धे सामिधेनीभि-
र्होता तस्मात्सामिधेन्यो नाम ॥१॥ स
आह । अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्यग्नये
ह्येतत्समिध्यमानायान्वाह ॥२॥ तदु हैकऽ
आहुः । अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रू-
हीति तदु तथा न ब्रूयादहोता वाऽएष पुरा

भवति यदैवेनं प्रवृणीतेऽथ होता तस्मादु
ब्रूयादग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्येव ॥३॥
आग्नेयीरन्वाह । स्वयैवैनमेतद्देवतया समि-
न्धे गायत्रीरन्वाह गायत्रं वाऽअग्नेश्छन्दः
स्वनैनमेतच्छन्दसा समिन्धे वीर्यं गायत्री
ब्रह्म गायत्री वीर्येणैवैनमेतत्समिन्धे ॥४॥
एकादशान्वाह । एकादशाक्षरा वै त्रिष्टु-
ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुवेताभ्यामेवैनमेत-
दुभाभ्यां वीर्याभ्यां समिन्धे तस्मादेका-
दशान्वाह ॥५॥ स वै त्रिः प्रथमामन्वाह ।
त्रिरुत्तमां त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुद-
यनास्तस्मात्त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्
॥६॥ ताः पञ्चदश सामिधेन्यः सम्पद्यन्ते ।
पञ्चदशो वै वज्रो वीर्यं वज्रो वीर्यमेवैत-
त्सामिधेनीरभिसम्पादयति तस्मादेतास्वनू-
च्यमानासु यं द्विष्यात्तमङ्गुष्ठाभ्यामवबा-
धेतेदमहममुमवबाधऽइति तदेनमेतेन वज्रे-
णावबाधते ॥७॥ पञ्चदश वा अर्द्धमासस्य
रात्रयः । अर्द्धमासशो वै संवत्सरो भवन्नेति
तद्रात्रीराप्नोति ॥८॥ पञ्चदशानामु वै
गायत्रीणाम् त्रीणि च शतानि षष्टिश्चा-
क्षराणि त्रीणि च वै शतानि षष्टिश्च संव-
त्सरस्याहानि तदहान्याप्नोति तद्वेव संव-
त्सरमाप्नोति ॥९॥ सप्तदशसामिधेनीः ।
इष्ट्याऽअनुब्रूयादुपांशु तस्यै देवतायै

यजति यस्याऽऽष्टिं निर्वपति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्त्तव एष एव प्रजापतिः सप्तदशः सर्वं वै प्रपापतिस्तत्सर्वेणैव तं काममनपराधं राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्युपांशु देवतां यजत्यनिरुक्तं वा ऽउपांशुसर्वं वा ऽअनिरुक्तं तत्सर्वेणैव तं काममनपराधं राध्नोति यस्मै कामायेष्टिं निर्वपत्येष इष्टेरुपचारः ॥१०॥ एकविंशतिः सामिधेनीः । अपि दर्शपूर्णमासयोरनुब्रूयादित्याहुर्द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य पञ्चर्त्तवस्त्रयो लोकास्तद्विंशतिरेषऽएवैकविंशो य एष तपति सैषा गतिरेषा प्रतिष्ठा तदेतां गतिमेतां प्रतिष्ठां गच्छति तस्मादेकविंशतिमनुब्रूयात् ॥११॥ ता हैता गतश्रेरेवानुब्रूयात् । य इच्छेन्न श्रेयान्स्यान्न पापीयानिति यादृशाय हैव सतेन्वाहुस्तादृङ्वा हैव भवति पापीयान्वा यस्यैवं विदुष एता अन्वाहुः सोऽएषा मीमांसेव न त्वेवैता अनूच्यन्ते ॥१२॥ त्रिरेव प्रथमां त्रिरुत्तमामनवानन्ननुब्रूयात् । त्रयो वाऽइमे लोकास्तदिमानेवैतल्लोकान्तसन्तनोतीमांल्लोकान्तस्पृणुते त्रय इमे पुरुषे प्राणा एतमेवास्मिन्नेतत्सन्ततमव्यवच्छिन्नं दधात्येतदनुवचनम् ॥१३॥ स

यावदस्य वचः स्यात् । एवमेवानुविवक्षेत्तस्यैतस्य परिचक्षीत साम्यवान्यादनवानन्ननुविवक्षेस्तत्कर्म विवृहेत सा परिचक्षा ॥१४॥ स यद्येतन्नोदाशं सेत । अप्येकैकामेवानवानन्ननु ब्रूयात्तदेकैकयैवेमांल्लोकान्तसन्तनोत्येकैकयेमांल्लोकान्तस्पृणुतेऽथ यत्प्राणं दधाति गायत्री वै प्राणः स यत्कृत्स्नां गायत्रीमन्वाह तत्कृत्स्नं प्राणं दधाति तस्मादेकैकामेवानवानन्ननुब्रूयात् ॥१५॥ ता वै सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह । संवत्सरस्यैवैतदहोरात्राणि सन्तनोति तानीमानि संवत्सरस्याहोरात्राणि सन्ततान्यव्यवच्छिन्नानि परिप्लवन्ते द्विषतऽउ चैवैतद्भ्रातृव्याय नोपस्थानं करोत्युपस्थानं ह कुर्याद्यदसन्तता अनुब्रूयात्तस्माद्वै सन्तता अव्यवच्छिन्ना अन्वाह ॥१६॥

इति तृतीयाध्याये पंचमं ब्राह्मणम् ।

अथ चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

हिङ्कृत्यान्वाह । नासामा यज्ञोऽस्तीति वाऽआहुर्न वाऽअहिङ्कृत्य साम गीयते स यद्विङ्करोति तद्विङ्कारस्य रूपं क्रियते प्रणवेनैव साम्नो रूपमुपगच्छत्योऽम् ओऽमित्येतेनो हास्यैष सर्व एव ससामा यज्ञो भवति ॥ १ ॥ यद्वेव हिङ्करोति । प्राणो वै हिङ्कारः प्राणो हि वै हिङ्कारस्त-

स्मादपिगृह नासिके न हिङ्कर्तुं श-
क्रोति वाचा वाऽऋचमन्वाह वाक्च वै प्रा-
णश्च मिथुनं तदेतत्पुरस्तान्मिथुनं प्रजननं
क्रियते सामिधेनीनां तस्माद्वै हिङ्कृत्या-
न्वाह ॥ २ ॥ स वाऽउपांशु हिङ्करोति ।
अथ यदुच्चैर्हिङ्कुर्यादन्यतरदेव कुर्याद्वाच-
मेव तस्मादुपांशु हिङ्करोति ॥ ३ ॥ स
वाऽएति च प्रेति चान्वाह । गायत्रीमेवैत-
दर्वाचीं च पराचीं च युनक्ति पराच्यह
देवेभ्यो यज्ञं वहत्यर्वाचीं मनुष्यानवति
तस्माद्वाऽएति च प्रेति चान्वाह ॥ ४ ॥
यद्वेवेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै प्राण
एत्युदानः प्राणोदानवेवैतदधाति तस्मा-
द्वाऽएति च प्रेति चान्वाह ॥ ५ ॥ यद्वे-
वेति च प्रेति चान्वाह । प्रेति वै रेतः सि-
च्यतऽएति प्रजायते प्रेति पशवो वितिष्ठ-
न्तऽएति समावर्त्तन्ते सर्वं वाऽइदमेति च
प्रेति च तस्माद्वाऽएति च प्रेति चान्वाह ॥ ६ ॥

“अध्वर्यु अग्नि में समिधाएं लगाकर
अग्नि को प्रदीप्त करता है । इसी लिये वह
समिधाएं जिन से प्रदीप्त करता है इधम
कहलाती हैं । और क्योंकि अग्नि के समिन्धन
अर्थात् प्रदीप्त करने के सम्बन्ध में होता
यह ऋचाएं पढ़ता है इसलिये यह सामिधेनी
कहलाती हैं । १ । उस समय में वाक्य बोलता
है “अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि” । २ ।

इस में कोई लोग कहते हैं कि “अग्नये समि-
ध्यमानाय होतरनुब्रूहि” इस प्रकार बोलना
चाहिये । किन्तु वस्तुतः ऐसा न बोलना
चाहिये । जब तक वरण विधि नहीं हो लेती
उस से पहिले यह पुरुष अहोता होता है
अर्थात् होता नहीं होता । जब उसका विधि-
पूर्वक वरण होता है तब होता बनता है । इस
लिये “अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि” ऐसा
ही बोलना चाहिये । ३ । यह ऋचाएं अग्नि
देवता वाली होनी चाहियें, अग्नि समिन्धन
अपनी देवता वाली ऋचाओं से ही होना
चाहिये । इन ऋचाओं का छन्द भी गायत्री
होना चाहिये । अग्नि देवता का छन्द है ही
गायत्री । सो अपने ही छन्द से इस को समि-
न्धन करता है । गायत्री वीर्य की द्योतिका
है, ब्रह्म की द्योतिका है, सो इसे इस प्रकार
वीर्य से प्रदीप्त करना है । ४ । यह ऋचाएं
संख्या में ग्यारह हों । त्रिष्टुप् के ग्यारह
अक्षर होते हैं । गायत्री ब्रह्मशक्ति की द्योति
का है, त्रिष्टुप् क्षत्रिय शक्ति की । इस प्रकार
इन दोनों शक्तियों से इसे प्रदीप्त करता है,
इस लिये ११ बोलता है । ५ । वह तीनबार
प्रथम ऋचा को बोलता है, तीनबार अन्तिम
को । यज्ञों का प्रारम्भ और परिसमाप्ति
दोनों तीन तहों वाले होते हैं, इसी लिये तीन
बार प्रथम को बोलता है तीनबार अन्तिम
को । ६ । इस प्रकार यह १५ सामिधेनी हो
जाती हैं । १५ की संख्या वज्र है, वज्र वीर्य
है, इस प्रकार सामिधेनियों को शक्तिमती
सम्पादन करता है । इस लिये सामिधेनी

वचन के समय जिस शत्रु से द्वेष हो उस का नाम लेकर पैर के अंगूठों से धरती को दबादे इस अमुक.....नाम वाले को मैं दबाता हूँ। इस प्रकार इस वज्र से उसे दबाता है। ७। अथवा १५ संख्या का भाव यह है कि एक पखवाड़े में १५ रात्रि होती हैं, पखवाड़े पखावाड़े कर के संवत्सर बनता है, इस प्रकार वह सब रात्रियां प्राप्त करता है। ८। अथवा १५ गायत्रियों के (१५×२४) तीससौ साठ अक्षर होते हैं, संवत्सर के दिन भी ३६० होते हैं, इस प्रकार उन दिनों को प्राप्त करता है। इस प्रकार सारे संवत्सर को प्राप्त करता है। ९। किन्हीं इष्टियों में १७ सामिधेनी उच्चारण की जाती हैं। उन में जिस देवता के लिये इष्टि की जाती है उस का नाम उपांशु बोला जाता है। उपांशु का अर्थ है कि ओष्ठ तो हिलें परन्तु शब्द दूसरे को सुनाई न दे। सो इस १७ संख्या का भाव यह है कि संवत्सर के १२ मास होते हैं, यह प्रजापति का सप्तदश रूप है, प्रजापति सम्पूर्ण है, सो उस के सम्पूर्ण रूप से यज्ञ करने से उस कामना को निर्विघ्न रूप से सिद्ध करता है जिस के लिये इष्टि रचता है। देवता का उच्चारण उपांशु करने का भाव यह है कि उपांशु व्यक्त रूप नहीं है। जो सम्पूर्ण परमात्मा है वह भी व्यक्ति-गोचर नहीं, सो इस प्रकार उस सम्पूर्ण के द्वारा उस कामना को भी सम्पूर्ण निर्विघ्न रूप से प्राप्त करता है जिस के लिये यज्ञ रचता है। यह इष्टि का उत्तम प्रकार है। १०। कोई कोई २१ सामिधेनी

दर्शपूर्ण मास की उच्चारण करे ऐसा कहते हैं। यह २१ संख्या इस प्रकार पूरी होती है—संवत्सर के १२ महीने होते हैं, पाँच ऋतु होते हैं, तीन लोक होते हैं, इस प्रकार यह २० हुए, और इक्कीसवां हुआ यह जो तपता है (सूर्य)। यह इक्कीसवां जो है यह सब की गति है, सबकी प्रतिष्ठा है। सो २१ सामिधेनी वाला इस गति, इस प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, इसलिये २१ सामिधेनियों का उच्चारण करे। ११। यह सामिधेनी गत-श्री अर्थात् श्री सम्पन्न मनुष्य के यज्ञ में ही बोले जिसे बनने बिगड़ने की चिन्ता न हो। जिस अवस्था में हुए यजमान के लिये उच्चारण करते हैं वैसा ही हो जाता है, अवस्था बुरी अवस्था वाला हो जाता है, जिस के इस प्रकार २१ सामिधेनी उच्चारण की जाती हैं। परन्तु यह विचार ही विचार है, यह बोली नहीं जाती अर्थात् सिद्धान्त पक्ष में २१ सामिधेनी नहीं मानी गईं। १२। प्रथम सामिधेनी को तीनवार और अन्तिम को तीनवार एकसांस में, अनवानन्=बीच में दम न लेते हुए, बोले। तीन संख्या इसलिये क्योंकि यह लोक तीन हैं सो इस प्रकार तीन लोकों को अविच्छिन्न करता है, इन को प्रीति तथा बल युक्त करता है। सो इस पुरुषदेह में तीन प्राण हैं इस प्राण समुदाय को इस देह में लगातार अविच्छिन्न रूप से धारण करता है। यही सामिधेनियों का अनुवचन है। १३। कोई कोई कहते हैं कि जितना सुख पूर्वक एक सांस में बोलने की शक्ति (वचः) हो

उतना एक सांस में बोले। परन्तु इस पक्ष की निन्दा की गई है। जो एक सांस में बोलने की, बिना दम लिये बोलने की, इच्छा करता हुआ आधे में (सामि) दम ले ले उस का वह कर्म विकृत हो जायगा। यह निन्दा है। १४। सो यदि तीनों को इकट्ठा एक सांस में न बोल सके तो एक एक को एक सांस में बोले। इस प्रकार एक एक ऋचा से एक एक लोक को सन्तत करता है। एक एक से इन लोकों को प्रीति तथा बल युक्त करता है। और यह जो कहा कि प्राण की स्थापना करता है सो गायत्री प्राण का उपलक्षण है। पूर्ण गायत्री एक सांस में बोलता है, सो पूरा प्राण धारण करता है। इसलिये एक एक को एक सांस में बोले। १५। यह सब सामिधेनी एक के पीछे दूसरी अविच्छिन्न रूप से बोली जाती हैं। इस का तात्पर्य यह है कि यह संवत्सर के दिन-रातों का तन्तु जानता है। सो संवत्सर के दिन रात लगातार अविच्छिन्न रूप से चक्कर करते हैं। इस प्रकार द्वेष करने वाले भ्रातृपुत्र के लिये घुसने का छिद्र नहीं देता। यदि बीच में तन्तु तोड़ दे तो शत्रु को घुसने का स्थान दे दे। इसी लिये लगातार अटूट बोलता है ॥ १६ ॥”

“हिङ्कार करके उच्चारण करता है। इस का कारण यह है कि बिना साम अर्थात् सङ्गीत के यज्ञ नहीं होता, ऐसा कहते हैं और सङ्गीत बिना हिङ्कार के नहीं होता। सो जो हिङ्कार करता है वह तो स्वयं हिङ्कार का रूप है। परन्तु साम का रूप यहां ओ३म् से पूरा

होता है। बस इस ओ३म् के उच्चारण से ही सारा यज्ञ सङ्गीत-युक्त हो जाता है। १। यह जो हिङ्कार करता है सो इसका अशय यह है कि हिङ्कार प्राण रूप है। देखो हिङ्कार प्राण रूप है क्योंकि नाक बन्द करके हिङ्कार नहीं कर सकता। हिङ्कार ओष्ठ-चालन मात्र करके चुपचाप होता है। परन्तु ऋचा वाणी से स्पष्ट बोली जाती है। वाणी और प्राण का जोड़ा है। सो यह सामिधेनियों के पूर्व नई उत्पत्ति करने वाला जोड़ा रक्खा जाता है। इसीलिये हिङ्कार करके उच्चारण करता है। सो हिङ्कार की क्रिया चुपचाप केवल ओष्ठ-चालन करके ध्वनि न करते हुए होती है। २। सो वह हिङ्कार उपांशु अर्थात् ओष्ठ-चालन युक्त मौन से करता है। यदि हिङ्कार भी ऊँचे से बोल कर करे तो प्राण और वाणी में से वाणी ही वाणी करे, जोड़ा नहीं बने, इस लिये हिङ्कार उपांशु करता है। ३। वह सामिधेनी के मन्त्र इस प्रकार के हैं जिनमें ‘आ’ और ‘प्र’ उपसर्ग आए हैं। जैसे—“अग्न आ याहि वीतये”, “प्र वो वाजा अभिद्यवे”, सो वह गायत्री को समीपगामिनी और दूरगामिनी बना कर कार्य में नियुक्त करता है। सो वह दूरगामिनी होकर देवों तक यज्ञ को पहुंचाती है, समीपगामिनी होकर मनुष्यों की रक्षा करती है, इसी लिये ‘आ’ और ‘प्र’ वाली ऋचाएँ बोलता है। ४। एक और व्याख्या इस की यह है कि ‘प्र’ प्राण का उपलक्षण है, ‘आ’ यह उदान का। सो इस में प्राण उदान दोनों को स्थापन करता है, इस लिये ‘आ’ और

‘प्र’ कहता है। ५। इस की तीसरी व्याख्या यह है कि यह जो ‘आ’ और ‘प्र’ कहता है, सो ‘प्र’ गर्भाधान का चिह्न है, ‘आ’ प्रजोत्पत्ति का। ‘प्र’ यह सूचित करता है कि पशु चल पड़े हैं, ‘आ’ यह सूचित करता है कि वे लौटते हैं। सो ‘आ’ और प्र के बीच में सारा जगत् का व्यवहार है। इसी लिये ‘आ’ और ‘प्र’ वाली ऋचाएँ बोलता है। ६।”

आय, व्यय और स्थिरकोष इन तीन के विचार के पश्चात् फिर कर्तव्यशाला में मुख्य कार्य विभाग का है। यह कार्य उस विषय के विशेषज्ञ को करना चाहिये। जो उस कर्तव्यशाला का मुख्य विषय है। उपादानों का विभाग, उपकरणों का विभाग, कार्य कर्ताओं का विभाग, यह सब विभाग एक विभाग में स्वयं अन्तर्गत हो जाते हैं, वह है समय विभाग। संसार का कोई भी कार्य हो काल का नियन्त्रण उस पर अवश्य है। निश्चय ही वह कुछ न कुछ काल में होगा। यह काल चुपचाप सब पर राज्य जमाए बैठा है। इसी लिये इसे संवत्सर कहते हैं। शतपथ में संवत्सर की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है?—

स सर्व्वत्सरोऽभवत्सर्व्वत्सरो हवै ना-
मैत द्यत्सर्व्वत्सर इति । ११।१।६।१२।

‘त्सर’ धातु का अर्थ है छद्म गति। इस प्रकार सर्व्व+त्सर का अर्थ हुआ जो अब तक चुपचाप पहुंचा हुआ है। इस संवत्सर के ज्ञान से ही सामिधेनी समिन्धन का मर्म जाना जा सकता है क्योंकि यही इस का

आधार हैं। १५ सामिधेनियों की संख्या की व्याख्या करते हुए इसी प्रकरण में नवम काण्डिका में कहा है कि १५ गायत्रियों के ३६० अक्षर होते हैं, इतने ही संवत्सर के दिन होते हैं, सो इसे जान कर संवत्सर को प्राप्त होता है। अब यह संवत्सर क्या है? इस की व्युत्पत्ति शाकटायन तथा पाणिनि के (क्योंकि उणादि सूत्रों को पाणिनि ने स्वीकार कर लिया है) मतानुसार इस प्रकार है। सम्पूर्वक वस् धातु से सरच् प्रत्यय होने पर संवत्सर शब्द बनता है (उणादि ३।७२)। इस प्रकार अर्थ यह हुआ कि ‘जिसमें ऋतु इकट्ठे होकर बसते हैं वह संवत्सर है।’ परन्तु केवल व्याकरण से शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं होता प्रयोग से भी सहायता लेनी पड़ती है। वस्तुतः एक पदार्थ के निष्कर्षण के आरम्भ से उस की समाप्ति तक जो समय लगता है उस का नाम संवत्सर है। उदाहरण के लिये यदि एक कारखाने में एक मोटर को एक सिरे से आरम्भ कर के दूसरे सिरे अर्थात् निष्पत्ति तक पहुंचने में एक घण्टा लगता है वह एक घण्टा मोटर का संवत्सर है यदि एक वृक्ष फल को बीज से फल तक पहुंचने में १० वर्ष लगते हैं तो उस वृक्ष का संवत्सर १० वर्ष है। यदि एक बीज को ओषधि बन कर परिपक्व होने तक ४ मास लगते हैं तो वह उस बीज का संवत्सर है। यदि पुरुष के वीर्य को गर्भ में प्रवेश कर के बालक रूप में निकलने तक १० मास लगते हैं तो वह पुरुष का संवत्सर है। यदि बालक

को गुरु के घर में प्रवेश कर के स्नातक बनने में १२ वर्ष लगे तो यह स्नातक का संवत्सर है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि संवत्सर की व्युत्पत्ति इन में कैसे घटी। इस का उत्तर यह है कि गर्भाधान से पूर्णता तक जो समय लगता है उस में जितने ऐसे क्रमिक पद आते हैं जो एक दूसरे के पीछे आने आवश्यक हैं उन्हें ऋतु कहते हैं। जो गर्मी अधिक पड़े तो उस से बाष्प का अधिक मात्रा में उठना आवश्यक है, इस लिये ग्रीष्म के पीछे वर्षा आवश्यक है, अतः ग्रीष्म और वर्षा ऋतु हैं। वर्षा से गर्मी की शान्ति और शीत का प्रादुर्भाव आवश्यक है, अतः उस के पश्चात् शरद् ऋतु है। यह सब अन्न के उत्पत्ति विकास और परिपाक में इकट्ठे मिल कर बसते हैं, और परस्पर सहायता करते हैं, अतः इन सब को मिलाकर संवत्सर कहते हैं। क्योंकि यह भिन्न ऋतुओं अर्थात् प्रक्रियाओं में से गुजर कर परिपूर्णता तक पहुँचने का अटल नियम यावदुत्पद्यमान पदार्थों में व्यवस्थित रूप से पाया जाता है, कोई पदार्थ जो पूर्णता-तक पहुँचा है उस की उत्पत्ति और उस के विकास में यह ऋतुओं का क्रमिक सहयोग सर्वत्र चुप चाप छिपा बैठा है, अतः इसे संवत्सर कहते हैं। इस प्रकार यह दोनों व्युत्पत्ति एक ही नियम के दो पहलुओं को, सहोद्योग और सर्वव्यापकता को, दिखाती हैं। सं+वस्+सर इस से क्रमिक सहोद्योग दीखता है, सर्व+त्सर इससे इस नियम की सर्वव्यापकता दीखती है। इस

प्रकार सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो एक दिन भी संवत्सर है, मास भी संवत्सर है, वर्ष तो संवत्सर है ही। और पर ब्रह्म की सृष्टि के विकास और प्रलय की दृष्टि से ब्राह्म संवत्सर भी है। एक तत्त्वज्ञ को एक दिन, एक मास, एक वर्ष का विभाग किस प्रकार करना चाहिये यही इस सामिधेनी समिन्धन विधि में बताया है। इससे पहिले कि हम यह दिखावे कि इस संवत्सर को पुरुष से और पुरुषों में भी ब्राह्मण से उपमा क्यों दी गई है, हम इस बात के प्रमाण उपस्थित करना चाहते हैं कि दिन भी संवत्सर है:—

आदित्यस्त्वेव सर्वऽऋतवः । यदैवो-
देत्यथ वसन्तो यदा सङ्गवोऽथ ग्रीष्मो
यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षा यदा पराह्णोऽ-
थ शरद् यदैवास्तमेत्यथ हेमन्तः ।
श० २ । २ । ३ । ६ ॥

(संवत्सरस्य) वसन्त एव द्वारम् हेमन्तो-
द्वारम् । श० १ । ६ । १ । १९ ॥

अर्थात्—“सूर्य ही सब ऋतुओं का जन्मदाता है, (एक ही दिन में देखिये) जब उदय होता है वह वसन्त है, गो दोहन के समय ग्रीष्म है, मध्यन्दिन वर्षा है, जब पिछला पहर हो तो शरद्, जब अस्त हो तो हेमन्त है।” “संवत्सर के दो द्वार हैं एक वसन्त (प्रवेशद्वार) एक हेमन्त (निर्गम द्वार)।”

अब इस संवत्सर को पुरुष से उपमा इसलिये दी गई है कि जिस प्रकार पुरुष सजीव है, नए पदार्थ ग्रहण करके अपनी

उत्पादक शक्ति द्वारा उन्हें नया रूप देता है, इसी प्रकार हमारा प्रत्येक दिन और प्रत्येक वर्ष सजीव होना चाहिए। संसार में ऐसे पुरुष भी देखे गए हैं जो निर्जीव से निर्जीव समय को भी अपनी आनन्ददायक शक्ति से सजीव कर देते हैं। दूसरी ओर ऐसे पुरुष भी हैं जो हरी भरी वसन्त को भी अपने रौद्रपन से निर्जीव कर डालते हैं। हमें अपने प्रत्येक दिन और वर्ष को सजीव बनाना चाहिये।

इसको ब्राह्मण से उपमा इसलिये दी गई है कि हमें प्रत्येक आनेवाले दिन का ऐसे आदर करना चाहिये जैसे ब्राह्मण का। हमारा प्रत्येक क्षण ब्राह्मण के समान ब्रह्मपरायण होना चाहिए और जो समय हम व्यर्थ नष्ट करते हैं वह ब्रह्महत्या है। इस प्रकार प्रसङ्ग से आदर्श ब्राह्मण का भी वर्णन हो गया।

अब यह देखना है कि होता बनने से पहिले सामिधेनी समिन्धन क्यों है। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि समिधेनी सामिन्धन संवत्सर का उपलक्षण है। अब तात्पर्य स्पष्ट है। किसी मनुष्य को भी विशेषज्ञ का आसन नहीं मिलना चाहिये जब तक उसका एक संवत्सर न देखलिया जाय। यदि कोई मोटर का विशेषज्ञ है तो उसे उस पद पर नियुक्त करने से पूर्व एक मोटर आदि से अन्त तक बनवा कर देख लेनी चाहिये। उक्त पद पर स्थिर नियुक्ति तब ही होनी चाहिए। इसीलिये प्रथम वर्ष लोगों को परीक्षार्थ ही नियुक्त करना चाहिये। किन्तु यह वर्ष पदार्थभेद

से छोटा बड़ा भी हो सकता है। क्योंकि संवत्सर प्रति पदार्थ भिन्न है। किन्तु कार्य सुगमता के लिये लोगों ने सर्व सामान्य सौर संवत्सर रख लिया है।

इस प्रकार संवत्सर की व्याख्या करके हम क्रमशः कण्डिकाओं का तात्पर्य दिखाते हैं। अध्वर्यु मुख्य कार्यकर्त्ता का प्रतिनिधि है और होता विशेषज्ञ (Expert adviser) का। इनका परस्पर सम्बन्ध यहाँ इन शब्दों में दिखाते हैं। अध्वर्यु समिधाओं द्वारा अग्नि को दीप्त करता है। होता सामिधेनियों से उसी अग्नि को समिन्धन करता है, सन्दीप्त करता है, इसलिये यह सामिधेनी कहलाती है।^१ उस समय यज्ञ में कहा जाता है 'अग्नये समिध्यमानायानु ब्रूहि' अर्थात् हम अग्नि का समिन्धन करेंगे तू अनुवचन अर्थात् मार्ग निर्देश कर।^२ यहाँ कई लोग कहते हैं कि "अग्नये समिध्यमानाय होतर-नुब्रूहि।" किन्तु ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि वरुण विधि से पहिले वह होता नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि किसी विशेषज्ञ को भी उसका आसन नहीं मिलना चाहिये जब तक उसका एक संवत्सर तक (एक वर्ष नहीं) परीक्षण न कर लिया जाय। उसे उस पदवी पर स्थिर तब ही करना चाहिये जब कम से कम एक बार उससे वह काम करवा कर देख लिया जाय।^३ यह सब गायत्री अग्नि सम्बन्धी होनी चाहिये अर्थात् हर एक कर्तव्य शाला का वायु मण्डल ऐसा होना चाहिये कि उसकी ईंट ईंट में से उस विषय का

बच्चों को गोली का निशाना बनते देख कर उसे दुःख हुआ। वह कुछ क्षणों तक संज्ञाशून्य के समान निःश्रेष्ठ खड़ा रहा। अचानक उसे एक विचार आया। वह दौड़ कर कम्यनिस्टों के नेता के पास पहुँचा। “आप इन अवोध बच्चों को क्यों मार रहे हैं?” “तुम कौन हो पूछनेवाले?”

गोलियां चलती रहीं और बच्चे एक एक करके गिरते गये। अन्त में ३ वर्ष की अवोध बालिका मिस हैलन मात्र बच गई। अब अज्ञात चीनी से न रहा गया। उसने नेता के सामने घुटने टेक कर प्रार्थना की “इस बालिका को छोड़ दो।”

“तुम इसके कौन होते हो?” नेता ने पूछा।

“रक्त-सम्बन्ध से कुछ नहीं। वस्तुतः मैंने इसे आज ही प्रथम बार देखा है। परन्तु.....।”

“अच्छा ! इसकी जगह कौन गोली खाएगा?”

उस अज्ञात चीनी ने अपना फटा कुड़ता छाती से हटा कर कहा “मैं”।

नेता ने कुछ क्षण चीनी की ओर आश्चर्य से देखा। फिर सिपाहियों को हुक्म दिया “उस लड़की को छोड़ दो और इस चीनी को वहां खड़ा कर के गोली दागो।”

गोली लगी। अज्ञात चीनी गिरा। उसके होठों पर एक दैवी मुसकान थी और आंखें आकाश की ओर लगी थीं।

[अंग्रेजी पत्रिका के आधार पर]

७. नन्द किशोर आर. विद्यावाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब केटा-रिलीफ-फण्ड

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने केटा-भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए केटा-रिलीफ-फण्ड खोला है। जिन-जिन सज्जनों का दान सभा-कार्यालय में प्राप्त हुआ है उन उन की सूची समय समय पर समाचार पत्रों में प्रकाशित होती रही है। २४ आषाढ़ १९६२ तक कुल ११२७७।-॥ सभा-कार्यालय में प्राप्त हो गए हैं।

ज्ञानचन्द

मन्त्री

केटा-रिलीफ-कमेटी

सं पा द की य

अष्टाध्यायी और कौमुदी—

आर्यसमाज पेशावर शहर के स्वर्गीय सभासद् श्री लाला छज्जूराम जी ने उक्त आर्यसमाज को कुछ राशि इसलिये दी थी कि जहाँ अष्टाध्यायी और महाभाष्य के ढंग से व्याकरण पढ़ाया जाता हो उस संस्था को वह राशि दान दे दी जाये। उस समाज की सम्मति में अष्टाध्यायी की रीति से से कहीं व्याकरण नहीं पढ़ाया जाता इसलिये उन्होंने वह राशि अभी कहीं भी नहीं दी है। उक्त समाज की ओर से वहाँ के सभासद् श्री अर्जुनदेव जी ने हमारे पास एक पत्र भेजा है जिसमें उन्होंने अष्टाध्यायी और कौमुदी के विवाद में हमारी सम्मति पूछी है। यह भी पूछा है कि जब स्वामी जी कौमुदी की निन्दा करते हैं तो उन्होंने स्वयं उस रीति पर हिन्दी में वेदाङ्ग-प्रकाश क्यों लिखा? यदि अष्टाध्यायी की रीति ठीक है तो आर्य-शिक्षणालयों में अष्टाध्यायी क्यों नहीं पढ़ाई जाती? हम इस सम्बन्ध में अपने विचारों को नीचे देते हैं।

१—संस्कृत व्याकरण अष्टाध्यायी की रीति से भी आ सकता है और कौमुदी की रीति से भी। प्रश्न केवल सुगमता और पूर्णता से व्याकरण आने का है। अष्टाध्यायी की रीति में सुगमता भी है और पूर्णता भी। अष्टाध्यायी में कोई चार हजार सूत्र हैं। ये सूत्र प्रकरणवार दिये हुए हैं। जैसे रूपसिद्धि के समय जहाँ जहाँ 'न' को 'ण' हो जाता है इसे बताने वाले सब सूत्र एक स्थान पर दे दिये गये हैं, जहाँ जहाँ 'स' को 'ष' हो जाता है इसे बताने वाले सारे सूत्र एक जगह दे दिये गये

हैं, इत्यादि। फिर ये सूत्र इस प्रकार क्रम से दिये गये हैं कि इनको क्रम में पढ़ने से अर्थ अपने आप प्रतीत होने लगता है। सूत्रों का अर्थ अलग याद करने की आवश्यकता नहीं रहती। कौमुदी में ये सूत्र रूपसिद्धि के समय आवश्यकतानुसार अलग अलग जगहों पर दिये गये हैं। इससे सूत्रों का क्रम टूट जाता है। इसी लिये सूत्र में से विद्यार्थी अर्थ नहीं निकाल सकता। उसे सूत्र के साथ ही अर्थ भी रटना पड़ता है। कहीं कहीं तो एक-दो अक्षर के सूत्र का अर्थ एक पंक्ति का हो जाता है। इस प्रकार कौमुदी की रीति से ४ सहस्र सूत्र और उनके ४ सहस्र अर्थ अलग-अलग याद करने पड़ते हैं। याद करने का भार दुगुना हो जाता है। एक तो कौमुदी की रीति में यह दोष है। दूसरा दोष यह है कि उसमें सब रूपों की सिद्धि दे दी गई है। अध्यापक और विद्यार्थी को अपने दिमाग से बहुत कम काम लेना पड़ता है। यह ऐसा ही है जैसे किसी गणित की पुस्तक के सारे प्रश्नों को हल करके एक 'की' (Key) विद्यार्थी और गुरु के हाथ में दे दी जाये। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति समझ सकता है कि जो गुरु अपने दिमाग की सहायता से विद्यार्थी के दिमाग से प्रश्नों का हल करवायेगा उसके विद्यार्थी गणित में उन विद्यार्थियों से बहुत अधिक योग्य होंगे जिनके हाथ में 'की' (Key) दे दी गई है। कौमुदी को व्याकरण की 'की' (Key) समझना चाहिये। उसमें सब रूपों की सिद्धि हल कर दी गई है।

से बहुत कम काम लेना पड़ता है। यों कौमुदी की रीति अष्टाध्यायी की ही रीति है। अष्टाध्यायी से पढ़ने वाले को भी रूपसिद्धि सीखनी ही पड़ेगी। कौमुदी में भी रूपसिद्धि ही की गई है। परन्तु अष्टाध्यायी की रीति में विद्यार्थी और गुरु को अपने मस्तक पर बल डाल कर अपने मन से सूत्रों को लगाकर रूपसिद्धि करनी पड़ेगी। कौमुदी में पहले से की-कराई रूपसिद्धि विद्यार्थी के हाथ में रख दी जाती है। निश्चय ही कौमुदी की रीति से पढ़ने वाले की योग्यता कम होगी क्योंकि रूपसिद्धि के लिये उसे अपने दिमाग को कम हरकत देनी पड़ी है। तीसरा दोष कौमुदी की रीति में यह है कि उसमें वेद-विषयक सूत्र उनके प्रकरणों में से निकाल कर अलग कर दिये गये हैं। इससे पढ़ने-पढ़ाने वाले प्रायः वेद-विषयक सूत्रों को छोड़ देते हैं। स्वामीजी वेद-विषयक सूत्र भी साथ ही पढ़वाना चाहते थे जिससे लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत के रूपों में जो भेद हैं वह विद्यार्थी को साथ-ही-साथ पता लगता चले। चौथा दोष कौमुदी में यह है कि उसमें कितने ही उदाहरण ऐसे दिये गये हैं जिनसे विद्यार्थियों के मन में अवतारवाद और शृङ्गाररस की भावनाओं के घुसने का डर रहता है। स्वामीजी अवतारवाद और शृङ्गाररस के विरोधी थे। इन चार कारणों से स्वामीजी ने कौमुदी की निन्दा की है। और हमारी सम्मति में कौमुदी की अष्टाध्यायी से हीनता बताने के लिये ये हेतु अति पुष्ट हैं।

२—स्वामीजी ने कौमुदी की निन्दा करते हुए भी हिन्दी में जो वेदाङ्ग-प्रकाश लिखा उसका कारण यह है कि स्वामीजी महाराज की यह इच्छा थी कि जो लोग गुरुमुख से संस्कृत भाषा में अष्टाध्यायी के ढंग से व्याकरण पढ़ने का अवसर नहीं

प्राप्त कर सकते वे भी हिन्दी में संस्कृत-व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर सकें। इसके साथ ही कौमुदी की हीनता के ४ कारणों में से पिछले दो कारण स्वामीजी ने वेदाङ्ग-प्रकाश में नहीं रहने दिये। यों स्वामीजी अष्टाध्यायी की रीति को ही अधिक पसन्द करते हैं और वह है भी अधिक पसन्द करने योग्य।

३—यह हम नहीं कह सकते कि आर्यसंस्थाओं में कहां-कहां अष्टाध्यायी की रीति से व्याकरण पढ़ाया जाता है। जब हम गुरुकुल में पढ़ते थे तो हमें अष्टाध्यायी के ढंग से व्याकरण पढ़ाया गया था। पीछे नवम और दशम श्रेणियों में हमें कौमुदी भी पढ़नी पड़ी थी। अब सुनते हैं कि गुरुकुल में कौमुदी नहीं पढ़ाई जाती। अष्टाध्यायी पढ़ाई जाती है। परन्तु हम अपने विद्यार्थीकाल के अनुभव के आधार पर यह अवश्य कहेंगे कि जब अष्टाध्यायी भी पढ़ाई जाती है तो वह पूरे अष्टाध्यायी के ढंग से नहीं पढ़ाई जाती उसमें कौमुदी का क्रम मिला रहता है। अर्थात् विद्यार्थियों को सूत्रों से ही अर्थ निकाल कर नहीं बताये जाते, प्रत्युत अर्थ भी सूत्रों की तरह ही संस्कृत में रटवाये जाते हैं और इस प्रकार रटने का भार कौमुदी जितना ही विद्यार्थी पर रहता है। रूपसिद्धि भी विद्यार्थी के दिमाग से नहीं निकलवाई जाती प्रत्युत कौमुदी के ढंग पर बने पुस्तकों से करवाई जाती है। इन पुस्तकों में केवल इतनी विशेषता रहती है कि वेद के सूत्र भी साथ रहते हैं और अवतारवाद और शृङ्गार के उदाहरण नहीं रहते। वस्तुतः अष्टाध्यायी की रीति से व्याकरण नहीं पढ़ाया जाता यद्यपि अष्टाध्यायी ग्रन्थ पढ़ाया जाता है। इसका कारण यही है कि अभी तक जो व्याकरण पढ़ाने वाले मिलते हैं वे कौमुदी की रीति से पढ़े होते हैं। अष्टाध्यायी

की रीति में अध्यापकों को पहले-पहल अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। क्योंकि इस रीति की प्रथा नहीं है। इस प्रथा को चलाने के लिये उसको बहुत सी बातें अपने दिमाग से सोचनी पड़ेंगी। ये लोग इतना परिश्रम करना नहीं चाहते। ऊँचे वेतन आदि का प्रलोभन देकर बुद्धिमान व्याकरण के पण्डितों को अष्टाध्यायी की रीति से पढ़ाने वाला तय्यार किया जा सकता है। अष्टाध्यायी की रीति से व्याकरण पढ़ाना कोई बहुत कठिन या असंभव बात नहीं है। इस रीति से पढ़ानेवाले अध्यापक तय्यार हो सकते हैं। आवश्यकता पड़ने पर हम स्वयं इस रीति से व्याकरण पढ़ा सकते हैं।

४—हमारी सम्मति में पेशावर-समाज को उक्त धन गुरुकुल कांगड़ी को दे देना चाहिये, दानमें यह शर्त लगा देनी चाहिये कि यह धन गुरुकुल में अष्टाध्यायी की रीति से व्याकरण पढ़ानेवाले व्याकरण के पण्डित तय्यार करने में खर्च किया जाये। गुरुकुल कांगड़ी में योग्य विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देकर इस प्रकार के एक दो अध्यापक तय्यार कराने का सामर्थ्य है। पेशावर-समाज का यह धन मिल जाने पर उन्हें इस काम में और भी सुभीता होगा।

विद्यार्थियों से व्यभिचार—

पंजाब-प्रान्त के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर महोदय ने अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को निम्न सूचनायें भेजी हैं:—“(१) जिसमें किसी भी प्रकार की साक्षी मिल सकती है ऐसी आचारहीनता की प्रत्येक घटना की मुझे सूचना दी जाने चाहिये, जिससे उस पर उचित कार्यवाही की जा सके। (२) जो अध्यापक आचार हीनता के कारण किसी स्कूल से पृथक् किया गया है उसे पंजाब के किसी भी स्कूल में नहीं रखा जाना चाहिये।” आपने यह भी सूचना निकाली है कि—“यदि मुझे विश्वास हो

गया कि कोई अध्यापक आचारहीनता का अपराधी है तो मैं उसे कानूनी प्रमाणों के अभाव में भी स्कूल से निकाल दूंगा।” देश के सभी प्रान्तों के स्कूलों में ऐसे अध्यापक पाये जाते हैं जो कच्ची उमर के बालकों को बहका कर या डरा-धमका कर उनके साथ अप्राकृतिक व्यभिचार का कलुषित कर्म करते रहते हैं। इन अध्यापकों से बुरी आदतों को सीखे हुए बच्चे लड़के फिर आगे अपने साथियों से मिलकर इस घृणित कर्म को करने लगते हैं और इस प्रकार छिपे-छिपे स्कूल का सारा वायु-मण्डल बिगड़ जाता है। जिन बच्चों से देश और जाति को किसी दिन बड़ी आशायें होनी थीं वे अपने जीवन के आरंभिक काल में ही अपने गुरुओं से बुरी आदतें सीख जाने के कारण मन्द पड़ जाते और बुझ जाते हैं। उनके शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास नहीं होने पाता। जिन अध्यापकों के हाथ में उन पर भरोसा करके बच्चों के माता-पिता अपनी सन्तानों के सुधरने की आशा से सौंपते हैं वे ही उनके साथ अप्राकृतिक व्यभिचार करके उन्हें पाप मार्ग का राही बनाते हैं। अध्यापकों का यह कर्म हमारी सम्मति में सब से बड़ा पाप है। हमें प्रसन्नता है कि पंजाब का शिक्षा-विभाग अपने प्रान्त के स्कूलों में से इस बुराई को निकालने के लिये उद्यत हुआ है। इस अपराध के अपराधी अध्यापकों को न्यायालय से कठोर दण्ड मिलने चाहिये तभी यह घृणित और भयङ्कर बुराई रोकी जा सकती है। हम आशा करते हैं शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर महोदय इस बात में सतर्क रहेंगे कि उनकी आशाओं के अनुसार उनके अधीनस्थ कर्मचारी सचेष्ट होकर कार्य करते रहें। वे केवल आज्ञायें निकाल कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जायेंगे उनके अनुसार कार्य भी करायेंगे।

भालावाड़ के मन्दिर—

राजपूताना की भालावाड़-रियासत के राणा साहब ने अपनी रियासत के सभी मन्दिरों को हरिजनों के लिये खोल दिया है। अब उस रियासत में दूसरे हिन्दुओं की भांति अछूत कहे जानेवाले हिन्दू भी बिना किसी रुकावट के मन्दिरों में जाकर अपने इष्ट देवों की उपासना कर सकेंगे। हम आशा करते हैं कि दूसरी रियासतों के अधीश भी अपनी रियासतों में इसी प्रकार के नियम पास कर देंगे और इस प्रकार शीघ्र ही कम से कम रियासती-भारतवर्ष में से अछूतपने का कलङ्क हट जायेगा।

भारतीय भाषाओं की परिपद्—

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा आयोजित अन्तःप्रान्तीय साहित्य-परिपद् के संयोजक श्रीयुत के. एम. मुंशी ने अपने एक वक्तव्य में देश की विभिन्न साहित्यिक परिपदों से एक जोरदार अपील की है कि वे हिन्दी-भाषा के माध्यम द्वारा उनके मुख्य प्रतिनिधियों को परस्पर मिलाने का अवसर जिस से मिल सके ऐसा कोई प्रबन्ध करें। आपका कहना है कि पिछले वर्षों से भारत के प्रत्येक प्रान्त में, जिसकी अपनी कोई विशेष भाषा है, एक प्रकार की साहित्यिक चेतना जाग उठी है। इसका परिणामस्वरूप वहां कई साहित्यिक समितियाँ बन गई हैं जिनकी एक मुख्य संस्था होती है। ये मुख्य संस्थायें उस-उस भाषा की "साहित्य परिपद्" कहलाती हैं। परन्तु ये परिपदें प्रायः अपने-अपने प्रान्त में सीमित रहती हैं। इसी लिये दूसरे प्रान्त वालों को इनके कामों के सम्बन्ध में कुछ भी मालुम नहीं होता। हमें इंग्लैण्ड की साहित्यिक वृत्तियों के सम्बन्ध में तो ज्ञान रहता है, पर अपने पड़ोसी प्रान्त की साहित्यिक वृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ भी मालुम नहीं होता। इसी

लिये श्रीयुत मुंशी ने देश की इन परिपदों और साहित्यिक व्यक्तियों का ध्यान इस ओर खींचा है कि वे मिल कर देश की एक राष्ट्र भाषा का निर्माण करें। आप चाहते हैं कि इन प्रान्तीय परिपदों का एक संघ या महापरिपद् बन जाये जिसमें हिन्दी-भाषा द्वारा कार्य हुआ करे। इसके परिणाम-स्वरूप सभी प्रान्तों के साहित्यिक लोग दूसरे प्रान्तों की साहित्यिक सुधारणाओं का लाभ उठा सकेंगे और प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों में भी एक प्रकार की एकता और समानता उत्पन्न हो जायेगी। इसमें बड़ी रुकावट प्रान्तीय भाषाओं की लिपियों की भिन्नता है। यदि प्रान्तीय भाषायें हिन्दी-वर्णमाला को अपना लें तो यह कार्य बड़ी सुगमता से होसकता है। परन्तु जब तक प्रान्तीय भाषाओं की लिपि एक नहीं होती तब तक भी इस प्रकार का एक साहित्यिक संघ बन जाने से बड़ा लाभ हो सकता है।

गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता—

आर्य प्रतिनिधि सभा की विद्यासभा ने गत २३ जून के अपने अधिवेशन में श्री पं० देवशर्मा जी विद्यालङ्कार को गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी का आचार्य और श्री पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार को उसका मुख्याधिष्ठाता नियत कर दिया है। ये दोनों ही महानुभाव आर्यसामाजिक जगत् में सुविख्यात और उसके योग्यतम व्यक्तियों में से हैं। पण्डित देवशर्मा जी वेदों के गहरे विद्वान् और आध्यात्मिक अनुभव के तपस्वी व्यक्ति हैं। आपको देखकर प्राचीन काल के ऋषियों की स्मृति हो आती है। पण्डित सत्यव्रत जी आर्यसमाज के प्रसिद्ध व्याख्याता, कार्यपटु और सादी आदतों के विद्वान् व्यक्ति हैं। दोनों ही गुरुकुल के स्नातक और आर्यसमाज के रत्न हैं। इनके हाथ में आकर गुरुकुल-दिन-दूनी और रात-चौगुनी उन्नति करेगा। हम इन महानुभावों के चुनाव पर सभा को बधाई देते हैं।

115 APR 1971
C. 206/6 E

Regd. No.—2757,

छप गया !

वैदिक स्वर्ग

छप गया !!

(उर्दू में)

ले० श्री पं० चमूपति जी एम० ए०

यह पुस्तक उर्दू में मौलाना अब्दुलहक की पुस्तक 'वेदों का बहिश्त' के जवाब में पं० चमूपति जी ए० ए० ने लिखी है। ढाई सौ सफ़ा की बढ़िया कागज़, मूल्य एक प्रति केवल ॥॥) है। १० पुस्तकें मंगाने पर ८) प्रति पुस्तक, ५० पर ८) प्रति पुस्तक और १०० पुस्तकें मंगाने पर ८) प्रति पुस्तक रियायत दी जायगी। डाक व्यय अलग होगा।

प्रकाशन विभाग,

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन लाहौर।

आर्यसमाज के वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित बुद्धदेव जी विद्यालंकार की लेखनी से निकली हुई स्वाध्याय के लिये दो अनूठी पुस्तकें

स्वर्ग और ब्रह्मयज्ञ

१. स्वर्ग में विद्वान् लेखक ने वेद के प्रबल प्रमाणों से सिद्ध किया है कि वेद में 'स्वर्ग' शब्द कम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम का वाचक है और 'स्वः' शब्द संन्यास का। पौराणिक स्वर्ग का वेदों में कहीं वर्णन नहीं पाया जाता। पुस्तक में अथर्ववेद के ४३५, ४३४ और ४५ सूक्तों का लेखक का दिया हुआ विस्तृत अर्थ पढ़ते ही बनता है।

२. ब्रह्मयज्ञ लेखक की सन्ध्या पर विस्तृत व्याख्या है। सन्ध्या पर इससे अच्छी व्याख्या अब तक नहीं लिखी गई है। विद्वानों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। इसका पहिला संस्करण हाथों-हाथ बिक गया था। यह दूसरा संस्करण है।

दोनों पुस्तकें प्रत्येक आर्य के घर में और प्रत्येक आर्यसमाज के पुस्तकालय में होनी चाहिये। प्रत्येक पुस्तक का मूल्य ८) प्रति है। अनुसन्धान विभाग, गुरुदत्त भवन लाहौर से मिल सकती हैं।

पण्डित प्रियव्रत प्रिण्टर और पब्लिशर द्वारा नवयुग प्रिण्टिङ्ग प्रेस, १९, मोहनलाल रोड,

लाहौर, में छपकर गुरुदत्त भवन, रवी रोड, लाहौर, से प्रकाशित हुआ।

वैशाख
१९९३

वैदिक तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रचारक पत्र

{ वार्षिक मूल्य ३)
{ एक प्रति 1=)

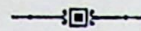
आर्य



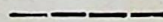
सम्पादक—
पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर

विषय-सूची



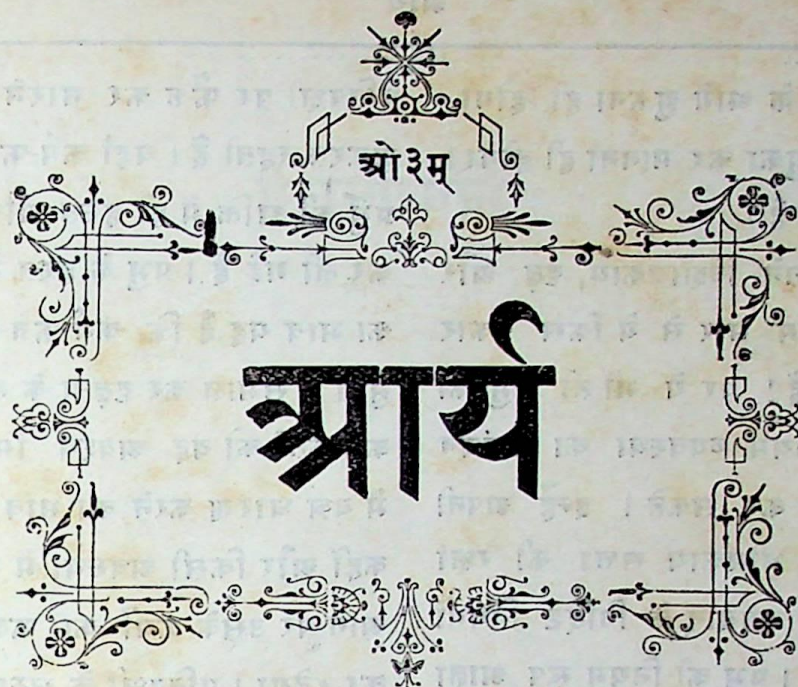
सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश—सोमरस का निधिपा	सम्पादक	३
२.	वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त—राष्ट्र के सौभाग्य या अभ्युदय की उन्नति	श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति	५
३.	ऋषि दयानन्द और गो-रक्षा	श्री केदार, आई० डी० डी०	१५
✓ ४.	क्या वेद ईश्वरीय ज्ञान है ?	श्री ब्रह्मचारी रामनाथ, गुरुकुल काँगड़ी	१७
५.	श्री अरविन्द आश्रम में मैंने क्या देखा ?	श्री पं० देवशर्मा जी, आचार्य गुरुकुल काँगड़ी	२४
✓ ६.	ऋषि दयानन्द और संगीत	श्री विनयचन्द्र, हिन्दी-प्रभाकर	२७
७.	तन्त्र और पशु-हिंसा निषेध	श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी महाराज	२९
८.	सम्पादकीय—	...	३१
	(क) अन्धविश्वास		
	(ख) अछूतों पर कठोरता		
	(ग) सर्वनाश की ओर		
✓ ९.	पुस्तक परिचय		३४
१०.	शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य	श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार	२१७-२२४



आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये, यह आपका कर्तव्य है ।

ग्राहकों से—आर्य अङ्गरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है । पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये । फिर अङ्गरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये । इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे । अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये ।

पत्र-व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
ग्राहक-संख्या, पतेवाली चिट पर लिखी होती है ।



ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽरावः ॥

ॐ

भाग १८

लाहौर, वैशाख १९६३, मई १९३६

[दयानन्दाब्द ११२]

अंक १

ॐ

वेदोपदेश

सोमरस का निधिपा

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते ।

यः सोमपा निचितो वज्रवाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥

ऋग्० २ । १२ । १३ ॥

अर्थ—(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी लोक (चित्) भी (अस्मै) इसके लिये (नमेते) झुकते हैं, नमस्कार करते हैं (अस्य) इस के (शुष्मात्) बल से (पर्वताः) पहाड़ (चित्) भी (भयन्ते) डरते हैं (यः) जो (सोमपाः) शान्ति-दायक आत्मिक आनन्दरूप रस का रक्षा करने वाला है (निचितः) आने स्वरूप में परिपूर्ण है। (यः) जो (वज्रवाहुः) कर्म व्यवस्थानुसार फल-प्रदानरूप वज्र अपनी भुजा में धारण किये हुए हैं (वज्रहस्तः) कर्मफलप्रदान रूप वज्र जिसने

अग्ने हाथ में पकड़ा हुआ है (जनासः) हे मनुष्यो! (सः) ऐसी शक्तियों वाला वह (इन्द्रः) परमेश्वर्य-शाली भगवान् ही है।

द्युलोक और पृथिवी लोक भगवान् के लिये झुकते हैं, मानो उसे नमस्कार करते हुए चतते हैं। इन लोकों में जितने छोटे-से-छोटे और महान्-से महान् पदार्थ हैं वे सब प्रभु की निर्धारित नियम-व्यवस्था में चतते हैं। उस नियम व्यवस्था को उल्लंघन करके वे एक क्षण के लिये भी अपनी सत्ता नहीं रख सकते। उन्हें अपनी सत्ता रखने के नि

[प्रभु की नियम व्यवस्था के आगे झुकना ही होगा, उसकी आज्ञा को सिर झुका कर मानना ही होगा। इसी में उनका कल्याण है।

देखिये ये पर्वत कितने विशालकाय, दृढ़ और बलिष्ठ हैं। अपने असीम भार से ये किस प्रकार पृथिवी को दबाये पड़े हैं! पर ये भी तो प्रभु की शक्ति से निर्धारित नियम व्यवस्था का उल्लंघन करने का साहस नहीं कर सकते। इन्हें अपनी रमणीक और साथ ही भीमकाय सत्ता की रक्षा के लिये डरते-डरते उस भगवान् के निर्दिष्ट नियमों पर चलना ही पड़ता है। प्रभु की नियम रूप आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है।

उसकी नियम-व्यवस्था का भंग करने वालों के लिये जहाँ भगवान् बड़े भयावने हैं, बड़ा कष्ट देने वाले हैं, यहाँ तक कि नियम भंग करने वालों की सत्ता भी सन्दिग्ध हो जाती है, वहाँ वे अमृत-रस के कोश-रक्षक भी हैं। वे सोमपाः हैं। उनके पास सोम, परम तृप्ति और शान्ति देने वाला आध्यात्मिक आनन्द है। वे इस सोम को संभाल कर सुरक्षित रखने वाले सोमपा हैं। जो प्रभु की नियम-व्यवस्था पर चलते हुए अपने आपको, अपने सर्वस्व को, उनके चरणों में समर्पित कर देते हैं उनके लिए वे अपने इस आनन्द-समुद्र के घाट खोल देते हैं। वे लोग आनन्द-स्वरूप भगवान् के इस आनन्द-समुद्र में डुबकी लगाकर अपने सब क्लेशों को उच्छिन्न कर सकते हैं। भगवान् की गोद में पहुँचने पर उन्हें वह रस और वह तृप्ति प्राप्त होती है जिनका लौकिक शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता।

कर्मफल व्यवस्था के अनुसार यथोचित फल-प्रदान करना प्रभु का वज्र है। स्थूल वज्र को पकड़ने के लिये हाथ की आवश्यकता होती है और उसे

प्रतिपक्षों पर फेंक कर मारने के लिये भुजा की ज़रूरत रहती है। यहाँ कर्म-फल-प्रदान करने वाली प्रभु की शक्ति में ही हस्त और बाहु की कल्पना कर ली गई है। प्रभु के हस्त में वज्र धारण करने का भाव यह है कि कर्म-फल-रूप वज्र भगवान् ने मुट्ठी में संभाल कर दृढ़ता के साथ पकड़ा हुआ है, कर्म-कर्ता को वह अवश्य मिलकर रहेगा। भुजा में वज्र धारण करने का भाव यह है कि कर्म-कर्ता कहीं और किसी अवस्था में भी क्यों न हो समय आने पर उसके कर्मों का फल उसके पास पहुँच कर रहेगा। प्रतिपक्षी के सम्मुख स्थूल वज्र हाथ में पकड़ कर खड़े हुए योद्धा का हाथ जैसे यह सूचित करता है कि उसने प्रहार करने के लिये वज्र पकड़ा हुआ है, और उसकी लम्बी भुजा यह सूचित करती है कि वह दूरस्थ प्रतिपक्षी पर भी वज्र को घुमा कर मारेगा, वैसे ही यहाँ प्रभु के लिए प्रयुक्त हस्त और बाहु शब्द यह ध्वनित करते हैं कि उनका कर्म फलरूप वज्र कर्ता पर अवश्य पहुँच कर रहेगा।

इस मन्त्र में और इससे पूर्व के मन्त्रों में वर्णित सभी प्रकार के कार्य भगवान् इसलिए अनायास ही और बिना किसी की अपेक्षा के कर लेते हैं कि वे निश्चित हैं अपने स्वरूप में सर्वाङ्गपूर्ण हैं। उनके स्वरूप में और उनकी शक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं है। जैसे कोई सर्वाङ्गपूर्ण वीर अपने प्रतिपक्षियों पर अनायास अपना प्रभुत्व बिठा लेता है वैसे ही सर्वाङ्गपूर्ण भगवान् सारे विश्व ब्रह्माण्ड के पदार्थों पर अपना प्रभुत्व रखते हैं। उन्हें कर्मानुसार दण्डित भी करते हैं और अमृत-रस भी पिलाते हैं।

हे मनुष्य! परमेश्वर्यशाली भगवान् के आगे तू भी झुककर चल।

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक — श्री पण्डित प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

राज्य में करने योग्य कुछ बातें

(Some ends to be realised by the state)

५. राष्ट्र के सौभाग्य या अभ्युदय की उन्नति

ऋग्वेद के—

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।

स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि । ऋग् १ । ४ । ६ ॥

अयमग्निः सुवीर्यस्येशे महः सौभगस्य । ऋग्
३ । १६ । १ ॥

त्वद्विश्वा सुभगा सौभगान्यग्ने वियन्ति वनिनो
न वयाः । ऋग् ० ६ । १३ । १ ॥

इन्द्र... धेहि... सुभगत्वमस्मे । ऋग् २ ।
२१ । ६ ॥

हुवानो अत्र सुभगाय देवान् । ऋग् ७ । ३० । ३ ॥

तव व्रते सुभगास्तः स्याम । ऋग् २ । २८ । २ ॥

स त्वमग्ने सौभगत्वस्य विद्वान् । ऋग् १ ।
९४ । १६ ॥

अग्निर्वक्त्रे सुवीर्यमग्निः कण्वाय सौभगम् । ऋग्
१ । ३६ । १७ ॥

स्वां चाग्ने तन्वं विप्रयस्वास्मभ्यं च सौभगमा-
यजस्व । ऋग् ८ । ११ । १० ॥

ये सवितुः सत्यसवस्य विश्वे मित्रस्य व्रते
वरुणस्य देवाः । ते सौभगं ... दधातन । ऋग्
१० । ३६ । १३ ॥

अग्निरीशे वसव्यस्याग्निर्महः सौभगस्य । तान्य-
स्मभ्यं रासते । ऋग् ४ । ५५ । ८ ॥

कीरिश्चिद्वि त्वामवते जुहावेशानमिन्द्र सौभ-

गस्य भूरेः । ऋग् ७ । २१ । ८ ॥

अग्ने... सौभगा संजिगीवान् । ऋग् ३ । १५ । ४ ॥

त्वे एता नो अग्ने सौभगा दिदीहि । ऋग् ७ ।
३ । १० ॥

वसूनि संगता विश्वा च सोम सौभगा । सुदा-
त्वपरिहृता । ऋग् ८ । ७८ । ८ ॥

त्वे... यस्मिन्त्सं सौभगानि दधिरे । ऋग् ६ । ५ । २ ॥

अग्ने शर्धं महते सौभगाय । ऋग् ५ । २८ । ३ ॥

अवोचाम महते सौभगाय । ऋग् ८ । ५२ । ५ ॥

इन्द्रश्च यत् क्षयथः सौभगाय । ऋग् ६ । ९५ । ५ ॥

अगन्निन्द्रं महते सौभगाय । ऋग् ९ । ६७ । ५ ॥

स्वस्तिदा मनसा मादयस्वावाचीनो रेवते
सौभगाय । ऋग् १० । ११६ । २ ॥

इन मन्त्रों और मन्त्रखण्डों में क्रम से कहा
गया है कि—

“हम सम्राट् (इन्द्र) के सुखप्रद शासन में
(शर्मणि) रहें, हे दर्शनीय या दुष्टों का क्षय करने
वाले (दस्म) इन्द्र तू इस प्रकार शासन कर कि
हमारे शत्रु भी हमें कहें कि ये सुभग लोग हैं ।”

“यह अग्नि उत्कृष्ट वीर्य का और महान् सौभग का
स्वामी है ।” अर्थात् इस सम्राट् (अग्नि) के
प्रबन्ध से हमें वीर्य और सौभग की प्राप्ति होती
है । “हे उत्तम भग वाले राजन् (अग्ने) सब

प्रकार के सौभग तुझ से ही विविध दिशाओं में निकल कर जाते हैं जैसे कि वृक्ष से शाखायें निकलती हैं।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तू हमें सुभगत्व दे।” “अग्नि सुभग के लिये देवों को—विविध व्यवहारी पुरुषों को—बुलाता है।” “हे वरुण राजन्) हम तेरे नियमों में रहते हुए सुभग वाले बन जायें।” “हे राजन् (अग्ने) तू सौभगत्व को जानता है।” अर्थात् राष्ट्र में सौभग की अवस्था कैसे आती है इसे अच्छी प्रकार जानता है। “जब सम्राट् (अग्नि) से याचना की जाती है तो वह बुद्धिमान् लोगों को (कण्वाय) सुवीर्य और सौभग दे देता है।” भाव यह है कि राजा प्रजाओं को बुद्धिमान् बनाकर उन्हें सुवीर्यशाली और सौभगशाली बना देता है। “हे राजन् (अग्ने) तू अपने शरीर की भी तृप्ति कर और हमें भी सौभग दे।” “जो सत्य की प्रेरणा करने वाले सविता^१, मित्र और वरुण की आज्ञा में चलने वाले देव हैं—राज्य कर्मचारी हैं—वे हमें सौभग दें।” “यह सम्राट् (अग्नि) धन-समृद्ध का और सौभग का स्वामी है, इन को वह हमें देता है।” “बहुत सौभग के स्वामी तुझ से ही हे सम्राट् (इन्द्र) मांगने वाला मांगता है।” “हे राजन् (अग्ने) तू हमें सारे सौभग जीत कर देना है।” “हे सम्राट् (अग्ने) तू हमारे इन सौभगों को प्रकाशित कर।” “हे सोम गुणवाले इन्द्र (सम्राट्) तुझ में सब धन और सौभग संगत हुए हैं, तू कुटिलता-रहित रीति से उनका हमें दान कर।” “हे राजन् (अग्ने) तेरे पास सारे सौभग रखे गये हैं।” “हे सम्राट् (अग्ने) हमें महान् सौभग देने के लिये शत्रुओं का पराभव कर (शर्ध)।” “हमने इन्द्र और

वरुण को महान् सौभग के लिए ही बुलाया है।” “इन्द्र और सोम सौभग के लिए ही राष्ट्र में निवास करते हैं।” “सोम का इन्द्र के साथ राष्ट्र के महान् सौभग के लिए संयोग हुआ है।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तू हमें धनयुक्त सौभग देने के लिए स्वस्तिदायक मनके साथ हमारी ओर झुक, और हमें आनन्दित कर।”

इसी भांति वेद के—

राति वामस्य सुभगां सहीमिषं दधासि । यजुः
१२ । ११० ॥

उत्क्राम महते सौभगाय । यजुः ११ । २१ ॥
सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते
सौभगाय । यजुः २७ । २ ॥

वर्धयेनं महते सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु
देवाः । यजुः २७ । ८ ॥

अग्ने शर्धं महते सौभगाय तव द्युष्टान्युत्तमानि
सन्तु । यजुः ३३ । १२ ॥

द्युभिरक्तुभिः परिपातमस्मान् अरिष्टेभिरश्विना
सौभगेभिः । यजुः ३४ । ३० ॥

सौभाग्यं पसः । यजुः २० । ६ ॥

उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि । अथ० २० । ६८ । ६ ॥
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा-
यजस्व । अथ० ६ । ११० । १ ॥

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते
सौभगाय । अथ० २ । ६ । २ ।

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति
महते सौभगाय । अथ० ४ । ८ । ७ ॥

प्रान्यान् सपत्रान्तसहसा सहस्व प्रत्यजातान्
जातवेदो नुदस्व । इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय
विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥ अथ० ७ । ३५ । १ ॥

१. सविता आदि कर्तव्य-भेद से सम्राट् के ही नाम हैं।
इनके विशेष स्वरूप पर विचार आगे होगा।

अग्ने शर्धे महते सौभगाय तव शुभ्रान्युत्तमानि
सन्तु । अथ० ७ । ७३ । १० ॥

त्वं न इन्द्र महते सौभगायादब्धेभिः परि
पाह्यक्तुभिः । अथ० १७ । १ । ९ ॥

इन मन्त्रों और मन्त्रखण्डों में भी क्रम से कहा गया है कि—“हे राजन् (अग्ने) तू हमें प्राप्त करने योग्य पदार्थों का सुभग दान करता है और महिमा-शाली अन्न देता है।” “हे धन देनेवाले राजन् (द्रविणोदा अग्ने) हमारे महान् सौभाग्य के लिये उन्नति के मार्ग पर चलो।” “हे राजन् (अग्ने) तू अपने तेज से चमक, इस राष्ट्र को शिक्षित कर, और राष्ट्र के महान् सौभग के लिये इस ऊँचे सिंहासन पर बैठ।” “हे वृहस्पते इस सम्राट् (अग्नि) को हमारे महान् सौभग के लिये बढ़ाओ, यह राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि इसके पीछे चलते हुए राष्ट्र के सारे देव-पुरुष आनन्दित रहें।” “हे राजन् (अग्ने) तू हमारे महान् सौभग के लिये पराक्रम के कर्म कर, तेरे कारण हमें उत्तम धन प्राप्त हों।” “हे अश्विनो^१ तुम दिन-रात हमारी कभी नष्ट न होने वाले सौभगों से रक्षा करो।” “सौभाग्यं पसः” यह खण्ड जिस मन्त्र का भाग है उसमें राजा बोल रहा है। वह अपने एक आलंकारिक शरीर का वर्णन कर रहा है। राष्ट्र के प्रति उसके जो कर्त्तव्य हैं उनको अपने शरीर का एक-एक अंग बता रहा है। उसी प्रसंग में यह वाक्य है—“सौभाग्यं पसः।” अर्थात् “राष्ट्र के सौभाग्य की वृद्धि करना मेरे शरीर का पस अर्थात् लिंग है। जैसे ऋतुकाल में पस आनन्ददायक होता है वैसे ही राष्ट्र के सौभाग्य की वृद्धि करने का कर्म भी मेरे लिये अत्यन्त आनन्ददायक है।” “हम तुझ

सम्राट् (इन्द्र) के मंगलकारी शासन में रहें, हे दर्शनीय या दुष्टों का क्षय करने वाले राजन् ! तेरे राज्य प्रबन्ध से हम ऐसे हो जायें कि हमारे शत्रु लोग भी हमें सुभग कहें।” “हे राजन् (अग्ने) तू अपने शरीर का भी तर्पण कर और हमें भी सौभग दे।” “हे राजन् (अग्ने) तू अपने तेज से चमक और इस राष्ट्र को शिक्षित कर तथा इसके महान् सौभग के लिये ऊँचे सिंहासन पर बैठ।” “ये प्रजायें व्याघ्र और सिंह के तुल्य पराक्रमी इस राजा का संग करती हैं और उसे दान से तृप्त करती हैं जिसमें यह राष्ट्र के महान् सौभग के लिये समर्थ होता है।” “धन और ज्ञान देने वाले राजन् (जातवेदः) हमारे उत्पन्न और अनुत्पन्न दोनों प्रकार के शत्रुओं को अपनी पराभव करने वाली शक्ति से हटा दे, इस राष्ट्र का इस प्रकार पालन कर कि इसे सौभग की प्राप्ति हो, राष्ट्र के सारे लोग तेरे अनुकूल चलते हुए आनन्द का जीवन व्यतीत करें।” “हे राजन् (अग्ने) तू हमारे महान् सौभग के लिये पराक्रम कर, तेरे कारण हमें उत्तम धन प्राप्त हो।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तू हमारे महान् सौभग के लिये कभी न दबने वाले (अदब्धेभिः) अपने ज्ञानों द्वारा (अक्तुभिः)^२ हमारा पालन कर।” “अदब्धेभिः अक्तुभिः^३” का यह भाव भी हो सकता है कि प्रतिदिन हमारा इस प्रकार पालन कर कि हमें कोई न दबान सके।

अथर्व० १ । ७ । ६ में अग्नि को सम्बोधन करके यातुधानों—प्रजाको यातु अर्थात् पीड़ा पहुँचानेवाले दस्यु लोगों—को मारने की प्रार्थना की

१. अक्तुभिः । अञ्जू व्यक्तिप्रक्षणकान्तिपतिषु । ततस्तुन् । व्यञ्जकैः ज्ञानैः ।

२. अक्तुरिति रात्रिनामसु पाठितम् । निधं १ । ७ ॥

अत्रहोरात्राणि गमयति ।

३. अश्विनो कर्त्तव्य मद से राजा के ही नाम हैं। इस विषय में विशेष आगे लिखा जायेगा।

गयी है और कहा गया है कि हे अग्ने “अस्मा कार्थाय जज्ञिषे” अर्थात् “हे राजन् तुम हमारे भले के लिये उत्पन्न हुए हो। इससे वेदकी सम्मति में राजा की उत्पत्ति का—उस के सिंहासीन हो कर राज्य की बागडोर सँभालने का—प्रयोजन प्रजा का कल्याण करना है यह निर्विवाद सिद्ध होता है। अथर्व० १। ७। ६ के इस मन्त्रखण्ड में जो बात अत्यन्त संक्षेप से कही गई है वही अभी ऊपर उद्धृत ३५ मन्त्रों में विस्तार से और ज़रा भिन्न शब्दों में कही गई है। इन मन्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया गया है कि राजा का धर्म प्रजा के सौभग की वृद्धि करना है। “सौभग” शब्द सुभग शब्द से स्वार्थ में (अण्) होने से बना है। “सुष्ठु भगः सुभगः सुभग एव सौभगम्” अर्थात् सुभग और सौभग एक ही बात है। अब ‘भग’ शब्द की संस्कृत के कोषकारों ने इस प्रकार व्याख्या की है:—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य, यशसः श्रियः ।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरण ॥

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, शोभा, ज्ञान और वैराग्य (विषयों में अनुचित आसक्ति का अभाव) इन छः की भग संज्ञा है। ‘सु’ का अर्थ होता है उत्कृष्ट। इसलिये सुभग का अर्थ हुआ उत्कृष्ट कोटि के ऐश्वर्यादि। और यही अर्थ हुआ सौभग का। संस्कृत का सौभाग्य शब्द भी सुभग या सौभग शब्द से ही भावमें ‘प्यञ्’ प्रत्यय होने पर बनता है। सौभाग्य का अर्थ होता है सुभग या सौभग की अवस्था। सौभग की अवस्था वह होती है जिसमें हमारे पास उत्कृष्ट कोटि के ऐश्वर्यादि छहों पदार्थ हों। राष्ट्र में इसी सौभग की अवस्था को—सौभाग्यको—उपस्थित करना वेद के इन मन्त्रों द्वारा राजा का कर्त्तव्य बताया गया है। वेद जिस राष्ट्र की

कल्पना करता है उसमें “महान् सौभग” होना चाहिये। जिस राष्ट्र में “महान् सौभग” होगा उसके निवासी कैसी स्वर्गीय अवस्था में रहेंगे इसकी कल्पना पाठक अपने मन में कर सकते हैं। यह है वैदिक राज्य का आदर्श !

इन मन्त्रों में तो स्पष्ट ही राजा से सौभग की वृद्धि के लिये प्रार्थनायें की गई हैं, परन्तु इस के अतिरिक्त अनेक स्थलों पर अग्नि और इन्द्र को ‘सुभग’ शब्द का विशेष्य बनाया गया है, इनको सुभग कहा गया है। उस अवस्था में सुभग का अर्थ होगा “वह जिस से उत्कृष्ट भग प्राप्त होता है।” भाव यह कि अग्नि और इन्द्र (अर्थात् सम्राट्) राष्ट्र में उत्कृष्ट कोटि का भग देने वाले हैं। इस से भी वही सूचना मिलती है कि राजा को राष्ट्र में सौभग की अवस्था उत्पन्न करनी चाहिये। यही उसका धर्म है।

‘सौभग’ शब्द में जो भाव हैं उन्हीं की विभिन्न वेद मन्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार से भिन्न-भिन्न भावों द्वारा पुष्टि क. गई है। उदाहरण के लिये कुछ मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं :—

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो ।

धनानामिन्द्र सातये ॥ ऋ० १।४। ६

अयमग्निः सुवीर्यस्येशो महः सौभगस्य ।

राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥

ऋ० ३।१६।१

इमं नरो मरुतः सश्चता वृधं यस्मिन्नायः

शेवृधासः ॥ ऋ० ३।१६।२

मा नो अग्नेऽमतये माऽवीरतायै रीरधः ।

१. उदाहरण के लिये ऋ० ३, १६, ६॥ ५, ८, ३॥ ८, १६॥ ८, १८, १६, १॥ में अग्नि को तथा ऋ० ८।४।१६ में इन्द्र को सुभग कहा है।

मागोतायै सहसस्पुत्र मानिदेऽपद्वेपास्या कृधि ।

ऋ० ३।१६।५

स सत्पतिः शवसा हन्ति वृत्रम् (अग्निः) ।

ऋ० ६।१३।३

ता नृभ्य आ सीश्वसा सुवीराग्ने सूनो सहसः
पुष्यसे धाः ॥ ऋ० ६।१३।५

विश्वजिते धनजिते स्वजिते सत्राजिते नृजि-
त उर्वराजिते ।

अश्वजिते गोजिते अविजिते भरेन्द्राय सोमं
यजताय ह्येतम् ॥ ऋ० २।२१।१

इन्द्रं श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभ-
गत्वमस्मे ।

पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वादमानं वाचः
सुदिनत्वमहाम् ॥ ऋ० २।२१।६

आ नो देव शवसा याहि शुष्मिन् भवा वृध इन्द्र
रायो अस्य ।

महे नृम्णाय नृपते सुवज्र महि क्षत्राय पौंस्याय
शूर ॥ ऋ० ७।३०।१

भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि (अग्नेः)
ऋ० १।६४।१

(अग्ने) यस्मै त्वमायजने स साधत्यनवां
क्षेति दधते सुवीर्यम् । ऋ० १।६४।२

जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सरूपे मा
रिषामा वयं तव ॥ ऋ० १।९४।४

दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुपेऽग्ने । ऋ० १।९४।१४

पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि विशो विश्वा अनुप्रभुः ।

समत्सु त्वा हवामहे ॥ ऋ० ८।११।८

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विपो
रक्षसो अमीवाः ।

सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहं सुहवस्य
प्रणातौ । ऋ० ३।१५।१

तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूमिरायसी-
भिर्निपाहि । ऋ० ७।३।७

त्वामिद् यवयुर्मम कामो गव्युर्हिरण्युः ।

त्वामश्वयुरेषते । ऋ० ८।७।९

य इन्वति द्रविणानि प्रचेता विश्ववाराणि पुरु-
वारो अघ्नूक् । ऋ० ६।५।१

अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिं
रयिवः सुवीरम् ।

अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमज-
राजरं ते ॥ ऋ० ६।५।७

अग्ने शर्धं मदते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि
सन्तु ।

सं जास्यत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि-
तिष्ठा महांसि ॥ ऋ० ५।२८।३

अति निहो अतिस्त्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यं सह-

वीरं रयिं दाः ॥ यजु० २०।६

अनाधृष्यो जातवेदा अनिष्टतो विराडग्ने क्षत्र-
भृद्दीदिहीह ।

विश्वा आशा प्रमुञ्चन् मानुषीर्भियः शिवेभि-
रद्य परिपाहि नो वृधे । यजु० २७।७

अति निहो अति सूत्रोऽत्यचित्तीरति द्विषः ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं

रयिं दाः । अ० २।६।५

ये मन्त्र वेद के उन्हीं सूक्तों के हैं जिनके ऊपर
उद्धृत "सौभग" शब्द वाले मन्त्र हैं । इन मन्त्रों
में सम्राट् से जो कुछ माँगा गया है उससे 'सौभाग्य'
क्या वस्तु है इस की स्वयं व्याख्या हो जाती है ।
किसी राष्ट्र में इन मन्त्रों में वर्णित बातों का होना
ही उस के सौभग या सौभाग्य की वृद्धि है ।
मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—

“ हे सैकड़ों प्रकार के कर्मों वा बुद्धियों वाले
इन्द्र (सम्राट्) तू बड़ा बली है, हम तुझे बल देते

हैं—अपने सहयोग और कर आदि दान से शक्ति सम्पन्न बनाते हैं—जिससे तेरे सुप्रबन्धसे हमें धनों की प्राप्ति हो सके।” “यह अग्नि (सम्राट्) उत्कृष्ट वीर्य अर्थात् पराक्रम देने में समर्थ है, महान् सौभाग देने में समर्थ है, उत्तम सन्तानों से युक्त धन को देने में समर्थ है, गौओं को देने में समर्थ है, वृत्र अर्थात् राष्ट्र की उन्नति को रोकने वाले शत्रुओं और विघ्न-बाधाओं को मारने में समर्थ है।” “हे मनुष्यो (मरुतः) राष्ट्र की प्रत्येक बात की वृद्धि करने वाले इस अग्नि (सम्राट्) की सेवा करो, मंगल बढ़ाने वाले धन इससे प्राप्त होते हैं।” “हे अग्नि (सम्राट्) तू हमारे अन्दर मूर्खता (अमति) मत होने दे, वीरता का अभाव मत होने दे, गौओं का अभाव मत होने दे, हे बली कोई हमारी निन्दा न कर सके, कोई हमसे और हम किसी से द्वेष न करें।” “यह अग्नि (सम्राट्) अपने बल से वृत्र अर्थात् राष्ट्रोन्नति की रुकावटों को मार भगाता है।” “हे महाबली अग्नि (सम्राट्) राष्ट्र के हम मनुष्यों को पुष्टि देने के लिये उत्तम वीर-पुत्रों से युक्त उत्कृष्ट यश और अन्न (सौश्रवता) हमें दे।” “सब कुछ जीतकर हमें देनेवाले, धन जीतकर हमें देने वाले, सुख जीत कर हमें देने वाले, सदा ही जयशील, मनुष्यों को जीतने वाले, उपजाऊ भूमियों को जीत कर हमें देने वाले, घोड़े जीत कर देने वाले, गौवं जीत कर देने वाले, पानी जीत कर देने वाले और संगति करने योग्य इस इन्द्र (सम्राट्) के लिये हे मनुष्यो कमनीय सोम—करादि रूप में देय ऐश्वर्य दो।” “हे इन्द्र (सम्राट्) तू हमें श्रेष्ठ धन दे, ज्ञान दे, बल का सौभाग्य दे, धनों से मिलने वाली पुष्टि दे, शरीरों की नीरोगता दे, वाणी की मधुरता दे, और हमारे दिनों को

सुदिन बना।” “हे बली इन्द्र (सम्राट्) बल के साथ हमारे पास आ, हमारे ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये हमारे पास आ, हे हम मनुष्यों के राजा (नृपते) ! हे वज्रधारी ! महान् धन के लिये और महान् क्षात्र-शक्ति और पुरुषत्व देने के लिये हमारे पास आ।” “इस अग्नि (सम्राट्) की सभा में (संसदि) हमारे लिये मंगलकारी उत्कृष्ट ज्ञान (प्रमतिः) रहता है।” “हे अग्नि (सम्राट्) जिस के लिये तुम संगतीकरण के कार्य करते हो (आय-जसे) वह अपने कार्य सिद्ध करता है, शत्रुओं से अनाक्रमणीय होकर रहता है और उत्कृष्ट वीर्य को धारण करता है।” “हे अग्नि (सम्राट्) हमारे जीवन के लिये उत्कृष्ट रीति से बुद्धियें सिद्ध कर, हम तेरी मित्रता में रहते हुए कभी नष्ट न होंवें।” “हे अग्नि (सम्राट्) जो तुझे कर आदि देता रहता है उसके लिये तू रत्न धारण करता है और धन धारण करता है।” “हे अग्नि (सम्राट्) तू हमारा प्रभु है, सारी प्रजाओं पर सर्वत्र समान रूप से तू अपना निरीक्षण रखता है, युद्धों में अपनी रक्षा के लिये हम तेरी ही पुकार करते हैं।” “हे अग्नि (सम्राट्) अपने बड़े भारी तेज से दुष्टों को तपाता हुआ तू हम से द्वेष करने वालों को रोक, चुपके-चुपके हमारा क्षय करने वालों (रक्षसः) को रोक, रोगों को रोक, उत्तम मंगल देने वाले इस महान् की रक्षा से मिलने वाले मंगल में रहूँ, रक्षा के लिये सदा ही बुलाने योग्य इस सम्राट् की उत्कृष्ट नीति में—शासन नियमों में (प्रणीतौ) मैं रहूँ।” “हे अग्नि (सम्राट्) अपने अमित तेजों से और लोहे की बनी हुई सैकड़ों नगरियों से हमारी रक्षा कर।” “हे इन्द्र (सम्राट्) जो आदि अन्न चाहने वाली, गौवं चाहने वाली, सुवर्ण चाहने वाली, घोड़े चाहने वाली मेरी इच्छा (कामः)

तेरे पास ही दौड़ कर जाती है—तेरे सुप्रबन्ध से ही ये चीजें हमें प्राप्त हो सकती हैं।” “राष्ट्र का द्रोह न करने वाला (अध्रुक्) बहुतों द्वारा वरण करने योग्य (पुरुवारः), प्रकृष्ट ज्ञानी यह अग्नि (सम्राट्) सब के चाहने योग्य धन देता है।” “हे अग्नि (सम्राट्) तेरी रक्षा में हम अपनी हरेक इच्छा (कामं) पूरी कर सकें, हे ऐश्वर्यवान् हम उत्तम वीर पुत्र देने वाला ऐश्वर्य प्राप्त कर सकें, तुझे करादि द्वारा बल प्रदान करते हुए (अभिवाजयन्तः) हम अन्न और उससे मिलने वाला बल (वाजं) प्राप्त कर सकें, हे अक्षीण-शक्ति वाले (अजर) हम क्षीण न होने वाला धन प्राप्त कर सकें।” “हे अग्नि (सम्राट्) हमारे महान् सौभाग्य के लिये पराक्रम के कार्य कर, तेरी कृपा से हमें उत्तम धन प्राप्त हो सकें, हमारे गृहस्थ जीवन को (जास्पत्यं) सुनियमित कर, जो हम से शत्रुता करते हैं उनके तेजों पर धावा बोल।” “हे अग्नि (सम्राट्) हमें मारने वालों का अति क्रमण करके, हमारे साथ कुत्सित व्यवहार करने वालों (स्त्रिधः^१) का अतिक्रमण करके, हमारे अज्ञान को हटा के, हमारे सब प्रकार के बुरे आचरणों को हटा और हमें वीर पुत्रों से युक्त धन दे।” “हे धन और ज्ञान देने वाले (जातवेदाः) अग्नि (सम्राट्) किसी से धर्षित न होने वाला और किसी से हिंसित न होने वाला तू विराट् और क्षत्रभृत् होकर इस राष्ट्र में खूब चमक, मनुष्यों की इन सारी दिशाओं को भय से छुड़ा कर हमारी वृद्धि के लिये अपने मंगलकारी प्रकारों से हमारी रक्षा कर।” “हे अग्नि (सम्राट्) तू हमें मारने वालों को तरजा, हमारे साथ कुत्सित व्यवहार करने वालों या हमारे राष्ट्र का शोषण

करने वालों (सृधः)^२ को तरजा, हमारे अज्ञानों को तरजा, हम से द्वेष करने वालों को तरजा, हमारे सारे ही बुरे ही आचरणों को तरजा—अर्थात् हम से इन सब को दूर कर—और तब हमें वीर पुत्रों से युक्त ऐश्वर्य दे।”

राष्ट्र के सौभाग्य से—राष्ट्रगत सौभाग्य की अवस्था से—वेद में क्या अभिप्राय है यह पाठकों को इन मन्त्रों के वर्णनों से स्पष्ट हो गया होगा। ये मन्त्र उन्हीं सूक्तों के हैं जहां सौभाग्य शब्द का प्रयोग हुआ है। इन सूक्तों के अतिरिक्त अन्य अनेक सूक्तों में भी इस प्रकार के वर्णन आते हैं। अन्य सूक्तों में और भी अनेक बातें राज्य में करने के लिये राजा को वेद में उपदेश दिया गया है। वे सब भी राष्ट्र के सौभाग्य की ही विस्तृत व्याख्या हैं। इसी प्रकरण के आगे आने वाले खण्डों में उनमें से कुछ की ओर निर्देश किया जायेगा। इसलिये इस शीर्षक के नीचे और अधिक मन्त्रों का देना अनावश्यक प्रतीत होता है। केवल कुछ मन्त्र अन्य स्थलों के देकर इस खण्ड को समाप्त करते हैं:—

त्विषि बलं राष्ट्रे दधातूतमे । अथर्व १२।१।८
यस्याः पुरो देवकृताः । अथर्व १२।१।४३
ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वत्माः
नसश्च यातवे । अथर्व १२।१।४४
यत् त ऊनं तत् त आपूरयाति प्रजापतिः ।
अथर्व १२।१।६१
वाचस्यते पृथिवी नः स्योना स्योना योनि
स्तत्त्वा नः सुशेवाः । अथर्व १३।१।१७
भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः । गृहस्य
बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधितिष्ठतु
अथर्व २।१४।४

१. स्त्रिधतिः कुत्सितकर्मा । छान्दसो धातुः ।

२. सृध वा स्त्रिध वा शोषणार्थश्छान्दसो धातुः ।

अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम् ।

अथर्व० ६ । ५४ । १

क्षत्रभृद् दीदिहीह । अथर्व० ७ । ८४ । १

इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजायथाः । अथर्व०

७ । ८४ । २

इन मन्त्रखण्डों का भाव क्रम से इस प्रकार है :—

“मातृभूमि अर्थात् तदुपलक्षित हमारा राज्य-शासन हमारे राष्ट्र में प्रताप और बल धारण करे और इस प्रकार उसे उत्तम बनावे ।” “हमारे राष्ट्र में व्यवहारशील कुशल शिल्पियों द्वारा बनाये हुए (देवकृताः) बड़े बड़े नगर हों ।” “हमारे राष्ट्र में मनुष्यों के चलने के लिये, रथों के चलने के लिये और भार ढोने वाले गड्डों के चलने के लिये अलग-अलग बहुत से मार्ग बने हुए हों ।” “हमारे राष्ट्र में जिस बात की भी कमी हो उसे ही हमारा सम्राट् (प्रजापतिः) पूरा कर दे ।” “हे बड़े वक्ता हमारे राजा तेरी कृपा से हमारे लये सारी धरती सुखकारी हो, घर सुखकारी हों, हमारे घर के पलंग हमें सुख देने वाले हों ।” “राष्ट्र के प्राणियों का रक्षक (भूतपतिः) इन्द्र (सम्राट्) हमारे घरकी जड़ में बैठी हुई, सदा रुलाने वाली अलक्ष्मी को मार भगावे ।” “हे इन्द्र (सम्राट्) इस राष्ट्र की क्षत्रशक्ति को और विशाल ऐश्वर्य को बढ़ाओ जैसे वर्षा घास को बढ़ाती है ।” “हे अग्नि (सम्राट्) इस राष्ट्र का भरण पोषण करने वाला बन कर प्रकाशित हो ।” “हे इन्द्र (सम्राट्) हमारे इस सुन्दर राष्ट्र (क्षत्रं) को ओजस्वी बनाओ ।”

राजा का राष्ट्र के प्रति क्या कर्तव्य है, उसे राजा किस उद्देश्य से बनाया जाता है, इस पर ऊपर दिये गये मन्त्रों के साथ इन मन्त्रों से भी सुन्दर प्रकाश पड़ता है ।

यजुर्वेद के बीसवें अध्याय में राज्याभिषेक का विषय है । राज्य में अभिषिक्त हो रहे राजा को वरुण और इन्द्र नामों से अभिहित किया गया है । इस अध्याय के कितने ही मन्त्रों की तो महीधर और उव्वट तक को राजा-परक व्याख्या करनी पड़ी है । यदि महीधर और उव्वट अपने पौराणिक संस्कारों को छोड़ कर इस अध्याय के वरुण और इन्द्र पदों को कालान्तिक देवविशेष न मान कर सम्राट् वाची मान लेते तो इस सारे अध्याय की जो क्रमबद्ध, सुसंगत और शिक्षाप्रद व्याख्या हो सकती वह उनसे नहीं हो सकी है । अध्याय के पहले मन्त्र “क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्राय नाभिरसि, मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः” में अभिषिक्त हो रहे व्यक्ति को सम्बोधन करके पुरोहित प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में कह रहा है कि “हे अभिषिच्यमान राजन् ! तू क्षत्र^१ अर्थात् इस राष्ट्र का अथवा इस की क्षत्र शक्ति का कारण है, तू इस क्षत्र को एक सूत्र में बांध कर रखने वाला नाभि^२ है, यह राष्ट्र तेरी हिंसा न करे और न ही तू मुझ राष्ट्र की हिंसा करे ।” दूसरे मन्त्र “निषसाद धृतव्रतो वरुणः पत्यास्वा, साम्राज्याय सुकतुः, मृत्योः पाहि विद्यो-त्पाहि” में उसी व्यक्ति को कहा है कि “यह धृतव्रत, उत्तमकर्मा अभिषिच्यमान व्यक्ति वरुण हो कर प्रजाओं में साम्राज्य के लिये सिंहासन पर बैठ रहा है, हे वरुण मृत्यु से हमारे राष्ट्र की रक्षा कर, (विपत्तियों की) बिजली से इस को बचा ।” तीसरे मन्त्र में पुरोहित कहता है कि “.....तेजसे ब्रह्म-वर्चसायाभिषिञ्चामिवीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामिबलाय श्रियै यशसेभिषिञ्चामि” अर्थात्

१. क्षत्रं हि राष्ट्रम् । ऐ० ७, २२॥ क्षत्रं राजन्यः । ऐ०

८, ६॥ श० ५, ११, ५१३

२. नाभिः सन्निहनात् (निरु० ४, ३, २१)

“मैं राष्ट्र में तेज, ब्रह्मवर्चस, वीर्य, अन्नाद्य, बल, श्री और यश की प्राप्ति के लिये इसे राज्य में अभिषिक्त कर रहा हूँ।” चौथे मंत्र “कोसिकतमोसि कस्मै त्वा, कायत्वा, सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्” में पुरोहित उसी व्यक्ति को सम्बोधन करके कह रहा है कि “हे उत्तम यश वाले ! हे उत्तम मंगल देने वाले ! हे सत्यपरायण राजा (सत्य राजन्) ! तू कः अर्थात् प्रजाओं को सुख देने वाला है, कतमः अर्थात् सब से अधिक सुख देने वाला है, राष्ट्र में सुख के लिये तुझे अभिषिक्त किया जा रहा है, सुख के लिये तुझे अभिषिक्त किया जा रहा है।” इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का अर्थ प्रश्नवाचो भी हो सकता है, अर्थात् “तू कौन है और तुझे किस प्रयोजन के लिये अभिषिक्त किया जा रहा है ?” इस मन्त्र में अभिषिच्यमान व्यक्ति से यह जो पूछा गया कि तू कौन है और किस प्रयोजन के लिये अभिषिक्त किया जा रहा है, उसका उत्तर अगले ५ - ९ मन्त्रों में वह अपना एक आलङ्कारिक शरीर बता कर देता है। यदि चौथे मन्त्र के पूर्वार्द्ध को प्रश्नार्थक न माना जाय तब भी पुरोहित को ओर से उसका जो यह कर्तव्य बताया गया कि वह राष्ट्र में सुख देने के लिये अभिषिक्त किया जा रहा है, पुरोहित की इस बात का, वह इन ५ - ९ मन्त्रों में अपने आलङ्कारिक स्वरूप के वर्णन द्वारा समर्थन करता है और कहता है कि पुरोहित ने जो कुछ कहा है उसे मैं स्वीकार करता हूँ।

ये मन्त्र इस प्रकार हैं :—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि । राजा मे प्राणो अमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ५ ॥

जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड्भामः ।

मोदाः प्रमोदा अगुलारङ्गानि मित्रं मे सहः । ६ ॥

बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम् ।

आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥

पृथीर्मे राष्ट्रमुद्रमंसा ग्रीवाश्च श्रोणी ।

ऊरु अरन्वी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः । ८ ॥

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मे अपचितिर्भसत् ।

आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः ।

जङ्घाभ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—

‘श्री’ अर्थात् राष्ट्र की शोभा या ऐश्वर्य बढ़ाना मेरा सिर है। ‘यश’ अर्थात् राष्ट्र की कीर्ति की वृद्धि करना मेरा मुख है। ‘त्विषि’ अर्थात् राष्ट्र के तेज, प्रताप की वृद्धि मेरे केश और श्मश्रु हैं। ‘अमृत’ अर्थात् राष्ट्र में मृत्यु का अभाव करना मेरा राजा अर्थात् दीप्तिमान् प्राण है। ‘सम्राट्’^१ अर्थात् सम्यक् प्रकार से राज्य करना मेरा चक्षु है। ‘विराट्’^२ अर्थात् राष्ट्र के लोगों की बातें सुनना अथवा राज्य में अन्तों की वृद्धि करना मेरा श्रोत्र है। ५। ‘भद्र’ अर्थात् राष्ट्र की भलाई करना मेरी जिह्वा है। ‘महः’ अर्थात् राष्ट्र की महिमा को बढ़ाना, उसे पूजनीय बनाना मेरी वाणी है। ‘मन्यु’ अर्थात् प्रजा के भले के लिए विचार-पूर्वक किया हुआ सात्विक क्रोध मेरा मन है। ‘स्वराट्’ अर्थात् अपना राष्ट्र ही मेरा भाम अर्थ क्रोध है। इस वाक्य में मन्यु से भिन्न क्रोध को भाम कहा है, इस कथन का भाव यह है कि यदि मुझे कभी क्रोध भी आयेगा तो वह यही देख कर आयेगा कि मेरे

१. यजुः २०। २२ व्याख्यानानुसारे ‘इयं ते राट्’ इति वाक्यं उक्तः ‘इदं तव राज्यम्’ इत्येवं व्याचक्ष्यौ । तथा चात्र सं सम्यक् प्रकारेण पालिता राट् सम्राडिति विशेष्यम् ।

२. वाग्वै विराट् । श० ३। ५। १। ३४ ॥ अन्नं वै विराट् ।

राष्ट्र की उन्नति क्यों नहीं हो रही। 'मोद-प्रमोद' अर्थात् राष्ट्र के हर्ष बढ़ाना मेरी अंगुलि आदि अंग हैं। 'मित्र' अर्थात् राष्ट्र के प्रजाजनों से मित्रता का व्यवहार करना मेरा सह अर्थात् सब संकटों को सहन करने वाला बल है। ६। "बल और इन्द्रिय" अर्थात् राष्ट्र के लोगों का बल बढ़ाना और उनकी इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाना मेरे बाहु हैं। 'कर्म और वीर्य' अर्थात् राष्ट्र में विभिन्न कर्मों की वृद्धि करना और उसके पराक्रम को बढ़ाना मेरे हाथ हैं। "क्षत्र" अर्थात् प्रजाओं को किसी भी प्रकार से घायल होने से—दुःखी होने से बचाना मेरा आत्मा और हृदय है। ७। 'राष्ट्र' अर्थात् देश मेरी पीठ है। 'विश' अर्थात् राष्ट्र की प्रजायें मेरे अंस, ग्रीवा, श्रोणी, ऊरु, अरत्नी, जानु आदि अंग हैं। ८। 'चित्त' अर्थात् राष्ट्र में ज्ञान बढ़ाना मेरी नाभि है। 'विज्ञान' अर्थात् प्रत्येक विषय के विशेष ज्ञान की वृद्धि करना मेरी पायु अर्थात् गुदेन्द्रिय है। "अपचिति" अर्थात् राष्ट्र में पूना योग्य गुणों की वृद्धि करना मेरा भसत् है। 'आनन्द और नन्द' अर्थात् प्रजा के आनन्द और प्रसन्नता को बढ़ाने वाली समृद्धि की वृद्धि करना मेरे अण्डकोश हैं। 'भग और सौभाग्य' अर्थात् राज्य में ऐश्वर्य और सौभाग्य की अवस्था लाना मेरा पस अर्थात् लिंग

१. मन्त्रे प्रयुज्यमानः स्त्रीप्रजननार्थको भसच्छब्दः स्त्रीणामपि साम्राज्याभिषेकसंभावनां द्योतयति। तथा चाभिपिच्यमाना स्त्री 'अपचितिर्भसदिति वाक्यं पठतु पुमांस्त्वभिपिच्यमानः तत् परिजह्यात्। यद्वा भसच्छब्दप्रयोगेणाभिपिच्यमानः सन्नाडात्मनि स्त्रीत्वमप्यारोपयति तेन च यथा प्रजागतस्य पुंभागस्य कल्याणं तस्य कर्तव्यं भविष्यति तथैव स्त्रीणां मङ्गलं प्रत्यपि तनोदासीनेनन स्थास्यत इति बोद्धव्यम्। तथा चाभिपिच्यमाना सन्नाशी पुंप्रजननार्थकान् शब्दान् प्रयुज्माना प्रजागतस्य स्त्रीभागस्यैव पुंभागस्यापि मङ्गलं प्रति नोदास्यत इति ध्वनयेत्।

२. दुनदि समृद्धौ।

है। 'धर्म' मेरी जंघायें और पैर हैं जिनके सहारे मैं खड़ा हूँ। मैं राजा प्रजाओं में प्रतिष्ठित हूँ—अर्थात् प्रजाओं के बल पर ही मैं राज्य कर सकता हूँ। ९।

वैदिक राजा किस प्रकार प्रजा की सुख समृद्धि और मङ्गल के साथ अपने आपको एक कर लेता है यह यजुर्वेद के इन मन्त्रों में वर्णित राजा के आलङ्कारिक शरीर को देखने के पश्चात् पाठकों को अवश्य ही सुस्पष्ट हो गया होगा। प्रजाओं के प्रति राजा के कर्तव्य को—उसके राज्य कर्म में अभिपिक्त होने के प्रयोजन को और अधिक सुन्दर शब्दों में नहीं कहा जा सकता।

पाठक यहाँ यह भी देखें कि यजुर्वेद के इस अध्याय के पहले चार मन्त्रों में पुरोहित जिस व्यक्ति को 'वरुण' कह कर अभिपिक्त कर रहा है और जो इन ५-९ मन्त्रों में इस प्रकार का अपना स्वरूप बता रहा है और अपने आप को "राजा विशि प्रतिष्ठितः" कह रहा है और जिसे इसी अध्याय में आगे 'इन्द्र' भी कहा है, वह कोई काल्पनिक 'वरुण' और 'इन्द्र' देव हैं या राजा के ही ये कर्तव्य भेद से प्रयुक्त हुए दो नाम हैं।

इस प्रकार इस खण्ड में हमने देखा है कि वेद के अनुसार राजा का धर्म है कि वह अपने राष्ट्र को बल, तेज, धन धान्य और विद्या, वृद्धि से युक्त बना कर बाहरी और भीतरी शत्रुओं तथा अन्य भी सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं से रहित कर दे और इस प्रकार उसे एक समृद्धिशाली, उत्तम राष्ट्र बना दे। वेद के शब्दों में कहना हो तो राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र में "महान् सौभाग्य" या "सौभाग्य" की अवस्था उत्पन्न कर दे।

ऋषि दयानन्द और गो-रक्षा

(ले०, श्री केदार आई० डी० डी०)

महर्षि पूज्य दयानन्द जिस युग में पैदा हुये वह यथार्थ में मिथ्यावाद और रूढ़ियों का युग था। उस काल में भारतवर्ष में चारों तरफ अविद्या-अन्धकार और आडम्बरों का जाल फैला हुआ था। उसी के परिणाम में यहां पर मूर्ति-पूजा अपने भयानक स्वरूप में अत्यधिक प्रचलित थी। काल्पनिक देवी-देवताओं और मनुष्यों की प्रतिमाओं को ईश्वर कह कर पूजा जाता था, केवल इतनी ही बात न थी वरन् जड़ पदार्थों, मढ़ी-मसान और कवरों तक में ईश्वर की सत्ता का भान कर उन पर चढ़ावे चढ़ाये और उन से वर मांगे जाते थे।

ऋषि दयानन्द को एक साधारण-सी घटना से मूर्ति की अचेतनता और असमर्थता का बोध हुआ। अनेक वर्षों की तपस्या के पीछे उन्होंने हिन्दू जाति में लगे हुये मूर्ति-पूजा रूपी रोग को पहचाना और उस रोग की निवृत्ति के लिये वह सब कुछ त्याग तटस्थ हो गये। कहते हैं महामुद् गङ्गनवी ने ईश्वरवाद फैलाने के लिये अनेक मन्दिरों की मूर्तियों को बल-पूर्वक तोड़ने का साहस दिखाया। परन्तु यह गौरव दयानन्द को ही प्राप्त है कि उन्होंने हजारों और लाखों लोगों के अपने हाथों से उनकी मूर्तियाँ नदी-नालों में फिक्वा दीं। सचमुच जादू वह जो सिर चढ़ कर बोले—

वास्तव में महर्षि ने स्थूल रूप मूर्ति-पूजा को समूत नष्ट करने के लिये मूर्ति-पूजा के सूक्ष्म रूप की ओर भी समुचित ध्यान दिया। जहां उन्होंने देवी-देवताओं और मनुष्य आदि की मूर्तियों की पूजा का खण्डन किया वहां उन्होंने पुराने वहमों, बाहरी आडम्बरों और दिखावे के कार्यों का भी पूरा-पूरा विरोध किया। इस सम्बंध में गोरक्षा की समस्या का उदाहरण हमारे सामने है।

ऋषि के ओजस्विनी और दूरदर्शी बुद्धि-चक्षुओं ने इस बात को भली भांति भांप लिया कि भारत वर्ष में जहां कभी अत्यधिक आदर और मान एवं उसकी सेवा और रक्षा का प्रबन्ध रहने से गोवंश उत्तति के शिखर पर पहुँचा हुआ था, वहां अब उस की ओर से असावधान रहने के कारण वह दीन-हीन अवस्था को प्राप्त हो रहा है। गाय के लिये वास्तविक प्रेम और श्रद्धा न रह कर केवल ऊपरी दिखावे के तौर पर सोने, चाँदी, पीतल और पत्थर की गाय की पूजा का रिवाज-मात्र रह गया। महर्षि को यह समझते भी देर न लगी कि उसके दुष्परिणाम स्वरूप ही यहां के निवासियों में निर्बलता, रोग और मृत्यु संख्या बढ़ी हुई है। जहां कभी दूध और घी की नहरें बहती थीं और जहां के निवासियों का मुख्य भोजन दूध और उनसे बने हुये पदार्थ होते थे और जहां का गोधन किसी

समय सब से उत्तम और अधिक दूध उत्पन्न करने वाला होता था, वहां दिन-प्रति दिन इन अमृत पदार्थों का अभाव और गोवंश का हास देख भला महर्षि उस ओर ध्यान क्यों न देते ?

ऋषि दयानन्द ने जब इस को अनुभव किया कि गोवंश के उद्धार और रक्षा की परम आवश्यकता है तो उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी आवाज़ उठाई और “गोकर्ण निधि” के द्वारा अपने विचारों को जनता पर प्रकट किया। परन्तु केवल शाब्दिक सहानुभूति और विषय के विश्लेषण पर ही उन्होंने संतोष नहीं मान लिया। वरन् इस बारे में कई एक कार्यों को क्रियात्मक रूप में भी हाथ में लिया। दुर्भाग्य से महर्षि के शीघ्र परलोक गमन के कारण यह कार्य अधूरा ही पड़ा रह गया।

दुःख की बात है कि महर्षि के पीछे किसी का इस आवश्यक समस्या की ओर ध्यान नहीं गया। यहाँ तक कि महर्षि का प्रतिनिधि मानने वाला आर्य समाज भी महर्षि के शेष प्रोग्राम को अपनाते हुये भी इस ओर से अब तक उदासीन चला आ रहा है। पिछले पचास वर्षों में गोवंश की दशा और भी शोचनीय हो गई है। उनकी संख्या घटने के साथ-साथ उनके दूध का परिमाण भी शनैः-शनैः कम हो गया है। आज अवस्था यहाँ तक बिगड़ चुकी है कि गाय का रखना अब आर्थिक दृष्टि से बोझ अनुभव होता है। इस देश में कोरी नाम की गो-भक्ति रह गई है। गाय की उचित देख भाल, उन्नति और वृद्धि

के लिये किसी को चिन्ता नहीं रही है। दूसरी ओर दूध-घी आदि पदार्थों का सेवन भी कम होता जा रहा है। पश्चिमी देशों में गो-दुग्ध के महत्व को समझने के कारण इस का प्रचार दिन-प्रति-दिन फैल रहा है। और उसी कारण से गाय आदि का मान भी वहाँ बढ़ गया है। भारतवर्ष में उलटा दूध और गाय दोनों को ही अब अवज्ञा की दृष्टि से देखा जाने लगा है।

आज इससे अच्छी और कल्याणकारी बात और क्या होगी कि आर्य समाज सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से महर्षि दयानन्द के गोरक्षा और गवोन्नति सम्बन्धी अपूर्ण कार्य को पूरा करने के लिये प्रयत्न-शील हो। गोरक्षा और गोभक्ति का जो वर्तमान स्वरूप बना हुआ है, उससे न केवल कोई लाभ की ही आशा नहीं रखी जा सकती, बल्कि वह देश के लिये बड़ी भारी हानि का कारण सिद्ध हो रहा है। गोमाता के नाम का ढँडोरा पीटने और वर्ष में एक-आध बार उसके गले में फूलों के हार डाल देने अथवा पीतल पत्थर की जड़ गोमूर्ति की प्रदक्षिणा कर लेने मात्र से कुछ बनने का नहीं। आवश्यकता है इस प्रकार की सूक्ष्म मूर्ति पूजा के स्थान पर सही गोभक्ति और गोसेवा की ओर हिन्दु जाति को प्रवृत्त किया जाये। आर्य समाज के पास इस काम के लिये शक्ति और साधन दोनों विद्यमान हैं। वह यदि क्रियात्मक तौर पर इस ओर अग्रसर हो तो बहुत कुछ सफल रूप से हो सकने की आशा है।

क्या वेद ईश्वरीय ज्ञान है ?

[ले० — ब० रामनाथ जी चतुर्दश श्रेणी, गुरुकुल काँगड़ी]

(२) वेदों के ईश्वरीय होने में वेद की अन्तःसाक्षी

इस प्रश्न के निर्णय के लिये सब से प्रथम हमें देखना चाहिये कि स्वयं वेद इस विषय में क्या कहते हैं। वे चुप हैं या किसी निश्चित मत को प्रकाशित करते हैं ? यदि वेद स्वयं ही अपने ईश्वरीय ज्ञान होने का खण्डन करते हों तो इस विषय में आगे विचार की ज़रूरत ही न होगी। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। वेद स्थान-स्थान पर परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए वेदों को उसकी वाणी कहते हैं। वेदों की महिमा के विषय में कहा है—

“पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।”

अथर्व० १० । ७ ॥

‘वह परमात्म-देव का अद्भुत काव्य है जो न कभी नष्ट होता है, न पुराना होता है ।’

“कविः काव्येनासि विश्ववित् । ऋ० १० । ९१ ॥

‘वह कवि परमात्मा अपने इस वेदरूपो चमत्कारमय काव्य से सम्पूर्ण विश्व में प्रख्यात हो रहा है !’

अथर्ववेद में कैसा सुन्दर काव्यमय आलङ्कारिक वर्णन है—

“स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्माद्वचोऽजायन्त ।”

अथर्व० १३ । ४ । ३८ ॥

‘ऋचायें उस परमात्मा से प्रकट हुईं और वह परमात्मा ऋचाओं से प्रकट हुआ ।’

एक दूसरी जगह कहा है—

“कालाद्वचः समभवन् यजुः कालादजायत ।”

अ० १९ । ५४ । ३ ॥

‘‘काल’’ के दो अर्थ हैं, एक ईश्वर और दूसरा समय। अर्थात् ऋग्० यजु० आदि वेद परमेश्वर द्वारा कालविशेष में प्रकट हुए।

वेद के पुरुष सूक्त में चारों वेद ईश्वर से प्रकट हुए इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है—

“तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥”

ऋग्० १० । ६० । ९, यजु० ३१ । ७, अ० १९ । ६ । १३ ॥

यह मन्त्र ऋग्० यजु० अथर्व० तीनों वेदों में मिलता है। अथर्ववेद के स्कन्धसूक्त में स्कन्ध रूप परमात्मा को चारों वेदों का आदि स्रोत कहा है—

“यस्माद्वचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।

सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।

स्कन्धं तं ब्रूहि कतमः श्विदेव सः ॥”

अथर्व० १० । ७ ॥

इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान होने के सम्बन्ध में वेद की अन्तःसाक्षी क्या है यह स्पष्ट है। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार नित्य वेद सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा से आविर्भूत होते हैं और प्रलयकाल में वे परमात्मा में ही लीन हो जाते हैं। वेद सर्वदा सत्य, पूर्ण ईश्वरीय ज्ञान हैं इसलिये उसमें कभी

१. ‘कालयतिर्गतिकर्मा, तस्मात् कालः ।’

कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः । कल संख्याने ।’

बुद्धि, परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। इस लिये वह नित्य है। इसी आशय को अथर्ववेद में इस प्रकार वर्णन किया है—

“अपूर्वेणैपिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।

वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥”

अथर्व० १०।८।३३॥

एवं वेद स्वयं अपने आप को ईश्वरीय ज्ञान कह रहे हैं। लेकिन यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या वेद की साक्षात् प्रामाणिक मानी भी जा सकती है? यदि किसी धर्मपुस्तक की अन्तःसाक्षी के आधार पर ही उसे ईश्वरीय ज्ञान कहा जा सकता हो तो बायबल और कुरान को तो सब से पहले ईश्वरीय ज्ञान मानना होगा, क्योंकि वे स्थान-स्थान पर जोर-शोर से दावा करती हैं कि वे ईश्वरीय ज्ञान हैं। अन्तःसाक्षी के आधार पर तो ग़लत से ग़लत बात भी ठीक हो सकती है। झूठे से झूठा व्यक्ति भी अपने विषय में बुरी राय देना न चाहेगा। ऐसा होने पर भी हमारी सम्मति में अन्तःसाक्षी की इस प्रकार से उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह तो ठीक है कि केवल अन्तःसाक्षी के आधार पर ही किसी बात को सच मान लेना बुद्धिमत्ता नहीं है, लेकिन साथ ही अन्तःसाक्षी की आवश्यकता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि किसी बात की पुष्टि के लिये अपनी साक्षी के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण ही न हो तब तो उस पर सन्देह किया जा सकता है। पर वेद के विषय में ऐसी बात नहीं है। हम अभी देखेंगे कि किस प्रकार अनेक प्रमाण और युक्तियाँ वेद को ईश्वर-प्रेरित सिद्ध कर रही हैं। ऐसी अवस्था में अन्तःसाक्षी उस सत्य को चमकाने में सूर्य का काम करती है। एक काव्य की भाषा, भाव और शैली उसे कालिदास की कृति मानने के लिये हमें कितना

ही बाधित करती हो, उसमें सन्देह बना ही रहता है। पर यदि शैली के साथ-साथ उसी ग्रन्थ में कहीं उसके कालिदास द्वारा रचे होने का संकेत मिल जाय तब तो उसमें सन्देह की गुंजाइश ही नहीं रहनी। शैली और नाम-संकेत दोनों मिलकर पुष्ट प्रमाण बन जाते हैं। यही बात वेद की अन्तःसाक्षी के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त यदि वेदों की रचना ईश्वरीय न हो कर किसी पुरुष द्वारा ही हुई होती तो उसमें उसके कर्त्ता का उल्लेख ही न हो यह तो समझ में आता है परन्तु किन्हीं दूसरे लोगों ने स्वयं वेदों को बना कर उनमें ही उनका कर्त्ता ईश्वर को लिख दिया हो, बुद्धि इस बात को स्वीकार नहीं करती। कहा जा सकता है कि ऋषियों ने या जो भी वेद के कर्त्ता थे उन्होंने इसका प्रचार करने के लिये इसके साथ ईश्वर का नाम जोड़ दिया। पर यह बात भी बायबल आदि के विषय में तो कही जा सकती है, वेद के सम्बन्ध में नहीं। क्योंकि उन ग्रन्थों में किसी-न-किसी जाति या धर्म विशेष का पक्षपात किया गया है, इसलिये संभव है कि उनके रचयिताओं ने अपने धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिये उन्हें ईश्वर-प्रेरित कह दिया हो। पर वेद में किसी जाति विशेष का पक्षपात न हो कर, उसमें सबके लिये सामान्य सत्य सिद्धान्तों का ही वर्णन है। इसलिये उनके कर्त्ता यदि और कोई थे तो उनको इसे ईश्वरीय ज्ञान कहने का प्रलोभन क्यों हुआ यह समझ नहीं आता। साथ ही कुरान आदि में हम यह भी देखते हैं कि यद्यपि उनका सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ तो दिया गया है पर फिर उनमें पैग़म्बर लोग सर्वत्र अपनी चर्चा करते हुए ही दिखाई देते हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि पैग़म्बर लोग अपने नाम को छोड़ नहीं

सकते थे। पर वेद में सर्वत्र परमात्मा और उसके सत्य नियमों की ही महिमा गाई गई है। इससे यही परिणाम निकलता है कि वेद की अन्तःसाक्षी के विषय में सन्देह करना व्यर्थ है। जो अभियुक्त झूठा होता है उसकी पूर्वापर बातों में असंगति ही उसे झूठा सिद्ध कर देती है, परन्तु सच्चा व्यक्ति अपनी सचाई पर अन्त तक टिका रहता है, उसका आधार दृढ़ होता है। इसी प्रकार जब कि अन्य धर्म पुस्तकें, कुरान आदि अपने ईश्वरीय ज्ञान होने को एक जगह लिख कर भी दूसरी जगह उसका स्वयं खण्डन करती हुई प्रतीत होती हैं, वहाँ वेद सूर्य के प्रकाश की तरह अपने ईश्वरीय ज्ञान होने की सचाई को सर्वत्र एक-सा चमका रहे हैं।

(३) प्राचीन वैदिक साहित्य का प्रमाण

इस प्रकार वेद की अन्तःसाक्षी देख चुकने के बाद अब हम इस प्रश्न पर आते हैं कि इस संबंध में वेद के पिछले साहित्य की क्या दृष्टि है। वेदों के बाद का सबसे प्राचीन साहित्य ब्राह्मण ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। यजुर्वेद के शतपथ, ऋग्वेद के ऐतरेय, सामवेद के छन्दोग्य तथा अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में वेदों की उत्पत्ति लगभग एक से ही शब्दों में वर्णन की है। परमात्मा ने सृष्टि को उत्पन्न करने की इच्छा से तप किया और उसने भिन्न-भिन्न लोकों का निर्माण किया। प्राकृतिक सृष्टि रचने के बाद उसने चार ऋषियों को उत्पन्न करके उन्हें चारों वेदों का ज्ञान दिया। इन ब्राह्मणों में यह वर्णन एक आलंकारिक ढंग से किया है। इनसे यह भी प्रकट होता है कि प्राकृतिक अग्नि, वायु आदि शक्तियों के साथ भी क्रमशः वेदों का संबंध है। दूसरी जगह शतपथ ब्राह्मण में—

“एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसित-
भेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।”

शं० कां० १४। अ० ५। ब्रा० ४। क० १०॥

इन शब्दों में वेदों को परमात्मा का निःश्वास भूत कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि चारों वेद श्वास-प्रश्वास की तरह अनायास ही उस परमात्मा से प्रकट हुए। अन्यत्र कहा है—

“प्रजापतिं वा इदमेक आसीन्नाहंरासीन्न रात्रि
रासीत्। स तपोऽतप्यत तस्मात्तपसश्चत्वारो वेदा
अजायन्त।”

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों को अपौरुषेय ही सिद्ध करते हैं।

उपनिषदों में कई स्थान पर वेदों को ईश्वर की वाणी कहा गया है। अथर्ववेदीय मुण्डको-
पनिषद् में सूर्य, चन्द्र, संवत्सर आदि सबको ईश्वर की कृति बताते हुए वेदों को भी उसीसे प्रकट हुआ-हुआ कहा है—

“तस्माच्च सामयजूंषि दीक्षा

यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।

संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः

सोमो यत्र पवते स सूर्यः।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसृताः

साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।

प्राणापानौ ब्रीहियवौ तपश्च

अद्वा सत्यं ब्रह्मवयं विधिश्च॥” मुं० २।१।६-७॥

इसी उपनिषद् में दूसरी जगह—

“अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्वि-
वृताश्च वेदाः।” २।१।४॥

इस वर्णन में वेद को परमात्मा रूपी पुरुष की वाणी कहा है।

इसी प्रकार श्वेताश्वेतर उपनिषद् में कहा है

“यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं

यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं

मुमुक्षुह वै शरणमहं प्रपद्ये॥” ६।१२

अर्थात् जो मनुष्यों को ज्ञान देता है और जो सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाश करता है उस स्वतः प्रकाश स्वरूप देव की शरण में मैं मुमुक्षु होकर जाता हूँ' वृद्धारण्यक उपनिषद् के—

“स तया वाचा तेनात्मनेदं सर्वमसृजत यदिदं किं चर्चो यजूंषि सामानि यज्ञान् प्रजाः पशून् ।”

बृ० २।५

इस वर्णन में भी ईश्वर को वेदों का स्रष्टा कहा है। मुक्तिकोपनिषद् में राम 'वेदान्ताः के रघुश्रेष्ठ वर्तन्ते कुत्र ते वेद' हनुमान् के इस प्रश्न का इस प्रकार उत्तर देते हैं—

“निश्वासभूता मे विष्णोर्वेदा जाताः सुविस्तराः ।

तिलेषु तिलवद् वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः । मु० ६'

इस वर्णन में भी उपर्युक्त मत का संकेत मिलता है। एवं उपनिषत्कार ऋषि भी वेदों को ईश्वरकृत ही मानते थे यह स्पष्ट है।

यहां एक और बात का संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। ऊपर हमने जो प्रमाण दिए हैं उनको देख कर प्रो० विलियम का कहना है कि वेदों की उत्पत्ति के विषय में वैदिक साहित्य में परस्पर विरोध पाया जाता है। कहीं वेदों को भूत का विश्वास रूप बताया है कहीं, उनकी उत्पत्ति काल से और कहीं यज्ञ से मानी गई है। एक वर्णन उन्हें पुरुष से उत्पन्न हुआ मानता है तो दूसरे वर्णन में वेद ऋषियों की कृति मालूम होते हैं। प्रोफेसर विलियम की यह अद्भुत कालाना इन भिन्न २ वर्णनों के वास्तविक रहस्य को न जानने का ही परिणाम है। वास्तव में यज्ञ, पुरुष, भूत आदि

उसी एक परमात्मा के भिन्न २ नाम हैं यह निरुक्त आदि के वर्णनों से स्पष्ट है। इस लिये इस प्रश्न के अधिक विस्तार में न जाते हुए हम इसे यहीं छोड़ते हैं।

महाभारत में जिसके संबंध में कि उसके रचयिता व्यास का कथन है—“भारतव्यपदेशेन आम्नायार्थश्च दर्शितः” वेदों की उत्पत्ति के विषय में बिल्कुल स्पष्ट कहा है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥”

महा० १२। २३३। २४

सर्वज्ञात् सवशक्तेश्च यतो वेदः समुत्थितः

अज्ञानस्य भ्रमाभावादप्रमाणा न च श्रुतिः ॥

देवी भागवत पुराण

पुराण जिनके संबंध में कि यह सामान्य भ्रम फैला हुआ है कि वे वेद को ईश्वरीय न मान कर ब्रह्मा आदि द्वारा उसकी उत्पत्ति मानते हैं उन ३ भी वेद के ईश्वर-प्रेरित होने का कितना असंदिग्ध वर्णन है यह निम्न उद्धरण से ज्ञात होता है—

“स्वयम्भुरेव भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा ।

शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः समर्त्तारोऽस्य नकारकाः ।

इसी प्रकार विष्णुपुराण में वेद को नित्य और प्रजापति से आविर्भूत हुआ कहा है—

“नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि वैतत् ।

प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पादिस्त्वमे द्वज ॥”

वि० पु० अ० ६

इन अत्यन्त स्पष्ट वर्णनों के होते हुए भी

१. ‘भवन्ति विद्यन्ते पदार्था अस्मिन्निति भूतः परमेश्वरः ।’

कालयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स काल ईश्वरः ।

काल संख्याने

‘पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतर्वा पूरयन्तरित्यन्तरपुरुष मभिप्रेत्य’ । निरुक्त २। १। ३

यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ता याज्यो भव-

चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदा निरमायिषत' इत्यादि जो पौराणिक उक्तियां प्रचलित हैं उन्हें वस्तुरूप में न देख कर आलङ्कारिक ही समझना चाहिए। ईश्वर द्वारा वेदों की उत्पत्ति को ही संभवतः चतुर्मुख ब्रह्मा के द्वारा वेदों का प्रकट होना कहा है। ब्रह्मा का चतुर्मुख होना अलङ्कार रूप से चारों वेदों के प्रकाशक ईश्वर को ही लक्ष्य कर रहा प्रतीत होता है।

इसके बाद प्राचीन वेदभाष्यकारों का इस विषय में क्या मत रहा है यह देख लेना भी उपयोगी है। भाष्यकारों ने वेद मन्त्रों के अधिक आन्तरिक रहस्य को अधिक से अधिक पहिचानने की कोशिश की होगी यह स्पष्ट है। इस लिये इस संबंध में उनका कथन अधिक प्रामाणिक माना जा सकता है। चारों वेदों और ब्राह्मणग्रन्थ आदि के प्रसिद्ध भाष्यकर्त्ता श्री सायणाचार्य अपने अथर्व भाष्य के उपोद्घात में लिखते हैं—

“तस्मादपौरुषेयानित्यत्वाद् विवक्षितार्थत्वाच्च कृत्स्नस्यापि वेदराशेर्ब्रह्म वेदस्यापि व्याख्येयता-सिद्धिः ।”

इसी प्रकार प्रायः सर्वत्र भाष्य करते हुए मंगलाचरणरूप में सायण ने यह पद्य लिखा है—

“यस्य निश्चसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगद् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥”

इससे वेदों के विषय में उनका मत स्पष्ट है।

श्री माधवाचार्य ने भी अपने ऋगभाष्य में वेदों को ईश्वरीय ही स्वीकार किया है—

“मुनिस्तु सर्वविद्यानां भगवान् पुरुषोत्तमः ।

विशेषतश्च वेदानां यो ब्रह्माणमिति श्रुतिः ।

ऋग्वेदादिकमस्यैव श्वसितं ग्राह चापरः ॥”

अन्य भी प्रायः सभी प्राचीन भाष्यकारों ने इसका समर्थन किया है। निदर्शन के लिये उपर्युक्त उद्धरण इस पर पर्याप्त प्रकाश डाल देते हैं।

हमारे प्राचीन साहित्य में दर्शनों का प्रमुख स्थान है। अतः भिन्न-भिन्न दर्शनकारों का इस संबंध में क्या मत है इसका उल्लेख भी विषय की पुष्टि में प्रबल सहायक होगा। न्याय दर्शन में वेदों के प्रामाण्य में हेतु प्रदर्शित करते हुए कहा है—

“मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च

तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । न्याय० २।१।६८॥

अर्थात् आप्तोक्त मन्त्र, आयुर्वेद आदि के प्रामाण्य की तरह, आप्त ईश्वर के द्वारा प्रकट होने के कारण वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये। महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेद-नित्यत्व प्रकरण में इस सूत्र का व्याख्यान करते हुए लिखते हैं :—

“अस्मायमभिप्रायः, यथाप्तोपदेशस्य शब्दस्य प्रामाण्यं भवति तथा सर्वथाप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीतकृत्वाद्देवाः प्रमाणमिति बोध्यम् ।”

वैशेषिक दर्शन में भी वेद प्रामाण्य में यही हेतु दिया गया है।

‘तद्वचनाऽस्मायस्य प्रामाण्यम् ।’ १ । १ । ३ ॥

इस सूत्र के वैशेषिक सूत्रोपस्कार में इसका अर्थ इस प्रकार किया है—“तथा च तद्वचनेनाप्तेनेश्वरेण प्रणयनास्मायस्य वेदस्य प्रामाण्यम् ।”

पातञ्जल दर्शन में सर्वज्ञ ईश्वर को निम्न सूत्र में सृष्टि के आदि में उत्पन्न पूर्व पुरुषों का गुरु कहा गया है—

स एष :—“पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।” पा० १ । सू० २६ ॥

अर्थात् पूर्व ऋषियों को वेद-ज्ञान परमात्मा द्वारा ही दिया होना चाहिए। इसी प्रकार सूत्र-निरतिशय सर्वज्ञबीजम् । योग० १ । २५ ॥”

इस सूत्र पर महर्षि वेद-व्यास का भाष्य इस प्रकार है :—

“यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः, स च पुरुषविशेष इति तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलय-महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्वरिष्यामीति ।”

इसका भी यही तात्पर्य है कि संसारी जीवों पर दया करके ईश्वर ने सृष्टि के आरंभ में अपना ज्ञान दिया ।

वेदान्त दर्शन के—“शास्त्रयोनित्वात् । १।१।३॥” इस सूत्र पर शांकरभाष्य में कहा है—

“महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानो-पबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म । नहीदृश्ये शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति”,

इस प्रकार व्यास और शंकराचार्य ने भी वेदों को अपौरुषेय ही माना है । सांख्य दर्शन में इसी मत को :—

“न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ।”

अ० ५ । सू० ४६ ॥

इस सूत्र द्वारा प्रकट किया है । यद्यपि सांख्य-कार ईश्वर को नहीं मानते ऐसा भी कइयों का विश्वास है और इसलिये वे इस सूत्र का विपरीत अर्थ करते हैं, तथापि यहां हम इस विवाद में नहीं पड़ेंगे ।

मीमांसाकार वेद को नित्य मानते हैं और इसीलिये उनके मत में ईश्वर वेदों का कर्त्ता नहीं है । किन्तु यह मत किसी विरुद्ध बात का प्रतिपादन नहीं करता । वस्तुतः नित्य वस्तु का कर्त्ता हो भी नहीं सकता । वैदिक सिद्धान्त के अनुसार भी वेद नित्य ही हैं । और इसीलिये जहां ईश्वर को वेदों का रचयिता कहा गया है उसका तात्पर्य भी

ईश्वर को वेदों का प्रकट करने वाला ही समझा जाता है । इस प्रकार महर्षि जैमिनी भी किसी विरुद्ध प्रश्न को न रख कर वैदिक सिद्धान्त को ही पुष्ट करते हैं । एवं हमने देख लिया कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य एक स्वर से वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कह रहा है ।।

इस प्रकरण में एक और बात विचारणीय है । कइयों का विश्वास है कि वैदिक साहित्य वेदों के ऋषि-प्रणीत होने की भी साक्षी देता है और इस प्रकार परस्पर विरोध होने से वेदों के ईश्वर-प्रेरित होने को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता । वेद में प्रत्येक सूक्त के ऊपर मन्त्र का ऋषि लिखा रहता है उससे पाश्चात्य विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है कि वेद-मन्त्रों के कर्त्ता भिन्न २ ऋषि हैं । जिस ऋषि को अचानक कोई बात सूझी या किसी दृश्य से वह आकर्षित हुआ तो उसने उसके लिये एक मन्त्र की रचना कर दी । वे रचनायें इसी प्रकार प्रचलित रहीं और किसी विशेष समय में किसी ने उन सबका संग्रह करके उन्हें संहिताओं का रूप दे दिया । हमने देखा है कि वैदिक साहित्य कहाँ तक इस कल्पना के साथ सहमत है ।

कात्यायन ने ऋषि की परिभाषा इस प्रकार की है—“यस्य वाक्यं स ऋषिः” पाश्चात्यों ने इन शब्दों के अनुसार इसका अर्थ किया है कि जिसने जिस मन्त्र भाग की रचना की वह उसका ऋषि है—“The person whose utterance it is, is the Rish of it”. पर वाक्य में इसका अर्थ यही करना चाहिये कि द्रष्टृत्व सम्बन्ध से जो जिस का वाक्य है वह उसका ऋषि है । वैदिक साहित्य में ऋषियों के लिये ‘मन्त्रकृत्’ शब्द का प्रयोग भी मिलता है, जो कि सामान्य लोगों को और भी भ्रम में डाल देने वाला है । परन्तु इस विषय में

हमें उन २ वाक्यों के लिये प्राचीन भाष्यकारों के भाष्य और लेख की पूर्वाग्रह संगति देखने से सत्यान्वेष्टण में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। कात्यायन श्रौत सूत्र के—

“यावन्तो वा मन्त्रकृतः । का० श्रौ० सू० ३।२।९।”

इस सूत्र पर कर्क लिखता है—

“मन्त्रकृतो मन्त्रदृश उच्यन्ते । न हि मन्त्राणां करणं भवति, अनित्यत्वप्रसङ्गात् । तेन दर्शनार्थः कृदित्यध्यवसीयते ।” का० सं० पृ०

इसी प्रकार तैत्तिरीयारण्यक में भी ऋषियों को मन्त्रकृत कहा है ।

“नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः”

पर इस पर सायणाचार्य का भाष्य इस प्रकार है—

मन्त्रकृद्भ्यः मन्त्रं कुर्वन्तीति मन्त्रकृतः । यद्यप्यपौरुषेयवेदे कर्तारो न सन्ति तथापि कल्यादावीश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृत उच्यते ।”

संस्कृत में धातु अनेकार्थक होती हैं। इसके अनुसार ‘कृ’ धातु का अर्थ दर्शन भी है। इसलिये ऋषियों के लिये ‘मन्त्रकृत’ शब्द का प्रयोग देख कर भ्रम में न पड़ जाना चाहिये। ऋषियों के मन्त्र द्रष्टा होने का कई जगह वर्णन मिलता है। यास्काचार्य लिखते हैं—

“ऋषिदर्शनात् । स्तोमान् ददर्शेत्यौगमन्यवः । तद् यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत ऋषयोऽभवन्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते ।” नि० २।१३

एक और स्थल पर कहा है—

“साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः । नि० १।६५”

इससे स्पष्ट है कि यास्क के मत में ऋषि मन्त्र कर्ता न होकर मन्त्र द्रष्टा ही हैं। निरुक्त परिशिष्ट में एक और कथा आती है—

“मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषि प्रायच्छन् । नि० १३।१२

इससे भी यही परिणाम निकलता है कि मन्त्र द्रष्टा ही ऋषि होते थे जिनको लुप्त होता हुआ देख कर लोगों को चिन्ता हुई कि अब हमें इन मन्त्रों का रहस्य कौन समझायेगा। इसके अतिरिक्त ऋषि, देवता, छन्द आदि का निर्देश करने वाले अनुक्रमणीकार भी ऋषियों को मन्त्र द्रष्टा ही समझते हैं।

“गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यन् । सर्वानु २।१”

“वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत् । सर्वा ४।१”

‘सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत् । ७।१”

इत्यादि कथन इसी भाव को पुष्ट कर रहे हैं विष्णु पुराण में—

“शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः समर्तारोऽस्य न कारकाः ।”

इस वचन में स्पष्ट ही ऋषियों के मन्त्रकर्ता होने का निषेध किया है। इस प्रकार हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि वैदिक साहित्य में वेदों के ईश्वरीय होने के सिद्धान्त का कहीं भी व्याघात नहीं हुआ है।

श्री अरविन्द के आश्रम में मैंने क्या देखा ?*

(ले० — श्री पं० देवशर्मा जी आचार्य गुरुकुल काँगड़ी)

(४)

प्रश्न—वहाँ प्रतिव्यक्ति क्या खर्च पड़ता है ?

उत्तर—लगभग ४०) रुपया माहवार । यह बेशक अधिक है ।

प्रश्न—क्या आपने श्री अरविन्द से वेद के विषय में भी चर्चा की ? सुना है आप वेद पर कुछ लिखने के हिसाब से वहाँ गये थे ।

उत्तर—मेरा विचार तो था कि वहाँ एकान्त में बैठकर मैं अपनी 'अग्निहोत्र रहस्य' नामक प्रारम्भ की हुई पुस्तक को पूरा करने का यत्न करूँगा । पर वहाँ जाकर तो संपूर्ण समय अरविन्द के साहित्य के अध्ययन में व ध्यान भजन में ही बीतने लगा और इसी में बीत गया ।

पर वेद के विषय में भी एक आध वार मेरी चिट्ठी पत्री हुई । जैसे कि मैंने उनसे एक-वार पूछा था कि वेद में आने वाला 'प्रथमजाः ऋतस्य' क्या उसी वस्तु को कहने वाला नहीं है, जिसे आप Supermind कहते हैं । उनका उत्तर स्वीकृति-परक ही था ।

यह तो मैं जानता था कि श्री अरविन्द ने भी अध्ययन किया है । उनके Secrets of ved लेखमाला भी अंशतः मैं पहिले कभी देख चुका था । उन्होंने वेद के कुछ सूक्तों का उदाहरणार्थ भाष्य भी किया था । उनके वेद सम्बन्धी विचार मुझे अच्छे लगे हैं, अपने मन

* इस सम्बन्ध में दो लेख आर्य के पिछले अंकों में जा चुके हैं ।

के अनुकूल लगे हैं । ऋषि दयानन्द की भाष्य प्रणाली को पसन्दगी दिखाने वाला उनका लेख आर्यपुरुषों में प्रसिद्ध ही है ; जो कि कभी हमारी "वैदिक मैगज़ीन" में छपा था ।

प्र०—श्री अरविन्द का अपना दैनिक कार्यक्रम क्या रहता है ?

उ०—उनसे कोई मिलता तो है ही नहीं, अतः निश्चित रूप से उनका कार्यक्रम शायद ही कोई जानता हो । परन्तु फिर भी आश्रम वासी लोगों से जो कुछ पता लगता है ; उसी के आधार पर मैं कुछ बता सकता हूँ ।

वे सोते तो दो-तीन घंटा ही हैं । वह सोना भी आराम लेना ही कहा जाना चाहिये । फिर शेष २०-२२ घण्टे वे कुछ-न-कुछ करते ही हैं । ऐसा मालूम होता है कि उनका बहुत सा समय ध्यान व विज्ञानमय Supermental शक्ति द्वारा नाना-विध कार्य करने में जिन में साधकों को सहायता पहुँचाना भी है व्यतीत होता होगा । कुछ समय शायद उनकी अपनी उस साधना को दृढ़ करने व बढ़ाने में भी लगता होगा जिस (विज्ञानमय शक्ति द्वारा भौतिक जगत् पर प्रभाव डालना) के अनुभव कर लेने पर वे इस तरह एकान्त सेवी हो गये हैं । यह मैं कह ही चुका हूँ कि करीब ६ घण्टे उनके प्रतिदिन साधकों के पत्रों के उत्तर देने में या उनकी दिनचर्या पुस्तकों (डायरी बुक) को देखने और निर्देश लिखने में व्यतीत होते हैं । सुना है यह लिखने का काम वे अधिकतर रात्रि को ११ बजे के

बाद करते हैं। आजकल वे रात्रि को १० बजे के करीब स्नान करते थे। और दोपहर ११ बजे तथा रात्रि १० बजे दो बार कुछ भोजन लिया करते थे। उनका भोजन गो दुग्ध, फलों का रस तथा शाक आदि स्वल्प मात्रा में है। उनके यहाँ जो थाली पहुँचाई जाती है उसमें से अपने लायक चीज़ लेकर शेष छोड़ देते हैं। उनकी दिनचर्या के विषय में मैंने ही कुछ अपूर्ण सी बातें बता सकता हूँ।

प्र०—क्या वे आजकल कोई पुस्तक लिख रहे हैं ?

उ०—नहीं, जब से आर्य पत्रिका उन्होंने बन्द की है तब से उन्होंने वास्तव में कुछ भी सार्वजनिक वस्तु नहीं लिखी (व प्रकाशित की) है। उस के बाद जो उनकी Mother आदि पुस्तकें निकली हैं वे पुस्तकों के तौर पर नहीं लिखी गई हैं। उनके यहाँ जो साधक रहते हैं उनके किये गये श्रमों के उत्तरों के ही संग्रह से ये पुस्तक बन गयी है। साधक लोग जो प्रतिदिन उनसे चिट्ठियाँ लिखकर पूछते हैं उन में जिन उत्तरों को श्री अरविन्द सब साधकों के लिये उपयोगी समझते हैं उन पर चिह्न कर देते हैं, तो वे उत्तर टाईप करके वहाँ के सूचना पट्ट (Notice Board) पर टाँग दिये जाते हैं। बहुत से साधक उसकी नकल करके अपने पास रख लेते हैं। श्री अरविन्द के ये वचन भी दो प्रकार के हैं। एक वे जिन्हें कि बाहर के लोगों को भी दिया जा सकता है दूसरे वे जो कि विशेषतः आश्रमवासियों के लिये ही हैं। पहिले प्रकार के लेखों को हो किसी क्रम विशेष में लाकर आम लोगों के हित के लिये पुस्तक रूप में प्रकाशित कर दिया है। इसी प्रकार The Mother 'Riddle of the Universe' तथा 'Rights on yoga' आदि पुस्तकें बन गई हैं। कई आर्य

के लेखों को ही पुनः पुस्तकाकार में संशोधित रूप में मुद्रित कर देने से बन गई हैं।

प्रश्न—क्या वे फिर राजनीति क्षेत्र में आवेंगे ?

(इसका उत्तर प्रथम लेख में दिया जा चुका है)

प्रश्न—आप को वहाँ की कई बातें (जैसे खादी न पहनना) पसन्द नहीं है तो भी आप को वहाँ जाने का आकर्षण क्यों हुआ ?

उत्तर—वेशक वहाँ जाकर भी उनकी कई बातें पूरी तरह समझ नहीं सका हूँ। खादी का ही वस्त्र पहिनने का नियम न होना जैसे भोजन आदि का नियम है, बल्कि स्वदेशी तक का व्रत न होना, रोज़ फलों का इतना व्यय होना, माता जी का नित्य नई रेशमी साड़ी पहिनकर आना, उनके मिलने आदि में कुछ आडम्बर प्रतीत होना तथा गुप्तता रखनी पर (जैसा कि पहले कह चुका हूँ) कि इन सबके दूसरे पक्ष को भी जानता हूँ अतएव मुझे इन बातों के कारण उनमें ज़रा भी अश्रद्धा नहीं पैदा हुई। खादी व स्वदेशी के बारे में उनका दृष्टिकोण का भेद मैं बता चुका हूँ। वही बात फूलों व रेशम के बारे में कही जा सकती है। आडम्बर तो बहुत बार अन्दर की बात न जानने से भी प्रतीत होता है। (जैसे वहाँ प्रणाम व ध्यान में सम्मिलित होना भी आवश्यक नहीं है, ये दोनों कार्य वहाँ स्वभावतः विकसित हुये हैं ये माता जी की तरफ से चलाये नहीं गये हैं)। और आध्यात्मिक व सामूहिक प्रकार से आध्यात्मिक उत्थान के कार्यों में गुप्तता के महत्त्व को भी मैं भली भाँति समझता हूँ।

मैं वहाँ कैसे आकृष्ट हुआ या पहुँचा इसकी कथा लम्बी है। पहिले पहिले उनके यहाँ से निकली Yogic Sadhna ने मुझे आकृष्ट किया। इस पुस्तक को मैंने दसों बार पढ़ा है। और कइयों को पढ़ाया है। सन् १९२८ में अकेले रहते हुवे श्री अरविन्द की

Essays on Gita पुस्तक पढ़ते हुवे मुझ पर एक दिन जो अद्भुत सा प्रभाव हुआ उससे मैं श्री अरविन्द को तभी से मन से एक गुरु सा मानने लगा था। पर उनके पास जाने की इच्छा मुझे कभी न हुई थी।

वहाँ जाना कुछ अनायास ही हो गया। गत वर्ष १९३४ के नवम्बर में बम्बई कांग्रेस से लौटकर जब मैं अहमदाबाद ठहरा हुआ था। तो वहाँ एक मित्र ने मुझे माता जी की लिखी एक पुस्तक देकर कहा कि आप इसे पढ़िये। मैंने कहा कि मैं पुस्तक बहुत कम पढ़ता हूँ, लाओ समय मिलेगा तो देखूँगा कि पढ़ डालूँ या नहीं। परन्तु जब उन्होंने यह भी साथ बताया कि यह पुस्तक माता जी की आज्ञा से ही मिल सकती है तो मैंने वह पुस्तक लेने से इन्कार कर दिया। पर मन में सोचा कि यदि मेरे एक पुराने मित्र कृष्णशम्भू जी (जो कि कभी अरविन्द आश्रम में रहे हैं। पर जिनका पता मुझे बहुत वर्षों से मालूम न था) मिल जायें तो उनसे कहकर यह पुस्तक मंगवाऊँगा। अचानक ऐसा हुआ कि मैं ज्योंही अहमदाबाद से देहली पहुँचा तो मुझे ये कृष्णशम्भू जी दस बरसों के बाद आ मिले। इन से मुझे श्री अरविन्द के दर्शन की तीन तारीखें पता लगीं। उनके लिखने से और मेरी प्रार्थना से मुझे वह पुस्तक मिल गई। वह पुस्तक भी मुझे बड़ी अच्छी लगी। साथ ही श्री अरविन्द के दर्शन कर लेने की भी कुछ इच्छा जागृत हुई। तो भी मैंने इतना ही सोचा था कि यदि मेरी तीनों बाधायें हट जायें तो मैं इस बार के अपने दो महीने (कई वर्षों से वसन्त ऋतु के दो महीने अकेला रहकर कुछ वेद

पर लिखने का मेरा क्रम चल रहा है) पांडिचेरी में ही बिता दूँ। तीन बातें यह थीं :—

(१) मुझे दर्शन की इजाजत मिल जाय।

(२) गांधी सेवा संघ से मुझे दो मास की छुट्टी मिल जाय।

(३) वहाँ जाने आने का खर्च मुझे कहीं से मिल जाय।

ये तीनों बातें बिल्कुल अनायास ही हो गईं, बस इसीलिये मैं वहाँ चला गया। वहाँ जाने का और कुछ कारण नहीं पता। वहाँ जाने की मेरी विशेष उत्कण्ठा न थी। पर अब समझता हूँ कि वहाँ जाना मेरे लिये बड़ी कल्याण की बात हुई। इससे मुझे अपनी स्थिति का ज्ञान हो गया है।

प्रश्न—श्री अरविन्द और उनके आश्रम के विषय में इधर कुछ मालूम नहीं होता ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि वे अपने प्रचार (प्रोपेगण्डा) में विश्वास नहीं रखते। वे स्पष्ट देखते हैं कि जो सत्य है वह स्वयमेव प्रकट होता है। सूर्य की तरह उदित होता है। और उससे जो लाभ उठाना चाहते हैं वे स्वयं उसके लिले आकृष्ट होते हैं। १०-११ वर्ष पहिले की बात है जब कवींद्र रवींद्रनाथ टागोर योरोप जाने लगे तो वे श्री अरविन्द से मिलने आये। उस समय उन्होंने श्री अरविन्द से कहा कि आप यूरोप के लिये अपना कुछ सन्देश दीजिये जिसे मैं वहाँ जाकर सुनाऊँ। इस पर श्री अरविन्द का उत्तर यह था कि मैं सत्य को दूसरों के दवाँजे पहुँचाने में विश्वास नहीं रखता (I do not believe in truth to an othersdoor) जिसको मुझसे कुछ लेना होगा वह मेरे पास आयेगा।



ऋषि दयानन्द और सङ्गीत

(ले० विनयचन्द्र हिन्दी प्रभाकर)

स्वामी दयानन्द के जीवन तथा कार्यों के विभिन्न पहलुओं पर अनेकों सुविज्ञ लेखकों की उच्चकोटि की रचनाएं पाठकों ने पढ़ी होंगी। वैदिक धर्म के उद्धारक, राष्ट्र भाषा के प्रचारक, स्वदेशी के समर्थक, तथा स्त्री जाति के हितैषी आदि २ विविध रूपों में उनका स्मरण किया जाता रहा है। परन्तु हम यहाँ एक ऐसे विषय की ओर निर्देश करेंगे जो कि अब तक लगभग अज्ञात ही रहा है और जिस पर सम्भवतः किसी ने भी कृतम नहीं उठाई है। इन पंक्तियों द्वारा ऋषि के सङ्गीत सम्बन्धी विचारों का पाठकों को दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जायेगा।

आर्य समाज पर एक आक्षेप लगाया जाता है कि वह एक शुष्क तथा नीरस संस्था है, सङ्गीत जैसी उच्चकोटि की ललित कला की उसने उपेक्षा की है। यह आक्षेप अनेक अंशों में सत्य भी है। आर्य समाज में ऐसे महानुभावों की कमी नहीं है जो सङ्गीत की ओर से सर्वथा उदासीन हैं। बहुतों की सम्मति में यह कला न केवल उपेक्षणीय प्रत्युत हानिकर भी है। कइयों के लिये शास्त्रोक्त गायन अथवा वादन की चर्चा भी पाप है, सुनना तो अलग रहा। और नृत्य की तो बात ही मत पूछिये। उस का तो नाम ही सुन कर नये बैल की तरह भड़क उठते हैं। कदाचित् वह सोचते होंगे कि शृङ्गार रस और संगीत, इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। परन्तु सङ्गीत के प्रति आर्य समाज की उदासीनता के और भी कई कारण हैं। और उन में से मुख्य है ऋषि दयानन्द के सङ्गीत-विषयक

विचारों के सम्बन्ध में भ्रान्ति अथवा अनभिज्ञता। जो स्वामी जी के विचारों से अनभिज्ञ हैं उन के बारे में हमें कुछ नहीं कहना है। जो उद्धारण ऋषि के ग्रन्थों से हम आगे चल कर देंगे उनसे वह सन्तुष्ट हो जावेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। परन्तु जो ऋषि को सङ्गीत का विरोधी समझते हैं वे हमारे निवेदन पर ध्यान देने की कृपा करें।

यह ठीक है कि स्वामी जी के ग्रन्थों के कतिपय सन्दर्भों से ऐसा आभास होता है कि वह सङ्गीत के विरोधी थे। पर थोड़ा ध्यान से परखने पर यह बात कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। प्रथम तो यह कि गाने बजाने अथवा नाचने का निषेध उन्होंने ने ब्रह्मचारी के लिये ही किया है, गृहस्थी के लिये नहीं। और उस प्रकरण को भी पूरा पढ़ने पर ज्ञात होता है कि वे शृङ्गार रस के अश्लील अथवा कुरुचिपूर्ण भ्रष्ट सङ्गीत के विरोधी थे। इस के प्रमाण में हम स्वामी जी का यह वाक्य उद्धृत करते हैं :—

“..... भड़वे वेश्या और विषयासक्ति कारक वैरागियों के गर्दभ-शब्दवत् आलाप कभी न करें।

(सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास पृष्ठ ८३)

उक्त उद्धारण से स्पष्ट है कि उनकी सम्मति में सङ्गीत का विकृत और कुत्सित रूप ही निषिद्ध था। आज कल की सिनेमा व थियेटर की चलती हुई तर्ज़ें, वासनापूर्ण ग़ज़ल ठुमरी और वेश्याओं के कामोत्तेजक नृत्य इस के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। परन्तु सङ्गीत कला के वास्तविक और विशुद्ध पवित्र रूप के सिखाने का तो

उन्होंने ज़ोरदार शब्दों में आदेश किया है। संस्कार-विधि के वेदारम्भ-प्रकरण पृ० १२० पर वह लिखते हैं :—

“साम ब्राह्मण और पदादि तथा गान सहित सामवेद को दो वर्ष के भीतर पढ़ें और पढ़ावें।”

आलोचक कह सकते हैं कि यहाँ पर तो साम-गान मात्र का ही वर्णन है। परन्तु संस्कार-विधि के इसी पृष्ठ पर आगे चत्त कर ऋषि असन्दिग्ध शब्दों में सङ्गीत तथा उसके अति सूक्ष्म भेदों की शिक्षा का विधान करते हैं :—

“सामवेद का उपवेद गान्धर्व वेद, जिस में नारद-संहितादि ग्रन्थ हैं, उनको पढ़ के स्वर, राग, रागिणी, समय, वादित्र, ग्राम, ताल, मूर्च्छना आदि का अभ्यास यथावत् तीन वर्ष के भीतर करें।”

यही नहीं उनके सर्वोपरि ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में भी ब्रह्मचारी के शिक्षा प्रकरण में इस से मिलते जुलते शब्दों में ही सङ्गीत की शिक्षा का वर्णन आया है :—

“गन्धर्व वेद, जिस को कि गानविद्या भी कहते हैं उस में स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें, परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्र पूर्वक सीखें और नारद संहिता आदि जो आर्षग्रन्थ हैं उन को पढ़ें।”

(सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास पृ० ८३)

उक्त उद्धरण में तो नृत्य की शिक्षा का भी स्पष्ट विधान है। हम समझते हैं कि पूर्वोक्त सन्दर्भों को पढ़ लेने के बाद इस शंका के लिये कोई भी स्थान

नहीं रह जाता कि स्वामी जी सङ्गीत के नृत्य, गीत अथवा वादित्र आदि प्रत्येक भेद के विरोधी थे। इतना ही नहीं प्रत्युत यह भी निर्विवाद रूप से प्रतिपादित होता है कि वे इस कला की शिक्षा के प्रबल समर्थक थे और यह था भी स्वाभाविक। क्योंकि ऋषि आर्य संस्कृति के उपासक थे जिस में अत्यन्त प्राचीन काल से ही सङ्गीत को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। लौकिक दृष्टि से आनन्द के उत्कृष्टतम साधनों में से यह एक है ही। साथ ही वैदिक भक्तिमार्ग में भी इसे बहुत ऊँचा आसन मिला है। चार वेदों में से एक का सीधा सम्बन्ध सङ्गीत से है। सामगान सङ्गीत का एक अत्यन्त उच्च और महत्वपूर्ण अंग है।

स्थान और समय के अभाव से हम इस विषय को और अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। सम्भवतः अब पाठक ऋषि के सङ्गीत-सम्बन्धी विचारों से भली भाँति परिचित हो गये होंगे। अतः उन का कर्तव्य है कि वे इस कला को अपने जीवन में स्थान दें। हार्मोनियम और खड़ताल के क्षेत्र से आगे बढ़ कर उच्चकोटि के सङ्गीत का रसास्वादन करने में वे प्रयत्नशील हों। आर्य समाज के शिक्षणालयों के पाठ्यक्रम में भी सङ्गीत की शिक्षा अपेक्षित है। सङ्गीत के प्रचार के और विभिन्न साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए, जिससे भविष्य में किसी को यह शिकायत करने का अवसर न मिले कि आर्य समाज सङ्गीत जैसी महत्वपूर्ण कला की उपेक्षा कर सकने वाला एक शुष्क और अरस्तिक समाज है।



तन्त्र और पशु-हिंसा निषेध

(लेखक—श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी महाराज)

साधारणतया लोक में प्रसिद्ध है कि तन्त्र मांस, सुद्रा, मीन, मैथुन, मदिरा आदि वामाचार का निरूपण करते हैं। शाक्त तन्त्रों के विषय में यह लोक प्रसिद्धि सोलहों आने सत्य है, किन्तु वैष्णव तन्त्र मांसादि के घोर विरोधी हैं। पाठकों की सेवा में आज एक वैष्णव-तन्त्र के कुछ उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ। तान्त्रिक लोग सभी तन्त्रों को शिवप्रोक्त मानते हैं। जिस तन्त्र के उद्धरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, उसका नाम 'सात्वततन्त्र' है। नारायण से प्राप्त कर शिवजी ने नारद के प्रति उसका उपदेश किया है। काशी के चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ में वह प्रकाशित हुआ है।

नारद जी के प्रश्न के उत्तर में शिवजी कहते हैं—

कामात्मा निरनुक्रोशः पशुघातं समाचरन् ।

पशुलोमसमं वर्षं नरके परिपच्यते ॥१०॥

यज्ञे पशोरालम्बने नैव दोषोस्ति यद्वचः ।

अपि प्रवृत्ती रागिणां निवृत्तिस्तु गरीयसी ॥११॥

कृत्वान्यदेवतापूजां पशुं हत्वा नराधमाः ।

यदि ते स्वर्गं यान्ति नरकं के तदा ॥१२॥

स मां पुनर्भक्षयिता यस्य मांसमदाम्यहम् ।

इति मांसनिरुक्तं वै वर्णयन्ति मनीषिणः ॥१३॥

विष्णुभक्तिं समाश्रित्य पशुघातं समाचरन् ।

कृत्वान्यदेवतापूजां भ्रष्टो भवति निश्चितम् ॥१४॥

अष्टम पटल, पृष्ठ ५८

भावार्थः—निर्दयी कामी पशुहत्या करने वाले पशु

के रोमों के बराबर वर्षों तक पकता है ॥११॥ “यज्ञ

में पशुहिंसा में दोष नहीं है।” यह वाक्य भी राग-

युक्त पुरुषों की प्रवृत्ति (का सुखक है) किन्तु (हिंसा

से) निवृत्ति बड़ी चीज़ है ॥१२॥ दूसरे देवता की पूजा करके और पशु की हत्या करके नीच मनुष्य यदि स्वर्ग को जाते हैं, तब नरक को कौन जाते हैं ॥१३॥ ‘जिसका मांस मैं खाता हूँ, वह फिर मुझको खाएगा, बुद्धिमान् लोग इस प्रकार मांस की निरुक्ति वर्णन करते हैं ॥१४॥ यह बात निश्चित है कि विष्णुभक्ति का आश्रय लेकर पशुहत्या करने वाला दूसरे देवों की पूजा करके भ्रष्ट हो जाता है ॥१५॥ कितने प्रबल शब्दों में पशु हिंसा का निषेध है। सत्यार्थप्रकाश में पशुहिंसा का निषेध करते हुए ऋषि दयानन्द सरस्वती जी ने चार्वाकों का एक श्लोक दिया है, पौराणिक भाई उस पर आक्षेप किया करते हैं कि देखो स्वामी जी ने अपने पक्ष की पुष्टि में नास्तिकों का प्रमाण दिया है। वास्तव में तो स्वामी जी युक्ति दे रहे हैं। किन्तु यह तन्त्र तो, पौराणिकों के अपने मतानुसार पार्वतीपति श्री शिवजी की रचना हैं इसमें का ऊपर उद्धृत हुआ १२ वां श्लोक सर्वथा उसी आशय का है।

इतना ही नहीं। नवम पटल में नारद जी ने शिवजी से कहा है कि आपके मुख से हिंसा निषेध सुन कर मुझे संशय हो गया है क्योंकि वेद ने तो यज्ञ-कर्म में हिंसा का विधान किया है। इस आशङ्का का समाधान शिवजी से इस प्रकार कराया गया है।

विधिनैवास्ति हिंसायामभ्यनुज्ञा यतः कृता ।

अतो निवृत्तिर्हिंसायां यज्ञेपि कथिता बुधैः ॥१६॥

हिंसा परमो धर्मः सर्ववर्णाश्रमोदितः ।

स च आचरितो नृणामभीष्टफलदो भवेत् ॥४०॥
विशेषतो विष्णुभक्ता हिंसाकर्म त्यजन्ति हि ।

अहिंसया हि भूतानां भगवानाशु तुष्यति ॥४१॥

मयापि ह्यागमे हिंसा विहिता या विधानतः ।

सापि कामुकलोकानां कामिताफलसिद्धये ॥४२॥

विष्णुभक्ता न वाञ्छन्ति मत्तोपि कियदेव हि ।

अतस्तेषां विधानेपि हिंसा निन्द्या

प्रकीर्त्तिता ॥४३॥

ये तु नैवविदोऽशान्ता मूढाः पण्डितमानिनः ।

यजन्त्यविरतं देवान् पशून् हत्वा सुखे

च्छया ॥४४॥

कामभोगावसानं तं ते छेदस्यन्ति विनिश्चि-

तम् ॥४५॥

भावार्थ—चूँकि अभ्यनुज्ञा की है, इस वास्ते हिंसा करने में विधि नहीं है । इस वास्ते विद्वानों ने यज्ञ में भी हिंसा से निवृत्ति ही कही है ॥३९॥ सब वर्णों और आश्रमों में अहिंसा को परमधर्म कहा है । उस का आरक्षण मनुष्यों को अभीष्ट फलों का देने वाला है ॥४०॥ विशेष कर विष्णुभक्त तो हिंसा कर्म को छोड़ ही देते हैं, क्योंकि प्राणियों की हिंसा न करने से भगवान् शीघ्र प्रसन्न होते हैं ॥४१॥ मैंने भी आगम में हिंसा का जो विधान किया है, वह

कामी लोगों की कामना सिद्धि के लिए है ॥४३॥

विष्णुभक्त तो मुझ से कुछ भी नहीं चाहते हैं । इस

वास्ते विधान होने पर भी हिंसा उनके लिए

निन्दित है ॥४४॥ इस बात को समझने वाले,

पण्डिताई का घमण्ड करने वाले अशान्त मूर्ख सुख

की इच्छा से लगातार पशुओं को मार कर देवों

की पूजा करते हैं ॥४०॥ काम-भोग की समाप्ति पर

वे पशु उसको काटेंगे, यह निश्चित है ॥४५॥

इन श्लोकों पर विवेक टिप्पणी करने की आव-

श्यकता प्रतीत नहीं होती । ये अपनी व्याख्या आप

ही हैं । हिंसकों को 'मूढ़, अशान्त, पण्डितमानी,

रहस्य न समझने वाले' विशेषणों से स्मरण किया

गया है । शिव के मुख से अन्य देव पूजा की निन्दा

तथा विष्णु पूजा का महत्व कहलाया गया गया

है । इसका निपटारा शैव-वैष्णव आपस में करें, हमें

हस्ताक्षेप करने की आवश्यकता नहीं । किन्तु

शिवजी ने आगम (तन्त्र) में किए गए हिंसा-

विधान का जो समाधान दिया है, वह अवश्य

ध्यान देने योग्य है । अन्त में हिंसा का कुफल ही

बताया है । अहिंसा से भगवान् शीघ्र प्रसन्न

होते हैं, यह भी भक्तों को उत्साह देने वाली

वस्तु है ।

—:—

प्रचारार्थ मुफ्त बांटने के लिए

ट्रैक्ट

(१) सदाचार शिक्षा (उर्दू) इसमें सदाचार के ५० नियमों पर प्रकाश डाला गया है ।

ले०—पं० ठाकुरदत्त, अमृतधारा । पृष्ठ २४ मूल्य ॥ ५० से अधिक खरीदने पर ॥ प्रति ट्रैक्ट ।

(२) वैदिक प्रमाणों से वेद का अर्थ—वेद भाष्य की विविध शैलियों पर प्रकाश डाला

गया है । ले०—प्रो० रुलियाराम एम० ए० सी० । पृष्ठ २० । मूल्य ॥ सौ प्रतियों का मूल्य २)

संपादकीय

अन्धविश्वास—

जनता में फैले हुए अन्ध विश्वास बड़ी कठिनाई से छूटते हैं। सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान का प्रचार होजाने पर भी अनेक वार देखा गया है कि जनता में कई प्रकार के अन्धविश्वास घर किये रहते हैं। यूरोप और अमेरिका के देशों में जहां कि ज्ञान-विज्ञान और बुद्धिवाद का गहरा राज्य समझा जाता है अब भी कई प्रकार के अन्धविश्वास जनता में फैले हुए हैं। परन्तु भारतवर्ष में जहां शिक्षित लोग लहुत कम हैं और ज्ञान-विज्ञान का प्रचार नहीं के बराबर है अन्धविश्वास सर्वसाधारण में बहुत मज़बूती के साथ जमे हुए हैं। इन लोगों में यदि किसी प्रकार अन्धविश्वास एकवार घुस जाय तो वह फिर निकल नहीं सकता। इन बुद्धि विरुद्ध विश्वासों से लोगों को कई वार बड़े क्लेश भी उठाने पड़ते हैं पर फिर भी वे इन्हें छोड़ने के लिये उद्यत नहीं होते। कितनी ही वार तो इन अन्धविश्वासों की बदौलत मनुष्यों के प्राण तरक चले जाते हैं। अभी पिछले दिनों वेलोर की घटना है कि एक स्त्री के भूत विषयक अन्धविश्वास के कारण प्राण जाते रहे। उस स्त्री के किसी प्रकार का रोग था। पर समझा यह गया कि उस में कोई दुष्ट भूत घुस कर उसे तंग कर रहा है। एक भूत उातरने वाले को बुलाया गया। भूत को भगाने के लिये उस स्त्री को भयंकर कष्ट दिए गये। उन्हें स्त्री सह न सकी और वह मर गई। यह इस प्रकार की अनेकी घटना नहीं

है। ऐसी घटना आए दिन होती रहती हैं। पिछले दिनों एक “भूताविष्ट” स्त्री को तपे हुए भाड़ में सुला दिया गया था और वह जल कर मर गई थी। जब कि किसी योग्य वैद्य या डाक्टर का इलाज कराने से इस प्रकार के रोगियों को आराम आ सकता है तब यह देख कर कि इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण उपाय प्रयोग में लाये जाते हैं सचमुच दुःख होता है। इन अन्धविश्वासों को दूर करने का वास्तविक उपाय अशिक्षित जनता में समुचित ज्ञान का प्रसार ही है। आज अनेक संस्थायें खुल गई हैं जो ग्रामीण जनता की उन्नति करना अपना लक्ष्य रखती हैं। क्या हम आशा करें कि ये संस्थायें और-और बातों के साथ ग्रामीण जनता में अन्धविश्वासों को दूर करने का प्रयत्न भी करेंगी।

अछूतों पर कठोरता—

दक्षिण भारत के कई स्थानों में अस्पृश्यता अपने भयंकर रूप में प्रचलित है, यह किसी से छिपा नहीं है। निम्न अवस्थाओं में हरिजनों को रहना पड़ता है वे तबियत को बिदका देने वाला हैं। मन्दिरों में जा सकने की तो बात ही जानें दीजिये, सार्वजनिक सड़कों पर भी वे लोग नहीं चल सकते। जब तक हरिजन अपने को हिन्दू कहते हैं तब तक उन्हें इन सब कठोरताओं को सहना पड़ता है। पर ज्योंही वे हिन्दू धर्म को छोड़ कर किसी अन्य धर्म में चले जाते हैं उन पर ये अत्या-

चार बन्द हो जाते हैं। कोचीन में अभी हाल में ऐसा ही हुआ है। कहते हैं कि एक थिया का जो नया ही सिख बना है कुछ सिख नेताओं के साथ उन्हीं सड़कों पर जलूस निकाला गया। जिन पर उसके हिन्दू थिया भाइयों का चलना मना है। इस जलूस से स्थानीय अछूत लोगों में बड़ी हल-चल मची। परन्तु क्या हिन्दू लोगों को इस घटना से विचार की सामग्री मिली? क्या उन लोगों को यह देख कर कि एक अछूत, जो कल तक हिन्दू था और इसीलिये सार्वजनिक सड़कों पर नहीं चल सकता था, हिन्दू न रहने पर उनकी आँखों के आगे सड़कों पर चल रहा है, शर्म न आई? क्या हिन्दू धर्म अन्य धर्मों से नीचा है? हिन्दू रह कर तो एक आदमी एक अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता, परन्तु हिन्दू धर्म छोड़ कर दूसरा धर्म स्वीकार कर लेने पर उसे वही अधिकार प्राप्त हो जाता है, इस से क्या यह सिद्ध नहीं होता कि हिन्दू धर्म में दूसरे धर्मों की अपेक्षा आदमी को ऊँचा उठाने की कम शक्ति है? सचमुच हिन्दू धर्म को वर्तमान अवस्था बहुत खेद-जनक है। हिन्दू धर्म के अनुयायियों और नेताओं को हिन्दू धर्म की वर्तमान अवस्था पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये। और अपने धर्म में मूर्खता-वश घुस गई ऐसी सारी बातों को निकाल डालना चाहिये, जिन से कोई व्यक्ति सार्वजनिक अधिकारों से वञ्चित कर दिया जाता है। कोचीन जैसी देशी रियासतों के शासकों से हम निवेदन करेंगे कि उन्हें कानून का प्रयोग करके भी अछूतों पर होने वाले इन कठोरताओं को रोकना चाहिए। जब तक हिन्दू धर्म में से यह अछूत समस्या का कलङ्क नहीं हट जाता है तब तक हिन्दू जनता और हिन्दू धर्म दोनों का ही भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

सर्वनाश की ओर—

गत योरोपीय महायुद्ध के पीछे संसार के राष्ट्र युद्ध की संसारकरी भयङ्करता से घबरा उठे थे। युद्ध मानव सभ्यता के लिये घातक वस्तु है, भविष्य में राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों को सुलझाने के लिये युद्ध का आश्रय नहीं लिया जाना चाहिये—ऐसी भावनायें उस समय सभी राष्ट्रों के निवासियों में प्रबल वेग से उठने लगी थीं। उन्हीं भावनाओं का परिणाम स्वरूप “राष्ट्रों की महा सभा” (लीग आव नेशन्स) की स्थापना हुई। समझा यह जाने लगा था कि “लीग आव नेशन्स” की स्थापना से संसार से युद्ध सर्वथा ही मिट जायेंगे—राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़े लीग की छत्रछाया में शान्ति से निपट जाया करेंगे। लीग की स्थापना के अतिरिक्त कई राष्ट्रों में अपने शस्त्रास्त्रों को एक निर्धारित मर्यादा में रखने के लिये संधियों की गईं। राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण करने के लिये कई बार कान्फ्रेंस बुलाई गईं। मानव जाति के दौर्भाग्य से, इतना होने पर भी, संसार से युद्ध की विपत्ति नष्ट नहीं की जा सकी। ऐसा प्रतीत होना है मानो गत युद्ध का पाठ मनुष्य समाज शीघ्र ही भूल गया। राष्ट्रों में युद्ध से पूर्व की साम्राज्य लिप्सा फिर से जाग उठी। प्रत्येक राष्ट्र अपने साम्राज्य को बढ़ाने के लिये छिपे-छिपे शस्त्रास्त्र बढ़ाने लगा। सब राष्ट्रों में परस्पर अविश्वास फैल गया। की हुई सन्धियों तोड़ी जाने लगीं और निःशस्त्रीकरण सभाओं का ढोंग गर्भ में ही मर गया। केवल लीग आव नेशन्स में लोगों की हलकी सी आशा केन्द्रित रह गई। दो-तीन अवसर आये जिनमें लीग अपनी शक्ति और उपयोगिता का परिचय दे सकती थी। परन्तु लोगों ने देखा कि लीग में भी राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़े शान्ति-पूर्वक सुलझा कर प्रबल

राष्ट्रों से निर्बल राष्ट्रों की रक्षा करने की सामर्थ्य नहीं है। विगत इटली और अबीसीनिया के झगड़े में लीग ने कुछ-कुछ जीवन के चिह्न दिखाये भी। इटली को अपराधी और आक्रामक ठहराया गया। उसके आक्रमण को निर्बल करने के लिये इटली पर कुछ आर्थिक प्रतिबन्ध भी लगाये गए। परन्तु ये प्रतिबन्ध इतने अनमनेपन और इतनी मन्द गति से लगाये गये कि इटली के आक्रमण से अबीसीनिया की रक्षा न हो सकी। आवश्यकता इस बात की थी कि लीग के राष्ट्र इटली के विरुद्ध युद्ध के लिए तैयार हो जाते। लीग यह न कर सकी और अबीसीनिया की इटली से रक्षा न हो सकी और इस प्रकार लीग के देखते देखते एक स्वतन्त्र राष्ट्र पराधीन बना लिया गया। आज यह स्थिति है कि लीग का कुछ भी प्रभाव नहीं रह गया है। जर्मनी, जापान और इटली लीग की कोई परवाह नहीं करते और न ही राष्ट्रों से की हुई किसी संधि की परवाह करते हैं। सब संधियों को तोड़ कर वे अपना साम्राज्य फैलाने में लगे हुए हैं और इसके लिए वे सब उचित और अनुचित उपायों को प्रयोग में लाते हैं। दूसरे राष्ट्र भी शान्त नहीं बैठे हैं। वे भी युद्ध की तैयारी में जी जान से लगे हुए हैं। जल-स्थल और आकाश के युद्ध में प्रयोग करने के लिए भयङ्कर से भयङ्कर

शस्त्रों का निर्माण किया जा रहा है। प्रत्येक राष्ट्र के राष्ट्रीय बजट में युद्ध के लिए बड़ा भारी भाग रखा जाता है। यह अवस्था हो गई कि प्रत्येक राष्ट्र युद्ध के लिये तैयार एक कैम्प की तरह है। न जाने किस दिन एक विश्वव्यापी संग्राम छिड़ पड़े। कई सीमाओं पर आग सुलग रही है केवल उसके भभक पड़ने भर की देर है। न जाने वह किस दिन भभक कर सारे विश्व को अपनी ज्वालाओं में ले ले। आज संसार की यह अवस्था क्यों है? आज संसार इस प्रकार सर्वनाश की ओर क्यों बढ़ा जा रहा है? इसका कारण है योरोपीयन सभ्यता की अर्थ-प्रधानता और तज्जन्य लोभ प्रधानता। जब तक योरोप के राष्ट्रों में भारत की त्याग-प्रधान और इसीलिये निर्लोभिता प्रधान वैदिक सभ्यता का प्रचार नहीं होता तब तक संसार युद्धों द्वारा होने वाले सर्वनाश से बचाया नहीं जा सकता। जब तक रुपया ही सब कुछ है तब तक लोग सम्पत्ति के साधनों को बढ़ाने में लगे ही रहेंगे और इसमें कपट और झगड़े भी होते ही रहेंगे और उन्हें निपटाने के लिये युद्ध भी अवश्यम्भावी रहेगा। पर आज भारत के लोगों को अपनी त्याग, तप निर्लोभिता प्रधान सभ्यता को विश्व में फैलाने की कहां चिन्ता है?

—००—

पुस्तक परिचय

पौराणिक पोलप्रकाश (प्रथम भाग)—लेखक पण्डित मनसारां जी आर्योपदेशक; प्रकाशक आर्यसहित्य मन्दिर, हस्पताल रोड, लाहौर। पृष्ठ संख्या ७४३, मूल्य २)

पौराणिक पण्डित कालूराम शास्त्री ने “आर्य समाज की मौत” नामक एक पुस्तक लिखी है। उसमें आर्य समाज के सिद्धान्तों पर कई सौ आक्षेप

किये गये हैं। सनातन धर्म के शास्त्रार्थी पण्डितों में पण्डित कालूराम का एक विशेष स्थान है। इसलिये उनकी पुस्तक से आर्यसमाज के सम्बन्ध में विशेष भ्रान्ति फैलती थी। पण्डित मनसारां जी ने अपनी प्रस्तुत पुस्तक में उक्त सभी आक्षेपों का युक्ति और प्रमाण-पूर्वक प्रबल समाधान किया

है। पुस्तक बड़ी योग्यता से लिखी गई है। प्रत्येक आर्य के पास यह पुस्तक रहनी चाहिये। हमें पुस्तक का नाम पसन्द नहीं आया। पुस्तक में इतना पौराणिक पोल-प्रकाश नहीं है जितना आर्यसमाज के मन्तव्यों का मण्डन है। इसलिये नाम भी तदनुरूप ही होना चाहिये था। छपाई और कागज़ अति साधारण हैं। प्रूफ संशोधन की अशुद्धियाँ भी रह गई हैं। फिर भी पुस्तक संग्रह करने योग्य है।

वेद में इतिहास नहीं—लेखक पं० प्रियरत्न जी आर्य, प्रकाशक आर्य साहित्य विभाग आर्य प्रादेशिक सभा, लुधौर, पृष्ठ संख्या २१६, मूल्य ॥१)

पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। वेद के जिन स्थलों के आधार पर उसमें इतिहास होने की बात कही जाती है, योग्य लेखक ने प्रायः उन सब पर बड़ी योग्यता से विचार किया है। निरुक्त के इस विषयक स्थलों पर भी विशेष विचार किया गया है। ऋषि मन्त्रों के कर्त्ता हैं या नहीं इस की विवेचना करते हुए आपने कई मार्मिक बातें लिखी हैं। पुस्तक प्रत्येक वेद-प्रेमी के हाथ में रहनी चाहिये। पुस्तक की छपाई साधारण है और प्रूफ संशोधन की अशुद्धियाँ भी रह गई हैं।

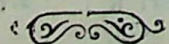
वेद का राष्ट्र-गान—लेखक, राजनाथ पाण्डेय; प्रकाशक शारदा लिमिटेड नई सड़क देहली; पृष्ठ संख्या ७०, मूल्य १)

अथर्व वेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त पृथ्वी सूक्त कहलाता है। इसमें कवितामय ढंग में यह उपदेश दिया गया है कि किसी देश-भक्त को अपनी मातृ-भूमि के प्रति किस प्रकार के भाव अपने हृदय में रखने चाहिये। वेद के इस सूक्त की

कविता संसार के काव्य-साहित्य में एक अनोखी और अद्भुत चीज़ है। सूक्त बड़े-बड़े ६३ मन्त्रों का है। इन मन्त्रों में अपने राष्ट्र के प्रति जो उदात्त भाव प्रकट किये गये हैं वे संसार के प्रचलित राष्ट्रीय गीतों में उपलब्ध नहीं हो सकने। यह सूक्त भारतीय ही नहीं, अपितु विश्व-भर के साहित्य का एक अनमोल सूक्त है। प्रस्तुत पुस्तक में वेद के इसी सूक्त का कवितामय हिन्दी अनुवाद है। अनुवाद बहुत सरस और सुन्दर हुआ है। मन्त्रों के भाव की यथासम्भव पूरी रक्षा करने की कोशिश की गई है। अनुवाद के छन्द का चुनाव भी सूक्त के भाव के अनुरूप ही हुआ है। पाठकों की सुविधा के लिए हिन्दी के प्रत्येक पद्य के सम्मुख उसके मूल संस्कृत मन्त्र और उसके सरल शब्दानुवाद को रख दिया गया है। यद्यपि वेद के कई शब्दों के अनुवाद में मत-भेद हो सकता है तो भी अनुवाद बहुत सुन्दर हुआ है, यह हम निःसंकोच भाव कह सकते हैं। पुस्तक बहुत बढ़िया कागज़ पर सुन्दर आकार-प्रकार में छपी है। प्रत्येक वेद प्रेमी को एक प्रति अवश्य रखनी चाहिये।

पुत्रेष्टि यज्ञ अथवा सुखी गृहस्थ—लेखक और प्रकाशक श्री सुन्दर शर्मा गौर काव्य-वेद तीर्थ; पृष्ठ संख्या २०० मूल्य १॥१)

पुस्तक में गृहस्थ-जीवन जगभग सभी पहलुओं पर विचार किया गया है और स्थान-स्थान पर वेदादि शास्त्रों के उपयुक्त उद्धरण देते हुए ऐसे उपाय बताने का प्रयत्न किया गया है जिन से गृहस्थ अपने जीवन को सुखी बना सकते हैं। इस विषय पर निकली हुई कई पुस्तकों से यह पुस्तक अधिक अच्छी है।



अर्थ सम्पत्ति किया है। 'अभिद्युवः' यह कहा सो अभिद्यु नाम अर्धमासों का है। इस लिये यह दर्श पौर्णमास के उपदेशों द्वारा देदीप्यमान अर्धमासों की ओर निर्देश करके कहा। क्योंकि अभिद्यु का अर्थ है देदीप्यमान। और यहां प्रकरण वश देदीप्यमान अर्धमास ऐसा अर्थ हुआ। फिर आगे कहा "हविष्मन्तः" सो हविष्मान् नाम पशुओं का है। सो यह पशुओं को लक्ष्य करके कहा है। ६। आगे पद पड़ा है 'घृताच्या', इस पर एक कथा कहते हैं। विदेह के राजा माथव मुख में वैश्वानर अग्नि धारण किये हुए थे। यहां कार्य कारण के अभेद से वैश्वानर अर्थात् विश्व-भर के नरों के हितकारी विद्वान् के हृदय में जलने वाली विश्व कल्याण के सङ्कल्प की ज्वाला को भी वैश्वानर कहा है। उस प्रबल अग्नि को विदेह का राजा माथव अपने मुख में धारण किये हुए था अर्थात् वह अग्नि प्रज्वलित होने के लिये राजा के मुख से निकलने वाली आज्ञा की प्रतीक्षा में थी। गोतम राहूगण ऋषि उन के पुरोहित थे। वह बारम्बार राजा को इस प्रकार के प्रचार के लिये शासन बनाने और आज्ञा निकालने के लिये प्रेरणा कर रहे थे। परन्तु राजा को यह संकोच था कि मेरे मुख से निकली आज्ञा सारी प्रजा के जीवन पर गहरा प्रभाव रखती है। उस के अनुकूल चलने वाले सैकड़ों को प्रसाद और विपरीत चलने वाले सहस्रों को दण्ड मिल सकता है। अतः मैं बिना पूर्णरूप से

सोचे कैसे आज्ञा निकाल दूं। १०। पुरोहित ने राजा से कहा "वीतिहोत्रन्त्वा कवे शुमन्तं समिधीमहि अग्ने वृहन्तमध्वरे विदेघ" अर्थात् "हे वीतिहोत्र, हे अन्नदाता, उद्देश्य पूर्तियों के साधन ढूँढ निकालने वाले क्रान्तिदर्शिन दीप्तिमान् राजन् आप अग्निरूप हैं इस महान् अध्वर में हम आप को दीप्त करते हैं। आप सब में अन्नदायिनी विद्या का प्रचार कीजिये, हे विदेहराज।" राजा ने इस 'अन्नदाता' की पुकार पर बारम्बार आमन्त्रण करने पर भी कान न दिया कि कहीं मेरे मुख से अग्निरूप आज्ञा न निकल जावे। ११। फिर पुरोहित ने कहा "उदग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते तव ज्योतीष्यर्चयो विदेघ।" अर्थात् "हे विदेह राजरूप अग्ने! तुम्हारी पवित्र उज्ज्वल पूजा के योग्य ज्योतियां चमचमाती हुई उठ रही हैं।" अर्थात् आप इस प्रकार के परमोच्च कोटि के विद्वानों की अग्नि द्वारा प्रजा का कल्याण कीजिये। १२। परन्तु राजा ने नहीं सुना। तब फिर पुरोहित ने मन्त्र पढ़ा। "तन्त्वा घृतस्नवीमहे।" अभी पुरोहित ने इतना कहा ही था कि घृत का नाम लेते ही वैश्वानर अग्नि मुख से भड़क आया और राजा उसे न रोक सके। वह राजा के मुख से निकल पड़ा और वह इस पृथिवी पर आया अर्थात् अन्न अथवा पूजा के भाव पर विद्या का प्रचार राजा को समझ न आया। किन्तु

स्निग्ध उपायों से (जिनमें से एक को अलङ्कार शास्त्रकारों ने कान्तासम्मित शब्द कहा है) प्रचार करने का नाम सुनते ही राजा ने आज्ञा दे दी और वह पाप-दाहक अज्ञानान्ध-कार निवारक अग्नि धरती पर फैल पड़ी। १३। उस दिन से विदेह राज को दिन रात यही धुन सवार थी। वह दिन रात सरस्वती में डूबे रहते थे। आगे-आगे अज्ञान का दाह करती हुई, अविग्धों को विदग्ध बनाती हुई, अग्नि जाती थी और पीछे-पीछे विदेघ माथव और गोतम राहूगण चलते थे। जो नदी राह में आई इस अग्नि को न बुझा सकी। यह आग सब नदियों को लाँघती चली। परन्तु अन्न को उत्तर पर्वत से जो सदानीरा नदी दौड़ती आती है उसके किनारे आकर ठहर गई। उसे न लाँघ सकी। इसीलिये उस समय ब्राह्मण उस नदी को नहीं लाँघते थे। कहते थे कि जंगली लोगों में जाकर क्या लेंगे जिन्हें वैश्वानर अग्नि ने अपनी पवित्र दाह शक्ति द्वारा पवित्र नहीं किया। १४। परन्तु अब उस नदी के पूर्व किनारे तक बहुत से ब्राह्मण जा बसे हैं। पूर्व काल में यह भाग भी निवास योग्य क्षेत्र नहीं था। फूटे बर्तन की तरह ज्ञान रस इसमें न ठहरता था। इस भाग की वैश्वानर अग्नि ने आस्वादन नहीं किया था। अर्थात् यहाँ विद्या प्रचार की सीमा थी। विद्वान् लोग विदेह राजधानी में रहते और पूर्व तट को स्पर्श करते। परन्तु डेरा नहीं करते थे। नदी पार जाने की तो बात ही क्या थी। १५। परन्तु आज (शतपथब्राह्मण

के ज़माने में) वह सदानीरा का पूर्व तट भी निवास योग्य बन गया है। क्योंकि ब्राह्मणों ने इस भूमि को यज्ञ द्वारा पवित्र कर दिया है। यह नदी बीच गर्मी के दिनों में भी कुपित रहती है। मानों कहती है कि सब जगह सूर्य तप रहा है पर मैं ठण्डी की ठण्डी हूँ अब तक वैश्वानर अग्नि ने मेरा दाह नहीं किया।

इससे पता लगता है कि आर्य लोग जब तिब्बत से आए तो वे पहिले विदेह में बसे। अन्यत्र भी उनकी बस्तियाँ थी जिनमें विद्वान् रहते थे। परन्तु उनमें साधारण प्रजा में शिक्षा प्रचार का भाव न आया। कहीं तो लोग अर्थकरी विद्या सीखते थे और कहीं कुछ विद्वान् अपने विद्याभ्यास में मस्त थे। परन्तु उन्हें प्रजा में विद्या प्रचार का ध्यान न था। जो प्रजा में प्रचलित थी वह वीतिहोत्र अर्थात् खाने-कमाने की विद्या थी। वह वैश्वानर (Popular) तो थी परन्तु अग्नि (Education) नहीं थी। कहीं-कहीं विद्वानों में बड़ी उच्च कोटि की विद्या रूप अग्नि (Education) तो थी परन्तु वह वैश्वानर (Popular) नहीं थी। इन दो अंशों वैश्वानर (Popular) तथा अग्नि (Education) को मिल कर वैश्वानर अग्नि (Popular+Education) बनाने का विचार पहिले-पहिल विदेहराज माथव के पुरोहित गोतम राहूगण के मस्तक में उठा। तब से विद्या के दुर्ग बनने लगे और विदेहराज-जनक और महर्षि याज्ञवल्क्य (शतपथ काल) के काल में यह विजय-यात्रा कोसल विदेहों की

मर्यादा सदानीरा नदी तक पहुंच गई। उस के पश्चात् महाराज दशरथ के काल में हम कोसल को एक पवित्र विद्या और शिक्षा का केन्द्र पाते हैं। इससे पता लगता है कि यह विदेह-राज जनक पीछे से कुल की उपाधि हो गई। अतएव रामायण काल में भी फ्रांस के लुइयों की भांति जनक वंश का कोई जनक (सीता महारानी के पिता) विदेह में राज्य कर रहा है। किन्तु यह जनक याज्ञवल्क्य के साथ संवाद करने वाले जनक से भिन्न है। इससे यही ज्ञात होता है कि सभ्यता पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ती गई। और समय के चक्र से पूर्व विदेह की अपेक्षा भी कोसल में अधिक बढ़ गई। और आज भारत को छोड़ कर उससे भी पश्चिम में चली गई है। इस कथा से पता लगता है कि भारत में सर्व साधारण में शिक्षा के स्निग्ध उपायों द्वारा प्रचार का विचार सब से पहिले गोतम राहूगण के मस्तक में आया। हाय आज इस ऋषि की इस कथा का किसी को भी ज्ञान नहीं। वस्तुतः यह ऋषि भारत के इतिहास में कभी न भूलने योग्य हैं। १६। अब विदेह माथव कहने लगे कि मैं कहां डेरा लगाऊं अर्थात् मेरी सारी आयु तो प्रचार में लगी अब मैं क्या करूं। वैश्वानर अग्नि ने मानो विदेह से कहा कि अब तुम सदानीरा से पूर्व की ओर एक बड़ा विद्या पीठ बना कर रहो। सदानीरा से पूर्व की ओर का सारा राज्य तुम्हारा ही है। बस वही सदानीरा नदी आज

इस अनधिकार चेष्टा के लिये इतिहासवित्त हमें क्षमा करेंगे। १७। अब गोतम राहूगण एक दिन राजा से पूछने लगे कि आपने पहिले-पहल मेरी बात क्यों न सुना। राजा बोले कि राजा को अपना उत्तरदायित्व सदा समझना चाहिये, उसके मुख से निकला एक वचन लाखों मनुष्यों का भाग्य निर्णय कर देता है। यह वैश्वानर अग्नि मेरे मुख में था। मुझे भय था कि कहीं मेरे मुख से निकल न जावे। इसीलिये मैंने प्रत्युत्तर न दिया। १८। फिर गोतम ने पूछा कि अब आप बोल पड़े यह कैसे हुआ। राजा बोले कि ज्योंही आपने “घृतस्त्रवीमहे” यों कहा, बस घृत का नाम लेते ही वैश्वानर अग्नि मेरे मुख में भड़क उठा। मैं उसे रोक न सका। अर्थात् जब आपने अन्न द्वारा विद्या प्रचार की बात कही वह मेरे दिल में न जमी। जब आपने अत्यन्त उच्च कोटि के कुछ विद्वान् इकट्ठे करने की बात, कही वह भी मेरे दिल में न जमी। यह दोनों काम तो अन्यत्र भी हो रहे थे। जब आपने प्रेम के सहारे सारी भी कोसल और विदेहों की सीमा है और वह विदेह ही माथव हैं।

पं० जयचन्द्र विद्यालङ्कार की सम्मति में यह राप्ती नामक नदी है। वस्तुतः कौनसी है सो इतिहासज्ञ जानें। यह हमारा क्षेत्र नहीं है। यह जो प्रसङ्ग से बाधित होकर हमने इतिहास के क्षेत्र में चक्षुपात किया है प्रजा में विद्यानुराग उत्पन्न करने की बात

कही तो मैं ने भी आज्ञा निकाल दी । १९। सो सामिधेनियों में जहाँ कहीं घृत का वर्णन है वही वस्तुतः सामिधेनियों का सार है । उसी से यह प्रदीप्त होती है । वह घृत वाक्य ही इन्हें वीर्यवती करते हैं । २०। इसीलिये कहा 'घृताच्या ।' आगे कहते हैं—देवान् जिगाति सुम्रयुः" । सो सुम्रयु नाम यजमान का है । वह देवों को विजय करना चाहता है । अथवा देवों को प्राप्त होना चाहता है । इसीलिये कहा "देवान् जिगाति सुम्रयुः ।" इस ऋचा में यह विचित्रता है कि यद्यपि यह अग्नि की ऋचा है परन्तु इस में अग्नि का कहीं स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है । बस जहाँ किसी एक का नाम न लिया जावे उस में सब समा जाते हैं । अतः इस में सब आ गये । यहाँ हम पूरी ऋचा देकर उसका अर्थ लिखते हैं । ऋचा इस प्रकार है—

प्र वो वाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो
घृताच्या देवान् जिगाति सुम्रयुः ।
ऋ० ३।२७।१

होता कहता है—“हे मनुष्यो ! यह अन्न तथा अर्घ्यमांस, अर्थात् तुम्हारी सम्पत्ति और तुम्हारा समय दोनों ही, 'प्र' अर्थात् प्रकर्ष उत्पन्न किये जाने पर, स्नेह वरिणी (घृताची) शक्ति की कृपा से तुम्हारे लिये पालतू जानवर की भाँति स्वयं तुम्हारी सेवा करने वाले तथा इशारे पर चलने वाले बन जाते हैं । और तुम्हें अपनी सेवा देने के लिये मानो तुम्हें पुकारते हैं (हविष्मान् बन जाते हैं) ।

अतएव यह यजमान उस घृताची अर्थात् स्नेह-वरिणी शक्ति को पाने के लिये विद्वानों के पास जाता है (जिस के बल से संसार-भर के पदार्थ हम से ऐसा प्रेम करने लगेँ जैसे पालतू जानवर स्वामी से) ।”

यहाँ एक बात बड़ी ध्यान देने योग्य है । ब्राह्मण में यहाँ “जिघांसति” शब्द का प्रयोग प्राप्त करना चाहता है इस अर्थ में किया है । और सायण तक को “जिघांसति हन्तुम् प्राप्तुमिच्छति हन्तिरत्र गत्यर्थः”, ऐसा लिखना पड़ा है । यह 'हन्' धातु का प्रयोग आगे चल कर उन प्रकरणों पर बड़ा प्रकाश डालेगा जिन को पशुयाग-वादी पशु-वध में लगाते हैं । २१।

अब दूसरी सामिधेनी पढ़ता है:—

“अग्नऽआयाहि वीतये” (ऋ० ६। १६। १०) इति । तद्वेति भवति वीतय-इति समन्तिकमिव ह वाऽइमेऽग्रे लोका आसुरित्युन्मृश्या हैव द्यौरास ॥२२॥ ते देवा अकामयन्त । कथं नु न इमे लोका वितराँ स्युः कथं न इदं वरीय इव स्यादिति तानेतैरेव त्रिभिरक्षरैर्व्यनयन् वी-तयऽति त इमे विदूरं लोकास्ततो देवेभ्यो वरीयोऽभवद्वरीयो ह वाऽअस्मै भवति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुर्वीतय इति । २३। “गृणानो हव्य दातय” (ऋ०

६।१६ १०) इति । यजमानो वै हव्य-
दातिर्गृणानो यजमानायेत्येवैतदाह
“नि होता सत्सि बर्हिषी” (ऋ० ६।१६।
१०) त्यग्निरै होतायं लोको बर्हिरस्मि-
न्नेवैतल्लोकेऽग्निं दधाति सोऽयमस्मि-
ल्लोकेऽग्निर्हितः सैषमुमेव लोकमभ्यनृक्के-
मुमेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एता-
मन्वाहुः । २४।

सामिधेनी इस प्रकार है:—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्य
दातये । नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ ऋ०
६।१६।१०

अब याज्ञवल्क्य इसकी व्याख्या करते हैं । पहिले कह आए हैं कि ‘प्र’ वाली ऋचाएं पड़ताल की, परीक्षा की, ऋचाएं हैं । अतः प्रथम सामिधेनी में यह बताया है कि होता का कर्तव्य क्या है । यजमान, होता आदि देवों के पास क्यों आता है । उत्तर मिला कि यजमान के समय और सम्पत्ति को हविष्मान् बनाने के लिये । अब कोई होता अपना कार्य कर रहा है या नहीं इसकी पड़ताल इसी बात से होगी कि वह यजमान के समय और सम्पत्ति को हविष्मान् बनाता है या नहीं । अब अगली ऋचा आवाहन की है यजमान होता को बुलाता है । यदि कोई यजमान होता को आदर पूर्वक न बुलाएगा तो वह उससे कार्य न ले सकेगा । इसलिये अगले मन्त्र में एक विद्वान् ब्राह्मण का आवाहन

है—“हे अपनी विद्या के व्यवहार को आगे खेंच कर ले जाने वाले अग्र+नी=अग्नि विद्वन् ! आप हमारे परस्पर निःशङ्क संचार के लिये आइये और होता बन कर इस बर्हि पर बैठिए ।” सो यह ‘आ’ वाली ऋचा हुई । पहिले यह लोक परस्पर एक दूसरे के समीप से थे, और यह द्यौः ऐसे थी मानो हाथ ऊंचा करके तारे तोड़ लें । २२। तब देवों ने सोचा कि यह लोक परस्पर दूर-दूर कैसे हो जावें, कैसे हमारे संचार के लिये खुजा अवकाश हो जावे । तब उन्होंने लोकों को यह आज्ञा दी—“वीतये” । तब से यह लोक दूर-दूर हो गए । बस जो इस ऋचा के मर्म को इस प्रकार जानता है और जिस जानने वाले के लिये यह सामिधेनी उच्चारण की जाती है, उसके लिये भी सञ्चार का खुजा अवकाश (वरीयः) हो जाता है । २३। आगे चल कर कहते हैं “गृणानो हव्यदातये” सो हव्यदाति नाम यजमान का है । इसलिये यजमान के लिये उत्तम पदार्थों का वरण करता है, यह कह रहा है । आगे कहता है “नि होता सत्सि बर्हिषि” सो अग्नि होता है और यह लोक बर्हि है । सो इस लोक में अग्नि की स्थापना करता है । यह स्थूल भौतिक अग्नि भी इस लोक में निहित है, सो यह ऋचा भी इस लोक की ओर ही इशारा करती है । इस का इस प्रकार मर्म जानने वाले के लिये जब यह कही जाती है तो यजमान इस लोक को (अर्थात् पृथिवी के समान आधारभूत, विजय कर लेता है । २४।

तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार यह सृष्टि सब एक स्थान पर गड़बड़ (Jumbled) थी, परन्तु उस परम अग्नि परमात्मा ने जब एक प्रकार के परमाणुओं को एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया तो यह लोक लोकान्तर बन गए, और उन में सञ्चार का खुला अवकाश हो गया, इसी प्रकार विद्वान् होता भी जिस लोक (Department) को संभालता है उस में पड़ी सब गड़बड़ वस्तुओं को यथा-स्थान विन्यस्त कर देता है। इस का फल है यथेच्छ सञ्चार। ठीक क्रम में विन्यास करने से बहुत से पदार्थ थोड़े स्थान में आ जाते हैं तथा सञ्चार के लिये अवकाश बन जाता है। दूसरी ओर अस्त-व्यस्त पड़े हुए थोड़े से भी पदार्थ बहुत स्थान घेर लेते हैं। बस चतुर विद्वान् का यही कार्य है कि वह अवकाश उत्पन्न करदे। यही 'वीतये' का भाव है। दूसरी बात यह कि होता का कर्त्तव्य है कि वह यजमान का भला चाहे, और यजमान का कर्त्तव्य है कि वह विनम्र होकर उस से प्रार्थना करता रहे कि आप मेरा कल्याण करें। तीसरी बात यह है कि होता (Expert) का कर्त्तव्य है कि वह अपने लोक में आसन जमा कर बैठे। इधर उधर भटके नहीं।

अब अगली सामिधेनी के विषय में कहते हैं :—

“तन्त्वा समिद्धिरङ्गिरः” (ऋ० ६।१६।१७)
इति समिद्धिर्ह्येतमङ्गिरस ऐन्धताङ्गिर
इत्यङ्गिरा उह्यग्निः “घृतेन वर्धयामसी” (ऋ०

६।१६।११) ति तत्सामिधेनम् पदम् समेवैनं तेनेन्धे वीर्यमेवास्मिन् दधाति । २५। “बृहच्छोचा यविष्ठये” (ऋ० ६।१६।११) ति बृहदु ह्येष शोचति समिद्धो यविष्ठयेति यविष्ठो ह्यग्निस्तस्मादाह यविष्ठयेति सैषैन मेव लोकमभ्यनृक्कान्तरिक्षेलोकमेव तस्मादाग्नेयी सत्यनिरुक्कानिरुक्को ह्येष लोक एतमेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः । २६।

“तीसरी सामिधेनी इस प्रकार है :—

तन्त्वा समिद्धिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि
बृहच्छोचा यविष्ठये । ऋ० ६।१६।११

इसकी व्याख्या शतपथकार इस प्रकार करते हैं :—

“अगली सामिधेनी पढ़ता है” तन्त्वा समिद्धिरङ्गिरः ।” (अंगिरः पर देखो पृष्ठ ७४-७५) इस का भाव यह है कि अङ्गारे समिधाओं के सहारे इस अग्नि को प्रदीप्त करते हैं। अथवा यों ही क्यों न कहें कि अङ्गारे ही अग्नि हैं। बस विद्वान् को भी अङ्गारों के समान निर्धूम जलने वाला होना चाहिये। अपने आपको लोकोपकार के लिये जला दे। शेष कुछ न रखे। न पास बैठों की आँखों में धूँआँ दे। फिर आगे कहता है—“घृतेन वर्धयामसि ।” सो यह सामिधेनी का विशेष पद है सो ऊपर कह आए हैं। सो इस पद द्वारा इस में शान्ति स्थापित करता है । २५। आगे कहते हैं—“बृहच्छोचा यविष्ठये” सो अग्नि में प्रदीप्त होने से बड़ी लपटें निकलती

हैं। आगे कहते हैं—“यविष्ठ्य” सो अग्नि के दो काम हैं मिश्रण और वियोजन। रसायन शास्त्र में पदार्थों के विश्लेषण तथा संश्लेषण दोनों में ही अग्नि काम करता है। इसलिए कहा कि “यविष्ठ्य”, क्योंकि अग्नि यविष्ठ है। खुब मिश्रण और अमिश्रण करती है (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। यह ऋचा इस अन्तरिक्ष लोक को लक्ष्य करके कही गई है। इसी लिये यद्यपि अग्नि की ऋचा है परन्तु इस में किसी का नाम नहीं। जैसे अन्तरिक्ष नामरूप रहित है ऐसे ही इस में अग्नि का नाम नहीं। इसके द्वारा वह अन्तरिक्ष लोक को जीतता है जिस इस प्रकार जानने वाले के लिये यह पढ़ी जाती। २६।

अब सम्पूर्ण सामिधेनी का अर्थ यों हुआ :—“हे अङ्गारों के सदृश जाज्वल्यमान विद्वन् ! हम आप को अनेक प्रकार के स्नेह-युक्त तथा ज्ञानोद्दीपक साधनों से बढ़ाते रहें, आप बड़ी दीप्ति वाले और सब से बड़े जोड़ने तोड़ने वाले हैं।”

तात्पर्य यह कि विद्वान् केवल अपने विभाग में वर्गीकरण द्वारा सुख सञ्चार के लिये अवकाश ही उपत्पन्न करके न रह जाय। उस का कर्तव्य है अङ्गारों के समान अपने आप को विद्याग्नि के लिये जलाता रहे। उस की लपटें निकलें और नए से नए जोड़ तोड़ करता रहे। जिस से नए परीक्षणों द्वारा उस विभाग में ज्ञान वृद्धि हो। साथ ही यजमान का कर्तव्य है कि विद्वान् रूपी अग्नि को घृत

अर्थात् प्रेम और समित् अर्थात् उपकरणों से बढ़ाता रहे।

अब चौथी सामिधेनी के विषय में कहते हैं :—

“स नः पृथुश्रवायमि” (ऋग्० ६। १६। १२) इति। अतो वै पृथु यस्मिन् देवा एतच्छ्रवायं यस्मिन् देवा “अच्छा देव विवाससी” (ऋग् ६। ६। १२) त्यच्छं देव-विवासस्येतन्नो गमयेत्येवैतदाह। २७। “बृहदग्ने सुवीर्यम्” (ऋग्० ६। १६। १२) इति। अतो वै बृहद्यस्मिन् देवा एतत् सुवीर्यम् यस्मिन् देवाः सैषैतमेव लोकमभ्यनूक्ता दिव-भेवैतया लोकं जयति यस्यैवं विदुष एता-मन्वाहुः। २८।

चौथी सामिधेनी इस प्रकार है :—

स नः पृथुश्रवायम् अच्छा देव विवाससि बृहदग्ने सुवीर्यम् ऋ० ६। १६। १२।

इस का अन्वय कुछ कठिन है इस लिये अन्वय भी देते हैं :—“हे देव अग्ने स (पूर्वो-क्तस्त्वं) नः पृथु बृहत् श्रवायम् सुवीर्यम् अच्छ विवाससि”

अब इस की शतपथानुसारिणी व्याख्या लिखते हैं :—

“होता पड़ता है, “स नः पृथुश्रवा-यम्।” सो वह जो द्युलोक है यही पृथु है जिस में सूर्यचन्द्रादि देव रहते हैं। यही श्रवाय है जिस में देव रहते हैं। आगे कहते हैं, ‘अच्छा देव विवाससि।’ सो यह वस्तुतः ‘अच्छ देव विवाससि’ है। इस का भाव है, भगवन् ! बड़े कृपालु हो। हमारी बड़ी सेवा करते हो कि हमें प्रकाश देते हो। तात्पर्य

यह कि ऐसी प्रकाशमय अवस्था तक हमें भी पहुंचाइये बस वह यही कहता है । १७ । आगे कहता है “वृहदग्ने सुवीर्यम् ।” वही अवस्था बड़ी है जहां देव रहते हैं । वही शान्ति-भरा धाम है जहां देव रहते हैं । सो यह ऋचा इस लोक अर्थात् देवलोक को लक्ष्य करके कही गई है । सो इस प्रकार इस ऋचा का मर्म जानने वाले जिस के लिये इसे पढ़ते हैं वह देव लोक को विजय करता है । २८ ।”

संसार में दो प्रकार के देव हैं । एक जड़, एक चेतन । सूर्य चन्द्रादि जड़ देव हैं और विद्वान् चेतन । दोनों ही हमें अनेक प्रकार का सुख देते हैं । तथा दोनों ही अपने गुणों से देदीप्यमान हैं अतः देव कहलाते हैं । अत एव प्रायः एक से दूसरे को उपमा रूपकादि दिये जाते हैं । व्याकरण का सूर्य, साहित्य का चन्द्रलोक, सिनेमा (cinema) के स्टार (star) आदि शब्द यह बताते हैं कि एक देवलोक दूसरे देवलोक के लिये उपमान का काम देता है । सो यही बात यहां कही गई है । वेद में “अग्नि आयाहि वीतये”, “तन्त्वा समिद्धिरङ्गिरः” तथा “स नः पृथु अवाय्यम्”, यह तीनों ऋचा एक दूसरे के पश्चात् पड़ी हैं (ऋ. ६। १६, १०—१२) । इन में जो परस्पर क्रम है उसे शतपथकार ने पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ के दृष्टान्त से समझा दिया । प्रत्येक विभाग के वेद-पारङ्गत अधिष्ठाता (होता) का कर्तव्य है कि वह अपने विभाग को हाथ में लेते ही सब से पहिले

अव्यवस्था को व्यवस्था में लाये । कार्य-क्रम तथा उपकरण-क्रम बनाए । यथेच्छ सञ्चार के लिये स्थान उत्पन्न करे । यह विभाग की उन्नति की सब से पहली सीढ़ी है अर्थात् क्रम में लाना ।

संविधान तथा वर्गीकरण (Planning and Classification) यह विभाग का पृथिवी लोक है । दूसरे मन्त्र में अग्नि में जलना अर्थात् अविरत श्रम (hard work) लपटें निकलना (Enlightened work), तथा मिश्रणमिश्रण (Experimentation) का अङ्गिरः, वृद्धोचा तथा यविष्ठय इन तीनों शब्दों में वर्णन है । यह तीन अन्तरिक्ष लोक हैं । फिर विस्तार (Propaganda), सुख्याति (Advertisement) लोकहितकारी शक्ति का सञ्चय तथा विशाल सञ्चय आते हैं । यह तीसरी अवस्था है । यह द्युलोक है । आज-कल संसार के तीनों लोक उलटते हैं । सब काम सुख्याति से आरम्भ होते हैं और अधिकांश सुख्याति में ही लीन हो जाते हैं । इन को ओर मन्त्र में पृथु, अवाय्य, वृहत् और सुवीर्यम् इन शब्दों द्वारा निर्देश है । अब मन्त्र का अर्थ यों है :—

“हे इस विभाग के अधिष्ठाता देव अग्ने (विद्वन् !) आप हमारी ऐसे अच्छे प्रकार से सेवा करते हैं कि जिससे पृथु (विस्तार युक्त) अवाय्य (यशस्वी) वृहत् (बड़े) और सुवीर्य (शक्तिशाली) हो जाते हैं (अतः हमें भी इस देवलोक तक पहुंचाइये जिस में आप सूर्य की भांति पृथु, वृहत्, सुवीर्य, अवा-

उजाले हुए हैं

यदि आप वैदिक साहित्य का स्वाध्याय करना चाहते हैं तो सभा के साहित्य विभाग में दर्शन देकर वा डाक द्वारा मंगवाइये

क्या ?

- (१) वेदार्थ कोष—ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य से वैदिक शब्दों के अकारादि क्रम से अर्थ लिखे गए हैं इसमें निरुक्त तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों की टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। प्रथम भाग प्रस्तुत है। इसमें ओंकार तक से प्रारम्भ होने वाले शब्द आ गए हैं। मुख्य सम्पादक पं० च. पू. पेम० ए०। मूल्य ५)
- (२) वेदामृत—ईश्वर, जीव, सृष्टि, वेदवाणी, प्रार्थना, संस्कार, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजनीति, सहृदयता, एकता, समानता, आयुष्य विषयों पर साढ़े चार सौ पृष्ठ की यह पुस्तक है। सम्पादक स्वा० वेदानन्द। मूल्य २॥)
- (३) त्रिदेव निर्णय—स्वर्गीय पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीनों देवताओं पर वैदिक प्रमाणों के आधार पर अच्छा प्रकाश डाला है। मू० ॥॥)
- (४) पीयूष बिन्दु—इसमें विविध विषयों पर १०० मन्त्रों का सुन्दर संग्रह किया गया है। लेखक शिवशंकर काव्यतीर्थ। मू० १/-)
- (५) जीवन-चरित्र पं० लेखराम—(उर्दू) पं० लेखरामजी का ६८ पृष्ठों में जीवन दिया गया है। लेखक म० श्यामलाल। रिआयती मूल्य ८/-)॥
- (६) वैदिक धर्म और साइन्स—(उर्दू) वैदिक सिद्धान्तों पर यह एक अच्छी पुस्तक है। लेखक पं० विशनदास जी बी० ए०। रिआयती मूल्य १८/-)
- (७) रद्द-ए-जहाद वेद—(उर्दू) मौ० सनाउल्ला के “रसाला जहाद-ए-वेद” का उत्तम उत्तर है। लेखक, म० श्यामलाल। रिआयती मूल्य १)
- (८) अष्टांग योग प्रयोग—इसमें प्रश्नोत्तर के ढंग पर वैदिक योग पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। लेखक, पं० बरुशीशराम। रिआयती मूल्य ॥)

साहित्य विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

प्रकाण्ड विद्वानों के अनाखे वैदिक उपहार

पं० बुद्धदेव विद्यालंकार

(१) ब्रह्म यज्ञ—सन्ध्या पर एक मनोखी और विस्तृत व्याख्यान है।
मूल्य १=)

का) स्वर्ग—इस पुस्तक में बतलाया है कि 'स्वर्ग' शब्द ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ का वाचक है और 'स्वः' शब्द संन्यास का। मूल्य १=)

(३) सोम—इस में सिद्ध किया गया है कि 'सोम' शब्द का मुख्य अर्थ गुरुकुल से दीक्षान्त संस्कार पाया हुआ नवस्नातक है। मूल्य १)

(४) मरुत्सूक्तम्—इस में दर्शाया गया है कि वेदों में मरुत्सम्बन्धी सूक्त राजा के सैनिकों का वर्णन करते हैं। मूल्य १)

(५) शतपथ में एक पथ—पण्डित जी द्वारा किये जा रहे शतपथ के भाष्य के भूमिका रूप में यह पुस्तक है। मूल्य १)

पं० चमूपति एम० ए०

(१) वैदिक स्वर्ग (उर्दू)—मौ० अब्दुलहक की पुस्तक "वेदों का बहिश्त" के उत्तर में है। मूल्य ॥)

(२) यास्क युग—इस में सिद्ध किया गया है कि यास्क वेदों को अपौरुषेय मानता है। मूल्य ॥)

म० चिरञ्जीलाल 'प्रेम'

(१) शास्त्रार्थ दर्पण (उर्दू)—इस में मिरज़इयों की नोट बुक का उत्तर दिया गया है। मूल्य ॥)

श्री विश्वनाथ एम० ए०

(१) दयानन्द रत्न-माला—इस में आर्य समाज के १० नियमों के पोषक ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से सार्वजनिक वाक्यों का संग्रह किया गया है। मूल्य ३=)

(२) Immortal Sayings of Dayanand—यह दयानन्द रत्न-माला का अंग्रेजी संस्करण है। मूल्य ३=)

साहित्य विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा, पञ्जाब,

गुरुदत्त भवन, लाहौर।

२१.६.३६

आर्य

Regd. No. L,—2757

ज्येष्ठ
१९९३

वैदिक तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रचारक पत्र

(वार्षिक मूल्य ३)
(एक प्रति १=)



सम्पादक—

पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,

गुरुदत्त भवन, लाहौर

विषय-सूची

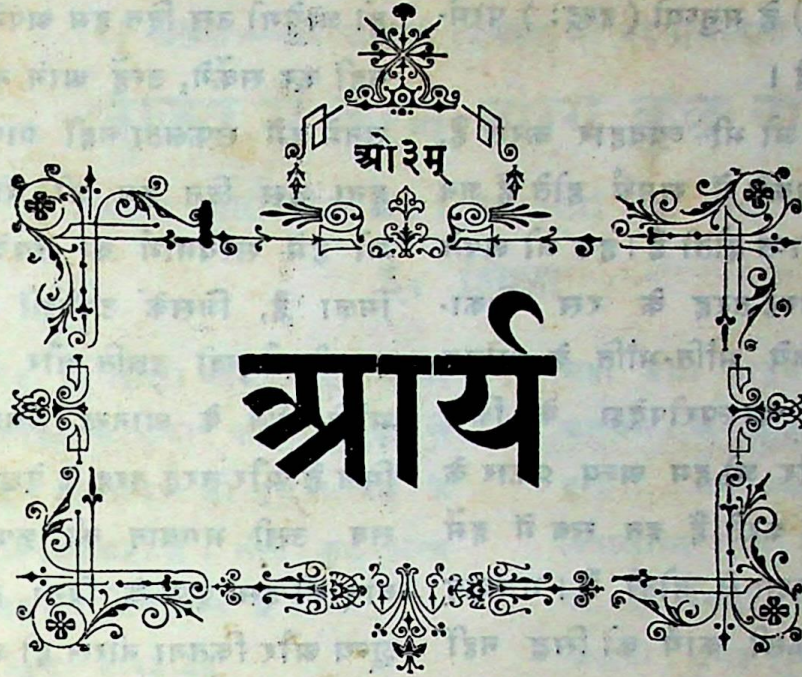
सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश—बढ़ाने वाले वेद का उपदेश	सम्पादक	४७
२.	वेदों के राजनैतिक सिद्धांत—शिक्षा	श्री प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति	४६
३.	जड़ी (कविता)	श्री 'द्विरेफ' विद्यालंकार	५८
४.	वैदिक ईश्वरवाद और वर्तमान विज्ञान	श्री धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति	५६
५.	क्या वेद ईश्वरी ज्ञान है ?	ब्रह्मचारी रामनाथ चतुर्दश श्रेणी गुरुकुल कां०	६१
६.	मृत्यु देवी का स्वागत (कविता)	„ सत्यभूषण द्वादश	६८
७.	राष्ट्रपति का राष्ट्र के बुजुर्गों को आदेश	श्री देवराज जी विद्यावाचस्पति	६६
८.	आह्वान !! (कविता)	श्री 'चातक'	७२
९.	गुरु और शिष्य	प्रो० लालचन्द जी एम० ए०	७३
१०.	सम्पादनीय		७५
	(क) सभा का वृहदधिवेशन		
	(ख) वैदिक अनुसन्धान		
	(ग) हीरालाल गान्धी का धर्म-परिवर्तन		
११.	शतपथ ब्राह्मण का भाष्य	श्री बुद्धदेव जी विद्यालंकार	२२५-२३२

—:०:—

आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये, यह आपका कर्तव्य है ।

ग्राहकों से—आर्य अङ्कुरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है । पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये । फिर अङ्कुरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये । इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे । अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये ।

**पत्र-व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
ग्राहक-संख्या, पतेवाली चिट पर लिखी होती है ।**



ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः ॥

भाग १८

लाहौर, ज्येष्ठ १९६३, जून १९३६

[दयानन्दाब्द ११२]

अंक २

वेदोपदेश

बढ़ाने वाले वेद का उपदेष्टा

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शशमानमूर्ती ।

यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥

संस्कृत २।१२।१४

अर्थ—(यः) जो (ऊती) अपनी रक्षा द्वारा की व्याख्या करने वाले की और (यः) जो (सुन्वन्तं) उपयोग के लिये भांति भांति के रस (शशमानं) नाना व्यवहारों में चेष्टा करने वाले निकालने वाले की (यः) जो (पचन्तं) उपभोग की (अवति) रक्षा करता है (वर्धनं) सूर्यो- के लिये नानाविध पदार्थों का पाक करने वाले पदेश द्वारा बढ़ाने वाला (ब्रह्म) वेद (यस्य) जिस की (यः) जो (शसन्तं) जिज्ञासुओं के आगे का है (सोमः) चन्द्रमा और सोमरसादि सामन्त संसार के विविध पदार्थों की प्रशान्ता अर्थात् सुखों और समन्तिदायक पदार्थ (यस्य) जिसके हैं

(इन्द्रं) यह विश्व में दृष्टि आने वाला (राधः) कार्यसिद्धि कराने वाला ऐश्वर्य (यस्य) जिस का है (सः) वह (जनासः) हे मनुष्यो (इन्द्रः) परमैश्वर्यशाली भगवान् ही है ।

इस संसार में हम जो भी व्यवहार करते हैं, उन्हें हम तभी कर सकने में समर्थ होते हैं जब हमें भगवान् की रक्षा प्राप्त होती है । हम जो अपने उपयोग के लिये तरह-तरह के रस निकालते हैं और खाने के लिये भाँति-भाँति के भोजन बनाते हैं, हमारी जो परस्पर उपदेश के लिए ज्ञानचर्चाएँ चलती हैं और जो हम अन्य प्रकार के नानाविध व्यवहारों को करते हैं इन सब में हमें सफलता भगवान् की रक्षा से होती है । भगवान् की रक्षा के बिना हम किसी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकते । हम जो अपने कार्यों को आरम्भ कर सकते, उन्हें आगे चला पाते और उनमें कृतकार्यता प्राप्त कर सकते हैं, यह इस बात का प्रमाण है कि

हमें भगवान् की कृपा-जनित रक्षा प्राप्त हो रही है । जिस दिन हमें भगवान् से रक्षा प्राप्त होनी बन्द हो जायेगी उस दिन हम अपने कार्यों को आरम्भ नहीं कर सकेंगे, उन्हें आगे नहीं बढ़ा सकेंगे और उनमें हमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकेगी, किम्बहुना उस दिन हम जी भी नहीं सकेंगे । यह जो हमें सत्यमार्ग का उपदेश करने वाला वेद मिला है, जिसके उपदेशों का अनुष्ठान करने से हमारी चौमुखी उन्नति और वृद्धि होती है, ये जो भाँति-भाँति के आनन्द तथा शान्तिदायक सोम मिले हैं और तरह तरह के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, यह सब उसी भगवान् की कृपा का फल है । भगवान् की इस कृपा के बिना हमारा जीवन कितना शून्य और कितना नीरस हो जाता !

मनुष्य ! अपने परम रक्षक और परम कृपालु ऐश्वर्यशाली भगवान् की शरण में जा !

वेद में क्या लिखा है

यह जानना चाहने वाले प्रत्येक आर्य पुरुष को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के मसिक पत्र आर्य का ग्राहक बनना चाहिये । वेद के गूढ़ रहस्यों को बताने वाली जितनी सामग्री “आर्य” में रहती है उतनी और किसी पत्र में नहीं मिल सकती । आर्य का वार्षिक मूल्य केवल ३) है । आर्य को पढ़िये और वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने सुनाने की अपनी प्रतिज्ञा को चरितार्थ कीजिये ।

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक—श्री पण्डित प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

राज्य में करने योग्य कुछ बातें

(Some ends to be realised by the state)

६. शिक्षा

राजा को राष्ट्र में शिक्षा का प्रचार करना चाहिये और अज्ञानकृत अन्धकार को राष्ट्र में से नष्ट कर देना चाहिए इस प्रकार की सूचना वेद के कितने ही मन्त्रों से निकलती है। नीचे कुछ मन्त्र और मन्त्रखण्ड उद्धृत किये जाते हैं :—

धियस्वती । ऋग्० १।२३।३॥

तव व्रते कवयो विद्वनापसोऽजायन्त मरुतो-

भ्राजदृष्टयः । ऋग्० १।३१।१॥

शिक्षा नरः । ऋग्० १।५३।२॥

निरुन्धानो अमर्ति गोभिः । ऋग्० १।५३।४॥

समिन्द्र.....देव्या प्रमत्या वीर शुष्मया गो-
अग्रयाऽश्वावत्या रमेमहि । ऋग्० १।५३।५॥

ज्योतींषि कृण्वन्न वृकाणि यज्यवेऽव सुक्रतुः
सर्तवा अपः सृजत । ऋग्० १।५५।६॥

द्युमां असि क्रतुमां इन्द्र धीरः शिक्षा शचीव-
स्तव नः शचीभिः । ऋग्० १।६२।१२॥

भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसदि । ऋग्० १।९४।१॥

जीवातवे प्रतरं साधया धियः । ऋग्० १।६४।४॥

इन्द्र.....धेहि चित्तिम् । ऋग्० २।२१।६॥

यन्तारं धीनाम् । ऋग्० ३।३।८॥

अग्निधिया समृण्वति । ऋग्० ३।११।२॥

मा नो अग्नेऽमतये.....रीरधः । ऋग्० ३।११।५॥

पतिर्भव वृत्रहन् सृनृतानां गिराम् । ऋग्० ३।
३१।१८॥

महां उग्रो वावृधे वीर्याय समाचक्रे वृषभः
काव्येन । ऋग्० ३।३६।५॥

इन्द्र.....तव प्रणीती तव शूर शर्मन् आ
विवासन्ति कवयः सुयज्ञाः । ऋग्० ३।५१।७॥

या ते जिह्वा मधुमती सुमेधा देवेषूच्यते
ऊरुची । तयेह विश्वां अवसे यजत्राना सादय
पायया च मधूनि । ऋग्० ३।५७।५॥

विद्वान् अग्निर्महां प्रेदु वोचन्मनीषाम् । ऋग्०
४।५।३॥

त्वदग्ने काव्या त्वन्मनीषा त्वदुक्था जायन्ते
राध्यानि । ऋग्० ४।११।३॥

यचिद्धि ते पुरुत्रा यविष्ठा चित्तिभिश्चकृमा
कच्चिदागः । कृधीष्वस्मां अदितेरनागान्
व्येनांसि शिश्रथो विष्वगग्ने । ऋग्० ४।१२।४॥

शिक्षानरः समिथेषु प्रहावान् । ऋग्० ४।२०।८॥
स स्मा कृणोति केतुमानक्तं चिद्दूर आसते ।
ऋग्० ५।७।४

पेषु युष्ममुत श्रव आ चित्तं मर्त्येषु धाः । ऋग्०
५।७।९॥

वृहत्केतुम् । ऋग्० ५।८।२॥

ऋतस्य वृष्णे । ऋग्० ५।१२।१॥

ऋतं चिकित्स्व ऋतमिच्छिकिद्धि ऋतस्य धारा
अनुवृन्धि पूर्वीः । ऋग्० ५।१२।२॥

मातेव यद्भरसे पप्रथानो जनं जनं धायसे
चक्षसे च । ऋग्० ५।१५।४॥

ददन्मेधामृतायते । ऋ० ५।२७।४॥

त्वद्विप्रो जायते वाज्यग्ने त्वद्वीरासो अभिमा-
तेषाहः । वैश्वानर त्वमस्मासु धेहि वसुनि
राजन् स्पृहयाय्याणि । ऋ० ६।१।३॥

अच्छा नो मित्रमहो देव देवानग्ने वोचः सुमति
रोदस्योः । क० ६।१४।६॥

ब्रह्म प्रजावदाभर जातवेदो विचर्षणे । ऋ० ६।
१६।३६॥

कृतब्रह्म । ऋ० ६।२०।३॥

स नो बोधि पुर एता सुगेषूत दुर्गेषु पथिकृद्वि-
दानः । ऋ० ६।२१।१२॥

कदा धियः करसि वाजरत्नाः । ऋ० ६।३५।१॥

धोभिरर्वद्विरर्वतो वाजा इन्द्र अवाय्यान् । त्वया
जेष्म हितं धनम् । ऋ० ६।४५।१२॥

यो अपाचीने तमसि मदन्तीः प्राचीश्चकार
नृतमः शचीभिः । ऋ० ७।६।४॥

यस्य शर्मन्नुप विश्वे जनास एवै स्तस्थुः
सुमति भिक्षमाणाः । ऋ० ७।६।६॥

तव प्रणीतो हर्यश्च सूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ।
ऋ० ७।३२।१५॥

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा
ज्योतिरशीमहि । ऋ० ७।३२।२६॥

नकिरस्य शचीनां नियन्ता सृनृतानाम् ।
नकिर्वक्ता न दादिति । ऋ० ८।३२।१५॥

इन्द्रो ब्रह्मण इद्वृधे । ऋ० ८।७७।५॥

शिशिहि मा शिशयं त्वा शृणोमि अग्रस्वती
मम धीरस्तु शक्र । ऋ० १०।४२।३॥

आदित्यानां वसुनां रुद्रियाणां देवो देवानां न
मिनामि धाम । ऋ० १०।४८।११॥

प्रावो देवा अतिरो दासमोजः प्रजायै त्वस्यै
यदशिक्ष इन्द्रः । १०।५४।१॥

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो
नाधमानाः । अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमु-
ग्ध्यस्मान् निधयेव बद्धान् । ऋ० १०।७३।११॥

पश्चात् पुरस्तात् अधरादुदक्तात् कविः काव्येन
परिवाहि राजन् । ऋ० १०।८७।२१॥

मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निम् । ऋ० १०।
६१।८॥

आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र । ऋ०
१०।१३०।५॥

व्यस्मदेतु दुर्मतिर्देवी जनित्र्यजीजनद्भ्रा-
जनित्र्यजीजनत् । ऋ० १०।१३४।५॥

ऋतस्य नः पया नयाति विश्वानि दुरिता ।
ऋ० १०।१३३।६

अस्मभ्यं सु त्वमिन्द्र तां शिक्ष यां दोहते प्रति-
वरं जरित्रे ।

अच्छिद्रो धनी पीपयद्यथा नः सहस्रधारा पयसा
मही गौः ॥ ऋ० १०।१३३।६

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है:—

“यह इन्द्र (सम्राट्) धी अर्थात् राष्ट्र की बुद्धियों का रक्षक है ।” राज्य का यह काम होगा कि वह देखे कि कहीं प्रजाओं की बुद्धि शक्ति—ज्ञानशक्ति मन्द तो नहीं पड़ रही । उसे क्षीण न होने देना, उस की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है । “हे अग्नि (सम्राट्) मनुष्य लोग (मरुतः) तेरे नियमों में रह कर क्रान्तदर्शी विद्वान्, सब कर्मों को जानने वाले और तीव्र दृष्टि वाले हो जाते हैं ।” राजा का धर्म है कि वह इस प्रकार का शिक्षा-प्रबन्ध करे कि प्रजा के लोग इस प्रकार के ज्ञानवान् बन जायें । “हे इन्द्र (सम्राट्) तू राष्ट्र के लोगों को शिक्षित कर ।” यहां तो स्पष्ट ही शिक्षा प्रचार राज्य का एक कर्त्तव्य बताया गया है । “वह इन्द्र (सम्राट्) वाणियों द्वारा राष्ट्र के लोगों के अज्ञान (अमति) को

रोकता है।" वाणी का अर्थ वेद में बहुत स्थान पर विद्या होता है। क्योंकि विद्या का उपदेश वाणी से ही हो सकता है। यहाँ विद्याओं के प्रचार से अज्ञान को हटाना राजा का स्पष्ट कर्त्तव्य बताया गया है। "हे इन्द्र (सम्राट्) तेरी कृपा से हम ऐसे प्रकृष्ट ज्ञान (प्रमत्या) से युक्त होकर कार्यारम्भ करें, जिससे हमारे वीर पुत्रों में बल आये, हमें गोवें और घोड़े प्राप्त हो सकें।" यहाँ राष्ट्र के पुत्रों को वीर और बली बनाने वाला प्रकृष्ट ज्ञान प्रजा में फैलाना, राजा का धर्म बताया गया है। "इन्द्र (सम्राट्) राष्ट्र-संघटन रूप यज्ञ के भले में लगे रहने वाले लोगों के लिये (यज्यवे) प्रकाश फैला देता है जिन प्रकाशों को कोई रोक नहीं सकता और इस प्रकार उत्तम कर्म और प्रज्ञा वाला वह सम्राट् प्रजाओं को (अपः) व्यवहारों में चलने योग्य बना देता है।" इस प्रकारका प्रकाश फैलाना राष्ट्र में शिक्षा-प्रचार ही हो सकता है। "हे इन्द्र (सम्राट्) तू प्रकाशमान है, कर्म-शील और प्रज्ञावान् है, शक्तिशाली है, अपनी शक्तियों से हमें शिक्षित कर।" यहाँ भी प्रजा में शिक्षा-प्रचार का स्पष्ट वर्णन है। "इस अग्नि (सम्राट्) की सभा में (संसदि) हमारे लिये मंगलकारी प्रकृष्ट ज्ञान (प्रमतिः) होता है।" यदि यहाँ सभा का अर्थ राजसभा जिया जाय तब यह भाव होगा कि राजसभा प्रजा में ज्ञान वृद्धि के अनेक उपाय सोचती है। यदि संसद् का अर्थ मिलकर बैठने का स्थान ऐसा करें तब भाव यह होगा कि राजा अनेक विद्यालय-विश्वविद्यालय आदि मिलकर बैठने के स्थानों का निर्माण करता है जहाँ प्रजाजनों को प्रकृष्ट ज्ञान दिया जाता है। "हे अग्नि (सम्राट्) हमें जीवन देने के लिये हमारी बुद्धियों को उत्कृष्ट रीति से (प्रतरं) सिद्ध करो।" प्रकृष्ट बुद्धियों की

सिद्धि प्रजा में शिक्षा-प्रचार द्वारा ही हो सकती है। जब तक शिक्षा-प्रचार द्वारा प्रजाजनों की बुद्धि-शक्ति को प्रकृष्ट न बना दिया जाय तब तक उनमें वास्तविक जीवन नहीं आ सकता। वेद शिक्षा को कितना महत्त्व देता है पाठक इसे ज़रा देखें। "हे इन्द्र (सम्राट्) हमारे अन्दर सम्यक् ज्ञान (चित्ति, चितो संज्ञाने) धारण करो।" शिक्षा प्रचार द्वारा ही सम्राट् प्रजाओं में सम्यक् ज्ञान धारण कर सकता है। "यह अग्नि (सम्राट्) ज्ञानों का नियन्ता है।" किस प्रकार की ज्ञान-वृद्धि प्रजा के भले के लिये है और किस प्रकार का ज्ञान प्रजा के अहित के लिये है इसका विवेचन करके राजा प्रजा में शिक्षा का प्रचार करता है। शिक्षा को प्रजाके कल्याण की दृष्टि से सदा नियंत्रण में रखना राजा का कर्त्तव्य है। "अग्नि (सम्राट्) हमें बुद्धि से युक्त करता है।" प्रजाओं को बुद्धि से—ज्ञान से (बुद्धि ज्ञान का ही दूसरा नाम है)—युक्त शिक्षा-प्रचार के द्वारा ही किया जा सकता है। "हे अग्नि (सम्राट्) हमें मूर्खता के लिये—अज्ञान के लिये (अमतये) मत बढ़ने दे।" राजा का कर्त्तव्य कि है वह राष्ट्र। अज्ञान की वृद्धि न होने दे। शिक्षा प्रचार द्वारा सदा ही अज्ञान को रोकता रहे। "हे विद्वांसों को मारने वाले (वृत्रहन्) इन्द्र (सम्राट्) तू प्रिय और सत्ययुक्त वाणियों का रक्षक बन।" जो लोग प्रेम युक्त रीति से सत्य का प्रचार कर रहे हैं राजा का कर्त्तव्य है कि उनकी वाणियों की रक्षा और पालना करे। प्रजाओं में भिन्न भिन्न विषयों सम्बन्धी सत्य का प्रचार उनमें शिक्षा प्रचार का ही दूसरा नाम है। "यह महान् शक्तिशाली इन्द्र (सम्राट्) प्रजाओं में वीर्य की वृद्धि के लिये ही राजत्व के उन्नत पद पर आकर बैठा है (वावृधे) यह मंगलों की वर्षा करने वाले प्रजाजनों को गहराई के ज्ञान से (काव्येन)

युक्त कर देता है।” कवि का अर्थ यास्क ने क्रान्त-दर्शी—गहराई में जाकर वस्तु को समझनेवाला—किया है। इसलिये काव्य का अर्थ होगा गहरा ज्ञान। राजा का धर्म है कि वह प्रजाजनों को हरेक विषय गहरे ज्ञान से युक्त कर दे। “हे इन्द्र (सम्राट्) हम रीति से संगति करने वाले क्रान्तदर्शी विद्वान् तेरी प्रकृष्ट नीति और मंगल में रह कर प्रजा के अन्धकार को दूर करते रहते हैं (आ विवासन्ति)।” प्रजाओं के अन्धकार को दूर करना उनमें शिक्षा प्रचार के बिना नहीं हो सकता। “हे अग्नि (सम्राट्) तेरी जो उत्तम मेधा देने वाली, मधु से भरी हुई, सब विषयों का बखान करने वाली (उरुची) जिह्वा है, उससे सब संगठन में रहने वालों (यजत्रान्) की रक्षा कर और सब को मधु पिला।” मन्त्र में शिक्षा प्रचार का कितना सुन्दर आलङ्कारिक वर्णन है। राजा की जिह्वा से अभिप्राय राज्य के प्रबन्ध से शिक्षा-प्रचार का काम करने वालों की जिह्वा है। जिह्वा से मधु पिलाने का अभिप्राय विभिन्न विद्याओं का प्रचार है। शिक्षा-प्रचार ऐसा होना चाहिये जिससे प्रजाओं की बुद्धि (मेधा) बढ़े। “यह विद्वान् अग्नि (सम्राट्) मेरे लिये मननशील बुद्धि का उपदेश करे।” प्रजाओं में मननशील बुद्धि का उपदेश शिक्षा प्रचार द्वारा ही हो सकता है। खाली मनीषा वाले बन जाओ ऐसा कह देने मात्र से प्रजा के लोग मनीषावाले नहीं बन सकते। “हे अग्नि तेरे कारण गहरे ज्ञान (काव्य) उत्पन्न होते हैं, मननशील बुद्धि प्राप्त होती है, और सिद्धि देने वाले (राध्यानि—राध संसिद्धौ) प्रवचन (उक्था) होते हैं।” राजा कर्तव्य है कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिससे प्रजाओं में हरेक विषय का गम्भीर ज्ञान हो, उनकी बुद्धियाँ मननशील हों, और वे ज्ञान से अपने प्रत्येक कार्य को सिद्ध कर सकें। यह सब

शिक्षा-प्रचार से ही हो सकता है। “हे महान् अग्नि (सम्राट्) जो हम अज्ञान से बहुत से पाप कर देते हैं, हमें उनसे निष्पाप बना, हमारे पापों को सब ओर से शिथिल कर दे।” अज्ञान से जो पाप या अपराध होते हैं उनको हटाने का उपाय यह है कि तद्विषयक अज्ञान को दूर कर दिया जाय। यह शिक्षा प्रचार से ही हो सकता है। “हे इन्द्र (सम्राट्) तू शिक्षा से मनुष्यों का नेतृत्व करने वाला है और इस प्रकार युद्धों में शत्रुओं को मारने वाला है।” राजा प्रजाओं का नेतृत्व, उनका शासन, उनमें शिक्षा का प्रचार करके करता है। इन्द्र ‘शिक्षानर’ होकर युद्धों में शत्रुओं को मारता है इस वाक्य से यह भी भाव निकल सकता है कि राजा युद्ध-शिक्षा का प्रबन्ध करे। “वह अग्नि (सम्राट्) अज्ञानांधकार की रात्रि में वर्तमान सुदूरवर्ती मनुष्य के लिये भी ज्ञान का प्रकाश (केतुं, कितज्ञाने) कर देता है।” राजा का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के कोने-कोने में विद्या का प्रकाश फैला दे चाहे राष्ट्र का कोई स्थान राजधानी से कितना ही दूर क्यों न हो। “हे अग्नि (सम्राट्)! राष्ट्र के इन मनुष्यों में धन, यश और सम्यक् ज्ञान (चित्तं, चित्ती संज्ञाने) धारण करा।” राजा को राष्ट्र के लोगों में शिक्षा प्रचार द्वारा सम्यक् ज्ञान धारण कराना चाहिये जिससे वे धनी और यशस्वी बन सकें। “वह अग्नि (सम्राट्) प्रजाओं में बहुत ज्ञान देने वाला होना चाहिये।” “वह अग्नि सत्य ज्ञान की (ऋतस्य) वर्षा करने वाला है।” सत्य ज्ञान की वर्षा प्रजाओं में व्यापक शिक्षा-प्रसार द्वारा हो हो सकती है। “हे अग्नि (सम्राट्) तू सत्यज्ञान को जानने वाला है, तू सदा स्वयं सत्य ज्ञान को जानता रह और प्रजाओं में

१. शिक्षानरः शिक्षया नेता प्रजानां शासक इति सायणः

सत्य ज्ञान की बहुत सी भरी हुई (पूर्वीः) धारार्यें बहादे ।” सत्यज्ञानी राजा सत्य ज्ञान की भरी हुई धारार्यें राष्ट्र में शिक्षा विस्तार के द्वारा ही बहा सकता है । “हे अग्नि (सम्राट्) गुणों में बढ़ा चढ़ा (पप्रथानः) तू राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य का भरण-पोषण करता है जिससे वह जीवित रह सके और उसे दृष्टि प्राप्त हो सके ।” यहाँ दृष्टि प्राप्त करने से अभि-प्राय मानसिक विचार-दृष्टि का ही हो सकता है क्योंकि भौतिक स्थूल दृष्टि तो प्रत्येक की जन्म से ही प्राप्त होती है । विचार शक्ति की दृष्टि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को तभी प्राप्त हो सकती है जबकि शिक्षा का सार्वजनिक प्रचार हो । “हे अग्नि (सम्राट्) तू मुझ सत्य ज्ञान माँगने वाले को मेधा दे ।” सत्य ज्ञान माँगने वाले प्रजा जन को मेधा अर्थात् बुद्धि-शक्ति देना शिक्षा प्रचार द्वारा ही राजा के लिये सम्भव है । “हे अग्नि (सम्राट्) तेरे कारण राष्ट्र में विद्या-बल वाले (वाजी) विद्वान् ब्राह्मण (विप्रः) उत्पन्न होते हैं, तेरे कारण अभिमानी शत्रुओं का पराभव करने वाले वीर पुरुष उत्पन्न होते हैं, सब मनुष्यों के हितकारी (वैश्वानर) हे राजन् ! तू हमें स्पृहा करने योग्य धन दे ।” इस मन्त्र से यह भाव निकलता है कि राजा को राष्ट्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों के लोगों को तय्यार करने वाली शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये । “हे मित्रों की महिमा बढ़ानेवाले अग्नि (सम्राट्) देव तू हमारे राष्ट्र के देव-पुरुषों को द्युलोक और पृथिवी-लोक की उत्तम प्रकार की बुद्धि (सुमति) दे ।” द्युलोक और पृथिवी लोक की सुमति का भाव यह है कि राजा को चाहिये

कि वह अपने राष्ट्र में शिक्षा-प्रचार द्वारा द्युलोक और पृथिवी लोक में पाये जाने वाले यथा संभव सब उपयोगी पदार्थों का उत्तम बोध प्रजाजनों को करा दे । “हे राष्ट्र में ज्ञान उत्पन्न करने वाले (जात-वेदः) और सबको पदचानने वाले अग्नि (सम्राट्) तू हमारे राष्ट्र में ऐसे महान् ज्ञान (ब्रह्म) का प्रचार कर जिससे वह प्रजाओं की वृद्धि करने वाला (प्रजावत्) बन सके ।” “यह इन्द्र (सम्राट्) प्रजाओं में महान् वृद्धिकर ज्ञान (ब्रह्म) का प्रचार करने वाला है ।” “हे इन्द्र (सम्राट्) तू कब हमें ऐसे ज्ञान (धियः) देगा जिससे हमें बल और श्रुति प्राप्त हो सकें ।” प्रजाओं द्वारा इस प्रश्न की भी यही व्यञ्जना है कि राजा का धर्म है कि वह राष्ट्र में बल और ऐश्वर्य की वृद्धि करने वाले ज्ञान का प्रचार करे । “हे इन्द्र (सम्राट्) हम तेरी सहायता से ज्ञानों से युक्त हो कर (धीभिः) घोड़ों को, प्रशंसनीय बलों और धनों को जीतने वाले बनें ।” “सब से अधिक मनुष्योचित गुणों वाला (नृतमः) यह अग्नि (सम्राट्) नीचे ले जाने वाले गहरे अन्धकार में पड़ी हुई प्रजाओं को अन्धकार से बाहर लाकर आगे चलने वाली और आनन्द युक्त बना देता है ।” यहाँ अन्धकार का अभिप्राय अज्ञानान्धकार है । उससे बाहर प्रजाएँ तभी निकल सकती हैं जब कि उनमें ज्ञान का प्रकाश फैला दिया जाय । यह राष्ट्र में शिक्षा-प्रचार द्वारा ही हो सकता है । “इस अग्नि (सम्राट्) के मंगल-प्रद आश्रय में रह कर सारे लोग उत्तम बुद्धि (सुमति) को माँगते हुए इसके पास आते हैं ।” प्रजायें राजा के पास सुमति माँगने आती हैं इसका भी भाव यही है कि राजा का धर्म है कि वह शिक्षा-प्रचार द्वारा प्रजाओं की ज्ञान की प्यास को बुझाता रहे । “हे इन्द्र (सम्राट्) तेरे उत्तम राज्य-

१. बलवन्तमान्त्राणोप वाजिशब्दो विप्रसाहचर्येण विद्याबलवन्तमाचेष्ट । ‘वाजेभिर्वाजिनीवती’ इत्यादिना सरस्वती विशेषण विद्याबलमपि वेदे वाज उच्यते ।

संचालन में (प्रणीति) रहकर हम विद्वानों द्वारा (सूरिमिः) दुराचरणों को छोड़ दें।" राजा को चाहिये कि वह ऐसा प्रबन्ध करे कि स्थान-स्थान पर विद्वान् लोग शिक्षा-द्वारा प्रजाजनों को दुराचरण रहित श्रेष्ठ नागरिक बनाते रहें। "हे इन्द्र (सम्राट्) पिता जैसे अपने पुत्रों को ज्ञान और कर्म (कर्तु) का उपदेश देता है वैसे ही तू हम प्रजाजनों को इनका उपदेश दे, हे बहुतों द्वारा चुने हुए (पुरुहूत) तू हमें जीवन-मार्ग में (यामनि) शिक्षित कर जिससे हम जीव लोग प्रकाश को प्राप्त हो सकें।" यहाँ तो राष्ट्र में शिक्षा-प्रचार द्वारा प्रकाश फैलाने का स्पष्ट ही विधान है।

"इस इन्द्र (सम्राट्) की प्रिय और सत्यज्ञान युक्त प्रज्ञाओं को कोई नहीं रोक सकता और न ही कोई यह कह सकता है कि इसने हमें प्रिय और सत्यज्ञान युक्त प्रज्ञा (सूनृता) नहीं दी।" राज्य द्वारा शिक्षा-प्रचार को कोई न रोक सके ऐसा राजाको प्रबन्ध करना चाहिए और उसे देखना चाहिये कि प्रजा का कोई ऐसा आदमी न रह जाये जिसको यह शिकायत हो कि उसे शिक्षा-प्राप्ति का अवसर नहीं दिया गया।

"यह इन्द्र (सम्राट्) महान् वृद्धिकर ज्ञान (ब्रह्म) का बढ़ाने वाला है।" "हे इन्द्र (सम्राट्) तू मुझे (ज्ञान देकर) तीक्ष्ण बना दे, मैंने सुना है कि तू तीक्ष्ण बना देने वाला है, (तुझ से प्राप्त इस तीक्ष्णता का यह फल हो कि) मेरी बुद्धि कर्मशील (अग्रस्वती) बन जाये।" मन्त्र की प्रार्थना का यह भाव है कि राजा को चाहिये कि राष्ट्र में अनेक प्रकार के कर्मों की शिक्षा दे और शिक्षा इस प्रकार की हो कि लोग अपने कर्मों में तीक्ष्ण बुद्धि वाले बन जायें। "मैं इन्द्र (सम्राट्) राष्ट्र के आदित्य, बसु और रुद्र लोगों के तेज को कभी नष्ट नहीं होने

देता।" आदित्य आदि विशेष काल तक ब्रह्मचारी रह कर विद्या पढ़ने वाले विद्वानों के नाम हैं। राजा कहता है कि मैं इन सभी प्रकार के विद्वानों का तेज नष्ट नहीं होने दूँगा। अर्थात् इस प्रकार के विद्वानों को राष्ट्र से नष्ट नहीं होने दूँगा। शिक्षा प्रचार द्वारा सदा ऐसे विद्वानों को तय्यार करता रहूँगा। "हे इन्द्र (सम्राट्) तूने जो इस प्रजा में शिक्षा का प्रचार किया उससे तूने देवों जी रक्षा करली और दास अर्थात् प्रजा को क्षीण करने वाले लोगों के बल को क्षीण कर दिया।" शिक्षा-प्रचार से राष्ट्र में देव शक्ति बढ़ जाती है। इस देव शक्ति की वृद्धि करने वाली शिक्षा का राजा को प्रजा में सदा प्रचार करते रहना चाहिये।

"गतिशील, प्रजा का पालन करने वाले, बुद्धि से प्रेम करने वाले (प्रियमेधाः) ऋषि लोग प्रार्थना करते हुए इन्द्र (सम्राट्) के पास गये और बोले कि सम्राट् अन्धकार को हटा, प्रकाश को (चक्षुः) भर, अज्ञानान्धकार के पाश में बंधे हुए हम राष्ट्र के लोगों को मुक्त कर।" इस वर्णन में दो बातें कही गई हैं। एक तो यह कि राजा को शिक्षा प्रचार द्वारा राष्ट्र के अज्ञानान्धकार को हटा कर उसमें ज्ञान का प्रकाश फैलाना रहना चाहिए। और दूसरी यह कि जब कभी राजा अपने शिक्षा-प्रचार के कार्य में उपेक्षा वृत्ति दिखाने लगे तो प्रजा के समझदार लोगों को राजा को उसके कर्तव्य के प्रति सचेत करते रहना चाहिये।

"हे अग्नि (सम्राट्) तू कवि है, काव्य से पश्चिम, पूर्व, दक्षिण, उत्तर सब ओर से हमारी रक्षा कर।" कवि कहते हैं क्रान्तदर्शी—गहराई में जाकर प्रत्येक बात को समझने वाले—विद्वान् को। इसलिये कव्य का—काव्यं कवेर्भावः—का अर्थ हुआ

प्रत्येक विषय का गहराई का ज्ञान। राजा से प्रार्थना की गई है कि वह सब ओर से गहराई के ज्ञान द्वारा प्रजाजनों की रक्षा करे। इस का भाव यह है कि राजा को राष्ट्र में सर्वत्र ऐसी शिक्षा का प्रचार करना चाहिये जिससे लोगों को प्रत्येक बात का गहराई का ज्ञान हो सके। “यह अग्नि (सम्राट्) बुद्धि देने वाला और ज्ञान यज्ञ को सिद्ध करने वाला है।” बुद्धि प्रदान का कार्य राष्ट्र में शिक्षा-प्रचार द्वारा ही हो सकता है। “हे इन्द्र (सम्राट्) हम तुझ से प्राप्त होने वाला जो नवीन-नवीन ज्ञान है सदा उससे अपने आप को आभूषित करते रहें।” राजा को राष्ट्र में सदा नई-नई ज्ञान की बातों का प्रचार कर के लोगों को ज्ञान के आभूषण पहनाते रहना चाहिये। “प्रजा रूप, दिव्य व्यवहारोंवाली और भद्रा माता ने इस इन्द्र (सम्राट्) को इसलिये उत्पन्न किया है कि हम प्रजाजनों से अज्ञान या दूषित ज्ञान (दुर्मतिः) दूर होता रहे।” राष्ट्रके लोग अकेले-अकेले शिक्षा का प्रचार मुश्किल से कर सकते हैं, राज्य यह कार्य आसानी से कर सकता है। इसीलिये प्रजाओं को राजा की आवश्यकता होती है। “हे इन्द्र (सम्राट्) हम प्रजाजनों को सत्य ज्ञान के मार्ग से ले चल, हमारे दुराचरणों को हमसे छुड़ा दे।” राजा को चाहिए कि वह प्रजा में सत्यज्ञान का प्रचार करता रहे जिससे प्रजाजनों के दुराचरण छूट सकें।

“हे इन्द्र सम्राट्) आप हमें उस वाणी (गौ) अर्थात् ज्ञान की सुशिक्षा दीजिये जो स्तुतिकर्ता—शिष्य—को प्रतिफल के रूप में अनेक वर देती है, जिससे पूर्ण आधार वाली, अनेक धाराओं वाली वः महान् गौ (वाणी=विद्या) हमें अपने दूध से वृद्धि देवे।” वाणी का अलङ्कार से गौ के रूप में वर्णन किया गया है। गौ का एक अर्थ वाणी

भी होता है यह सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में एक अत्यन्त प्रसिद्ध बात है। वेद में वाणी-वाची शब्दों का प्रयोग विद्या-विज्ञान के अर्थों में अनेक स्थलों में हुआ है। क्योंकि वाणी ही विद्या प्रसिद्धि का मुख्य साधन है। “यथेमां वाचं कल्याणीम्” मन्त्र में वाक् शब्द स्पष्ट तौर पर वेदविद्या के लिये प्रयुक्त हुआ है। यहां देने अर्थ में ‘सु-शिक्ष’ क्रिया का प्रयोग हुआ है। इस क्रिया पद का अर्थ ‘उत्तम रीति से शिक्षा दीजिये’ ऐसा भी हो सकता है। इसलिये भी हमें यहां गौ का एक अर्थ वाणी या विद्या करना ही होगा। वाणी की सुशिक्षा देने के लिये सम्राट् से प्रार्थना का स्पष्ट अभिप्राय निकलता है कि राजा को राष्ट्र में सुशिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये।

ऊपर दिये गये कुछ मन्त्रों में ‘ब्रह्म’ शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द ‘वृह वृद्धि वृद्धौ’ धातु से बना है। वैदिक साहित्य में यह शब्द और-और अनेक अर्थों के अतिरिक्त वाणी और वेद अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। हमने वाणी अर्थ को और इसके धात्वर्थ को ध्यान में रख कर इसका अर्थ “महान् वृद्धि करने वाला ज्ञान” ऐसा कर दिया है। यदि ब्रह्म का अर्थ वेद ही लेना हो तो उपर्युक्त मन्त्रों का भाव यह होगा कि राजा को अपने राज्य में

१. ब्रह्म शब्द वाणी और वेद अर्थ में ही नहीं, विद्या अर्थ में भी वैदिक साहित्य में प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिये शतपथ ब्राह्मण ११.२.१६ में स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ कहा गया है और स्वाध्याय में चारों वेदों के अतिरिक्त सभी प्रकार के अनुशासनों, विद्याओं, वाक्योवाक्य, इतिहास-पुराण, गाथा और नाराशंसियों को भी गिनाया गया है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म शब्द चारों वेदों के अतिरिक्त विद्यामात्र में भी प्रयुक्त होता है और किसी भी विद्या का स्वाध्याय ब्रह्म-यज्ञ ही है।

वेद-विद्या का प्रचार करना चाहिये। इस पर कई लोग कहेंगे कि यह तो एक धार्मिक संकुचित शिक्षा हो गई, इससे विद्या-विज्ञान का प्रचार राजा को करना चाहिये यह कहाँ से आया। यह आक्षेप ठीक नहीं। वेद अन्य धर्मग्रन्थों की तरह के ग्रन्थ नहीं हैं। इनमें राजनीति, आचारशास्त्र, आयुर्वेद, भौतिक विज्ञान, ज्योतिष, गणित तथा उच्च दार्शनिक सिद्धान्तों का पर्याप्त वर्णन है। जब विद्यार्थियों को इन सिद्धान्तों की व्याख्या करके समझाया जायेगा तो वे अवश्य ही उच्च शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी बन कर शिक्षालयों से बाहर आयेंगे। परन्तु ऐसे मन्त्र तो हमने थोड़े ही उपास्थित किये हैं जिनमें ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है। अधिकांश मन्त्र जो उपस्थित किये गये हैं उनमें ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ है जो सामान्य शिक्षा और विद्या-विज्ञान के वाचक हैं। राष्ट्र में वेदविद्या के साथ-साथ दूसरे विद्याविज्ञानों का प्रचार भी होना चाहिये। वेद-विद्या और दूसरे विद्या-विज्ञानों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।

यहां ऋगू० ८। १०१। १५, १६ मन्त्र भी देख लेने चाहिये। मन्त्र इस प्रकार हैं :—

माता रुद्राणां दुहिता वसुनां स्वसादित्या-
नाममृतस्य नाभिः ।

। नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागा-
दिति वधिष्ट ॥

वचोविदं वाचमुदीरयन्ती विश्वाभिर्धीभिरु-
पतिष्ठमानाम् ।

देवी देवेभ्यः पर्येयुषी गामा मावृक्त मर्त्यो
दभ्रचेताः ।'

अर्थात्—“यह गौ अर्थात् वाण्युपलक्षित विद्या
(रुद्राणां) रुद्र ब्रह्मचर्य धारण करके विद्याध्ययन
करने वाले विद्वानों को (माता) निर्माण करने

वाली है (वसुनां) वसु ब्रह्मचर्य धारण करके
विद्याध्ययन करने वाले विद्वानों की (दुहिता)
मनः कामनाओं को पूरा करने वाली है (आदित्या-
नां) आदित्य ब्रह्मचर्य धारण करके विद्याध्ययन
करने वाले विद्वानों को (स्वसा=सु+अस्+ऋन्)
योग्य बना कर उत्तम रीति से कर्मक्षेत्र में डालने
वाली है (अमृतस्य) अमृत को—आनन्द मङ्गल
रूप अमृत को या समय से पहले आने वाली
मृत्युके अभाव को (नाभिः) राष्ट्र में बांध कर रखने
वाली है (चिकितुषे) ज्ञानसम्पन्न समझदार
(जनाय) पुरुष को (नु) निश्चय से (प्र वोचं)
मैं उपदेश देता हूँ कि (अनागाम्) मनुष्यों को
ज्ञान संपन्न करके निष्पाप बनाने वाली और
(अदितिः) अदीन अर्थात् किसी से न दबनेवाली,
किसी से क्षीण न होने वाली (गां) विद्या को
(मा) मत (वधिष्ट) मारो—इसके प्रचार को
मत रोको ।”

“(वचोविदं) वचनों को समझने वाली (वाचं)
वाणी को (उदीरयन्ती) प्रेरित करने वाली अर्थात्
बुलवाने वाली (विश्वाभिः) सब प्रकार की
(धीभिः) बुद्धियों अर्थात् ज्ञानों से (उपतिष्ठमा-
नाम्) युक्त (देवीं) दिव्यशक्तियों वाली (देवेभ्यः)
नाना व्यवहार करने लाले पुरुषों के (पर्येयुषीं)
पास आने वाली (गां) विद्या को (दभ्रचेताः)
छोटी समझ वाले (मर्त्यः) मनुष्य (मा) मत
(आ अवृक्तः) प्रचार होने से रोकें ।”

इन मन्त्रों में भगवान् ने मनुष्यों को उपदेश दिया
है कि उन्हें अपने समाज में विद्या प्रचार को
कभी नहीं रुकने देना चाहिये। विद्या प्रचार को

१. अदीनामिति सायणः

२. वृजी वर्जने ।

क्यों नहीं रुकने देना चाहिये ? उसके प्रचार से राष्ट्र को क्या लाभ होते हैं यह भी इन मन्त्रों में बड़ी सुन्दरता के साथ बता दिया गया है। पहले मन्त्र में बताया गया है कि विद्या प्रचार से राष्ट्र में वसु, रुद्र और आदित्य विद्वान् उत्पन्न होते हैं और उनके द्वारा उसमें अमृत अर्थात् आनन्द-मंगल रूप अमृत अथवा अस्मय की मृत्यु का अभाव रूप अमृत बंधकर रहता है—इस अमृत का कभी राष्ट्र में अभाव नहीं होता। विद्या प्रचार राष्ट्र को अदीन बना देता है। वह पराधीन नहीं हो सकता, उसमें किसी तरह की क्षोणता नहीं आसकती। दूसरे मन्त्र में बताया गया है कि विद्या प्रचार से लोगों को समझ के साथ वचन बोलना आजाता है—किस समय कैसे बच्चों का प्रयोग करना चाहिये इसे समझ कर वे अपने शब्दों का उच्चारण करते हैं। सब प्रकार के ज्ञान और कर्म (धीभिः) राष्ट्र में सम्पन्न होने लगते हैं। विद्या की बदौलत राष्ट्र के लोग देव अर्थात् दिव्यगुणों से युक्त होकर नाना प्रकार के व्यवहार करने वाले बन जाते हैं। छोटी समझ वाले पुरुषों को ऐसी दिव्य शक्ति सम्पन्न (देवी) विद्या के प्रचार को रोकना नहीं चाहिये।

यह उपदेश मनुष्यमात्र को दिया गया है। इसलिये यह उपदेश सम्राट् के लिये भी है। उसे अपने राज्य में विद्या प्रचार को रुकने नहीं देना चाहिये।

इन दोनों मन्त्रों को प्रायः गो-पशु के वर्णन में लगाया जाता है। हमारी सम्मति में यह वर्णन गो-पशु का नहीं हो सकता। गो पशु में इस प्रकार की शक्तियाँ किसी ने कभी नहीं देखीं। प्रथम मन्त्र में गौ को अदिति अर्थात् अदीन कहा है। गौ-पशु तो बड़ा दीन बड़ा गरीब जानवर समझा जाता है। कर्म में अस्वतन्त्र केवल भोग-योनि गो-पशु को

अनागाः (निष्पाप) कहने का भी कोई अर्थ नहीं हो सकता। फिर दूसरे मन्त्र का वर्णन तो गो-पशु पर लग ही नहीं सकता। वह “वचोविदं वाचमुदीरयन्ती” और “विश्वाभिः धीभिरुपतिष्ठमाना” नहीं हो सकती। यहाँ गौ का अर्थ विद्या ही करना होगा। उस का अर्थ यहाँ खाली वाणी भी नहीं किया जा सकता। यहाँ गौ का अर्थ केवल विद्या करना होगा। क्योंकि दूसरे मन्त्र में “वचोविदं वाचमुदीरयन्तीं गां” ऐसा कह कर स्पष्ट ही वाक् अर्थात् वाणी को गौ से भिन्न कर दिया गया है। अन्यत्र वाक् का अर्थ विद्या भी होता है क्योंकि वाक् ही विद्या प्राप्ति का प्रधान साधन है। परन्तु यहाँ वाक् का अर्थ वाणी ही है। यहाँ विद्या के लिये गौ शब्द प्रयुक्त हुआ है। और इसीलिये यहाँ गौ की निरुक्ति “गच्छतीति गौः” न करके “गमयति बोधयति इति गौः” ऐसी करनी चाहिये। अथवा “गुरुतः शिष्यं प्रति गच्छतीति” इस भाव को लेकर “गच्छतीति गौः” यह प्रसिद्ध निरुक्ति भी रखी जा सकती है।

इसी भान्ति यजुः १२।२२ में अग्नि को—

मनीषाणां प्रार्पणः ॥

अर्थात् मननशील बुद्धियों को प्राप्त करानेवाला कहा गया है। अग्नि अर्थात् सम्राट् मननशील बुद्धियों राष्ट्र में शिक्षा प्रचार द्वारा ही प्राप्त करा सकता है इससे भिन्न और कोई उपाय इसके लिये नहीं है।

अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में भूमि के लिये एक वाक्य इस प्रकार आता है:—

ब्रह्मणा वावृधाना। अथर्व० १२।१।२६

अर्थात्—“यह हमारी मातृभूमि ब्रह्म अर्थात् महान् बुद्धिकर ज्ञान द्वारा हमारी वृद्धि करने वाली

है।" ज्ञान द्वारा मातृभूमि तभी वृद्धि कर सकती है जब कि उसमें शिक्षा का प्रचार हो। उसी सूक्त में पृथिवी को "इन्द्रगुमा" (अथर्व० १२।१।११) अर्थात् सम्राट् द्वारा परिरक्षित कहा गया है। सम्राट् सब प्रकार से हमारी मातृभूमि की रक्षा करता है। उसे राष्ट्र के शिक्षा-प्रचार की भी रक्षा करनी होगी। सम्राट् द्वारा शिक्षा-प्रचार से ही मातृभूमि हमारी रक्षा कर सकती है। अन्यथा जड़ भूमि में यह सामर्थ्य कहाँ हो सकता है ?

इस प्रकार वेद में स्थान-स्थान पर यह उपदेश किया गया है कि राजा को अपने राज्य में सब प्रकार की ज्ञानवर्द्धक शिक्षा का व्यापक प्रचार

करना चाहिये। हमने कुछ थोड़े से मन्त्र उपस्थित कर दिये हैं। अधिक जानना चाहने वाले सीधा वेद को देखें।

ऋषि दयानन्द ने अपने महान् ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश के अध्ययनाध्यापन प्रकरण में वह जो लिखा है कि "राज-नियम और जाति-नियम होना चाहिये कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके, पाठशाला में अवश्य भेज देवे, जो न भेजे वह दण्डनीय हो;" वह वेद के इन और ऐसे ही अन्य मन्त्रों के आधार पर ही लिखा है।

जड़ी

जिन ढूँढी पाई धर्म जड़ी ।

यह परमौषधि नव जीवन की तन मन प्राण चढ़ी ॥

काम क्रोध मद ममतादिक सों बेरि बेरि विगड़ी ।

जिन राखी नगरी को सुथरी, पल पल घड़ी घड़ी ।

नास्यो दुःख भड़ी ॥२॥

शैल वनों में हिम शिखरों में, हिम की गुहा गड़ी ।

नदी-निर्भर की निर्मलता में, सागर तीर पड़ी ।

चुनली खेत खड़ी ॥३॥

घन जन भीत पिया के संग में, प्रीति की बेल बड़ी ।

प्रभु सुमिरन सों जिन पनपायो, तिन माया विछुड़ी ।

सुलभी कर्म कड़ी ॥४॥

कर्म-कला की कूँड़ी में जब, डाल पात पचड़ी ।

साँच-आँच की मूसल से यों फेरि फेरि रगड़ी ।

दिसि दिसि मन्थ उड़ी ॥५॥

विधत्ता की इस अमर देन की, मंगलमयी लड़ी ।

अथ हरनी जग आँगन आई, अद्भुत प्रेम छिड़ी ।

संजीवनी जड़ी ॥६॥

वैदिक ईश्वरवाद और वर्तमान विज्ञान*

ले० श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति, बंगलौर

ओ३म् यो भूतं च भव्यं च सर्वं यथाधि-
तिष्ठति स्वयंस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे
नमः ॥ ओ३म् यो देवा अग्नौ यो अप्स्वन्तर्य
ओषधीर्वीरुध आविवेश य इमा विश्वा भुव-
नानि चकलुषे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥

मान्य सभापति जी तथा उपस्थित आर्य देवियो और
सजनो !

आज मैं आपके सामने “वैदिक ईश्वरवाद और
वर्तमान विज्ञान” इस विषय पर कुछ विचार प्रस्तुत
करना चाहता हूँ। यह विज्ञान का युग है इसलिये
वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक विषय का विवेचन (वह
जहाँ तक भी सम्भव हो) इस युग में अत्यावश्यक
है। इसीलिये वेदों के रहस्य सम्बन्धी किसी गूढ़
विषय वा समस्या जिसको समझने वाले कुछ इने
गिने व्यक्ति हों, न लेते हुए मैंने आज कल की
शिक्षित जनता के लिये उपयोगी उपर्युक्त विषय
को इस निबन्ध के लिये चुना है। इस विषय के
शीर्षक को देख कर सम्भवतः कुछ आज कल के
शिक्षित व्यक्ति हँस देंगे और कहेंगे कि वर्तमान
विज्ञान वा वैज्ञानिकों का ईश्वरवाद के साथ—इतना
ही नहीं धर्म और विज्ञान का भी परस्पर—कोई
संबंध ही नहीं है। कुछ उनसे भी दूर जाकर यहाँ
तक कह डालेंगे कि वर्तमान विज्ञान और ईश्वरवाद
का (चाहे वह वैदिक हो अथवा अन्य ग्रन्थोक्त)

परस्पर घोर विरोध है तथा वर्तमान काल के सभी
वैज्ञानिक एक स्वर से विकासवाद को स्वीकार
करते हुए ईश्वरवाद का खण्डन करते हैं। इस
निबन्ध में मैं यह दिखाना चाहता हूँ कि ये दोनों
ही विचार जो नवशिक्षित जनता विशेषतः कालेजों
के विद्यार्थी वर्ग में बहुत प्रचलित हैं सर्वथा भ्रान्ति
पूर्ण हैं तथा वर्तमान काल के प्रायः सब धुन्धर
वैज्ञानिक वैदिक ईश्वरवाद की ओर झुक रहे हैं।
भूमिका रूप से “धर्म और विज्ञान” के सम्बन्ध के
विषय में अधिक विस्तार में न जाते हुए केवल
इतना ही निर्देश कर देना पर्याप्त समझता हूँ कि
सच्चे धर्म और सच्चे विज्ञान का कभी विरोध नहीं
हो सकता। इस विषय में “The Religion
of Science” के लेखक डा० पॉल कैरस ने बहुत
ठीक कहा है कि—

“True Science and true religion
can never come in conflict. If there
is any conflict between religion and
science it is a sign that there is some-
thing wrong in either one science or
One religion and we shall do well
to revise them both.”

(The Religion of Science Page 72)

क्या धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी हैं,
उदासीन अथवा मित्र वा सहायक, इस विषय की
विवेचना करते हुए डा० फ्लेमिङ्ग A. D. Sc. F.
R. S. ने Science and Religion में प्रका-
शित अपने व्याख्यान में जो भाव प्रकट किये हैं

* सभा की अर्द्ध शताब्दी के अवसर पर वेद सम्मेलन में
पढ़ा गया।

उनसे हम सर्वथा सहमत हैं। उन्होंने बताया है कि "Science and Religion are not opposed. They are not enemies. They are allies."

अर्थात् धर्म और विज्ञान न परस्पर विरोधी हैं और न सर्वथा उदासीन जिनका आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो, किन्तु वे परस्पर मित्र और सहायक हैं। इसी प्रकार के विचार वर्तमान काल के वैज्ञानिक शिरोमणि सर आलिवर लॉज, सर जॉनरसेल, सर आल्फ्रेड पेनिङ्ग K. C. B. F. R. S. Hon. M. A. (cartab) LL. D. D. Sc. F. R. S. E. M. Inst C. E. Vice President of the Royal Society London, सर आर्थर एडिङ्गटन F. R. S. M. A. D. Sc. LL. D. F. R. A. S. इत्यादि ने भी प्रकट किये हैं जिनका विस्तार भय से उल्लेख नहीं किया जा सकता। ईसाइयत, इस्लाम आदि का विज्ञान के साथ विरोध तथा इन मतों के गुरुओं द्वाग गैलीलियो, ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों पर किये गये अमानुषिक अत्याचारों को प्रदर्शित करने के लिये विलियम डूपर M. A. L. D. आदि विद्वानों ने History of the Conflict between Science and Religion इत्यादि पुस्तकें लिखी हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

वैदिक ईश्वरवाद

अब मैं संक्षेप से यह दिखाना चाहता हूँ कि वेदों में ईश्वर का क्या स्वरूप बताया गया है। वेदों का निष्पक्षपात होकर यदि हम अनुशीलन करें तो हमें स्पष्ट ज्ञात होगा कि वेद एक ईश्वर की पूजा का प्रतिपादन करते हैं जो सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निराकार, निर्वि-

कार, अजन्मा, अविनाशो, न्यायकारी, दयालु, जगत् का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है।

य एक इत् तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः । पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः । ऋ० ६।४५।१६ इस वेद मन्त्र में उपदेश है कि हे मनुष्य ! तू उस एक परमेश्वर की स्तुति कर जो एक ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और जगत् का स्वामी है। "एक इत्" इन शब्दों से एकेश्वर पूजा का भाव अत्यन्त स्पष्ट है।

निम्न लिखित मन्त्र भी इसी भाव को अत्यन्त प्रबल शब्दों द्वारा प्रकट करता है।

"मा चिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषयत । इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचासुते मुहुरुकथा च शंसत ।"

अर्थात् हे मित्रो ! अन्य किसी की भी तुम स्तुति मत करो और इस प्रकार करके दुःख मत उठाओ। प्रत्येक शुभकर्म में सर्व-सुख तर्धक इन्द्र अर्थात् परमेश्वर की ही बार २ स्तुति करो अन्य किसी की नहीं।

इन्द्र मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि शब्दों को देख कर कई लोग भ्रम में पड़ जाते हैं और समझने लगते हैं कि वेद अनेकेश्वर वाद के समर्थक हैं किन्तु वेदों के निष्पक्ष-पात अनुशीलन से यह भ्रम सर्वथा दूर हो जाता है। ऋग्वेद के प्रथम ही मण्डल में स्पष्ट बताया गया है कि—

अग्निं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋ० १।१६४।४६

अर्थात् विद्वान् ज्ञानी लोग एक ही परमेश्वर को इन्द्र मित्र वरुणादि अनेक नामों से उसके

अनेक गुणों को प्रकट करने के लिये पुकारते हैं। परमेश्वर्य सम्पन्न होने से उस परमेश्वर की इन्द्र, सव का स्नेही होने से मित्र, सर्व श्रेष्ठ और अज्ञान निवारक होने से वरुण, ज्ञान स्वरूप और सब का नेता (अग्रणी) होने से अग्नि, सब का नियामक होने से यम, आकाश और जीवादि में अन्तर्यामी-रूपेण व्यापक होने के कारण मातरिश्वा इत्यादि नामों से उस एक की स्तुति की जाती है। इस समय के यूरप के सुप्रसिद्ध विद्वान् विचारक मि० अर्नेस्टवुड (Ernest Wood) ने "An Englishman defends Mother India" ने इस मन्त्र का अनुवाद देते हुए यह टिप्पणी की है।

"In the eyes of the Hindus, there is but One Supreme God. This was stated long ago in the Rigveda in the following words "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" which may be translated "The sages name the One Being variously."

अर्थात् हिन्दुओं की दृष्टि में एक ही परमेश्वर है। इस सत्य का प्रतिपादन बहुत प्राचीन काल में ऋग्वेद में "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" इत्यादि शब्दों द्वारा किया गया था जिस में स्पष्टतया बताया गया है कि ज्ञानी एक ही परमेश्वर को अनेक नामों से पुकारते हैं। यूरप के संस्कृतज्ञों में सब से अधिक प्रसिद्ध प्रो० मैक्समूलर को भी जिन्होंने अपने पहले ग्रन्थों में वेदों को हीन देवतावाद (Henotheism or Kathenotheism) का प्रतिपादक बताने का प्रयत्न किया था यह बात अपने अन्तिम ग्रन्थ "Six Systems of Philosophy" में जो ऋषि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका के पढ़ने के बाद लिखा गया था स्वीकार

करनी पड़ी कि वेदों में इन्द्र मित्र अग्नि मातरिश्वा प्रजापति इत्यादि शब्दों द्वारा वस्तुतः एक ही ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है जो अनन्त और निर्विकार है। प्रो० मैक्समूलर के अपने शब्द निम्न लिखित हैं :—

Whatever is the age when the collection of our Rigveda Samhita was finished, it was before that age that the conception had been formed that there is but one, one Being, neither male nor female, a Being raised high above all the conditions and limitations of personality and of human nature, and nevertheless the Being that was really meant by all such names as Indra, Agni, Matarishvan and by the name of Prajapati—Lord of creatures. In fact, the Vedic poets had arrived at a conception of Godhood which was reached once more by some of the Christian philosophers of Alexandria, but which even at present is beyond the reach of those who call themselves Christians."

प्रो० मैक्समूलर तथा यूरोप के कई अन्य विद्वान् इस प्रकार के स्पष्ट एकेश्वरवाद प्रतिपादक वेद मन्त्रों को ईसाइयत अथवा निकासवाद के पक्षपात के कारण पीछे की रचना बताने का प्रयत्न करते हैं किन्तु यह उनकी मन घडन्त कल्पना है जो सर्वथा निराधार है। इस पक्षपात का स्पष्ट प्रमाण प्रो० मैक्समूलर के Vedic hymns नामक ग्रन्थ के निम्नलिखित लेख से मिलता है जहाँ हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋग्वेद १०।१२२) का अनुवाद करते हुए जिस में

“भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्”

“यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद् राजा जगतो बभूव ।”

यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय
हविषा विधेम ॥”

“ततो देवानां समवर्ततासुरकः ।”

इत्यादि मन्त्र अत्यन्त स्पष्ट और प्रबल शब्दों में एकेश्वरवाद का प्रतिपादन पाया जाता है जैसा कि स्वयं प्रो० मैक्समूलर ने *History of Ancient Sanskrit Literature* में

“I add only one more hymn (Rig 10.121) in which the ideal of one God is expressed with such power and decision that it will make us hesitate before we deny to the Aryan nations an instinctive monotheism.”

अर्थात् मैं एक और सूक्त (ऋग्वेद १०—११) को यहां उद्धृत करता हूँ जिस में एकेश्वरवाद का इतनी प्रबलता और निश्चय के साथ विधान किया गया है कि आर्य जाति के अन्दर स्वभावतः एकेश्वरवाद का भाव था इस बात को इन्कार करते हुए हमें विशेष संकुचित होना पड़ेगा ।” इत्यादि शब्दों द्वारा स्वीकार किया है। वे टिप्पणी चढ़ाते हैं।

“This is one of the hymns which have always been suspected as modern by European interpreters.”

अर्थात् यह उन सूक्तों में से है जिन पर यूरोपीय भाष्यकारों ने सदा नवीन होने का सन्देह किया है।

प्रजापते न त्वेदान्यन्यो विश्वा जातानि
श्रिता बभूव ।” (ऋ० १०।१२१।१०)

इस मन्त्र पर प्रो० मैक्समूलर टिप्पणी चढ़ाते हैं कि This Last verse is to my mind the most suspicious of all.

अर्थात् यह अन्तिम मन्त्र (जिसमें परमेश्वर को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि तुम्हें छोड़ कर अन्य कोई भी इस सारे जगत् में व्यापक और इसका स्वामी नहीं है) भेरी सम्मति में सबसे अधिक सन्देहास्पद है। यह सन्देह इसी लिये किया गया है कि ईसाईमत के पक्षपात के कारण ये लोग इस बात को प्रबल प्रमाणों के होते हुए भी मानने में संकोच करते हैं और इसके लिये उद्यत नहीं होते कि वेदों में एकेश्वरवाद की उच्च शिक्षा पाई जाती है।

यूरोपियन विद्वानों में से भी जो २ अपने को इस मोह से ऊपर उठा चुके हैं उन्होंने ने वैदिक एकेश्वरवाद को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् चार्ल्स होल् मैन् ने वैदिक ईश्वरवाद का निम्नलिखित सुन्दर तथा महत्वपूर्ण शब्दों में प्रतिपादन किया है :—

“The Almighty, Infinite, Eternal, Incomprehensible, Self existent Being, He who sees everything, though never seen is Brahma the one the known true Being, the creator the preserver and Destroyer of the Universe. Under such and innumerable other definitions is the Deity acknowledged in the vedas.”

इस उद्धरण का सारांश यह है कि वेदों में ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, अनन्त, नित्य, अविज्ञेय, स्वयंभू, सर्वज्ञ, एक, सृष्टि का कर्ताधर्ता और संहर्ता माना गया है। (शेष फिर)

क्या वेद ईश्वरीय ज्ञान है ?

(४) वेदोत्पत्ति-काल के संबन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि

(ले०—ब्रह्मचारी रामनाथ चतुर्दशश्रेणी, गुरुकुल कांगड़ी)

(१) भारतीय ऐतिहासिक सम्प्रदाय—

पुराने आचार्यों में वेदार्थ के संबन्ध में एक ऐतिहासिक सम्प्रदाय भी प्रचलित रहा है। उसके अनुसार वेदमन्त्र किसी समय विशेष के इतिहास को बताते हैं। इसी दृष्टि से कई भाष्यकारों ने मन्त्रों के ऐतिहासिक अर्थ भी किये हैं। लेकिन यदि यह सत्य है कि वेद किसी समय या जाति विशेष के इतिहास को बता रहे हैं तो वेद का ईश्वरीय होना स्वयमेव खण्डित हो जाता है। इस लिए इस सम्प्रदाय पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

कहा जाता है कि वेद में प्राचीन काल के नामों का उल्लेख मिलता है। विश्वामित्र, कण्व, अगस्त्य, कश्यप, अत्रि आदि ऋषियों के नाम वेद में स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं। पुरुषा, नहुष, ययाति, इक्ष्वाकु आदि राजाओं के नाम भी वेदों में हैं। गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों के नाम, और अयोध्या, गाँधार, मगध, प्रभृति नगर तथा देशों के नाम भी वेद में उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार पुराण, महाभारत आदि में जो अनेक कथाएँ हैं उनका मूल भी वेदों में मिलता है। उर्वशी की देख मैत्रावरुण के शुक-स्खलन होने की पौराणिक कथा ऋग्वेद में मिलती है। महाभारत की पुरुषा और उर्वशी की कथा, पुराण के वृत्र और इन्द्र का संग्राम, रामायण की अहल्या और इन्द्र की कथा आदि का संकेत भी वेदों में है। इन सबका वेदों

में पाया जाना इसी बात को बताता है कि वेद किसी प्राचीन इतिहास को बता रहे हैं।

‘इस उपर्युक्त स्थापना का उत्तर बहुत कठिन नहीं है।’ वेद के शब्दों को रूढ़ि मान कर उनका अर्थ करना इस प्रकार के कई अनर्थ करवा देता है। प्रामाणिक आचार्यों ने वेदों के शब्दों को यौगिक ही माना है। (निरुक्तकार ने—

‘तत्र नामाख्यातजानीति शाकटायनो निरुक्त-समयश्च । न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानाञ्चके ।’
नि० १।४.११॥

इस सन्दर्भ द्वारा यौगिकवाद के पक्ष में ही अपना मत दिखा कर आगे गार्ग्य मत का खण्डन किया है। इसी आधार पर द्वितीय अध्याय में—

‘तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्’ नि० २।१।१ इत्यादि लेख से वैदिक शब्दों के निर्वचन प्रकार को दिखलाया है। इसी भाव को वैदिक शब्दों की निरुक्ति के संबन्ध में किसी आचार्य ने इस कारिका द्वारा बताया है—

“वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च

द्वौ चापरो वर्णविकारनाशौ ।

धातोस्तदर्थतिशयेन योग

स्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम् ।”

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ‘उणादयो बहुलम् ।

३।३।१।’ इस सूत्र पर—

‘नाम च धातुजमाह निरुक्ते
व्याकरणे शकटस्य च तोरुम् ।
यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं
प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ।’

यह कारिका दी है जो कि वैदिक यौगिकवाद को ही पुष्ट करती है। ऋषि दयानन्द ने भी अपने भाष्य में सर्वत्र योग या योगरूढ़ि का ही आश्रय लिया है। इसलिये ऊपर उपस्थित किये गये राजाओं, ऋषिओं आदि के नाम को इतिहास बताने वाला न समझ कर उनका यौगिक अर्थ ही करना चाहिये। इस प्रकार निरुक्त आदि की सहायता से हम उन-उन मन्त्रभागों का विशेष रहस्य हृदयंगम कर सकेंगे।

उदाहरणार्थ, उर्वशी, मित्रावरुण की कथा का तात्पर्य निरुक्त में विद्युत् द्वारा वर्षा होना बताया गया है। उर्वशी^१ विद्युत् है और मित्रावरुण दो वायुयें हैं जिनसे मिल कर जल बनता है। वृत्र^२ और इन्द्र की कथा को निरुक्त में यौगिकवाद का आश्रय लेकर और मेघ के युद्ध का सुन्दर आलङ्कारिक रूप दिया है। इसी प्रकार अहल्या^३ रात्रि है और इन्द्र सूर्य है। सूर्य के प्रकाश से रात्रि का अन्धकार जीर्ण हो जाता है और प्रभात का उदय होता है। यही अहल्या और इन्द्र की कथा का

रहस्य है। ऊपर^४ दिखाए गये अन्य सब नामों के भी यौगिक अर्थ करके उनके वास्तविक तत्त्व का अनुसन्धान किया जा सकता है।

वेदों^५ में जो ऐतिहासिक नाम प्रतीत होते हैं उनके विषय में ब्राह्मण और उपनिषदें भी अच्छा

४. ‘गंगा गमनात् । यमुना, प्रयुवती गच्छतीति वा प्रवियुतं गच्छतीति वा । सरस्वती, सर इत्युदकनाम सतैः, तद्वती ।’
नि० ६. ३. २४ ॥
इडा गंगेति विज्ञेया पिंगला यमुना नदी ।
मध्ये सरस्वतीं विद्यात् प्रथागादि समस्तथा ॥
शिवस्वरोदय श्लो० ३७४.

५. चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः । श० कां० ८ । अ० १ ॥
कश्यपो वै कूर्मः प्राणो वै कूर्मः । श० कां० ७ । भ० ५.
वाग् वाव वसिष्ठः । छान्दोग्य । प्र० ४. खं० १८. मं० २॥
इमावेव गोतमभरद्वाजा वयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः । इमा-
वेव विश्वामित्रजमदग्नी, अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निः ।
इमावेव वसिष्ठ कश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपः । वागे-
वान्निर्वाचाह्वत्रमद्यंतोऽत्तर्ह वैनामैतद्यद्विरिति सर्वस्यात्रा
भवति, सर्वमस्यात्रं भवति य एवं वेदः । बृहद् ० २. २. ४ ॥
शतपथ ब्राह्मण के ८ काण्ड के प्रथम तीन ब्राह्मणों में
यजुः अध्याय १३. ५४ मन्त्र के व्याख्यान में मन्त्र में
आये ‘वसिष्ठ’ आदि शब्दों को शतपथकार बताते हैं—

(क) वसिष्ठ ऋषिरिति (यजुः० १३.५४ प्रतीक) । प्राणो वै
वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नुश्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽयं यद् वस्तुतमो भवति
तेन वसिष्ठः ।

(ख) भरद्वाज ऋषिरिति (यजुः १३.५४ प्रतीक) मनोवै भरद्वाज
ऋषिरन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः ।

(ग) जमदग्निर्ऋषिरिति । चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदनेन जगत्
पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः ।

(अजमेर पृ० ४१४)

(घ) विश्वामित्र ऋषिरिति । श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषि र्यदनेन
सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति, तस्माच्चक्षुर्वै
विश्वामित्र ऋषिः ।

(ङ) विश्वकर्मा ऋषिः । वाग् वै विश्वकर्मा ऋषिः । वाचा हीदं सर्वं
कृतं तस्माद् वाग विश्वकर्मा ऋषिः । (पृ० ४१५)

१. ‘उर्वश्यप्सरा, उर्वभ्यश्नुते, उर्वभ्यामश्नुते, उर्ववां वशोऽस्याः ।

अप्सरा अप्सारिणी । नि० ५. ३. १३ ॥

२. ‘तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रेऽसुर इत्यैतिहा-
सिकाः । अपां च उद्योतिषश्च मिश्रीभाव कर्मणा वर्षं कर्म
जायते । तत्रोपमायैव युद्धवर्णा भवन्ति । नि० २. ५. १६ ॥

३. ‘अहर्दिनं लीयंतऽस्यां तस्माद् रात्रिरहृत्योच्यते ।’

ऋ० भा० ५ ॥

‘आदित्योऽत्र जार उच्यते रात्रेर्जरयिता ।’ नि० ३.१६.५ ॥

प्रकाश डालती हैं। इनमें किस प्रकार जमदग्नि आदि चक्षु आदि के नाम हैं यह बहुत सुन्दर ढंग से बताया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक पक्ष प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसलिए पुराणकारों ने वेदों के रहस्य को न समझ कर उनके नामों से ऐतिहासिक कथाएँ रचली हैं, अथवा यदि उनका आलंकारिक अर्थ है तो उनके समझने वालों ने भूल की है, यही स्वीकार करना चाहिये।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि वेद के वे वे नाम यदि ऋषि आदि के वाचक नहीं तो वैदिक नामों की ऋषियों के नामों से समानता भी तो अकस्मात् नहीं हो सकती। परन्तु इस विषय में मनु की साक्षी स्पष्ट है—

“सर्वेषामेव तु नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥”

जिस तरह आजकल हम लोग काव्य, नाटक आदि के पात्र राम, सीता प्रभृति पुराने नामों के अनुरूप अपने नाम रख लेते हैं, वैसे ही पुराने लोगों में वेदों में से शब्द चुनकर नाम रखने की प्रवृत्ति रही होगी। इसी बात को मीमांसादर्शन के—

“आख्या प्रवचनात् । परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ।
१।१।३०, ३१”

इन सूत्रों में कहा है। इसलिये जिस तरह वेद में ‘पृथ्वी’ शब्द के प्रयोग को देख कर यह कल्पना करना कि वह मन्त्र या सूक्त अथवा सारा ही वेद राजा पृथ्वीराज के समय का है, हास्यास्पद है उसी प्रकार वेदों में आये अत्रि आदि शब्दों से यह कल्पना करना कि उनमें उन उन ऋषियों का वर्णन है और वेद उनके ही समय में बने थे वैसे ही कहने वालों के अज्ञान का परिणाम है।

(ii) आधुनिक विचारकों का दृष्टिकोण

इस विषय में भिन्न-भिन्न पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान् जिन्होंने कि वेद को ईश्वर प्रेरित न मान कर ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी तिथि निश्चित करने का प्रयास किया है, उनके विचारों को भी देख लेना उचित है। आजकल के विचारक लोग यद्यपि वेद को ईश्वरीय मानने में संदेह करते हैं, फिर भी सम्पूर्ण संसार के उपलब्ध साहित्य में वेद सब से प्राचीन हैं इसे सभी ने पुष्ट किया है। मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वान् जिन्होंने वैदिक साहित्य का कुछ अध्ययन किया है, इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यही नहीं कि वेद किसी ऐतिहासिक काल विशेष में बने बल्कि यह भी मानना पड़ता है कि चारों वेद किसी एक ही समय में न बन कर भिन्न-भिन्न समयों में रचे गये। चारों वेदों में ऋग्वेद सब से प्राचीन है, पर वह भी सारा एक समय तैयार नहीं हुआ। उसके भिन्न-भिन्न भाग अलग-अलग समयों में बने और पीछे से किसी समय उनका संग्रह हुआ। बाद में ऋग्वेद से ही मन्त्र चुनकर तथा कुछ नये मन्त्रों को भी रचना कर अन्य वेद तैयार हुए। इस कल्पना पर हम यथास्थान विचार करेंगे। पहले इसका मूल देखना आवश्यक है।

वेदों की तिथि निश्चित करने में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार किया है। हम यहाँ उन्हें ४ भागों में बाँट सकते हैं—

- (१) ऐतिहासिक दृष्टि।
- (२) भूगर्भसम्बन्धी दृष्टि।
- (३) ज्योतिष सम्बन्धी दृष्टि।
- (४) भाषा विज्ञानियों की दृष्टि।

चूँकि मैक्समूलर आदि कुछ विद्वानों ने वेदों को क्रमशः विकास की दृष्टि से अध्ययन किया है। कहीं वेदों में बहुवेदतावाद का आभास होता है

और कहीं मन्त्रकर्त्ता एक ईश्वर की पूजा करते दिखाई देते हैं। इससे उन्होंने परिणाम निकाला है कि वेद किसी वैदिक युग विशेष को सूचित करते हैं और उस समय रहने वाली जाति क्रम से इन विश्वासों में से गुज़री होगी। इस प्रकार मैक्समूलर ने ऋग्वेद को छन्दः काल, मन्त्र काल इन दो युगों में बांटा है। उसके अनुसार प्रथम काल के वर्णन में स्वाभाविक बातों का जिक्र है, उनमें कोई गहरी बुद्धि की बात नहीं दीखती। उनमें कोई क्रम और संगति नहीं है। इसके विपरीत मन्त्र काल की कविता उनके विस्तृत और कलामय ज्ञान को दर्शाती है। उसमें वर्णित विचारों में स्पष्टता और गम्भीरता दिखाई देती है। साथ ही पिछले काल की कविता में बहुत से विचार ऐसे भी मिलते हैं जोकि पुराणों से लिये गये प्रतीत होते हैं। इस प्रकार छन्दः काल और मन्त्रकाल ये दो विभाग करके मैक्समूलर कहते हैं कि ब्राह्मणों का काल अधिक से अधिक ८०० ई० पू० माना जा सकता है। मन्त्र काल से ब्राह्मण-ग्रन्थों तक और छन्दः काल से मन्त्र काल तक सभ्यता के विकास होने में क्रमशः दो दो सौ साल लगे होंगे। इस प्रकार मन्त्रकाल ८००-१००० ई० पू० तक और छन्दः काल १०००-१२०० ई० पू० तक होना चाहिये।

बहुत देर तक तो विद्वानों में मैक्समूलर के इसी मत को प्रामाणिक माना जाता रहा। लेकिन अब यह मत मान्य नहीं रहा है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक पहुँचने में विकास के लिये २०० वर्ष का समय ही क्या माना जाय इसमें मैक्समूलर के पास कोई प्रमाण नहीं है। यह समय हजारों और लाखों का भी हो सकता है। किसी वैज्ञानिक या ऐतिहासिक सच्चाई पर पहुँचने के लिये बीच में कोई बात बिना प्रमाण के अपनी कल्पना से ही मान

लेना कभी भी ठीक परिणाम पर नहीं पहुँचा सकता। इसके अनिरिक्त वेदों को छन्दः काल और मन्त्र काल इन दो समयों में बांटना भी भ्रम मूलक ही है। जिन मन्त्रों के आधार पर यह किया है उनका वास्तविक तात्पर्य कुछ और ही है। इस विषय को महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका में अच्छी प्रकार स्पष्ट किया है।

कई विद्वानों ने वैदिक देवताओं की तुलना द्वारा तथा वैदिक जाति का इन्डो-ईरानियन या इन्डो-यूरोपियन काल से सम्बन्ध दिखा कर वेदों का काल निश्चय करने का यत्न किया है। पर विन्टर-निज़ (Winternitz) महोदय का कथन है कि यह सब कुछ अपने आप में इतना अनिश्चित है कि इसके द्वारा किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सकता।

ii. कई विद्वानों ने वेद के मन्त्रों से वैदिक काल की भूगर्भ स्थिति को निकाल कर भूगर्भ शास्त्र के आधार पर वेद की प्राचीनता को पता लगाने का यत्न किया है। श्रीयुत अविनाशचन्द्र दास ने वैदिक साहित्य के संबन्ध में अच्छा अन्वेषण किया है। वे इस स्थापना को पुष्टि करते हैं कि सप्तसिन्धव अर्थात् पंजाब में प्राचीन आर्य जाति का प्रारम्भिक निवास हुआ था। यहीं पर उन्होंने अपनी सभ्यता का विकास किया। ऋग्वेद के मन्त्रों में उस समय की भौगोलिक स्थिति का वर्णन है, जो कि आजकल की स्थिति से भिन्न है। ऋग्वेद १७।९५।२ से पता लगता है कि उस समय सरस्वती नदी हिमालय से निकल कर जहाँ कि राज-पुताने के रेगिस्तान में जाकर आजकल लुप्त हो जाती है वहाँ समुद्र में जाकर गिरती थी। ऋग्वेद में पूर्वोक्त समुद्र का भी वर्णन है, और वह बंगाल की खाड़ी न होकर पंजाब के पूर्व का ही होना

चाहिये । इस स्थान पर शीत जलवायु की प्रधानता रहती थी, इसीलिये उन्होंने वर्ष का नाम ही 'हिम'^३ रख छोड़ा था । इसी प्रकार आर्यजाति जहाँ निवास करती थी उसके चारों ओर चार^४ समुद्रों का भी वर्णन मिलता है । भूगर्भशास्त्री यह ठीक ठीक बता सकते हैं कि पंजाब की यह भौगोलिक अवस्था किस काल में थी । प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता श्रीयुत एच. जी वेल्स ने ५० हजार वर्ष पूर्व की जिस दशा का वर्णन किया है वह ऋग्वेद में वर्णित इस अवस्था से मिलती है । परिणामतः उक्त समय में ही आर्यन रेस पंजाब में निवास करती थी और इस लिये लगभग ३५ या २५ हजार वर्ष अथवा इससे भी अधिक पहिले ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना हुई होगी ।

इस कल्पना पर बहुत कहना अनावश्यक है । यह दृष्टि वेदार्थ के विपरीत प्रकार पर निर्भर होने से प्रामाणिक नहीं कही जा सकती । वैदिक साहित्य से पता लगता है कि वेद में आये नदी, सिन्धु आदि शब्दों का अर्थ भौतिक न लेकर हृदय, नाड़ी आदि ही करना चाहिये, तभी वेद मन्त्रों का वास्तविक चमत्कार जाना जा सकता है । वेद में आये किसी वर्णन से यह कल्पना करना कि प्राचीन काल में ऐसी ही भौगोलिक स्थिति थी यह एक असंगत कल्पना है । ऐसा अर्थ करने पर वेदों में परस्पर मन्त्रों में कई जगह एक वर्णन दूसरे से भिन्न प्रतीत

होगा, कई स्थान पर एक वर्णन का दूसरी जगह विरोध भी मिलेगा । इसके समाधान के लिए, वे वे मन्त्र जिनके वर्णन दूसरे से नहीं मिलते या परस्पर विरुद्ध हैं, उस-उस समय बने जब कि वैसी ही भौगोलिक दशा थी, यह कहना भी विलकुल निराधार है । इन सब दोषों से बचने के लिये वेदों के अर्थ उपनिषद् आदि वैदिक साहित्य में बताई दृष्टि से ही करने चाहियें ।

वेद में किन धातुओं का वर्णन है, किस २ पदार्थ की कृषि का वर्णन है, कैसी वेशभूषा, रहन-सहन आदि का ढंग बताया गया है इत्यादि बातों के आधार पर भी कई वेदों के काल को जानने का यत्न करते हैं । यदि वेद में कहीं लोहे का वर्णन है और उसके बाद हिरण्य का वर्णन है तो उससे वे यह परिणाम निकालते हैं कि वे मन्त्र जिनमें इसका संकेत है विकास की भिन्न २ स्टेजों को दर्शाते हैं । वेद में कार्पास का नाम नहीं है तो वे उस समय के हैं जब कि अभी कपास की खेती करना लोगों ने नहीं सीखा था । पर इस युक्ति में कुछ सार नहीं है और इस की सहज में ही उपेक्षा की जा सकती है । कारण यह कि ईश्वरीय ज्ञान के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसमें प्रकृति की एक एक वस्तु को गिनाया जाय । जहाँ कहीं उपमा आदि में या प्रकरणवश किसी एक पदार्थ का उल्लेख हो गया तो उसके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरा पदार्थ यहाँ क्यों छोड़ दिया गया । इसलिये यदि वेद में किसी विशेष धातु आदि का वर्णन नहीं है तो उससे उसकी ईश्वरीयता में कुछ बाधा नहीं पड़ती । साथ ही उपर्युक्त युक्ति जिस ढंग से की गई है वह प्रामाणिक भी नहीं कही जा सकती और दूसरे विचारकों ने उसका झूठी तरह खण्डन कर दिया है ।

१. 'एका चेत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात् । ऋ० ७ । ६२ । २ ॥'

२. 'उभौ समुद्रावाक्षेति यश्च पूर्व उतापरः । १० । १३६ । ५'

३. 'ऋ० १ । ६४ । १४, २ । १ । ११, ३३, २ ; ५ । ५४ । १५ ; ६ । १० । ७, ४८, ८'

४. 'चतुः समुद्रं धरुणं रयीणाम् । १० । ४७ । २'

'रायः समुद्रांश्चतुरोऽरुमभ्यं सोम विश्वतः । ६ । ३३ । ६'

iii, तिलक ने ज्योतिष की गणनानुसार वेदों का काल निश्चित किया है। उन्होंने ने चान्द्रवर्ष, सौर-वर्ष, नाक्षत्रवर्ष, और सम्पातवर्ष इस प्रकार वर्षों के चार विभाग किये हैं और वैदिक ऋचाओं के आधार पर यह सिद्ध किया है कि वैदिकवर्ष का प्रारम्भ बसन्त सम्पात से होता था। इस को तीन पंचांगों में विभक्त करके उन्होंने बतलाया है कि द्वितीय पंचांग अर्थात् मृगशीर्ष काल में ही जिसका समय २५००—४००० ई० पू० तक है ऋग्वेद के बहुत से सूक्तों का निर्माण हुआ। आगे गणना से उन्होंने वेदों को ६००० ई० पू० का भी कहा है।

इस प्रकार तिलक के मत में वेदों को अधिक से अधिक ८००० वर्ष पुराना कहा जा सकता है। डिक्सन और जैकोबी ने भी ज्योतिष की दृष्टि से ही इस विषय पर विचार किया है और जैकोबी वेदों का समय ४५०० ई० पू० निर्धारित करता है। पर वस्तुतः हमें यह दृष्टि भी ठीक परिणाम पर नहीं पहुंचा सकती। प्रो० विन्टरनिज़ कहते हैं कि इस प्रकार ज्योतिष सम्बन्धी गणनायें कितनी भी ठीक क्यों न हों, यह नहीं कहा जा सकता कि जिन मन्त्रभागों को उनका आधार माना गया है उनका निश्चित वही अर्थ है।

मृत्यु देवी का स्वागत

[ब्र० सत्यभूषण द्वादश]

पहले जपतप कर लो भाई समय मिले गपशप करना ।
यदि न हो उस अन्तकाल में प्यारे तड़प-तड़प कर मरना ॥
क्या तुमको स्वीकार मौत है भीषण पश्चात्ताप भरी ।
फिर भी क्यों दिखती है इतनी निरुद्देश्यता बेखबरी ॥
ऋषि सम हँसते-हँसते अभिनव वसनों की अभिलाषा से ।
इच्छा तेरी प्रभो पूर्ण हो कहते मधुमय भाषा से ॥
क्या तुम मृत्यु-देवी का स्वागत ऐसे करना चाहते हो ।
मर कर भी अक्षय युग तक सच्चा जीना चाहते हो ?
तो फिर आंखें खोलो गाढी तामस ये तन्द्रा तोड़ो ।
प्रतिपल जागो प्रतिपल देखो, प्रग्रह^१ मत ढीली छोड़ो ॥
सच्चे राजा बनो गुलामी स्वीय गुलामों की छोड़ो ।
दिव्य चमू ले दिग्दिगन्त में दुष्टों के मस्तक फोड़ो ॥
राजा की सी चाल-ढाल हो राजा की सी शुभ्र-शान हो ।
राजा की सी चमक-दमक हो राजा की सी आनवान हो ॥
अन्त समय फिर अनन्त राज्य की मोदभरी अभिलाषा से ।
हँसते-हँसते तुम भी प्यारे जाओगे सुखदाशा से ॥

राष्ट्रपति का राष्ट्र के बुजुर्गों को आदेश

(ले०—श्री पं० देवराज जी विद्यावाचस्पति)

अराजक लोक में जब मनुष्यों को अपना जीवन-निर्वाह भी कठिन हो जाया करता है तब बुद्धिमानों को यह ख्याल आया करता है कि अव्यवस्थित रहना ठीक नहीं किसी प्रकार की व्यवस्था कायम होनी चाहिए। बुद्धिमान लोग अपने में से एक को अगुआ करके उसको सलाह से अधिक से अधिक मनुष्यों को इकट्ठा करते हैं और उनके सामने सब स्थिति रख देते हैं। तब सब के सामने एक व्यवस्था कायम की जाती है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध कायम होता है। प्रजा का अगुआ अग्नि कहलाता है और प्रजा का व्यवस्थापक राष्ट्रपति इन्द्र कहलाता है। प्रजा को सुव्यवस्थित करने के लिये राष्ट्रपति, अग्नि के द्वारा, व्रत-ग्रहण करता है अर्थात् इस काम को पूरा करने की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेता है। प्रजा को सब प्रकार से सुव्यवस्थित कर चुकने के पश्चात् वह राष्ट्रपति उसी अग्नि के सन्मुख-ग्रहण किये हुए व्रत का परित्याग करता है। राष्ट्रपति राष्ट्र को अपनी मलकीयत वा जायदाद नहीं समझता, किन्तु जिस जिम्मेवारी को पूरा करने के लिये राष्ट्रपति को राष्ट्र सौंपा गया था उस जिम्मेवारी को पूरा कर चुकने पर उसे वह राष्ट्र छोड़ देना पड़ता है अर्थात् राष्ट्रपति निवृत्त (Retired) होजाता है, वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर लेता है।

इतनी बड़ी जिम्मेवारी का काम कोई मनुष्य तब ग्रहण करता है जब उसे उस जिम्मेवारी को पूरा कर सकने के लिये धन और जनके बलों से सुस-

ज्जित कर दिया जाता है और साथ ही उसे उसके कर्तव्यों का बोध करा दिया जाता है। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम चार मन्त्रों में यही कुछ है और पांचवें मन्त्र में व्रत धारण कराया है। इस के पश्चात् राष्ट्र को सब प्रकार से सुव्यवस्थित कर चुकने के पश्चात् राष्ट्रपति दूसरे अध्याय के २८वें मन्त्र से व्रत का विसर्जन करता है। व्रत की समाप्ति पर राष्ट्रपति अग्नि और सोम को सम्पन्न कार्य की सूचना देते हैं:—

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा । सोमाय पितृ-
मते स्वाहा अपहता असुरा रक्षांसि वेदिषदः ॥

यजु० अ० २ मं० २९ ॥

“अध्यापक, उपदेष्टा और ज्ञानियों के हित के लिये उत्तम २ साधनों को और योग्य स्थानों को प्राप्त कराने वाले अग्नि के किये सुसमाचार सुनाता हूँ और प्रशस्त पिता के समान ऐश्वर्य प्राप्ति के साधनों को उपस्थित करने वाले सोम के लिये सुसमाचार कहता हूँ कि हमारी राष्ट्रीय-भूमि पर रहने वाले विघ्न बाधा उपस्थित करने वाले असुर तथा राक्षस बिल्कुल नष्ट हो गये अब कोई नहीं रहा।” ऐसा होते हुए भी विदाई के समय राष्ट्रपति अग्नि को सावधान करते जाते हैं कि राष्ट्र के

१. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छक्रेयं तन्मे राध्यताम् ।

इदमहममनृतात् सत्यमुपैमि ॥

२. अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधि ।

इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि ॥

अन्दर असुर अंश फिर भी उत्पन्न हो सकता है अतः उस अनिष्ट अंश को अग्निदेव अपने राष्ट्र से निकालते रहा करें:—

ये रूपाणि प्रतिमुंचमाना

असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।

परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टौ

ल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥

यजु० अ० २ मं० ३

“भिन्न २ प्रकार के भेस भरनेवाले बहुरूपिये जो दुख देने वाले (अ+सु+र) आत्मज्ञान को प्रदर्शित करने वाली अमृतमयी मधुरवाणी बालते हुए विचरते हैं और जो दुष्टता से भरे हुए लुटेरे तथा चापलूस खुशामदी दूसरों का माल हरण करते हैं अग्नि उनको इस लोक से अर्थात् राष्ट्र से बाहिर निकालता रहे ।” इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति महाराज प्रजा का पालन-पोषण और हर प्रकार की हित-ज्ञत करने वालों (पितरों) को भी कहते जाते हैं कि अपने आप को खूब बलवान् तथा वीर्यवान् करें और चिन्ता-शोक आदि से रहित आनन्दित रहें:—

अत्र पितरो मादयध्वं

यथा भागमावृषायध्वम् ।

अमीमदन्त पितरो यथा

भागमावृषायिषत ॥ यजु० अ० २ मं० ३१ ।

“अपने बच्चों के समान प्रजा का पालन पोषण करने वाले और विद्या सुशिक्षा आदि की सब सामग्री देने वाले हे बुजुर्गों (पितरः) ! इस उत्तम राष्ट्र में आनन्द-पूर्वक रहो मस्त रहो और जितना तुम्हारा भाग है उसके अन्दर रहते हुए दृष्ट-पुष्ट बलवान् ब्रह्मचारी बैल के समान बनो । हे बुजुर्गों ! तुम अपने आप आनन्द में मस्ती में रहते हुए अपनी प्रजा को भी आनन्दित करो और प्रजा का

जो भाग है उसके अनुकूल प्रजा को भी खूब दृष्ट-पुष्ट बलवान् ब्रह्मचारी बैल के समान आचरण करने वाली बनाओ ।” राष्ट्रपति पितरों के उपकारों को स्मरण करता हुआ उनका आदर प्रकट करता है ।

नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः

शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः

पितरः स्वधायै; नमो वः पितरो घोराय;

नमो वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः,

पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त,

सतो वः पितरो देष्मै, तद्वः पितरो वासः ॥

॥ यजु० अ० २ मं० ३२ ॥

“हे बुजुर्गों ! रस अर्थात् तरी का प्रबन्ध करने के कारण, कि जिससे हम खेती कर सकें और बाग बगीचे लगा सकें तथा अन्य आवश्यक कार्य कर सकें, आपको नमस्कार है । हे बुजुर्गों जहां अधिक तरी थी दलदल वा कीचड़ था वहां खुशकी का प्रबन्ध करने के कारण, कि जिससे हम मच्छर आदिसे बच सकें और सड़ते हुए पानी की जगहों को तथा अनावश्यक जल के स्थानों को मट्टी आदि से पूर कर स्थल बना कर और जलाशयों के ऊपर ही तैरने वाले शहर और खेत बना कर रह सकें, आप को नमस्कार है । राष्ट्र में जीव वा प्राणि-विज्ञान को प्राप्त करने के साधनों का प्रबन्ध करने के कारण (अजायब घरों और चिड़िया घरों को स्थापित करने के कारण) और पशु पक्षी आदि प्राणियों की उत्तम नसल बनाने का प्रबन्ध करने के कारण तथा जीवों की रक्षा चिकित्सा पालन पोषण का प्रबन्ध करने के कारण आपको नमस्कार है । हे बुजुर्गों ! जीवों के शरीर धारण के लिये विविध प्रकार के पुष्कल खाद्य पदार्थ की उत्पत्ति का प्रबन्ध करने के कारण

आप को नमस्कार है। हे बुजुर्गों! चोर डाकू लुटेरों बहुरूपियों गठकतरो आदि से हमारी रक्षा निमित्त उन को पकड़ने के लिये जो आपने कुटिलता के आचरण का घोर रूप धारण किया है और गुप्तचरों का प्रबन्ध किया है उस प्रबन्ध के कारण आप को नमस्कार है। हे बुजुर्गों हमारे व्यतिक्रम पर हमारे सुधार के लिये जो आपने कभी क्रोध किया है उसके कारण आप को नमस्कार है। नमस्कार है आप को हे बुजुर्गों! हे बुजुर्गों! आप को नमस्कार है। हे बुजुर्गों आपने हमारे लिये विविध कर्षों के निमित्त विविध प्रकार के आश्रय दिये हैं। हे बुजुर्गों हमारी ये सब विद्यमान वस्तुएं आप की हैं। हे बुजुर्गों! हमारे भवन का दरवाजा आपके लिये खुला है ॥” अब राष्ट्रपति शिक्षक पितरों से निवेदन करते हैं कि विद्या ग्रहण के लिये आये हुए कुमारों को पितृ लोग गर्भवत् धारण करें :—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् ।

यथेह पुरुषोऽसत् ॥ यजु० अ० २ मं० ३३ ॥

“हे शिक्षक बुजुर्गों! पुष्कर कमल की माला पहिने हुए कुमार को गर्भ के समान अपने पास रक्खो कि जिस प्रकार रखने से इस संसार में यह पुरुष पूर्ण हो जावे ॥”

विद्वान् लोग अपने राष्ट्र के बालकों के लिये शिक्षणालय स्थापित करें। इन शिक्षणालयों में विद्या, सुगुण और सत्कर्मों में अभ्यास के लिये बालक दीक्षा लेवें। दीक्षा लेने के चिह्नरूप में कमल नाल की माला को धारण करें। जब तक ज्ञान और कर्म में पूर्णता को प्राप्त करके परिपक्व न हो जावें तब तक अपने शिक्षालय को न छोड़ें अर्थात् दीक्षान्त करके सांसारिक संसर्ग और चिन्ताओं में न पड़ें। जैसे गर्भ माता की कुक्षि में पड़ा हुआ

अङ्ग प्रत्यङ्ग से पूर्ण होकर परिपक्व और पुष्ट होकर अपने ठीक समय के पश्चात् बाहिर संसार में आता है और संसार की गर्मी सर्दी तथा हवा के प्रभाव को ग्रहण करने के योग्य होता है वैसे बालक भी पूर्णविद्वान् कार्यकुशल शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल से सम्पन्न होकर स्नातक बन कर बाहिर आता है तब पुरुष कहलाता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि जब तक शिक्षण काल समाप्त नहीं हो जाता वा बालक पुरुष नहीं बन जाता अर्थात् वेदादि शास्त्रों की विद्या में निपुण कर्म कुशल धार्मिक सदाचारी सुशील और परोपकार वृत्ति का नहीं बन जाता तब तक उसका विवाह संस्कार नहीं होना चाहिये। उसे गृहस्थ धर्म में प्रवेश नहीं करना चाहिए। गर्भ की सुन्दर उपमा देकर वेद ने बतलाया है कि शिष्य की रक्षा शिक्षणालय में वैसे ही सावधानता से होनी चाहिए जैसी सावधानता से माता के गर्भ की की जाती है। माता का गर्भ जैसे नाजुक हालत में होता है, वैसे ब्रह्मचारी शिक्षणालय में नाजुक हालत में होता है। गर्भ की रक्षा के लिये माता को जिस प्रकार सावधान रहना पड़ता है—वह कोई ऐसी चीज़ सेवन नहीं करती जिससे रोगी हो जावे, उसे मन्दाग्नि हो जावे, दस्त लग जावें वा कब्ज हो जावे, उसका रस विकृत होकर गर्भ की धातुओं को भी विकृत करदे वा गर्भस्त्राव हो जाय इत्यादि, जिस प्रकार माता गन्दे विचारों वात्ती अश्लील पुस्तकों की और मनुष्यों की संगति से पृथक् रहती है कि गर्भस्थ बालक का मन कुविचारों से शून्य रहे, वह अपने जीवन में सदाचारी ब्रह्मचारी संयमी सुशील धर्मात्मा उत्तम सज्जन बने—उसी प्रकार शिक्षकों को चाहिए कि अपने शिष्यों को आदर्श के लिये अपने विचार ज्ञान

और कमों को आदर्शरूपमें पवित्र बनावें ब्रह्मचारी को जो कुछ लेना हो वह सब उसे अपने शिक्षक से पका पकाया तैयार मिले इधर उधर ब्रह्मचारी को भटकने की आवश्यकता न हो। शिक्षक अपने शिष्य को ऐसे स्नेहमय बन्धन से बांधे कि शिष्य अपने शिक्षक को छोड़ना ही न चाहे। जब तक शिक्षक यह नहीं समझ लेते कि उन्होंने कुमारों को शिक्षा के लिये जो इकट्ठा किया है यह उन्होंने गर्भधारण किया है— शिक्षक अपने शिष्यों की माता है—तब तक वेद की दृष्टि में शिक्षणालय का आदर्श स्थापित नहीं होता। माता जिस गर्भ को धारण करती और तकलीफ़ उठाती है उससे बहुत अधिक कठिन कार्य शिक्षक के लिये कुमार रूपी गर्भ का धारण करना है। शिक्षणकार्य में माता से अधिक ज़िम्मेवारी शिक्षक की है। बालक आत्मा मन वाणी शरीर को पुष्ट करने वाले साधनों की प्राप्ति की इच्छा की माला के चिह्न के रूप में पुष्कर की माला धारण कर के शिक्षणालय में दीक्षित होता है। वेद के अभिप्राय में शिक्षक जिसको दीक्षा देता है उसे सब प्रकार से पुष्ट कर देने की आशा से ही

दीक्षा देता है। दीक्षान्त करके, स्नातक होकर, जो जन्म होता है वह बालक का विद्याजन्म है। यह जन्म देहजन्म से उत्तम है। इसी से मनुष्य द्विजन्मा कहलाता है क्योंकि विद्या-जन्म उसका दूसरा जन्म है। शिक्षक पितरों को शिक्षणकार्य के लिये निश्चिन्त करने के लिये दीक्षित कुमारों की जनता से प्रार्थनाः—
 ऊर्ज वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
 स्वधास्थ, तर्पयत मे पितृन् ॥

य० अ० २ अ० ३४ ॥

“हे प्रजाअ ! तुम बल और प्राण को देनेवाले रस वा जल को प्राप्त कराने वाली हो, तुम रोग नाशक औषधि को प्राप्त कराने वाली हो, घी और दूध पहुँचाने वाली तुम हो, भूख के बन्धन को काटवानेले अन्न को देने वाली और पके-पके फलों को देने वाली भी तुम ही हो, शरीर की रक्षा करने वा ढकने के जो साधन हैं उनको देनेवाली हो। अतः मेरे पितरों को अर्थात् विद्या अन्न आदि से मेरा पालन रक्षण करने वाले मेरे शिक्षकों को तृप्त रखो कि जिससे वे निश्चिन्त होकर शिक्षण कार्य में लग सकें, उन्हें मेरे पालन पोषण की फ़िक्र में इधर-उधर भटकना न पड़े।”

आह्वान !!

[१०—श्री चातक, गुरुकुल मटिगढ़]

जरूरत तेरी अब है, शिव के पुजारी !

भारत ने सारा सामान सजायो है ।

आरत यह भारत पड़ा है दिनों से,

इक तुझ वैद्य को ही इसने बुलायो है ॥

भाखत है मन्दिर दंकारे का रीता,

शिव का पुजारी वह किधर सिधायो है ।

बहुत हो चुका अब, यह प्यासा है ‘चातक’

स्वाति वारिवाह की ही आस लगायो है ॥

गुरु और शिष्य

ले०, प्रो० लालचन्द जी एम.ए.

यह विश्व (Universe) एक विश्व विद्यालय (University) है। इस में सभी गुरु हैं, सभी शिष्य हैं। हर एक हर एक से कुछ न कुछ सीखता है या सीख सकता है। हर एक हर एक को कुछ न कुछ सिखाता है या सिखा सकता है। सामान्य जीवन में यदि हर एक यह ख्याल रखे कि मैं शिष्य हूँ और परम गुरु परमात्मा सब के द्वारा मुझे शिक्षा देता है और वह शिक्षा मुझे ग्रहण करनी चाहिये तो जीवन बड़ा मधुर और उन्नत हो जाये।

तुलसी इस संसार में, सब से मिलियो धाय।

न जाने किस रूप में, नारायण मिल जाय ॥

छोटी से छोटी वस्तु, छोटे से छोटा प्राणी, बड़े से बड़े की आँखें खोल सकता है, और उसे सत्य ज्ञान की ओर चला सकता है। एक गिरते हुये सेब से न्यूटन (Newton) ने गुरुत्वाकर्षण के नियम (Law of Gravitation) का पाठ पढ़ा। एक चूहे ने मूलशंकर को सच्चे शिव की तलाश के लिये कटिबद्ध कर दिया।

× × ×

यह क्या बात है कि बड़े आदमी तो छोटी सी बात से शिक्षा ले लेते हैं और साधारण आदमी बड़ी बातों से भी कुछ शिक्षा नहीं लेते? कारण यह है कि आजकल प्रायः हम सब को मानसिक अजीर्ण हो रहा है। खा लिया बहुत, पचा कुछ है नहीं। हम रोगी हैं, अस्वस्थ हैं। हम कुछ पकड़ नहीं सकते। बहुत कुछ पकड़ ले ऐसी इच्छा तो

रहती है और अन्दर डाँतते भी चले जाते हैं पर वह सारा वैसे का वैसा ही निकल जाता है और हम कोरे के कोरे ही रह जाते हैं। कितनी पुस्तकें पढ़ीं और पढ़ते समय कितना जोश आया कि बस अब दयानन्द नहीं तो श्रद्धानन्द तो बन ही जायेंगे। पर उधर किताब समाप्त हुई उधर जोश खतम हुआ। कितने व्याख्यान सुने और कितनी बार संकल्प किये कि बस भाई अब तो कुछ कर के बताएंगे। पर फिर पुराने संस्कारों से वशीभूत होकर सब व्रत भंग कर दिये।

× × ×

हम किस को पकड़ते हैं और कितने जोर से पकड़ते हैं इस से बहुत कुछ हमारे जीवन की दशा और दिशा निश्चित होती है। यदि हम झूठ को और पाप को पकड़ते हैं और जोर से पकड़ते हैं तो अपना सत्यानाश कर लेते हैं। यदि सत्य को और पवित्रता को जोर से पकड़ते हैं तो अपना कल्याण कर लेते हैं। सत्य और असत्य सब के सामने आते हैं और कहते हैं कि हमें चुन लो। नर आदमी सत्य को चुनते हैं, नपुंसक असत्य को चुनते हैं। दयानन्द ने सत्य को चुना था, सत्य को पकड़ा था और बड़े जोर से पकड़ा था। हम असत्य को चुनते हैं, असत्य से चिपकते हैं, और फिर अपने आप को उस शेर के शिष्य कहने में लज्जा अनुभव नहीं करते।

+ + +

खोजा, सत्य को पाया, सत्य को ग्रहण किया, सत्य का व्यवहार किया, सत्य का प्रचार किया, सत्य के लिये अपने आप को न्योछावर कर दिया। हम समझते हैं सत्यार्थप्रकाश पढ़ लिया सत्य की प्राप्ति होगई। सत्य की प्राप्ति केवल पढ़ने से नहीं होती। सत्य की प्राप्ति के लिये तो तप चाहिये, संयम चाहिये, ब्रह्मचर्य चाहिये। सत्यार्थप्रकाश में प्रकाशित सत्य भी तभी ठीक तरह से प्रकाशित होता है और तभी वस्तुतः लाभकारी होता है जब पाठक उस सत्य को अपने जीवन में ले आता है। जब तक केवल ज़ुबानी जमा खर्च है तब तक वहस में तो औरों को भले ही हरा ले, उसे कोई वास्तविक प्राप्ति नहीं हो सकती।

+ + +
तप से पकड़ने की शक्ति मिलती है। पुराने ज़माने में गुरु लोग ब्रह्मचारियों से तप खूब कराते थे, और तब तप द्वारा उन के पकड़ने की शक्ति बढ़ जाती थी तो थोड़े से उपदेश से ही उन के आत्मा को जगा देते थे और उन्हें सत्य धारण करा देते थे। तप से मनुष्य उन्नत होता है। तप से जातियां उन्नत होती हैं। पर जब तप का अभाव हो जाता है तो पतन शुरू होजाता है। दयानन्द का जीवन शुरू से आखीर तक तप का जीवन था। शिवरात्रि को उपवास किये हुए जागते रहे तो इशारा मिल गया। सो जाते तो सोये रहते। इशारा मिलना था कि सच्चे शिव की तलाश के लिये नये तप शुरू कर दिये। वह तप किये कि वर्णन पढ़ते रागटे खड़े हो जाते हैं। गुरु विरजानन्द जी के पास रहे तो अत्यन्त कठोर जीवन बिताया। जब खुद गुरु बने तब भी तप द्वारा देदीप्यमान रहे।

+ + +
भाई अपने आप तो जो बने सो बने, यदि अपने बच्चों को कुछ बनाना चाहते हो तो शहरों के गन्दे वायु मण्डल में से निकाल कर गुरुकुलों के शुद्ध वायु मण्डल में भेजो ताकि वहाँ रह कर वह तप करें और सत्य को पकड़ने की शक्ति पैदा करें। तपस्वी सन्तान कुल का दीपक बन जाता है। देश

और धर्म की सच्ची सेवा करने योग्य हो जाती है। सरल, चरित्रवान्, बलवान् होती है और अपने इर्द गिर्द के वायु मण्डल को अपने गुणों की कीर्ति से सुगन्धित कर देती है।

+ + +
यह तप क्या वस्तु है कि जिस से तपस्वी पकते हैं और सत्य को ज़ोर से पकड़ने की शक्ति प्राप्त करते हैं, जिस से मानसिक अनीर्ण दूर होता है और मनुष्य का जीवन सफल होता है ?

गीता के शब्दों में सच्चा तप तीन प्रकार का है—
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमर्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरं तप उच्यते ॥

अर्थात् देव, ब्राह्मण, गुरु और दानाओं की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यासनं चैववाङ्मयं तप उच्यते ॥

वाक्य जो दुःखदायी न हो, सत्य हो, प्रिय और हित हो तथा स्वाध्याय का अभ्यास, यह वाचिक तप कहलाता है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ॥

मन की शान्ति और प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, मन को वश में रखना और भावना की शुद्धि अर्थात् व्यवहार में छल कपट से रहित होना यह मानस तप कहलाता है।

सरल शब्दों में बड़ों की सेवा, आज्ञा पालन और पूजा, खाने पीने में, पहरावे में, रहन सहन में, सादगी और सफ़ाई, शरीर को प्रभु का मन्दिर समझ कर पाप से अलिप्त रखना और अन्याय से दूसरों को न मारना शारीरिक तप है।

दूसरों से सच्ची हितकर न चुभने वाली बात करना और उत्तम ग्रन्थों का आदर पूर्वक और मनन पूर्वक स्वाध्याय करना वाचिक तप है।

सदा हंसमुख और प्रसन्न चित्त रहना, दुःख में भी प्रभु का शुक करना और चित्त शान्त रखना, शराफ़त, मौन, मन को काबू में रखना और नियत की सफ़ाई यह मानस तप है।



सभा का गत वृहदधिवेशन—

आर्थ प्रतिनिधि सभा का वार्षिक साधारण वृहदधिवेशन गत ३०, ३१ मई को सभा के कार्यालय गुरुदत्त भवन में समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में आगामी वर्ष के लिये सभा के अधिकारियों और अन्तरंग सभा तथा विद्या सभा के सदस्यों का चुनाव एवं सभा के प्रबन्ध में चल रही विभिन्न संस्थाओं के वार्षिक बजट स्वीकृत हुआ करते हैं। इस के अतिरिक्त प्रतिनिधियों की ओर से आये हुए विभिन्न प्रस्तावों पर भी इस अधिवेशन में विचार हुआ करता है। इस वर्ष के अधिवेशन में एक और नई बात हुई। दो वर्ष हुए सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया था जिस के अनुसार गत वर्ष के वार्षिक वृत्तान्त के विवरण के पश्चात् और चुनाव के पूर्व, कम से कम दो घण्टे इस लिये रखे गये थे कि उस समय इस विषय पर विचार हुआ करे कि आगामी वर्ष में सभा की ओर से प्रान्त में विशेष क्या कार्य किया जाया करे। इस लिये इस वर्ष इस प्रस्ताव के अनुसार दो घण्टे इसी विषय पर विचार होता रहा। इस बीच में कई सदस्यों के सुन्दर निर्देश मिले। जिनके अनुसार कार्य करने से सभा के कार्य को विशेष प्रोत्साहन मिल सकता है। इस वर्ष का चुनाव इस प्रकार रहा—

अन्तरङ्ग सदस्य

अधिकारी—१. आचार्य रामदेव जी प्रधान; २.

राय साहव अमृतराय जी उप प्रधान; ३. पं० इन्द्र जी उ० प्र०; ४. ला० चरणदास जी उ० प्र०; ५. पं० भीम-सेन जी मन्त्री, ६. ला० नोत्तनदास जी कौषाध्यक्ष, ७. पं० प्रियव्रतजी पुस्तकाध्यक्ष।

प्रतिष्ठित सदस्य—८. पं० ज्ञानचन्द्र जी आर्य सेवक; ९. प्रो० शिवदयाल जी; १०. पं० ठाकुरदत्त जी शर्मा; ११. आचार्य देवशर्मा जी; १२. ला० हरदयाल जी; १३. पं० सत्यव्रत जी; १४. श्रीमती शन्नोदेवी जी; १५. पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार, १६. पं० चमूपति जी एम. ए.।

समुदाय सदस्य—१७. म० रामचन्द्र जी मुलतान; १८. म० अनन्तराम जी जम्मू; १९. म० मुकुन्द-लाल जी भूपालवाला; २०. पं० सोमदत्त जी गुरु-कुल कुरुक्षेत्र; २१. पं० रामेश्वर जी स्नातक; २२. म० अर्जुनदेव जी वकील; २३. म० मेहरचन्द जी 'आर्य-वीर', २४. महता शान्तिस्वरूप जी; २५. म० चिर-जीलाल जी प्रेम।

अन्तरङ्ग सभा द्वारा निर्वाचित—२६. श्री रा० व० मकख नलाल जी; २७. श्री ला० सोभाजजी जामपुर।

आर्य विद्या सभा के सदस्य

अधिकारी—सभा के ७ अधिकारी।

संरक्षकों में से प्रतिनिधि—८. म० छज्जराम जी लायलपुर।

स्नातकों में से प्रतिनिधि—९. पं० यशःपाल

जी सि० अ०; १०. पं० जयदेव जी वि० अ०।

स्नातिकाओं में से प्रतिनिधि—११. कुमारी शान्तादेवी विद्यालंकृता ।

उपाध्यायों में से प्रतिनिधि—१२. प्रो० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय ।

साधारण सदस्य—१३. ला० हरदयाल जी; १४. ला० रामलाल जी, १५. पं० बुद्धदेव जी; १६. ला० देवराज जी सेठी, १७. पं० ज्ञानचन्द्र जी, १८. पं० सत्यकेतु जी; १९. प्रो० शिवदयालु जी; २०. पं० दीन-दयालु शास्त्री, २१. ला० लम्भूराम जी नैय्यड़; २२. पं० इन्द्र जी एम. ए., २३. श्रीमती सीतादेवी जी ।

अपने पदाधिकार से होने वाले सदस्य—२४. पं० सत्यव्रत जी मु० अ० गु०; २५. आचार्य देवशर्मा जी, २६. आचार्य विद्यावती जी क० गु० २७. मुख्या-धिष्ठाता कन्या गुरुकुल (स्थान रिक्त है) ।

चुनाव के पश्चात् गुरुकुल और वेदप्रचार-विभाग के बजट स्वीकृत हुए । गुरुकुल के मुख्या-धिष्ठाता जी के प्रयत्न से गुरुकुल का बजट बड़े अच्छे आधार पर आ गया है । गत वर्ष में जितनी आय हुई है उतना ही व्यय आगामी वर्ष में रखा गया है । इस प्रकार आय और व्यय बिल्कुल सम हो गई हैं । पिछले कई वर्षों से गुरुकुल का बजट घाटे पर चल रहा था । इस वर्ष वह बात नहीं रही है । गुरुकुल के कई विभागों के खर्च में भारी कमी कर देने के कारण यह बात संभव हो सकी है । वेदप्रचार-विभाग के स्वीकृत बजट में इस वर्ष भी १५ सहस्र का घाटा है । पिछले कितने ही वर्षों से इस विभाग की स्थिति घाटे में ही चली आ रही है । आर्यसमाज सभा को जो वार्षिक सहायता देती है उसीसे इस विभाग की आय होती है । परन्तु सभा समाजों पर जो धन नियत करती है वे उसे पूरा नहीं देती । यह राशि ऐसी नहीं होती कि दी न जा सके । यदि समाज चाहें

तो यह राशि आसानी से दे सकते हैं । परन्तु वे कोशिश नहीं करतीं । समाजों को चाहिये कि वे आगामी वर्ष में अपने नाम नियत धन को पूरी मात्रा में दें जिससे आगे को बजट में घाटा न रहे । यह घाटे की अवस्था देर तक नहीं चल सकती । हमें आशा करनी चाहिए कि सभा के नव निर्वाचित अधिकारियों और अन्तरंग एवं विद्या सभाओं के हाथ में सभा का कार्य आगामी वर्ष में और भा उन्नति करेगा ।

वैदिक अनुसन्धान—

पिछले ४-५ वर्ष से सभा ने अपने अधीन एक वैदिक अनुसन्धान-विभाग (Research Department) की स्थापना कर रखी है । इस विभाग का उद्देश्य वेदों, ब्राह्मणों और उन पर आश्रित वैदिक-साहित्य के अन्य बहुमूल्य ग्रन्थों का सरल, सुन्दर, सुबोध भाष्य तय्यार करना, वेद की शिक्षाओं के विभिन्न अंगों पर व्याख्यात्मक विस्तृत ग्रंथ लिखना, और आर्यसमाज के धार्मिक दार्शनिक और सामाजिक सिद्धान्तों की पुष्टि में ग्रंथ निर्माण करना है । अब तक इस विभाग में अकेले पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार कार्य कर रहे थे । उन्होंने यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण का विस्तृत भाष्य लिखना प्रारंभ कर रखा है । उसके २३२ पृष्ठ आर्य में निकल चुके हैं । पाठकों ने देखा होगा कि आर्यसमाज के वैदिक साहित्य में यह कितना महान् और अद्भुत ग्रंथ तय्यार हो रहा है । इसके अतिरिक्त इन वर्षों में इस विभाग के अधीन पं० बुद्धदेव जी ने (१) ब्रह्मयज्ञ और (२) देवयज्ञ की व्याख्यायें (३) शतपथ में एरुपथ (४) स्वर्ग (५) सोम (६) मरुत् (७) अद्रि (८) स्वर्ग का संस्कृत-नुवाद ये आठ पुस्तकें और लिखी हैं । पर अभी

तक यह विभाग बहुत साधारण रूप में चल रहा था। सभा की गत अर्द्धशताब्दी के अवसर पर सभा ने इसको अधिक दृढ़ आधार पर खड़ा करने का निश्चय किया। इसके लिए (५००००) की अपील की गई। इस पर आठ-दस हजार रुपये एकत्रित भी हो गये और कुछ प्रतिज्ञायें भी अभी प्राप्त होनी हैं। एक सज्जन ने (१४०) मासिक तक देने की प्रतिज्ञा की है। इस समय इस विभाग में पं० बुद्धदेव जी की अध्यक्षता में तीन पण्डित कार्य कर रहे हैं। शतपथ के अतिरिक्त अथर्ववेद के भाष्य का कार्य भी प्रारंभ कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति “वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त” नाम की एक बृहत् पुस्तक तैयार कर रहे हैं जो क्रमिक रूप से आर्य में निकल रही है। इस सब कार्य पर जो व्यय आयेगा वह अभी तक जो राशि प्राप्त हुई है उससे पूरा नहीं हो सकता। अनुसन्धान-विभाग का वार्षिक खर्च चलाने के लिये सभा चाहती है कि ५०० ऐसे दानी सज्जन तैयार हो जायें जो इस विभाग को कम-से-कम (१०) वार्षिक सहायता दिया करें। इस प्रकार अनायास ही प्रतिवर्ष इस विभाग का खर्च चलाने के लिये (५०००) की राशि एकत्र हो सकती है।

हम आशा करते हैं कि प्रान्त की आर्यसमाज तो कोई भी ऐसी न रहेगी जो कम-से-कम से (१०) वार्षिक सहायता इस विभाग को न करती हो। बड़ी सभायें तो सौ-सौ, पचास-पचास रुपये की वार्षिक सहायता भी बड़ी आसानी से कर सकती हैं। हम आर्य के ग्राहकों से भी इस विभाग के सहायक दानियों में नाम लिखाने की प्रेरणा करेंगे।

हीरालाल गान्धी का धर्म परिवर्तन—

पिछले दिनों महात्मा गान्धी जी के ज्येष्ठ पुत्र हीरालाल गान्धी मुसलमान हो गये हैं। इससे मुसलमानों में बड़ी खुशियां मनाई जा रही हैं। कुछ मुसलमानों ने तो महात्मा गान्धी जी को भी अपने पुत्र की तरह इस्लाम स्वीकार कर लेने की प्रेरणा की है। महात्मा जी ने तो मुसलमानों के इस निमन्त्रण को स्वीकार ही क्या करना था। महात्माजी को आत्मिक उन्नति के लिये अपेक्षित सारी सामग्री अपने पैतृक हिन्दुधर्म में मिल जाती है इसलिये उन्हें किसी अन्य धर्म की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु महात्मा जी ने मुसलमानों को जो पत्र लिखा है उससे हीरालाल के धर्म परिवर्तन के स्वरूप पर जो प्रकाश पड़ता है उससे हीरालाल के मुसलमान हो जाने पर मुसलमानों को खुशियां मनाने का कोई स्थान नहीं रह जाता। हीरालाल का जैमा चरित्र है वैसा एक धार्मिक पुरुष का नहीं होना चाहिये। उन्होंने आत्मिक उन्नति का साधन समझ कर इस्लाम को ग्रहण नहीं किया है। उनके धर्म परिवर्तन की तह में धन की प्राप्ति की अभिलाषा है। कुछ दिन पहिले उनके ईसाई हो जाने की अफवाह सुनी थी। ईसाई हो जाने पर कुछ विशेष प्राप्ति की आशा न देख कर और हिन्दुओं से कुछ सहायता की आशा देख उन्होंने इस अफवाह का खण्डन प्रकाशित करा दिया था। कुछ वर्ष पूर्व जब महात्मा जी ने आर्यसमाज के सम्बन्ध में कुछ कड़ा लिखा था तो हीरालाल जी आर्यसमाजी हो गये थे। पर वे देर तक आर्यसमाज में भी न रहे। यदि हीरालाल जी ने आत्मिक लाभ की दृष्टि से धर्मपरिवर्तन किया होता तो मुसलमानों के लिये खुशी का स्थान होता। पर उन्होंने तो धर्मपरिवर्तन को सौदे की चीज बना रखा है। ऐसे आदमी के किसी धर्म में आ

जाने से उसका कोई लाभ नहीं हो सकता—उलटा हानि की ही संभावना है—और इसीलिये ऐसे व्यक्ति के आने से उन्हें खुशियें नहीं मनानी चाहियें। परन्तु इस्लाम के उपलब्धमान स्वरूप में धर्म परिवर्तन के साथ आत्मिक उन्नति का विशेष सम्बन्ध नहीं है। वहां मुसलमान कहने लग जाने मात्र से एक व्यक्ति दूसरे धर्म के व्यक्तियों से श्रेष्ठ हो जाता है। इसी लिये मौ० मुहम्मद अली ने कहा था कि एक भ्रष्ट से भ्रष्ट मुसलमान भी महात्मा गांधी से ऊंचा है क्योंकि वह मुसलमान नहीं हैं और इसीलिये महात्मा जी का निजात नहीं होगा और उस मुसलमान का निजात हो जायेगा क्योंकि वह इस्लाम में विश्वास रखता है। इसलाम में विश्वास की महिमा है, आचरण की नहीं। इसीलिये मुसलमान हीरालाल के आचरण को न

देखते हुए उसके नाममात्र से मुसलमान हो जाने पर खुशियें मना रहे हैं। वैदिक धर्म का इस्लाम से यहीं बड़ा भेद है। हमारे यहां विश्वास कर लेने और नाम बदल लेने मात्र से कल्याण नहीं होता—मोक्ष नहीं मिलता—उसके लिये हमारे यहां आचरण में सुधार की आवश्यकता है। आचरण की श्रेष्ठता के बिना किसी का मंगल नहीं हो सकता। श्रेष्ठ आचरण वाला व्यक्ति किसी नाम के नीचे भी मंगल को प्राप्त कर लेगा। वैदिक धर्म आचरण में लाने की चीज है, केवल नाम लेने की नहीं। इसलिये हमें तो इससे कोई प्रसन्नता या दुःख नहीं देता कि हीरालाल किस धर्म में रहते हैं और किसमें नहीं। हां उनके आचरण की हीनता और धर्म को सौदे की वस्तु बना लेने की वृत्ति से अवश्य दुःख होता है।

ट्रैक्टों का सिलसिला

सभा का साहित्य विभाग प्रति मास हिन्दी तथा उर्दू में समाजों में प्रचारार्थ मुफ्त बांटने के लिये ट्रैक्ट प्रकाशित करता है। २५ प्रतियों का एक पैकट प्रति मास मंगवाने पर २) वार्षिक चन्दा है। यदि आप का समाज अभी तक इस ट्रैक्टों के मासिक सिलसिले का ग्राहक नहीं बना तो शीघ्र ही २) मनीआर्डर द्वारा भेज कर इस के अवश्य ग्राहक बन जाइये।

अध्यक्ष—साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

उय रूप से प्रकाश का विस्तार कर रहे हैं।
'वास' उपसेवायाम्, चुरा०)।"

इस प्रकार इन तीन सामिधेनियों का सार यह हुआ कि विद्वान् जब किसी विभाग को हाथ में ले तो उस के सामने यह तीन दशा आती हैं :—

(१) पहिले उसे अव्यवस्था में व्यवस्था उत्पन्न करनी पड़ती है।

(२) फिर खूब मेहनत और नए नए परीक्षण बुद्धि-पूर्वक करने पड़ते हैं।

(३) फिर संगृहीत सत्यों का विस्तार करके विभाग को यशस्वी, विशाल और शक्तिशाली बनाना होता है जिस के लिये यह आवश्यक है कि वह सदा सुने कि लोग उस के सम्बन्ध में सच्चे हृदय से क्या कहते हैं, कभी खुशामद से सन्तुष्ट न हो जावे। तब यजमान (राष्ट्रपति राजा) को सुख मिलता है।

जिस हीता ने अपने विभाग को इन तीनों दशाओं तक पहुँचा दिया उसने अपने यजमान को तीनों लोकों का अधिपति बना दिया। परन्तु यह बात तब ही हो सकती है जब यजमान अपने होना को सन्तुष्ट रखे, उस से प्रेम करे, उसे साधन दे, तथा उसका आदर करे। प्रेम तथा सामग्री का वर्णन 'समिद्धिः' और 'धृतेन' इन शब्दों में पहले आ चुका है। अब आदर का वर्णन अगली सामिधेनी में करते हैं :—

सोऽन्वाह "ईडेन्यो नमस्य" (ऋ० ३।
२७।१३) इतीडेन्यो ह्येष नमस्यो ह्येष

"तिरस्तमांसि दर्शत" (ऋ० ३।२७।१३)

इति तिर इव ह्येष तमांसि समिद्धो ददृशे
"समग्निरिध्यते वृषे" (ऋ० ३।२७।१३) ति
संश्रद्धीध्यते वृषा। २६।

सामिधेनी इस प्रकार है :—

ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः
समग्निरिध्यते वृषा। ऋ० ३।२७।१३

इसकी शतपथानुसार व्याख्या है :—

"वह पढ़ता है 'ईडेन्यो नमस्यः।' सो यही ईडेन्य है, यही नमस्य है। "तिरस्तमांसि दर्शतः", यह भौतिक अग्नि देख लो इसी के समान विद्वान् भी अन्धकार को तितर बितर कर देता है और इसी के समान जब दीप्त हो तब दर्शनीय होता है। आगे कहते हैं, "समग्निरिध्यते वृषा।" सो यह दीप्त किया जाता है, वृषा इसलिये कि यह वर्षा करता है, समिध्यते इसलिये कहा कि प्रदीप्त तो किया ही जाता है। २९." मन्त्र का अर्थ यों हुआ यह कि, "यजमान द्वारा विभाग का अध्यक्ष सदा स्तुति करने योग्य है, तथा नमस्यः झुक कर मिलने योग्य है। अर्थात् केवल ऊपर से वाणी द्वारा ही विद्वान् की स्तुति न करता रहे मनोवृत्ति भी उस के प्रति सदा नम्रता की रखे। वह अन्धकार को दूर करता है और दर्शनीय है। ऐसे सुखवर्षी विद्वान् को विभाग की अध्यक्षता के आसन पर प्रदीप्त किया जाता है।"

तात्पर्य यह कि विद्वान् का गुण यह होना चाहिये कि वह तो स्वभाव से ही वृषा मेघ के समान ऊसर, तालाब, खेत सर्वत्र ज्ञान-जल की वर्षा करने वाला तथा अग्नि के समान अन्धकार से नैसर्गिक द्वेष करने वाला हो। मेरी स्तुति हो, लोग मुझे नमस्कार करें इसकी प्रतीक्षा वा आशा न करे। हाँ यजमानों का कर्तव्य है कि उसकी स्तुति करें और नमस्कार करें। साथ ही विभाग के अध्यक्ष का कर्तव्य है कि वह दर्शनीय रहे। मैले वस्त्र तथा भद्दे ढङ्ग से न रहे। यहीं से मनु ने कहा है :—

“न जर्णिमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति।” चरक के सूत्रस्थान अष्टम अध्याय में भी लिखते हैं कि वैद्य का साधुवेश हो तथा ‘नित्यमनुपहतवासाः सुमनाः सुगन्धिः स्यात्।’ परन्तु शतपथ ने यह बता दिया है कि सब से बड़ी दर्शनीयता उस कान्ति में है जो सत्य की प्रबल खोज में रहने वाले विद्वान् के चेहरे पर वास करती है। इसी लिये कहा ‘समिद्धो ह्येष ददृशे।’ तात्पर्य यह कि होता को दर्शनीय भी होना चाहिए। तथा “तमांसि तिरः” से यह व्यञ्जना निकलती है कि तम का उलटा अर्थात् श्वेत वस्त्र वाला होना चाहिये। इसी लिये स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों के वस्त्र श्वेत लिखे हैं। वेद का आशय इतना है कि उसे दर्शनीय होना चाहिये।

अब अगली सामिधेनी में उसकी मानसिक उन्नति कैसी होनी चाहिये सो बताते

हैं। वात्सरूप की दर्शनीयता के साथ वह मानसिक शक्तियों में कैसा हो :—

“वृषो अग्निः समिध्यते” (ऋ० ३।२७। १४) स ॐ हीध्यते “अश्वो न देव वाहन” (ऋगू० ३।२७। १४) इति अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति यद्वै नेत्यृच्योमिति तस्मादाह अश्वो न देववाहन इति। ३०। “त ॐ हविष्मन्त ईडते” (ऋ० ३।२१। १४) हविष्मन्तो ह्येतं मनुष्या ईडते तस्मादाह त ॐ हविष्मन्त ईडते। ३१।

सामिधेनी इस प्रकार है :—

वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः त ॐ हविष्मन्त ईडते। ऋगू० ३।२७। १४

इस कण्डिका का “वृषो अग्निः

समिध्यते स ॐ हीध्यते” इतना भाग २६ वीं काण्डिका में मिल हुआ छपा है। सायण भाष्य में भी इसी प्रकार है। किन्तु इसमें स्पष्ट लेखक का प्रमाद दीखता है। समस्त कण्डिकाओं में मन्त्र की समाप्ति के साथ कण्डिका की समाप्ति है। फिर २९ वीं काण्डिका में अगली सामिधेनी का भाग कैसे घुस आया? इस का कारण लेखक प्रमाद के अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता। अब उसकी शतपथानुसार व्याख्या लिखते हैं :—

“होता सामिधेनी पढ़ता है—वृषो

अग्निः समिध्यते” तो वह प्रदीप्त किया ही जाता है। आगे वाक्य है “अश्वो न देव-वाहनः”। सो यह अश्व होकर देवों तक यज्ञ को पहुंचाता है। यहां “अश्वो न देववाहनः” में जो ‘न’ पड़ा है वह निषेध वाची नहीं। लौकिक संस्कृत में जो निषेधार्थक न है वह ऋचा में स्वीकारार्थक भी होता है। इसी अर्थ में यहां कहा है “अश्वो न देव वाहनः।३०।” आगे वाक्य है “त ॐ हविष्मन्त ईडते।” सो यह मनुष्य लोग हविष्मान् होकर उसकी स्तुति करते हैं, इस लिये कहा “त ॐ हविष्मन्त ईडते”। ३१।

भावार्थ यह हुआ कि ज्ञानवर्षी विद्वान् की मानसिक उन्नति ऐसी होनी चाहिये कि वह यज्ञ को अर्थात् हमारे विभाग के कार्य को घोड़े की भांति तीव्र वेग से दिव्य भावनाओं तथा विचारों तक पहुंचा दे। अर्थात् उसे तुरन्त बात सूझें और आवश्यक बातें यथासम्भव स्मृति-गोचर हों तथा अपने आपको विभाग सम्बन्धी कार्य के लिये घोड़े की तरह सवारी के लिये अर्पण कर दें। अर्थात् उस में :—

- (१) तीव्रगामिनी प्रतिभा
- (२) तत्क्षणोपस्थापिनी स्मरण शक्ति
- (३) कार्य तत्परता

यह तीन घोड़े के गुण होने चाहियें। प्रश्न हो सकता है कि हम ने यहां देव का अर्थ दिव्य भावनायें कैसे किया और इस

ऋचा को मानसिक उन्नति के संबन्ध क्यों लगाया? तो इसका उत्तर कुछ दूर आगे चल कर ग्रन्थकार स्वयं ही देते हैं :—

अश्वो न देववाहन इति। मनो वै देव वाहनम् मनो ही दं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते मन एवैतया समिन्धे। श० ११।४।५।७।

बस यहां स्पष्ट है कि विद्वान् का मन देवों का वाहन है सो इस प्रकरण के बल पर यहां देव मानसिक ही लिये जावेंगे।

अब सामिधेनी का अर्थ यों हुआ :—

“यह ज्ञानवर्षी विद्वान् यहां इस आसन पर पूजादि द्वारा प्रदीप्त किया जाता है। यह विद्वान् दिव्य विचारों के लिये घोड़े के समान उत्तम वाहन है। मनुष्य लोग हवि दे दे कर इसकी स्तुति करते हैं।”

यजमान चाहते हैं कि ‘वाजाः’ और “अभिद्यक्”, सम्पत्ति और समय, उन्हें हवि दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे विद्वान् को हवि देते हैं। और उस पर उपकार जात-लाने के स्थान में उसकी स्तुति करते हैं।

अगली सामिधेनी के विषय में कहते हैं :—

“वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधी मही” (ऋ० ३।२७।१५) ति। स० ह्येनमिन्धते “ऽग्ने दीद्यतं बृहदि” (ऋ० ३।२७।१५) ति दीद्यदेव ह्येष बृहत् समिद्धः।३२। तं वा एतम् वृषणवन्तं त्रिच-

मन्वाहाग्नेय्यो वाऽएताः सर्वाः सामिधे-
न्यो भवन्तीन्द्रो वै यज्ञस्य देवतेन्द्रो वृषे-
तेनो हास्यैताः सेन्द्राः सामिधेन्यो भवन्ति,
तस्माद्वृषण्वन्तं त्रिचमन्वाह । ३३ ।

सामिधेनी इस प्रकार है—

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधी-
महि अग्ने दीद्यतं बृहत् । ऋ० ३ । २७ । १५

कण्डिका का शब्दार्थ इस प्रकार है—

“होता सामिधेनी पढ़ता है—“वृषणं त्वा
वयम् वृषन् वृषणः समिधीमहि ।” सो उस
का समिन्धन करते ही हैं । आगे वाक्य है
“अग्ने दीद्यतम् बृहत् ।” सो जब इसका
खूब समिन्धन किया जाता है तो जगमगाती
है । ३२ । सो यहाँ यह तीन “वृषन्” शब्द
वाली ऋचाओं का तिका इकट्ठा पढ़ा जाता
है । यह सारी सामिधेनियें अग्नि देवता
की हैं । परन्तु यज्ञ का असली देवता तो
इन्द्र है । और उसी का नाम वृषा है । सो
इस प्रकार अग्नि का वृषा विशेषण दे देने
से यह सब इन्द्र वाली भी हो गई । इसी
लिये यह वृषन् शब्द वाली तिलड़ी कही
जाती है । ३३ ।”

पहिले सामिधेनी का अर्थ लिखते हैं—

“हे ज्ञानवर्षिन्, ज्ञान बरसाने वाले आपके
सामने हम भी तो सामग्रीवर्षी होकर
आएँ और इस प्रकार आप का समिन्धन
करें, हे अग्रणी जब हम आपके सामने साधन
उपस्थित करें तो आप खूब जगमगाएँ ।”

अब यहाँ देखने योग्य बात है कि यहाँ
अग्नि का विशेषण बारम्बार वृषा आया है ।
वर्षा करना आग का गुण नहीं । किन्तु यहाँ
यदि अग्नि नाम विद्वान् का समझें तो उसमें
वृषा और अग्नि, ज्ञानवर्षी और अग्रणी,
यह दोनों विशेषण सुचारु रूप से घटित
हो जाते हैं । आगे चलकर कहा भी है कि
यह सामिधेनी ब्राह्मण का समिन्धन करती
हैं । अतः इन मन्त्रों में एक विद्वान् का
वर्णन है यह स्पष्ट मानना चाहिये । साथ
ही यहाँ यजमान प्रतिज्ञा करता है कि जब
विद्वान् निष्काम भाव से वृषा है तो हम
कम-से-कम ज्ञान की कामना से तो वृषा हो
जावें, ऐसे कृतघ्न तो न हों कि वह ज्ञानवर्षी
करे और हम बदले में सकाम होकर भी
कुछ न दें । इसी लिये यहाँ स्पष्ट “समिधी
महि” यह उत्तम पुरुष का प्रयोग किया है ।
और इस प्रकार इन्द्र अर्थात् यजमान का
कर्तव्य बीच में आजाने से तथा वर्षा का
वर्णन होने से ये ऋचायें इन्द्रवती भी हो
गई । इन्द्र का अर्थ यजमान होने में प्रमाण
शतपथ में ही अनेक स्थलों पर हैं जिनमें से
एक यहाँ देते हैं—“इन्द्रो वै यजमानः”
(श० २ । १ । २ । ११) ।

अब अगली सामिधेनी के विषय में
लिखते हैं :—

सोऽन्वाह “अग्निं दूतं वृणीमहे”
(ऋ० १ । १२ । १) इति देवाश्च वा
असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे तान्

स्पर्धमानान् गायञ्पन्तरा तस्थौ या वै सा
गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवीय० ह वै
तदन्तरा तस्थौ त उभय एव विदाञ्च-
कुर्यतरान्वै न इयमुपावत्स्यति ते भवि-
ष्यन्ति परेतरं भविष्यन्तीति तामुभय एवोप-
मञ्त्रयाश्चक्रिरेऽग्निरेव देवानां दूत आस
सहरक्षा इत्यसुररक्षसमसुराणां० साऽग्नि
मेवानु प्रेयाय तस्मादन्वाहाग्निं दूतं
वृणीमहे इति सा हि देवानां दूत आसी
“होतारं विश्ववेदसमि” (ऋ० १।१२।१)
ति ॥३४॥ तदु हैकेऽन्वाहुः । होता यो
विश्ववेदस इति नेदरमित्यात्मानं ब्रवा-
णीति तदु तथा न ब्रूयान्मानुषं० ह ते
यज्ञे कुर्वन्ति व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषं
नेद्व्यृद्धं यज्ञे करवाणीति तस्माद्यथैवर्चा-
नूक्मेवानुब्रूयाद्दोतारं विश्ववेदसमित्ये-
वा “स्य यज्ञस्य सुक्रतु” (ऋ० १।१२।१)
मित्येष हि यज्ञस्य सुक्रतुर्यदग्निस्तस्मादा-
हास्य यज्ञस्य सुक्रतुमिति सेयं देवानुपाव-
वर्त्त ततो देवा अभवन्परासुरा भवति ह
वाऽआत्मना परास्य सपत्ना भवन्ति
यस्यैवं विदुष एतामन्वाहुः ॥३५॥

यह आठवीं सामिधेनी इस प्रकार है:—

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारम् विश्व-
वेदसम् अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।

ऋ० १।१२।१

इस पर शतपथ एक आख्यान पूर्वक

व्याख्या करता है । वह इन कण्डिकाओं में
है । कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार है:—

“वह (होता) अगती सामिधेनी बोलता
है—“अग्निं दूतं वृणीमहे ।” सो एक समय
प्रजापति के दोनों पुत्र देव और असुर आपस
में होड़ करने लगे । जब वह लड़ रहे
थे तो गायत्री उनके बीच में आ खड़ी हुई ।
वह जो गायत्री दोनों के बीच खड़ी थी वही
तो यह पृथिवी है । यही तो दोनों के बीच खड़ी
थी । वह दोनों ही यह जानते थे कि हम में
से जिनके पास यह आ जायगी वे रहेंगे और
दूसरे पराभूत हो जावेंगे । तब दोनों ने उसे
अपनी ओर खींचने का यत्न किया । इस
उपमन्त्रण में अग्नि देवों का दूत था और
सहरक्षा नाम का असुर-राक्षस असुरों का ।
सो वह अग्नि के पीछे चली आई । इसीलिये
कहा—“अग्निं दूतं वृणीमहे ।” वही तो
देवों का दूत था । उसी के लिये कहा—

“होतारं विश्व - वेदसम् ।” ३४ ।

कई लोग इस ऋचा को इस प्रकार पढ़ते
हैं—“अग्निम् दूतम् वृणीमहे होता यो
विश्ववेदसः ।” क्योंकि “होतारम् विश्व-
वेदसम्” ऐसा पढ़ने से “होतारम्” का
“होता+अरम्” इस प्रकार छेद करने से होता
पृथक् हुआ, ऐसे उक्त अर्थ का भान होने
लगता है । किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं करना
चाहिये । वेद प्रभु को वाणी है । उसे वैसा
ही रहने देना चाहिये । क्योंकि ऐसा करने

से यह मानुष कर्म हो जायगा। वेद अपौरुषेय वाक्य है। उसे वैसा ही रहने देना चाहिए। जो मन्त्रों को परिवर्तन कर देते हैं वह भगवान् की कृति में मानवीय कृति मिला कर यज्ञ में घटियापन उत्पन्न कर देते हैं। इसलिये जैसा ऋचा में लिखा है वैसा हो रहने देना चाहिए—“होतारं विश्ववेदसम्।” ऐसा करने से ही यज्ञ में सुक्रतुत्व आ जाता है। यह जो अग्नि है यही यज्ञ का सुक्रतु है। इसलिये कहा—“अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।” सो अग्नि के ऐसा कहने पर वह गायत्री देवों के पास आ गई। सो देव रह गए और असुर परास्त हो गए। वह स्वयं रह जाता है और उसके विरोधी परास्त हो जाते हैं जिस इस प्रकार जानने वाले के लिये यह ऋचा पढ़ी जाती है। ३५।”

भावार्थ यह कि पहिली सामिधेनी में उसकी तीव्रगामिनी प्रतिभा और भारवादिनी स्मृति की प्रशंसा हुई, अगला गुण सर्वस्व-त्याग के लिये तत्परता यहां दिखाते हैं। यह धरती गायत्री गाकर रिझाने वाली सुवर्ण-पुष्पिता उसके लिये होती है जो इस संसार रूपी रणक्षेत्र में समय पड़ने पर अपने सर्वस्व तथा प्राण तक की बाज़ी लगा देता है। ऐसे ही मनुष्य को विश्ववेदस कहते हैं। दूसरी ओर “सहरक्षा” वह मनुष्य हैं जो सम्पूर्ण रक्षा का सामान पहिले दो तब आगे चलेंगे। ऐसे मनुष्य अग्नि (अग्र+णी) का कार्य नहीं कर सकते।

सब पदार्थों के गुणों और तत्त्वों को जानने के कारण, मानो उनकी बोली में उन से बात चीत करने की शक्ति रखने वाले, उन्हें बुलाने में समर्थ, विद्वान् को हम उन पदार्थों के प्रति अपना दूत वरण करते हैं। वह अपना सर्वस्व अर्पण कर के भी दूत कर्म करता है। अर्थात् हम में और संसार के पदार्थों में सम्बन्ध स्थापन कर देता है। और इस प्रकार इस यज्ञ का सुक्रतु अर्थात् अच्छी प्रकार करने वाला है (उसको हम वरण करते हैं)। और जिनके ऐसे नेता हों उनके लिये यह पृथिवी गा गा कर रिझाने वाली है। अब इस सामिधेनी के विषय में मतान्तर दिखा कर उस का प्रत्याख्यान करते हैं :—

तां वाऽअष्टमीमनुब्रूयात्। गायत्री वाऽएषा निदानेनाष्टाक्षरा वै गायत्री तस्मादष्टमीमनुब्रूयात् ॥३६॥ तद्वैके। पुरस्ताद्वाय्ये दधत्यन्नं धाय्ये मुखतऽइदमन्नाद्यं दध्म इति वदन्तस्तदु तथा न कुय्यादिनवक्लृप्ता तस्यैषा भवति यः पुरस्ताद्वाय्ये दधाति दशमी वा हि तर्ह्येकादशी वा सम्पद्यते तस्यो हैवैषावक्लृप्ता यस्यैतामष्टमीमन्वाहुस्तस्मादुपरिष्ठादेव धाय्ये दध्यात् ॥३७॥

“इस उपर्युक्त सामिधेनी को ८वीं संख्या पर ही बोले। क्योंकि यह धरती का हमारे लिये गायत्री बनाने का रहस्य कहती है अतः यह वास्तव में गायत्री है। गायत्री आठ

अक्षर की होती है। इसलिये इसे आठवीं ही संख्या पर पढ़ें। ३६। सो कई लोग आरम्भ में—
 “पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक् स्वाहुतः
 अग्निर्यज्ञस्य हव्यावाद्।” (ऋ. ३।२७।५)
 “तं सवाधो यतस्रुच इत्थाधिया यज्ञवन्तः,
 आचक्रुरग्निमूतये।” (ऋ. ३।२७।६) यह
 दो धाय्या नाम की ऋचाएं पढ़ते हैं। उनका
 कथन है कि धाय्या सामिधेनियों का अन्न
 है। सो मुख में अर्थात् आरम्भ में ही रक्खी
 जानी चाहिये। परन्तु ऐसा न करना चाहिये।
 जो आरम्भ में धाय्या रख देगा वह इस
 रचना का सौन्दर्य बिगाड़ देगा। क्योंकि
 उस अवस्था में यह दशवीं वा ११ वीं होगी
 (१७ सामिधेनियों में ११ वीं होगी) और
 यह फबती तब ही है जब इसे आठवीं संख्या
 पर रक्खें। (क्योंकि वह गायत्री के साथ
 सर्वस्व त्याग को जोड़ती है) इसलिये धाय्याओं
 को यदि पढ़ना ही हो तो आठवीं सामिधेनी के
 पश्चात् तथा “समिध्यमानो अध्वरे” इस से
 पहिले रक्खें। ३७।

अब अगली सामिधेनियों की व्याख्या
 इकट्ठी करेंगे :—

“समिध्यमानो ऽअध्वर” (ऋ. ३।
 २७।४) इति। अध्वरो वै यज्ञः समि-
 ध्यमानो यज्ञऽइत्येवैतदाह “आग्निः
 पावक ईड्य” (ऋ. ३।२७।४) इति
 पावको ह्येष ईड्यो ह्येष “शोचिष्केशस्त-
 मीमह” (ऋ. ३।२७।४) इति शोच-

न्तीव ह्येतस्य केशाः समिद्धस्य ‘समिद्धोऽ-
 अग्रऽआहुते’ (ऋ. ५।२८।५) त्यतः प्राची-
 नं सर्वमिधमभ्यादध्याद्यदन्यत्समिधो-
 ऽपवृद्धऽइव ह्येतद्धोता यद्वाऽअन्यत्समिध
 इधमस्यातिरिच्यतेऽतिरिक्तं तद्यद्वै यज्ञस्या-
 तिरिक्तं द्विषन्तं हास्य तद्भ्रतृव्यमभ्य-
 तिरिच्यते तस्मादतः प्राचीनं सर्वमिधम
 मभ्यादध्याद्यदन्यत्समिधः ॥ ३८ ॥ “दे-
 वान्यक्षि स्वध्वर” (ऋ. ५।२८।५)
 इति। अध्वरो वै यज्ञो देवान्यक्षि सुय-
 ज्ञियेत्येवैतदाह “त्वं हि हव्यवाडसि”
 (ऋ. ५।२८।५) इत्येष हि हव्यवा-
 ड्यदग्निस्तस्मादाह त्वं हि हव्यवा-
 डसी “त्याजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे
 वृणीध्व हव्यवाहमि (ऋ. ५।२८।६)
 ति सम्प्रेष्येवैतया जुहुत च यजत च
 यस्मै कामाय समैन्धिद्वं तत्कुरुतेत्येवैत-
 दाहाग्निं प्रयत्यध्वरऽइत्यध्वरो वै यज्ञोऽग्निं
 प्रयति यज्ञऽइत्येवैतदाह वृणीध्व हव्य-
 वाहनमित्येष हि हव्यवाहनो यदग्निस्त-
 स्मादाह वृणीध्व हव्यवाहनमिति ॥ ३९ ॥
 तं वाऽएतम्। अध्वरवन्तं त्रिचमन्वाह
 देवान्ह वै यज्ञेन यजमानान्तसपत्ना असुरा
 दुधूर्षाश्चक्रुस्ते दुधूर्षन्त एव न शेकुर्धूर्वि-
 तुं ते पराबभूवुस्तस्माद्यज्ञोऽध्वरो नाम

दुधूर्षन्ह वाऽएनध्वसपत्नः पराभवति यस्यैवं
विदुषोऽध्वरवन्तं त्रिचमन्वाहुर्ग्यावद्वेव सौ-
म्येनाध्वरेणेष्ट्वा जयति तावज्जयति ॥४०॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

इन कण्डिकाओं में भी विषय के अनु-
सार ३८ वीं कण्डिका “केशा समिद्धस्य”
इस स्थान पर समाप्त हो जानी चाहिए ।
पता नहीं अगली सामिधेनी इस में क्यों
घुसेड़ दी गई है । हमें तो इस में भी प्रमाद
दीखता है । यह सामिधेनी इस प्रकार है :—

समिध्यमानो अध्वरेऽग्निः पावक ईडयः

शोचिस्केशस्तमीमहे ऋ० ३ । ७ । ४।

कण्डिका की व्याख्या इस प्रकार है :—

“होता अगली सामिधेनी पढ़ता है—
‘समिध्यमानो अध्वरे ।’ सो अध्वर नाम यज्ञ
का है, इस लिये यज्ञ में यह समिन्धन किया
जाता है वस्तुतः यही कहता है । आगे कहता
है—“अग्निः पावक ईडयः ।” क्योंकि यह
विद्वान् पवित्र करने वाला है तथा स्तुति योग्य
है इस लिये यह शब्द कहे । आगे कहते
हैं “शोचिस्केशस्तमीमहे ।” सो प्रदीप्त
उत्तम विद्वान् के केश पवित्र और चमकदार
होते हैं (क्योंकि वीर्य रक्षा से सिर के बाल
चिकने रहते हैं और उपस्थ के बाल वीर्य
पात से अवित्र नहीं होते । शुचधातु में पवि-
त्रता और चमक यही दो भावनाएँ हैं ।)”

तात्पर्य यह कि यदि ऊपर के सब गुण

किसी विद्वान् में स्थिर रखने हों तो आवश्यक
है कि वह जितेन्द्रिय, विशेषकर ब्रह्मचारी, हो ।

अब होता ‘समिध्यमानो अध्वरे’ इस
नौवीं सामिधेनी के पश्चात् और ‘समिद्धोऽग्निः
आहुतः’ इस दसवीं सामिधेनी से पहिले अनु-

याज के लिये एक समिधा बचा कर शेष
सब इधम नामक काष्ठ की गठरी की समि-
धाएं अग्नि में डाल दे (इधम देखो पृ० १६८)
क्योंकि पहिले मन्त्र तक “समिध्यते” “समि-
ध्यमानः” इस प्रकार के शब्द थे और दशवीं
सामिधेनी में “समिद्धः” यह शब्द पड़ा है ।

सो जो चीज़ समिध्यमान थी वह पूर्ण समिद्ध
तो तब ही होगी जब सब काष्ठ पड़ जावें ।
सो अग्नि को जब सुलगाने हैं तो उस में एक
अवस्था ऐसी होती है जिसमें वह सुलगाने
से लकड़ी में लगती है । उस समय यदि
अधिक लकड़ी पड़ जावे तो वह बुझ जाती
है । किन्तु फिर एक ऐसा समय आता है
जब वह लकड़ी लगाने से सुलगती है । वह
समय सब लकड़ियाँ डालने का है । यही
नियम अन्य अग्नियों में भी है । एक समय
गुरु शिष्य में विद्या प्रेम उत्पन्न करता है ।
उस समय यदि कहीं गुरु शिष्य को एक दम
बहुत अधिक पढ़ाने लगे तो शिष्य को विद्या
से ग्लानि उत्पन्न हो जाय । फिर एक समय
ऐसा आजाता है जब विद्यार्थी के हृदय में
विद्या व्यसन जाग उठता है । उस समय
न पढ़ाने से विद्यार्थी भाग जाते हैं । बालक
अति पढ़ाने से घबड़ाते हैं, सुशिक्षित विद्यार्थी

अगले पृष्ठ पर

यदि आप वैदिक साहित्य का स्वाध्याय करना चाहते हैं तो सभा के साहित्य विभाग में दर्शन देकर वा डाक द्वारा मंगवाइये

क्या ?

- (१) वेदार्थ कोष—ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य से वैदिक शब्दों के अकारादि क्रम से अर्थ लिखे गए हैं इसमें निरुक्त तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों की टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। प्रथम भाग प्रस्तुत है। इसमें औंकार तक से प्रारम्भ होने वाले शब्द आ गए हैं। मुख्य सम्पादक पं० चमूपति ऐम० ए०। मूल्य ५)
- (२) वदामृत—ईश्वर, जीव, सृष्टि, वेदवाणी, प्रार्थना, संस्कार, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजनीति, सहृदयता, एकता, समानता, आयुष्य विषयों पर साढ़े चार सौ पृष्ठ की यह पुस्तक है। सम्पादक स्वा० वेदानन्द। मूल्य २।)
- (३) त्रिदेव निर्णय—स्वर्गीय पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीनों देवताओं पर वैदिक प्रमाणों के आधार पर अच्छा प्रकाश डाला है। मू० ॥)
- (४) पायूष बिन्दु—इसमें विविध विषयों पर १०० मन्त्रों का सुन्दर संग्रह किया गया है। लेखक शिवशंकर काव्यतीर्थ। मू० १-)
- (५) जीवन-चरित्र पं० लेखराम—(उर्दू) पं० लेखरामजी का ६८ पृष्ठों में जीवन दिया गया है। लेखक म० श्यामलाल। रिआयती मूल्य २-)
- (६) वैदिक धर्म और साइन्स—(उर्दू) वैदिक सिद्धान्तों पर यह एक अच्छी पुस्तक है। लेखक पं० विशनदास जी बी० ए०। रिआयती मूल्य १-)
- (७) रद्द-ए-जहाद वेद—(उर्दू) मौ० सनाउल्ला के “रसाला जहाद-ए वेद” का उत्तम उत्तर है। लेखक, म० श्यामलाल। रिआयती मूल्य १।)
- (८) अष्टांग याग प्रयोग—इसमें प्रश्नोत्तर के ढंग पर वैदिक योग पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। लेखक, पं० बख्शीशराम। रिआयती मूल्य ॥)

साहित्य विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

का

सचित्र इतिहास

इसमें गत पचास वर्षों का सभा का इतिहास साढ़े चार सौ पृष्ठों में लिखा गया है। इसके अतिरिक्त २३२ पृष्ठों में समाजों, गुरुकुलों तथा स्कूलों का परिशिष्ट दिया गया है। इस में २२ महापुरुषों के चित्र आ गए हैं। मूल्य सजिल्द २॥)

वेदामृत—ईश्वर, जीव, सृष्टि, वेद वाणी, प्रार्थना, संस्कार, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, राजनीति, सहृदयता, एकता, समानता, आयुष्य आदि विषयों पर साढ़े चार सौ पृष्ठ की यह पुस्तक है। मू० २॥)

पीयूषविन्दु—इसमें विविध विषयों पर १०० मन्त्रों का सुन्दर संग्रह किया गया है। ले० पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ। मू० १-)

ब्रह्म यज्ञ—सन्ध्या पर एक अनोखी और विस्तृत व्याख्या है। लेखक पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार।

स्वर्ग—इस पुस्तक में बतलाया गया है कि स्वर्ग शब्द ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ वाचक है और 'स्वः' शब्द संन्यास का। ले० पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार। मूल्य ॥=)

यास्क-युग—इसमें सिद्ध किया गया है कि यास्क वेदों को अपौरुषेय मानता है। ले० पं० चमूपति जी एम० ए०। मू० ॥)

ऋग्वेदशतक—ऋग्वेद के १०० अद्भुत मन्त्रों का व्याख्या सहित संग्रह है। ले० स्वामी अच्युतानन्द जी सरस्वती। मू० सजिल्द ३=)॥

साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब गुरुदत्त भवन लाहौर।

7-7-36

आर्य

Regd. No. L,— 2757

आषाढ़
१९९३

वैदिक तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रचारक पत्र

(वार्षिक मूल्य ३)
(एक प्रति १=)

जुलै १९३६

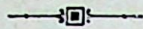


सम्पादक—

पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर

विषय-सूची



सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश—हमारे कर्मों में प्रभु का निवास	“अभय”	९१
२.	ओ३म् (कविता)	वेदकुमारी	९२
३.	वेदों के राजनैतिक सिद्धांत—राज्य में करने योग्य कुछ बातें	श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति	९३
४.	“ऋषि चरणों में”	श्री जयदेव “स्नेही”, शास्त्री	९८
५.	धर्म के विकृत रूप	श्री पं० केशवदेव ज्ञानी, मद्रास	९९
✓ ६.	क्या वेद ईश्वरीय ज्ञान है ?	ब्र० रामनाथ जी चतुर्थ श्रेणी गुरुकुल कांगड़ी	१००
७.	वैदिक ईश्वरवाद और वर्तमान विज्ञान	श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति	१०७
८.	वर्णाश्रम-धर्म का वैज्ञानिक विवेचन	विद्वद्भर डॉ० भगवानदास जी, काशी	१११
९.	बाल-शिक्षण—दुर्ग को बचानेवाली कन्या		
	जार के सामने जाने वाली प्रसकोविया	श्री निरंजननाथ जी	११६
१०.	संसार नदी (कविता)	द्विरेफ विद्यालंकार	११७
११.	संपादकीय	...	११८

✓ (i) वैदिक अनुसन्धान विभाग

(ii) श्री शंकराचार्य का नाम्नी ब्राह्मण के घर भोजन करना

(iii) नौजवानों में आर्यसमाज

(iv) सांप्रदायिकता

(v) धर्म-प्रचार और अछूतोद्धार

१२. शतपथ-ब्राह्मण

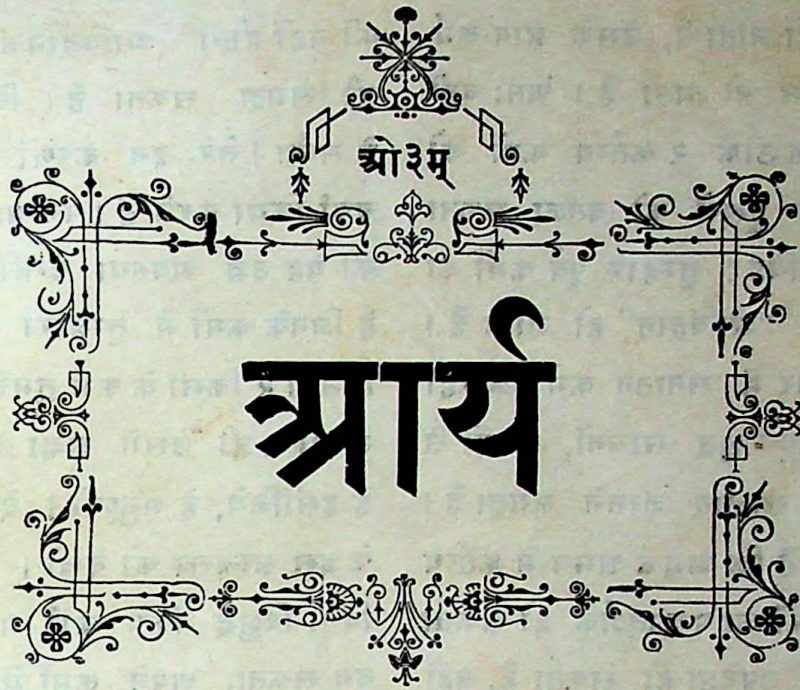
श्री बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार

२३३-२४०

आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये, यह आपका कर्तव्य है ।

ग्राहकों से—आर्य अङ्कुरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है । पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये । फिर अङ्कुरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये । इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे । अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये ।

पत्र-व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
ग्राहक-संख्या, पतेवाली चिट पर लिखी होती है ।



ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपमन्तोऽरावणः ॥

भाग १८

लाहौर, आषाढ़ १९६३, जुलाई १९६६
[दयानन्दाब्द ११२]

अंक ३

वेदोपदेश

हमारे कर्मों में प्रभु का निवास

प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्र, आविद्धाँ आह विदुषे करांसि ।

यथा यथा वृण्ण्यानि स्वगूर्ता अपांसि राजन् नर्या विवेषीः ॥

ऋग्वेद ४ । १९ । १०

हे इन्द्र तुम हमारे कर्मों में भी बसते हो। निवास के कारण ही हमारे कर्मों में यह श्रेष्ठता परन्तु तुम्हारा निवास हमारे उन्हीं श्रेष्ठ कर्मों में और शक्ति उत्पन्न होती है। धन्य है वे पुरुष जिनके होता है जो कि स्वयं हमारे अंदर से निकले “स्वगूर्त” कर्मों में तुम इस प्रकार व्यापते हो आविष्ट होते हो होते हैं, जो कि सब नरों के हितकारी “नर्या” होते हे राजन्! ज्यों २ तुम किसी मनुष्य के कर्मों में हैं और जो कि बलकारक (शक्तिबढ़ाने वाले) इस प्रकार विराजने लगते हो, त्यों २ उसका कर्म ‘वृण्य’ कर्म होते हैं। यों कहना चाहिए कि तुम्हारे सामर्थ्य बढ़ता जाता है, त्यों २ उसके कर्म का

प्रभाव अधिक अधिक क्षेत्र को घेरता जाता है। अन्त में उसका मानसिक कर्म, उसका ज्ञान अत्यन्त व्यापक और तेजस्वी हो जाता है, उसके ज्ञान-कर्म में भी तुम्हारा निवास हो जाता है। अतः वही मनुष्य होता है जो कि ठीक २ कर्तव्य कर्मों को जान सकता है, और दूसरों को बतला सकता है। क्योंकि तब वह हे विप्र ! तुम्हारे पूर्व कर्मों का भी पूरा जानने वाला “आविद्वान्” हो जाता है। तुम्हारा जो इस संसार में सनातन कर्म चल रहा है और वह जिन सनातन शुद्ध साधनों, करणों से चल रहा है उसे वह साक्षात् जानने लगता है। अतः वही बता सकता है कि अमुक समय में कर्तव्य कर्म क्या है, वही दूसरों का पथप्रदर्शक हो सकता है, वही सच्चे ज्ञान का उपदेष्टा हो सकता है, वही है जो सच्चे अर्थों में भविष्यद्वाणी कर सकता है, तेरे सनातन करणों के जानने के कारण बता

सकता है कि तेरी सृष्टि में अब तेरा क्या कर्म होने वाला है। निःसन्देह ये बातें आम लोगों से करने की नहीं होती आविद्वान्की इन बातों को विद्वान् ही [समझ सकता है। विद्वान् पुरुष ही परस्पर हे सर्वज्ञ ! तेरे इन करणों व करणीयों की कथा-चर्चा किया करते हैं। पर यह तो ठीक है कि ज्ञान की यह उच्च अवस्था उन्हीं पुरुषों को प्राप्त होती है जिनके कर्मों में तुम्हारा निवास हो जाता है। जितना २ किसी के कर्म तुमसे व्याप्त होने लगते हैं, उतना २ ही उसमें सच्चा ज्ञान प्रकट होने लगता है इसीलिये, हे मनुष्यो ! देखो, ज्ञान के साथ कर्म के इस सम्बन्ध को देखो। देखो, अपने कर्मों को बिना विशुद्ध किये कोई मनुष्य ज्ञानोपदेष्टा नहीं बन सकता, अपने कर्मों में बिना प्रभु को बसाये कोई मनुष्य प्रभु की बात करने का अधिकारी नहीं हो सकता।

“अभय”

ओ३म्

[रचियता—वेदकुमारी]

मेरे तो हिय ओम् नाम रे ।

बिसरे दूजे सकल काम रे ॥

श्याम बसे काहू के मन में ;

सिया - राम रमें उनके हिय में ;

अर्हत - बुद्ध जगे कोऊ के मन में ;

अजर निरंजन व्यापक जग में—

जो ही मेरे राम-राम रे ॥ मेरे० ॥

बसे मुहम्मद वहाँ बतावें ;

अघहर ईसा कहीं पुजावें ;

देवी - देव कथा कहलावें ;

अक्षर एक अनन्त भुलावें—

वो ही जो प्रभु परमधाम रे ॥ मेरे० ॥

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक—श्री पण्डित प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

राज्य में करने योग्य कुछ बातें

(Some ends to be realised by the state)

७. कर

राज्य प्रबन्ध के लिए राजा को धन की आवश्यकता होती है। राजा प्रजाओं से कर लेकर ही धन प्राप्त कर सकता है। राजा प्रजाओं से कर लिया करे ऐसा आदेश देने वाले कुछ मन्त्र यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं:—

इन्द्र सोमं पिब ऋतुना त्वा विशन्तिवन्दवः ।

मत्सरासस्तदोकसः । ऋ० १।१५।१

मरुत्वन्तं हवामहे इन्द्रमासोमपीतये ।

सजूर्गणेन तृप्पतु । ऋ० १।२३।७

द्युम्नैरभिप्रणोनुमः । ऋ० १।७८।१-५

भरेन्द्राय सोमं यजताय हर्द्यतम् । ऋ० २।२१।१

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनोभूदुत प्रियः सुतसोमो-
मियेधः । ऋ० ३।३२।१२

सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान् । ऋ० ३।४७।२

उत ऋतुभिर्ऋतुपाः पाहि सोममिन्द्र देवेभिः

सखिभिः सुतं नः । ऋ० ३।४७।३

यस्त्वा स्वश्वः सुहिरण्यो अग्न उपयाति
वसुमता रथेन ।

तस्य त्राता भवसि तस्य सखा यस्त आतिथ्य-
मा नुषग् जुजोषत् । ऋ० ४।४।१०

तुभ्यं भरन्ति क्षितयो यविष्ठ बलिमग्ने अन्तित
ओत दूरात् ऋ० ५।१।१०

य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः

सुनोति । न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्त-
मिच्छारुमस्मै कृणोति । ऋ० १०।१६०।३

अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान्न
सुनोति सोमम् । निररत्नौ मघवा तं दधाति
ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः । ऋ० १०।१६०।४
अथो त इन्द्रः केवलीविशो वलिहृतस्करत्

ऋ० १०।१७३।६

मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है:—

“हे इन्द्र (सम्राट्) तू ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य का (सोमं) का पान कर, ये ऐश्वर्य (इन्द्रवः) तुझे प्राप्त हों, तुझे हर्षित करने वाले हों और सदा तेरे घर अर्थात् राज्य-कोश में रहें।”

“राजा ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य का पान करे”, इस वाक्य का भाव यह है कि ऋतु-ऋतु में राज्य में जो भांति-भांति की वस्तुयें उत्पन्न होती रहती हैं और उनका जो लेन-देन होता रहता है उससे प्रजा-जनों को प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य में से राजा भी कुछ भाग लिया करे। जिससे वह राज्य-प्रबन्ध कर सके। “ये ऐश्वर्य तुझे प्राप्त हों”, इस वाक्य का भाव यह है कि राजा को यह देखना चाहिए कि प्रजाओं से प्राप्त व्यय धन राज्य-कोष में अवश्य प्राप्त हो जाता है। उसकी प्राप्ति में किसी प्रकार की ढील न रहे। “हर्षित करने वाले हों”, का भाव यह है

कि राजा प्रजा से प्राप्तव्य धन को इस रीति से प्राप्त करे और उसका व्यय भी इस रीति से करे कि राजा और प्रजा सभी को हर्ष प्राप्त हो। “तेरे घर अर्थात् राज्य-कोष में रहे” का अभिप्राय यह है कि राज्य-कोश कभी खाली नहीं रहना चाहिए। वह सदा धन से भरा रहे।

हमने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए ‘सोम’ और ‘इन्दु’ शब्दों का अर्थ ऐश्वर्य किया है। यहां भी और अन्यत्र भी बहुत बार सोम और इन्दु शब्द पर्याय के रूप में व्यवहृत हुए हैं। इन्दु शब्द ‘इदि परमैश्वर्ये’ धातु से तथा सोम शब्द ‘षु-प्रसवै-श्वर्ययोः’ धातु से निष्पन्न होता है। इसलिये धात्वर्थ के बलपर इन दोनों शब्दोंका एक अर्थ धन-सम्पत्ति आदि ऐश्वर्य के पदार्थ भी होगा। और-और अर्थों के साथ सोम शब्द का ब्राह्मण-ग्रन्थों में निम्न अर्थों में भी प्रयोग हुआ है:—

पशवो हि सोमः । श० १२।७।२।२

सोमो वै दधि । कौ० ८।९

अन्नं सोमः । श० ३।३।४।२८

अन्नं वै सोमः । श० ३।९।१।८

स हि सौम्यो यद् बभ्रुः (गौः)

श० ५।२।५।१२

रसः सोमः । श० ७।३।१।३

सर्वं हि सोमः । श० ५।५।४।११

सौम्या ओषधयः । श० १२।१।१।२

अब ये सारी चीजें ही मिलकर किसी गृहस्थ का ऐश्वर्य बनाती हैं। इतना ही नहीं—

आर्वे सोमः । श० ४।१।३।९

सोमस्य वा अभिषूयमाणस्य प्रिया तनूरुद्रक्रामत्

तत्सुवर्णं हिरण्यमभवत् । तै० १।४।७।४-५

(सोमस्य) अमृतोऽंशुहिरण्यम् । कौ० १३।४

इन ब्राह्मण-वाक्यों में तो स्पष्ट ही सोम को

सुवर्ण आदि श्री (ऐश्वर्य) का वाचक कहा गया है। इसलिये इसके धात्वर्थ को ध्यान में रखते हुए सोम का एक सामान्य अर्थ ऐश्वर्य किया जा सकता है। ऋतु-ऋतु के अनुसार सम्राट् द्वारा ऐश्वर्य पान का भाव यही होगा कि वह प्रजा के ऐश्वर्य में से कुछ भाग प्राप्त करे। अर्थात् प्रजाओं से उनकी आय के अनुसार कर प्राप्त करे।

“मरुतों (सैनिकों) वाले इन्द्र (सम्राट्) को हम बुलाते हैं कि वह हमारे ऐश्वर्य (सोम) का पान करे। हम से ऐश्वर्य लेकर वह (सम्राट्) अपने सेना आदि राज्य-कर्मचारियों के गण के साथ तृप्त होकर रहे।”

यहां प्रजाजनों को उपदेश दिया गया है कि उन्हें सदा ही अपने ऐश्वर्य में से राज्य का देय भाग देने के लिये उद्यत रहना चाहिए। जब राज्य-कर्मचारी कर लेने आवें तो प्रजाजनों को देने में आनाकानी नहीं करनी चाहिए। प्रत्युत राजकर्म-चारियों को बुलाबुला कर अपना भाग देना चाहिए। ऐश्वर्य-दान के लिए सम्राट् को बुलाने का यही भाव है।

“हे अग्ने (सम्राट्) हम प्रजाजन धनों के साथ (द्युम्नैः) तुम्हारा नमस्कार करते हैं—तुम्हारी आज्ञाओं के आगे झुकते हैं (अभि प्रणोनुमः)।”

इस मन्त्र खण्ड की शिक्षा यह है कि प्रजाजनों को चाहिए कि वे सम्राट् के आगे झुकते रहें—उस की आज्ञाओं को मानते रहें—और राज्य को अपना देय धन देते रहें। ऋग्वेद १।७८ सूक्त ५ मन्त्रों का सूक्त है। उसमें प्रजाजन अग्नि (सम्राट्) को सम्बोधन कर रहे हैं। पांचों मन्त्रों का अन्तिम चरण यही मन्त्र-खण्ड है। इस प्रकार इस सारे सूक्त में प्रजाओं को राजा को कर के रूप में धन देने का उपदेश दिया गया है।

“हे प्रजाजन ! इस पूजनीय, संगति करने योग्य और दान देने योग्य (यजताय) इन्द्र (सम्राट्) को कमनीय (हर्यतम्)^१ धन (सोमं) दो ।” यहां भी प्रजाओं को अपनी सम्पत्ति का कुछ अंश राजा को देते रहना चाहिए इसका उपदेश किया गया है ।

“हे इन्द्र (सम्राट्) जिसमें कि ऐश्वर्य उत्पन्न किया जाता है ऐसा (सुतसोमः) यह राष्ट्र रूपी पवित्र यज्ञ तेरी वृद्धि करने वाला है और तुझे प्रिय है ।”

सम्राट् की रक्षा से राष्ट्र-यज्ञ द्वारा ऐश्वर्य उत्पन्न होते हैं, इस ऐश्वर्य के कुछ अंश से सम्राट् की वृद्धि होती है और इस प्रकार अपने ऐश्वर्य का भाग राजा को देने वाला राष्ट्र—प्रजाजन—राजा का प्रिय होता है । यहाँ भी एक प्रकार से यही उपदेश दिया गया है कि सम्राट् को राष्ट्र के ऐश्वर्य में से कुछ भाग कर द्वारा राज्य संचालन के लिए प्राप्त करना चाहिए ।

“राष्ट्रोत्पत्ति के बाधक विघ्नों को मारने वाले (वृत्रहा) हे विद्वान् इन्द्र (सम्राट्) आप हमारे ऐश्वर्य का पान कीजिए ।”

यहां भी सोमपान की प्रार्थना द्वारा वही उपदेश दिया गया है । इन्द्र का ‘विद्वान्’ विशेषण विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है । विद्वान् का अर्थ है, जानने वाला, समझदार । राजा प्रजाओं से कर रूप में धन तो प्राप्त करे, परन्तु समझदारी के साथ । इतना कर ले जिसे प्रजाएं सुगमता से दे सकें । प्रजाओं को कर - भार से इतना न लदा दे कि वे उस भार को उठा ही न सकें ।

“हे ऋतु-ऋतु में ऐश्वर्य का पान करने वाले सम्राट् (इन्द्र) तू ऋतुओं के अनुसार, व्यवहार-

शील (देवेभिः)^१ और तुम्हारे मित्र (सखिभिः) हम प्रजाजनों द्वारा तैयार किये हुए ऐश्वर्य का (सोमं) पान कर ।” यहां भी राजा प्रजाओं से ऋतु-ऋतु के अनुसार कर लेता रहे इसका स्पष्ट निर्देश है । प्रजाएँ जब राजा को कर दें तो उन्हें राज्य को अपने पर अत्याचार करने वाला कोई शत्रु नहीं समझना चाहिए प्रत्युत अपना मित्र समझ कर, राष्ट्र का हित ध्यान में रख कर, राजा को कर देना चाहिए । राजा को भी प्रजाओं से कर इस रीति से लेना चाहिए कि वे उसे अपना मित्र समझ सकें । यह ‘सखिभिः’ विशेषण का भाव है ।

“हे अग्नि (सम्राट्) जो उत्कृष्ट घोड़ों और उत्कृष्ट सुवर्ण से युक्त प्रजाजन धन से लदे हुए रथ के साथ तेरे पास आता है और इस प्रकार तेरा अतिथियों के योग्य सत्कार (आतिथ्य)^२ करता है उसी का तू रक्षक और मित्र बनता है ।”

राज्य प्रबन्ध किस प्रकार का होना चाहिये यह इस मन्त्र में बताया गया है । प्रजाजन इतने समृद्ध हों कि उनके पास प्रभूत मात्रा में अश्वादि पशु और सुवर्ण हों—ये इतनी प्रभूत मात्रा में हों कि प्रजाजन उसमें से राज्य को जो भाग दें वह भी रथ में लद कर राज्य-कोश में जाय । यहां भी राजा प्रजा की सम्पत्ति में से कुछ अंश कर के रूपमें प्राप्त करता रहे इसकी स्पष्ट सूचना है ।

“हे राष्ट्र में से बुरी बातों को छुड़ाने और अच्छी बातों को राष्ट्र में लाने वाले (यविष्ठ)^३ अग्ने (सम्राट्) प्रजाजन (क्षितयः) समीप और दूर सब कहीं से कर (बलि) लाकर तुझे देते हैं ।”

यहां तो स्पष्ट ही वर्णन है कि राजा को राष्ट्र की

१. दिवुधातोरथेषु व्यवहारोप्यन्यतमः ।

२. अतिथियोग्यां पूजामिति सायणः ।

३. अतिशयेन युवा यविष्ठः । यु मिश्रणामिश्रणयोः ।

१. हर्य कान्तिगत्योः ।

राजधानी से समीप और दूर कहीं भी रहने वाले प्रजाजनों से कर प्राप्त करना चाहिये। यहां कर के लिये संस्कृत साहित्य में प्रायः प्रयुक्त होने वाले बलि^१ शब्द का प्रयोग हुआ है।

“जो व्यवहारों की सिद्धि चाहने वाला (देव-कामः) प्रजाजन, [सम्राट् इसके बदले में रक्षा करेगा ऐसी] कामना वाले मनके साथ अपने पूरे दिल से इस इन्द्र (सम्राट्) के लिये ऐश्वर्य उत्पन्न करके देता है (सोमं सुनोति) उसकी गौवों (गौ, भूमि आदि) को यह नहीं छीनता और उसके लिये यह प्रशंसनीय और सुन्दर मंगल ही मंगल करता है।”

जो राजा को कर रूप में ऐश्वर्य देते हैं उन्हीं का मंगल और रक्षण राज्य करता है। जो राज्य को कर न दें उनकी गौ, भूमि आदि को भी सम्राट् छीन सकता है यह भाव भी इस मन्त्र से स्पष्ट ध्वनित होता है।

“जो धनवान् होकर भी इस इन्द्र (सम्राट्) के लिये कर रूप में ऐश्वर्य नहीं देता (सोमं न सुनोति) यह उसके सामने जा पहुंचता है (अनु स्पष्टो भवति)^२ और उसको पूरी तरह हाथ में कर लेता है (अरत्नौ निः दधाति) और इस प्रकार इन ब्रह्मद्वेषियों को मार देता है।”

जो धनी होकर भी राजा को कर नहीं देते वे यह न समझें कि वे धोखे और चालाकी से बच जायेंगे। नहीं, राज्य कर्मचारी उनका पता लगा कर उनके सामने जा पहुंचेंगे और उन्हें पूरी तरह काबू में कर लेंगे। वे छुट नहीं सकते। हाँ, जो

निर्धन हों उन्हें राजा भले ही कर दान से मुक्त करदे। यहां धनी होकर भी राजा को कर न देने वालों को ब्रह्मद्वेषी कहा गया है। यहां महान् होने से ब्रह्म का अर्थ राष्ट्र कर लेना चाहिये। अथवा जैसे कि पीछे दिखा आये हैं ब्रह्म का अर्थ ज्ञान कर लेना चाहिये। राजा को कर प्राप्त न होगा तो वह राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकता। राष्ट्र में ज्ञान का, शिक्षा का प्रचार नहीं कर सकता। इस-लिये ऐसे लोग वास्तव में ब्रह्मद्वेषी ही हैं।

“हे अभिषिच्यमान राजन् इन्द्र^३ ने प्रजाओं को तुझे कर देने वाली और केवल तेरी ही होकर रहने वाली अथवा तुझे सुख देने वाली (केवलीः) बना दिया है।”

यहां प्रजाओं के लिये स्पष्ट ही ‘बलिहृतः’ अर्थात् ‘कर देने वाली’ विशेषण का प्रयोग हुआ है। इससे इसमें संदेह ही नहीं रह जाता कि राजा प्रजाओं से कर लिया करे और प्रजायें उसे सहर्ष कर दिया करें।

इसी प्रसंग में ऋग्नेद १०। १७९ सूक्त के प्रथम दो मन्त्र भी देखने योग्य हैं। मन्त्र इस प्रकार हैं—

उत्तिष्ठतावपश्यतेन्द्रस्य भागमृत्विषम् ।

यादि आतो जुहोतन यद्यश्रातो ममत्तन ॥

आतं हविरो ऽपिन्द्र प्र याहि जगाम सूरौ
अध्वनो वि मध्यम् ।

परि त्वासते निधिभिः सखायः कुत्तपा न ब्राज-
पतिं चरन्तम् ॥

अर्थात्—“प्रजाजनो उठो और ऋतु-ऋतु में देने योग्य जो इन्द्र (सम्राट्) का भाग है उसकी ओर

१. भागधेयः करो बलिरित्यमरः ॥ प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीदिति कालिदासः ।

२. दृष्टिगोचरो भवति इति सायणः ।

३. इन्द्र शब्द यहां सिंहासन छोड़े रहे पुराने सम्राट् को कहता है। या यहां इन्द्र शब्द लक्षणा से राज्य का वाचक समझ लेना चाहिये ।

देखो। अर्थात् उसे देने की तैयारी करो। यदि वह भाग पका हुआ है (आतं) अर्थात् पूरी तरह तय्यार हो तो उसे समय पर दे दो (जुहोतन) और यदि पका हुआ अर्थात् तय्यार नहीं है (अआतं) तो [किसी और तरह से, अगली ऋतु में सब हिसाब चुकता कर देने का वचन आदि देकर] उसे प्रसन्न करो (ममत्तन) ॥१॥”

हे इन्द्र (सम्राट्) तुम्हें देने योग्य (हविः) भाग पका हुआ है अर्थात् पूरी तरह तय्यार है। सूर्य अपने मार्ग के मध्य में जा चुका है अर्थात् आधा वर्ष बीत चुका है। हम तेरे मित्र प्रजाजन खजानों को लेकर (निधिमिः) तेरे पास आते हैं जैसे कि कुलों के रक्षक पुत्र गृहपति (व्राजपति^१) के पास आते हैं ॥२॥”

यहाँ ऋतु-ऋतु में राजा का उसका भाग मिलता रहना चाहिये इसका स्पष्ट उपदेश है। जो पुष्ट कारण बताकर राजा को प्रसन्न न करलें वे राजा के ऋत्विग्य भाग से छूट नहीं सकते यह भाव भी प्रथम मन्त्र से स्पष्ट निकलता है। दूसरे मन्त्र से यह भी प्रतीत होता है कि कर लेने के लिये वर्ष को दो भागों में बाँट दिया जाना चाहिये। वर्ष के एक भाग की समाप्ति पर उसका ऋत्विग्य प्रजाजनों को स्वयं, अपने आपको राजा का मित्र समझते हुये, राजकोश में पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिये।

इसी भाँति—

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत ।
अथ० १।८।१

या तुधानस्य सोमप जहि प्रजाम् । अथ० १।८।३
सोमपा अभयङ्करः । अथ० १।२१।१

बहुं बलिं प्रतिपश्यासा उग्रः । अथ० ३।४।३
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः
स्याम । अथ० १२।१।६२

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि । अथ०
७।६४।१

वेद के इन मन्त्रों में भी प्रजाओं से कर-ग्रहण का

स्पष्ट निर्देश है। इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—

“हमारे इस हवि अर्थात् राजा को दिये जाने वाले कर-भाग ने यातुधानों अर्थात् प्रजापीड़कों को इस तरह बहा दिया है जैसे नदी झाग को बहा है देनी।” “हे हमारे ऐश्वर्य का पान करने वाले अग्नि (राजन्) तु प्रजापीड़कों को नष्ट कर दे।” ये दोनों मन्त्र खण्ड जिस सूक्त के हैं वहाँ अग्नि से यातु-धानों (प्रजापीड़कों) को मारने की प्रार्थना की गई है। प्रजाजन कहते हैं कि हे सम्राट् हम तुझे ऐश्वर्य (सोम) को हवि देते हैं तु उसका पान कर और बदले में हमारी रक्षा कर।

“यह इन्द्र (सम्राट्) हमारे ऐश्वर्य (सोम) का पान करता है उसके बदले में हमारे लिये अभय करता है।” “हे सम्राट् प्रजाओं से प्राप्त होने वाले प्रभूत कर (बलि) की ओर देख।” “हे मातृभूमि हम लम्बी २ आयु भोगते हुए तुझे कर (बलि) देते रहें।” मातृभूमि को कर देने का अभिप्राय अपने राज्य को कर देना है। “ध्रुव दान द्वारा (हविषा) हम इन्द्र (सम्राट्) के पास ध्रुव ऐश्वर्य (सोम) पहुँचाते हैं।” प्रजाजन कह रहे हैं कि हम स्थिर और निश्चित कर द्वारा राजकोश को स्थिर बना देते हैं। इस मन्त्र में प्रजाओं पर स्थिर तौर पर कर लगाने का स्पष्ट निर्देश है।

अथर्व० के ५।१९।३ मंत्र में राजा को ब्राह्मण से शुल्क या कर लेने का निषेध किया गया है। कहा है कि जो लोग ब्राह्मण से शुल्क लेते हैं—य वास्मिन् शुल्कमीरिरे—वे अनर्थ करते हैं और इसीलिये विपत्ति में फँसते हैं। इस से स्पष्ट है कि अन्य प्रजा-जनों से शुल्क या कर लिया जाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में वेदों के इन्द्र द्वारा सोम-पान सम्बन्धी सभी स्थल देखे जा सकते हैं। सोमपान के प्रायः सभी वर्णन प्रजाओं से कर—ग्रहण में बड़े सुन्दर घटते हैं। प्रत्युत अनेक वर्णन तो केवल कर—ग्रहण अर्थ में ही सुसंगत हो सकते हैं। सोम नामक बूटी को पीस कर

१. व्राजा गन्तव्या गृहाः तेषां पतिः गृहपतिरिति सायणः

उससे निकाले हुए रस के पान की जितनी विराट् से पेश्वर्य प्राप्त कर के एक इन्द्र (सम्राट्) अपने महिमा अनेक स्थानों पर बताई गई है वह किसी राष्ट्र में उन विराट् कर्मों को बड़ी सुन्दरता से बूटी के रस में वास्तव में हो नहीं सकती। प्रजाओं कर सकता है।

“ऋषि चरणों में”

[ले० श्री जयदेव “सखी” शास्त्री, गुरुकुल जेहलम]

महर्षे ! आज सारा आर्यसंसार श्री चरणारविन्दों में श्रद्धाञ्जलि चढ़ा रहा है। मैं भी श्रद्धा के फूल लेकर द्वार पर खड़ा हूँ, परन्तु द्वार लांघने का साहस नहीं होता।

भगवन् ! हृदय में श्रद्धा है, बुद्धि में विश्वास है, मन में उत्तुंगउमंगे हैं, मस्तक में विनय है, चक्षुओं में स्नेहदृष्टि है परन्तु न जाने, चरण क्यों नहीं आगे बढ़ने पाते।

योगिराज ! महात्मा योगियों से कुछ छुपा हुआ नहीं रहता। स्वामिन् ! आप गुरुदेव हैं। शिष्य के नाते मैं आपसे छिपा कर भी क्या रक्खूँ ! मेरा हृदय सचमुच, आपके उपकार-भार से दबा सा जाता है।

प्रिय गुरुदेव ! जीवन की इन घड़ियों में कितनी ही बार आपको स्मरण किया है। श्रद्धा के पुष्प भी भेंट किये हैं। गुणगरिमा के गान अलापे हैं, पर न जाने क्यों आपके तर्माप आने की आज हिम्मत ही नहीं पड़ती

ऋषिवर ? मैं सोचता हूँ—क्या मुँह लेकर मैं आप की सेवा में उपस्थित होऊँ।

आप के उपदेशामृत का मैंने ग्रहण किया, पर पान नहीं किया। श्रवण किया, मनन नहीं कर सका। प्रदर्शितमार्ग का दर्शन तो किया, पर उस पर चला नहीं। इतने वर्ष बीतने पर भी मैं वहीं-का-वहीं हूँ। मन में प्रश्न उठ रहा है कि जब आप पूछोगे कि कितना रास्ता तय कर लिया है ? मैं क्या उत्तर दूँगा ?

इसी द्विविधा में किंकर्तव्यविमूढ़ सा द्वार पर खड़ा हूँ। मस्तक लज्जा से झुका जा रहा है।

दयानिधे ! दया कर के आशीर्वाद दो। मेरी जीवन-नौका के कर्णधार बनो। गुरुदेव ! योग्य शिष्य बनने की योग्यता प्रदान करो।

मुझे वह सत्य बोध प्रदान करो कि मैं कैसे निशङ्क हो कर ‘ऋषि-चरणों में’ श्रद्धा के पुष्प भेंट करने के योग्य हो सकूँ।

धर्म का विकृत रूप

[ले०—पं० केशवदेव ज्ञानी, मद्रास]

पिछले दिनों श्री पूज्य नारायण स्वामी जी प्रधान, सा० दे० सभा, देहली की आज्ञानुसार मैं मालावार गया। उस समय चंगनचैरी नामक स्थान पर हरिजनों की एक बड़ी कांफ्रेंस चल रही थी। विषय यह था कि हिन्दुधर्म छोड़ने पर कौनसा धर्म स्वीकार करना लाभदायक होगा। इस कांफ्रेंस में अनेक ईसाई मिशनरी, मुस्लिम मौलाना, बौद्ध भिक्षु, सिख सरदार पधारे थे। सब अपनी-अपनी डफली बजा रहे थे। अजीब घमासान थी। मुझे तो मद्रास के मछली बाज़ार का सा दृश्य दिखाई दिया।

थिया नेताओं का विविध धर्माचार्यों से एक प्रश्न था “आपके धर्म में प्रवेश करने से हमें आर्थिक व सामाजिक क्या लाभ होगा?” ईसाई मिशनरी यथा स्वभाव उन्हें स्कूलों, कालिजों, दवाखानों आदि का लालच दे रहे थे। मुमलमानों ने मत-परिवर्तन के समय प्रति व्यक्ति १०) देने की प्रतिज्ञा की। सिखों की ओर से भी हरिजनों की सहायतार्थ ७ लाख रुपया व्यय करने का निश्चय सुनाया गया। बौद्ध बेचारे स्वयं ही भिक्षुक ठहरे, वे क्या दगे? अस्तु, हम से भी पूछा गया। हमने तो स्पष्ट ही अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा— “हम इस होड़ में शामिल नहीं हैं।” हाँ! यदि जाति-हिन्दुओं से समानता के व्यवहार प्राप्त करने की इच्छा हो तब तो हम पूरा सहयोग देंगे। अन्यथा चाँदी के टुकड़ों से धर्म खरीदने के लिये न हम में शक्ति है और नाही इच्छा।”

दूसरे देशों को हम नहीं जानते परन्तु भारत-वर्ष के विषय में कह सकते हैं कि आजकल यहाँ धर्म एक प्रकार का राजनीतिक खिलवाड़ बना हुआ है। धर्म के नाम पर नौकरियाँ, धर्म के नाम पर वोट, धर्म के नाम पर कौंसिल व असेम्बली की सीटें और धर्म के नाम पर राजनीतिक राजी-नामें एक अजीब तमाशा नज़र आता है। जहाँ देखो आजकल धार्मिक गुट, धार्मिक दलवन्दी और धार्मिक अखाड़े जारी हैं। वही धर्म जो प्रेम और शान्ति का पाठ पढ़ाने के लिये पैदा हुआ था आज वैर-विरोध उत्पन्न करने का सब से अधिक उपजाऊ साधन बना हुआ है।

परन्तु इस रोग की चिकित्सा क्या है? पं० जवाहरलाल नेहरू ने हाल ही में संवाददाता से बातचीत करते हुए कहा:—

“I have my own solution to the problem and that is doing away with religious fanaticism and ignorance among the masses—whether Hindus, Muslims or Sikhs.”

अर्थात्, मेरे पास इस समस्या का हल है और वो यह कि जनता के अन्दर से अविद्या और धर्मान्धता को मिटाया जाय।

हम जानते हैं कि आजकल के चालबाज़ नेता अपना उल्लू सीधा करने के लिये भोली जनता को धर्म के नाम पर उभारते रहते हैं। धर्म एक बहुत ही आसान हथ्था है जिसे पकड़कर जन-समुदाय को

जिधर चाहें घुमाया जा सकता है। यही कारण है कि आज भारतवर्ष में स्थान-स्थान पर आग सुलग रही है। स्वामी दयानन्द ने इस समस्या का अनुमान किया था और इसी लिये देहली-दरबार के समय सब धर्मों को एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न किया। परन्तु उस समय भी स्वार्थपूर्ण विरोधी शक्तियों ने ऐसा न होने दिया।

पश्चिमीय विद्वानों ने संसार व्यापी धार्मिक विद्वेष के कारणों को खूब समझा है और इसीलिये (Worldfellowship of Faiths) अर्थात् “विश्वधर्म-भ्रातृत्व” की स्थापना की है। इसमें अमरीका तथा योरप के प्रायः सभी चोटी के विद्वान् शामिल हैं। इसका ध्येय क्या है इस विषय पर हम इस संस्था के ब्रिटिश नैशनल-कौंसिल के चेयरमैन का निम्न कथन उद्धृत करते हैं:—

“Experience had shown us the fundamental sense of kinship in the human race and it was the object of the World Fellowship to bring this out as an article of faith to which every body would subscribe as the basis for human relationships affecting both people and nations. They saw the principle of faith inherent in every great religion and they believed it could be translated into a world order to govern all affairs and particularly to assure peace.”

Sir Francis Younghusband.

अर्थात्, हमें अनुभव से पता लगता है कि समस्त मानव-जाति में एक मौलिक समानता है

और “विश्व-धर्म-भ्रातृत्व” का उद्देश्य भी इसी समानता की स्थापना करना है ताकि मुख्य-मात्र इस सर्व-मान्य सिद्धान्त को स्वीकार करे। प्राणि-मात्र-प्रेम प्रत्येक धर्म में पाया जाता है और इसी के प्रचार से जन-समुदायों में परस्पर भ्रातृत्व तथा शान्ति-साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है।

हमें दुःख से लिखना पड़ता है कि आर्यसमाज भी कुछ समय से विधर्मियों की द्वेष-परक नीति का शिकार बन कर उलटे रास्ते पर चलने लगा है। इसमें भी मज़हबी-दीवानों की कमी नहीं जो सदैव परस्पर विद्वेषाग्नि को ही भड़काया करते हैं। हमारे आचार्य का उद्देश्य तो “सारे संसार को एक सूत्र में पिरोने का था” परन्तु हम व्यक्ति-व्यक्ति और समाज-समाज में ही भेद पैदा कर रहे हैं।

आज दुनिया में बहुत तब्दोलियाँ हो रही हैं। प्रत्येक क्षेत्र में परीक्षण किये जा रहे हैं। क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक और क्या धार्मिक? प्राचीन रूढ़ियों को सर्वत्र तोड़ा जा रहा है। जाति, धन व शक्ति के अभिमान को मिटाने की कोशिश जारी है शिक्षा का प्रचार सर्वत्र फैल रहा है। ऐसे समय क्या यह आवश्यक नहीं कि हम धर्म के विकृत रूप को छोड़ कर धर्म के उन आवश्यक अंगों को सुदृढ़ करें जिनके आधार पर विश्व में परस्पर प्रेम व शान्ति का भवन खड़ा कर सकते हैं। धर्म के त्रिंशुचित क्षेत्र और धार्मिक अन्धविश्वास को तिलांजलि देकर एक, सत्य, सनातन व सार्व-भौम धर्म की स्थापना करें। संभव है कि पाठकों को हमारी यह भावना स्वप्न समान प्रतीत हो। परन्तु आज के स्वप्न ही तो कल के क्रियात्मक विचार हुआ करते हैं। फिर सुन्दर स्वप्न में भी तो एक प्रकार का सुख है।

क्या वेद ईश्वरीय ज्ञान है ?

(ले० ब्र० रामनाथ जी चतुर्दश श्रेणी गुरुकुल कांगड़ी)

(vi) चौथी भाषाविज्ञान की दृष्टि है। इसको आधार मानकर विचारने वाले विद्वान् वैदिक भाषा की अन्य भाषाओं से तुलना करके इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि अमुक समय से पहले वेद बन चुके थे। उदाहरणार्थ वैदिक भाषा से ज़िन्द भाषा बहुत कुछ मिलती है, तो परिणाम स्वरूप ज़िन्दावस्था से पर्याप्त समय पहले वेदों को होना चाहिये। परन्तु यह प्रणाली दोषयुक्त है क्योंकि यद्यपि इससे यह तो मालूम हो सकता है कि वेद अमुक समय से पुराने हैं परन्तु किसी निश्चित तिथि पर नहीं पहुँचा जा सकता।

इस प्रकार भाषाविज्ञानियों ने परस्पर भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके यह परिणाम निकाला है कि वैदिक भाषा सृष्टि की आदि भाषा या सब भाषाओं की मूलभाषा नहीं हो सकती। उन्होंने भाषाओं की तुलना द्वारा कुछ ऐसे नियम निकाले हैं जिनके आधार पर देश, काल और जाति के अनुसार किसी भाषा के उच्चारण, लिपि, अर्थ, आदि में परिवर्तन आया करता है। दूसरी भाषाओं में कई ऐसे शब्द मिलते हैं जो कि वैदिक भाषा को मूलभाषा मानने पर उन नियमों के अनुसार उससे नहीं निकल सकते। इसलिये वैदिक भाषा को सब भाषाओं की जननी न मान कर यह स्वीकार करना पड़ता है कि वास्तव में मूलभाषा कोई और है और वैदिक भाषा भी उसी से निकली है। इस प्रकार वैदिकभाषा सृष्टि की आदि की भाषा न होने के कारण वेदों को ईश्वरीय ज्ञान भी

नहीं कहा जा सकता। इस युक्ति को हमें मूल्य देना पड़ता यदि भाषा-विज्ञान के नियमों में अशुद्धि या अपवाद की कोई सम्भावना न होती। पर उक्त नियमों का आधार कुछ उदाहरणों में उन नियमों का लागू होना मात्र है। यह नहीं कहा जा सकता कि उन नियमों के विरुद्ध सोचना ही व्यर्थ है। एक भाषा को परिवर्तित होते समय भिन्न २ अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ता है। किसी भाषा को दूसरी भाषा तक बदलने में जो अवान्तर भाषायें बन जाती हैं उनमें से कुछ तो वैसी ही प्रचलित रहती हैं और कुछ थोड़े समय बाद लुप्त हो जाती हैं। यदि उन लुप्त भाषाओं का ज्ञान हमें हो तो हम बड़ी सुगमता से जान सकते हैं कि अमुक भाषा को दूसरी भाषा तक परिवर्तन होने में इन २ स्टेजों में से निकलना पड़ा है और इसलिये उस भाषा की यही जननी है। पर बीच की कोई स्टेज लुप्त हो जाने पर तथा पर्याप्त प्रमाण न मिलने पर यह स्थापना करने में कठिनाई होती है कि अमुक भाषा उस भाषा से निकली है। यही बात हमें वैदिक भाषा के संबन्ध में भी समझनी चाहिये। इसलिये भाषाविज्ञानो युक्तिपूर्वक अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक भाषा सब भाषाओं की मूल भाषा है इसमें सन्देह है, निश्चित रूपसे वे इस का प्रतिवाद नहीं कर सकते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदकाल पर जितनी भी दृष्टियों से विचार किया गया है, कोई भी

सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। विन्टरनिज़ महोदय ने इन सबका खण्डन करते हुए कहा है कि वास्तव में हम वेद का काल कोई भी निश्चित नहीं कर सकते। यदि आनुमानिक रूप से ही कहना हो तो हम वेद का प्रारम्भ २५०० वर्ष पूर्व से हुआ कह सकते हैं, क्योंकि यह हम जानते हैं कि बुद्ध महावीर आदि के समय वेदों का प्रचार था और इनका काल भी हमें निश्चित रूप से ज्ञात है। लेकिन यह अनुमान ही तो है! यदि विन्टरनिज़ महोदय की समझ में यह आ जाता कि कोई ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान भी हो सकता है तब उन्हें अपनी युक्ति के अनुसार इसी परिणाम पर पहुँचना चाहिए था।

अब तक जो भी वेदों की तिथि भिन्न-२ विचारकों ने निश्चित की है उनमें परस्पर इतना अन्तर है कि वह स्वयं इस बात को बतलाता है कि उनमें से कोई भी ठीक नहीं है। मैक्समूलर वेदों को अधिक से अधिक १५०० ई० पू० का कहते हैं तो मैकडानलड, हौग और विटनी इसे २००० ई० पू० का बताते हैं। जैकोबी ४५०० तिलक ८००० और श्री अविनाशचन्द्र दास ३५ हजार वर्ष पुराने काल तक वेदों को पहुँचाते हैं इस प्रकार जितना ही अधिक अन्वेषण हो रहा है, विद्वानों की दृष्टि में वेद अधिक २ पुराने सिद्ध होते जा रहे हैं। संभव है किसी समय वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने का सिद्धान्त सर्वसम्मत् माना जाने लगे। साथ ही हम देखते हैं कि उपर्युक्त तिथियों में परम्पर हजारों का अन्तर है। जो कसौटियाँ इतने भिन्न २ परिणामों पर पहुँचाती हों, उनमें से किसे ठीक और किसे ग़लत कहा जाय! हम यह भी देखते हैं कि विचारकों ने आपस में ही एक दूसरे की युक्ति का खण्डन भी कर दिया है। इससे भी सब की

निस्सारता स्वयमेव प्रकट हो जाती है। तो फिर इसके सिवा और क्या मत मान्य हो सकता है कि वेद सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर द्वारा प्रकट हुए।

(iii) ऋग्वेद की अन्य वेदों से

प्राचीनता पर विचार !

सभी पाश्चात्य विद्वानों ने तथा कई भारतीय विचारकों ने भी ऋग्वेद को दूसरे वेदों से प्राचीन माना है। पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि हम ऊपर दिखा चुके हैं। वह दृष्टि वेदों के अर्थ करने के अशुद्ध प्रकार का ही परिणाम है। जब मैक्समूलर किन्हीं मन्त्रों के आधार पर ऋग्वेद को प्राचीनतम कहते हैं तो उन्हें पहले उन ऋचाओं का प्रामाणिक अर्थ भी तो जान लेना चाहिए। वैदिक-साहित्य के आन्तरिक स्वाध्याय में भारतीय आचार्यों का जो श्रम है उसके मुकाबिले में पाश्चात्य विद्वानों का प्रयास नगण्य है। यह हम ही नहीं कहते प्रसिद्ध विचारक शोपनहार ने भी इसे स्वीकार किया है। इसलिये वेदों के वास्तविक अभिप्राय को समझने के लिये उसके विशेष नियम, व्याकरण आदि का परिज्ञान आवश्यक है।

पाश्चात्यों की कल्पना है कि ऋक्संहिता अन्य संहिताओं से प्राचीन है, उसमें भी द्वितीय-मण्डल अपेक्षया अर्वाचीन है और दशम-मण्डल तो ऋग्वेद का परिशिष्ट भाग कहा जा सकता है।

1. "I add to this the impression which the translations of Sanskrit words by European scholars, with very few exception, produce on my mind. I cannot resist a certain suspicion that our Sanskrit scholars do not understand their text much better than the higher class of school boys their greek or

Latin" — Schopenhauer

सामवेद में प्रायः मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। यजुःसंहिता उससे भी पीछे की है और अथर्व वेद तो सब वेदों का परिशिष्ट रूप ही है जो कि बहुत अर्वाचीन है। पर वास्तव में देखा जाय तो यह मत निराधार है। दूसरी पुष्टि में एक युक्ति यह दी जाती है कि जहाँ-जहाँ भी चारों वेदों का इकट्ठा उल्लेख है वहाँ ऋग्वेद का सर्व प्रथम प्रयोग हुआ है। इसका अपवाद हमें कहीं भी नहीं मिलता। यह इस बात को सूचित करता है कि ऋग्वेद की रचना सबसे पहले हुई। पर जब हम देखते हैं कि ऋग्वेद का सबसे पहले प्रयोग उसकी प्राचीनता को न बता कर ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इस क्रम में जो एक रहस्य छिपा हुआ है उसे प्रकट करता है, तब इस युक्ति का कुछ मूल्य नहीं रहता। इन चारों वेदों को क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु तथा स्वर्लोक से सम्बन्ध है और इनका प्रतिपाद्य विषय क्रम से, ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान है इस क्रम में नीचे से ऊपर चढ़कर स्वर्लोक पहुँचने की सीढ़ी बताई गई है। इस क्रम में से गुज़र कर ही उपासक विज्ञान तक पहुँच सकता है। ऋग्, यजुः, साम इन तीनों को पार कर चुकने पर ही अथर्व का रहस्य समझा जा सकता है। इन तीनों को पार करके ही उपासक परमज्योति में लीन होकर उसकी एक किरण बन सकता है। सत्कर्म के लिये पहले ज्ञान आवश्यक है और ज्ञान तथा कर्म से ही उपासना तक पहुँचा जा सकता है। ऋग्वेद को सर्व-प्रथम रखने का

यही रहस्य है। इसलिये इससे ऋग्वेद की सबसे पूर्व रचना हुई यह कल्पना करना बिल्कुल निराधार ठहरता है।

दूसरी मुख्य युक्ति इस विषय में यह दी जाती है कि दूसरे वेदों में ऋग्वेद के ही कई पूरे सूक्त-के-सूक्त और कई मन्त्र उसी रूप में तथा कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं। उससे यही परिणाम निकलता है कि पीछे के ऋषियों ने जिन्होंने उन वेदों को बनाया ऋग्वेद के ही मन्त्रों को चुनकर दूसरे वेदों में भी मिला दिया। और इस प्रकार ऋग्वेद और वेदों से प्राचीन ही होना चाहिए। परन्तु यदि यह युक्ति ठीक हो तो ऋग्वेद में जो कई ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनमें साम आदि का उल्लेख है, उनका समाधान कैसे हो सकता है ! ऋग्वेद में :—

तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं साम-
गामुक्थशासम् । ऋ० १० । १८७ । ६

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत
ऋ० १० । १० । ९

ऋक्सामभ्यामभिहितौ गावौ ।

ऋग्० १० । ८५ । ११

इत्यादि मन्त्रों में साम, यजुः आदि के नाम पाये जाते हैं। यदि ऋग्वेद अन्य वेदों से प्राचीन है उसमें दूसरे वेदों का नाम कैसे आसकता था। यह इसी बात को बताता है कि ऋग्वेद और वेदों से पुराना नहीं है और क्योंकि उनसे पीछे का भी नहीं हो सकता इसलिये उसे और वेदों का समकालीन ही मानना पड़ता है। साथ ही जो मन्त्र ऋगादि वेदों में समान पाये जाते हैं वे एक दूसरे से लिये गये हों ऐसी बात नहीं है। चारों वेदों का अपना २ स्वतन्त्र विषय है और उस विषय के

१. 'इममेव लोकमृचा जयति, अन्तरिक्षं यजुषा, दिवमेव सामना । शत० ४।६।७।२॥'

'ऋग्भिरेनं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते । तमोङ्कारैरायतनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजर ममृत-मभयं च ।' प्र० ५।७॥

अनुसार वे वे मन्त्र अपने २ विषय का प्रतिपादन करने के कारण पदरचना में एक सदृश होते हुए भी एक नहीं कहे जा सकते ।

अस्तु । इस प्रकार हम ऐतिहासिक दृष्टि की व्यापक आलोचना के बाद इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि जिन विचारकों ने वेद को किसी ऐतिहासिक काल विशेष में रचा हुआ सिद्ध करने की कोशिश की है वे अपने इस प्रयत्न में असफल ही रहे हैं ।

५. ईश्वरीय ज्ञान में वैज्ञानिक बाधा का प्रश्न

हम ऊपर कह चुके हैं कि ईश्वरीय ज्ञान विषयक वैदिक सिद्धान्त अन्य धर्मों के सिद्धान्तों से भिन्न है । यह एक ऐसा सिद्धान्त समझा जाता कि सामान्यतया बुद्धि इसे मानने को तैयार नहीं होती । कई युक्तियों से मान कर भी उसमें विश्वास करने को तैयार नहीं होते । वेद का एक एक शब्द इसी रूप में परमात्मा से ऋषियों को प्रकट हुआ, यह एक दुरूह कल्पना समझी जाती है । ईश्वर ने ज्ञान किस प्रकार दिया होगा, यह एक दम समझ नहीं आता । जॉन स्टुअर्ट मिल इलहाम की असंभवता को बताते हुए कहते हैं कि आखिर निराकार परमात्माने सृष्टि के आरम्भ में किन्हीं व्यक्तियों को ज्ञान दिया कैसे ? वह सामान्य मनुष्यों की तरह मुखादि अवयवों द्वारा तो दे नहीं सकता, तो फिर यही मानना पड़ेगा कि उसने चमत्कार किया ! परन्तु क्या ऐसा चमत्कार संभव है । इसका उत्तर वे कट्टर नकारात्मक शब्दों में देते हैं । लेकिन यदि प्रो० मिल आजकल के ज़माने में होते और वे मेस्मरिज़्म, हिप्नोटिज़्म आदि के चमत्कार देख सकते तो उन्हें इस प्रश्न के उठाने का अवसर ही न होता । योगी लोग किस प्रकार दूसरे के मन की बात जान लेते हैं और अपनी बात दूसरे तक

पहुंचा देते हैं । यह अब अविश्वसनीय और आश्चर्य की वस्तु नहीं रह गई है । जब मनुष्य जिसकी कि परमेश्वर से सदृशांश में भी तुलना नहीं हो सकती । ऐसे २ चमत्कार कर सकता है तब ईश्वर ऐसा कर सका हो इसमें कौन सी सन्देह की बात है ? प्रसिद्ध विद्वान् हैम्ले ने स्वीकार किया है कि ईश्वर से ज्ञान आने का विचार चाहे सत्य हो या असत्य, पर इतना तो निश्चय रूप से कहना ही पड़ता है कि कम से कम ईश्वर से इलहाम आने में कोई वैज्ञानिक बाधा उपस्थित नहीं होती ।

यहां एक प्रश्न और उठता है । कहा जाता है कि ज्ञान का आदिम स्रोत परमात्मा को मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं और इन अर्थों में हमें वेद को भी ईश्वरीय ज्ञान कहने में संकोच नहीं । परन्तु वेद को हम बुद्ध, कबीर, ईसा, मुहम्मद आदि सन्तों के सत्य ज्ञान से अधिक महत्व नहीं दे सकते । ईश्वरीय ज्ञान में काल और देश की दृष्टि से कोई रुकावट नहीं होनी चाहिये । वह कहीं पर भी किसी भी व्यक्ति को आविर्भूत हो सकता है । इस प्रकार वैदिक मन्त्र उसी कोटि में आते हैं । जिसमें कि नानक और कबीर के दोहे डाले जाते हैं । यह अन्तर तो हो सकता है । कि वेद बहुत आगे बढ़े हुए हैं वे ज्ञान की खान हैं, उनमें अलौकिक रहस्य छिपे हुए हैं । परन्तु ईश्वरीय ज्ञान की दृष्टि से दोनों समान हैं और कोई भी सचाई जो किसी व्यक्ति को समाहित या असाधारण अवस्था में प्राप्त होती है वह वेद के समान ही ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा कर सकती है । कई बार देखा गया है कि बुद्धि और आचार की दृष्टि से बहुत हीन व्यक्तियों को भी कभी अचानक ही हृदय में ईश्वर की आवाज़ सुनाई देती है और वे बिना किसी दूसरे के उपदेश के उस पाशविक जीवन से उठ

कर अलौकिक स्वर्गीय आनन्द के समुद्र में हिलोरें लेने लगते हैं। यह ईश्वर की ही प्रेरणा का फल होता है। कई सामाजिक समस्याओं के हल करने में बड़े २ महात्माओं को ईश्वर की ओर से ही सहायता मिलती है। इन सब अवस्थाओं के होते हुए यह कैसे मान लिया जाय कि सिर्फ वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है और उसका एक २ शब्द परमात्मा से आया है।

इस युक्ति पर हमें बहुत नहीं कहना है। इन अर्थों में कि प्रत्येक सत्य ज्ञान का मूल ईश्वर ही है, हमें कबीर की रहस्यमयी सत्य उक्तियों को ईश्वरीय कहने में बिल्कुल भी संकोच नहीं है। कबीर और दयानन्द क्या, हम सामान्य लोगों में भी जिस सत्य का उदय होता है वह सब उसी सत्य-स्वरूप परमेश्वर की कृपा से है; इसलिये वह उसका देने वाला है। इससे हमारा विरोध तो तब होता यदि हम यह स्थापना करते कि वेद के अतिरिक्त और कहीं सचाई हो ही नहीं सकती। हम तो स्वयं सचाई का मूल परमेश्वर को मानते हैं। ईसा आदि बहुत से महात्मा वेद से अनभिज्ञ थे, पर हम नहीं कहते कि वे झूठे और मक्कार थे; हम उनकी सचाई और सेवा पर श्रद्धा से सिर झुकाते हैं। हम मानने को तैयार हैं कि मुहम्मद पर ईश्वर का हाथ था। उसने अपने पूर्व-कर्मों के अनुसार अलौकिक शक्ति प्राप्त की थी। पर हम यह नहीं कह सकते कि उसके मुख से निकला हुआ एक एक शब्द ईश्वरीय ज्ञान की तरह अटल सत्य था। हमें स्वीकार करना चाहिए कि जब संसार में या संसार के किसी एक कोने में अधर्म और अत्याचार का बोल-वाला हो जाता है उस समय कोई न कोई ईश्वर का संदेशहर प्रकट होता है। पर वह कोई नया संदेश लेकर नहीं आता, उसी सृष्टि के आरम्भ में दिये गये पुराने आदर्श सत्य की याद

दिलाने आता है, जिसको कि लोग भूल चुके हैं। उसके पैगाम को हम ईश्वरीय कह सकते हैं, लेकिन ऐसा होने पर भी वह वेद की कोटि में नहीं आ सकता। वेद तो ज्ञान का मूल है, उनके बिना आगे सृष्टि में ज्ञान की धारा चल ही नहीं सकती। इस लिये भिन्न २ सुधारकों के हृदय में जो सत्य की प्रेरणा होती है उसमें और इस ईश्वरीय ज्ञान वेद में बहुत अन्तर है।

साथ ही हम लोगों के ज्ञान में जहां कि सत्य का अंश होता है वहां उसमें असत्य कहीं उससे अधिक होता है। यदि हमारे अन्दर ईश्वर ज्ञान को प्रेरित करता है तो हम लोग उसमें अपनी बुद्धि से भी बहुत कुछ सच-झूठ जोड़ लेते हैं। कई बार सुधारक लोग समय और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए अधूरे सत्य का भी प्रचार करते हैं। पर जो ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा द्वारा दिया गया उसमें असत्य की गुञ्जाइश ही नहीं, वह सत्य ही होना चाहिए, क्योंकि उस समय ऋषियों के पास अपनी ओर से जोड़ने के लिये कुछ भी नहीं था। इसलिये सृष्टि के आरम्भ का ईश्वरीय ज्ञान वेद आजकल के कहे जाने वाले ईश्वरीय ज्ञान से बिल्कुल भिन्न है। किसी भी मनुष्य को किसी भी समय कोई आध्यात्मिक सत्य सूझ सकता है और उस समय यह भी कहा ही जायगा कि उसने एक सत्य को पा लिया है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि संसार में वह सत्य पहले किसी को प्रकट नहीं था और उसी ने उसका आविष्कार किया। पर वेदों के लिये यह कहना लेश-मात्र भी भी सन्दिग्ध नहीं कि सर्व प्रथम उसमें ही सत्य का आविष्कार हुआ। इसीलिये वेद को भिन्न अर्थों में ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार करना पड़ता है।

इस प्रकार में एक शंका और उपस्थित होती

है। वह यह कि ईश्वर ने अक्षरशः इसी रूप में ज्ञान दिया यह न मान कर यह क्यों न मान लिया जाय कि ईश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए मनुष्यों को ज्ञान का बीज दे दिया और उस बीज को पाकर अपनी बुद्धि से उन्होंने वेद की रचना की। हमें इसे मानने में कोई आपत्ति न होती, यदि यह सर्वथा दोष से शून्य होता। पर पहली बात तो यह है कि जिस ज्ञान के बीज के लिये कहा जाता है वह बीज ही तो वेद है। इसीलिये तो वेद में सब विद्याओं का संकेतमात्र होना ही महर्षि ने स्वीकार किया है। दूसरी बात यह कि इस शंका के मूल में कई भ्रम काम कर रहे हैं। ईश्वर ने ऋषियों को किस तरह, किस अवस्था में ला कर ज्ञान दिया होगा, यह समस्या इस प्रश्न उठाने वालों के सामने खड़ी हो जाती है।

उस अवस्था की कल्पना नहीं कर सकते। ब्राह्मणों में जहाँ वेदोत्पत्ति का वर्णन है वहाँ ईश्वर के तप का संकेत मिलता है। ईश्वर ने तप करके प्राकृतिक सृष्टि को बनाया, फिर मानुषी सृष्टि उत्पन्न की और तप द्वारा ही उनके अन्दर वैदिक ज्ञान को प्रेरित किया। ईश्वर का तप उसकी प्रबल इच्छा-शक्ति पर्यवेक्षण-शक्ति है। उससे उसने समाहित ऋषियों को ज्ञान दिया। ऋषियों ने उस ज्ञान को कैसे ग्रहण किया होगा, इसको समझना भी कठिन नहीं है। जब भक्त अपने उपास्यदेव की आराधना में तल्लीन होता है, भक्ति की तरंगों के साथ आयी आनन्द की बाढ़ में बह रहा होता है, उस समय उसे अनुभव होता है कि मैं अपने आराध्य देव के साक्षात् दर्शन कर रहा हूँ, उसके

अन्दर से सत्य ज्ञान की ज्योति निकल कर मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट हो रही है। उसके अन्दर एक ज्ञान की लहर आ रही होती है। जब वह इस समाधि से उठता है उस समय भी उसे वह दृश्य भूलता नहीं, वह चिरस्थायी हो कर उसके हृदय को आप्लावित करता रहता है। समाधि की अवस्था में प्रकट हुए-हुए भाव उसे सदा स्मरण रहते हैं। इससे कुछ मिलती हुई अवस्था ही ऋषियों की ज्ञान प्राप्ति की कही जा सकती है। जैसे छोटा बच्चा अपनी माता की छाती से चिपटा रहता है और माँ की गोदी में ही सारे विश्व को समाया हुआ देखता है, वैसे ही ऋषि उस जग-ज्जननी से उत्पन्न होकर संसार में नहीं फँस गये, बल्कि वे उस माता से चिपटे रह कर सुध बुध भूले रहते थे; उसी अवस्था में उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। परमात्मा के तप से तथा योग्य पात्र होने से वह ज्ञान उन ऋषियों के अन्दर ऐसा बैठ गया कि उसके समझने-समझाने, और स्मरण रखने में उन्हें कुछ भी प्रयास न हुआ और उसी श्रवण-परम्परा से वह श्रुति आगे चलती रही। श्री पं० गुरुदत्त जी विद्यार्थी ने 'श्रुति' शब्द का अर्थ 'प्रकृतिकी वाणी' (the voice of Nature) किया है। अर्थात् जिस समय ऋषियों को ज्ञान मिल रहा था उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि कोई अदृश्य शक्ति उस वाणी को उनके हृदय तक पहुँचा रही है। इसके अनुसार ईश्वर ने सम्पूर्ण वेद का अक्षरशः ज्ञान कैसे दिया होगा और ऋषियों ने उसे कैसे स्मरण रक्खा होगा यह प्रश्न असाध्य नहीं रहता।

वैदिक ईश्वरवाद और वर्तमान विज्ञान

ले०—श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति

कौन्ट जान्स जर्ना (Count Bjornst yerna) नामक प्रसिद्ध विद्वान ने Theogony of the Hindus में वेद मन्त्रों के उद्धरण देकर लिखा है—

“These truly sublime ideas can not fail to convince us that the Vedas recognise only One God, who is Almighty, Infinite, Eternal, Self-existent, the Light and Lord of the Universe.”

अर्थात् इन उद्धरणों में प्रकाशित भावों से हम निश्चिततया इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि वेद एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन करते हैं जो ईश्वर सर्वशक्तिमान्, अनन्त नित्य, स्वयम्भू और जगत् का प्रकाशक तथा स्वामी है।

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तंगीर्भिरभ्यर्च-
आभिः । ऋ० ६।२।२१

यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं
भुवनायन्त्यन्या । ऋ० १०।८।३

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्ययस्पतिरेक एव
नमस्योविक्ष्वीड्यः । अ० २।२।१

मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिः, एक एव
नमस्यः सुशेवाः । अ० २।२।२

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते न
पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते । नाष्टमो न
नवमो दशमो नाप्युच्यते ।

स एष एक एकवदेक एव । अथर्व० १३।४।२०

इत्यादि सैकड़ों मन्त्र एकेश्वर वाद के स्पष्ट प्रतिपादक हैं।

Henotheism के समर्थक विद्वानों का कथन यह है कि वैदिक ऋषि अनेकेश्वर वादी थे किन्तु वे जिस देवता की स्तुति करने बैठते थे भाटों की तरह उसी को सर्वज्ञ सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान तथा जगत् का स्वामी मान लेते थे और उस समय अन्य सब को उसके आश्रित तथा उसकी अपेक्षा हीन समझते थे इस प्रकार वे इन्द्र मित्र वरुणादि भिन्न २ देवों की स्तुति करते रहते थे। इस वाद का एक तो उपर्युक्त प्रमाणों से निराकरण हो जाता है और दूसरा निम्न प्रकार के सैकड़ों मन्त्रों से जो वेदों में स्थान २ पर पाये जाते हैं उस कल्पना की भित्ति सम्पूर्णतया चरुनाचूर हो जाती है जिन में वरुण मित्र इन्द्र विष्णु ब्रह्मा रुद्र आदि को पर्यायवाची बताया गया है।

“त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं
विष्णुरुगायो नमस्यः । त्वं ब्रह्मा रयिविद्
ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ॥

ऋ० २।१।३

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतवृत्स्त्वं मित्रो
भवसि दस्म ईड्यः । त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य
संभुजं त्वमंशो विदथे देवभाजयुः ॥ ऋ० २।१।४
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।
सोऽग्निः स उसूर्यः स उ एव महायमः ॥

अथर्व० १३।४।४।

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद विशुद्ध एकेश्वरवाद के प्रतिपादक हैं।

अब मैं वैज्ञानिक दृष्टि से आवश्यक ईश्वर विषयक कुछ वेद मन्त्रों को उद्धृत करना चाहता हूँ जिन की वर्तमान विज्ञान के धुरन्धर विद्वानों के मन्तव्य के साथ तुलना की जा सके।

यदि वैदिक ईश्वरवाद के विषय में कोई एक ही मन्त्र उद्धृत करना हो जिस में सागर को गागर में बन्द कर दिया गया है तो निस्सन्देह यजुर्वेद के—

‘सपर्यगाच्छुक्रमकायमद्रणमस्नाविरं शु-
द्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान्वयदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः

४० । ८ ॥

इस सुप्रसिद्धमन्त्र को उद्धृत किया जा सकता जिस में ईश्वर को सर्वव्यापक निराकार निर्विकार सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी स्वयम्भू आदि बताते हुए यथार्थरूप से जगत् का कर्ता कहा गया है।

“य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिशद्
भुवनानि विश्वा । तमद्य होतरिषितो यजीयान्
देवं त्वष्टारमिहयक्षि विद्वान् । ऋ० १० । ११०।६

“विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो
बाहुरुत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां धमति
संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥”

ऋ० १० । ८१ । ३

“स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उमे इमे
स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम् । स्कम्भो दाधार
प्रदिशः पडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा-
विवेश ॥” अ० १० । ७ । ३५

“सुरूपकृत्नुमृतये सुदुधामिव गोदुहे ।
जुहुमसि द्यविद्यवि ॥” ऋ० १ । ४ । १

इत्यादि मन्त्र भी इस विषय में आवश्यक हैं जिनमें परमेश्वर को जगत् का कर्ता बताया गया है पर साथ ही ‘त्वष्टा, रूपैरपिशत् भुवनानि विश्वा, सुरूपकृत्नु’ इत्यादि शब्दों के प्रयोग द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है कि परमात्मा अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं करता किन्तु विद्यमान को ही वह रूप देता है दूसरे शब्दों में वह जगत् का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है। जगत् के अन्दर जो क्रम (Orders) दिखाई देता है उसे रखने वाला (जिसका विशेष निर्देश “शानो विष्णुरुक्रमः” आदि द्वारा किया गया है तथा इस सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाला वही एक है।

इस विषय के सैंकड़ों मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है जिनमें यह भाव प्रकट किया गया हो कि जगत् की सारी वस्तुएं सूर्य, चन्द्र, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी आकाशादि उस परमेश्वर की महिमा का मानो गान कर रही हैं किन्तु लेख विस्तार भय से दो तीन मन्त्रों का निर्देश पर्याप्त है।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं
रसया सहाहुः । यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० १० । १२१ । ४

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अर्भ्यक्षेतां
मनसा रेजमाने । यत्राधिस्र उदितो विभाति-
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० १० । १२१ । ६

यजु० ३२ । ७

प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिः
सूर्यस्ते महिमा । यस्तेऽहन्तसंवत्सरे महिमा संव-
भूव यस्ते वायावन्तरिक्षे महिमा संवभूव यस्ते
दिवि सूर्ये महिमा संवभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजा-
पतये स्वाहा देवेभ्यः । यजु० २३।२

प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्र-
मास्ते महिमा । यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा
संवभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा संवभूव
यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा संवभूव तस्मै
ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा ॥

यजु० २३।४

इनके अतिरिक्त 'मानो हिंसीज्जनिता यः
पृथिव्यायो वा दिवं सत्यधर्मा जजान ।'

ऋ० १०।१२१।६

इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा को सत्यधर्मा
बताते हुए उसके अटल नियमों का ।

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच-
न्द्रमा नक्तमेति ।" (ऋ० १।२४।१०)

'अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत
वरिमाणं पृथिव्याः । आसीदद्विश्वा भुवनानि-
सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥'

(यजु० ४।३०)

इत्यादि में स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है ।
इन्हीं अटल नियमों को जो भौतिक और नैतिक
जगत् में काम कर रहे हैं ऋत और सत्य के नाम
से पुकारते हुए उनका स्रोत परमात्मा को बताया
गया है उदाहरणार्थ ।

'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्य-
जायत ॥' (ऋ० १०।१६०।१)

इत्यादि मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता
अब इस वैदिक ईश्वरवाद की हम वर्तमान विज्ञान
के धुरन्धर विद्वानों के मन्तव्य के साथ तुलना सं-
से करेंगे ।

सर् ऑलिवर लॉज का मन्तव्य—

वर्तमान वैज्ञानिकों के शिरोमणि सर् ऑलिवर
लॉज F. R. S. D. Sc. LL. D. ने संसार
दिखाई देने वाले क्रम (Order) और व्यवस्था
(Law) तथा सौन्दर्य का वर्णन करते हुए
कहा है ।

"The more you explore, the more
re you are impressed with the gra-
ndeur, the infinitude, the complexity
the law and the beauty running thro-
ugh all creation.

your imaginations may run riot
and be false but they can not be
grander than reality you can not
conceive of things beyond that which
God has conceived and that which,
He has brought into existence."

(Science and Religion P. 18-19)

सारांश यह कि हम जितनी भी गहराई में
जाएं हमारे ऊपर सारे संसार में दिखाई देने वाली
सुन्दरता, व्यवस्था अनन्ता और महत्ता का अधिका-
धिक प्रभाव पड़ता है हमारी कल्पना ईश्वर द्वारा
रचित सृष्टि के परे नहीं जा सकती ।

"विज्ञान हमें क्या बताता है" इस विषय पर
प्रकाश डालते हुए सर ऑलिवर लॉज कहते हैं ।

"What does Science show in the
Universe ? It shows a magnificence of
law and order and world upon world

..All worlds are governed by law. All are regulated by the same laws that go on here. The Universe is the same." (P. 15)

अर्थात् विज्ञान हमें संसार में पाये जाने वाले सब और व्यवस्था को दिखाता है। यह दिखाता है कि सब लोक एक नियम (Law) द्वारा शासित रहे हैं। इत्यादि।

—लॉर्ड कैल्विन (Lord Kelvin)

इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक लॉर्ड कैल्विन ने इन प्रबल शब्दों में विज्ञान के ईश्वरवाद के समर्थकों को प्रतिपादन किया था। उनके शब्द निम्न लिखित थे जो स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हैं और जो उन नव शिक्षित व्यक्तियों का मुँह बन्द करने के लिये पर्याप्त हैं जो विज्ञान को ईश्वरवाद का विरोधी समझते हैं।

"Science positively affirms creative Power. We are absolutely forced by

Science to believe *with perfect confidence* in a *Directive* power in an influence other than physical or electrical forces."

(Quoted from *Science and Religion* P. 48)

—सर आइज़क न्यूटन (Sir Issac Newton)

सर आइज़क न्यूटन का नाम विज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है जो आकर्षण नियम (Law of Gravitation) के आविष्कार के कारण जगद्विख्यात हैं। उन्होंने ज्योतिष शास्त्र पर "Principia" नामक ग्रन्थ लिखते हुए उसके अन्त में निम्न लिखित महत्त्वपूर्ण शब्द लिखे थे जो उपर्युक्त वैदिक मन्त्रों का स्पष्ट स्मरण कराते हैं :—

"All this material Universe is the handiwork of one omniscient and omnipotent creator." (शेष फिर)

ट्रैक्टों का सिलसिला

सभा का साहित्य विभाग प्रति मास हिन्दी तथा उर्दू में समाजों में प्रचारार्थ मुफ्त बाँटने के लिये ट्रैक्ट प्रकाशित करता है। २५ प्रतियों का एक पैकट प्रति मास मंगवाने पर २) वार्षिक चन्दा है। यदि आप का समाज अभी तक इस ट्रैक्टों के मासिक सिलसिले का ग्राहक नहीं बना तो शीघ्र ही २) मनीआर्डर द्वारा भेज कर इस के अवश्य ग्राहक बन जाइये।

अध्यक्ष—साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

वर्णाश्रम-धर्म का वैज्ञानिक विवेचन

[लेखक—विद्वद्वर डॉ० भगवानदास जी, काशी]

अन्तर्जातीय विवाह बिल का स्वरूप और उसके उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहना आवश्यक है, उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि वर्तमान जातियों और उपजातियों के भीतर ही विवाह करने के कड़े बन्धन उस व्यवस्था के अनुकूल नहीं हैं। मौलिक स्वरूप में वर्ण-व्यवस्था एक पूर्ण सामाजिक संगठन थी जिसमें परस्पर सम्बद्ध चार और संगठन सम्मिलित थे अर्थात् शिक्षासम्बन्धी संगठन विद्वान् या ब्राह्मण-वर्ग तथा विद्यार्थी या ब्रह्मचारी-वर्ग सम्मिलित था; दूसरा रक्षा-संगठन, जिसमें वीर या क्षत्रिय-वर्ग और साधारणतया वाजप्रस्थ सम्मिलित थे तीसरा आर्थिक संगठन, जिसमें व्यापारी या वैश्य-वर्ग और गृहस्थ सम्मिलित थे, चौथा शिल्प या श्रमिक संगठन जिसमें शूद्र या कारीगर जो शारीरिक श्रम करते थे तथा संन्यासी जो आत्मिक श्रम करते थे, सम्मिलित थे। यह चतुर्मुख सामाजिक संगठन जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, आहारशास्त्र, कामशास्त्र, स्वास्थ्यविज्ञान और सन्ततिशास्त्र आदि विज्ञानों के आधार भूत विशाल सिद्धान्तों पर स्थापित था। आर्य-जाति के पूर्व पुरुषों ने अत्यन्त प्राचीनकाल में इसे एक ऐसे सांचे के रूप में बनाया था, जिसमें केवल भारत ही नहीं, किन्तु संसार की मानव जातियाँ ढाल कर थोड़ी या बहुत आर्य या सभ्य बनाई जा सकती थीं। यह जातियाँ जो इसके प्रभाव में आती थीं, अपने नाना

व्यवसायों, भिन्न भिन्न ध्येय, विश्वास, रीति-रिवाज, खेल-तमाशे और विधि निषेध के साथ इसमें समा जाती थी।

देशधर्मान् जातिधर्मान् कुलधर्माश्च शाश्वतान् ।
पश्यन्ति ? गणधर्माश्च शास्त्रेऽस्मिन्तुक्तवान् मनुः ॥

जीव शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि प्राणियों के परम्परागत जन्मों के दो नियम काम करते हैं जिन्हें आजकल के विकासवादी पैतृकसंक्रमण और सहज वैषम्य का नाम देते हैं, जिसका अर्थ यह है कि (i) एक ही माता-पिता की सन्तान के शरीर और मन माता-पिता के अनुरूप और परस्पर समान होते हैं। (ii) वह प्रायः भिन्न भी होते हैं। इन्हीं के लिये पुराने शब्द जन्म और कर्म हैं। इन दो विपरीत नियमों के अस्तित्व का हेतु इस आध्यात्मिक तथ्य में पाया जाता है कि आत्मा, unity (एकत्व) uniformity (समानता) similarity (सादृश्य) continuity (सातत्य) heredity (संक्रमण) multiplicity (अनेकत्व) diversity (भेद) और variation (वैषम्य) आदि का प्रतिनिधि है।

मनो वैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि मन के तीन कार्य हैं इनमें से कोई एक प्रत्येक व्यक्ति में प्रबल होता है, उसके अनुसार द्विज अर्थात् शिक्षित और संस्कृत व्यक्ति जिनका आत्म परीक्षण और कर्म-अकर्म के ज्ञान के कारण दूसरा जन्म समझा जाता है, तीन मुख्य वर्गों में से किसी एक में आते हैं—
१—ज्ञान प्रधान, २—कर्म प्रधान और ३—संग्र

१०
Al
l a
at
ne."
अ
म अ
कि
रहे
इ
डे ५
ने
लि

प्रिय चौथा वर्ग जो बच रहता है उसमें साधारण-तया अशिक्षित बाल-बुद्धि व्यक्ति आते हैं जो किंचित दक्षता से या उसके बिना ही श्रम का कार्य करते हैं। ज्ञान-प्रधान व्यक्ति श्रद्धा और सम्मान में ही पूर्ण सन्तोष पाते हैं और वही उनसे कार्य कराने के लिये भारी प्रेरित होता है। कर्म-प्रधान व्यक्ति अधिकार ऐश्वर्य और ज्ञान-शक्ति को पसन्द करते हैं। संग्रह प्रिय मनुष्य सम्पत्ति और धन के लिये कार्य करते हैं। श्रमिक मनुष्य इन्द्रिय सुख क्रीडा-विनोद आदि चाहते हैं यह भली-भांति स्मरण रखना चाहिये कि सहोदर भाई भी चार भिन्न वर्गों के हो सकते हैं और प्रायः होते भी हैं। यह सहज वैषम्य के नियम के अनुकूल होता है। और पैतृक क्रमण के कारण वे एक से भी हो सकते हैं।

न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वे ब्राह्ममिदं जगत् ।
प्रणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥

वेद के अलंकार के अनुसार चारों वर्ग प्रजापति के शरीर से उत्पन्न हुए हैं। इसलिये भाई भाई हैं। किन्तु अपने स्वभाव और कर्म के कारण भिन्न वर्गों में विभक्त होते हैं।

एक दूसरा प्रमुख मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि विवाह के पश्चात् सन्तान उत्पन्न हो जाने पर काम वासना शुद्ध प्रेम और त्याग पूर्ण उत्तरदायित्व में परिणत हो जाती है। यद्यपि जिस प्रकार 'अति' और कामों में हानिकारक है उसी प्रकार सन्तान उत्पन्न करने में भी है। किन्तु विषय सुख को प्राप्त करते हुए सन्तान का जन्म जान बूझकर त्याग पूर्ण उत्तरदायित्व से बचने के लिये रोक दिया जाय तो काम वासना स्वार्थपरता की भयंकर अग्नि का रूप धारण करती है और शीघ्र ही क्षम्यत्व प्रेम और सुख को नष्ट-भ्रष्ट करके दोषों और अपराधों और सामाजिक उथल-पुथल को उत्पन्न करती है। गृहस्थ

को इसीलिये बड़ा आश्रम कहा गया है कि यह सबका भरण-पोषण करता है और अति प्रसक्ति की निन्दा की गई है।

आर्थिक सिद्धान्त

आर्थिक सिद्धान्त यह है कि घोर प्रतिस्पर्धा को रोकने के लिये अथवा कम करने के लिये मनुष्यों को यदि पैतृक-संक्रमण का नियम स्पष्ट दीख पड़े तो अपना पैतृक-व्यवसाय ही करना चाहिये और जब वैषम्य का नियम प्रबल रूप में देख पड़े तो ऐसे व्यक्ति को अपने अनुरूप रोटि कमाने का व्यवसाय करने तथा उसी नाम से कहे जाने के लिये आज्ञा मिलनी चाहिये और उसके साथ पैसा जोड़ने के लिये कोई दूसरा व्यवसाय उसे नहीं करने देना चाहिये। उस प्रकार प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार समाज की से। अर्थ अच्छे से अच्छा प्रयत्न करने के तथा अपने निर्वाह के लिये उचित परिश्रमिक पाने के योग्य होगा। और काम, सम्पत्ति और विश्राम इनका उचित बटवारा होगा। क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक के अतिरिक्त दूसरे व्यवसाय से पैसा न कमा सकेगा।

समाज शास्त्र का सिद्धान्त

समाज शास्त्र का सिद्धान्त यह है—जिस प्रकार मनुष्य शरीर में सिर, भुजायें, धड़ और टांगे होती हैं और एक माननीय मस्तिष्क में ज्ञान-इच्छा, कृति और साधारण जीवन होता है उसी प्रकार सामाजिक शरीर में अर्थात् पूर्ण विकसित उन्नत सभ्य समाज में चार व्यवसायिक वर्ग होते हैं। १—विद्या व्यवसाय; २—अधिकारिक (Executive) व्यवसाय, ३—व्यापारिक व्यवसाय, और ४—श्रमिक व्यवसाय। इन चारों के लिये उनके स्वभाव के अनुसार भिन्न-भिन्न अधिकार और भिन्न-भिन्न कर्तव्य, भिन्न-भिन्न कार्य और भिन्न प्रकार के जीवन

निर्वाह की सामग्रियाँ, भिन्न परिश्रम और भिन्न वेतन और पुरस्कार यह न्यायानुसार वितरित करना चाहिये और किसी को भी दूसरे की वस्तुओं पर विशेष कर जीवन—निर्वाह के साधनों पर आक्रमण न करने देना चाहिये तथा किसी वर्ग में या व्यक्ति में दो तीन या चारों प्रकार के कार्यों का मिश्रण न होना चाहिये ।

एक दूसरा समाज शास्त्र का सिद्धान्त जिसका भारी प्रभाव पड़ता है यह है कि समाज की इकाई परिवार है, व्यक्ति नहीं । इसके विषय में अन्यत्र कहा जा चुका है । एक और सिद्धान्त बड़े महत्व का है । वह यह कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन चार भागों में विभाजित होना चाहिये । प्रथम भाग अध्ययन में लगना चाहिये । द्वितीय भाग गृहस्थ में, रोटी कमाने और सन्तान के पालन-पोषण में और तीसरा निःस्वार्थ सार्वजनिक सेवा में और चौथा आध्यात्मिक अभ्यास और विचार में । व्यक्तिगत स्वार्थों को केवल प्रथम और द्वितीय भाग में नियमित रूप से काम में लाया जाय और अन्त के दो भागों में अधिक से अधिक सामाजिक सर्व हितकारी कार्य लिये जाय । यह सिद्धान्त आश्रम धर्म कहलाता है और वर्ण धर्म के साथ उसका अनिवार्य सम्बन्ध है जैसे कि ताने का बाने से । तीसरे भाग के ऐसे व्यक्तियों का समूह जो जीवन-निर्वाह की समस्याओं से मुक्त हो चुके हैं, जिनका अनुभव परिपक्व है, जो संसार को विशेष कर नवयुवक वर्ग को हित की दृष्टि से देखते हैं, जो वास्तव में प्रणिष्ठा के योग्य और प्रतिष्ठित हैं, जो सार्वजनिक कार्य के लिये निर्वाचित कमेटियाँ, बोर्डों और व्यवस्थापिका सभाओं के लिये सर्वदा मिल सकते हैं, पुनः उत्पन्न किया जाय तो स्वार्थपरता और मिथ्याचार जो आज केवल वैज्ञानिक सेवकों में

हो नहीं अपितु, कुछ अंश में निर्वाचित अवैतनिक कार्य-कर्ताओं में भी फैले हुए हैं, यदि सर्वथा दूर नहीं होंगे तो बहुत कम हो जायेंगे ।

राजनैतिक सिद्धान्त

राजनैतिक सिद्धान्त यह है कि चारों व्यवसायिक वर्ग भिन्न भिन्न पंचायतें स्थापित करें, जो एक दूसरे से सम्बद्ध भी हों । उन चारों की शक्ति का नियमन होता रहे । शक्ति, सैनिक-शक्ति, अर्थ-शक्ति और भोग शक्ति किसी व्यक्ति या विशेष वर्ग से केन्द्रित न हो क्योंकि एक ही जगह कई शक्तियों के एकत्रित होने से उच्छृङ्खल अत्याचार पूर्ण दुरुपयोग होने की सम्भावना है । शिक्षक, सैनिक, पोषक और सहायक अपनी अपनी परिधि में रहें और एक दूसरे को दबाने की चेष्टा न करें ।

शिक्षा का सिद्धान्त

शिक्षा का सिद्धान्त यह कि प्रत्येक बालक जो शिक्षित होने योग्य है, उसे साधारण शिक्षा के साथ उसके स्वभाव के अनुकूल विशेष व्यवसायिक शिक्षा देनी चाहिये, जिसका निर्णय शिक्षकों को सावधानी से करना चाहिये । स्वास्थ्य-विज्ञान और सन्तति शास्त्र का सिद्धान्त यह है कि आहार और विवाह के सम्बन्ध में हर प्रकार की सावधानी रखनी चाहिये । जिससे एक-सी रुचि और स्वभाव के व्यक्ति ही एकत्र भोजन करें और विवाह सम्बन्ध करें । जिससे व्यक्ति और जाति स्वस्थ और सुख रहें । इन सिद्धान्तों के ऊपर पुराना सामाजिक ढाँचा बनाया गया था । इसमें प्रत्येक व्यक्ति जन्म के कारण नहीं बल्कि अपने गुण और स्वभाव कारण चार में से किसी एक वर्ग में सम्मिलित होता था । इन्हीं चार वर्गों के भीतर मनुष्य असंख्य व्यवसाय प्रविष्ट हो सकते हैं और प्रत्येक व्यक्ति सरलता से अपना स्थान ढूँढ़ सकता है ।

समाज पर भार स्वरूप न होकर उचित निर्वाह प्राप्त कर सकता है।

वर्णाश्रम-धर्म

वर्णाश्रम-धर्म या वर्णव्यवस्था का मौलिक स्वरूप यही था। इसी में भारत की सैकड़ों जातियाँ संगठित और सभ्य बनाई जाती थीं। भारत के इतिहास की आरम्भिक शताब्दियों में किसी भी जाति, राष्ट्र, देश, सम्प्रदाय के मनुष्य उनके विश्वास और राष्ट्रीयता और मातृ-भाषा को बिना बदले इसमें सम्मिलित होकर घुल मिल जाते थे। आज भी स्पष्टतया हम देखते हैं कि पंजाबी, मारवाड़ी, अवधी, मध्य, देशी, बंगाली, मद्रासी, मरहठा, गुजराती और वाली द्वीप ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मौजूद हैं। इनमें से प्रत्येक समुदाय में वे व्यक्ति मौजूद हैं जो वैष्णव, शाक्त या शैव हैं प्रथवा अन्य अनेक सम्प्रदायों के मानने वाले हैं और नाना प्रकार की भाषायें बोलते हैं। मौलिक व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों में चीनी, जापानी, ईरानी, अरब फ्रैन्च, जर्मन, ब्रिटिश, ईसाई, मुसलमान या यहूदी लोगों को इन्हीं चारों समुदायों में सम्मिलित करने के विपरीत कोई कारण नहीं है; बल्कि इसके पक्ष में अनेक हेतु हैं और वास्तव में प्रत्येक सभ्य देश में चार मुख्य व्यवसायिक वर्ग अवश्य पाये जाते हैं, यद्यपि वे साधारणतया माने नहीं जाते और न संगठित हो हैं और श्रम और मजदूरी का उचित वितरण भी नहीं है जैसा कि प्राचीन भारतवर्ष में था। रूसी सोवियट ने भी स्वाभाविकतया अपना नाम कृषक, सैनिक और श्रमियों का अर्थात् मानसिक और शारीरिक काम करने वालों का प्रजा तन्त्र नाम रखा है। ब्रिटेन में भी पादरी, अमीर, साधारण और मजदूर चार विभाग पाये जाते हैं। कुरान में भी इब्रम, अमर

और जुरा वाले मनुष्यों का वर्णन है जिसमें मजदूर भी अन्तर्भूत हैं। बाहर के लोगों ने प्रायः यह कहा है कि हिन्दू धर्म क्या है यह कहना असम्भव है। वास्तव में कोई ऐसा विश्वास या रीति-रिवाज या संस्कार ऐसा नहीं है जो हिन्दू या हिन्दूधर्म का विशेष लक्षण कहा जा सके। निस्सन्देह हिन्दूधर्म में सार्वभौम धर्म के तत्व पाये जाते हैं जैसा कि संसार के अन्य बड़े धर्मों में। पर इसके साथ-साथ संसार के किसी भाग में पाये जाने वाले रीति-रिवाज, विश्वास और दर्शन नीचे से नीचे और ऊँचे-से-ऊँचे, स्थूल-से-स्थूल और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सभी हिन्दूधर्म के किसी न किसी सम्प्रदाय में अवश्य पाये जाते हैं। ईसाई मत के सैकड़ों सम्प्रदाय हैं; किन्तु ईसा में विश्वास रखना सब में अनिवार्य है। इसलाम के भी बीसियों भेद हैं, किन्तु मुहम्मद में विश्वास करना आवश्यक है; किन्तु हिन्दू के लिए किसी एक व्यक्ति या देवता के नाम या रूप की अनिवार्यता नहीं है; परन्तु यदि हिन्दूधर्म का कोई लक्षण किया जा सकता है तो वह जाने या अनजाने व्यक्ति या अव्यक्त स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में इस वर्णाश्रम योजना के भीतर अपने को समझना ही हैं। प्राचीन ग्रन्थों में हिन्दू शब्द नहीं मिलता। धर्मशास्त्र के शब्द मनुष्य, मानव और नर हैं। प्रथम दो शब्द निरुक्ति के अनुसार वही हैं जो अंग्रेजी का शब्द मैन (man) है। यह ठीक है कि आर्य शब्द और उसके विपरीत अनार्य, दस्यु, वृषल और म्लेच्छ धर्म शास्त्रों में पाये जाते हैं, किन्तु उनका अर्थ सभ्य और असभ्य ही है। हिन्दू शब्द पीछे का है उसी समय का जब से कि भेद-भाव उत्पन्न हुआ जो हमारे समाज को खाये जाता है। वर्ण-व्यवस्था का ऐसा रूप समुदाय, धर्म, व्यवसाय आदि सभी दृष्टियों

में समन्वित होता है जो अब तक उसके सम्बन्ध में प्रकट की गई है और जन्मगत जातियों में भेद करके और किसी भी जाति के व्यक्तियों को उनके मानसिक झुकाव और वास्तविक व्यवसाय के अनुसार वर्णों में विभाजित करके उसको वैज्ञानिक और व्यवहारिक रूप प्रदान करता है। वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप, उद्देश्य और आधार भूत नियमों की इस रूपरेखा के बाद मुझे इस बिल के सम्बन्ध में जो कुछ कहना है आशा है कि उसे समझने में कठिनाई नहीं होगी।

वृत्ति विभाजन

वृत्ति-विभाजन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षक, रक्षक, व्यापारी या कारीगरों की पंचायत में से एक में सम्मिलित होने के लिये कहा गया है वहाँ प्रत्येक व्यक्ति से यह भी आशा की गई है कि वह उन्हीं व्यवसायों से जीविका करेगा जो उसके वर्ग के

लिये निश्चित है। किसी अन्य वर्ग के लिए निश्चित व्यवसायों के द्वारा धन कमाने का उसे अधिकार नहीं है। इस प्रकार सम्पत्ति का न्याय्य विवरण हो जाता है और भिन्न व्यक्तियों की भिन्न भिन्न रुचि के लिए क्षेत्र भी मिल जाता है। अन्य दृष्टियों से भी पूर्व लिखित सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्तिवाद और समाजवाद का एक सुन्दर समझौता करके यह व्यवस्था मनुष्य समाज के सामने आने वाली समस्याओं का एक अच्छा हल उपस्थित करती है। वर्ण व्यवस्था के आधार भूत नियमों की अवहेलना करके उनको तोड़ने मरोड़ने और विकृत अर्थ करने के कारण बतवान और चालाकों के द्वारा अधिकारों को बढ़ाने और कर्तव्यों से बचने के कारण व्यवसायिक वर्णव्यवस्था का वर्तमान विकृत रूप हो गया और अनेक देशों के स्थान विवाह सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो जिनके कारण नया क़ानून बनाने की आवश्यकता पड़ी।

['आर्यमित्र'

वेद में क्या लिखा है

यह जानना चाहने वाले प्रत्येक आर्य पुरुष को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के मसिक पत्र आर्य का ग्राहक बनना चाहिये। वेद के गूढ़ रहस्यों को बताने वाली जितनी सामग्री "आर्य" में रहती है उतनी और किसी पत्र में नहीं मिल सकती। आर्य का वार्षिक मूल्य केवल ३) है। आर्य को पढ़िये और वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने सुनाने की अपनी प्रतिज्ञा को चरितार्थ कीजिये।

बाल-शिक्षण

दुर्ग को बचाने वाली कन्या

(ले०—श्री निरंजननाथजी)

कैनेडा में जब पहले-पहल फ्रांसीसी लोगों ने डेरे जमाये तो उन दिनों की कथा है कि एक १४ वर्ष की कन्या दरिया के किनारे खड़ी थी कि किसी ने ज़ोर से कहा “जल्दी चली जाओ देसी आ रहे हैं” उस दिन सब फ्रांसीसी अपने दुर्ग से बाहर अपने २ काम-पर लगे हुए थे। देसियों ने अवकाश पाकर सब को जान से मार डाला वह लड़की मैडलीना भाग कर दुर्ग में चली गई। जहां केवल दो सिपाही एक वृद्ध पुरुष कुछ स्त्री बच्चे तथा उसके दो भाई एक दस वर्ष का दूसरा १२ वर्ष के रह गये थे। उसने क़िले में जाकर बचाव के उपायों पर विचारना शुरू किया। एक जगह उसने देखा कि दोनों सिपाही बारूद को आग लगा कर दुर्ग को बरबाद करने की तैयारी कर रहे थे ताकि शत्रु के हाथ कुछ न आये। पर उन्होंने उस लड़की की जब वीरता को देखा तो लज्जित हो गये। फिर उन्होंने तथा उस लड़की और उसके भाइयों ने दुर्ग के छेदों में से गोलियां चलानी शुरू कर दीं। उस लड़की ने स्वयं खतरे की तोप दाग दी। इस तोप की आवाज़ मौयटरलि नगर तक जा पहुँची। रात पड़ गई थी, अगर रात को देसी लोग क़िले पर धावा बोल देते तो दुर्ग पर काबू पाना सहज

था। परन्तु मैडलीना ने अपने बड़े भाई तथा सिपाहियों को बच्चों और स्त्रियों की रक्षा करने पर खड़ा कर दिया और स्वयं वृद्ध पुरुष और छोटे भाई समेत पहरों पर खड़ी हो गई और सारी रात यही कहते और चिल्लाते रहे। “सब प्रकार सुख है।” देसी लोगों ने दुर्ग को इस प्रकार सुरक्षित समझ कर आक्रमण नहीं किया, परन्तु सात दिन तक दुर्ग को घेरे रखा। इतने दिनों तक वह लड़की बन्दूक को बगल में दबाये पड़ा देती रही। अन्त को सातवें दिन मौयटरलि से सहायता आ पहुँची, उस लड़की ने वहां से आये हुए अफसर के सामने हथियार रख दिये और सुरक्षित दुर्ग उसके हवाले कर दिया। उस कन्या की वीरता चहुं ओर प्रसारित हो गई और उसे बहुत कुछ पारितोषिक भी मिला।

जार के सामने जाने वाली प्रसकोविया

बहुत वर्षों की बात है कि एक ज़ार अपने एक अधिकारी से अप्रसन्न हो गये। उसे निर्वासन का दण्ड दिया गया। केवल यही उसके साथ रियायत हुई कि उसकी बीवी और बच्चों को भी साथ जाने

की आज्ञा मिल गई। वे अबीसीनिया में भेजे गये। अबीसीनिया सभ्य देश नहीं था। वहाँ कठोर और गंवार लोग रहते थे। पर सब से अधिक दुःख उस अधिकारी को यह प्रतीत होता था कि बच्चों की शिक्षा का वहाँ कुछ प्रबन्ध नहीं था। उसकी एक कन्या थी जिसकी आयु १५ वर्ष की हो गई। वह भी निरक्षर रहने के कारण दुःखी रहने लगी। परन्तु उसके मन में एक बार यह लहर उठी कि वह ज़ार के पास जाकर अपने पिता को मुक्त कराने का यत्न करे। जब उसके पिता ने यह सुना तो वह उसे कहा करते थे कि यह असम्भव विडम्बना है। परन्तु वह दिन-रात यही सोचती रही। अन्त को तीन वर्ष पीछे उसने फिर यह प्रस्ताव उपस्थित किया उस समय भी उसका विरोध किया गया। पर उसने जैसे तैसे करके पासपोर्ट मंगा ही लिया। चलते समय उसके पास कुछ पैसे ही थे। माता-पिता के मना करने पर भी उसने यात्रा आरम्भ कर दी। उसके पिता का कहना था कि प्रथम तो वह इतनी लम्बी यात्रा में जीवित नहीं रह सकती और कदाचित वह बच निकली तो जार के सामने

उसका होना असम्भव है। वह वीर लड़की अपने विश्वास पर चल दी। बड़े भयानक जङ्गलों, पथरीली सड़कों और उलटे-सीधे मार्गों से उसे जाना पड़ा। रास्ते में कई दरिया भी लाङ्घने पड़े। कभी तो रास्ते में उसे सहायता मिल जाती। कभी उसके साथ बुरा व्यवहार भी होता। कई बार वह मरते-मरते बची। कभी मींगती कभी कीचड़ में लतपत होती। कभी रोगी ही पड़ जाती, कभी थकी-मांदी सड़कों पर सड़ा करती, इसी प्रकार की कठिनाइयों में से होती हुई अन्त को पैटोग्रेड में जा पहुँची। वहाँ उसे एक नेरू देवी मिल गई। जिसने उसको सहारा दिया। जिसके पास रह कर उसने विश्राम किया। उसी ने उसकी दुःखमय कथा सुन कर उसे जार के सामने करने का प्रबन्ध कर दिया। जार ने उसकी सारी कथा सुन कर उस पर दया की और उसके पिता को मुक्त कर दिया। जब ज़ार ने उससे पूछा और वह क्या चाहती है तो उसने अपने पिता के साथ दो और निर्वासित पुरुषों को भी मुक्त करा दिया। साहस में कितना बल होता है।

ओं अश्मन्वती रीयते संरभध्वं उत्तिष्ठत प्रतरता सखायः ।

अत्रा जहीम ये असन्नशेवाः शिवान्वयमुत्तरेमाभिवाजान् ॥

ऋग् १० । ५३ । ८ यजुर्वेद २५ । १०

पथरीली यह वेगवती जो बहती है—

हो लो तय्यार ।

उठ खड़े हो मित्रो ! तैरो—

इसके वार पार ।

यहाँ अशिवों को जो बड़े बुरे हैं—

छोड़कर ।

उन शुभ धनों को अति उत्तमता से पालें—

तैरकर ।

सं
सा
र
न
दी

द्वि
रे
फ
वि
द्या
ल
ङ्कार



वैदिक अनुसन्धान विभाग—

आर्यसमाज के लिए वेदों और वैदिक सभ्यता की इतनी महत्ता होते हुए भी वैदिक साहित्य के रहस्योद्घाटन का कार्य बहुत थोड़ा हुआ है। आर्य समाज ने बहुत सारे कार्य अपने हाथ में लिये और यथा शक्ति उन्हें पूरा करने की कोशिश की, परन्तु वैदिक साहित्य के रहस्योद्घाटन के प्रति उसको ध्यान देने की बहुत थोड़ी फुर्सत मिली। आर्य समाज संसार को जो सन्देश देना चाहता है और संसार को अपने उत्कृष्ट सिद्धान्तों तथा सभ्यता से परिचित करना चाहता है तो उसके लिये आवश्यक है कि वैदिक अनुसन्धान के कार्य की पर्याप्त मात्रा में बढ़ाया जाय। परन्तु आज कल अनुसन्धान विभाग की अवस्था यह है कि इस विभाग में दो तीन विद्वान् हैं जिन्होंने वैदिक साहित्य की घुण्डियां खोलनी हैं, और साथ ही साथ वैदिक अनुसन्धान विभाग को आर्थिक दृष्टि से स्थिर भी करना है। ऐसी अवस्था में आप सोच सकते हैं कि अनुसन्धान विभाग का कार्य कैसे चल सकता है! वे ही विद्वान् वेदों के रहस्य का उद्घाटन करें और इधर-उधर से चन्दा इकट्ठा करने भी लाया करें, ये दोनों बातें एक ही व्यक्ति कैसे कर सकता है? ज़रा योरोपियन तथा अमेरिकन देशों के शिक्षणालयों की तरफ देखिए। उन देशों की

प्रत्येक बड़ी यूनिवर्सिटी में वैदिक अनुसन्धान के लिये गह्रियें हैं। उन्होंने वैदिक साहित्य के लगभग सभी प्राप्त ग्रन्थों के अपनी २ देश भाषाओं में कई अनुवाद किये हैं। उन पर अपनी दृष्टि से समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखे हैं। संक्षेप में वैदिक-साहित्य के अनुसन्धान में उन देशों में अब तक करोड़ों रुपया खर्च हो चुका है। सैकड़ों विद्वान् अपना जीवन इसी काम के लिये समर्पित कर चुके हैं। परन्तु चाहिये तो यह कि अनुसन्धान विभाग में कई विद्वान् हों जो कि कई विद्याओं के धुरन्धर पण्डित हों, और उन्हें किसी प्रकार भी आर्थिक व्यवस्था की चिन्ता न हो।

इसीलिये प्रत्येक समाज का कर्त्तव्य है कि वह अनुसन्धान विभाग के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझे और जहां तक हो सके इस विभाग की सहायता करे। परन्तु हम यह भी उचित नहीं समझते कि प्रत्येक आर्य समाज के ऊपर पर्याप्त से अधिक बोझा डाला जाये! इसलिये प्रत्येक समाज यथा शक्ति इस विभाग की सहायता करे।

इस काम को निर्विघ्न चलाने के लिये हम अनुसन्धान विभाग के ऐसे ५०० स्थायी दानी सदस्य बनाना बनाना चाहते हैं जो प्रति वर्ष कम से कम १०) की सहायता वेद-शास्त्रों के भाष्य के परम पवित्र काम में इस विभाग को दिया करें। प्रत्येक

वैदिक धर्मों का कर्तव्य है कि वह इस विभाग का दानी सदस्य बने तथा अपने परिचितों और मित्रों को भी बनायें। हमें पूर्ण आशा है कि अनुसन्धान विभाग के सहायक बन कर वेद शास्त्रों के गूढ़ार्थ की खोज के महामहिमाशाली काम में आप अपनी श्रद्धाञ्जलि अवश्य समर्पित करें।

—

श्री शंकराचार्य का नाम्बी ब्राह्मण के घर भोजन करना—

जिला गझम में बरहमपुर नामक स्थान पर श्री शंकराचार्य ने नाम्बी ब्राह्मण का निमन्त्रण स्वीकार करके सनातनी हिन्दुओं के सामने जो आदर्श रक्खा है, वह सराहनीय है। नाम्बी ब्राह्मण अन्धों की एक श्रेणी है जिसे अन्य ब्राह्मणों से निकृष्ट समझा जाता है और उनके साथ विवाह-सम्बन्ध तथा खान-पान आदि सामाजिक व्यवहार नहीं रक्खे जाते। उन्हें एक प्रकार से नीच समझा जाता है। श्री शंकराचार्य के नाम्बी ब्राह्मण के यहां निमन्त्रण स्वीकार कर लेने पर अपने को उच्च समझने वाले अहंमन्य ब्राह्मणों में खलबली सी मच गई, और इसमें हमें कोई आश्चर्य भी नहीं चूँकि ऊँच-नीच के भेद-भाव में पड़े हुए अन्धविश्वासी लोगों में खलबली मचनी स्वाभाविक ही थी।

विचारणीय यह है कि अछूतोंद्वारा की समस्या भी कभी हल होगी कि नहीं? क्या कभी ऐसा भी समय आयेगा जब कि हिन्दू-समाज में एक भी अछूत न रहे, और सब परस्पर प्रेम-पूर्वक व्यवहार करें? हाँ! ऐसे समय का आना स्वाभाविक है, संसार की कोई भी शक्ति इसे रोक नहीं सकती। अछूत कहलाने वाला मनुष्य समुदाय सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों को तब तक भले ही सह लें, जब तक कि वह अज्ञान में पड़ा हुआ है, परन्तु अपनी

परिस्थिति का ज्ञान होनेपर वह समुदाय अपने मनुष्योचित अधिकारों की माँग करेगा। यदि आपने उन को मनुष्योचित अधिकार न दिये तो याद रक्खो! हिन्दू-जाति को न जाने किन २ विकट विघ्न-बाधाओं में से गुज़रना पड़े। जिन अवस्थाओं में अछूतों को रहना पड़ता है और जैसा व्यवहार उनके साथ किया जाता है वह पशुओं से भी बदतर है मन्दिरों में पतित-पावन भगवान के दर्शन वे नहीं कर सकते, सड़कों, कुओं आदि सार्वजनिक चीज़ों का उपयोग वे नहीं कर सकने, छूने से उनसे परहेज़ किया जाता हो। यह कितना अन्याय है। मनुष्यत्व का उपहास है। जब तक वे अपने को हिन्दु कहते हैं, राम और कृष्ण का नाम लेते हैं, गौ रक्षक हैं, तब तक उन्हें सर्वत्र हिन्दुओं के पाशविक अत्याचारों को सहन करना पड़ता है। पर ज्यों ही वे हिन्दु धर्म को तिलाञ्जलि देकर किसी अन्य धर्म का आश्रय लेकर हिन्दुओं से नफ़रत करने वाले तथा, गोभक्षक बन जाते हैं, त्यों ही ये सब अत्याचार न-जाने कहां चले जाते हैं। जब तक एक अछूत हिन्दु है तब तक वह कूएँ पर नहीं चढ़ सकता, पर जब वह दूसरे धर्म में चला जाता है, तब वह निस्संकोच कूएँ पर चला जाता है। क्या ही विचित्र तमाशा है। इससे तो यही पता चलता है कि अछूतों को हिन्दु-धर्म छोड़ देना चाहिए, और धर्मों में जाकर उन्हें यह आशा तो होती है कि वे सार्वजनिक चीज़ों का उपयोग तो कर सकेंगे। धर्मान्धता और अज्ञान ने हमें इतना पाशबद्ध कर रक्खा है कि हम यह समझते हुए भी कि अछूतपन शास्त्र-विरुद्ध है और हिन्दु-जाति का विघातक है, फिर भी अछूतों से वैसा ही घृणास्पद तथा हेय व्यवहार करते हैं।

तक कि वह अज्ञान में पड़ा हुआ है, परन्तु अपनी

यह विचारणीय यह है कि इस अवाञ्छनीय

अवस्था को दूर करने के लिये किन २ उपायों का अवलम्बन करना चाहिये। हमारी सम्मति में ये निम्न तीन उपाय अछूतपन को दूर करने में अच्छे सहायक हो सकते हैं।

१. वेदमूलक धार्मिक शिक्षा का प्रसार;
२. धर्मान्धता का विनाश;
३. अछूतों में जागृति।

१. वेद मूलक धार्मिक शिक्षा का प्रसार

यह तो निश्चित है कि हिन्दु-जाति के ऊपर धर्म का बहुत प्रभाव है और हिन्दुओं की प्रत्येक विचारसरणी धार्मिक भावना में ओत-प्रोत होती है इसलिये धार्मिक प्रवृत्तियों की नितान्त अववेलना करके हम कोई भी स्थाई सुधार नहीं कर सकते। जितने भी बुद्ध, शंकर, नानक, कबीर, ऋषि दयानन्द आदि सुधारक इस भारतभूमि पर उत्पन्न हुए उन्होंने धार्मिक प्रवृत्तियों को प्रधानता देते हुए ही सुधार किये, तभी वे अपने कार्य में सफल हुए। यही अक्षुण्ण पथ महात्मा गांधी ने भी अंगीकार किया और सत्य अहिंसा आदि धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर अपने आन्दोलन को खड़ा किया। जो ये समझते हैं कि धर्म के कारण ही अछूतपन है, इसलिये धर्म का ही विरोध करना चाहिये धर्म केवल ढकोसला है। उन्होंने हिन्दु-जाति की आत्मा को नहीं पहचाना। हिन्दु-जाति में बहुत सारी बातें पैदा की जा सकती हैं, परन्तु धर्म को मिटाया नहीं जा सकता। महात्मा गांधी ने इस चीज़ को पहिचाना, इसलिये सब जगह उनको अपने उद्देश्य में सफलता और जनता का सहयोग मिला।

२. धर्मान्धता का विनाश

प्रत्येक धर्म के अन्दर हमें धर्मान्धता का अंश मिलता है। कुछ तो यह स्वाभाविक भी है, परन्तु

इसके मुख्य कारण ब्राह्मण, पोप और मुल्ला होते हैं। इन पुरुषों ने अपने सुखमय तथा विलासितापूर्ण जीवन के लिये मनुष्य-जाति के अन्दर न जाने कितने विघातक तथा विपैले सिद्धान्तों को धर्म की ओढ़नी ओढ़ाकर फैलाया और अब भी इन स्वार्थी ब्राह्मणों का यही सतत प्रयत्न रहता है कि हिन्दू-जाति अज्ञान तथा अन्धकार के गर्त में पड़ी रहे और हम पूर्ववत् अपने विलासमय जीवन का आनन्द लूटें। इन मुल्लाओं की गद्दी हिलाने के लिये हमें सदा ऐसी कोशिश करना चाहिये जिससे कि हिन्दू-जाति के ऊपर से इनका प्रभाव जाता रहे। उनके प्रभावों को दूर करने का एक उपाय तो वैदिक सत्य सिद्धान्तों का प्रचार करना है ही। दूसरे जगह २ शास्त्रार्थ करके हमें जनता को यह दिखा देना चाहिये कि यह आधुनिक धर्म, जिसे कि तुम सनातनी मानते हो, वह स्वार्थी ब्राह्मणों की अपनी कृति है। परमेश्वर-प्रदत्त धर्म तो वैदिक धर्म है। इस विपैले धर्म का नग्नरूप दिखाने के लिये शास्त्रार्थ अच्छे सहायक हैं। वैसे तो उन कट्टर अन्धविश्वासी लोगों पर भी शास्त्रार्थ के द्वारा खींचे गये नग्नचित्र का असर पड़ता ही है, परन्तु यदि उन पर न भी पड़े तो उदासीनों के ऊपर तो अवश्य ही असर पड़ता है। इसलिये हमें इन स्वार्थी ब्राह्मणों के हिन्दू जनता के ऊपर से प्रभाव को दूर करने के लिये शास्त्रार्थ काफी सहायक हैं। जहां इन पोपों का असर जाता होगा वहां वैदिक सिद्धान्तों का असर हो जायेगा इससे मनुष्यों में से धर्मान्धता जाती रहेगी।

३. अछूतों में जागृति

इस अछूतपन को दूर करने में सबसे ज्यादा सहायक स्वयं अछूत हैं। यदि अछूत अपने को पहचान लें तो यह समस्या बहुत जल्दी सुलझ

सकती है। यह आशा करना कि जनता का सुधार करने से हम उनको ठीक रास्ते पर ले आयेँगे वास्तविकता से मुंह मोड़ना है। उपर्युक्त दोनों उपाय सहायक अवश्य हो सकते हैं, परन्तु पूर्णरूपेण पर्याप्त नहीं, चूंकि जनता में फैले हुए अन्धविश्वास इतने मजबूत होते हैं कि उनको हटाना बड़ा मुश्किल है। अन्धविश्वास का राज्य केवल भारत में ही नहीं अपितु यूरोप, अमेरिका आदि में भी पाया जाता है जहां कि ज्ञान और विज्ञान का पूर्ण विकास समझा जाता है। परन्तु भारतवर्ष में जहां कि अज्ञान नग्नरूप में ताण्डव नृत्य कर रहा है, अन्धविश्वासों का अत्यन्त मजबूत होना स्वाभाविक है। इसलिये संपूर्ण हिन्दुओं में बराबरी का दर्जा लेने के लिये स्वयं अछूतों को अपनी अवस्था पहचाननी चाहिये और अपने आप को इस योग्य बनाना चाहिये कि सर्व हिन्दू उनके रहन सहन में कोई त्रुटि न दिखा सकें। जब यह अवस्था रहेगी तो अगला सत्याग्रह का शस्त्र आसानी से पकड़ा जा सकता है।

नौजवानों में आर्यसमाज—

आर्य समाज के इतिहास पर सरसरी नज़र डाल जाइये। आपको यह पता चल जायेगा कि प्रारम्भिक आर्यसमाजी कितने कर्मशील तथा धुन के पक्के होते थे। दफ़्तरों से अवकाश लेकर वे आर्य समाज के प्रचार में लगते थे। रातों रात जाग कर आर्य समाज का काम किया करते थे। उन्होंने कितने ही बलिदान किये और नानाप्रकार के दण्ड सहकर भावी सन्तति के लिये धर्म प्रचार का मार्ग निष्कण्ठक किया। परन्तु आज उनकी ही सन्तान आर्य समाज से उपेक्षाभाव रखती है। बड़े २ आर्य समाजी आपको ऐसे मिलेंगे जिन्होंने

आर्य समाज की धवल कीर्ति चहुँ ओर फैला दी। अनेक तरह का स्वार्थ त्याग किया परन्तु उन्हीं की सन्तान आज आर्य समाजी नहीं है। आर्य समाज को वे हीन दृष्टि से देखते हैं। अनेक तो जहां तहां आर्य समाज के ऊपर आक्षेप करते फिरते हैं।

इसका कारण असावधानता तथा शिथिलता ही है। उन्होंने अन्य आदिमियों को तो बनाने की कोशिश की। अनेक तरह की सहायता दी परन्तु अपने घर पर ध्यान नहीं दिया। यहां “दिया तले अँधेरा” की कहावत अच्छी चरितार्थ होती है। दीपक औरों को तो प्रकाशित करता परन्तु स्वयं उसके नीचे अन्धेरा होता है। आर्यसमाज के विद्वानों तथा हितैषियों ने आर्यसमाज को चारों ओर फैलाया परन्तु खुद उनके अपने घर में अँधेरा रहा। इसी का यह परिणाम है कि आजकल नौजवान आर्य समाज में प्रविष्ट नहीं होते, इसका मतलब यह नहीं कि वे किसी अन्य धर्म वा समाज में चले जाते हैं परन्तु वे किसी सोसाइटी के अंग होकर काम करना नहीं चाहते। उन्हें यह नहीं पता कि संगठन के अन्दर कितनी शक्ति है। संगठन के द्वारा बड़ी २ समस्याएँ सुलझायी जा सकती हैं और संगठन के द्वारा बड़े २ विघ्न बाधाओं का मुकाबला आसानी से किया जा सकता है। परन्तु वे स्वच्छन्द जीवन बिताते हैं जिसे कि उच्छृङ्खल जीवन कहना चाहिये—सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। अतः प्रत्येक आर्यसमाजी का कर्तव्य है कि वह अपनी सन्तानों पर पूरी निगरानी रखें। उनकी आर्य समाज के प्रति श्रद्धा पैदा करवाएं।

साम्प्रदायिकता—

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, बिना समाज या अन्यो के सहयोग के वह एक दिन भी नहीं जी

सकता। अपने जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिये उसे सोसाइटी या संघों में रहना पड़ता है, इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार समाज या संघ में प्रविष्ट होता है, और उस के नियमों का पालन करता है। परन्तु प्रत्येक समाज या संघ में, हर एक क्षेत्र में समाज व संघ बनते हैं और उनके द्वारा अपने उद्देश्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। इन सब का उद्देश्य यही होता है कि मनुष्य को ज्यादा से ज्यादा सुख पहुँचाया जाय। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी नाना धर्म तथा मतमतान्तर बनते हैं, और उनका उद्देश्य मनुष्य की ऐहलौकिक तथा पारलौकिक इच्छा को शान्त करना होता है। परन्तु आजकल हिन्दुस्तान में हिन्दू तथा मुसलमान अपने २ उच्च उद्देश्यों को भूल कर सांसारिक छोटी २ बातों में उलझे पड़े हैं। दोनों धर्म साम्प्रदायिकता के रंग में रंगे हुए हैं, खासकर कुछ मुसलमान तो साम्प्रदायिकता के रंग में औचित्य व अनौचित्य में भेद ही नहीं कर सकते। पञ्जाब में साम्प्रदायिकता किस सीमा तक पहुँच गई है। इस का प्रमाण लाहौर की म्युनिसिपल कमिटी ने दिया है। वहाँ पर सर गंगाराम जैसे मनुष्यताप्रेमी की मूर्ति स्थापना पर विचार हो रहा था। मुसलमानों ने इस कारण इसका विरोध किया कि मुसलमान मसजिद के पास किसी मूर्ति को सहन नहीं कर सकते। उनसे पूछना चाहिये कि नीला गुम्बद की मसजिद के पास मि० रौबर्ट की मूर्ति का विरोध क्यों नहीं किया गया था? सर गंगाराम साम्प्रदायिकता से हमेशा ऊपर रहे, उनका दान हिन्दू व मुसलमान दोनों के लिये होता था। परन्तु साम्प्रदायिकता में डूबे हुए यह मुसलमान इन सब बातों को भूल गये। मुसलमानों में साम्प्रदायिकता इतनी

है कि खिताफत तथा फिलस्तीन के नाम पर तो इनका खून उबल पड़ेगा परन्तु भारत माता की दुर्दशा के नाम पर अपील करने पर इनमें बिलकुल भी उत्तेजना पैदा नहीं होती। इस दशा में, यदि इनका धर्म असहिष्णु धर्म कहा जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। वह धर्मान्तर का होना मुश्किल से सहन कर सकते हैं। इसके विपरीत हिन्दू धर्म सहिष्णु धर्म है। इतने मतमतान्तर होते हुए भी वे सदा हिन्दू-धर्म के अन्दर समाविष्ट हो जाते हैं। बाहर से जो भी धर्म व धर्मानुयायी इस भारत में आया उनका हिन्दू-धर्म ने स्वागत ही किया। कभी भी उसके साथ शक्ति या धमकी का प्रयोग नहीं किया। पारसी आये, हूण आदि असभ्य जातियाँ आयीं, हिन्दू धर्म ने सब को यथोचित स्थान दिया और अपने में मिलाने की कोशिश की। और सब के साथ प्रेम पूर्वक व्यवहार किया। परन्तु मुसलमानी धर्म ने आते ही शक्ति तथा धमकी का प्रयोग किया।

परन्तु इस शक्ति और धमकी से न डरने वाले हिन्दू धर्म के अनुयायियों ने इसका मुकाबिला किया और वह मुकाबिला अभी तक चल रहा है। यदि मुसलमान धर्म को असहिष्णु कहा जाय तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। इस धर्म की असहिष्णुता को रोकना प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है और इन कुछेक धर्मांध मुसलमानों को यह बता देने की आवश्यकता है कि तुम्हारे असभ्य तथा बर्बरतापूर्ण अत्याचारों को कोई भी सहन नहीं कर सकता। इसके लिये हमें अपनी जाति में सुधार करते हुए संगठन करना चाहिये। और मुसलमानों को सहिष्णु बनाने की प्रेरणा करनी चाहिए।

—भगवद्दत्त विद्यालंकार

कम पढ़ाने से। पहली अवस्था समिध्यमान है, दूसरी समिद्ध। सो इस समिद्ध और समिध्यमान की सन्धि में ही विद्या प्रेम, भोजन प्रेम, आदि अग्नियाँ सब से अधिक प्रज्ज्वलित होती हैं। यह सब ईंधन डाल देने योग्य समय है।

इसी प्रकार भोजन में लीजिये, पहले व्यायाम तथा उपवास से भूख बढ़ती है। वह व्यायाम का समय है। परन्तु जब भूख जागृत हो जावे तब वह खाने से और चमकती है। उस समय यदि भोजन न मिले तो वह भूख मर जाती है। सो व्यायाम तथा उपवास द्वारा जठराग्नि समिध्यमान होती है फिर रुचिकारक भोजन द्वारा वह और चमकती है। वह समिध्यमान और समिद्ध की सन्धि ही भोजन का ठीक समय है। यदि समिध्यमान अवस्था में भोजन कर लें तो जठराग्नि बिगड़ जाती है यदि समिद्ध अवस्था में भोजन न मिले तो शरीर को खा जाती है। यही नियम सर्वत्र अग्नियों में लगा लेना। विद्वान् पहले अभ्यास कर के उपर्युक्त गुण अपने अन्दर आधान करता है। उनके द्वारा उसके अन्दर लोक सेवा की अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है। यदि ठीक उसी समय उसे गुण ग्राहक यजमान मिल जावें तो वह एक दूसरे का कल्याण करने वाले होते हैं। यदि ठीक समय पर विद्वान् को सामग्री न मिले तो उत्साहाग्नि ऐस ही मन्द हो जाती है जैसे ठीक समय पर भोजन न

मिलने से भूख की अग्नि। यह समिध्यमान और समिद्ध की सन्धिवेला जीवन को अत्यन्त महत्त्व पूर्ण वेला है। यजमानों को ठीक इस समय सामग्री प्रस्तुत कर देनी चाहिये। यही नियम गर्भाधानादि में भी काम करते हैं। सो “अनुक्रमप्यूहति पण्डितोजनः।”

एक जो समिधा बचाली है। सो इसका भाव यह है कि अत्यन्त भोजन रसास्वाद के समय भी थोड़ी सी भूख रख कर खाना चाहिये। भोजन का अतियोग न होना चाहिये। विद्वान को भी इतनी सामग्री मिलनी चाहिये कि आगे की उन्नति के लिये तड़प बनी रहे। वह आलसीन हो जावे।

यही बात “अपवृङ्काइव” इससे आगे कही है। अर्थात् यहाँ समिध्यमानवती ऋचाओं की समाप्ति पर होता एक प्रकार से यज्ञ को समाप्त सा करता है (याद रहे समाप्त नहीं करता समाप्त सा करता है, क्योंकि यहाँ सामिधेनियों का एक गौरव-युक्त भाग समाप्त होता है)।

“सो वह जो अनुयाज समिधा से भिन्न काष्ठ बर्चे हैं वे उत्कर्ष जनक हैं। जो यज्ञ में उत्कर्ष जनक वस्तु हैं उस से यजमान अपने से द्वेष करने वाले शत्रु की अपेक्षा उत्कर्ष को प्राप्त होता है। इसलिए इस से पूर्व अनुयाज समिधा को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण इधम काष्ठ अग्नि में डाल दे। ३८।”

अब अगली सामिधेनी कहते हैं। सामिधेनी इस प्रकार है :—

समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि-
स्वध्वर त्वं हि हव्यवाडसि ॥ ५२८५ ॥

इस की व्याख्या इस प्रकार है :—

पढ़ता है—“देवान्यक्षि स्वध्वर ।” सो
अध्वर नाम यज्ञ का है । बस उसने यही कहा
कि “देवान् यक्षि सुयज्ञिय ।” आगे कहता
है—“त्वं हि हव्यवाडसि ।” सो अग्नि है
ही हव्यों को देवों तक पहुँचाने वाला ।

इसीलिये कहा—“त्वं हि हव्यवाडसि ।

अब अगली सामिधेनी पढ़ता है । सामि
धेनी इस प्रकार है :—

आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे
वृणीध्वम् हव्य वाहनम् । ॥ ५२८६ ॥

यहाँ तक वह मन्त्र दिये जिन में किन-
किन गुणों की एक होता (Departmental
expert) में आवश्यकता है, यह बताया
गया है । अब जब वह परीक्षा द्वारा सुनि-
श्चित हो जावे तो उसे किस प्रकार सम्बोधन
किया जाय यह लिखते हैं :—

“हे अग्ने (विद्वन्) आप बुलाए जा कर
इस आसनपर विराजमान (राजृदीप्तौ) हो
चुके हैं, हे हिंसारहित कर्म करने वाले अब
आप देवों के साथ सङ्गतीकरण कीजिये आप
ही हमारी पुकार और भेंट उन तक पहुँचाने
वाले हैं ।”

अब सम्पूर्ण जनता को सम्बोधन किया
जाता है इसीलिये यहाँ बहुवचन है—“आजु-
होत ।” इस अग्नि (विद्वान्) के साथ दाना

दान का व्यवहार करो । यहाँ आहुति दो
और इसकी पूजा करो । यह यज्ञ चल रहा
है इसके चलते पुण्य कमालो और इस हव्य
वाहन को अपनाओ ।

“सो यह आज्ञा देता है कि यज्ञ करो,
जिस उद्देश्य से यह होता बुनाया है उसे
पूरा करो । आगे कहता है—“अग्निं प्रय-
त्यध्वरे ।” सो अध्वर नाम यज्ञ का है । तो
यह वस्तुतः “अग्निं प्रयति यज्ञे” ऐसा
कहता है । आगे कहता है—“वृणीध्वं हव्य
वाहनम् ।” सो हव्य वाहन नाम अग्नि का
है । इसीलिये कहता है, “वृणीध्वं हव्य
वाहनम् ॥ ३१ ॥”

इस प्रकार अन्तिम सामिधेनी में होता
का जनता के साथ भी सम्बन्ध दिखा दिया ।
अब यह दिखाते हैं कि इन अन्तिम तीन
सामिधेनियों में अध्वर शब्द क्यों आया है—

“सो यह तीन ऋचाओं का त्रिच अध्वर
शब्द से युक्त है । देव लोग जब यज्ञ करने लगे
तो उन्हें सपन्न (पतन सहित) गिराने वाले
असुरों ने मारना चाहा । परन्तु मारना चाहते
हुए भी वह मार नहीं सके । तब वह परास्त
हो गये । इसीलिये यज्ञ का नाम अध्वर है ।
जिसके यज्ञ में यह अध्वर वाला त्रिच इस
प्रकार जानते हुए पढ़ा जाता है तो जितना
सोमयाग करके फल पाता है उतने आनन्द
को जीतता है ॥ ४० ॥”

यहाँ यह दिखाया है कि कितने ही उत्तम

उद्देश्य से यज्ञ किया जाय परन्तु यदि उसमें हिंसा की भावना होगी तो वह निष्फल हो जायगा। इसीलिये अन्त की तीनों सामिधे-नियाँ अध्वर शब्द वाली हैं। और इसी का फल सोमयाग के समान है। इससे पता लगता है सोमयाग भी हिंसा रहित है। यहाँ शब्द भी है “सौम्य अध्वर।”

इति चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्।

“हमें सामिधेनियों ने होता की परीक्षा और उसका यजमान और जनता से सम्बन्ध बता दिया। परन्तु अभी तक वह होता नहीं हुआ। यह तो एक संवत्सर का चित्र है जिसमें होता, यजमान और प्रजा का सम्बन्ध स्थापन हो जायगा। अब उसके विधिपूर्वक होता बनने की ओर आते हैं :—

एतद्ध वै देवा अग्निं गरिष्ठेऽयुञ्जन्।
यद्धोतृत्वऽइदं नो हव्यं वहति तमेतद्ग-
रिष्ठे युक्त्वोपामदन्वीर्यवान्वै त्वमस्यलं वै
त्वमेतस्माऽअसीति वीर्ये समादधतो यथे-
दमप्येतर्हि ज्ञातानां यं गरिष्ठे युञ्जन्ति
तमुपमदन्ति वीर्यवान्वै त्वमस्यलं वै
त्वमेतस्माऽअसीति वीर्ये समादधतः सय-
दत ऊर्ध्वमन्वाहोपस्तौत्येवैनमेतद्वीर्यमेवा-
स्मिन्दधाति ॥ १ ॥ अग्ने मह्यं २॥
ऽअसि ब्राह्मण भारतेति। ब्रह्म ह्यग्नि-
स्तस्मादाह ब्राह्मणेति भारतेत्येष हि

देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद्भरतोऽग्निरि-
त्याहुरेष उ वा ऽइमाः प्रजाः प्राणो
भूत्वा विभर्ति तस्माद्वेवाह भारतेति ॥ २ ॥
अथार्षेयं प्रवृणोति। ऋषिभ्यश्चैवैनमेतदे-
वेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं
प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणोति ॥ ३ ॥
परस्तादर्वाक्प्रवृणोति। परस्ताद्व्यर्वाच्यः
प्रजाः प्रजायन्ते ज्यायसस्पतयऽउ चैवैतं
निहनुतऽइदं हि पितैवाग्रेऽथ पुत्रोऽथ
पौत्रस्तस्मात्परस्तादर्वाक् प्रवृणोति ॥ ४ ॥
स आर्षेयमुक्त्वाह। देवेद्धो मन्विद्ध इति
देवा ह्येतमग्रऽएन्धत तस्मादाह देवेद्ध इति
मन्विद्ध इति मनुर्ह्येतमग्रऽएन्ध तस्मा-
दाह मन्विद्ध इति ॥ ५ ॥ ऋषिष्टुत इति।
ऋषयो ह्येतमग्रेऽस्तुर्वस्तस्मादाहर्षिष्टुत
इति ॥ ६ ॥ विप्रानुमदित इति। एते वै
विप्रायदृषय एते ह्येतमन्वमदंस्तस्मादाह
विप्रानुमदित इति ॥ ७ ॥ कविशस्त इति
एते वै कवयो यदृषय एते ह्येतमशंसं-
स्तस्मादाह कविशस्त इति ॥ ८ ॥ ब्रह्मस-
ंशित इति। ब्रह्मसंशितो ह्येष घृता-
हवन इति घृताहवनो ह्येषः ॥ ९ ॥ प्रणी-
र्यज्ञानां रथीरध्वराणामिति। एतेन वै
सर्वान्यज्ञान्प्रणयन्ति ये च पाकयज्ञा ये
चेतरे तस्मादाह प्रणीर्यज्ञानामिति ॥ १० ॥
रथीरध्वराणामिति। रथो ह वाऽएष
भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति तस्मादाह

रथीरध्वराणामिति ॥११॥ अतूर्तो होता
तूर्णिर्हव्यवाडिति । न ह्येतच्छ्रं रक्षाच्छ्रं मि
तरन्ति तस्मादाहतूर्तो होतेति तूर्णिर्हव्य-
वाडिति सर्वं ह्येष पाप्मानं तरति तस्मा-
दाह तूर्णिर्हव्यवाडिति ॥१२॥ आस्पानं
जुहूर्देवानामिति । देवपात्रं वाऽएष यद्-
ग्निस्तस्मादग्नौ सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुहति
देवपात्रं ह्येष प्राप्नोति ह वै तस्य पात्रं
यस्य पात्रं प्रेप्स्यति य एवमेतद्वेद ॥१३॥
चमसो देवपान इति । चमसेन ह वाऽए-
तेन भूतेन देवा भक्षयन्ति तस्मादाह
चमसो देवपान इति ॥१४॥ अरौ२॥ऽइवा-
ग्ने नेमिर्देवांस्त्वं परिभूरसीति । यथारा-
न्नेमिः सर्वतः परिभूरेवं त्वं देवान्तसर्वतः
परिभूरसीत्येवैतदाह ॥१५॥ आवह देवा-
न्यजमानायेति । तदस्मै यज्ञाय देवाना-
वोढवाऽआहाग्निमग्नऽआवहेति तदाग्ने-
यायाज्यभागायाग्निमावोढवाऽआह सोम-
मावहेति तत्सौम्यायाज्यभागाय सोममा-
वोढवाऽआहाग्निमावहेति तद्य एष उभ-
यत्राच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति
तस्माऽअग्निमावोढवाऽआह ॥१६॥ अथ
यथादेवतम् । देवां २ ॥ ऽआज्यपां २ ॥
ऽआवहेतितत्प्रयाजानुयाजानावोढवाऽआह
प्रयाजानुयाजवै देवा आज्यपा अग्निं
होत्रायावहेति तदग्निं होत्रायावोढवाऽ-
आह स्वं महिमानमावहेति तत्स्वं महि-

मानमावोढवाऽआह वाग्वाऽअस्यस्यो
महिमा तद्वाचमावोढवाऽआहा च वह
जातवेदः सुयजा च यजेति तद्या एवैत-
देवता आवोढवाऽआह ता एवैतदाहा
चैनावहानुष्ठया च यजेति यदाह सुयजा
च यजेति ॥१७॥ स वै तिष्ठन्नन्वाह ।
अन्वाह ह्येतदसौ ह्यनुवाक्या तदसावेवैत-
द्भूत्वान्वाह तस्मात्तिष्ठन्नन्वाह ॥१८॥
आसीनो याज्यां यजति । इयं हि याज्या
तस्मान्न कश्चन तिष्ठन्याज्यां यजतीयं
हि याज्या तदियमेवैतद्भूत्वा यजति तस्मा-
दासीनो याज्यां यजति ॥१९॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

यो ह वा ऽअग्निः सामिधेनीभिः
समिद्धः । अतितरां ह वै स इतरस्मा-
दग्नेस्तपत्यनवधृष्यो हि भवत्यनवमृश्यः
॥ १ ॥ स यथा हैवाग्निः सामिधेनीभिः
समिद्धस्तपत्येव हैव ब्राह्मणः सामिधे-
नीर्विद्वाननुवृवंस्तपत्यनवधृष्यो हि भव-
त्यनवमृश्यः ॥ २ ॥ सोऽन्वाह प्रव इति
प्राणो वै प्रवान्प्राणमेवैतया समिन्द्रेऽग्रऽ-
आयाहि वीतयऽइत्यपानो वाऽएतवा
नपानमेवैतया समिन्द्रे बृहच्छोचा यवि-
ष्ठ्येत्युदानो वै बृहच्छोचा उदानमेवैतया
समिन्द्रे ॥ ३ ॥ स नः पृथु श्रवायमिति ।
श्रोत्रं वै पृथु श्रवायं श्रोत्रेण हीदमुरु

पृथु शृणोति श्रोत्रमेवैतया समिन्द्रे ॥ ४ ॥
 ईडेन्यो नमस्य इति । वाग्वाऽईडेन्या
 वाग्धीदं सर्वमीदृ वाचेदं सर्वमीदितं
 वाचमेवैतया समिन्द्रे ॥ ५ ॥ अथो न
 देववाहन इति । मनो वै देववाहनं मनो हीदं
 मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते मन एवैतया
 समिन्द्रे ॥ ६ ॥ अग्रे दीद्यतं बृहदिति ।
 चक्षुर्वै दीदयेव चक्षुरेवैतया समिन्द्रे
 ॥ ७ ॥ अग्निं दूतं वृणीमहऽइति । य
 एवायं मध्यमः प्राण एतमेवैतया समिन्द्रे
 सा हैषान्तस्था प्राणानामतो ह्यन्यऽऊर्ध्वाः
 प्राणा अतोऽन्येऽवाञ्चोऽन्तस्था ह भव-
 त्यन्तस्थामेनं मन्यन्ते यऽएवमेतामन्तस्थां
 प्राणानां वेद ॥ ८ ॥ शोचिष्केशस्तमीम-
 हऽइति । शिश्रं वै शोचिष्केशं शिश्रं-
 हीदं शिश्रिनं भूयिष्ठं शोचयति शि-
 श्रमेवैतया समिन्द्रे ॥ ९ ॥ समिद्धोऽअ-
 ग्रऽआहुतेति । य एवायमवाङ्प्राण एत-
 मेवैतया समिन्द्रेऽआ जुहोता दुवस्यतेति
 सर्वमात्मानं समिन्द्रेऽआ नखेभ्योऽथो
 लोमभ्यः ॥ १० ॥ स यद्येनं प्रथमायां
 सामिधेन्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूया-
 त्प्राणं वाऽएतदात्मनो ऽग्रावाधाः प्राणे-
 नात्मन आर्तिमारिष्यसीति तथा हैव
 स्यात् ॥ ११ ॥ यदि द्वितीयस्यामनुव्या-
 हरेत् । तं प्रति ब्रूयादपानं वाऽएतदात्म-
 नोऽग्रावाधा अपानेनात्मन आर्तिमारि-

ष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥ १२ ॥ यदि
 तृतीयस्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादु-
 दानं वाऽएतदात्मनोऽग्रावाधा उदानेना-
 त्मन आर्तिमारिष्यसीति तथा हैव स्यात्
 ॥ १३ ॥ यदि चतुर्थ्यामनुव्याहरेत् । तं
 प्रति ब्रूयाच्छ्रोत्रं वाऽएतदात्मनोऽग्रावाधाः
 श्रोत्रेणात्मन आर्तिमारिष्यसि बधिरो
 भविष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥ १४ ॥
 यदि पञ्चम्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति
 ब्रूयाद्वाचं वाऽएतदात्मनोऽग्रावाधा वा-
 चात्मन आर्तिमारिष्यसि मूको भविष्य-
 सीति तथा हैव स्यात् ॥ १५ ॥ यदि
 षष्ठ्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयान्मनो-
 वाऽएतदात्मनोऽग्रावाधा मनसात्मन
 आर्तिमारिष्यसि मनोमुषिगृहीतो मोमु-
 घश्चरिष्यसीति तथा हैव स्यात् ॥ १६ ॥
 यदि सप्तम्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूया-
 चक्षुर्वाऽएतदात्मनो ऽग्रावाधाश्चक्षुषात्मन
 आर्तिमारिष्यस्यन्धो भविष्यसीति तथा
 हैव स्यात् ॥ १७ ॥ यद्यष्टम्यामनुव्या-
 हरेत् । तं प्रति ब्रूयान्मध्यं वाऽएतत्प्राण-
 मात्मनोऽग्रावाधा मध्येन प्राणेनात्मन
 आर्तिमारिष्यस्युद्धमाय मरिष्यसीति
 तथा हैव स्यात् ॥ १८ ॥ यदि नवम्या-
 मनुव्याहरेत् तं प्रति ब्रूयाच्छिश्रं वाऽ-
 एतदात्मनोऽग्रावाधाः शिश्रेनात्मन आ-

तिमरिष्यसि क्लीबो भविष्यसीति तथा
 हैव स्यात् ॥ १६ ॥ यदि दशम्यामनु-
 व्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयादवाञ्चं वाऽएत-
 त्प्राणमात्मनोऽग्नावाधा अवाचा प्राणे-
 नात्मन आर्त्तिमरिष्यस्यपिनद्धो मरिष्य-
 सीति तथा हैव स्यात् ॥ २० ॥ यद्येका-
 दश्यामनुव्याहरेत् । तं प्रति ब्रूयात्सर्वं
 वाऽएतदात्मानमग्नावाधाः सर्वेणात्माना-
 र्त्तिमरिष्यसि क्षिप्रेऽमुं लोकमेष्यसीति
 तथा हैव स्यात् ॥ २१ ॥ स यथा हैवा-
 ग्निं सामिधेनीभिः समिद्धमापद्यार्त्ति
 न्येत्येव हैव ब्राह्मणं सामिधेनीर्विद्वा-
 णं समनुब्रुवन्तमनुव्याहृत्यार्त्ति
 न्येति ॥ २२ ॥

इति चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

इससे पहिले कि हम इन कण्डिकाओं
 की व्याख्या करें हम यह आवश्यक समझते
 हैं कि यज्ञ की विधि का कुछ संक्षिप्त किन्तु
 विशद वर्णन यहां दे दिया जाय । क्योंकि
 अब इस नाट्यशाला में कई पात्र एक साथ
 कार्य करते दिखाई देंगे । अब तक इतनी मुख्य
 क्रियाएं हो चुकी हैं । सब से पहिले व्रतोपायन
 द्वारा यह दिखाया गया कि जिस यज-
 मान का कोई व्रत नहीं उसे पूर्ण चन्द्र अर्थात्
 उत्तम सन्तान के दर्शन नहीं हो सकते । फिर
 शकट द्वारा यह दिखाया गया कि जिसके
 घर में धन धान्य पर्याप्त न हो उसका गृहस्थ
 सुखी नहीं हो सकता । सन्तान के पालन-
 पोषण के लिये पर्याप्त सामग्री घर में

होनी चाहिये । फिर व्रीहि मुष्टि के साफ़ करने,
 मृगचर्म पर ऊखत रखने, धान कूटने आदि
 द्वारा, उत्तम बालक को ब्रह्मचर्य धारण
 कराना, गुरुकुल भोजना, आवश्यक है, वहां
 उसकी खेलें आदि भी विद्याभ्यास में रुचि
 बढ़ाने वाली हों, आदि अनेक उपयोगी विषयों
 का वर्णन हुआ, जिसकी समाप्ति पुरोडाश
 पाक तक हुई । एक पुरोडाश एक स्नातक
 का प्रतिनिधि है । इसीलिये पुरोडाश पाक
 को सोम याग के समान कहा है (तद्यथै-
 वादः सोमेराजानम् पृष्ठ ४७) ।

फिर अगले प्रकरण में एक स्नातक को
 समाज में स्थान किस प्रकार देना चाहिये
 इसका वर्णन एकत, द्वित, त्रितादि द्वारा
 किया गया । फिर यज्ञवेदी द्वारा एक स्ना-
 तिका का वर्णन किया गया । फिर वही यज्ञ-
 वेदी कर्त्तव्यशाला का रूप धारण करके आई ।
 उसके पश्चात् सामिधेनी समिन्धन द्वारा
 कर्त्तव्यशाला में एक वर्ष का समय विभाग
 क्या होना चाहिये तथा एक दिन का समय
 विभाग क्या होना चाहिये यह बताया । यहाँ
 इस समय विभाग को एक आदर्श ब्राह्मण
 के रूप में वर्णन किया गया है । जिससे समय
 विभाग का भी वर्णन हो गया है और एक
 आदर्श ब्राह्मण होता का भी वर्णन हो
 गया है ।

यहाँ यह अप्रासङ्गिक न होगा कि होता,
 अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा तथा यजमान का
 परस्पर सम्बन्ध बता दिया जावे ।

आप एक बड़े कारखाने को ले लीजिये । कारखाने का स्वामी यजमान है । कारखाने का प्रबन्धकर्त्ता अध्वर्यु है । यही दो मुख्य कार्यकर्त्ता हैं । अत्यन्त छोटे यज्ञों में यजमान ही स्वयं अध्वर्यु कर्म कर लेते हैं । उदाहरणार्थ नित्याग्निहोत्र में अथवा ब्रह्म-यज्ञ में स्वयं यजमान ही अध्वर्यु है । किन्तु ज्यों-ज्यों बड़ा यज्ञ अर्थात् सङ्कठन हो तो कार्य-विभाग की आवश्यकता होती है । यजमान वह है जो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये सहायकों को इकट्ठा करता है । चाहे धन के बल से इकट्ठा करे, चाहे प्रेम और भक्ति के बल से, चाहे समान उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त हृदयों में जलने वाली सङ्कल्पाग्नि के बल से । किन्तु यह आवश्यक नहीं कि उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपेक्षित प्रबन्ध शक्ति भी उस यजमान में हो । जिसमें होगी वह अध्वर्यु भी स्वयं होगा । किन्तु यदि यजमान में यह शक्ति स्वयं न हो तो वह जिस अध्यवसायशील, सदा चुस्त रहने वाले, क्रियातत्पर मनुष्य को चुनेगा वह अध्वर्यु होगा । परन्तु धीरे-धीरे कार्य अधिक बढ़ने पर विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी । हो सकता है कि अध्वर्यु प्रबन्ध कुशल तथा बड़ा क्रियाशील हो किन्तु वह उस विद्या का विशेषज्ञ न हो जिसकी उस कारखाने में आवश्यकता है । अतः वहाँ विशेषज्ञ बुलाना पड़ेगा । उस विशेषज्ञ को होता कहते हैं । अध्वर्यु का विशेष गुण क्रिया है, ज्ञान नहीं । वह सदा

कार्य में तत्पर दिखाई देता है । दूसरी ओर होता का विशेष गुण ज्ञान है । वह दिन-रात उस कारखाने के यन्त्रादि की उन्नति के लिये नई से नई योजनाएं सोचता रहता है । अतः उसे हम एक स्थान पर बैठे चिन्तन में निमग्न पाते हैं । यह अग्नि है । अध्वर्यु वायु है । होता ऋग्वेदी है, अध्वर्यु यजुर्वेदी है । होता “अग्निमीडे पुरोहितम्” से चलता है, अध्वर्यु “वायवः स्थ” से चलता है (वा गति गन्धनयोः) अब उद्गाता को लीजिये । प्रत्येक यज्ञ में, प्रत्येक सङ्कठन में, कार्य करने वालों की कार्य शक्ति थकावट से, उत्साह की मदता से, नीरसता से, क्षीण हो जाती है । इसलिये आवश्यक है कि उनका जीवन सरस बनाने के साधन भी उसमें उपस्थित किये जावें । सङ्गीत चित्र कला, नाट्य, उद्यान आदि द्वारा उनके चित्त को आह्लाद हो यह कार्य उद्गाता का है । ब्रह्मा इन सब ही विद्याओं का पण्डित होना चाहिये । क्योंकि उसका कार्य सब का निरीक्षण करना है । अब चाहे यह सब कार्य एक ही मनुष्य करे जैसे ब्रह्म यज्ञ अर्थात् संध्या में यजमान, होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा सब के कर्म करने वाला यज्ञ कर्त्ता स्वयं है और चाहे किसी यज्ञ में एक-एक के अनेक सहायक भी क्यों न हों, किन्तु यह ५ पद अवश्य हैं:—

१. सङ्कल्प कर्त्ता = यजमान = ओ३म्
२. प्रयत्नशील = अध्वर्यु = भुवः
३. ज्ञानशील = होता = भूः

४. अनुभूतिशील = उद्गाता = स्वः

५. सूक्ष्म निरीक्षक = ब्रह्मा =

यह दूसरी बात है कि इन ५ पदों को कितने मनुष्यों में बाँटा जाय।

अब यहाँ यज्ञ में होता का प्रवेश होता है। सामिधेनियों तक होता का स्वरूप, समय विभाग तथा कार्य विभाग बताया। अब उसका अपने पद पर प्रतिष्ठित होने का तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं के साथ मिल कर कार्य करने की प्रतिज्ञाएं करने का समय आया। यहाँ विधि इस प्रकार है :—

एक ओर होता अपना कार्य करता है, दूसरी ओर अध्वर्यु अपना। सामिधेनियों की समाप्ति पर होता “अग्नि महां २॥ असि ब्राह्मण भारत” ऐसा उन सामिधेनियों के साथ पढ़े। और इसके साथ ही यजमान के प्रवरों का नाम ले। अर्थात् काश्यप, अवासार नैध्रुव यह सम्बोधन वाक्य साथ पढ़े। फिर १५ निविद् वाक्य भी इस से सम्बद्ध हैं, उन्हें बोले, वह इस प्रकार है :—

देवेद्वो मन्विद्ध ऋषिष्टुतो विप्रानुम-
दितः कविशस्तो ब्रह्म शंसितो घृतवाहनः
प्रणीर्यज्ञाना ॐ रथीरध्वराणामतूत्तो
होतातूर्णिर्हव्यवाद् आस्पात्रं जुहूर्देवानां
चभसो देवपानोऽराइवाग्ने नेमिर्देवाँस्त्वं
परिभूरस्यावह देवान् यजमानाय।

किन किन देवों को बुलाए सो आगे कहते हैं :—

अग्नि मग्न आ ३ वह सोम मा ३
वह अग्निमा ३ वह अग्नीषोमावा ३ वह
देवां २॥ आज्यपां २॥ आ ३ वह अग्नि
होत्रा या ३ वह स्वं माहिमान मा ३ वह
आच वह जात वेदः सुयजा च यज।

यह वाक्य बोल कर अध्वर्यु द्वारा अपने वरण की प्रतीक्षा करता हुआ बैठे।

उधर अध्वर्यु। “अग्ने महां २॥ असि ब्राह्मण भारत” यह वाक्य (होता द्वारा) बोले जाने पर, वेद नामक कुश-ग्रन्थि से आहवनीय को तीन बार उपवाजन कर के अर्थात् चला कर, वेद (कुशग्रन्थि) हाथ में लिये हुए झुवद्वारा घृत लेकर, उत्तर परिधि की सन्धि के पीछे खड़ा होकर, प्रजापति को मन में ध्यान करता हुआ, आहवनीयाग्नि के उत्तर भाग में पूर्वाधार करे। वह आधार देर तक हो, सीधी रेखा में हो, पश्चिमोत्तर कोण से दक्षिण पूर्व कोण तक सीधी रेखा में हो। आधार का अर्थ है घृत की लम्बीधारा अग्नि में डालना।

इधर जब अध्वर्यु अग्नि में आहुति कर रहा हो तो यजमान “ओ३म् इदम् प्रजापतयेइदन्नम” यह वाक्य बोले। इस में “प्रजापतये” इतना अंश मन में बोले।

इस के पश्चात् अध्वर्यु अग्नीत् को इदम-सन्नहन (वह रस्सी जिस में २१ समिधाएं बँधी थीं) देता हुआ आज्ञा दे—“अग्नि मग्नीत् समृद्धि।” इस पर अग्नीत् स्वयं

अजले पेना ५८

खंडन मंडन के ग्रन्थ

शास्त्रार्थ दर्पण (उर्दू)—इसमें मिरजइयों की नोट बुक का उत्तर दिया गया है । ले० म० चिरंजीलाल 'प्रेम' मूल्य ॥) ।

वैदिक स्वर्ग (उर्दू)—मौ० अब्दुलहक की पुस्तक 'वेदों में बहिश्त' का उत्तर दिया गया है । ले० पं० चम्पूपति जो एम० ए० मू० ॥) ।

रह-ए-जहाद वेद—मा० सनाउल्ला के "रसाला जहाद-ए-वेद" का उत्तम उत्तर है । ले० म० श्यामलाल । रिआयती मू०)

त्रिदेव-निर्णय—ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों देवताओं पर वैदिक प्रमाणों के आधार पर अच्छा प्रकाश डाला गया है । ले० पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ । मू० ॥)

वेदार्थकोष—ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य से वैदिक शब्दों के अकारादि क्रम से अर्थ लिखे गए हैं । इसमें निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की टिप्पणियाँ भी दी गई हैं । प्रथम भाग प्रस्तुत है । इसमें अकार से लेकर आकार तक के प्रारम्भ होने वाले शब्द आ गए हैं । मू० ५)

शतपथ में एक पथ—पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार द्वारा किये जा रहे शत-पथ के भाष्य के भूमिका रूप में यह पुस्तक है । मू० ।)

दयानन्द रत्नमाला—इसमें आर्यसमाज के दस नियमों के पोषक सार्व-जनिक वाक्यों का ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से संग्रह किया गया है । मू० ३)

Immortal Sayings of Dayanand—यह दयानन्द रत्नमाला का अंग्रेजी संस्करण है । मू० ३)

वैदिक धर्म और साइन्स (उर्दू)—वैदिक सिद्धान्त पर एक योग्यता-पूर्ण लिखी हुई पुस्तक है । ले० पं० विशनदास बी० ए० । रिआयती मू० ।=)

अध्यक्ष, साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर ।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

का

सचित्र इतिहास

इसमें गत पचास वर्षों का सभा का इतिहास साढ़े चार सौ पृष्ठों में लिखा गया है। इसके अतिरिक्त २३२ पृष्ठों में समाजों, गुरुकुलों तथा स्कूलों का परिशिष्ट दिया गया है। इस में २२ महापुरुषों के चित्र आ गए हैं। मूल्य सजिल्द २॥)

वेदामृत—ईश्वर, जीव, सृष्टि, वेद वाणी, प्रार्थना, संस्कार, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, राजनीति, सहृदयता, एकता, समानता, आयुष्य आदि विषयों पर साढ़े चार सौ पृष्ठ की यह पुस्तक है। मू० २॥)

पीयूषविन्दु—इसमें विविध विषयों पर १०० मन्त्रों का सुन्दर संग्रह किया गया है। ले० पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ। मू० १-

ब्रह्म यज्ञ—सन्ध्या पर एक अनोखी और विस्तृत व्याख्या है। लेखक पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार।

स्वर्ग—इस पुस्तक में बतलाया गया है कि स्वर्ग शब्द ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ वाचक है और 'स्वः' शब्द संन्यास का। ले० पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार। मूल्य ॥=)

यास्क-युग—इसमें मिद्ध किया गया है कि यास्क वेदों को अपौरुषेय मानता है। ले० पं० चम्पूपाति जी एम० ए०। मू० ॥)

ऋग्वेदशतक—ऋग्वेद के १०० अद्भुत मन्त्रों का व्याख्या सहित संग्रह है। ले० स्वामी अच्युतानन्द जी सरस्वती। मू० सजिल्द ३=॥)

साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब गुरुदत्त भवन लाहौर।

वा. ५५
२-१०-३५
आश्विन
१९९३

अ. १५३५

आर्य

Regd. No. L, - 2757

वैदिक तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रचारक पत्र

(वार्षिक मूल्य ३)
(एक प्रति १=)



सम्पादक—

पं० प्रियव्रत वेद्वानसरति

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,

गुरुदत्त भवन, लाहौर

विषय-सूची

संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश—“दैव्य मन का परित्याग न करना” “अभय”		१६५
२.	वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त—राष्ट्र में नहरें खुदवाई जायें	श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति	१६७
३.	अथर्ववेद और मांसाहार का निषेध	श्री पं० मुक्तिराम जी उपाध्याय	२०३
४.	सर्वमेध—अध्यात्मदर्शन	श्री पं० जयदेव जी विद्यालंकार	२०६
५.	द्यानन्द को—(कविता)	राजेन्द्र वर्मा ‘अभय’ कोटा	२०६
६.	हठयोगप्रदीपिका तथा महर्षि दयानन्द	स्वामी वेदानन्द तीर्थ	२१०
७.	स्वामी जी का पदपाठ	श्री नारायणदलपतराय भगत, अहमदाबाद	२११
८.	सुख का स्रोत	जयदेव “स्नेही” साहित्योपाध्याय	२१२
९.	वेदार्थ क्रान्तिकर्ता ऋषि दयानन्द	श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	२१४
१०.	सम्पादकीय		२२०
	(क) सुख-प्राप्ति का साधन—		
	(ख) भयङ्कर पङ्क्ति—		
	✓ (ग) अहिंसा के अवतार रामचन्द्र शर्मा		
११.	शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य	बुद्धदेव विद्यालंकार	२४६
१२.	अथर्ववेद भाष्यम्	(अनुसंधान विभाग)	१३

आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये, यह आपका कर्तव्य है ।

ग्राहकों से—आर्य अङ्कुरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है। पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये। फिर अङ्कुरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये। इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे। अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये।

**पत्र-व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
ग्राहक-संख्या, पतेवाली चिट पर लिखी होती है ।**



ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्यः ॥

भाग १८

लाहौर, आश्विन १९६३, अक्टूबर १९३६

[दयानन्दाब्द ११२]

अंक ६

वेदोपदेश

“दैव्य मन का परित्याग न करना”

संजानामहै मनसा संचिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।

मा घोषा उत्स्थु बहूले विनिर्हिते, येषुः पतत् इन्द्रस्य अहन्यागते ॥

अथर्व ७।५३।२

हम (मनसा) मन द्वारा (सं) मिल करके (जानामहै) विचारें और (चिकित्वा) सोचना समझना (सं) मिलकर करें; (दैव्येन मनसा) दैव मन से (मा युष्महि) कभी वियुक्त न होवें, बिछुड़े नहीं। (बहूले विनिर्हिते) अन्धकार आ जाने पर या विशाल द्या या पृथिवी के टूटने पर भी (घोषा:

मा उत्स्थुः) हमारे अन्दर हाहाकार के शब्द न उठें और (अहनि आगते) दिन आ जाने पर अनुकूल स्थिति पा जाने पर (इन्द्रस्य इषुः) इन्द्र का इषु, ईश्वरीय मार (मा पतत्) हम पर न पड़े।

भावार्थ:—हमें अपना सब सामूहिक सोचना समझना मिलकर ही करना चाहिये। हम पर

होकर एक मत से ही किसी कार्य को प्रारम्भ करें। म जो बहुत बार एक मत नहीं हो पाते हैं उसका कारण यही होता है कि हम "दैव्य-मन" से सोचना छोड़ कर आसुर मन से सोचने लगते हैं। आसुरी वृत्ति से, स्वार्थ-प्रेरित होकर, एक दूसरे पर अविश्वास करते, एक दूसरे को तिरस्कृत करते हुए हम चलेंगे तो हम कभी भी ऐकमत्य नहीं पा सकेंगे। अतः हमें निस्वार्थ प्रेम से युक्त दैव्य मन को कभी न त्यागना चाहिये और एक मत हो एक निश्चय के साथ सर्वहितकारी बड़े से बड़े काम को उठा लेना चाहिये और तथा उसे एक भाव से ही प्रेरित हो चलाते जाना चाहिये। फिर बड़ी से बड़ी भयंकर विपत्तियाँ आने पर भी विह्वल नहीं होना चाहिए। असफलतायें और विघ्नों की रात्रियाँ तो प्रत्येक महान् कार्य में आया ही करती हैं। इन क्षुद्र असफलताओं पर हाहाकार मचाना तो क्या, यदि महा दारुण प्रलय की रात्रि भी आ जावे और ये विशाल द्यौ और पृथिवी भी नष्ट होने लगे तो भी

हमें विचलित नहीं होना चाहिए और अटल निष्ठा से अपनी साधना में लगे रहना चाहिये और फिर इस रात्रि के बाद दिन आ जाने पर भी, सब अनुकूल अवस्थायें हो जाने पर भी, हमें मौज लूटने में नहीं ग्रस्त हो जाना चाहिये, और अन्तिम लक्ष्य को भूल विषय भोगों, विजयोत्सवों में नहीं पड़ जाना चाहिये। क्योंकि ऐसे ही समय "इन्द्र का इषु" गिरा करता है, वज्रपात हुआ करता है, ईश्वरीय मार पड़ा करती है। यह दैवी मार बहुत बुरी होती है। वे बड़े-बड़े साम्राज्य जोकि अपने बड़े दुर्दान्त शत्रुओं के घोर आक्रमणों को भी सह गये, पीछे से विषय भोगों में ग्रस्त होकर स्वयमेव नष्ट हो गये, "इन्द्र के इषु" से मारे गये। अतः आओ, अपने अन्धकार के समय में भी और प्रकाश काल में भी, हम कभी दैव मन को न छोड़ते हुए सदा मिल कर खूब सोच समझकर एक मत से अपने सर्वोदय के महान् कार्यों को चलाते जावें।

“अभय”

ट्रैक्टों का सिलसिला

सभा का साहित्य विभाग प्रति मास हिन्दी तथा उर्दू में समाजों में प्रचारार्थ मुफ्त बाँटने के लिये ट्रैक्ट प्रकाशित करता है। २५ प्रतियों का एक पैकट प्रति मास मंगवाने पर २) वार्षिक चन्दा है। यदि आप का समाज अभी तक इस ट्रैक्टों के मासिक सिलसिले का ग्राहक नहीं बना तो शीघ्र ही २) मनीआर्डर द्वारा भेज कर इस के अवश्य ग्राहक बन जाइये।

अध्यक्ष—साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

१६. राज्य में करने योग्य कुछ बातें

(Some ends to be realised by the state)

११. राष्ट्र में नहरें खुदवाई जायें

अथर्व १२।१।६ मन्त्र में मातृ-भूमि को लक्ष्य करके इस प्रकार कहा है :—

यस्यामापः परिचराः समानी-

रहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।

सा नो भूमिभूरिधारा पयो,

दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥

अर्थात्—“जिस भूमि में जल हमारे (आपः) सेवक (परिचराः) होकर बिना प्रमाद के (अप्रमादं) दिन रात समान रूप से (समानीः) बहते हैं, अनेक जल-धाराओं वाली (भूरिधारा) वह भूमि हमारे लिये अन्न (पयः) १ देवे और हमें तेज और कान्ति (वर्चसा) से युक्त करे ।”

इस मन्त्र से यह साफ़ पता लगता है कि कृषि की अनावृष्टि से रक्षा करने के लिये राष्ट्र में नहरों का भी प्रबन्ध रहना चाहिये । ‘परिचराः’, ‘समानीः’ और ‘अप्रमादं क्षरन्ति’ ये विशेषण ध्यान देने योग्य हैं । जलों को परिचर्या करने वाले सेवक कहना और उनके दिन रात समान रूप से बिना प्रमाद के बहने का वर्णन सिद्ध करता है कि यहाँ नहरों से ही अभिप्राय है । ये तीनों विशेषण नहरों पर ही सु-संगत होते हैं । नहरों के जल ही हमारे अधिक अच्छे सेवक होते हैं, वे ही दिन-रात समान रूप से

बहते हैं, और वे ही बिना प्रमाद के, जिस समय आवश्यकता हो तभी, कृषि के सिंचन में सहायक होते हैं । सामान्य नदियों में ये विशेषण संगत नहीं हो सकते । सामान्य नदियों के जल दिन-रात समान रूप से नहीं बहते, उनके जलों में ऋतुओं के अनुसार वृद्धि और क्षीणता होती रहती है । सामान्य नदियों के जल जब हम चाहें तभी बिना प्रमाद के कृषि का सिंचन करने वाले हमारे सेवक नहीं बन सकते । साथ ही इन जलों के साथ अन्न का सम्बन्ध बताया गया है । यदि मन्त्र में, ‘आपः’ का अर्थ नहरों के जल न लेकर नदियों के जल लिया जाय तो ये नदियाँ केवल अपने किनारों २ की एक-एक दो-दो बीघे भूमि की खेती की सहायता कर सकती हैं, दूर-देशस्थ कृषि की सहायता इनसे नहीं हो सकती । यदि एक राष्ट्र की नदियों के किनारे २ ही खेती की जाये तो भूमि सारे राष्ट्र के लिये आवश्यक अन्न कैसे दे सकेगी ? इसलिये यहाँ ‘आपः’ का अर्थ नहरों के जल ही लेना चाहिये । ‘भूरिधारा’ और ‘क्षरन्ति’ शब्द इसमें भी सन्देह नहीं रहने देते कि यहाँ ‘आपः’ का अर्थ कुएँ आदि का अल्पधाराओं में बहने वाला जल नहीं हो सकता । ये नहरें राज्य की ओर से खुदवाई जायें यह भाव मातृ-भूमि को सम्बोधन करने से ही निकल आता है । हम यह पीछे दिखा चुके हैं कि इस सूक्त (अथर्व १२।१) में

१. पय इति अन्न नामसु पठितम् । निब० २. ७

मातृ-भूमि का अभिप्राय राज्य-प्रबन्ध से सुशासित मातृ-भूमि है। इसी भाँति वेद के—

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथ-
मानि वज्री ।

अहन्नहिमन्वपस्ततर्दं प्रवक्षणा अभिनत पर्व-
नाम् । ऋ० १।३२।१

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वयं
ततक्ष ।

वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अज्रः समुद्रमव
जग्मुरापः । ऋ० १।३२।२

दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः
पणिनेव गावः ।

अपां बिलमपिहितं यदासीद्वृत्रं जघन्वां अप
तद्ववार । ऋ० १।३२।११

स पर्वतो न धरुणप्वेच्युतः सहस्रमूतिस्तविषीषु
वावृधे ।

इन्द्रो यद्वृत्रमवधीन्नदीवृतमुज्जन्नर्णासि जर्ह-
पाणो अन्धसः । ऋ० १।५२।२

तदिन्द्र प्रेव वीर्यं चकर्थ यत्ससन्तं वज्रेणा-
बोधयोऽहिम् ।

अनुत्वा पत्नीर्हपितं वयश्च विश्वेदेवासो अम-
दन्ननु त्वा । ऋ० १।१०३।७

सद्येव प्राचो विमिमाय मानैर्वज्रेण खान्य
तृणन्नदीनाम् ।

वृथासृजत् पथिभिर्दीर्घयाथैः सोमस्य ता मद
इन्द्रश्चकार । ऋ० २।१५।३

अस्य मन्दानो मध्वो वज्रहस्तोऽहिमिन्द्रो अर्णो-
वृतं वि वृश्चत् ।

प्र यद्वयो न स्वसराण्यच्छा प्रयांसि च नदीनां
चक्रमन्त । ऋ० २।१६।२

यज्ञो हि त इन्द्र वर्धनोभूदुत प्रियः सुतसोमो
मियेधः ।

यज्ञेन यज्ञमव यज्ञियः सन् यज्ञस्ते वज्रमहिहत्य
आवत् । ऋ० ३।३२।१२

त्वं वृत्रं शवसा जघन्वान्तसृजः सिन्धूर् रहिना
जग्रसानान् । ऋ० ४।१७।१

ममैतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वां असृ-
जद्वि सिन्धून् । ऋ० ४।१८।७

त्वा युजा तव तत्सोम सख्य इन्द्रो अपो मनवे
सस्रुतस्कः ।

अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून् अपावृणोदपि-
हितेव खानि । ऋ० ४।२८।१

अदर्दस्तसमसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्धधानां
अरम्णाः ।

महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्वः सृजो वि धारा अव
दानवं हन् । ऋ० ५।३२।१

त्वमुत्सां ऋतुभिर्वद्धधानां अरंह ऊधः पर्वतस्य
वज्रिन् ।

अहिं चिदुग्र प्रयुतं शयानं जघन्वां इन्द्र तविषी-
मधत्थाः । ऋ० ५।३२।२

त्वं धुनिरिन्द्र धुनिमतीर्कणोरपः सीरा न
स्रवन्तीः ।

प्र यत्समुद्रमति शूर पपि पारया तुर्वशं यदुं
स्वस्ति । ऋ० ६।२०।१२

त्वमिन्द्र सवितवा अपस्कः परिष्ठिता अहिना
शूर पूर्वीः ।

त्वद्वावक्रे रथ्यो न धेना रेजन्ते विश्वा कृत्रिमाणि
भीषा । ऋ० ७।२१।३

इन्द्रो या वज्री वृषभो रराद ता आपो देवीरिह
मामवन्तु । ऋ० ७।४६।१

त्वं सिन्धूर् रसृजस्तस्तभानान् त्वमपो अजयो
दासपत्नीः । ऋ० ८।६६।१८

वृषा न कृद्धः पतयद्वजः स्वा यो अर्यपत्नीरकृणो-
दिमा अपः ।

सु सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे
हविष्मते । ऋ० १०।४३।८

त्वं सिन्धूँ रवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् ।

अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुण्यसि वार्यम् ।

ऋ० १०।१३३।२

इन मन्त्रों से भी यह सूचना मिलती है कि राज्य को राष्ट्र में नहरों का प्रबन्ध करना चाहिये । मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—

“जिन प्रकृष्ट कर्मों को (प्रथमानि)^१ यह वज्र धारी इन्द्र करता है इस इन्द्र (सम्राट्) के उन पराक्रम युक्त कर्मों का (वीर्याणि)^२ मैं वर्णन करता हूँ, यह शिला, भूमि आदि जल के गति-निरोधक (अहि) पदार्थों को काटकर नष्ट कर देता है (अहन्), और फिर जलों को उनके लिये मार्ग खोद कर बहा देता है (ततर्द), यह पर्वतों में से नदियों को (वक्षणाः) खोद निकालता है (अभिनत)^३ ।”
“पर्वत में पड़े हुये शिला, भूमि आदि जल के गति-निरोधक पदार्थों को (अहि) यह इन्द्र (सम्राट्) काट कर नष्ट कर देता है, इसके वज्र अर्थात् उन हथियारों को, जिनसे शिला आदि जल-निरोधक पदार्थ काटे जाते हैं, त्वष्टा^४ अर्थात् शस्त्रों के घड़ने वाले कुशल कारीगरों ने घड़ कर बनाया है (ततश्च)^५, ये हथियार (वज्र) उत्तम रीति से कार्य करने वाले (स्वर्य)^६ हैं, इस प्रकार इन्द्र द्वारा शिलायें काट कर निकाले हुये ये जल अपने बहड़ों

की ओर भाग कर जाती हुई गौएँ जैसे शब्द करती हैं उसी प्रकार शब्द करते हुये शीघ्र गति से समुद्र की ओर चले जाते हैं ।” “वणिक् जैसे (पणिना इव)^७ गौओं को बाड़े में रोक कर रखता है वैसे ही जलाभाव से क्षीण कृषि आदि की पालना करने वाले (दासपत्नीः)^८ जल शिला, भूमि आदि जल के गति-निरोधक पदार्थों से रुके हुये (अहिगोपाः)^९, जलाशयों में पड़े थे, इन्द्र (सम्राट्) ने जल-निरोधक (वृत्र) शिला, भूमि आदि को काट कर नष्ट कर दिया (जघन्वान्) और इस प्रकार जलों का जो मार्ग रुका पड़ा था उसे खोल दिया ।”

जहाँ इन्द्र (सम्राट्) शब्द का प्रयोग होता है वहाँ इन्द्र से उपलक्षित राज्य-प्रबन्ध अभिप्रेत होता है यह तो हमें पाठकों को कहने की आवश्यकता ही नहीं है । इन तीन मन्त्रों में हमने ‘अहि’ का अर्थ शिला-भूमि आदि जल के गति-निरोधक पदार्थ किया है । आगामी मन्त्रों में भी हम इसका यही अर्थ करेंगे । आमतौर से इसका अर्थ मेघ किया जाता है । कई जगह इसका अर्थ मेघ होता भी है । पर प्रस्तुत मन्त्रों में मेघ अर्थ नहीं लिया जा सकता । ऐसे प्रसंगों में प्रचलित टीकाकार अहि और पर्वत शब्दों का अर्थ प्रायः मेघ ही किया करते हैं । निघण्टु में अहि और पर्वत का एक अर्थ मेघ भी दिया है । दूसरे मन्त्र में अहि को पर्वत में पड़ा हुआ बताया गया है । यदि पर्वत का अर्थ मेघ ही लें तो भला मेघ में रहने वाला यह मेघ कौन होगा ? यहाँ पर्वत का प्रचलित अर्थ पहाड़

१. प्रथम इति मुख्यनाम, प्रतमो भवति । निरु० २।६।२२

२. पराक्रमयुक्तोनि कर्माणांति सायणः ।

३. कूलद्वयकर्षणेन प्रवाहितवानित्यर्थ इति सायणः ।

४. त्वक्षू तनूकरण ।

५. तक्षू तनूकरणे ।

६. सुष्ठु प्रेरणीयमिति सायणः । सुपूर्वाङ्गतौ धांतोऽर्थद्वयद्वयभावः ।

७. पणिर्वणिग्भवति । निरु० २।५।१७

८. दासो दस्यतेः क्षयार्थात् । दासानामुपक्षीणानां पत्यः पालयिष्यः ।

९. अहिना गुप्ताः । निरु० २।५।१७

लेकर अहि का अर्थ उसमें पड़े जल-निरोधक शिला आदि लेने पर अर्थ बड़ा स्पष्ट और संगत बन जाता है। फिर अहि को मारने वाले इन्द्र के लिये वज्री अर्थात् शस्त्रधारी शब्द का प्रयोग हुआ है। दूसरे मन्त्र में कहा है कि इस वज्र को कारीगरों (त्वष्टा) ने घड़ा है। त्वष्टा शब्द त्वक्ष् धातु से बनता है। इस धातु का प्रयोग बढ़ई और लुहारों द्वारा घड़ कर चीज़ें बनाने के अर्थ में होता है। मन्त्र में 'बनाया' के लिये 'ततक्ष' क्रिया का प्रयोग हुआ है। तक्ष् धातु का भी वही अर्थ है जो त्वक्ष् का है। इसलिये यह वज्र कोई काल्पनिक वज्र (विजली की कड़क आदि) नहीं है। प्रत्युत कारीगरों द्वारा गढ़ा हुआ लोहे आदि का तीक्ष्ण और संहारकारी शस्त्र ही इसका अर्थ है। अन्यत्र^१ इन्द्र के वज्र को लोहे का कहा भी है। अब मेघ को काटने के लिये ऐसे हथियार की भला क्या आवश्यकता? अहि यदि कोई कठोर चीज़ हो तभी उसे काटने के लिये ऐसे वज्र की आवश्यकता हो सकती है। तीसरे मन्त्र में अहि और वृत्र को एक ही चीज़ समझा गया है। अहि जल रोके पड़ा था, उस वृत्र को इन्द्र ने मार कर जलों का रुका हुआ बिल अर्थात् छिद्र अर्थात् मार्ग खोल दिया। यह वर्णन बादल अर्थ में नहीं घट सकता। बादल में बिल या छिद्र कौनसे होंगे? और फिर वे रुकेंगे किस चीज़ से? फिर बादल कोई मशक के ढंग की चीज़ तो है ही नहीं जिसमें जल बन्द पड़े रहते हैं। बादल का वैज्ञानिक स्वरूप क्या है यह अन्यत्र वेद में स्पष्ट कर दिया

गया है^२। अहि और वृत्र का अर्थ जलाशयों के पानी को वहने से रोकने वाले शिला, भूमि आदि पदार्थ करने पर ये सब शंकायें जाती रहती हैं। वृत्र का एक अर्थ आवरक होता ही है। निरुक्त में वृत्र के विषय में लिखा है—“वृत्रो वृणोतेर्वा..... यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते।” (निरु० २।५।१७) अर्थात् जो रोके वह वृत्र है। यही अर्थ अहि का भी हो जाता है। आडू पूर्वक हन धातु से “आडि शिहनिभ्यां हस्वश्च” इस औणादिक सूत्र से इण् प्रत्यय और आ को हस्व होकर ‘अहि’ शब्द बनता है। “आहन्ति समन्ताद् गति-निरोधं कुरुत इति अहिः” अर्थात् जो घेर कर गति रोकदे वह अहि^३ है।

प्रथम और तृतीय मन्त्र में, पर्वतों और जलाशयों में घिरे हुए पानी को उसके अवरोधक शिला, भूमि आदि को काट कर जहाँ पानी की आवश्यकता हो ऐसे स्थानों में लेजाने का सम्राट् को प्रबन्ध करना चाहिये, यह शिक्षा दी गई है। प्रचलित भाषा में कहना हो तो जलाशयों में अवरुद्ध पानी को उनमें से नहरें निकाल कर जहाँ पानी की आवश्यकता हो वहाँ लेजाने का प्रबन्ध सम्राट् को करना चाहिये। तीसरे मन्त्र में जलों का एक विशेषण “दासपत्नी” आया है। यहाँ इसका अर्थ है—‘पानी न मिलने से क्षीण हो रहे कृषि आदि की पालना करने वाले।’ यह विशेषण स्पष्ट कर देता है कि यहाँ अहि को काट कर जिन जलों के बहाने का वर्णन है वे नहरों द्वारा बहाये जाने वाले जल ही हैं। पर्वतों से स्वाभाविक रूप में बहने वाली नदियों के पानी पर यह विशेषण नहीं लग सकता। क्योंकि

यथा—मह्यं त्वष्टा वज्रमतत्तदायसम्। ऋ० १०।४८.३

इसी भांति ऋ० १०।११३।५॥ १।५२।८॥

१।८१।४॥ १।१२१।६ में भी वज्र को आयस

अर्थात् लोहे का बना हुआ कहा गया है।

२. यथा—अथर्व ४।१५।११ अथर्व ४।१५।५ में।

३. अहि के मेघ और सांप अर्थ में व्युत्पत्ति और तरह से होगी।

वे 'दासपत्नी' नहीं कहे जा सकते। वे तो सीधे समुद्र में चले जाते हैं। दूसरे मन्त्र में नहरों का सीधा वर्णन नहीं है। यहाँ जो पानी पर्वत काटने से निकले हैं वे सीधे समुद्र में चले जाते हैं। यहाँ यह शिक्षा है कि जब कभी पहाड़ों में कहीं पानी अटक जाये और उससे लोगों को हानि पहुँचने की संभावना हो तो सम्राट् को चाहिये कि पर्वतों को कटवा कर उस पानी को नदियों में डलवा कर समुद्र में भिजवादे। यहाँ हमने यह मन्त्र इसलिये दे दिया है कि इस से अहि और वज्र के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। अब अगले मन्त्रों के अर्थ सुनिये :—

“वह इन्द्र (सम्राट्) जोकि प्रजा के धारण करने वालों में पर्वत की तरह अच्युत है—अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होता, जोकि सहस्रों प्रकार की रक्षायें देने वाला है, जब प्रजाओं के अन्न से (अन्धसा) अर्थात् उनसे मिलने वाले अन्नोपलक्षित कर से खूब प्रसन्न हुआ जलों को रोकने वाले (नदीवृत्त^१) शिला, भूमि आदि रूप वृत्र को मार देता है और जलों को नीचे बहा देता है (उज्जन्^२) तो बल में, (तविषीषु) और भी बढ़ जाता है।” प्रजाओं से कर लेकर सम्राट् राष्ट्र में नहरें खुदवाता है। उससे राष्ट्र के लोगों की समृद्धि बढ़ती है। उससे राजा को और अधिक धन मिलता है और इस प्रकार राजा का बल पहले से अधिक बढ़ जाता है। “हे इन्द्र (सम्राट्) जो तू पानी रोक कर सोये पड़े हुए से अहि अर्थात् शिला, भूमि आदि को अपने हथियारों से (वज्रेण) जगा देता है—हटा कर परे कर देता है वह तेरा महान् पराक्रम का कार्य (वीर्य) होता है, अपने उस कर्म से हृषित तेरे पीछे

पलियें, पक्षी और सभी व्यवहार शील लोग हर्षित होते हैं।” ज़मीन काट कर नहरें निकलवाना सचमुच एक महान् पराक्रम का काम है जिसे राज्य की संगठित शक्ति ही कर सकती है। जब नहरें निकल कर सर्वत्र पानी पहुँचने लगता है तो राष्ट्र की पत्नियों अर्थात् कुटुम्ब, पशु-पक्षी और कृषक आदि व्यवहार शील लोग हृष्ट हो जाते हैं।

“इन्द्र (सम्राट्) नदियों के बहने के मार्गों को (खानि^१) पैमानों से (मानैः) नापता है (विमिमाय) जैसे कि घरों को बनाने से पहले नापते हैं (सन्नइव) और फिर अपने हथियारों से (वज्रेण) अभिमुख बहने वाला बनाकर (प्राचः^२), खोदता है (अतृणत्^३) इस प्रकार उन नदियों को अनायास ही (वृथा^४) लम्बे-लम्बे जाने वाले (दीर्घयायैः) मार्गों से बहने वाली बना देता है (असृजत्), इन्द्र यह नदियों को खुदवाने का काम प्रजाओं से कर रूप में मिलने वाले पेशवर्ग (सोमस्य) के कारण ही करता है।”

इस मन्त्र में तो स्पष्ट ही नहरों के खुदवाने का वर्णन है। यह वर्णन सामान्य नदियों पर लग ही नहीं सकता। जैसे घर बनाने से पहले उसकी भूमि की लम्बाई-चौड़ाई, कोणों की संख्या, उनकी लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई, दीवारों की मोटाई आदि नाप ली जाती हैं इसी प्रकार इन नदियों के बहने के मार्गों को भी खोदने से पहले लम्बाई-चौड़ाई और गहराई का माप कर लिया जाता है और पश्चात् उन्हें खोदा जाता है। यह वर्णन नहरों का ही हो सकता है। इस मन्त्र के आधार पर हमें वेद के नदी शब्द का एक अर्थ नहर भी समझ

१. नदनान्नद्य आपस्तासामावरीतारम् इति सायणः ।

२. उज्जन् आर्जवे । अधः पातयन्ति सायणः ।

१. निर्गमनद्वाराणीति सायणः ।

२. प्र अभिमुखमञ्चन्तीति प्राञ्चः । शसि प्राचः ।

३. अखनत् इति सायणः ।

४. अनायासेनेति सायणः ।

लेना चाहिये और जहाँ संगत होता हो वहाँ इसका अर्थ नहर ही करना चाहिये। इस मन्त्र के “दीर्घ-याथै पथिथिः” से यह भी सूचना मिलती है कि सम्राट् को अपने राष्ट्र में लम्बी-लम्बी नहरें खुदवाकर उसके कोने-कोने में पानी पहुँचाने का प्रबन्ध करना चाहिये।

“यह इन्द्र (सम्राट्) जलों को रोकने वाले शिला, भूमि आदि रूप अहि को वज्र हाथ में लेकर जो मार देता है और फिर जो नहरों के (नदीनां) पानी पक्षियों की भाँति तीव्र गति से अच्छी तरह बह निकलते हैं, वह प्रजाओं से कर रूप में मिलने वाले इस पेश्वर्य (मध्वः=सोमस्य) की प्रसन्नता के कारण ही कर पाता है।” “हे इन्द्र (सम्राट्) यह राष्ट्र संगठन रूपी यज्ञ ही, जिसमें पेश्वर्य उत्पन्न किया जाता है और जो यज्ञिय है और तेरा प्यारा है, तुझे बढ़ाने वाला है, तू पवित्र स्वभाव वाला राष्ट्रोन्नति के संघटित कर्म रूपी यज्ञों से इस राष्ट्र यज्ञ की रक्षा कर, यह राष्ट्र-यज्ञ अहिहत्य अर्थात्

शिला, भूमि आदि जलावरोधकों को मार कर नहरें निकालने के कर्म में तेरी रक्षा करेगा।” इस मन्त्र से ऊपर के मन्त्र में (ऋग्वेद ३।३२।११) जलों को रोकने वाले अहि को मारने का वर्णन है इसलिये हमने ‘अहिहत्य’ शब्द का उपर्युक्त अर्थ कर दिया है। मन्त्र की शिक्षा यह है कि राजा को राजगद्दी पर बिठाकर प्रवृद्ध पद तक पहुँचाने वाला राष्ट्र ही है इसलिये राजा को राष्ट्र की सब तरह से रक्षा करनी चाहिये। और-और रक्षाओं के साथ उसमें नहरों का प्रबन्ध भी होना चाहिये। नहर निकालने के कार्य में राष्ट्र तेरी रक्षा करेगा इस वाक्य का भाव यह है कि नहरें निकालने जैसे भारी कार्य जब तक राष्ट्र की प्रजा साथ न हों तब तक आसानी से नहीं किये जा सकते। अनेक बार तो प्रजाओं से ऋण लेकर राज्य को ये कार्य करने पड़ते हैं। सुरक्षित और सुपालित प्रजायें ही ऐसे कामों में राज्य की सहायता कर सकती हैं।



वेद में क्या लिखा है

यह जानना चाहने वाले प्रत्येक आर्य पुरुष को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के मसिक पत्र आर्य का ग्राहक बनना चाहिये। वेद के गूढ़ रहस्यों को बताने वाली जितनी सामग्री “आर्य” में रहती है उतनी और किसी पत्र में नहीं मिल सकती। आर्य का वार्षिक मूल्य केवल ३) है। आर्य को पढ़िये और वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने की अपनी प्रतिज्ञा को चरितार्थ कीजिये।

अथर्ववेद और मांसाहार का निषेध

[लेखक—श्री पं० मुक्तिराम जी उपाध्याय]

(४) औषधि तथा सात मधु

कई सज्जन यह प्रश्न कर दिया करते हैं कि औषधि के लिये तो मांस का प्रयोग करने में कोई हानि नहीं।

इसके उत्तर में निवेदन है कि अथर्ववेद में औषधि के लिये भी मांस का प्रयोग नहीं किया गया। यों तो अथर्ववेद औषधियों का भण्डार है। और इसमें सारी ही चिकित्सा वनस्पतियों के द्वारा लिखी गई है। परन्तु हम यहां उदाहरण के लिये एक रोहिणी का ही प्रयोग उद्धृत करते हैं।—

मज्जा मज्जा सन्धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु ।

असृक्ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ।

लोम लोम्ना संकल्पया त्वचा संकल्पया त्वचम् ।

असृक्ते अस्थि रोहतु छिन्नं सन्धे ह्योषधे ॥

४।१३।४।५॥

यह औषधि इस कटे स्थान को जोड़ दे। इसकी मज्जा से मज्जा, चमड़े-से-चमड़ा, रक्त-से-रक्त, हड्डी-से-हड्डी, रोम-से-रोम और मांस से इस रोगी का मांस जुड़े। हमने यहां इसी प्रयोग को इसलिये उद्धृत किया है कि मांस आदि धातुओं की वृद्धि के लिये भी वेद वनस्पति का ही प्रयोग करता है। रोहिणी मांस आदि धातुओं को बढ़ाती है क्योंकि बड़े बिना किसी अंग का जुड़ना कठिन है।

अथर्व वेद में सात मिठास से भरी प्यारी वस्तुओं का उल्लेख है। उन सातों में तो प्रिय तथा उपयोगी होने के कारण मांस का नाम आना ही

चाहिए था परन्तु इस प्रसङ्ग में भी मांस का उल्लेख नहीं है। मन्त्र सुनिये—

ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च ब्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ ९।१।२२ ॥

ब्राह्मण, राजा, नई सूई हुई गौ, बैल, चावल, जौ और सातवां शहद है।

इन सातों में से ब्राह्मण नेतृत्व तथा विद्या के लिये, राजा रक्षा के लिये, चावल, जौ, शहद और गौ के दूध घी आदि भोजन के लिये और बैल खेती के लिये उपयुक्त होने से मधु हैं प्रिय हैं तथा आवश्यक हैं। यदि मांस भी घी दूध की तरह आवश्यक होता तो उसे भी इनमें गिनाया गया होता।

(५) यज्ञिय द्रव्य

कई सज्जन यज्ञ में पशुबध का विधान बतलाया करते हैं, परन्तु अथर्व वेद इस विचार के भी प्रतिकूल है। क्योंकि अथर्व वेद में यज्ञ के लिए उपयोगी हविष्य द्रव्यों में मांस का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। वे उपयोगी द्रव्य वेद में कौन कहे हैं सुनिये—

अश्वत्थो दर्भो वीरुधा सोमो राजामृतं हविः ।

ब्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पत्रावमर्त्यौ ॥

८।१।२०॥

पीपल, कुशा, बल्लियों का राजा सोम, घृत, रोग को जीतनेवाले और कान्ति को चमकानेवाले सदा प्राप्य चावल और जौ ये हविः यज्ञ की सामग्री के द्रव्य हैं।

यहाँ मैंने अमृत शब्द का भी अर्थ किया है। क्योंकि मेदिनी कोश में अमृत शब्द के दूध और घी दोनों अर्थ किये हैं, और यज्ञ की सामग्री के प्रसङ्ग में घृत का ही लेना आवश्यक है। यहाँ समिधाओं का प्रतिनिधि पीपल, रोगनाशक, सुगन्धित तथा सात्विक औषधियों के प्रतिनिधि कुशा और सोम, बलवर्द्धक द्रव्यों के प्रतिनिधि चावल, जौ और घृत का उदाहरणमात्र के लिये उल्लेख किया गया है। परन्तु हैं ये सब निरामिष द्रव्य। इस प्रकार अन्य भी इन गुणोंवाले निरामिष द्रव्य ही लेने चाहियें यह स्वभाव सिद्ध है। इस प्रकार यज्ञिय द्रव्यों में भी पशु तथा मांस का अथर्व में कहीं उल्लेख नहीं।

(६) सम्प्रदान

कई महानुभाव कहा करते हैं कि यज्ञ में पशु-बध देवताओं के लिये किया जाता है। परन्तु अथर्व में देवताओं के लिए दातव्य रूप में भी कहीं मांस का नाम नहीं है। देवताओं को भी घृत की धाराएं ही अथर्व की पंक्तियों में प्रसन्न कर रही हैं।

इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्स-
चन्ताम्। ७।८२।१

देवता लोग हमारे इस यज्ञ को लेजावें। घृत की मिठास से भरी हुई धाराएं उनकी सेवा करें।

(७) प्रशंसा

देवता लोग बदले में मनुष्यों को भी घी और दूध ही देते हैं, इसलिये उनकी प्रशंसा भी घी और दूध के दाता के रूप में ही की गई है।

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृतेन
किञ्चन शक्नुवन्ति। ४।८६।६।

जो द्यावा पृथिवी मनुष्यों को दूध और घी से

तृप्त करते हैं। जिनके कि बिना मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकते।

यहाँ आदान और प्रदान में कहीं भी पशु अथवा मांस का उल्लेख नहीं है।

इन प्रसङ्गों से यह सिद्ध हो जाता है कि अथर्व वेद में किसी रूप में भी मांस का विधान नहीं है।

(८) शतौदन वशा

दशम काण्ड के नवें सूक्त में शतौदनवशा का वर्णन है। वहाँ वशा के सब अङ्गों का आलङ्कारिक वर्णन करते हुए कहा गया है,

ये ते देवि शमितारः पत्कारो ये च ते जनाः।

ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने।

१०।६।७

हे शतौदने देवि ! जो ये लोग तेरे काटने वाले और पकाने वाले हैं। वे सब तेरी रक्षा करेंगे। इनसे मत डर।

इस मन्त्र को और इससे प्रथम अङ्गों के वर्णन को पढ़कर सहसा यज्ञ में गोबध का भान होता है। इसी कारण से कई महानुभाव इस प्रसङ्ग को यज्ञ में पशुबध का पोषक कहा करते हैं। परन्तु वस्तुतः वशा यहाँ गौ नहीं कोई अन्य ही वस्तु है। इस सारे विस्तृत प्रसङ्ग का व्याख्यान तो यहाँ इस छोटे से निबन्ध में होना कठिन है। केवल ऐसे दो मन्त्र, इन्हीं सूक्तों में से, आपकी सेवा में उप-स्थित करूँगा, जिनके द्वारा वशा के प्रतिपाद्य विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकेगा।

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णात, वशा सूर्यं मधारयत्।

वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह।

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते।

वशेदं सर्वमभवद्देवा मनुष्याः पितर ऋषयः।

१०।१०।२५।२६

वशा ने यज्ञ को धारण किया है। वशा ने ही सूर्य को धारण किया है। और ब्रह्म तथा ओदन भी वशा के अन्दर प्रविष्ट हैं। वशा को ही अमर और वशा को ही मरण धर्मा (विकार वाली) कहते हैं। यह देवों, मनुष्यों, असुरों पितरों और ऋषियों के रूप में वशा ही प्रकट हुई है।

इन मन्त्रों में प्रकट किये गये भावों को जानकर यह बात तो भली भाँति समझ में आजाती है कि इन सूक्तों की शतौदन वशा गौ नहीं है। गौ के अन्दर यहाँ प्रकट किये गये गुण कर्मों में से किसी की भी उपलब्धि नहीं है। वहाँ प्रकट किये गये गुण और कर्म प्रकृति से भिन्न और किसी वस्तु में नहीं मिल सकते।

सारा कर्ममय यज्ञ सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक प्रकृति के अन्दर ही हो रहा है। सूर्य आदि सब लोक प्रकृति देवी के गर्भ से प्रकट हुए और आज तक उसी के त्रिगुणमय भण्डार में स्थित हैं। ओदन नामक सैंकड़ों प्रकार के भोज्य पदार्थों के मूल कारण प्रकृति देवी के ही अन्दर विद्यमान हैं। ब्रह्म भी प्रकृति के अन्दर सर्वव्यापक होने से विद्यमान है। प्रकृति ही नित्य होने से अमर और विकार वाली होने से मर्त्य है। देव, मनुष्य, पितर, ऋषि आदि के शरीर प्रकृति के ही परिणाम रूप हैं। इस प्रकार इस सारे गुण कर्म समुदाय को प्रकृति के ही अन्दर सुसङ्गत देखकर विवश कहना पड़ता है कि यह प्रकृति देवी का ही वर्णन है। यह समष्टि वर्णन है। इन्हीं सूक्तों में प्रकृति से बनी हुई एक एक व्यक्ति को लेकर व्यष्टि

वर्णन भी मिलते हैं। उसके लिये भी उदाहरणरूप एक मन्त्र भाग सुनिये।—

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि-
पृष्ठे अस्याः । १० । १० । ५

इस वशा के पीठ पर सैंकड़ों दुहनी लेकर दूध दुहने वाले, और सैंकड़ों रक्षक हैं।

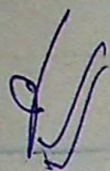
गौ की पीठ पर बैठकर तो दूध दुहा नहीं जाता, जिसकी पीठ पर बैठ कर दूध दुहा जाता है वह पृथिवी है। और उसी का यह वर्णन है। इस प्रकार यह प्रकृति का व्यष्टि वर्णन है।

जो मन्त्र मैंने इस प्रसङ्ग के आरम्भ में, आप को सुनाया था, और जिसे कि लोग यज्ञ में पशु बध का विधायक कहते हैं, वह भी पृथिवी का ही वर्णन करता है, क्योंकि यह प्रकरण ही प्रकृति के वर्णन का है।

उस मन्त्र में कहा गया था कि “जो तेरे काटने वाले और पकाने वाले हैं वे ही तेरे रक्षक होंगे, इनसे न डर।” पृथिवी का यह वर्णन कितना स्वाभाविक और यथार्थ है। जिस मनुष्य ने पृथिवी के जिस भाग को काटकर ठीक किया है। और जिसने उसे जोत जोत कर और खाद डाल डाल कर पकाया है अन्न पैदा करने के योग्य किया है। वह ही उसका रक्षक या स्वामी होता है।

इस सारे विवेचन से सिद्ध है कि इस प्रकरण की वशा प्रकृति है। और उससे पैदा होने वाले अनेक प्रकार के खाद्यपदार्थ ही ओदन हैं। ऐसी अवस्था में इस मन्त्र से प्रथम जो वशा के अङ्गों का आलङ्कारिक वर्णन है उसे भी पृथिवी का ही वर्णन समझना चाहिये।





सर्वमेध—अध्यात्मदर्शन

[लेखक—श्री पं० जयदेव जी विद्यालंकार चतुर्वेदभाष्यकार]

ऋग्वेद का ८१ वां सूक्त—विश्वकर्मा भौवन ऋषि दृष्ट है। उसका देवता भी विश्वकर्मा है। मन्त्र इस प्रकार है।

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर्होता न्य सीदत् पिता नः।

स आशिषा द्रविणम् इच्छमानः प्रथमच्छद् अवरान् आविवेश॥

सायण भाष्य में इस मन्त्र के दो अर्थ किये हैं। एक अर्थ तो ऐतिहासिक पक्ष को मुख्य मान कर किया है, दूसरा उसकी अपेक्षा न करके स्वतंत्र ही परमेश्वर परक किया है। प्रथम में सायण ने यह अर्थ स्वीकार किया है—

जो इन समस्त (भुवनानि) भूतों को विश्वकर्मा नामक ऋषि भुवन का पुत्र अग्नि में सब भुवनों की आहुति करता हुआ हमारा पिता अर्थात् विश्वकर्मा ही स्वयं आग में विराजता है,—वह आशिष से स्वर्ग आदि रूप द्रविण, धन आदि की कामना करता हुआ पहले अग्नि में पड़े भूतों से अग्नि को आच्छादित करता हुआ अवर-प्राणियों में बाद स्वयं भी अग्नि में प्रविष्ट हो गया। १

सायण भाष्य—यो विश्वकर्मा एतन्नामक ऋषिः भुवनपुत्रो होता होमनिर्पादकः सन् विश्वा सर्वाणि भुवनानि जुह्वत् होमं कुर्वन् प्रथमं सर्वं जगद् हुत्वा इत्यर्थः पश्चादग्नौ न्यसीदत् पिताजनकः आत्मकृतेन कर्मणा देहोत्पत्तेः न चकार जन्मजनक भावो निरुद्धयते तपोवलेन शरीरद्वय स्वीकारात् स एकवासवतीत्यादिश्रुतेः तै० ३०। स ऋषिः आशिषा आशीः प्रतिपादकेन सूक्तवाकादिना द्रविणं धनं स्वर्गाख्यमिच्छमानः कायमानः प्रथमच्छत् प्रथममग्ने भुवनैराच्छादयिता अवरान् विप्रं प्रिकृष्टान् भूतान् स्वात्मना हुतान् आविवेश आविष्टवान् अग्निम् इत्युक्तार्थ एव पुनर्विशेषणोक्तः। एवमुत्तरत्रापियज्ञपरतया योज्यम्।

इसके अतिरिक्त दूसरा अर्थ इस प्रकार किया गया है—

जो विश्वकर्ता परमेश्वर प्रलय काल में पृथ्वी आदि सातों लोकों को अपने आत्मा में आहुति के समान संहार करता हुआ (ऋषिः) अतीन्द्रिय-द्रष्टा, सर्वज्ञ (होता) संहार रूप होम करने वाला (नः पिता निससाद) हमारे पिता रूप से विराजता है। अर्थात् प्रलय काल आने पर समस्त लोकों का संहार करके हम जीवों का भी संहार करता और फिर रचता हुआ सर्वज्ञ परमेश्वर स्वयं एक ही है, वह परमेश्वर (आशिषा) 'बहुः स्यां प्रजायेय' बहुत हो जाऊँ प्रजाओं को उत्पन्न करूँ इस प्रकार पुनः जगत् को रचने की इच्छा से (द्रविणम् इच्छमानः) द्रविण अर्थात् धनवत् जगत् के भोग को

अथाध्यात्मप्रसिद्ध्या उच्यते—यो विश्वकर्मा परमेश्वर इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत् प्रलयकाले पृथिव्यादीन् इमान् सप्तलोकान् स्वात्मन्याहुतिप्रक्षेपवत् संहरन् ऋषिरतीन्द्रिय द्रष्टा सर्वज्ञो होता संहाररूपस्य होमस्य कर्त्तानोऽस्माकं पिता-जनको निपसाद स्वयं स्थितवान्। अयमर्थः। प्रलयकाले प्राप्ते सति सर्वान् लोकान् संहृत्याऽस्माकमपि संहर्ती पुनः स्रष्टा च सन् सर्वज्ञो यः परमेश्वरः स्वयमेक एवासीत्। तथा-भ्रुवते हि श्रुतयः। आत्मा वा इदमेक एवाग्र एवासीत्। स देवसोऽस्येदमग्र आसीद् इत्यादिकाः। स तादृशः परमेश्वरः आशिषा बहुः स्यां प्रजायेय इत्येवं रूपया पुनः पुनः सिसृक्ष-या द्रविणम् इच्छमानः धनोपलक्षितं जगद् भोगमाकांक्षमाणः प्रथमच्छत् प्रथमं मुख्यं निष्प्रपञ्चं पारमार्थिकं रूपमावृण्वन् अवरान् स्वसृष्टान् प्राणिहृदयप्रदेशान् आविवेश आविष्टवान् जीवरूपेण। तथा च स्तूयते सोऽस्माकमयत् बहुः स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। तत् सृष्ट्वा तदनुप्राविशत्। इति एवमग्या-

अप्युपनिषद् उदाहर्त्तव्याः॥

चाहता हुआ (प्रथमच्छद्) मुख्य निष्प्रपञ्च पारिमा-
थिक रूप को छिपाता हुआ (अवरान्) अपने
बनाये प्राणियों के हृदयों में (आविवेश) जीवरूप
से प्रविष्ट हुआ । ऐसी श्रुति भी है “सोऽकामयत बहुः
स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं
सर्वमसृजत् यदिदं किञ्च । तत्सृष्ट्वा तमनुप्राविशत्”
उस प्रभु ने इच्छा की कि बहुरूप हो जाऊँ । उसने
तप किया, इस समस्त जगत् को बनाया, जो दीख
रहा है, उसको रचकर फिर उसी में व्याप रहा
इसी प्रकार अन्य भी उपनिषद् वचन हैं ।

सायण ने इस अर्थ को करते हुए नवीन वेदान्त
के प्रपञ्च को व्यर्थ ही घसीट लिया और प्रथम अर्थ
करते हुए सायण ने यास्कोद्भूत इतिहासमात्र को
अपनी दृष्टि में रक्खा । उसमें यह दोष है कि वहां
सायण ने “स भौवन विश्वकर्मा” का सर्वमेध यज्ञ
ऐसा मान लिया है कि मानो विश्वकर्मा ने अग्नि में
समस्त प्राणियों को आहुति कर दिया है, इस यज्ञ
के द्वारा उसे स्वर्ग की इच्छा हो । फिर मन्त्र का
द्रष्टा स्वयं विश्वकर्मा और देवता भी विश्वकर्मा है ।
वहीं मन्त्रों में ‘पिता’ कहा गया है तब तो यह यज्ञ
विश्वकर्मा का न हुआ वह यज्ञ उसके पिता भुवन
का प्रतीत होता है ।

इसका समाधान सायण ने यह किया है कि—
‘स एकधा भवति’ इत्यादि श्रुति है । इससे तपोबल
से उसके दो शरीर मान लेने चाहिये । वह स्वयं
पुत्र होकर भी तपोबल से पिता बन गया । यह
समाधान भी ऐतिहासिक पक्ष को बहुत पुष्ट नहीं
करता ।

अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि सायण
ने प्रथमार्थ करते समय वेद मन्त्र के वास्तविक
आशय को सर्वथा भुला दिया है । मैं पाठकवृन्द का
ध्यान फिर वेद मन्त्र के प्रत्येक वाक्य पर पुनः

आकर्षण करना चाहता हूँ । इसके पहले मैं वेद
मन्त्र के एक शब्द के अर्थ पर तीव्र ध्यान
खेंचता हूँ । वेद मन्त्र में शब्द है ‘जुह्वत्’ । यह
‘हू’ धातु का रूप है । इसका अर्थ है देना और
खाना । अथवा देना और अपने भीतर लेना ।

अपने भीतर लेना वा खाना इस अभिप्राय को
लेकर सायण का दूसरा अर्थ है जो उसने प्रलय
परक किया है । परन्तु वहां स्पष्ट रूप से निर्देश
नहीं है । वहां परमेश्वर का यह विराट् सर्वमेध-यज्ञ
दिखा दिया है जिसका दार्शनिक सूत्र व्यास देव ने
परमेश्वर के विषय में कहा है “अत्ता चराचरग्रह-
णात्”, वेदान्तसू०—

परन्तु देना अर्थ की सायण ने उपेक्षा करके
उसका दूसरा अर्थ होम करना आहुति करना लिया
और इसके साथ ही वह आहुति कहां करना इस
तर्कना पर यही समाधान किया कि ‘अग्नि में’ ।
फिर द्रविण स्वर्ग चाहता हुआ स्वयं कहां प्रतिष्ठ
हुआ उत्तर दिया अग्नि में । पहले यज्ञ कर्त्ता ने सब
प्राणियों को अग्नि में डाला फिर आप भी कूद
पड़ा । यह सर्वमेध का स्वरूप सायण को अभिप्रेत
प्रतीत होता है । परन्तु यह अर्थ कुछ असंगत प्रतीत
हुआ इसी से उसने ‘अदन्’ अर्थ लेकर प्रलय पर
कर कालाग्नि महा होम तथा सर्ग रूप महा यज्ञ का
प्रकाश किया । यह भी एक प्राचीन परमेश्वर को
महायज्ञ का मन्तव्य है जिसको सायण ने अपने दूसरे
अर्थ में झलकाया है । इसका उल्लेख यदि गीता में
देखना हो तो आप ११ वें अध्याय में देखिये । गीता
के ग्यारहवें अध्याय की खूबी उसका सौन्दर्य अति
संक्षिप्त मन्त्रांश में देखना हो तो ‘यइमा विश्वा
भुवनानि जुह्वत्’—वह परमेश्वर विश्वकर्मा ही है जो
इन समस्त भुवनों, उत्पन्न होनेवाले लोकों की अपने
में आहुति-आदान अर्थात् अपने में लीन कर लेता

है, अपने भीतर कर लेता है, जगत् भर को खा जाता है। वेदान्त सूत्र जिसको दूसरे वाक्य में प्रकट करता है—कि वह परमेश्वर अत्ता है क्योंकि अपने भीतर चर और अचर समस्त संसार को ग्रहण कर लेता है, अपने भीतर लेता है। यह कार्य विश्वकर्मा का क्यों है।

यास्क कहते हैं—विश्वकर्मा—सर्वस्य कर्ता (निरु० १०।२५) विश्वकर्मा वह है जो समस्त दुनिया का करने वाला बनाने वाला है। 'कर्ता' 'कृञ् हिंसा-याम्' अर्थात् हिंसार्थ कृञ् धातु से भी बन सकता है अर्थात् वह परमेश्वर जहां समस्त जगत् का बनाने वाला है वह इसका हिंसन करने, मारने वाला, संहार करने वाला, प्रलय करने वाला है। इससे भी वह सर्वस्य कर्ता, 'विश्वकर्मा' ही कहा जावेगा। परन्तु वेद तो उसके तीसरे महान् कर्तव्य का भी निर्देश करता है। वह पालन करता जगत् को बनाता तथा जगत् को संहार करता है, परन्तु प्रश्न यह है कि किसी राजा को प्रलयकर घोर युद्ध में यह हक क्यों हासिल है कि वह कभी-कभी उनकों तोपों के सामने डाल देता है। उत्तर यही है कि वह राजा है, अन्न दाता है, वह पिता है।

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।

सपिता पितरस्तासां केवलं जन्म हेतवः ॥

(कालिदास)

तो ठीक इसी प्रकार परमेश्वर भी यदि समस्त भुवनों को संहार करता है तो उसका मुख्य कर्तव्य आंखों से ओझल नहीं हो सकता वह है उसका पितृत्व पालक होना। वेद मन्त्र ने उस गुण को स्पष्ट कहा है—“पिता नः”। वह विश्वकर्मा, जगत् का बनाने वाला 'नः पिता' हमारा पिता होकर (नि० असीदत्तु) निश्चित होकर सर्वोपरि नियामक रूप में विराजता है। वह (ऋषिः) सब का द्रष्टा,

सर्वाध्यक्ष है। वह (होता) सबको देने वाला है वह सबको जीवन, प्राण, बल, कर्मों के सुख दुःख, ऐश्वर्यादि प्रदान करने हारा है, और वह (इमा विश्वा भुवनानि) इन समस्त उत्पन्न जीवों और लोकों को (जुह्वत्) देता है, दान करता है, क्या ? सूर्य का प्रकाश, मेघ का जल, वायु का प्राण, भूमि का अन्न, प्रकृति के अनेक सुख, समस्त ऐश्वर्य सुख वह सबको दे रहा है।

(सः) वह प्रभु (आशिषा) सर्वत्र विद्यमान शासन शक्ति द्वारा, (द्रविणम् इच्छमानः) द्रुतगति से, काल की अव्याहत गति से संसरण करने वाले जगत् को (इच्छमानः) चाहता हुआ, बनाना चाहता हुआ वह विश्वकर्मा जगत्-शिल्पी, (प्रथमच्छद्) सब से प्रथम विद्यमान प्रधान प्रकृति को भी आच्छादन करने वाला, उससे भी कहीं महान् शक्तिशाली, उसके परमाणु २ में व्यापक होकर (अवरान्) उससे उत्तर काल में उत्पन्न महत् अहंकार, पञ्च-तन्मात्रा, स्थूल भूतादि सब वैकारिक सगों को भी (आविवेश) व्याप रहा है। अथवा, (प्रथम-च्छद्) सब से प्रथम जगत् प्राकृतिक सर्ग को व्याप कर पुनः (अवरान्) अपने अल्प शक्ति जीवों और अन्य ब्रह्माण्डों को भी व्याप रहा है।

इससे उत्तम व्याख्या विश्वकर्मा जगद् रचयिता परमेश्वर की इतने सुन्दर शब्दों में अन्यत्र आपको नहीं मिल सकती।

इसका स्पष्टीकरण—गीता के अध्याय.....में आप विस्तार से देखिये। इसी को तत्सृष्ट्वा तदेवा नुप्राविशत् आदि में भी उपनिषदों में दर्शाया है।

इस व्याख्या से भी उत्कृष्ट-दार्शनिक व्याख्या इस मन्त्र और इस सूक्त के साथ सम्बद्ध सर्वमेध सम्बन्धी इतिहास की और भी प्राप्त होती है निरुक्त के प्राचीन टीकाकार श्री दुर्गाचार्य ने लिखा है—

इसी सूक्त की 'विश्वकर्मा विमना०' इत्यादि ऋचा में श्री यास्काचार्य ने आत्मगति का प्रतिपादन किया है। आगे निरुक्तकार लिखते हैं—तत्रेतिहास-माचक्षते—विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधेसर्वाणि भूतानि जुहवां चकार । स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार । तदभिवादिन्येवर्ग भवति । “यइमा विश्वा भुवनानि जुह्वत इति (निरु० १०।२६) यहां यास्क के मत से 'तत्र' का तात्पर्य है इसी प्रसंग में यह इतिहास का उल्लेख है अर्थात् आत्मगति को बतलाने के लिये ही आत्मज्ञानी लोग इस इतिहास को वर्णन करते हैं। आध्यात्मिक वा आधिदैविक आदि जो अर्थ कहा जाता है वेद के कहे उसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये इतिहास कहा जाता है, वह इतिहास अपना सीधा अर्थ नहीं कहा करता प्रत्युत अर्थ जानने वालों को अभिप्रेत अर्थ ही बतलाता है। (विश्वकर्मा हि भौवनः) समस्त जगत्

को बनाने वाला प्रभु विश्वकर्मा है। उसी की सी अवस्था को अपने में लाकर वह यजमान भी 'विश्वकर्मा' कहाता है। वह भुवनों अर्थात् भूतों को अपने आत्मा में और अपने आत्मा को भूतों में (जुह्वत) आहुति करता है। इसी प्रकार जानने वाले वा देखने वाले ज्ञानी पुरुष के सब काम सर्व मेधयज्ञ के समान गुण होता है उसके केवल ऐसे देखने मात्र से ही उसका प्रत्येक यज्ञ सर्वमेध हो जाता है। अग्नि में स्वयं अपने को डाल देने से उसका सर्वमेध यज्ञ नहीं होता प्रत्युत सब भूतों में आत्मा का, और आत्मा में सब भूतों का दर्शन करने मात्र से 'सर्व मेध' होता है। इस प्रकार वह समस्त भूत विशेषों को सामान्य आत्मा में आहुति करता अर्थात् देखता है तभी वह सभी कामों में 'आत्मयाजी' कहा जाता है। अतः 'यइमा०' ऋचा का अर्थ इस प्रकार है। (क्रमशः)

दयानन्द को—

(रचयिता—राजेन्द्र वर्मा 'अभय' कोटा)

क्रूर-कुटिलों की कभी एक भी न चलने दी,
दला दासता-दुलार-दैन्य-दुख-द्वन्द्व को ।
चाटुता चपेटी, धरी अज्ञता समेट सारी,
काट दिया कुटिल-कुरीति के कुफंद को ॥
अभय हो वेद-वैजयन्ती को बुलन्द किया,
साधा सदा सत्य, मेटा मोह-मद-मन्द को ।
धन्य ! धर्मधारी, बाल-ब्रह्मचारी, हितकारी—
देश के 'अभय'-वीर-देव-दयानन्द को ॥

हठयोगप्रदीपिका तथा महर्षि दयानन्द

(ले० — स्वामी वेदानन्द तीर्थ)

महर्षि दयानन्द सरस्वती स्वामी जी ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में “अथ पठन-पाठन विधि” शीर्षक के नीचे पाठ्य ग्रन्थों के नाम एवं पाठन क्रम काल आदि का निरूपण करने के पश्चात् परित्याग योग्य ग्रन्थों की परिगणना भी कर दी है। उस प्रसङ्ग में महर्षि प्रवर ने योग के ग्रन्थों में ‘हठयोग-प्रदीपिका’ को परित्याज्य ग्रन्थों में गिनाया है।

कई भोले-भाले सज्जन कहते हैं कि ‘हठयोग-प्रदीपिका’ तो हठयोग के द्वारा राज-योग का प्रतिपादन करती है। उसमें ‘आसन’ ‘प्राणायाम’ का विस्तार से वर्णन है। आजकल तो आसनों का खूब प्रचार हो रहा है, और आसनों के सम्बन्ध में कई एक वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाएं भी नियमित रूप से प्रकाशित हो रही हैं। कई ग्रन्थ भी निकले हैं, और इस विषय का प्रचार दिन प्रति दिन बढ़ रहा है। और श्री स्वामी कुवलयानन्द एवं श्री योगी प्रवर ने तो विज्ञान के द्वारा हठ योग प्रणाली को शरीर के लिए सर्वश्रेष्ठ व्यायाम पद्धति सिद्ध कर दिया है। ऐसी स्थिति में महर्षि प्रवर का हठयोग-प्रदीपिका का खण्डन कुछ अखरता सा है, और खंडन-कर्त्ता के प्रति आदर बुद्धि नहीं रहने देता।

आपाततः देखें, तो आक्षेप में बड़ा गौरव प्रतीत होता है। किन्तु तनिक गम्भीरता से विचारने पर पता चलता है कि आक्षेप कर्त्ता ने न कभी हठ योग प्रदीपिका के दर्शन किए हैं और ना ही महर्षि प्रवर के आशय को समझने का यत्न किया है।

हठयोग-प्रदीपिका का एक दोष उस ग्रन्थ के प्रत्येक पाठक को खटकता है। वह है—प्रत्येक क्रिया का तन्त्रों और पुराणों की भांति अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करना। इसका वर्णन हम फिर कभी करेंगे। दूसरा हठयोग-प्रदीपिका है ही तान्त्रिक लोगों की पोथी। प्रमाण के लिए पढ़िए यह श्लोक—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।

एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥

(हठयोग-प्रदीपिका, उपदेश ४, श्लोक ३५)

अर्थात्—वेद, शास्त्र और पुराण साधारण वेश्या की भांति हैं। अकेली शाम्भवी मुद्रा ही कुलवधू (खानदानी बहू) की भांति गुप्त है।

ऋषि दयानन्द, जिनका वेद, मानो प्राण थे, कैसे वेद का ऐसा अपमान सहन कर सकते थे। वेद को वेश्या के समान बताने से बढ़कर वेद की निन्दा और क्या हो सकती है। वेद की निन्दा करने वाले को शास्त्रकार ‘नास्तिक’ कहते हैं। अब विचारिए, वेद की निन्दा करने वाले ग्रन्थ को पढ़ कर बालकों की वेद में श्रद्धा कैसे रह सकेगी। इस वास्ते महर्षि ने समस्त वेद विरोधी अनृषिकृत ग्रन्थों का परित्याग करने का उपदेश दिया है। प्रत्येक वेद भक्त को ऋषि का यह आदेश शिरोधार्य करना चाहिए।

कई पौराणिक भाई इस ग्रन्थ के प्रचार पर आग्रह करते हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि इसमें तो वेद और शास्त्र के साथ पुराण को भी गणिका बताया है। अतएव यह ग्रन्थ उनके लिये भी वैसा ही हेय है।

स्वामी जी का पदपाठ

[ले० श्री० नारायण दलपतराय भगत, अहमदाबाद]

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं, नासीद् रजो,
नो व्योमापरोयत् । किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्,
अंभः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १०-१२६-१ ॥

इस मन्त्र में निम्न लिखित जो तीन पदपाठ
स्वामी जी ने माने हैं, उसके संबंध में प्रारंभ से
लोक शंका करते रहे हैं, क्योंकि सायणादि ऐसा
नहीं मानते हैं । स्वामी जी ने भूल की है, ऐसा
कहते हैं ।

इसके संबंध में श्री० पं० विश्वबंधु जी ने भी
अपने वेद संदेश तृतीय भाग के पृष्ठ ७६ के फुट-
नोट में लिखा है कि—

“आचार्य दयानन्द जी की भूमिका में “व्योमा-
परः को एक पद मान” कर ‘यत् के साथ लगाया
है । ‘आवरीवः’ को पद और वह भी नाम माना
गया है । ‘कुहकस्य’ को भी एक पद माना गया
है । दूसरे शाब्दिक व्याख्यान के अन्तर की तो
विशेष बात नहीं । पर इन संकेतित भेदों के
कारण भाष्य में बड़ा भेद हो गया है । क्या उनके
पास पदपाठ की दूसरी प्रति तो न थी ? क्या वे
कंठ से ही (बिना पुस्तक देखे) लेखक को लिखाने
जाते थे ? हमें दूसरी बात में सत्यता प्रतीत होती
है ।”

परन्तु स्वामी जी ने बिलकुल भूल नहीं की
है, कुछ भी कपोल कल्पित नहीं लिखा है । साय-
णादि चाहे ऐसा पाठ मानें । उनका ही कथन
सर्वथा सत्य क्यों मानें ?

वेदान्त केसरी नामक मासिक में जो छपा मैंने
पढ़ा था और लिख लिया था वह मैं यहाँ लिखकर
भेजता हूँ । इससे ज्ञात होगा कि स्वामी जी का
लिखना संपूर्ण सत्य है क्योंकि पूर्व विद्वानों ने भी
ऐसा ही लिखा है । देखो—

तुच्छत्वान्न सदासीत् गगनकुसुमवत् भेदकं
नो सदासीत् ।

किं त्वाभ्यामन्यदासीत् व्यवहृतिगतिसन् नास
लोकस्तदानीम् ।

किं त्वर्वागेव शुक्तौ रजतवद् अपरो नो विराड्
व्योमपूर्वः ।

शर्मण्यात्मन्यथैतत् कुहकसलिलवत् किं भवे-
दावरीवः ॥२३॥

ऊपर लिखा श्लोक अधिकांश में मन्त्रस्थ पदों
का अनुवादक है । केवल वेदान्तकेसरी के आधुनिक
वेदान्तीयने के—गगनकुसुमवत् और शुक्तौ रजतवत्
इन मायावाद वा मिथ्यावाद के दो शब्दों को
निकाल दे, तो शेष शब्दों में निर्दोष मन्त्रार्थ ही
रह जाता है ।

यहाँ वेदान्त केसरी ने भी व्योमापरः को और
कुहकस्य को एक पद माना है तथा आवरीवः को
भी नाम माना है और शर्मन् का अर्थ ब्रह्म ही
माना है । उनको भी प्राचीन ग्रन्थ में ऐसा लिखा
हुआ मिला होगा । अब आशा है कि कोई भी
सज्जन स्वामी जी के लेख में शंका नहीं करेंगे
परन्तु स्वामी में अधिक श्रद्धा करेंगे ।

सुख का स्रोत

[ले० जयदेव "स्नेही" साहित्योपाध्याय वै० सं० पाठशाला सदपुरा]

ओ३म् युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः
सवे स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ यजु० ११।२

प्रिय पाठक वृन्द ! इससे पूर्व कि उपरि लिखित वेदमन्त्र का अर्थ किया जाय हम अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक बर्ले (Burleigh) के उन सुन्दर व मननीय शब्दों की ओर अपने पाठकों का ध्यान खींचना चाहते हैं जो एक उसने सुख की खोज के सम्बन्ध में लिखे हैं। वे इस प्रकार हैं—“गगन चुम्बी सनोवर का वृक्ष और झूमती हुई पत्तियों से लदे हुए वृक्षों और लताओं में होकर मैंने सुख का पीछा किया कि मैं उसको अपनी पूँजी बना लूँ। वह भागता गया। तिरछी पहाड़ियों तथा खंदकों खेतों व चरागाहों और सुनहली खाइयों में होकर मैंने उसका पीछा किया। टक्कर मारती हुई नदियों में होकर मैं उन ऊँची चट्टानों पर चढ़ गया जहाँ पर गिद्ध और उल्लू बोलते हैं और मैं शीघ्रता के साथ प्रत्येक समुद्र और स्थल को पार करता गया परन्तु सुख ने सदैव धोखा दिया।” “थक कर गश आने पर मैंने पीछा करना छोड़ दिया और समुद्र के एक निर्जन तट पर विश्राम करने के लिये सो गया। एक ने आकर भोजन माँगा और दूसरे ने भिक्षा चाही। मैंने अपनी रोटी और धन उन पसारे हुये हाथों में छोड़ दिया। एक ने आकर सहानुभूति चाही दूसरे ने विश्राम की लालसा की। मैं हर एक के साथ अपनी शक्ति-भर हाथ बटाता गया। लीजिये, अब तो वह आनन्दशायी सुख ईश्वरीयरूप धारण कर के मेरे पास आया और कहने लगा कि जो मैं अब तुम्हारा हूँ।”

कैसे मननीय व हृदयग्राही वचन हैं। सचमुच इसी भूल भुलैया में पड़ कर कितने ही मनुष्य दर बदर भटकते फिरते हैं। अभी हम हृषिकेश तथा हरिद्वार की यात्रा करने गये थे। वहाँ इसी सुख की तलाश में ही अनेकों यात्री भटकते देखे। कितने ही साधुओं की एक २ कुटी की खाक छानते फिरते थे, कितने सदा कुटिल बहने वाली भागीरथी (गंगा) के फेर में फँस रहे थे और बहुतेरे उस पर्वत लढ़ी की पथरीली पगडण्डियों पर इसी सुख की लालसा से पत्थरों से पैर लड़खड़ाते फिर रहे थे पर उन में से किसी के भी चेहरे पर सुख का चिह्न मात्र न था।

अपने पर ही आप दृष्टि डालिये कि आप उस सुख की प्राप्ति के लिये क्या क्या नहीं करते। धन कमाते हैं, परिवार बढ़ाते हैं, नये २ मित्र उत्पन्न करते हैं, तरह-२ की औषधियाँ सेवन करते हैं और नाना भाँति के पकवान बना कर खाते हैं पर आप अपने को फिर भी सुखी नहीं समझते। यह क्या बात है? कभी आपने इस प्रश्न पर विचार किया है कि वस्तुतः इस सुख की पहेली का क्या हल हो सकता है और यह सुख है क्या वस्तु?

आइये, आज इसी सम्बन्ध में ही कुछ विचार करें। शास्त्रकारों ने सुख के लक्षण इस प्रकार किये हैं—

“यदिष्टं तत्सुखं प्राहुः, द्वैष्यं दुःखमिहेष्यते।”

महा० शान्ति० २६।२७

अनुकूलवेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलवेदनीयं

दुःखम् ॥

नैय्यायिक

इसी प्रकार मनु महाराज ने दुःख सुख का संक्षेप से लक्षण करते हुये लिखा है—

“सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ।

एतद्विद्यात्समासेन, लक्षणं सुख दुःखयोः ॥”

सारांश यह कि इष्ट प्राप्ति का नाम सुख तथा तत्प्रतिकूल दुःख है । परन्तु इतने मात्र से क्या आप सन्तुष्ट हो गये हैं । “भिन्नरुचिर्हि लोकः” के अनुसार आप जिसे सुख समझते हैं वही मेरे लिये सब से बड़ा दुःख हो सकता है । प्रत्येक व्यक्ति की रुचि को देख कर सुख दुःख के अनेकानेक रूप हो जायेंगे । रोमन के एक बादशाह बिटेलियस के लिये प्रसिद्ध है कि वह जिहा के इतना वशीभूत था कि वह नानाविध व्यञ्जनों के स्वाद की लालसा से प्रथम खाये हुये को दवाइयों द्वारा वमन कर देता था और नये २ पदार्थ खाकर उनका स्वाद लिया करता था ।

लखनऊ के अन्तिम नवाब वाजिद अलीशाह के साल के ३६५ दिनों के लिये बनाये हुये ३६५ महल अब भी उसकी स्मृति के लिये लखनऊ में खड़े हैं जिन में प्रतिदिन के लिये भिन्न २ दासियाँ उपस्थित रहती थीं । परन्तु क्या आप कहेंगे कि बिटेलियस या वाजिद अलीशाह ने अनुपम सुख-लाभ कर लिया होगा । नहीं, कभी नहीं यह तो केवल इन्द्रियों की गुलामी है और गुलामी वा परतन्त्रता तो दुःख की जड़ ही है । आजकल के स्वतन्त्रताप्रिय ज़माने में तो कोई भी बुद्धिमान् इसको सुख का कारण नहीं मान सकता । इन्द्रियाँ भोगों से शान्त ही नहीं होतीं अपितु और अधिक तृपित हो जाती हैं । महाभारत में प्रसिद्ध विलासी राजा ययाति की कथा आती है उसका सार यह है कि शृक्राचार्य के शाप से राजा ययाति बूढ़ा हो गया क्योंकि वह अत्यधिक विलासप्रिय था ।

उसने अपने सब लड़कों से जवानी माँगी पर सब ने देने से इन्कार कर दिया केवल पुरु ने अपना यौवन दे दिया । ययाति ने जवान होकर अनेकों वर्ष इन्द्रियों को भोगों से शान्त करने का प्रयत्न किया परन्तु अन्त में थक कर उसने अपने मुख से ये उद्गार निकाले—

“न जातु कामः कामानामुपभोग्येन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥”

महा० आदि ७५।४६

अर्थात्—कामनाएँ भोग से शान्त नहीं होतीं अपितु घी से बढ़ी हुई अग्नि की तरह विशेष बढ़ जाती हैं । उसने ये भी शब्द कहे थे “संसार के सम्पूर्ण पदार्थ एक गनुष्य की भी सुख वासनाओं को तृप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं है ।”

इन्द्रियों के प्रेरक मन के लिये उर्दू कवि ‘नाज़ी’ ने क्या ही ठीक कहा है—

“रखे इस लालची लड़के को,

कोई कब तलक वहला ।

चली जाती है फ़रमाइश,

कभी यह ला कभी वह ला ॥”

अस्तु—यह विषय इतना गम्भीर है कि इस सम्बन्ध में जितना कहा जाय थोड़ा है । सारे शास्त्र इसी तर्क वितर्क से भरे हुए हैं । वह सुख का स्रोत कहीं पहाड़ियों की घाटियों में नहीं है, नहीं वह चन्द्रलोकादि में स्थित है वह है हमारे अन्तरात्मा में । उस मन में, जहाँ सन्तोष का निवास है । अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाना ही असन्तोष है और आवश्यकताओं का पूर्ण न होना ही सब से बड़ा दुःख है । यदि हम इस सिद्धान्त को पूर्ण-रूपेण समझ लें कि हम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा कर सुख उत्पन्न नहीं कर रहे बल्कि दुःख बढ़ाने का साधन कर रहे हैं तो हमारे सांसारिक

बहुत से दुःख स्वयं दूर हो जायें। बहुत से गृहस्थ केवल आवश्यकताओं को पूर्ण करने की इच्छा में तो सम्पूर्ण जीवन खो देते हैं। आप जितना दुनियावी पदार्थों की ओर खिचेंगे उतना ही ये दूर होते जायेंगे। किसी ने कहा है—

“भागती फिरती थी दुनियाँ,

जब तलब करते थे हम।

अब के जब नफ़ात हुई,

तो बेक्रार आने को है॥”

सो मन द्वारा ही हम अपने लिये अनन्त सुख व बड़ा भारी दुःख उत्पन्न करते हैं। वेद भगवान ने इसी भाव से उद्युक्त मन्त्र में कहा है :—

(वयम्) हम सब (देवस्य सवितुः) पैदा करने वाले परमेश्वर की (सवे) सृष्टि में (शक्त्या) निज सामर्थ्य से तथा (युक्तेन मनसा) इन्द्रियों के बन्धन

से मुक्त, आत्मा में युक्त अर्थात् संतोषी मन से (स्वर्ग्याय) स्वर्ग अर्थात् सुख के अधिकारी हो सकते हैं।

पतञ्जलि मुनि ने संतोष की महिमा के लिये उसका फल अनुत्तम सुख बताते हुए लिखा है—
“संतोषादनुत्तमः सुखलाभः” यहाँ यह बात समझ लेने की है कि संतोषी मन में सहानुभूति, सेवा, दया व परोपकार की सद्भावना सदा विद्यमान रहती है और इन गुणों वाला मनुष्य संसार में सदैव सुख की वृद्धि करता है। मिस्टर बर्ले ने दूसरों के साथ हाथ बटाने में ही सुख को ईश्वरीय रूप धारण किये देखा था उसका मर्म भी इसी में छिपा हुआ है। सो मन को संतोषी बनाइये तभी आप सुख के स्रोत में स्नान कर सकेंगे।

॥ ओंशम् ॥

आर्य प्रतिनिधि सभा, पञ्जाब समाजों को सूचना

कुछ समाजों की ओर से १९६२ का दशांश अभी तक इस कार्यालय में प्राप्त नहीं हुआ है। यह दशांश आषाढ़ ही के अंत तक इस कार्यालय में पहुँच जाना चाहिये था। इस सम्बन्ध में मैं आपका ध्यान सभा के नियम सं० ११ (ख) की ओर दिलाना चाहता हूँ, जो निम्न प्रकार है:—

“जो आर्यसमाज अपने मासिक चन्दा के दशांश को दातव्यतिथि से तीन मास के अन्दर न अदा कर सके, और अन्तरंग-सभा से नोटिस आनेपर अपनी असमर्थता का संतोष-जनक कारण न दिखला सके तो उसके पश्चात् सभा में उसका प्रतिनिधि लेना बन्द हो जायगा।”

अतः निवेदन है कि कृपया दशांश का धन शीघ्र ही भेज दें। दशांश न प्राप्त होने की अवस्था में प्रतिनिधि महाशय सभा के सदस्य नहीं रहेंगे।

—मन्त्री

वेदार्थ क्रान्तिकर्त्ता ऋषि दयानन्द

[लेखक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु लाहौर]

वेद प्रभु की पवित्र वाणी है जो आदि सृष्टि में जीवों के कल्याणार्थ, संसार के अन्य भोग्य पदार्थों की भांति, उनके कर्मों की यथावत् व्यवस्था के ज्ञानार्थ, तदनुसार आचरण करने के लिये, परम पवित्र ऋषियों द्वारा प्रदान की गई। भावी कल्प-कल्पान्तरों में भी 'वाणी' इसी प्रकार सदा प्रादुर्भूत होगी। यह किसी व्यक्ति विशेष या व्यक्ति विशेषों की कृति नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के रचयिता परम पिता परमात्मा की ही कृति है। इस में किसी प्रकार न्यूनाधिकता नहीं हो सकती "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" "ऋतंच सत्यंचाभीद्धा-तपसोऽध्यजायत" समग्र संसार तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान यह सब विधाता की यथा पूर्व कृति हैं।

यह है सार (नीचोड़) मानव जाति के प्राण वेद के सम्बन्ध में आज तक के समस्त ऋषि मुनियों की धारणा का, जिसको उन्होंने वेदाङ्गों और उपाङ्गों में एक मत होकर दर्शाया।

सत्य के देवता-आप्त अर्थात् यथार्थवक्ता ऋषि दयानन्द ने भी समस्त ऋषि मुनि समस्त इस धारणा को अपने जीवन काल में उपदेश द्वारा, तत्पश्चात् अपने ग्रन्थों की एक एक पंक्ति द्वारा दर्शाया, यथार्थता की कसौटी पर ठीक उतरने से वैदिक धर्मियों ने इस धारणा को स्वीकार किया और पुनरुद्धार का भार अपने ऊपर लिया है।

वेदार्थ का यह स्वरूप सम्प्रदायवाद तथा तत् समय के रूढ़िवादों के आवर्त्त (भँवर) यद्वा काली घटाओं में शताब्दियों तक छिपा रहा। किसी भी निष्पक्षपात जिज्ञासु को वेदार्थ का शुद्ध स्वरूप

जानना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव तक हो रहा था जिस प्रकार वर्तमान में भगवद्गीता के भाष्य और टीकायें सम्प्रदायवाद की छाया में लग-भग सौ प्रकार की (और वे भी परस्पर विरुद्ध) मिल रही हैं। किसी सत्य के खोजी जिज्ञासु को सम्प्रदायवाद के इस भँवर में सत्य का शुद्धस्वरूप भला कभी प्रतीत हो सकता है? कदापि नहीं। इसी प्रकार वेद का शुद्धस्वरूप भी सर्वथा लुप्त था।

ऐसी भयङ्कर परिस्थिति में वेद के इस स्वरूप को निर्धारित करने में वीतराग तपस्वी दयानन्द को कहाँ तक परिश्रम करना पड़ा और वह भी उस अवस्था में जब कि वेद का पठन-पाठन लुप्त प्राय ही हो रहा था, इसको प्रत्येक तत्त्वदर्शी पक्षपात रहित अनुभव कर सकता है, मैं तो इस भयङ्कर तूफान का ध्यान करके स्तब्ध हो जाता हूँ जब दयानन्द को शास्त्र सम्बन्धी इन विविध रूढ़ियों प्रचलित रीतियों सब शास्त्रकारों के नाम पर परस्पर विरोध की काली घटाओं, विविधवादों (मत मतान्तरों का तो कहना ही क्या) इस सब तूफान में अविचलित पाता हूँ। नहीं नहीं दयानन्द इस तूफान में डिगे नहीं, अपने को केवल सम्भाले रहे इतना ही नहीं अपितु उन्होंने एकदम इन सब परस्पर विरुद्ध रूढ़ियों औरवादों के विरुद्ध "घोषणा" कर दी कि वेद "प्रभु की वाणी" "नित्य" "स्वतः प्रामाण्य" है। इस में किसी व्यक्ति विशेष का इतिहास नहीं। दयानन्द की इस धारणा को मानने में वैदिक विद्वान् कहलाने वाले महानुभाव अब तक हिचकिचाते (ननुनच करते) हैं। योरूपियन

स्कालर स्वामी जी के वेदार्थ को Interpretation of his own imagine मनमानी कल्पना कहते रहे। क्योंकि ऐसे लोगों के सामने अब तक केवल सायणाचार्य का ही वेदार्थ था। जैसा कि ऋषि मुनियों के अनुगामी कहलाने वाले श्री पं० महेशचन्द्र न्यायरल आदि भारतीय-विद्वानों ने तथा मोनियर विलियम (Monier william) जैसे विदेशी स्कालरों ने स्वामी जी के वेदार्थ और वेद सम्बन्धी धारणा पर खिल्ली उड़ाने का यत्न किया उन्होंने लिखा कि “अग्निमीळे पुरोहितम्” इसके भाष्य में स्वामी जी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है। जब कि प्रसिद्ध अर्थ ‘अग्नि’ शब्द के सिवाय ‘आग’ के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्तमान हैं। स्वामी जी अपने पक्ष में शतपथब्राह्मण और निरुक्तादि के प्रमाण मानते हैं परन्तु क्या यह भाष्यादि अग्नि शब्द में परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं, अर्थात् कभी नहीं क्योंकि जो शब्द उनमें ईश्वरादि में लिखे हैं उनमें अग्नि शब्द का नाम भी नहीं” (देखें भ्रान्ति निवारण पृ० ६) “खैर कुछ ही हो परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता” (पृ० २०)

इसी प्रकार मोनियर विलियम Monier william आदि ने सायण के आधार पर लिखा है कि अग्नि सूर्य इन्द्र आदि शब्द भौतिक पदार्थों के ही वाचक हैं ईश्वर के वाचक यह शब्द कभी नहीं हो सकते इत्यादि।

श्री स्वामी जी महाराज ने न केवल “अग्नि मिळे पुरोहितम्” में आये ‘अग्नि’ शब्द का ही अर्थ परमेश्वर दर्शाया अपितु युक्ति प्रमाण द्वारा

सम्पूर्ण वेद में आये अग्नि इन्द्र, सूर्यादि शब्दों को परमेश्वर परक सिद्ध किया।

यह भी दर्शाया कि वेद मन्त्रों का अर्थ जहाँ आधियाज्ञिक होता है वहाँ आध्यात्मिक अधिदैविक (नैरुक्त) प्रक्रिया के आधार पर भी अर्थ करना होता है। अर्थात् “अग्नि मीळे पुरोहितम्” में अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का ही वाचक है यह बात नहीं, अपितु यहाँ ‘अग्नि’ से परमात्मा तथा विद्वान् का भी ग्रहण करना होगा।

सायणाचार्य से प्राचीन वेद भाष्यकार

अब जब कि सायणाचार्य से प्राचीन अनेक भाष्यकारों का पता लग गया है और लगभग २०-२५ वेद भाष्य तो मिल रहे हैं यथा स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वेङ्कटमाधव, आत्मानन्द, देव स्वामी, आनन्दबोध, देवयाज्ञिक, देवपाल, भवस्वामी, भट्टभास्कर, भरतस्वामी इत्यादि सायण से प्राचीन इन आचार्यों के वेद भाष्य हस्तलेख (Ms.) रूप में मिल रहे हैं। तथा हस्तामलकादि लगभग २०० वेद भाष्यकारों का पता लग रहा है। ऐसी अवस्था में सायण को ही वेद का प्रामाणिक भाष्यकार मानना नितान्त भूल है।

हम विस्तार भय से केवल एक ही वेद भाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी जो कि सायण से लगभग ६०० वर्ष प्राचीन है उसका मत विज्ञ पाठकों के सम्मुख अति संक्षेप से रखेंगे।

सायणाचार्य ने यज्ञ प्रक्रिया से पराहत होकर मन्त्रों का केवल तात्कालिक याज्ञिक अर्थ ही दर्शाया। आचार्य स्कन्द ने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ० ३६३ प्रतिज्ञा विषय में—

“अथात्र यस्य यस्य मंत्रस्य पारमार्थिकव्यव-

हारिक्यो द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते । परन्तु नैवैश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति ।”

अर्थात्—मन्त्रों के आध्यात्मिक आधि दैविक अधियाज्ञिक अर्थ होते हैं । परन्तु साथ ही परमेश्वर का त्याग किसी मन्त्र में नहीं हो सकता ।

वेदार्थ में क्रान्ति

आचार्य दयानन्द की वेदार्थ में इस क्रान्ति को लोग मनमाना बतला रहे हैं अनार्ष ग्रन्थों से पराहत लोगों को आर्ष ज्योति का प्रकाश हो ही कैसे सकता है । महापुरुषों की बातों पर संसार सदा से ही हँसी उड़ाता चला आया है । यह कोई नई बात नहीं । महात्मा बुद्ध, जगद्गुरु शंकराचार्य कुमारिल तथा गुरु नानक देवादि महापुरुष सभी अपने २ काल में संसार के उपहास भाजक बनते रहे । वर्तमान में भी बीतराग तपस्वी महात्मा गान्धी के सिद्धान्तों पर उपहास करने वालों की संसार में कमी नहीं ।

तदनुसार आचार्य दयानन्द ने भी सत्य के सामने संसार की कुछ भी परवाह नहीं की, आत्मा में जैसा कुछ भाव हुआ सर्व लोक हितार्थ संसार के सम्मुख रख दिया ।

अब आचार्य दयानन्द के उपर्युक्त सिद्धान्त तथा लेख की पुष्टि में हम सायणाचार्य से लगभग सहस्र वर्ष प्राचीन आचार्य स्कन्द स्वामी का लेख पक्षपात रहित विद्वानों की सेवा में उपस्थित करते हैं—

“नहि देवतायाः संख्यादिविशिष्टस्तुतिमन्त्रार्थावधारणे किञ्चित् प्रमाणमस्ति, ऋते मन्त्रार्थवाद-लिङ्गात् । दर्शनभेदः परस्परविरोध्यध्यात्मविनै-रुक्तयाज्ञिकानाम् । अनेक जन्मान्तराभ्यासवासना परिपाकवशात् प्रतिभानव्यवस्था द्रष्टव्या ।

तत्राध्यात्म विदस्तावत् सन्मात्रनिवद्धबुद्धयः, शिथिलीभूतकर्मग्रहग्रन्थयो, भिन्नविषयमवसंक्रम-स्थानवैराग्याभ्यासवशात् समासादितस्थिरसमा-धयो, निरस्तसमस्ताधयो, निरस्तबाह्यविषयैषणा, निरुद्धान्तःकरणवृत्तयो, निष्कम्पदीपकल्पाः, क्षेत्रज्ञज्ञानमानना—आत्मैकत्वे नान्यं पश्यन्ति न शृण्वन्ति ।

नैरुक्ता अपि अग्न्यादिभ्यस्त्रिभ्योऽन्यं न पश्यन्ति न शृण्वन्ति ।

याज्ञिका अपि तेन तेन फलेन.....शब्दव्यति-रिक्तां देवतां न पश्यन्ति न शृण्वन्ति ।

शुद्ध याज्ञिकास्तु शब्दव्यतिरिक्तमितिहास-पुराणप्रसिद्धां “तुवि ग्रीवां” (ऋ० ५-२-१२) इत्यादि मन्त्रप्रत्यापितरूपां, प्रतिजानते, स्तुवते ध्यायन्ति वेत्ति..... ।

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः । कुतः । स्वयमेव भाष्यकारेण (यास्केन) सर्व मन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय “अर्थ वाचः पुण्यफलमाह” (निरुक्त १-२०) इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेनप्रतिज्ञानात् ।” *

पाठकों के लाभार्थ हम उपर्युक्त लेख का भाव भाषा में दिये देते हैं—

“दर्शन भेद (आध्यात्मादि भिन्न २ दृष्टियों से वेद मन्त्रों का अर्थ करना) परस्पर विरोधी आध्यात्मिक-नैरुक्त-याज्ञिक प्रक्रियाओं के जानने वाले विद्वानों के जन्म जन्मान्तरों के अभ्यास तथा वासना के परिपाक के कारण होता है । इसी से मन्त्रों के भिन्न २ अर्थों का प्रतिभान होता है ।

*(देखो निरुक्त स्कन्द स्वामी भाष्य तीसरा भाग पृ० ३५

यह ग्रन्थ पंजाब यूनीवर्सिटी की ओर से छप रहा है ले०)

इन (भिन्न २ प्रक्रिया वालों) में अध्यात्म प्रक्रिया वाले आचार्य निम्न गुणों से युक्त होते हैं—वे संसार के समस्त पदार्थों के वेत्ता, जिनकी कर्म ग्रह ग्रन्थिया शिथिल हो चुकी हों। जिनकी बुद्धियां अभ्यास और वैराग्य द्वारा विविध विषय रूपी संसार चक्रों से मुक्त हों, जिनकी समस्त आशंकाएं तथा एषणाएं निवृत्त हो चुकी हों। जिन्होंने अपनी अन्तःकरण की समस्त वृत्तियों को निरुद्ध कर लिया हो.....इत्यादि। ऐसे लोग वेद मन्त्रों में एक आत्मा (परमात्मा) से अतिरिक्त अर्थ नहीं देखते हैं न सुनते हैं।

नैरुक्त लोग भी—अग्न्यादि से अतिरिक्त न किसी को देखते हैं न सुनते हैं।

याज्ञिक भी—उस फल से युक्त शब्द से भिन्न देवता को न देखते हैं न सुनते हैं।

शुद्ध याज्ञिक भी.....।

वेद के प्रत्येक मन्त्र का सब प्रक्रियाओं में अर्थ

“वेद के सब मन्त्रों की सब दर्शन (सब प्रक्रियाओं-आध्यात्मादि) में योजना कर लेनी चाहिये। क्योंकि स्वयं महर्षि यास्क ने ‘अर्थ वाचः पुण्यफलमाह’ (निरुक्त १—) यज्ञादिकों को पुण्य फल रूप से बतलाते हुए यह दर्शाया है कि सब मन्त्रों का तीन प्रकार का अर्थ होता है।”

इस लेख का अभिप्राय यही है कि अध्यात्म-नैरुक्त-याज्ञिक-शुद्ध याज्ञिकादि सब पक्षों (दर्शनों) के अनुसार प्रत्येक वेद मन्त्र का अर्थ करना चाहिये। यह सिद्धान्त भाष्यकार (निरुक्तकार) यास्क मुनि का है।

स्कन्द का यह लेख यास्क की साक्षी देता हुआ वैदिक संसार में एक अपूर्व क्रान्ति का द्योतक है। यह बात विज्ञ वैदिक विद्वान् निष्पक्ष-पात भाव से विचारें और देखें कि बीसवीं शताब्दी में—

स्वामी दयानन्द वेदार्थ क्रान्ति कर्त्ता है या नहीं।

इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि यास्क और आचार्य स्कन्द स्वामी शतपथ आदि ब्राह्मणों में तत् तत् वेद के किये गये अर्थों की संगति एकांशिक (अर्थात् केवल याज्ञिक) मानते हैं। इसलिये आचार्य दयानन्द ने भी शतपथादि में किये गये अर्थों को याज्ञिक प्रक्रिया परक ही बतलाया है। देखो ऋ० भा० भू० पृ० ३६२

सार यह निकला कि सायणादि का सम्पूर्ण वेदार्थ यास्क की प्रक्रिया से विपरीत होने से अमाननीय है। यद्वा याज्ञिक प्रक्रिया में भी केवल जितना ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुकूल है वह वेदानुकूल होने से ठीक है शेष नहीं।

सूर्य के प्रकाश की भांति यह बात स्पष्ट है कि सायणाचार्यादिकों को वेद का यथार्थ अर्थ का प्रतिभान नहीं हुआ।

तथा आचार्य दयानन्द तथा तदनुगामी विद्वानों का वेद के मन्त्रों का ब्रह्म परक अर्थ करना अथवा करने का यत्न करना महर्षि यास्क के मत से ठीक है जिसको कि सायण से हजार वर्ष प्राचीन वेद भाष्यकार ने दिखाया न कि किसी आर्य विद्वान् ने।

मैं समझता हूँ कि इस सचाई को समस्त भारतीय विद्वानों तथा योरूपीय स्कालरों को मुक्त कण्ठ से स्वीकार कर लेना चाहिये।

विचार भेद संसार में कोई बुरी बात नहीं, परन्तु पता लगाने पर सत्य का ग्रहण ही परम धर्म है “क्योंकि नहि सत्यात् परो धर्मः।”



सुख-प्राप्ति का साधन —

महाभारतान्तर्गत शान्ति-पर्व में एक श्लोक आता है—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्,
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।

सांसारिक कामनाओं अर्थात् वासनाओं की तृप्ति होने से जो सुख होता है और जो सुख स्वर्ग में मिलता है ; ये दोनों सुख तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख के सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं हैं। विगत अंक में “सुख और दुःख” का लक्षण करते हुये हमने यह बताने की कोशिश की थी कि आत्म-वशता ही सुख है और पर-वशता ही दुःख है। इस प्रस्तुत लेख में हम यह बताने की कोशिश करेंगे कि सच्चा सुख अर्थात् आत्म-वशता का उपाय क्या है ?

एक पथिक अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये सड़क पर चला जा रहा है। उसने जहाँ पहुँचना है वह स्थान तो बहुत दूर है परन्तु समय थोड़ा है। सड़क के दोनों ओर नानाविध फल-फूलों के उद्यान हैं जो कि बड़े सुन्दर और आकर्षक प्रतीत होते हैं। यदि पथिक सड़क के इधर-उधर ध्यान न देता हुआ अपने उद्देश्य को लक्ष्य कर के चलता चला जाये तो वह स्वल्पकाल में ही अपने उद्दिष्ट स्थान तक पहुँच जायेगा। और यदि वह इन उद्यानों के

लुभावने दृश्य पर मोहित होकर उन में ही भटकने लगे तो वह कभी भी अपने उद्दिष्ट स्थान तक नहीं पहुँच सकेगा।

इसी प्रकार मनुष्य भी एक उद्देश्य को लेकर पैदा होता है। उसे भी अपने जीवन के स्वल्पकाल में ही उस उद्देश्य को पूरा करना होता है। यदि इन प्राकृतिक लुभावने उद्यानों में फँस कर अपने उद्देश्य को भूल जाये तो वह कभी भी अपने उद्दिष्ट स्थान तक नहीं पहुँच सकेगा। प्रायः मनुष्य इन मायारूप प्राकृतिक उद्यानों में ही फँस जाया करता है। तो उस समय उसका असली उद्देश्य उससे ओझल हो जाता है। और उसके अन्दर असन्तोष और असीम तृष्णा की पराकाष्ठा पैदा हो जाती है। परिश्रम तथा सत्य व्यवहार से जितना मिल गया, उसी पर उसकी सन्तुष्टि नहीं होती। भर्तृहरि ने लिखा है—

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं धमाता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशानं निशा
प्रातः काण्वराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम् ।

धन मिलने की आशा से मैंने पृथ्वी के तल तक खोद डाला। अनेक प्रकार की पार्वतीय धातुएँ फूँक डाली। मोती और जवाहरात के लिये समुद्र को भी मथ डाला। राजा आदि धन कुबेरों को भी

जैसे तैसे खुश करने की कोशिश की। मन्त्रसिद्धि के लिये रात-रात भर श्मशान में एकाग्रचित्त से बैठा हुआ जप करता रहा। पर अफ़सोस ! इतनी मुसीबत उठाने पर भी एक कानी कौड़ी तक न मिली। इसलिये हे तृष्णे। अब तू मेरा पिण्ड छोड़।

इस श्लोक में भर्तृहरि ने उत्कृष्ट तथा उग्र वैराग्य को दृष्टि में रखते हुये तृष्णा का चित्र खींचा है। और यह बताने की कोशिश की है कि मनुष्य किस प्रकार तृष्णा से अभिभूत होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रायः मनुष्य जब कभी पवित्र भाव से प्रेरित न होकर जोखिम तथा साहस के हाथ करता है वह सब इसी तृष्णा का प्रभाव होता है। इसी तृष्णा के कारण मनुष्य अपने जीवन तक की भी परवाह नहीं करता। इसी प्रकार जिस जाति व देश में तृष्णा का अत्यधिक प्राबल्य हो जाता है, वह जाति व देश जल्दी ही इस तृष्णाग्नि में भस्मीभूत हो जाते हैं। आज पाश्चात्य जगत् सब प्रकार के ऐश्वर्य के होते हुए भी अतितृष्णा का शिकार हुवा २ है। तृष्णा से अन्धे हुए २ पाश्चात्य देश अपने लाभालाभ व कर्तव्याकर्तव्य में विवेक नहीं कर सकते। स्पेन विद्रोह और उनके प्रति अन्य पाश्चात्य देशों का रुख इस बात को सिद्ध करता है कि उनके सामने मनुष्य-जीवन का कोई मूल्य नहीं। प्राणीमात्र पर दया, विश्वप्रेम तथा आत्मभाव आदि उच्च कोटि के सिद्धान्तों का वहाँ नामोनिशान नहीं। जिस प्राकृतिक सुख तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये वे इतने लालायित हैं उसको प्राप्त करते हुए भी वे अनुभव नहीं कर रहे, अतितृष्णा के नाश करने में तुले हुए हैं। योरोपीय कूटनीति तथा अवस्थाओं से परिचित आदमी इस बात को भली भाँति जानता है कि अतितृष्णा के कारण योरोप सर्वतोमुखी विनाश की ओर भागा चला जा रहा

है। और यदि उसकी तृष्णाग्नि इसी तरह जाज्वल्यमान रही तो इसमें कोई शक नहीं कि कभी न कभी जल्दी भविष्य में उसका पतन अवश्यम्भावी है। इसी तृष्णा को सीमा में रखने के लिये धर्म की आवश्यकता होती है। यह तृष्णा ऐसी चीज़ है कि ज्यों २ इसकी पूर्ति करते जाओ त्यों २ अग्नि में घी डालने की तरह यह और भी प्रज्ज्वलित होती जाता है। इसलिये जिस कारण यह तृष्णाग्नि प्रज्ज्वलित होती है वे प्राकृतिक चीज़ें तो इसे शान्त नहीं कर सकतीं अतः इसे शान्त करने के लिये प्राकृतिक वस्तु से भिन्न धर्म ही उत्कृष्ट साधन है। इससे हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि राजनीति से धर्म का सौदा नहीं किया जा सकता परन्तु प्राकृतिक इच्छाओं को सीमित रखने के लिये ही धर्म की आवश्यकता होती है। आज सब प्रकार के ऐश्वर्यों के होते हुए भी योरोप में चहुँ ओर अशान्ति के बादल मँडरा रहे हैं। इसका कारण यह है कि वहाँ सच्चा धर्म नहीं है। विश्वप्रेम का अभाव है। एक तो तृष्णा वैसे ही बुरी चीज़ है और यदि तृष्णा इतनी अधिक बढ़ जाये कि उसको शान्त करना मनुष्य की शक्ति से बाहर हो तो वह सर्वनाश का कारण बन जाती है।

चूँकि जिस समय मनुष्य को तृष्णा अभिभूत करती है उस समय मनुष्य आत्म-वश अर्थात् स्वतन्त्र नहीं होता। उसके ऊपर उस समय तृष्णा सवार होती है। वह जिधर चाहती है उधर ही मनुष्य को चलना पड़ता है। आज अतितृष्णा योरोप को नचा रही है। भौतिक दृष्टि से चाहे वे कितने ही उन्नत हों परन्तु नैतिक दृष्टि से यह उनका पतन ही है। इसलिये भारतवर्ष को योरोप का अन्धा अनुकरण न कर उसकी अवस्थाओं से यह शिक्षा लेनी चाहिये कि समृद्धि की वृद्धि में

तृष्णा की वृद्धि न हो। वैराग्य की सर्वोन्नत सीढ़ी पर पहुँचने के लिये तो मनुष्य में किसी भी प्रकार की तृष्णा नहीं होनी चाहिये। तृष्णा के होने का तात्पर्य है कि उसका किसी बाह्य चीज़ के आधीन होना। अतः सर्वोच्च वैराग्य के लिये तो तृष्णा का एकान्ततः न होना ही सर्वश्रेष्ठ है। और यही सर्वश्रेष्ठ अवस्था आत्म-वशता की कही गई है। तृष्णा के न होने का भाव यह नहीं समझ लेना चाहिये कि मनुष्य अकर्मण्य या आलसी बन जाये। परन्तु कर्तव्याकर्तव्य को दृष्टि में रखते हुये मनुष्य को दुनिया में विचरना चाहिये। और दूसरे के उचित अधिकारों को नहीं छीनना चाहिये। जिन देशों में साम्राज्यवाद की भावना प्रखर रूप में मौजूद है वे देश ही दूसरे देशों के उचित अधिकारों को खा जाना चाहते हैं। यही भावना प्रायः धनिकों के अन्दर भी पाई जाती है। धनिकों के अन्दर धन के साथ अति-तृष्णा का प्राबल्य न हो तो बोलशेविज्म, कम्युनिज्म, सोशलिज्म आदि का प्रादुर्भाव ही न हो। परन्तु आज संसार के धनिकों में अतितृष्णा का प्राबल्य है। वे त्रिलोकी को भी हड़प जायें तो भी उनकी तृष्णा शांत नहीं हो सकती। इस कारण ही प्रायः सब देशों में इसके विरोध में विद्रोह होते दिखाई देते हैं। हिन्दुस्तान को इससे शिक्षा लेनी चाहिये और अतितृष्णा को छोड़ देना चाहिये, तभी सच्चा सुख मिलेगा। और मनुष्य तब ही वास्तव में आत्मवश आर्थात् सच्चा स्वतन्त्र हो सकेगा।

भयानक षड्यन्त्र —

हरिजनों को अपने में शामिल करने के लिये शूद्र तथा संकुचित मनोवृत्ति वाले साम्प्रदायिक मुसलमान कितना प्रयत्न कर रहे हैं उसका एक जीता-जागता उदाहरण हमारे सामने मौजूद है। अभी हाल में मिश्र की अलअज़हर युनिवर्सिटी के

रेक्टर और सर इक़्बाल में हुए पत्र-व्यवहार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मुसलमान हरिजनों को अपने में मिलाने के लिये जी जान से कोशिश कर रहे हैं। उनकी कोशिशें सफल होंगी कि नहीं, यह तो हिन्दू जाति का अछूतों के साथ कैसा व्यवहार रहता है, ही बतायेगा। चाहे यह बात बिल्कुल निराधार हो परन्तु इस दशा में आर्य-समाज को और भी ज़्यादा सतर्क हो जाना चाहिये। प्रत्येक आर्यसमाज का यह कर्तव्य हो कि वह अछूतों को भी समाज का मेम्बर बनाये। सत्संगों में उसी प्रकार वे भाग लें जिस प्रकार अन्य आर्यसमाजी लेते हैं। चन्दे के विषय में उनके साथ रियायत हो और यदि उनका चन्दा बिल्कुल ही छोड़ना पड़ जाय तो वह भी छोड़ देना चाहिये। और प्रत्येक सत्सङ्ग में या प्रत्येक में न हो सके तो महीने में एक बार तो अवश्य ही हरिजनों के हाथ से प्रत्येक आर्यसमाजी को कुछ न कुछ अवश्य खाना या पीना चाहिये। कोई संस्कार ऐसा न हो जिस में अछूतों को शामिल न किया जाय। इस प्रकार जब आर्यसमाज हरिजनोद्धार में सक्रिय भाग लेगा तभी वह अन्य धर्मावलम्बियों के अनथक प्रयत्नों को निष्फल कर सकेगा। अन्यथा केवल व्याख्यानों से या मामूली प्रयत्नों से काम न चलेगा।

अहिंसा के अवतार रामचन्द्र शर्मा—

धर्मों के क्रमिक इतिहास पर दृष्टि डाली जाये तो हमें यह पता चलेगा कि धर्म के नारतविक स्वरूप को न जान कर धर्मानुयायी भक्तों में न जाने कितनी कुप्रथायें चला पड़ती हैं, यह देखा जाता है कि मध्यकाल से प्रायः प्रत्येक धर्मों में अपने अभीष्ट देवता को प्रसन्न करने के लिये पशु-बलि का विधान पाया जाता है। हिन्दू-धर्म में भी यहाँ के अन्दर

अथवा अपने अभीष्ट देवता पर पशु-बलि देना एक पवित्र कार्य माना जाने लगा था। हमारे मध्य-कालीन पूर्वज यज्ञों के अन्दर न जाने कितने असंख्य मृत पशुओं का संहार किया करते थे, और इसी में वे अपने धर्म की इति श्री समझते थे। बुद्ध दयानन्द आदि सन्त महात्मा आये और उन्होंने इस प्रलयकारी घृणित कार्य का विरोध किया उस का परिणाम यह हुआ कि यज्ञों से पशु हिंसा का प्रायः विलोप हो गया। परन्तु इन विरोधों के बावजूद भी अभी तक यह घृणित कार्य चला आ रहा है। देवी-देवताओं पर अब भी बकरे-भैंसे आदियों की बलियाँ दी जाती हैं। अहिंसा के अवतार रामचन्द्र शर्मा ने इस पशु-बलि का समूलोन्मूलन करने के लिये उपवास रूपी अस्त्र का आश्रय लिया हुआ है। उन्होंने कई बार इस अस्त्र का प्रयोग कर सफलताये प्राप्त कीं और इन घृणित

कार्यों का कई जगहों से समूलोच्छेद किया। परन्तु हर बार यह अस्त्र कामयाब हो जायगा यह कहना बड़ा कठिन है। आजकल कलकत्ते के प्रसिद्ध काली मन्दिर में दी जाती हुई सैकड़ों बकरों और भैंसों की बलि रोकने के लिये आप आमरण उपवास का श्रीगणेश कर चुके हैं। इसका क्या परिणाम होगा यह तो भविष्य ही बतायेगा। परन्तु हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि उनका यह अस्त्र शान्त होना चाहिये। इसमें तो कोई शक नहीं कि उनका यह साहस अत्यन्त सराहनीय है, परन्तु इसकी अति करना अच्छा नहीं। हर एक गुण जब सीमा को लाँघ जाता है तो वह भी बुरा परिणाम पैदा करता है। इसलिये हम तो यह कहते हैं कि अब उन्हें अपने अमूल्य जीवन को यूँ ही नहीं फेंक देना चाहिये। उनका जीवन हिन्दुस्तान के लिये बहुत मूल्यवान है।

—भगवद्धत्त वेदालङ्कार

सर गङ्गाराम बालरक्षा-आश्रम, हरिद्वार

आम हिन्दू जनता को यह जान करके खुशी होगी कि हिन्दुओं के बुरे रिवाजों के कारण जो स्त्रियाँ अनुचितरूप से गर्भवती हो जाती हैं उनके बच्चे सम्भालने और उन्हें गर्भपात के दुःख से बचाने के लिये हरिद्वार जैसे पवित्र तीर्थस्थान में “सर गङ्गाराम बालरक्षा-आश्रम” के नाम से एक आश्रम सर गङ्गाराम ट्रस्ट सोसाइटी लाहौर की तरफ से खोला गया है। हरिद्वार जैसे तीर्थस्थान में गर्भवती स्त्रियाँ भारत के कोने-कोने से आती हैं और कई बार हत्या तक करने को तैयार हो जाती हैं। इस आश्रम में दाखिल होने वाली देवी और हर एक अनाथ बच्चे के सब हालत बिल्कुल गुप्त रखे जाते हैं। ऐसी स्त्रियों के बच्चों के पालन पोषण करने के लिये बहुत अच्छा प्रबन्ध किया गया है। जो स्त्रियाँ बच्चों को छोड़कर घर जाना चाहें उनके बच्चों का पालन इस आश्रम की तरफ से होगा। अगर कोई सज्जन किसी बच्चे को गोद लेना चाहेंगे तो वे इस आश्रम से ले सकेंगे। इसलिये हम आर्यसमाजों, सनातनधर्म सभाओं व अन्य हिन्दू सोसाइटियों और पुलिस से भी निवेदन करना चाहते हैं कि वे नये अनाथ पैदा शुद्ध बच्चों और नाजायज गर्भवती स्त्रियों को इस बालरक्षा-आश्रम में भेजने की कृपा कर पुण्य के भागी बनें।

विश्वमित्र

सुपरिण्टेंडेंट-सर गङ्गाराम बालरक्षा आश्रम

(समीप रेल्वे स्टेशन) हरिद्वार

दधातु । डुधाञ् धारणपोषणयोरित्यस्य
लोपि रूपम् । मे । ते मयावेकवचनस्य (पा०
८. १. २२) इति अस्मच्छब्दात् पष्ठ्येकवचने
मे आदेशः । अनुदात्तं सर्वमपादादौ (अ० ८.
१. १८.) इति सर्व्वाऽनुदात्तता । व्याकरण-
प्रक्रियेयं श्रीक्षेमकरणदासभाष्याद्विशेषत
उद्धिष्यते । उपरिष्ठादप्यस्य मान्यविदुषो
भाष्यात् पदानां व्याकृतिप्रदाने भूयः साहा-
य्यमादास्यामः । अतस्तस्य महान्तमुपकारं
मन्वानास्तस्मै साञ्जलि नमस्कुर्मः ॥१॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि
श्रुतम् ॥२॥

पुनः । आ । इहि । वाचः । पते ।
देवेन । मनसा । सह । वसोः । पते ।
नि । रमय । मयि । एव । अस्तु । मयि ।
श्रुतम् ॥२॥

अन्वयः—वाचस्पते देवेन मनसा सह
पुनरेहि वसोष्पते निरमय मयि श्रुतं
मय्येवास्तु ।

अत्र पुनरिति पदमद्यप्रतियोगि । अद्य
प्रार्थनाकाले वाचस्पतिर्मे यद्वलं दधाति तत्
पुनरपि वारं वारं दधातु । तस्मादाह वाच-
स्पते देव मम ज्ञानप्रार्थनया दिव्यगुणयुक्तेन
मनसा पुनरप्येहि सङ्गतो भव । हे वसूनां
ये धरित्रीतलं वासयन्ति वासयोग्यं कुर्वन्ति

के विशेषण हैं । यदि त्रिपत्ताः ने संसार के
सारे रूपों को धारण करना है तो इस पद
के अनेक अर्थ करने ही होंगे । यह त्रिपत्ताः
पद वाणी द्वारा वर्णन किये जाने वाले सभी
पदार्थों को अपने भीतर समाविष्ट किये हुए
है । ऐसे वहर्थ-गर्भ शब्दों का परम पुरुष
भगवान् के अतिरिक्त और कौन प्रकाश
कर सकता है । इसलिये वाङ्मय की समग्र
नदियों के सन्निपात के महासमुद्र उसी
भगवान् को नमस्कार कर के दूसरे मन्त्र
की व्याख्या करते हैं ॥ १ ॥

(वाचस्पते) हे वाणी के पति परमात्मन
(देवेन) दिव्य गुणों वाले (मनसा) मेरे मन

के साथ (पुनः) बार-बार (एहि) संगत
हूजिये (वसोष्पते) हे धरती को बसने
योग्य बनाने वाले सभी पदार्थों के पति
प्रभो (निरमय) मुझे ज्ञान से आनन्दित
कीजिये (मयि) मुझमें (श्रुतम्) गुरुमुख से
सुनकर आया हुआ ज्ञान (मयि) मुझमें
(एव) ही (अस्तु) रहे, विस्मृत न हो ॥२॥

मन्त्र का पुनः—बार-बार—पद आज
का प्रतियोगी है । आज प्रार्थनाकाल में जो
ज्ञान-बल वाचस्पति मुझे दे रहे हैं वह
अविष्य में भी मुझे इसी प्रकार देते रहें यह
इसका अभिप्राय है । परमात्मा का मेरे मन
के साथ संयोग होने पर परमात्मा में रहने

तेषाम्पदार्थानामधिपते मां निरमय नितरां
ज्ञानरसेनानन्दय । हे वाचस्पते तव मम
मनसा सह सङ्गमेन त्वन्नियतसहचारिज्ञानं
राजानुवर्तिराजपरिवारवत् स्वयमेव मयि
स्थास्यतीत्याह । त्वदागमनेन मयि श्रुतं
गुरुणामन्येषामपि ज्ञानधनानां मुखादुपश्रुत्या-
धिगतं ज्ञानं मय्येव तिष्ठतु ।

मन्त्रेशेषज्ञानेशं परमेशमभिधानौ
वाचस्पतिवसोष्पती शब्दौ भावान्तरमपि
ध्वनयतः । विद्या हि नाम द्विविधं स्वरूप-
मधिकुर्वते । केवलं विशुद्धज्ञानाधिगमरूपं
प्रथमम्, अधिगतज्ञानेनार्थसम्पादनशक्ति-
जनकत्वरूपं द्वितीयम् । वाचस्पतिशब्देन
केवलं ज्ञानाधिगमोवगम्यते । वसोष्पति-
शब्दश्चाधिगतज्ञानस्यार्थकरत्वमवगमयति ।
यावदधिगता विद्या अज्ञानमपाकृत्यान्ते-
वासिनो जीवनयात्रानिर्बहणायार्थाजर्ज-
नसमर्थनपि न विदधपति तावद् गुरुणात्मकर्म-
णोवसितिर्नाधिगन्तव्या ।

वाला ज्ञान मुझे अनायास ही प्राप्त हो
जायेगा । जिस प्रकार किसी के घर राजा
चला जाये तो राजा के अनुवर्ती लोग तो
उसके यहाँ योंही आ जाते हैं । वाचस्पति
परमात्मा का मेरे मनके साथ संयोग रहने
पर उनसे प्राप्त होने वाला तथा अन्य गुरु-
जनों से सुनकर प्राप्त होने वाला ज्ञान मुझ
में ही रहेगा । वह विस्मृत होकर बिखर
नहीं जायेगा ।

व्याकरण प्रक्रिया—

पुनः । पन स्तुतौ अर् अकारस्य उत्वं
पृषोदरादित्वात् । एहि । आ+इण् गतौ
लोट् । देवेन । दिवु क्रीडादिषु नन्दिग्रहीत्यच्
(पा० ३।१।३४) । मनसा । मनज्ञाने सर्व-
धातुभ्योऽसुन् (उ० ४।१।८६) । वसोः । वस
निवासे, आच्छादने, शृस्वृ इति (उ० १।१०)
उः । ततः षष्ठी । वसोष्पते । षष्ठ्याः पति-
पुत्रेति (पा० ८।३।५३) विसर्गस्य सत्वम् ।
आदेश प्रत्यययोः (पा० ८।३।५६) इति सस्य
पत्वम् । रमय । रमुक डायाम् । हेतुमति च
(पा० ३।१।२६) इति णिच्, लोट्, णिचि
वृद्धि प्राप्तौ, मितौ ह्रस्वः (पा० ६।४।६२) इति
मित्त्वादुपधाह्रस्वः । श्रुतम् । श्रु श्रुतौ कः ॥२॥

इहैवाभि धि तनूमे आर्त्तिं इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि
श्रुतम् ॥३॥

मन्त्र के वाचस्पति और वसोष्पति पदों
से एक और ध्वनि निकलती है । विद्याओं
के दो रूप होते हैं । एक केवल ज्ञानरूप
और दूसरा सीखे हुए ज्ञान की व्यावहारिक
उपयोगिता । वाचस्पति शब्द केवल ज्ञान-
ग्रहण की सूचना देता है । और वसोष्पति
शब्द ज्ञानकी जीवनयात्रा के लिये उपयोगी
धनोपार्जन की शक्ति की सूचन देता है ।
जब तक विद्यार्थी विद्या सीखकर उनकी

इह । एव । अभि । वि । तनु । उभे
इति । आर्त्ती इवेत्यार्त्ती ऽइव । ज्यया ।
वाचः । पतिः । नि । यच्छतु । मयि ।
एव । अस्तु । मयि । श्रुतम् ॥३॥

अ० :— ज्यया आर्त्ती इव उभे इहैवाभि
वितनु वाचस्पतिर्नियच्छतु मयि श्रुतं
मय्येवास्तु ।

पूर्वविद्वदुपाजितमुत्तरज्ञानाधिगमाधार-
भूतं ज्ञानमेका कोटिः । ज्ञानार्जनव्यग्रैर्विद्यो-
पासकैरुत्पादयिष्यमाणं ज्ञानमपरा कोटिः ।
प्रथममन्त्रे व्याततधन्वत्वेनालिखितो
जिज्ञासुधनुष्क आत्मानं सम्बोध्य कथयति
उभे ज्ञानकोटी ज्यया आर्त्ती धनुष्कोटी इव
वितनु विस्तारय । पूर्वविद्वदुपाजितं ज्ञानं

सहायता से धनोपार्जन के भी योग्य न बन
जायें तब तक गुरु को अपने कर्तव्य की
समाप्ति नहीं समझनी चाहिये ॥२॥

(ज्यया) धनुष की डोरी से (इव) जैसे
(आर्त्ती) धनुष के दोनों सिरे, खींचकर
अपनी ओर फैला लिये जाते हैं वैसे ही
(उभे) ज्ञान के भूतकाल में उपाजित और
भविष्य में उपाजित किये जाने वाले ज्ञान-
रूप दोनों सिरों को, हे मेरे आत्मा अपने
प्रयत्नरूप ज्या से (इह) यहां अपने में
(एव) ही (अभि वितनु) फैला ले (वाच-
स्पतिः) वाणी का पति परमात्मा, तेरी उस
प्रयत्नरूप ज्या को (नियच्छतु) नियमित करे
(मयि) मुझमें (श्रुतं) आया हुआ ज्ञान
(मयि) मुझमें (एव) ही अस्तु रहे अथवा
(वाचस्पतिः) वाचस्पति (मयि) मुझ में
(श्रुतं) आये ज्ञान को, ऐसे (नियच्छतु)
नियमित करे, जिससे वह (मयि) मुझमें
(एव) ही (अस्तु) रहे ॥३॥

पूर्ववर्ती विद्वानों ने जो ज्ञान का संग्रह
किया है, जिसके आधार पर ही नया ज्ञान
अर्जित हो सकता है, वह तो एक कोटि
है । और दूसरी कोटि ज्ञानार्जन में व्यग्रता
के साथ लगे हुए विद्योपासकों द्वारा
भविष्य में संग्रह किया जाने वाला ज्ञान
है । ज्ञान संग्रह में लगा हुआ जिज्ञासुरूप
धनुर्धर मन्त्र में अपने आपसे कह रहा है
कि हे आत्मा ज्ञान की इन दोनों कोटियों
को अपने प्रयत्न से खींचकर अपने में
इनका विस्तार करले जैसे की ज्या से
धनुष की दोनों कोटियाँ अपनी ओर फैला
ली जाती हैं । पूर्ववर्ती विद्वानों के संगृहीत
ज्ञान को गुरु सेवादि द्वारा अच्छी तरह
सीख । जिससे कि तू भविष्य में ज्ञान के
नये तत्व भी पता लगा सके । मेरे सारे
प्रयत्न के साथ ताना जाकर भी यह ज्ञान
धनुष लक्ष्य बाँधने में समर्थ नहीं हो सकता
जब तक कि परमात्मा मुझ पर कृपा करके

गुरुशुभ्रपादिभिरधिगच्छ । येन नूतनतत्त्वो-
पज्ञाने समर्थः स्याः । पुनः प्रार्थनप्रवणो
भूत्वा कथयति न खलु मया सकलप्रयत्नेना-
प्यातन्यमानं धनुरिदं लक्ष्यवेधने समर्थ-
स्याद् यावद्वाचस्पतिर्मयि सानुकोशतया
स्वशक्तिप्रदानेन मां साधनत्वमानोय न मे
सहायो भवति । तस्मात् स एव मे धनुर्ज्या
नियच्छतु । तेन नियम्यमानेयं ज्या नियतं
लक्ष्ये शरं पातयिष्यति । तेन च मयिश्रुतं
मयि स्थास्यति । तस्मादाह वाचस्पतिर्ज्या
नियच्छतु येन मयिश्रुतं मय्येवास्तु । यद्वा
वाचस्पतिर्मे श्रुतं मयि तथा नियच्छतु येन
तन्मय्येव तिष्ठतु ।

व्याकरण प्रक्रिया—

इह । इदमो हः (पा० ५।३।१२) इति
सप्तम्यर्थे ह प्रत्यये इदम इश् (पा० ५।३।३)
इत्यश् । तनु । तनु विस्तारे लोट् तनादि
कृज्म्य उः (पा० ३।१।७६) इत्युः प्रत्ययः ।
उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वाद् (पा० ६।१।०६)
इति हेल्कु । उभे । ईदुदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्
(पा० १।१।११) इति प्रगृह्यम् । प्लुत

प्रगृह्या अनीति (पा० ६।१।१२५) प्रकृति-
भावः । आर्त्तीइवेति । इवेन विभक्त्यलोपः
पूर्वपद प्रकृति स्वरत्वं च वक्तव्यमिति समासः ।
आङ् + ऋ गतौ क्तिन्, नकारोपसर्जनम्,
पूर्ववत् प्रगृह्यम् । आर्त्ती अर्तन्यौ वारण्यौ
वारिषण्यौ वा (निरु० ६।३६) । ज्याया ।
जिजये, ज्या वयो हानौ, जु रंहसि गतौ
णिच्, यक् । निपातनात् साधुः । यद्वा
ज्यु गत्याम्, ज्या वयोहानौ अन्येष्वपि
दृश्यते (पा० ३।२।१०१) इति णिजन्ताङ्,
टाप् । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयती
पूनिनि वा (निरु० ६।१७) । यच्छतु । यमेः
लोटि, शपि, इषुपमियमां छ (पा० ७।३।६६)
इति छत्वम् । तिङ्ङितिङ्ङः (पा० ८।१।२८)
इति सर्वानुदात्तत्वम् ॥३॥

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाच-
स्पतिं ह्वयताम् । सं श्रुतेन गमेमहि मा
श्रुतेन विराधिपि ॥४॥

उपहूतः । वाचः । पतिः । उप ।
अस्मान् । वाचः । पतिः । ह्वयताम् । सम् ।

अपनी शक्ति देकर मेरे सहायक न हों ।
इसलिए कहा कि वह वाचस्पति मेरी-
धनुर्ज्या को नियमित करे । उससे नियमित
हुई यह ज्या निश्चय ही लक्ष्य पर शर गिरा
सकेगी । और मुझमें आया हुआ ज्ञान भी
मुझमें ही रहेगा । उत्तर्गद्द का यह भी भाव

होसकता है कि वाचस्पति मेरे ज्ञान को इस
प्रकार नियमित करे जिससे वह मुझमें
ही रहे ॥ ३ ॥

(वाचस्पतिः) वाणी के पति परमात्मा
का (उपहूतः) मैंने आह्वान किया है (वाच-
स्पतिः) वह वाचस्पति प्रभु (अस्मान्) हमारा

अतः होता का चुनाव पूर्ण सावधानी से करना चाहिये। किन्तु होता का चुनाव हो जाने पर उसे पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिये। उसे ब्रह्मा ही रोक सकता है यजमान नहीं। यही बात अगली काण्डिकाओं में कही गई है।

“सो वह यजमान यदि इस होता को पहिली सामिधेनी में टोक दे तो उसे कहे कि तूने अपने सङ्कल्प का प्राण अग्नि में झोंक दिया है। तुझे अपने प्राणों द्वारा विपत्ति झेलनी पड़ेगी। और ऐसा ही होता है अर्थात् उसके विभाग का प्राण निकल जाता है। यदि द्वितीय सामिधेनी में अड़ पड़े तो उसे कहे कि तू ने अपान को आग में झोंक दिया है, सो अपने अपान द्वारा तुझे विपत्ति झेलनी पड़ेगी और वैसा ही होगा। १२। यदि तृतीय में अड़ पड़े तो उससे उदान के सम्बन्ध में इसी प्रकार कहे। १३। यदि चौथी में अड़ पड़े तो कहे कि तू ने अपने श्रोत्र को आग में डाल दिया है। तू अपने श्रोत्र द्वारा विपत्ति पायेगा, बहिरा हो जायगा, और वैसा ही होता है। उसे उसके काम के सम्बन्ध में क्या होना है कुछ ठीक पता नहीं लगता। १४। यदि पाँचवी सामिधेनी में अड़ पड़े तो उससे कहे कि तू ने अपनी वाणी को आग में झोंक दिया है तुझे अपनी वाणी द्वारा विपत्ति पड़ेगी तू गुँगा हो जायगा और वैसा ही होता है। १५। यदि छठी सामिधेनी के समय अड़ पड़े तो उससे कहे कि तू ने अपना

मन आग में झोंक दिया है। सो अपने मन द्वारा तुझे विपत्ति झेलनी पड़ेगी। मानसिक रोग का पकड़ा हुआ बिलकुल मूढ़ होकर विचरेगा। और वैसा ही होता है। १६। यदि सातवीं सामिधेनी पर अड़ पड़े तो उस से कहे कि तू ने अपनी आँख आग में झोंक दी है सो तू आँख द्वारा विपत्ति पाएगा और ऐसा ही होता है। १७। यदि आठवीं सामिधेनी में अड़ पड़े तो कहे तू ने अपना मध्यम प्राण आग में झोंक दिया है। सो अफारे और श्वास रोग से अर्थात् प्रतिलोम वात से मरेगा और वैसा ही होता है। १८। यदि नवीं सामिधेनी में अड़ पड़े तो कहे कि तू ने अपने उपस्थेन्द्रिय को आग में झोंक दिया है। सो तू उपस्थेन्द्रिय से विपत्ति पाएगा। तू नपुंसक हो जावेगा। और वैसा ही होता है। १९। यदि दसवीं सामिधेनी में अड़ पड़े तो उस से कहे कि तू ने अधोगामी प्राण को आग में झोंक दिया है। सो तू अधोगामी प्राण से अपने पर विपत्ति लेगा। मलावरोध द्वारा दम घुट कर मरेगा। और वैसा ही होता है। २०। यदि ग्यारहवीं सामिधेनी पर अड़ पड़े तो उस से कहे कि तू ने सब कुछ बना बनाया आग में झोंक दिया। तेरे सम्पूर्ण शरीर से तुझे विपत्ति उठानी पड़ेगी। शीघ्र ही तू लोकान्तर में चला जायगा और वैसा ही होता है। २१। सो जिस प्रकार सामिधेनी समिन्धन में जिस सामिधेनी का कार्य ठीक न करे उसी सामिधेनी द्वारा अग्नि बिगड़ती

हैं और यजमान का यह बिगड़ता है, इसी प्रकार सामिधेनी-रहस्यवित् सामिधेनी सर्वांग सम्पन्न ब्राह्मण जब कह रहा हैं तो उसके सामने अड़कर विपत्ति उठाता है। २२।” यह अन्तिम कण्डिका सारे प्रकरण का रहस्य है। अब इस प्रकरण का सार लिखते हैं :—

१. होता को प्रगतिशील तथा पड़ताल से घबड़ाने वाला न होना चाहिये। वह प्राण है।
 २. उसे विभाग को हाथ में लेते ही पहिला काम यह करना चाहिये कि सुव्यवस्था उत्पन्न करे। यह आन है।
 ३. सदा नए नए परीक्षण करता रहे। यह उदान है।
 ४. अपनी निन्दा सदा सुने। दूसरों के उपदेश भी सदा सुने। इसके बिना विभाग यशस्वी नहीं होता। यह होता के कान हैं।
 ५. सत्यके प्रकाश करने में किसी से न डरे। किन्तु साथ ही सदा मधुर-भाषी तथा मधुर-वेश हो तथा निष्काम भाव से ज्ञान की वर्षा करे, और इस प्रकार सब के नमस्कार का पात्र बने। यह होता की वाणी है।
 ६. (क) उसमें तीव्र गामिनी प्रतिभा हो।
(ख) उसकी स्मरण शक्ति तत्क्षणोपस्थापिनी हो।
(ग) वह सदा कार्य-तत्पर रहे।
- इन तीनों गुणों को यहां एक शब्द में

इस प्रकार कहा गया है कि होता का मन देवों के लिये घोड़े के समान हो। उसके मन पर सदा देव सवार रहें। यह होता का मन है।

७. वह तेजस्वी और दूरदर्शी होना चाहिये। तथा उसे प्रकाश से प्रेम होना चाहिये। सत्य को देख कर पक्षपातवश घबराए नहीं, चौंधियाए नहीं। यह होता का चक्षु है।
८. समय पड़ने पर उसे ज्ञान वृद्धि के लिए अपने सर्वस्व तथा प्राण तक की भी बाज़ी लगा देनी चाहिये। यह होता का मध्यम प्राण है।
९. उसे पूर्ण जितेन्द्रिय होना चाहिये। उस का वीर्य कभी स्वयं स्खलित न हो। यह होता का उपस्थेन्द्रिय है।
१०. उसे अन्त में देखना चाहिए कि जिस उद्देश्य के लिये चले थे वह पूर्ण हुआ वा नहीं। यदि नहीं तो जिन कारणों से रुका हो उन्हें दूर करना चाहिये। सफलता, पूर्ण सफलता तक पहुँचे बिना नया कार्य हाथ में लेना ऐसा है जैसे शीघ्र न जाना और खाए जाना। सो यह पूर्णता तक पहुँचने का अध्यवसाय होता का अधोमुख प्राण है।

ऐसे होता के काम में जिस अङ्क पर यजमान अड़ेगा वही पूर्ण न होगा। और यदि पूर्ण होने पर कृतघ्नतावश उसको स्वीकार न करेगा तो यजमान की सर्वाङ्ग हानि होगी

और यह शोषण (Exploitation) उसे समूचा नष्ट कर देगा ।

॥ इति चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

इस प्रकार सामिधेनियों का वर्णन करके अब आधारों की ओर आते हैं । आधार सम्बन्धी कण्डिकाएं इस प्रकार हैं :—

तं वाऽएतमाग्निं समैन्धिषत ।
समिद्धे देवेभ्यो जुहवामेति तस्मिन्नेतेऽ
एव प्रथमेऽआहुती जुहोति मनसे चैव
वाचे च मनश्च हैव वाक् च युजौ देवेभ्यो
यज्ञं वहतः ॥ १ ॥ स यदुपांशु क्रियते ।
तन्मनो देवेभ्यो यज्ञं वहत्यथ यद्वाचा
निरुक्तं क्रियते तद्वाग्देवेभ्यो यज्ञं वहत्ये-
तद्वाऽइदं द्वयं क्रियते तदेतेऽएवैतत्सन्तर्प-
यति तृप्ते प्रीते देवेभ्यो यज्ञं वहत इति
॥ २ ॥ सुवेण तमाधारयति । यं मनस-
ऽआधारयति वृषा हि मनो वृषा हि
स्रुवः ॥ ३ ॥ स्रुचा तमाधारयति । यं
वाचऽआधारयति योषा हि वाग्योषा हि
स्रुक् ॥ ४ ॥ तूष्णीं तमाधारयति । यं
मनस आधारयति न स्वाहेति चनानि-
रुक्तं हि मनोऽनिरुक्तं द्वेयतद्यत्तूष्णीम्
॥ ५ ॥ मन्त्रेण तमाधारयति । यं वाच-
ऽआधारयति निरुक्ता हि वाङ्निरुक्ता हि
मन्त्रः ॥ ६ ॥ आसीनस्तमाधारयति ।

यं मनसऽआधारयति तिष्ठंस्तं यं वाचे
मनश्च ह वै वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञं
वहतो यतरो वै युजोर्हसीयान्भवत्युपवहं
वै तस्मै कुर्वन्ति वाग्वै मनसो हपीयस्य-
परिमिततरमिव हि मनः परिमिततरेव हि
वाक्तद्वाचऽएवैतदुपवहं करोति ते सयुजौ
देवेभ्यो यज्ञं वहतस्तस्मात्तिष्ठन्वाचऽ-
आधारयति ॥ ७ ॥ देवा ह वै यज्ञं
तन्वानाः । तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद्भि-
भयाञ्चक्रुस्तऽएतदक्षिणतः प्रत्युदश्रयन्नु-
च्छित्तमिव हि वीर्यं तस्मादक्षिणतस्ति-
ष्ठन्नाधारयति स यदुभयत आधारयति
तस्मादिदं मनश्च वाक्च समानमेव सन्ना-
नेव शिरो ह वै यज्ञस्यैतयोरन्यतर आधा-
रयोर्मूलमन्यतरः ॥ ८ ॥ सुवेण तमा-
धारयति । यो मूलं यज्ञस्य स्रुचा तमाधा-
रयति यः शिरो यज्ञस्य ॥ ९ ॥ तूष्णीं
तमाधारयति । यो मूलं यज्ञस्य तूष्णी-
मिव हीदं मूलं नो ह्यत्र वाग्वदति ॥ १० ॥
मन्त्रेण तमाधारयति । यः शिरो यज्ञस्य
वाग्ध्व मन्त्रः शीर्ष्णो हीयमधि वाग्वदति
॥ ११ ॥ आसीनस्तमाधारयति । यो मूलं
यज्ञस्य निषण्णमिव हीदं मूलं तिष्ठंस्तमा-
धारयति यः शिरो यज्ञस्य तिष्ठतीव
हीदं शिरः ॥ १२ ॥ स सुवेण पूर्वमा-
धारमाधार्याह । अग्निमग्नीत्सम्मृद्धीति

यथा धुरमध्यूहेदेवं तद्यत् पूर्वमाधारमाधा-
रयत्यध्युह्य हि धुरं युञ्जन्ति ॥ १३ ॥
अथ सम्मार्ष्टि । युनक्त्वेवनेमेतद्युक्तो देवे-
भ्यो यज्ञं वहादिति तस्मात्सम्मार्ष्टि परि-
क्राम० सम्मार्ष्टि परिक्राम० हि योग्यं
युञ्जन्ति त्रिस्त्रिः सम्मार्ष्टि त्रिवृद्धि यज्ञः
॥ १४ ॥ स सम्मार्ष्टि । “अग्ने वाजजिद्वानं
त्वा सरिष्यन्तं त्वा वाजजित० सम्माज्मी”
(यजुः २७) ति यज्ञं त्वा वक्ष्यन्तं यज्ञिय
० सम्माज्मीत्येवैतदाहाथोपरिष्ठात्तूष्णीं
त्रिस्तद्यथा युक्त्वा प्राजेत्प्रेहि वहेत्येवमेवैत
त्कश्योपक्षिपति प्रेहि देवेभ्यो यज्ञं वहेति
तस्मादुपरिष्ठात्तूष्णीं त्रिस्तद्यदेतदन्तरेण
कर्म क्रियते तस्मादिदं मनश्च वाक्च
समानमेव सन्नानेव ॥ १५ ॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

पुरोडाश पाक द्वारा एक बालक के
मस्तिष्क का परिपाक बताया गया । उसके
स्नातक बनने की अवस्था बताई गई । हम
उसे एकत, द्वित और जित देवताओं के पास
छोड़ आए थे कि वे उसे राष्ट्र में यथायोग्य
स्थान पर पहुँचा दें । उसके पश्चात् वेदि ने
स्नातिका का वर्णन किया । फिर वही वेदि
कर्त्तव्यशाला का रूप धारण करके आई ।
उसके पश्चात् कर्त्तव्यशाला में सामिधेनी
मिष से होता (Expert) ने प्रवेश किया ।

अब पुरोडाश अर्थात् नवीन स्नातक इस
कार्य में नियुक्त होने अर्थात् इस यज्ञशाला
में आहुति होने आरम्भ है । अध्वर्यु, यज-
मान, होता (प्रबन्धकर्त्ता, स्वामी, विशेषज्ञ)
आदि मिल कर संस्थान (बजट), कार्य-
क्रमादि बनाकर उसके लिये तय्यार रखें ।
सो उसके आने से पूर्व क्या तय्यारी रखनी
होगी जिससे वह निर्दिष्ट मार्ग पर अश्रुण
रूप से चलता रहे यह आधार क्रिया में
बताया गया है । इसके दो भाग हैं । पूर्वा-
धार और उत्तराधार । पूर्वाधार मानस
क्रिया है और उत्तराधार वाचिक । सो पूर्वा-
धार का तात्पर्य यह है कि पहिले होता
आदि अपने अपने मन में निश्चय करलें कि
कार्यक्रम क्या होगा और वह तय्यार करके
ले आवें । फिर आपस में बातचीत करके
निश्चय करलें कि वह क्या रहना चाहिये ।
यह परस्पर संवाद से निश्चित विवादोत्पन्न
रूप वाचिक होने के कारण उत्तराधार और
पहिला मानसरूप पूर्वाधार कहलाएगा ।
होता की सामिधेनियों में मानो अब घृत पड़
गया । अब हविर्ग्रहण के लिये वेदि तय्यार
है । कार्यक्रम निश्चय हो गया । अब नए
कार्यकर्त्ता के लिए क्षेत्र तय्यार है । अब
आहुति निर्धूम जलेगी । कार्य निर्विघ्न
बिना अश्रुपात के होगा । बस यही बात
आधार कर्म में बताई गई है । आधार शब्द
घृ धातु से बना है जिसका अर्थ है “आस-
मन्तात् धारणम्” अर्थात् धार बांधकर अग्नि

में खूब घी डालना । अब कण्डिकाओं का अर्थ सुनिये :—

“सो यज्ञ कर्त्ताओं ने इस अग्नि को प्रदीप्त किया । जिससे कि जब यह प्रदीप्त होजाय तब इस में हवन करें । सो इस में सब से प्रथम यह दो आहुतियाँ हवन करता है । एक मन के लिये एक वाणी के लिये । मन और वाणी यह दोनों देवताओं तक यज्ञ को ढोकर ले जाने वाले वाहनों की जोड़ी हैं यह यज्ञ को देवों तक ले जाते हैं । १। सो जो कर्म उपांशु अर्थात् चुप-चाप किया जाता है (उपांशु उस कर्म को कहते हैं जिसमें ओष्ठचलें किन्तु आवाज़ किसी दूसरे को सुनाई न दे) वह मानों मन यज्ञ को देवों तक पहुँचा रहा है । जो वाणी से बोलकर किया जाता है वह वाणी यज्ञ को देवों तक पहुँचाती है । सो वहाँ यह दोनों कर्म किये जाते हैं । सो यह इन दोनों को तृप्त करता है । जिससे तृप्त होकर यह दोनों यज्ञ को देवों की ओर ढोते हैं । २। जो मन के लिये आधार किया जाना है उस आधार को सुव से करता है । क्यों कि मन नर है सुवा भी नर है ।

(खादिरः सुवः अरत्तिमात्रोऽङ्गुष्ठ-
पर्ववृत्र पुष्करः ।

का० श्रौ० सू० १ । ३ । ३२ । ३८ ।

जो आधार वाणी के लिये किया जाता है उसे सुचा के द्वारा करता है । क्योंकि वाणी नारी है और सुचा भी नारी है । ४। जो मन

के लिये आधार किया जाता है उसे चुप-चाप करता है । स्वाहा शब्द तक नहीं बोलता । क्योंकि मन अस्फुट है, चुप-चाप भी अस्फुट है । ५। जो आधार वाणी के श्रोतन के लिये किया जाता है । उसे मन्त्रोच्चारण पूर्वक करता है । वाणी स्फुट है मन्त्र भी स्फुट है । ६। जो आधार मन के लिये किया जाता है उसे बैठकर करता है । जो वाणी के लिये किया जाता है उसे खड़े खड़े करता है । इस का कारण यह है कि मन और वाणी एक ही गाड़ी में जुतने वाले दो वाहन हैं । दोनों इकट्ठे यज्ञ को देवों तक पहुँचाते हैं । दो एक साथ जुतने वालों में से जो वाहन ऊँचाई में कुछ छोटा होता है उसके लिये कपड़े की गद्दी आदि से सहारा किया जाता है (जिसे उपवह कहते हैं) । वाणी मन से छोटी है । मन अपरिमिततर-सा है । वाणी उसकी अपेक्षा नपी तुली-सी है । इसलिये खड़ा होना वाणी के लिये उपवह करना है । तब वह एक साथ जुतकर यज्ञ को देवों तक पहुँचाते हैं । इसीलिये वाणी के लिये आधार खड़े होकर करता है । ७। देव लोग यज्ञ करते थे । उन्हें भय हुआ कि असुर राक्षस हम में न मिल जावें । सो वे दक्षिण की ओर ऊँचे से चढ़ गए । जो वीर्यवान् होता है वह ऊँचा सा होता है । इसलिये दक्षिण की ओर खड़ा होकर आधार करता है । सो एक आधार उत्तर की ओर और एक दक्षिण की ओर यह जो दोनों ओर आधार करता है इसका

भाव यह है कि मन वाणी वस्तुतः एक ही होकर पृथक् से हैं। क्योंकि वाणी वही तो बोलती है जो मन सोचता है। इन आधारों में एक यज्ञ का मूल है और एक शिर है। ८। जो यज्ञ का मूल है उसे सुव से आधारण करता है जो शिर है उसे सुचा से। ९। जो यज्ञ का मूल है उसे चुप-चाप आधारण करता है क्योंकि जड़ चुप-चाप सी पड़ी होती है वहां कोई वाणी नहीं बोलती। १०। जो शिर है उसका आधारण मन्त्र पूर्वक करता है। मन्त्र वाणी है। और वाणी शिर से प्रकट होती है। ११। जो यज्ञ का मूल है उसे बैठकर आधारण करता है। मूल बैठा सा रहता है। जो शिर है उसे खड़े होकर करता है। शिर खड़ा सा है। १२। सो सुव से पूर्वाधार का आधारण करके आज्ञा देता है 'अग्निमग्नीत् समृद्धि' (अध्वर्यु यह आज्ञा देता है)। सो यह जो पूर्वाधार करता है यह मानों इस प्रकार है जैसे बैल जोतने से पूर्व गाड़ी का जूआ ऊपर उठाए। जूआ उठा कर ही तो वाहन जोते जाते हैं। १३। उसके पश्चात् सम्मार्जन करता है। सो यह इस प्रकार है मानों जोतता है। जुते हुए यज्ञ को देवों तक पहुँचाए इसीलिये सम्मार्जन करता है। परिधि प्रदेश के समीप जाकर सम्मार्जन करता है। वाहन को भी इसी प्रकार जिस ओर के जुए में जोतना होता है उसकी ओर आगे बढ़कर ही जोता जाता है। तीन-तीन

बार सम्मार्जन करता है। यज्ञ है ही तीन लड़ा। १४। सो यह सम्मार्जन के समय मन्त्र पढ़ता है—“अग्ने वाजजिद् वाजंत्वा सरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्जिम” (यजु० २। ७) इसका अर्थ यही है कि तू अब यज्ञ को ढोना चाहता है, तू यज्ञोपयोगी है, तुझे सम्मार्जन करता हूँ। यही कहता है। फिर तीन बार चुप चाप जो मन्त्र मन में बोलता है वह इस प्रकार है जिस प्रकार बैल को जोत कर हाँके, रे चल-चल ढो। इसी प्रकार यहाँ चाबुक मारता है—आगे बढ़, यज्ञ को देवों तक लेजा। इसलिये पीछे चुप चाप तीन बार सम्मार्जन करता है। सो यहाँ जो यह सारी क्रिया की जाती है इसी से पता चलता है मन और वाणी पृथक् से हैं, पर वस्तुतः एक ही हैं। १५।

इन कण्डिकाओं को समझने के लिये पहिले पूर्वाधार तथा उत्तराधार की विधि समझ लेनी चाहिये। जिस समय होता “अग्ने महौ २॥ असिब्राह्मण भारत” इस वाक्य के साथ सामिधेनियों का उप-संहार करे उस समय अध्वर्यु वेद नामक कुशग्रन्थि से आहवनीय को तीन बार, उप-वाजन करके (जिस प्रकार पंखे से सुलगाते हैं इस प्रकार सुलगा कर), वेद ग्रहण किये हुए सुव द्वारा घृत गर्म करके, उत्तर परिधि के समीप जाकर, प्रजापति का ध्यान करते हुए अग्नि के उत्तर भाग में सीधा लम्बा पूर्व-

गामी एक आधार करे। तीन बार उपवाजन का भाव यह है कि त्रयीविद्या अर्थात् वेद की आज्ञा से अनुमोदित ही संविधान बनाना चाहिए। उत्तर परिधि प्रजा की सम्मति का सूचक है। तात्पर्य यह कि संविधान तय्यार करने में सबसे पहिला ध्यान इस बात का होना चाहिये कि इसका प्रभाव प्रजा पर क्या पड़ेगा (देखो पृ० १८२)। आधार ऋजु हो अर्थात् संविधान सरल रेखा के समान कम से कम धन और समय का व्यय करने वाला हो। क्योंकि दो बिन्दुओं के बीच सबसे छोटी रेखा सीधी रेखा होती है। दीर्घ अर्थात् चिरस्थायी पूर्वगामी अर्थात् उन्नतिमुख होना चाहिए। प्रजापति का ध्यान का भाव यह है कि वह अगली सन्तानों के लिये भी हितकारी हो, तथा यजमान के मुख्य सङ्कल्प के तन्तु को अविच्छिन्न रखने वाला हो, जिसकी रक्षा के लिये प्रजा उत्पन्न करके यजमान प्रजापति कहलाता है। ऐसे समय उसे भगवान् को भी प्रजापति (Lord of Creative activity) के रूप में ध्यान करना चाहिए। अध्वर्यु जिस समय आहुति कर रहा हो उस समय यजमान “ओ३म् इदम् प्रजापतये इदन्नमम” कहकर घृत त्याग करे। इसका “प्रजापतये” इतना अंश मन में बोले। उसके पश्चात् अध्वर्यु अग्नीध्र को स्फ्य और इध्म बांधने की रस्सी देता हुआ “अग्निम् अग्नीत्

समृद्धि” यह आज्ञा दे। उसके पश्चात् स्फ्य को बाएं हाथ में लेकर अग्नि की प्रदक्षिणा करके अग्नीत् दक्षिण परिधि के समीप खड़ा होकर इध्म की रस्सियों से दक्षिण परिधि के समीपस्थ अग्नि को पूर्व की ओर “ओ३म् अग्ने वाजजिद्वाजं त्वासरिष्यन्तं वाजजितं सम्मार्जिम” (यजु० २।७) इस मन्त्र से (एक बार बोलकर दो बार चुप-चाप) तीन बार सम्मार्जन करे। फिर वहीं खड़ा रह कर मध्यम परिधि के समीपस्थ अग्नि को उत्तर की ओर तीन बार पूर्वोक्त प्रकार सम्मार्जन करे फिर उत्तर पार्श्व की ओर जाकर उत्तर परिधि के पास खड़ा होकर पूर्ववत् अग्नि को पूर्व की ओर सम्मार्जन करे। फिर वहीं खड़ा रह कर अग्नि के मध्य भाग में पूर्व की ओर चुप-चाप तीन बार सम्मार्जन करे। सम्मार्जन का तात्पर्य अंगारे इकट्ठे करना, भस्मादि दूर करना है। पूर्व की ओर का तात्पर्य यह कि इकट्ठा करने के लिये पश्चिम अथवा दक्षिण की ओर से पूर्व की ओर हाथ चलाए।

इसका तात्पर्य यह है कि संविधान बनाने से पहिले परम्परागत रूढ़ी, राज नियम तथा प्रजा का हृदय जानने के लिये ताज्ञा प्रयत्न करे। यह नहीं कि अपनी कल्पना से तीनों के विषय में स्वयं परिणाम बनाले। और मध्य में अग्नि सम्मार्जन का तात्पर्य यह है कि स्वयं भी हर प्रश्न पर नए सिर से विचार

पूर्वक सम्मार्जन बनाए। चलती रेखा पर आँख मूँद कर न चलता जाए। सब का परिणाम हो उन्नति (पूर्व की ओर)।

फिर अध्वर्यु जुहू और उपभृत् के सामने आहवनीय के पीछे भूमि पर उलटी अञ्जलि रख कर “ओं नमोदेवेभ्यः” (यजु० २।७) यह वाक्य बोले। फिर उस स्थान से दक्षिण की ओर “ओं स्वधा पितृभ्यः” (यजु० २।७) यह वाक्य बोल कर उत्तान अर्थात् हथेली ऊपर कर के बाएँ हाथ से पूर्वाभिमुख रह कर अञ्जलि रखता है। फिर आचमन कर के दोनों हाथों से जुहू पकड़ कर उपभृत् की नोक के ऊपर से लाकर उपभृत् के ऊपर रख कर “सुयमे मे भूयास्तम्” (यजु० २।७) अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं संभ्रियासम्” (यजु० २।८) इस मन्त्र से जुहू और उपभृत् इकट्ठी लेकर उठ कर ओ३म् अङ्घ्रिणा विष्णो मात्वाऽवक्रमिषम् वेदी के उत्तर भाग से आहुति स्थान पर जाकर बाएँ पैर को आगे चलाता हुआ दक्षिण दिशा की ओर जावे। ओ३म् वसुमतीमग्ने तेच्छाया मुपस्थेषम् विष्णोस्थान मसि इस मन्त्र को पढ़ कर फिर वेदी के दक्षिण भाग में ईशानाभिमुख खड़ा रहे।

सर्वत्र यही नियम है कि परिधियों के पीछे की ओर तथा सुबों के सामने से आहुतिस्थान की ओर आवें जावें। जुहू को

उपभृत् के अग्र भाग के ऊपर से पूर्व की ओर उतार कर दक्षिण परिधि के समीप लेजाकर “ओ३म् इत इन्द्रो वीर्यमकृणो दध्वोऽध्वर आस्थात् (यजु० २।८) अग्ने वे होत्रं वे दूत्यमवतां त्वां द्यावापृथिवी अव त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृदेवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत्स्वाहा” (यजु० २।९) इस मन्त्र से आग्नेय कोण में सरल लम्बा लगातार पूर्वगामी उत्तराघार खड़े खड़े करे जिसमें प्रयाज घृत का चतुर्थांश हो।

अब यथाक्रम कण्डिकाओं का गूढ़ाभिप्राय कहते हैं :—

“किसी विभाग का विशेषज्ञ किस प्रकार उस विभाग का परिष्कार करता है तथा उसके कार्य कर्ताओं में जोश भरता है यह सामिधेनी समिन्धन द्वारा वर्णन कर दिया। अब कार्यात्म से पहिले प्रबन्ध कर्ता (अध्वर्यु) का कर्तव्य है कि होता के निर्देशानुसार कार्य विभाग, समय विभाग, सामग्री विभाग आदि सब का संविधान तय्यार कर के सभा में उपस्थित करे। सो उपस्थित करने से पूर्व जो रूप रेखा वह स्वयं तय्यार करता है उसका नाम पूर्वाघार है। और जिसे वह अपने सहयोगियों के साथ विचार पूर्वक तय्यार कर के अन्तिम निश्चय के लिये सभा के सम्मुख उपस्थित करता है वह उत्तराघार है। पूर्वाघार में विशेष निर्देश उद्देश्यों की ओर है। उत्तराघार

अगले पृष्ठ ५१

खंडन मंडन के ग्रन्थ

शास्त्रार्थ दर्पण (उर्दू)—इसमें मिरज़इयों की नोट बुक का उत्तर दिया गया है । ले० म० चिरंजीलाल 'प्रेम' मूल्य ॥) ।

वैदिक स्वर्ग (उर्दू)—मौ० अब्दुलहक की पुस्तक 'वेदों में बहिश्त' का उत्तर दिया गया है । ले० पं० चमूपति जाँ एम० ए० मू० ॥) ।

रह-ए-जहाद वेद—मा० सनाउल्ला के "रसाला जहाद-ए-वेद" का उत्तम उत्तर है । ले० म० श्यामलाल । रिआयती मू०)

त्रिदेव-निर्णय—ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों देवताओं पर वैदिक प्रमाणों के आधार पर अच्छा प्रकाश डाला गया है । ले० पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ । मू० ॥) ।

वेदार्थकोष—ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य से वैदिक शब्दों के अकारादि क्रम से अर्थ लिखे गए हैं । इसमें निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की टिप्पणियाँ भी दी गई हैं । प्रथम भाग प्रस्तुत है । इसमें अकार से लेकर आकार तक के प्रारम्भ होने वाले शब्द आ गए हैं । मू० ५)

शतपथ में एक पथ—पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार द्वारा किये जा रहे शत-पथ के भाष्य के भूमिका रूप में यह पुस्तक है । मू० १)

दयानन्द रत्नमाला—इसमें आर्यसमाज के दस नियमों के पोषक सार्व-जनिक वाक्यों का ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से संग्रह किया गया है । मू० ३)

Immortal Sayings of Dayanand—यह दयानन्द रत्नमाला का अंग्रेजी संस्करण है । मू० ३)

वैदिक धर्म और साइन्स (उर्दू)—वैदिक सिद्धान्त पर एक योग्यता-पूर्ण लिखी हुई पुस्तक है । ले० पं० विशनदास बी० ए० । रिआयती मू० १=)

अध्यक्ष, साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर ।

गुरुकुल-विश्वविद्यालय कांगड़ी के आचार्य
श्री पं० देवशर्मा जी

की

सम्मति

“माननीय पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार शतपथ ब्राह्मण का जो भाष्य ‘आर्य’ पत्र में प्रकाशित करा रहे हैं उसको देखने का सौभाग्य मुझको प्राप्त हुआ है। इसमें कुछ शक नहीं कि वे खान खोदने जैसा एक यत्न-साध्य किन्तु बड़ा कीमती कार्य कर रहे हैं, जिससे वैदिक खजाने के अमूल्य रत्नों के प्राप्त होने का रास्ता बन रहा है। उनके भाष्य से ब्राह्मण ग्रन्थ पुरानी, सुर्दा, बेकार सी चीज के स्थान पर एक जीती जागती, हमारी वर्तमान समस्याओं का हल करने वाली और हमारे नैतिक जीवन से सम्बन्ध करनेवाली काम की चीज दीखने लगती है।

इस भाष्य के पृष्ठ-पृष्ठ पर पण्डित जी की सुविख्यात स्वाभाविक प्रतिभा का परिचय तो मिलता ही है, पर साथ ही यह उनके सपरिश्रम वेदानुशीलन को भी प्रगट करता है। मैं आशा करता हूँ कि वैदिक तत्त्वशोधन का कार्य करने वाले कोई भी इस सुन्दर भाषा से अपने को वंचित नहीं रखेंगे।”

माघ
१९९३

आर्य

Regd. No. L.—2757

वैदिक तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रचारक पत्र

(वार्षिक मूल्य ३)
(एक प्रति 1=)



सम्पादक—
पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर

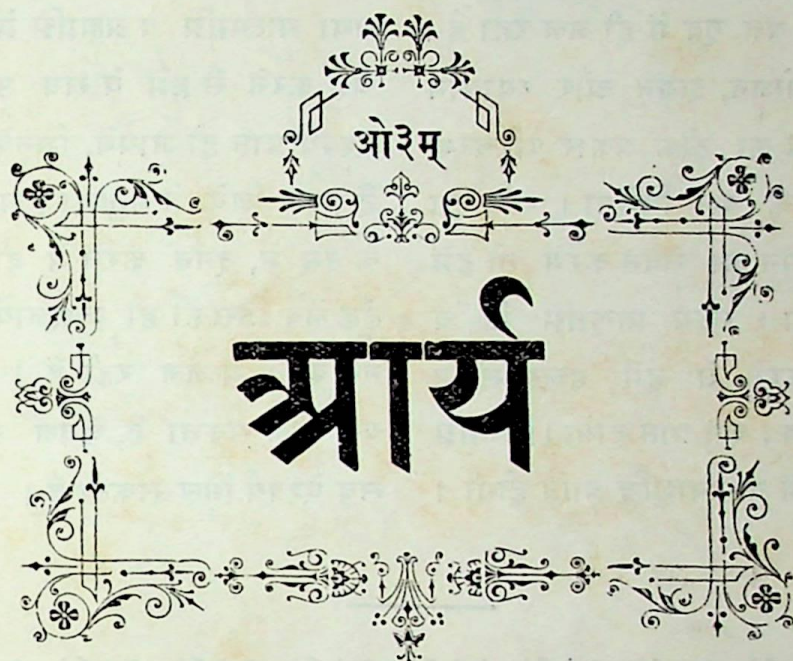
विषय-सूची

सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश	... "अभय"	३५५
२.	वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त	... श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति	३५७
३.	प्राचीन शिक्षा-प्रणाली और आर्यसमाज	... श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु	३६३
४.	सामूहिक मत-परिवर्तन	... श्री पं० केशवदेव जी ज्ञानी, मद्रास	३६५
५.	गुरुकुल और आर्यसमाज	... श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति	
		उपप्रधान आ० प्र० सभा	३६७
६.	वेद और वेद व्यास	... श्री भक्तराम जी ढिंगा	३७०
७.	उपनिषत् और वेदार्थ	... श्री पं० चन्द्रकान्त जी वेदवाचस्पति	३७२
८.	सम्पादकीय—	श्री पं० भगवद्दत्त जी वेदालंकार	३७५
	(क) आर्य का ऋषि-बोधांक	...	
	(ख) अनुसन्धान-विभाग	...	
	(ग) रूस में पड़्यन्त्र	...	
९.	शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य	...	२५७
१०.	अथर्ववेद भाष्यम्	...	३३—४०

आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये, यह आपका कर्तव्य है ।

ग्राहकों से—आर्य अङ्कुरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है । पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये । फिर अङ्कुरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये । इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे । अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये ।

**पत्र-व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
ग्राहक-संख्या, पतेवाली चिट पर लिखी होती है ।**



ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽरावणः ॥

ॐ

भाग १८ }

लाहौर, माघ १६६३, फरवरी १६३७
[दयानन्दाब्द ११२]

} अंक १०

ॐ

वेदोपदेश

अग्नि-पूजा का महत्व

यो अग्निं तन्वो दमे देवं मर्त्तः सपर्यति । तस्मा इदीदयद् वसु ॥

क्र० ८१४४१५

अर्थ—(यः) जो (मर्त्तः) मनुष्य (तन्वः) शरीर के (दमे) गृह में या दमन में (देवं) देव (अग्निं) अग्नि को (सपर्यति) सेवन करता है, यजन करता है (तस्मै) उसके (ईत्) ही लिये [वह अग्निदेव] (वसु) पेशवर्श को दीदयत् देता है।

हे मनुष्यो ! वसु देनेवाले जिस अग्नि को तुम दूँटते हो वह कहीं बाहिर नहीं है । वह तो हमारे अन्दर है, हमारे शरीर में ही विद्यमान है। वह अग्नि हमारे शरीर के घर में, हमारे शरीररूपी यज्ञशाला में नाना प्रकार से जल रहा है, प्रदीप्त हो रहा है।

जो मनुष्य इस शरीर-गृह में जलनेवाले देव अग्नि का ठीक प्रकार पूजन करता है उसे ही वसु, अभीष्ट फल मिलता है। ये देखो, जठराग्नि से लेकर आत्माग्नि व परम आत्माग्नि तक, पार्थिव अग्नि से लेकर परम दिव्य अग्नि तक सब स्वरूपों में अग्नि देव हमारे शरीर रूपी यज्ञ गृह में ही जल रहा है। यदि हम नियमित भोजन, शयन और व्यायाम आदि द्वारा जठर अग्नि का ठीक प्रकार परिचरण करेंगे तो हमें शारीरिक वसु मिलेगा। यदि हम प्राणायामादि से प्राणाग्नि का सेवन करेंगे तो हमें प्राण बल प्राप्त होगा। सूक्ष्म प्राणाग्नि में व इन्द्रियाग्नि में हवन करने से हमें इच्छा-संयम का व शब्दादि विषयों का वसु प्राप्त होगा। नित्ताग्नि की ठीक परिचर्या से हमें वासनाशुद्धि प्राप्ति होगी।

मन रूपी अग्नि का विधिवत् यजन करने से हमें बहु मूल्य विचारों का निधि (खज़ाना) प्राप्त हो जायगा। और बुद्धि अग्नि के पूजन से ज्ञान का दिव्य पेश्वर्य भी हस्तगत हो जायेगा। इसी तरह आत्मसंयम-योगाग्नि में सब प्रकार के कर्मों का हवन करने से तथा आत्माग्नि व ब्रह्माग्नि में नाना प्रकार के उच्च यज्ञ करने से हमें वे सब ऊँचे से ऊँचे अध्यात्म पेश्वर्य प्राप्त हो जायेंगे, जिनके लिये देव भी तरसते हैं। इस लिये, हे मनुष्यो। आओ, हम अपने शरीर के दम मे, दमन करने में ही, उस सच्चे अग्नि को ढूँढ लेवें जिसकी ही ज्वालायें हमारे काय, प्राण, मन आदि में जल रही हैं। उसी के हवन से हमें वसु मिल सकता है, केवल उसी के यजन से हमें सब पेश्वर्य मिल सकता है।

“अभय”

ट्रैक्टों का सिलसिला

सभा का साहित्य विभाग प्रति मास हिन्दी तथा उर्दू में समाजों में प्रचारार्थ मुफ्त बाँटने के लिये ट्रैक्ट प्रकाशित करता है। २५ प्रतियों का एक पैकट प्रति मास मँगवाने पर २) वार्षिक चन्दा है। यदि आप का समाज अभी तक इस ट्रैक्टों के मासिक सिलसिले का ग्राहक नहीं बना तो शीघ्र ही २) मनीआर्डर द्वारा भेज कर इस के अवश्य ग्राहक बन जाइये।

अध्यक्ष—साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

१६. राज्य में करने योग्य कुछ बातें (Some ends to be realised by the state)

१४. ब्राह्मणों को पूरा वाक्-स्वातन्त्र्य प्राप्त हो

अथर्व वेद के पञ्चम काण्ड के १८ वें और १९ वें तथा द्वादश काण्ड के ५ वें सूक्त में ब्राह्मण की गौ को मारने वाले राजा और उसके राज्य को किन-किन आपत्तियों का सामना करना पड़ता है इस बात का विस्तृत वर्णन किया गया है। अथर्व ५।१८, १९ सूक्तों में ३० और अथर्व १२।५ सूक्त में ७३ मन्त्र हैं। इस प्रकार इन १०३ मन्त्रों में ब्राह्मण की गौ को मारने वाले राजा और उसके राष्ट्र पर आने वाला विपत्तियों का वर्णन है। यहाँ हम इन सभी मन्त्रों को उद्धृत करके उनके अर्थ और उन अर्थों की विवेचना नहीं दे सकते। इसके लिये एक अलग ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। अपने आशय को स्पष्ट करने के लिये हम इस खण्ड में, समय और स्थान के अनुसार कुछ ही मन्त्र उपस्थित कर सकेंगे। जो राजा ब्रह्मगवी को—ब्राह्मण की गौ को—मारता है उसको किन आपत्तियों को सहना पड़ता है इसका कुछ नमूना निम्न मन्त्रों में देखिये:—

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।

स ब्राह्मणस्य गामद्याद् अद्य जीवानि मा श्वः ।

अथर्व० ५।१८।२

ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।

ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ।

अथर्व० ५।१८।१०

गौरैव तान् हन्यमाना वैतहव्यां अवातिरत् ।

अथर्व० ५।१८।११

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे ।

तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥

अथर्व० ५।१९।४

तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नमिवोदकम् ।

अथर्व० ५।१९।८

सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य । अथर्व० ५।१९।७

न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ।

अथर्व० ५।१९।१०

न वर्षे मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति ।

नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥

अथर्व० ५।१९।१५

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्रह्मणं क्षत्रियस्य ॥

अप क्रामति सूनुता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः ।

अथर्व० १२।५।५,६

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च
वर्चश्च द्रविणं च ॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च
चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च
पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥

तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य
जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य । अथर्व० १२।५।७-११
अशिता लोकाच्छिनन्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्मा-
च्चामुष्माच्च ॥ अथर्व० १२।५।३८

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वन्त पेलवम् ॥

अथर्व० १२।५।४७

क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीः ।

आघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलवम् ।

अथर्व० १२।५।४८

क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वन्त पेलवम् ॥

अथर्व० १२।५।४९

क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत् तदासीदिदं नु
तदिति ॥ अथर्व० १२।५।५०

आदत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिपः ॥

अथर्व० १२।५।५६

त्वया प्रमूर्णमृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥ अथर्व०
१२।५।६१

अर्थात्—“जो राजा ब्राह्मण की गौ को खा
लेगा उसकी इन्द्रियें उससे द्रोह करेंगी, उसका
आत्मा ही उसे पराजित करेगा, वह आज भले ही
जी ले, कल नहीं जी सकेगा।” “जो सहस्रों पर राज
करते थे, जो स्वयं भी दस सौ थे वे ब्राह्मण की गौ
को खाकर वीतहव्य अर्थात् जिनकी खाद्यसामग्री नष्ट
हो गई है ऐसे होकर पराजित हो जाते हैं।” “मारी
जाती हुई ब्राह्मण की गौ उसे मारने वालों को वीत-
हव्य बना कर मार देती है।”

सन्तप्त की हुई ब्राह्मण की गौ जब तक चारों ओर
तड़पती रहती है, वह राष्ट्र के तेज को नष्ट कर देती
है। और इस कारण राष्ट्र में कोई वृष शील वीर पुरुष
नहीं उत्पन्न होता।” “वह ब्राह्मण की गौ को मारना-
रूप कर्म राष्ट्र को बहा देता है, जैसे कि टूटी हुई
नाव को पानी बहा देता है।” “वह मारी हुई ब्राह्मण
की गौ ब्रह्मज्य अर्थात् ब्राह्मण को मारने वाले राजा
के राष्ट्र को कम्पा देती है।” “ब्राह्मण की गौ को
खाकर राष्ट्र में कोई जागता नहीं रह सकता।”
“ब्रह्मज्य राजा के राज्य में मित्र और वरुण^१
अर्थात् सूर्य और वायु द्वारा किया जानेवाला वर्षा-
जल नहीं बरसता, ऐसे राजा की “समिति” कार्य-
समर्थ नहीं हो पाता और न ही वह मित्रों को अपने
वश में ला सकता है।” “ब्राह्मण की उस गौ को
लेने वाले और इस प्रकार ब्राह्मण को मारने वाले
क्षत्रिय (राजा) की प्रिय सत्य वाणी चली जाती
है, वीर्य चला जाता है और मंगलमयी लक्ष्मी भी
चली जाती है।” “ओज, तेज, सहन सामर्थ्य, बल,
वाणी, इन्द्रियें, श्री, धर्म, ब्रह्मशक्ति, क्षत्रशक्ति राष्ट्र,
प्रजायें, प्रताप, यश, वर्चस, धन, आयु, रूप, नाम,
कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, पयस, रस, अन्न,
अन्नाद्य, ऋत, सत्य, इष्ट, पूर्त, सन्तान और पशु ये
सब उससे चले जाते हैं जो क्षत्रिय (राजा) ब्राह्मण
की गौ को ले लेता है और इस प्रकार ब्राह्मण को
मार देता है।” “खाई हुई ब्राह्मण की गौ ब्रह्मज्य
राजा को इस और उस दोनों लोकों से काट गिराती
है।” “ब्राह्मण की गौ को मारने वाला राजा शीघ्र
ही मार दिया जाता है और उसके मारे जाने पर
गृध्र शब्द करते हैं।” “ब्राह्मण की गौ को मारने

१. वेद में मित्र का अर्थ ओषजन (Oxygen) और

वाला राजा शीघ्र ही मार कर जला दिया जाता है और उसके जलने के स्थान के चारों ओर उसके कुटुम्ब की स्त्रियों हाथों से छाती पीटती हुई बाल बखेरे हुए, बिहल होकर नाचती हैं और बुरे शब्द करती हैं।” “ब्राह्मण की गौ को मारनेवाले राजा के घर शीघ्र ही उजड़ जाते हैं उनमें भेड़िये आदि जंगली जानवर शब्द करने लगते हैं।” “ब्राह्मण की गौ को मारनेवाले राजा की और उसके निवास-स्थानों की शीघ्र ही ऐसी दुरवस्था हो जाती है कि लोग उन्हें देखकर आपस में पूछते हैं कि क्या जो पहले था वह यही है ?” “हे ब्राह्मण की गौ मारी हुई तू मारने वाले राजा के तेज इष्ट, पूर्व और कामनाओं को हर लेती है।” “हे ब्राह्मण की गौ तेरे द्वारा मारे हुए दुर्विचारी राजा को अग्नि जला डाले।”

अब देखना यह है कि इन सूक्तों में आने वाले गौ शब्द का क्या अभिप्राय है। इन सूक्तों पर सायण का भाष्य उपलब्ध नहीं होता। विदेशी भाष्यकार और उनके पीछे चलने वाले भारतीय टीकाकार इनमें प्रयुक्त हुए गौ शब्द का अर्थ, ‘अघात’, ‘जग्धवा’, ‘अशिता’ आदि भक्षणार्थक पदों, ‘हन्यमाना’, ‘जिनतः’ आदि मारणार्थक पदों तथा गो-पशु पर लगते प्रतीत होने वाले कुछ आलङ्कारिक वर्णनों के आधार पर, गो-पशु करते हैं। यह अर्थ सूक्तों के भाव के साथ संगत प्रतीत नहीं होता। यह समझ में नहीं आता कि यदि कभी कोई राजा ब्राह्मण की किसी गौ को मार बैठे तो उस पर और उसके राज्य पर ऐसी घोर विपत्तियाँ, जिनका इस सूक्त में वर्णन किया गया है, कैसे आजायेंगी। साथ ही इन सूक्तों में गौ के जो विशेषण आये हैं उनमें से अधिकांश गो-पशु पर घट ही नहीं सकते। उदाहरण के लिये, अथर्व १२।५ के प्रथम पद्यांश में गौ के जो विशेषण आये हैं

अमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वितर्ते श्रिता ॥१॥
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥२॥
स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्युढा दीक्षया गुप्ता
यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥३॥
ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोधिपतिः ॥४॥

अर्थात्—“अम और तप से बनाई गई, ब्रह्म (वेद) से प्राप्त की गई, सत्य ज्ञान पर आश्रित,” “सत्य, श्री और यश से ढकी हुई,” “स्वधा से सहारा दी गई, श्रद्धा से उठाई हुई, दीक्षा से रक्षित, यज्ञ में प्रतिष्ठित, यह सारा लोक (संसार) जिसका स्थिति स्थान (निधनम्) है,” “ब्रह्म (परमात्मा) जिसका पदवाय (पैरों को बाँधने वाली रज्जु) है, ब्राह्मण जिसका अधिपति है।”

गौ के ये विशेषण गो-पशु में किसी प्रकार भी संगत और चरितार्थ नहीं हो सकते। अथर्व ५।१८।३ में इस गौ को “अघविषा पृदाकूरिव” अर्थात् सर्पिणी की तरह घोर विपैली कहा है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि गो-पशु में विष बिलकुल भी नहीं होता। लाखों मांसाहारी लोग प्रतिदिन गौओं को मारकर खाते हैं। यदि गौ में साँप जैसा विष होता तो वे उसके मांस को खाते ही मर जाया करते। गौ को खाने से घोर विपत्तियाँ आजाती हैं इसलिये आलङ्कारिक रूप से गौ को घोर विपैली कहा हो सो बात भी नहीं बनती है। देशी और विदेशी जो लाखों—नहीं, करोड़ों—लोग गौओं का मांस प्रतिदिन खाते हैं उनपर और उनके राष्ट्रों पर प्रत्यक्ष में तो कोई घोर विपत्तियाँ आती हुई नहीं दीख पड़तीं। ब्राह्मण लोगों की गौओं में ही कोई ऐसा चमत्कार होता हो यह प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता।

१. निधीयतेऽनेति निधानम्। अधिकरणे लुट्। आन्ध्र

इसके अतिरिक्त इन सूक्तों में अनेक स्थानों पर गौ को लेना और मारना ब्राह्मण को ही मारना कहा गया है। उदाहरण के लिये निम्न मन्त्रों को देखिये—

यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नम् । अथर्व ५।१८।४

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानः । अथर्व ५।१८।५

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोऽरिव ।

अथर्व ५।१८।६

अन्नं यो ब्राह्मणान् मत्त्वः स्वाद्विज्ञीति मन्यते ।

अथर्व ५।१८।७

प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभवं पराभवन् ।।

अथर्व ५।१८।१२

यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति । अथर्व ५।१८।१३

अग्नौ राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।

रा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ।

अथर्व ५।१९।६

ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ।

अथर्व ५।१९।८

अर्थात्—“जो ब्राह्मण को अपना अन्न समझता है।” “जो इस ब्राह्मण को मृदु समझकर मारता है।” “ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिये वह अपने प्यारे शरीर के अग्नि की तरह उपयोगी है।” “जो तुम्हें ब्राह्मणों को मारकर समझता है कि मैं स्वादु अन्न खा रहा हूँ।” “ब्राह्मणों की प्रजा को मारकर ऐसे पराजय को प्राप्त हुए जिसकी संभावना भी नहीं थी।” “जो देवों के बन्धु ब्राह्मण को मारता है।” “जो राजा अपने को उग्रशक्ति वाला मानकर ब्राह्मण को खा जाना चाहता है, उसका वह राष्ट्र वह जाता है जहाँ ब्राह्मण मारा जाता है।” “जहाँ ब्राह्मण को मारते हैं उस राष्ट्र को दुर्वस्था मार देती है।”

वर्णन है। ब्राह्मण की गौ को मारने का वर्णन करने वाले कुछ मन्त्र पाठक ऊपर देख ही चुके हैं। इस प्रकार ब्राह्मण की गौ को मारना और ब्राह्मण को मारना इन सूक्तों में एक कर दिये गए हैं। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र भी देखिये—

अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः ।

द्वयास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमवधूनुते

ब्रह्मज्यस्य । अथर्व ५।१९।७

अर्थात्—“यह गौ आठ पैरों वाली, चार आँखों वाली, चार कानों वाली, चार ठोडियों वाली, दो मुँह और दो जिह्वाओं वाली बनकर अपने मारने वाले ब्रह्मज्य राजा के राष्ट्र को कम्पा देती है।”

इस मन्त्र में गौ को मारने वाले राजा को ब्रह्मज्य कहा है। यह शब्द ब्रह्मपूर्वक ‘ज्या वयोहानौ’ धातु से बनता है। इसका अर्थ है ब्राह्मण को मारने वाला। इस से तो नितान्त स्पष्ट है कि इन सूक्तों में गौ को मारना ब्राह्मण को ही मारना है। राजा के लिए ब्रह्मज्य शब्द का प्रयोग केवल इसी मन्त्र में नहीं हुआ है। और भी कितने ही स्थानों पर इन सूक्तों में राजा के लिये ब्रह्मज्य विशेषण का प्रयोग हुआ है। तो वह गौ कौनसी है जिसके मार देने से ब्राह्मण मर जाता है अथवा ब्राह्मण के मार दिये जाने पर जो स्वयं मर जाती है? इस मन्त्र में यह भी कहा है कि यह गौ ऐसी है कि यदि इसे मार दिया जाय तो यह एक के स्थान में दो बन जाती है—इसके चार के आठ पैर हो जाते हैं, इत्यादि। सामान्य गौ-पशु में तो यह सामर्थ्य है नहीं। तो वह कौनसी गौ है जो मार दिये जाने पर दुगुनी हो जाती है? इसी भाँति अथर्व ५।२०।५ सूक्त के निम्न मन्त्रों में भी ब्राह्मण की गौ को लेने वाले—छीनने वाले—राजा को ब्राह्मण को मारने

इन मन्त्रों में स्पष्ट ही ब्राह्मण को मारने का वाक्य कहा है :—

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रि-
यस्य । अथर्व० १२।५

तानि सर्वाण्यपक्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य ।

जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ अथर्व० १२।५।११

सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्या दीयमाना मृत्योः

पट्वीश आचति ॥ अथर्व० १२।५।१५

अर्थात्—“जो क्षत्रिय (राजा) ब्राह्मण की गौ को छीन कर ब्राह्मण को मारता है ।” “जो क्षत्रिय (राजा) ब्राह्मण की गौ को छीन कर ब्राह्मण को मारता है उसकी ये सारी बातें जाती रहती हैं ।” “छीनी गई वह ब्राह्मण की गौ ब्राह्मण को मारने वाले, विद्वानों को सताने वाले (देवपीयुं) राजा को मृत्यु के बन्धन में बांध देती है ।”

इन मन्त्रों में पाठक एक बात और देखें । यहाँ गौ के लिये लेने—छीनने—का प्रयोग हुआ है, मारने का नहीं । परन्तु इस गौ का छीन लेना ही मानो ब्राह्मण को मार देना है । यहाँ स्पष्ट ही ब्राह्मण के लिये ‘मारने’ शब्द का प्रयोग आलङ्कारिक है । क्योंकि वास्तव में इन मन्त्रों में ब्राह्मण मारा नहीं गया है । उसकी तो केवल गौ छीनी गई है । उसकी गौ छिन जाने से ही वह भानो मर गया है । जैसे मर जाने से कोई व्यक्ति किसी उपयोग का नहीं रहता वैसे ही ब्राह्मण की गौ छिन जाने से ब्राह्मण की भी उपयोगिता नष्ट हो जाती है । इसलिये वह मानो मर ही जाता है । इससे हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि उसे यहाँ ब्राह्मण के लिये ‘मारने’ का प्रयोग आलङ्कारिक है वैसे ही अन्यत्र गौ के मारने का वर्णन भी आलङ्कारिक समझना चाहिये । इन मन्त्रों में गौ को मारा नहीं गया है, उसे केवल लिया गया है—छीना गया है । इससे स्पष्ट है कि इन सूक्तों की दृष्टि में ब्राह्मण की गौ को छीनना और मारना एक ही बात है । ‘मारने’ का

प्रयोग केवल आलङ्कारिक है । अन्यत्र सूक्तों में ब्राह्मण के लिये जो ‘मारने’ का प्रयोग हुआ है उसे प्रसिद्धार्थ में लेने पर भी कोई हानि नहीं है ।

तो यह गौ कौन सी है जिसके छिन जाने से ब्राह्मण मर जाता है ?

यदि गौ का अर्थ गो-पशु ही लेना है तो उपर्युक्त सारी बातें समझ में नहीं आतीं । तब इन सूक्तों में गौ का अर्थ क्या करना चाहिये ? हमारी सम्मति में यहाँ गौ का अर्थ वाणी करना चाहिये । निघण्टु १।११ में गौ का अर्थ वाणी किया भी गया है । सायण और विदेशी भाष्यकार स्वयं भी वेद में अनेक स्थलों पर गौ का अर्थ वाणी करते हैं । गौ का अर्थ वाणी तो लौकिक संस्कृत साहित्य में भी अति प्रसिद्ध है । यदि यहाँ गौ का अर्थ वाणी कर लिया जाय तो संगति की कोई कठिनाई नहीं रहती । गौ के “श्रम और तप से उत्पन्न हुई” आदि सारे विशेषण ब्राह्मण की वाणी में बड़े सुन्दर संगत होते हैं । आदर्श ब्राह्मणों की वाणी में ये सारे गुण पाये जाते हैं । ब्राह्मण की वाणी को मारना ब्राह्मण को मारना ही है । ब्राह्मण लोग अपनी वाणी से सत्य, न्याय और धर्म की बातों का प्रचार करते हैं । यदि उनकी वाणी को राजा छीन ले, मार दे—उन्हें राष्ट्र में सत्य, न्याय और धर्म का प्रचार न करने दे—तो ब्राह्मण एक प्रकार से मार ही दिया जाता है । राष्ट्र के लिये उसकी उपयोगिता को नष्ट कर देना उसे मार देना ही है । तो इस प्रकार ब्राह्मण की वाणी को मारने से ब्राह्मण मर ही जाता है । ब्राह्मण को मारने से ब्राह्मण की वाणी तो निःसन्देह ही मर जाती है । यदि राजा ब्राह्मण को फांसी पर चढ़ा दे या गोली से मरवा दे तो उसके मर जाने से उस की वाणी द्वारा होने वाला सत्य, न्याय और धर्म का प्रचार राष्ट्र में नहीं हो सकेगा । क्योंकि उसके

मरने से उसकी वाणी भी मर गई। ब्राह्मण की वाणी को मारने वाले या ब्राह्मण को मारने वाले राजा और उसके राष्ट्र का नाश हो जायेगा यह भी समझ में आ जाता है। क्योंकि ब्राह्मण लोग निःस्वार्थ, परोपकारैकपरायण, प्रजा और राजा के ही वास्तविक हित की दृष्टि से सब कुछ कहने और करने वाले, निष्काम कार्यकर्ता, तत्त्वदर्शी विद्वान् होते हैं इसलिये वे जो कुछ बोलते हैं राष्ट्र के भले के लिये सत्य, न्याय और धर्म की बात ही बोलते हैं। ऐसे लोगों की बात को जो राजा सुनता नहीं, जो उन्हें कारागारों में ठूस देता है अथवा मृत्यु के घाट उतरवा देता है, ऐसे राजा और उसके राष्ट्र का भारी अहित होना—उस पर भाँति-भाँति के दुःखों, संकटों और विपत्तियों का आना—सर्वथा स्वाभाविक ही है। ऐसे ब्राह्मणों को सता कर, उनकी वाणी को सत्य, न्याय और धर्म का प्रचार करने से रोक कर कोई राजा यह न समझ बैठे कि चलो बात समाप्त हुई, निश्चिन्तता हुई। नहीं, इन लोगों की इस वाणी-रूपी गौ में अद्भुत शक्ति है। यदि तुम एक को मार दोगे तो वह दो बन कर उठेगी। यदि राजा ने एक ब्राह्मण पर अत्याचार करके उसको मार दिया और सत्य, न्याय और धर्म के प्रचार को रोक दिया तो उसकी जगह वैसे दो ब्राह्मण और उत्पन्न हो

जायेंगे। यह ब्राह्मणों की—सत्य और न्याय के प्रचारकों की—परम्परा नष्ट नहीं होने की। भला इसी में है कि राजा ब्राह्मणों की बात को ध्यान से सुने और उसके अनुसार शक्ति-भर चलने का प्रयत्न करे। इसी में उसका और राष्ट्र का—दोनों का—कल्याण है।

यदि इन सूक्तों में गौ का अर्थ वाणी कर लिया जाय तो इन सूक्तों का अभिप्राय यह निकलेगा कि राष्ट्र में ब्राह्मणों को पूरा वाक्-स्वातन्त्र्य (Freedom of Speech) होना चाहिये। वह उपदेश और अध्यापन द्वारा, सत्य, न्याय और धर्म समझ कर राष्ट्र में जिस बात का प्रचार करना चाहें स्वच्छन्दता से कर सकें। यह बात भी देखने योग्य है कि ब्राह्मण कोटि के लोगों को ही वेद ने पूरा वाक्-स्वातन्त्र्य का अधिकार दिया है। दूसरे लोगों को नहीं। दूसरे लोगों का यह अधिकार सीमित रहेगा। परन्तु यह स्मरण रहे कि वेद का धर्म जन्म से किसी को ब्राह्मण नहीं मानता। वहाँ गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर ब्राह्मणत्व देखा जाता है। एक चाण्डाल को भी ब्राह्मण बनने का पूरा अधिकार है। इसीलिये वेद ने आदेश दिया है, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, कि राजा का कर्तव्य है कि वह राष्ट्र में सब के लिये निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करे।

वेद में क्या लिखा है

यह जानना चाहने वाले प्रत्येक आर्य पुरुष को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के मासिक पत्र आर्य का ग्राहक बनाना चाहिये। वेद के गूढ़ रहस्यों को बताने वाली जितनी सामग्री “आर्य” में रहती है उतनी और किसी पत्र में नहीं मिल सकती। “आर्य” का वार्षिक मूल्य केवल ३) है। “आर्य” को पढ़िए और वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने की अपनी प्रतिज्ञा को चरितार्थ कीजिये।

—: प्राचीन शिक्षा-प्रणाली और आर्यसमाज :—

(ले०—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु)

[गतांक से आगे]

विचित्र मिश्रण

आर्यसमाज की “गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली” न तो विशुद्ध प्राचीन प्रणाली है और न ही अँगरेज़ी स्कूलों या कालेजों की ही प्रणाली। यह प्रणाली तो इन सबका विचित्र संकर (Mixture) है। प्राचीन प्रणाली की अपेक्षा स्कूल या कालेज की शिक्षा-प्रणाली के ही अधिक निकट है।

बताइये ! यदि एक ब्रह्मचारी १४ या १५ वर्ष गुरुकुल में रहा इस बीच में कितने ही आचार्य बदले, अब उसने जिस आचार्य से प्रारम्भ में दीक्षा ली थी, समावर्त्तन के समय तक तो पुराने आचार्य वकालत या दुकानदारी या किसी स्कूल या अपने घर में काम करने लग गये। अन्तिम दीक्षा के समय आरम्भ के “मम व्रते ते हृदयं दधामि” में अपने हृदय को तुम्हारे हृदय के अनुकूल बनाता हूँ, इस प्रतिज्ञा का कुछ भी अर्थ या मूल्य हो सकता है ? हाँ, यों ही मुख-मस्तीति वक्तव्य हो तो दूसरी बात है।

सभाएँ आचार्यों को नियत करें ऐसा किसी शास्त्र में लिखा नहीं मिलेगा बदलने का अधिकार भी समाजों को है इसका भी कोई प्रमाण नहीं।

सभा या राजा तो उनके सेवक तथा पोषक हैं। उनको बदलने का अधिकार नहीं है। हाँ अनर्थकारी होने पर राजा पूरा दण्ड भी दे सकता है। जब आचार्य ही नहीं गुरु ही नहीं तो भला “गुरुकुल” कैसा ? उसका तो नाम ही “गुरुकुल” नहीं हो सकता। वर्तमान में आर्यसमाज की ये संस्थाएँ न गुरुकुल हैं न पाठशाला, स्कूल। इन सब प्रणालियों का एक अद्भुत संकर (mixture) हैं।

क्या किसी भी गुरुकुल में बच्चों के साथ पुत्रवत् व्यवहार होता है ? कदापि नहीं, यह मैं विश्वास से कह सकता हूँ। कोई करने वाले हों और करना भी चाहें तो प्रक्रिया में दोष होने से कर भी नहीं सकते। भला जब बच्चे को यह पता लग जावे कि मेरे माँ या बाप किसी दूसरे के यहाँ ले जायँगे मेरा बाप या गुरु नया आने वाला है तो भला स्नेह कभी हो सकता है।

इसीलिये बीमार होने पर बालकों को यथोचित देख रेख तक भी नहीं हो पाती। हो ही नहीं सकती धन की कमी न होते हुए भी प्रक्रिया ठीक न होने के कारण यथोचित व्यवस्था बने भी कैसे।

“ध्वाङ्क्षेण क्षेपे” अष्टाध्यायी के इस सूत्र पर महा भाष्यकार पतञ्जलि मुनि कहते हैं।

“यथा तीर्थं काका न चिरं स्थातारो भवन्त्येवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति”।

यदि शिष्य “तीर्थकाक” हो सकता है तो आचार्य को क्या कहा जावे ?

अरे साहब ! इन आचार्यों का हाल भी सुन लीजिये। किसी भी वेदाङ्ग का पूरा ज्ञान नहीं रुपया माँगने में वर्ष भर नहीं तो ८ मास बाहर पढ़ने पढ़ाने से शत्रुता (पढ़ाने की सामर्थ्य हो तो पढ़ावें) लैटर पेपर “आचार्य अमुक विद्यालय छपवाने में लगता ही क्या है।

बड़े-बड़े विद्वान् कुछ रुपयों में ही इन रुपयों को मिल भी जाते हैं। बस पाठ विधि बन आज्ञा निकालने पार्टियाँ बनाते रहना, दफ्तर

शासन, फ़ाइलों को अप-टू-डेट बनाकर रखना, वस यही काम होता रहता है।

हाँ “आचारं ग्राहयति आचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा” शास्त्र के इस वचनानुसार यदि केवल आचार ही ग्रहण करा सकते तब भी पर्याप्त था सो भी बाहिर रहने से नहीं बन पाता। जिन महा-नुभावों ने इतना भी पालन किया है वे सब हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

यदि कहीं एक ही व्यक्ति आचार्य—मुख्या-धिष्ठाता हुआ तब तो भली नहीं तो पार्टियों का बाज़ार और भी गरम रहता है। जो धन लाने में चतुर (चाहे वह किसी तरह भी आये) पार्टी-बाजियों में पटु-अधिकारियों को फँसाये रहे वही इस पद के योग्य हो सकता है।

ऋषि दयानन्द के विचारों के विपरीत

गुरुकुलों में आचार्य बदलने की बात ऋषि दयानन्द के लेख में तो क्या सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में भी नहीं मिलेगी। आर्यसमाज या आर्य संस्थाओं की चन्दाचयन की वर्तमान प्रथा ऋषि के भाव से सर्वथा विपरीत है।

विद्वानों पर सभाओं या समाजों का जो शासन चल रहा है वह ऋषि के अभिप्राय के सर्वथा विरुद्ध है। ऋषि ने लिखा है—

“अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनम्।

सहस्रशः समेतानां परिपत्वं न विद्यते ॥”

जो ब्रह्मचर्य सत्य भाषणादि व्रत-वेद विद्या वा विचार से रहित, जन्म मात्र से शूद्रवत् वर्तमान हैं उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती। सत्यार्थ प्रकाश पृ० १४७

कहाँ—“एकोऽपि वेदविद्वर्मं यं व्यवस्येद्विजोत्तमः।” की व्याख्या, कहाँ वेद ज्ञान से शून्य बाबुओं का शासन।

आर्यसमाज में जब तक सदाचारी, निर्भीक विद्वान् ब्राह्मण, आचार्य, पुरोहित तथा संन्यासी न

होंगे तब तक झगड़े कभी नहीं समाप्त होंगे।

ऐसे निष्पक्ष सदाचारी जब तक समाज का सञ्चालन न करेंगे तब तक त्रिकाल में भी कल्याण नहीं हो सकता।

जब आर्यसमाज के वोटिङ्ग में म्युनिसिपैलिटी तथा कौंसिल के वोटिंग की तरह सत्यासत्य का कुछ भी विवेक नहीं रहा तो आर्यसमाज को जीता समझना अपने आप को धोखा देना है।

इस प्रकार जब तक सभाएँ या समाजें विद्वानों का समुचित आदर न करेंगी, शिक्षा-प्रणाली में ऋषिदयानन्द कृत पाठ विधि का आश्रय नहीं किया जावेगा—ऋषि प्रदर्शित सिद्धान्तों के सच्चे भक्त सदाचारी आर्य विद्वानों या संन्यासियों को गुलाम न समझते हुए उनकी आज्ञाओं को शिरोधार्य नहीं किया जायगा, काशी जैसे क्षेत्र में प्राचीन रीति नीति पर विशाल योजना नहीं बनाई जावेगी, इस प्रकार के आर्य विद्वानों की एक परिपद न बनाई जावेगी, प्रान्तीय या निज संस्थादि के पक्षपात की भावनाएँ न भिट जायेंगी तब तक आर्य समाज का स्वरूप उज्ज्वल नहीं बन सकता।

जब तक आर्य समाज जैसा समुन्नत समुदाय उज्ज्वल न बनेगा तब तक देश का भविष्य भी अन्धकार मय रहेगा।

लगभग २० वर्ष इसी आर्य प्रणाली में यथा शक्ति काम करते हुए प्राप्त अनुभव के नाते शुद्ध भावना से उपस्थित किये गये इन विचारों से सम्भव है कि कुछ लाभ हो सके।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के लिये कृतप्रतिज्ञ आर्यसमाज ही अर्वाचीन पाश्चात्य संस्कृति का उपासक बन जावे, तब तो प्राचीन संस्कृति के उद्धार की आशा सदियों के लिये छोड़ देनी पड़ेगी।

इन विचारों के साथ मैं अपने इस लेख को समाप्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि आर्य सज्जन मेरे इन विचारों को सद्भावना से विचारेंगे।

सामूहिक मत-परिवर्तन

[लेखक—पंडित केशवदेव ज्ञानी, मद्रास]

कई भोले समालोचक प्रायः कहा करते हैं कि आर्य समाज क्यों व्यर्थ में मुसलमानों व ईसाइयों का विरोध करता है। जिन्हें मुस्लिम व ईसाई मत-परिवर्तन की ख्वाहिश है उन्हें क्यों हिन्दूधर्म में मजबूर किया जाय। धर्म-विषय में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता होनी चाहिये। व्यर्थ में अन्य मतों की समालोचना अपनी ओछी मनो-वृत्ति का परिचय देती है।

यहाँ हम उपरोक्त समालोचक को बतलाना चाहते हैं कि मत परिवर्तन और विशेषतः सामूहिक रूप में, धर्म की आन्तरिक प्रेरणा से नहीं होता अपितु अन्य कारणों से जिनमें राजनीतिक भावनाएँ मुख्य हैं।

पहिले हम इस्लाम को लेते हैं। अरब के प्रथम खलीफ़ा से लेकर दिल्ली के अन्तिम मुग़ल सम्राट् तक अपने मत परिवर्तन के प्रोग्राम में राजनीतिक भावनाओं से प्रभावित थे। और यही कारण है कि इस्लाम का प्रायः सारा इतिहास काफ़िरों के खून से लिखा गया है।

अतिरिक्त, वर्तमान समय की मुस्लिम कार्य प्रणाली स्पष्टतः संख्या-वृद्धि की दृष्टि से है जिसके आधार में राजनीतिक भावनाएँ खुले रूप में कार्य कर रही हैं। उत्तर भारत के मुस्लिम नेताओं की अनेक गुप्त मन्त्रणाएँ बाहिर आई हैं जिनसे साफ़ पता चलता है कि उनका उद्देश्य येन केन प्रकारेण भारत में मुस्लिम-मैजारिटी करने का है। और इसी लिये वो आज कल हरिजनों की सहायता के लिये दिवाने हो रहे हैं।

अब हम ईसाइयत पर आते हैं।

बाइबल में ईसामसि ने स्पष्ट कहा है:—

“अपनी किश्तियां चला कर मेरे पीछे आओ। मेरी बादशाहत यहाँ की नहीं है। मेरा राज्य वहाँ है जहाँ मेरा पिता रहता है—ऊपर स्वर्ग में। केवल मात्र मेरा नाम दोहराने से मेरे अनुयायी नहीं बनते। इसके लिये मेरी बतलाई धार्मिक-आज्ञाओं का पालन करना आवश्यक है।”

उपरोक्त पंक्तियों से पता चलता है कि ईसामसि को इस भूमि पर अपनी राजशक्ति बढ़ाने की इच्छा न थी। उसका उद्देश्य तो “स्वर्गराज्य” व त्याग और तपस्या के जीवन द्वारा संसार को सुखी बनाना था। यही ईसाई भावना हम सेंट्र पाल आदि प्रथम ईसाई-प्रचारकों में पाते हैं। परन्तु धीरे-२ यहाँ भी राजनीति ने घर करना शुरू किया और पिछली सदियों में “बाइबल”, “विज़नस” और “व्यूरो क्रेसी” ये तीनों शब्द इकट्ठे कहे जाने लगे। अर्थात्, किसी भी नये स्थान पर अंग्रेज़ लोग पहिले पादरी को बाइबल-प्रचार के बहाने भेजते हैं। बाद में व्यापार शुरू करते हैं। और धीरे-२ ब्रिटिश राज का जाल फैलाते हैं। इसके प्रमाण रूप भारतवर्ष, ईस्ट अफ़्रीका तथा अन्य कालोनी ली जा सकती हैं।

हमारे देश में गवर्नमेंट का ईसाइयों पादरियों से प्रेम जन-प्रसिद्ध है। इसमें कुछ तो ‘गोरी चमड़ी’ कारण है और अधिक राजनीतिक भावना। जैसे ईसाई पादरी राजभक्त हैं वैसे ही उनके काले अनुयायी। गवर्नमेंट निःसन्देह ईसाइयों को अपने

पक्ष में समझती है। और हमारी सम्मति में पादरियों और गवर्नमेंट का एक अलिखित इकरार नामा है। इसके अनुसार पादरी अपनी तमाम भेड़ों को अन्ध-राजभक्ति का पाठ पढ़ावेंगे और गवर्नमेंट यथाशक्ति उनकी शिक्षा संस्थाएं और हस्पताल आदि में आर्थिक सहायता देगी।

पिछले दिनों मद्रास के प्रसिद्ध हरिजन नेता श्रीमान् आर. श्रीनिवासन जी एम.एल.सी. ने एक प्रैस-नोट दिया था जिसका शीर्षक है "Do Government Help Conversion" अर्थात् क्या गवर्नमेंट मत परिवर्तन में सहायता देती हैं? उन्होंने घटनाओं के आधार पर सिद्ध किया है कि हरिजनों को ज़मीन देने के बहाने, शिक्षा-शुल्क सम्बन्ध में और सरकारी नौकरियों के नाम पर साई मिशनरियों की सहायता की जाती है जो इससे वो मत-परिवर्तन के काम में पूरा २ लाभ उठाते हैं। उनके "प्रैस-नोट" का अन्तिम पैरा निम्न है:—

"These facts clearly show that what the Govt. give to the Scheduled Castes through one hand, is being taken away by them through the other. Unless the Govt. issue an order that the members of the Castes would lose their concession and forfeit the advantages they enjoy as member of the Scheduled Castes the moment they become converts to any other faith, full justice would not have been done by The Govt, to the members of the Scheduled Castes for their upliftment.

अर्थात्, यदि गवर्नमेंट सचमुच हरिजनों की सहायता करना चाहती है तो उसे चाहिये कि ऐसा नियम बना दे कि शिक्षा, भूमि, नौकरी तथा अन्य किसी प्रकार की सहायता तब तक ही दी जा सकेगी जब तक कि हरिजन अपने मौजूदा पिछड़े हुए समाज का मੈम्बर है। यदि वो मत परिवर्तन द्वारा ईसाई व मुस्लिम जमातों में शामिल हो जाता है तो वो न तो हरिजन ही रहता है और न उसे विशेष सहायता प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिये।

× × ×

श्री मनिलाल सी. पारेख ने एक अत्यन्त उपयोगी लेख "मार्डन रिव्यू" में लिखा है। उसमें उन्होंने अनेक लेखकों के उद्धरणों से सिद्ध किया है कि ईसाइयों का प्रचार "बाइबल" के उपदेशों को जनप्रिय बनाने के लिये नहीं है अपितु ईसाई साम्राज्य (Christian Imperialism) की वृद्धि के लिये है। एक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ का निम्न वाक्य हमारे विषय को अत्यन्त स्पष्ट करता है—

"We seem to be all agreed as to the end. It is not only our duty but it is our interest to promote the diffusion of Christianity as far as possible throughout the length and breadth of India."

अर्थात्, न केवल यह हमारा कर्तव्य है बल्कि यह हमारे राजनीतिक हित की बात है कि हम भारत के प्रत्येक कोने में ईसाइयत का प्रचार करें।

इस समय भारत के कुल ईसाइयों की संख्या लगभग ८० लाख होगी जिसका ६५ प्रति शत भाग नीच जातियों से लिया गया है। ये लोग प्रायः निम्न हैं और आर्थिक दृष्टि से भी बिल्कुल पिछड़े

हुए। ईसाई पादरी इन्हें सैकड़ों-हज़ारों की संख्या में सामूहिक मत परिवर्तन द्वारा अपने में मिलाते हैं। प्रत्येक प्रकार के सांसारिक प्रलोभन दिये जाते हैं। यहाँ तक कि खुले आम रुपये की थैलियाँ लेकर भेड़ों-बकरियों के समान इन्हें खरीदा जाता है और इस कार्य के लिये अंग्रेज़ कौमें लाखों कगोड़ों रुपया सालाना खर्च करती हैं।

इस विषय को काफ़ी बढ़ाया जा सकता है। परन्तु हम यहाँ समाप्त करते हुए इतना ही कहेंगे कि पाठकों को ईसाइयों की चालों का बड़ा ध्यान रखना चाहिये और इनकी तथा सरकारी अहत्कारों की घनिष्ठ मित्रता के असली कारण की ओर जनता का ध्यान खींचना चाहिये।

गुरुकुल और आर्यसमाज

[ले०—श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति, उप-प्रधान आ०प्र० सभा]

क्या गुरुकुल ने आर्यसमाज का कुछ नहीं बनाया ?

एक अन्धा भी देख सकता है कि गुरुकुल ने आर्यसमाज की बहुत सेवा की है। आर्यसमाज ने गुरुकुल की जड़ को अपने पसीने से सींचा है, तो गुरुकुल ने भी अपनी शाखाओं से और हरे हरे पत्तों से उस पर छाया की है, फूलों से शोभा बढ़ाई और सुगन्ध फैलाया है। फल, जो अभी पक रहे हैं, आशा दिला रहे हैं कि किसी समय गुरुकुल आर्यसमाज के जीवन का आधार हो जायगा।

गुरुकुल ने एक ऐसा केन्द्र उत्पन्न किया है, जहाँ जाकर हरेक विदेशी और विधर्मी वैदिक सिद्धान्तों को प्रत्यक्ष रूप से व्यवहार में आते हुए देख सकता है। मैं इसे गुरुकुल का सब से बड़ा लाभ समझता हूँ। किसी सिद्धान्त के आदर्श रूप का वर्णन करते जाइये—साधारण आदमी उसे जान जायगा पर समझ नहीं सकेगा। समझने के लिये वह सिद्धान्त स्थूल रूप से दिखाई देना चाहिये। 'प्रेम' 'प्रेम' सब पुकारते हैं पर उसके महत्व को समझने के लिये बुद्ध, ईसा या गान्धी के जीवनों को पढ़ना पड़ता है। जब तक प्रेम सूक्ष्म रूप में

रहता है, तब तक केवल वह विद्वानों के गुरुकुल की वस्तु रहता है, परन्तु जब वह एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त में पाया जाय तब उसे राह जाता भी देख कर समझ जाता है। "ब्रह्मचर्य" की महिमा बहुत सुनी है, पर उसे आर्य जाति ने समझा है तो ऋषि दयानन्द का जीवन देख कर। इसी प्रकार शुद्ध आहार विहार, नित्य कर्म, धार्मिक जलवायु, सादगी, आदि गुण जिनका शास्त्र इतना प्रतिपादन करते हैं, जाने जा सकते हैं, पर समझे नहीं जा सकते जब तक कि उन्हें कहीं प्रत्यक्ष रूप से न देख लिया जाय। लोग व्यापार सम्बन्धी प्रदर्शनियां करते हैं, और उन पर लाखों रुपया व्यय करते हैं, ताकि साधारण लोग उनमें अद्भुत वस्तुओं को देखें और बनाने के लिये उत्साहित हों। वेद में कहे गये कर्तव्य कर्मों की प्रयोगशाला बनाने का यही उद्देश्य है कि लोग वहाँ आयें, वेदोक्त धर्मों को व्यवहार में आता हुआ देखें और स्वयं उन्हें जीवनों में ढालने के लिये उत्साहित हों। यह दावा दुरुस्त है कि गुरुकुल वेदों में प्रतिपादित कर्तव्य धर्मों की प्रयोगशाला और प्रदर्शनी है, जहाँ विदेशी और विधर्मी लोग आकर वैदिक धर्म के

क्रियात्मक महत्व को स्वीकार करने के लिये बाधित होते हैं।

गुरुकुल में वेदोक्त जिन २ कर्तव्य धर्मों को प्रयोग में लाया जाता है, उनकी परिगणना कठिन है, पर उन सन्देहशीलों के सन्तोष के लिये, जो गुरुकुल को आर्यसमाज के लिये उपयोगी नहीं समझते कुछ परिणाम परिगणन करा देना ही अच्छा है। नित्यप्रति नियमपूर्वक देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ आदि गुरुकुल में किये जाते हैं। बिना किसी मादक या हानिकारक वस्तु का व्यवहार किये पुष्टिकारक भोजन दिया जाता है। नियमों का बड़ा बन्धन होते हुये भी मानसिक स्वातन्त्र्य विकास के लिये पूरा अवसर मिलता है। ब्राह्मणों के और उन लोगों के बालकों को जो भारत के दुर्भाग्य से अछूत कहे जाते हैं इकट्ठे रहने, यज्ञादि करने और भोजन में बैठने का अभ्यास होने से गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था की तय्यारी का और गन्दे जात-पात के बन्धनों के तोड़ने का वास्तविक यत्न किया जाता है। अभ्यागत विधर्मियों के साथ निःसंकोच प्रेम पूर्वक व्यवहार द्वारा यह सूचित किया जाता है कि वैदिक धर्म प्रेममय और विशाल है। ब्रह्मचर्य को मुख्यता देकर यह दिखाया जाता है कि कलियुग में भी ब्रह्मचारी बनने का यत्न करना सम्भव है। सारांश यह कि विश्वास विवेक और सदाचार का जलवायु उत्पन्न कर के यह प्रत्यक्ष रीति से सिद्ध किया जाता है कि वैदिक धर्म एक सपना या भ्रम नहीं है एक असली धर्म है, जिसे प्रयोग में लाया जा सकता है। गुरुकुल में वैदिक धर्म का कर्तव्य जितना व्यवहार में लाकर प्रत्यक्ष दिखाया जाता है उतना और कहीं नहीं। क्या यह कुछ कम लाभ है? मैं जब इस दृष्टि से विचारता हूँ तो आर्य-समाज के वास्तविक प्रचार का साधन गुरुकुल से

बढ़ कर किसी को नहीं पाता। हम वैदिक धर्म को लोगों के सामने पेश करते हुए कहते हैं कि यह सब कठिनाइयाँ का हल है। हम से प्रश्न होता है इस में क्या प्रमाण है। एक सदियों पुराना वैदिक धर्म इस समय प्रयोग में लाया जा सकता है। हम अँगुली उठा कर गुरुकुल की ओर दिखा देते हैं और कहते हैं कि वह देखो गंगा के किनारे वैदिक धर्म की प्रयोगशाला और प्रदर्शनी बनी हुई है। वहाँ जाओ और देखो कि वैदिक धर्म प्रयोग में आकर कितना सुन्दर कितना ऊँचा और कितना मधुर है। आँख देखी बात से बढ़कर विश्वास योग्य बात क्या हो सकती है?

गुरुकुल ने आर्यसमाज को दूसरा लाभ यह पहुँचाया है कि भारत की जागृति का अगुआपन आर्यसमाज के हाथ में दे दिया है। यह सम्भव है कि यदि आर्यस ठीक जाम समय पर इस बात का अनुभव न करे, या अनुभव करके भी इसकी उपेक्षा करे तो वह हाथ में आये हुए अगुआपन को खो बैठेगा, परन्तु उसमें गुरुकुल का दोष न होगा। देश में 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' "यतेमहि बहुपाय्ये स्वराज्ये" इत्यादि वैदिक प्रार्थनाओं को सार्थक करने के लिये एक अपूर्व उत्साह उत्पन्न हो गया है। उत्साह तो उत्पन्न हुआ है पर देश आश्चर्य और खेद से देखता है कि वह जंजीर को तोड़ना चाहता है पर तोड़ नहीं सकता, वह अपने पाँव खड़ा होना चाहता है पर खड़ा हो नहीं सकता। वह इस घटना के कारण पर विचार करता है तो इस परिणाम पर पहुँचता है कि जब तक भारत की सन्तान को स्वतन्त्र जातीय शिक्षा न दी जायगी तब तक देश का उद्धार नहीं हो सकता। पर स्वतन्त्र शिक्षा दी कैसे जाय? क्या यह सम्भव है कि भारत के पुत्र अपनी मातृ भाषा द्वारा अपने धर्म और देश के सम्बन्ध में ज्ञान

प्राप्त करते हुये शिक्षित हों ? क्या अंग्रेजी राज्य में एक स्वतन्त्र विश्वविद्यालय स्थापित करना सम्भव है ? यह प्रश्न भारत के विचारशील लोगों के हृदय में उत्पन्न होते हैं। तब एक आर्यसमाज है जो सच्चे अभिमान से खड़ा होकर कह सकता है कि भारत में स्वाधीन शिक्षणालय खोल कर भारत पुत्रों को सच्ची भारतीय शिक्षा देना सम्भव है। आर्यसमाजी अपने कथन की पुष्टि में गुरुकुल की ओर निर्देश कर सकता है और कह सकता है कि इस संस्था में ३५ साल से भारत माता के पुत्र मातृ भूमि की सेवा का पाठ कर रहे हैं। वह यह भी बता सकता है कि इस संस्था ने कभी सरकार से १ कौड़ी की सहायता नहीं ली। यद्यपि उनके सन्मुख देश के बड़े बड़े शासकों ने लाखों के प्रलोभन रखे। उसे यह कहने में भी संकोच न होगा कि इस संस्था की चट्टान पर आकर सरकार के बीसों प्रलोभनों और अत्याचारों का सिर फूट चुका है। गुरुकुल का दृष्टान्त दिखा कर आर्यसमाज देश को स्वराज्य के सच्चे मार्ग का रास्ता दिखा सकता है, और अपने अनुभव से लाभ उठा कर स्वाधीन सच्ची शिक्षा के प्रचार के लिए गुरुकुल विश्वविद्यालय का विस्तार कर देश का भविष्य अपने हाथ में ले सकता है।

यह दो लाभ गुरुकुल की उपयोगिता को समाप्त नहीं कर देते केवल भूमिका बांधते हैं। आर्यसमाज के अन्दरूनी काम में जो लाभ हुए हैं, वह भी कुछ कम नहीं हैं। गुरुकुल में आर्यसमाज के विद्वान् बहुत साहित्य उत्पन्न कर सकते हैं। गुरुकुल में वेदों के अध्ययन किये ऐसे योग्य स्नातक हैं जो अन्यो का अपेक्षा वेद की कठिनाइयाँ दूर करने में अधिक

समर्थ हैं। यह ठीक है कि चारों वेदों के ज्ञाता पूरा ऋषि गुरुकुल ने उत्पन्न नहीं किए पर यह न भूलना चाहिये कि या तो पूर्व जन्म के अपूर्व संस्कारों से कोई ऋषि उत्पन्न हो सकता है और या ऋषि के चरणों में जन्म विताकर। साधारण शिक्षणालयों में ऋषि नहीं बना करते। सदाचारी योग्य पुरुष ही बन सकते हैं। यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि गुरुकुल के पास इस समय वेदों का ज्ञान रखने वाले जितने स्नातक विद्वान् हैं उतने अन्यत्र नहीं। इसमें आर्यसमाज के किसी सम्माननीय पंडित का अपमान नहीं है। वे लोग हमारी पूजा के योग्य हैं—उन्हीं की कृपा है कि गुरुकुल कुछ ऐसे नवयुवकों को तय्यार कर सका है जो वेदों के विषय में निरन्तर अनुशीलन और यत्न करते रहते हैं। परमात्मा की कृपा रही तो किसी दिन उस यत्न के भारी परिणाम भी जनता के दृष्टिगोचर होंगे।

गुरुकुल ने आर्यसमाज को योग्य प्रचारक दिये हैं। पं० बुद्धदेव, पं० प्रियव्रत, पं० धर्मदेव, पं० यशपाल, पं० केशवदेव ज्ञानी, पं० अमरसिंह, स्वामी व्रतानन्दजी के प्रचार-कार्य से आर्य-जनता भली-भाँति परिचित ही है। तुलना करना बहुत कठिन होता है, और कुछ मधुर कार्य भी नहीं हैं। परन्तु इतना कह देने में संकोच का कारण नहीं प्रतीत होता कि ऊपर कहे हुए स्नातकों की योग्यता या उपयोगिता अन्य किसी भी उपदेशक से कम नहीं।

ये सब लाभ हैं जो गुरुकुल ने आर्यसमाज को पहुँचाये हैं, और आगे के लिये उन लाभों के प्रति-दिन बढ़ने की ही आशा है—कम होने की नहीं।



वेद और वेदव्यास

[लेखक—श्री० भक्तराम जी, डिंगा]

इतिहासपुराणज्ञं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥२९॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं पराशरसुतं प्रभुम् ।

गुरुं प्रणम्य वक्ष्यामि पुराणं वेदसम्मितम् ॥३०॥

ब्रह्मपुराण अध्याय १

(ऋषि मुनियों के प्रश्न करने पर लोमहर्षण कहते हैं) कि मैं इतिहास और पुराण के जानने वाले वेद और वेदांगों के पारग सर्व शास्त्रों के अर्थों के तत्त्वों को जानने वाले पराशर के पुत्र भगवान् व्यास जी अपने गुरु को प्रणाम कर वेद समित ब्रह्मपुराण को कहूँगा ।

समीक्षा—इन श्लोकों में व्यास जी के गुणों का निरूपण है—“वे इतिहास और पुराण के जानने वाले हैं अर्थात् इन पुराणों से पूर्व पुराण शब्द वर्तमान था और उसका अर्थ भी लोकप्रसिद्ध था जिसको व्यास जी जानते थे । जैसे वेद और वेदाङ्गों के पूर्ण विद्वान् थे, वैसे ही इतिहास और पुराण के भी पण्डित थे । सम्पूर्ण शास्त्रों के यथार्थ मर्म को अच्छी प्रकार जानने वाले पूर्ण विद्वान् थे ।

कई पौराणिक कह दिया करते हैं, पुराण तो वेद से पूर्व के हैं उन्हें ‘वेदसम्मितम्’ विशेषण पर ध्यान देना चाहिए । पुराण को वेदानुकूल कहने से वेद की पूर्ववर्त्तिता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है । पुराण के साथ इतिहास शब्द का प्रयोग पुराण के आज-कल के अर्थ पर कुल्हाड़ा चलाता प्रतीत होता है ।

कुरुक्षेत्रे समासीनं व्यासं मतिमतां वरम् ।

महाभारत कर्तारं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥६॥

अध्यात्मनिष्ठं सर्वज्ञं सर्वभूतहिते रतम् ।

पुराणागमवक्तारं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥७॥

पराशरसुतं शान्तं पद्मपत्रायतेक्षणम्

द्रष्टुमभ्याययुः प्रीत्या मुनयः शंसितव्रताः ॥

कथान्ते ते मुनिश्रेष्ठाः कृष्णं सत्यवतीसुतम्

पप्रच्छुः संशयं सर्वे तपोवननिवासिनः ॥१७॥

ब्रह्मपुराण अ० २४

कुरुक्षेत्र में विराजमान, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, महाभारत ग्रन्थ के कर्ता, सब शास्त्रों में चतुर, अध्यात्मनिष्ठ, सर्वज्ञ, सर्व-प्राणियों के हित में रत, पुराण शास्त्र के वक्ता, वेदों और वेदांगों के पारगामी पराशर जी के पुत्र कमलदल की भान्ति विशाल नेत्रों वाले व्यास जी को, पवित्र व्रत वाले मुनि प्रीति से देखने को आए । कथा की समाप्ति पर तपोवन वासी सब मुनि श्रेष्ठों ने सत्यवती के पुत्र कृष्ण (व्यास जी का जन्म नाम कृष्ण है, द्वीप में उत्पन्न होने से इन्हें कृष्ण द्वीपायन भी कहा जाता है) से अपने संशय पूछे ।

इस उदाहरण से इतनी बातें स्पष्ट हैं (१) इन १८ पुराणों से पूर्व कोई और पुराण था । (२) ब्रह्म पुराण का कर्ता व्यास जी को महाभारत के रचयिता के रूप में जानता था, अर्थात् इन १८ पुराणों से महाभारत पहले विद्यमान था, महाभारत को पुराणों से पीछे बना बताने वाले पौराणिक इस पर विचार करें । (३) इन के पिता का नाम पराशर तथा माता का नाम सत्यवती था । (४) इनका अपना नाम कृष्ण था । व्यास जी ने वेद पढ़े बनाए नहीं ।

येन त्वया तु वेदार्था भारते प्रकटीकृताः ।
कः शक्नोति गुणान्वक्तुं तव सर्वान्महामुने ॥६॥
अधीत्य चतुरो वेदान्साङ्गान् व्याकरणानि च ।
कृतवान् भारतं शास्त्रं तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥१०॥
नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे,

फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।

येन त्वया भारत तैलपूर्णः,

प्रज्वालितो ज्ञानमयःप्रदीपः ॥११॥

ब्रह्मपुराण अ० १३८

हे महामुने! जिस आपने वेदों के अर्थों को भारत में प्रकट किया है ऐसे आपके सम्पूर्ण गुणों को कौन वर्णन कर सकता है। जिस आपने चारों वेदों को पढ़कर सम्पूर्ण अङ्गों और व्याकरण को अध्ययन करके भारत रूपी शास्त्र को बनाया है। उस ज्ञानात्मा आपको नमस्कार है। हे व्यास जी, हे विशाल बुद्धि, खिले कमल के विशाल पत्रके समान नेत्रों वाले महात्मन् व्यास जी! आपको नमस्कार हो। जिस आपने भारत रूपी तेल से पूर्ण ज्ञान प्रदीप प्रज्वलित किया है।

समीक्षा—इन श्लोकों में व्यास जी को अष्टादशपुराणकार न कह कर महाभारत कर्ता कहा है। जब स्वयं पुराण महाभारत को अपने से पूर्व भावी बताते हैं, तो क्यों उन्हें निराधार महाभारत से पूर्ववर्ती माना जाए।

कई लोग कहते हैं, वेद एक था, व्यास जी ने चार विभाग कर दिए, जैसा कि श्री. पं० सातवलेकर जी ने अपने वैदिक-धर्म के पृ० १८५ अ० ५ वर्ष ११ पर लिखा है। “एक ही वेद के ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद नाम के चार भेद हुए। यद्यपि आजकल इन चारों वेदों में

पूर्व बात भिन्न थी. उस समय श्री वेदव्यास जी ने अध्ययन की सुविधा के लिए एक ही वेद के चार भाग किए।”

वे लोग ब्रह्मपुराण के “अधीत्य चतुरो वेदान्” शब्दों का पाठ अवश्य करें! यदि व्यास जी ने एक वेद के चार भाग किए होते और वह आख्यान सत्य होता तो ब्रह्मपुराण का कर्ता “अधीत्य चतुरो वेदान्” ऐसा स्पष्ट वचन कदापि न लिखता।

इसी कारण महर्षि दयानन्द जी ने वेद-भाष्य भूमिका में लिखा है कि—

“एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता
इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम्।”

अर्थात् “इस प्रकार व्यास जी और ऋषियों ने चारों वेदों को रचा है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिए।”

श्री. पं० सातवलेकर जी ने तो भागवत के आधार पर लिख दिया है—

पराशरात्सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः ।

अवतीर्णो महाभागः वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥४६॥

श्रीमद्भागवत स्कन्ध १२ अ० ६

“पराशर से सत्यवती में अवतीर्ण कलावतार व्यास ने एक वेद के चार भाग किए।”

भागवत की बात क्यों सच्ची और ब्रह्मपुराण की क्यों नहीं? विशेष कर उस अवस्था में जब कि ब्रह्मपुराण सर्व पुराणों के मत से आदिमपुराण है। पुराणों के इस पारस्परिक मत-भेद का परिहार पुराण भक्त मियाँ फैयाज़ क्यों नहीं करते। जैसा कि पूर्व वर्णन किया जा चुका है कि स्वयं ब्रह्मपुराण के अन्त में जहाँ व्यास जी की स्तुति की गई है वहाँ उन्हें भारत का कर्ता तो कहा गया है, किंतु पुराण का कर्ता नहीं। इसमें भी एक कारण है।

भिन्नता मानी जाती है। तब भी पाँच हजार वर्ष पहले पुराण अष्टादश महापुराणों में पहला

हैं। अतः ब्रह्मपुराण के श्रोता ऋषि उन्हें पुराण-कार कैसे कह सकते हैं।

ब्रह्मपुराण अ० १३८ में लिखा है कि ब्रह्मपुराण सुनने पर ऋषि लोग व्यास जी की स्तुति करते हुए कहते हैं कि जिस तू ने महाभारत में वेद के अर्थों को खोला है ऐसे आपके सब गुणों को कौन कह सकता है। अङ्गों सहित चारों वेदों और व्याकरणों को पढ़कर आपने भारतशास्त्र बनाया। ऐसे आप ज्ञान-स्वरूप को नमस्कार हो।

यहाँ स्तोता कह सकते थे कि वेदादि पढ़कर आपने पुराण बनाए। किन्तु यह नहीं कहा गया। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इस की रचना महाभारत रचना से पीछे हुई।

प्रसंग से यहाँ यह भी एक बात आ गई है कि व्यास जी ने चारों वेदों को अङ्गों समेत पढ़कर भारत बनाया। अर्थात् व्यास जी से पहले न केवल चारों वेद ही विद्यमान थे, अपितु अंग भी थे। लिखने वाला यदि यह लिखता, कि व्यास जी ने

वेद का व्यास अर्थात् एक वेद को चार में विभक्त करके भारत-शास्त्र की रचना की, तो कोई रोकने वाला तो था नहीं। इससे प्रतीत होता है कि कम-से-कम ब्रह्मपुराण के समय (यह बात पाठकों को स्मरण रखनी चाहिए, कि ब्रह्मपुराण सब पुराणों में पहला है) वेदव्यास जी को वेद-विभागकर्ता नहीं माना जाता था। यहाँ तो स्पष्ट “अधीत्य” पद का प्रयोग हुआ है। तब इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि ब्रह्मपुराण बनने से पहले महाभारत विद्यमान था, तब सुतरां यह मानना पड़ेगा कि जो-जो प्रकरण दोनों ग्रन्थों में एक से हैं, वे ब्रह्मपुराणकार ने महाभारत से उद्धृत किए हैं, न कि महाभारत कार ने ब्रह्मपुराण से। अर्थात् दूसरे शब्दों में कहा जाए, तो यह कह सकते हैं कि महाभारत ब्रह्मपुराण का मूल है। न कि केवल ब्रह्मपुराण का अपितु समस्त पुराणों और उपपुराणों का। पुराणों में कोई ऐसा उपाख्यान नहीं जो संक्षेप से या विस्तार से महाभारत में विद्यमान न हो।

उपनिषत् और वेदार्थ

[श्री पं० चन्द्रकान्त वेदवाचस्पति आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय सोनगढ़ (काठियावाड़)]

समस्त संस्कृत-साहित्य में उपनिषदें काव्य और अध्यात्मज्ञान की बड़ी-चड़ी सामान्य परिज्ञान खान हैं। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये तीनों मानव-जाति की कर्म, उपासना और ज्ञान की क्रमिक भावनाओं के पवित्र स्रोत हैं। गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास तीनों आश्रमों के क्रमिक विकासस्थल हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान में जो सम्बन्ध है वही इन तीन ग्रन्थ-रत्नों में भी

है। आरण्यक ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तर्भाग हैं और उपनिषद् वेद के ब्राह्मणों के और आरण्यकों के अन्तरंग भाग हैं।

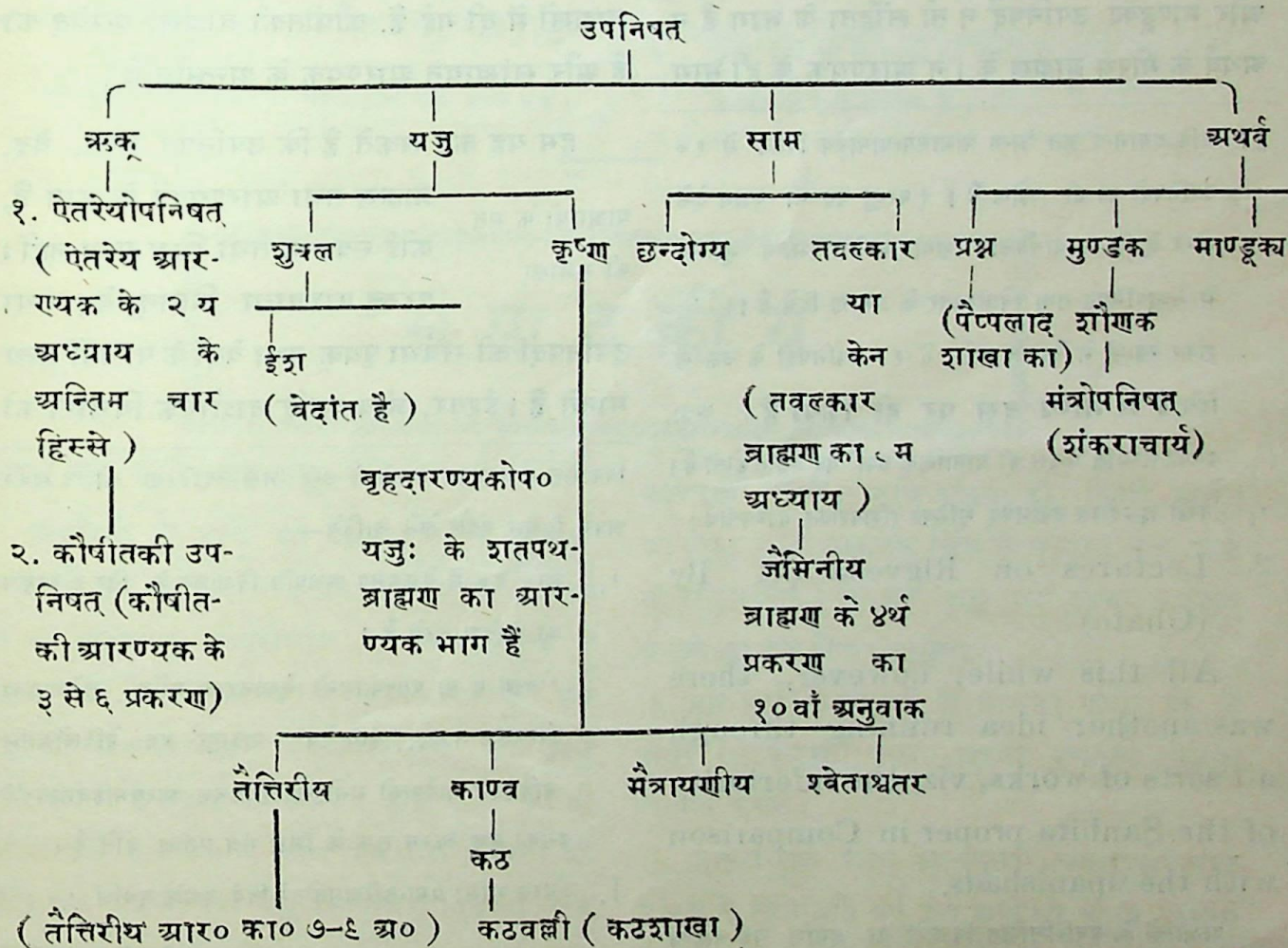
प्रधान दस उपनिषदों में से एक ईशावास्योपनिषत् संहिता भाग है, अन्य ब्राह्मण भाग या आरण्यक भाग में हैं। बृहदारण्यकोपनिषत् शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय शाखा के शतपथ ब्राह्मण का अन्तर्गम भाग है, यह आरण्यक भी है और

उपनिषत् भी। ऐतरेय आदि आरण्यक के अन्तर्गत अध्याय उपनिषत् रूप हैं। इस प्रकार उपनिषत्-ग्रंथ वेद, ब्राह्मण तथा आरण्यकों के अपने ही भाग हैं।

आजकल जितनी उपनिषदें प्रचलित हैं वे सब वेदोपनिषत् अर्थात् संहिता या ब्राह्मणग्रन्थ के भाग रूप नहीं हैं क्योंकि उनमें से अल्लाहोपनिषत् रामतापनी आदि उपनिषदें प्राचीन उपनिषदों के अनुकरण में बनाई गई हैं जो कि स्वतन्त्र होने से प्रामाणिक नहीं हैं। प्रामाणिक उपनिषदों की संख्या न तो २३२ ही है और न ही मुक्तिकोपनिषद् के आधार पर १०८ ही है। आर्यों का मंतव्य है कि

दस उपनिषदें ही वेदानुकूल तथा प्रधान हैं। शेष अवैदिक तथा गौण हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक।

ये सब की सब वेद के आध्यात्मिक ज्ञान की व्याख्या करती हैं। इन उपनिषदों के सर्वप्रथम भाष्यकार शंकर स्वामी भी इसी निर्णय पर पहुँचे हैं। उपर्युक्त उपनिषदों का वेदानुसारी वर्गीकरण निम्न है—



१. I 'माण्डूक्यमेवालं मुमुक्षुणा विमुक्तये तथाप्यनिष्ठत्वेदज्ञानं दशोपनिषदि । पा० २६

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ।' (मुक्तिकोपनिषत्) पा० १०

इस वर्गीकरण में कौपीतकी उपनिषत्, मैत्रायणीय तथा श्वेताश्वतर उपनिषदें प्रधान १० उपनिषदों में सम्मिलित नहीं हैं। अतः वैदिक १ लोग इनको द्वितीय कोटि में रखते हैं। उपर्युक्त प्रधान उपनिषदों के विषय में यह भी हृदयगत कर लेना उचित है कि इनमें एक ईशावास्योपनिषत् संहिता भाग है अन्य ब्राह्मण तथा आरण्यक भागों में हैं। शुक्र यजुर्वेद

(वाजसनेय संहिता) का अन्तिम
किस वेद की कौन ४० वां अध्याय ईशावास्योपनिषत्
कौन उपनिषदें हैं

है। केन, सामवेद के तत्त्वकार ब्राह्मण का अंश है, कृष्ण यजुर्वेद की काठक शाखा के ब्राह्मण का भाग कठ उपनिषत् है। प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य उपनिषदें न तो संहिता के भाग हैं न अथर्व के गोपथ ब्राह्मण के। न आरण्यक के ही भाग

हैं क्योंकि अथर्व का कोई आरण्यक ही नहीं है। अतः अथर्व के किसी लुप्त ब्राह्मण के भाग होने चाहियें। कृष्ण यजु की तैत्तिरीय शाखा के तैत्तिरीय आरण्यक का तैत्तिरीय उपनिषत् है। ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक के अन्तर्गत ऐतरेय उपनिषत् है। छान्दोग्योपनिषत्, सामवेद के छान्दोग्य ब्राह्मण के अन्तर्गत होना चाहिये—ऐसी विद्वानों की कल्पना है। शुक्र यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग बृहदारण्यकोपनिषत् है। शुक्र यजुर्वेद का कोई स्वतन्त्र आरण्यक नहीं है अतः यह उपनिषत् ही आरण्यक भी कही जाती है। द्वितीय कोटि की उपनिषदों में श्वेताश्वतर और मैत्रायणीय, कृष्ण यजुर्वेद की हैं और इनके शाखा ब्राह्मणों में दी गई हैं, कौपीतकी ब्राह्मण ऋग्वेद का है और सांख्यन आरण्यक के अन्तर्गत है।

II ऋषि दयानन्द कृत 'ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय' में १० उपनिषदों का ही उल्लेख है। (परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में मैत्रायणीय तथा श्वेताश्वतर के प्रमाण दिये हैं।)

शंकर स्वामी ने वेदान्त दर्शन में १३ उपनिषदों के उद्धरण दिये हैं पर भाष्य दस पर ही किया है। अतः इनकी सम्मति में दस ही प्रामाणिक उपनिषद प्रतीत होती हैं।

१. देखो छान्दोग्य उपनिषद् भूमिका (शिवशंकर वाव्यतीर्थ)
2. Lectures on Rigveda १२६ By (Ghate)

All this while, however,, there was another idea running through all sorts of works, viz, the inferiority of the Sanhita proper in Comparison with the upanishads.

पाश्चात्यों के उपरिलिखित विचारों पर हमारा यह वक्तव्य

है कि जो योरोपीय विद्वान् अपनी सभ्यता के मद में मस्त होकर उपनिषदों तथा दर्शनों के सिद्धान्तों को वेदों की अपेक्षा अधिक

हम यह कह सकते हैं कि उपनिषत् ग्रन्थ, वेद, ब्राह्मण तथा आरण्यकों के भाग हैं, पाश्चात्यों के मत कोई स्वतन्त्र तथा भिन्न ग्रन्थ नहीं। की समीक्षा परन्तु पाश्चात्य विद्वान् वेद तथा उपनिषदों को सर्वथा पृथक् तथा वेदों के परवर्ती ग्रन्थ मानते हैं। ईश्वर, जीव आदि दार्शनिक विचारों को विकसित तथा उन्नत मानते हैं उन्हें निम्न उदाहरण को देखकर अपने विचार बदल लेने चाहिये—

१. छा० उ० में केकयनृप अश्वपति विश्वानर के विराट् स्वरूप का उपदेश करते हैं।

“तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्व...सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप प्रणः...पृथिव्येव पादाबुर एव वेदिलोमानि बहिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आरयमाहवनीयः” इसका मूल स्कन्ध सूक्त के निम्न मंत्र प्रतीत होते हैं।

- I. यस्य भूमिः प्रमातरिचमुतोदरं दिवं यश्चक्रे मूर्धानं...

१०।७।३२

- II. यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः...१०।७।३३

- III. यस्य दातृः प्राणापानौ

१०।७।३४

इन पिछली उपनिषदों के समय के ही स्वीकार करते हैं वस्तुतः वेद और उपनिषत्, शरीर और आत्मा की तरह से एक हैं।

उपनिषदें वेदों के वास्तविक सिद्धान्तों के प्रदर्शन में प्रकाशस्तम्भ का काम करती हैं। वेदों का वास्तविक तात्पर्य उपनिषत् ग्रन्थ ही हैं। इसी लिये इनको वेदान्त भी कहते हैं, वेदमूर्धा, वेदोत्तमांग वेदशिरः, और वेदमुण्ड भी कहते हैं। क्योंकि वेदों का वास्तविक उद्देश्य इन उपनिषदों में पूर्ण हुआ है, इसलिये उपनिषदें वेदान्त कहाती हैं। उपनिषदें बताती हैं कि ज्ञान से (निरर्थक कर्मकाण्ड^१ से नहीं) मुक्ति

१. सवा ह्येत ऋष्टा यशरूपा अष्टादशोक्तं अवर्तं यस्य कर्म।

मिलती है, और वेदों का भी वास्तविक विषय यही है। इसलिये उपनिषदों को वेद से पृथक् समझना अनुपयुक्त है। अतएव कतिपय आचार्यों ने उपनिषद् ग्रन्थों को 'श्रुति' में ही सम्मिलित किया है^२।

एतद्वेद्यो वेऽभिनन्दन्ति मूढाः जरामृत्युन्ते पुनरेवापि यन्ति मुञ्चक। यह यशों की नाव बड़ी कच्ची है। यह संसार के पार नहीं उतार सकती। जो मूर्ख इसी में बैठकर पार जाने की इच्छा करते हैं वेबुदापे तथा मौत के फन्दे में फिर फिर आकर गिरते हैं। यहां कर्मकाण्ड का उपहास किया गया है। परन्तु यह कहना कठिन है कि उपनिषदों में कहीं भी याशिक प्रक्रिया का विधान नहीं है।

२. शंकराचार्य जी के ग्रन्थों को देखने से प्रतीत होता है कि उनकी भी यही सम्मति है।

सं पा द की य

आर्य का ऋषि-बोधार्क—

आगामी ११ मार्च को शिवरात्रि के अवसर पर आर्य का ऋषि-बोधार्क प्रकाशित होगा। आर्य का यह विशेषार्क आर्यसमाज के पत्र-साहित्य में अपना एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अर्क की लेख-सामग्री स्थिर-साहित्य की वस्तु हुआ करती है। इस वर्ष भी यह अर्क सदा की ही भान्ति बड़ी सजधज के साथ निकलेगा। सदा की भाँति इस वर्ष भी इस अर्क में प्रसिद्ध विद्वानों और विचारकों के ऋषि-जीवन तथा आर्यसमाज के वैदिक, धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक सिद्धान्तों पर खोजपूर्ण लेख रहेंगे। ऋषि-जीवन पर रसीली

कवितायें होंगी। ऋषि-जीवन की किसी घटना को लेकर कोई आकर्षक चित्र भी होगा। एक शब्द में, सब पहलुओं से इस अर्क को सुन्दर-सजीला बनाने का यत्न किया जायेगा।

हम आर्य के लेखकों से प्रार्थना करेंगे कि वे अभी से हमारे पास अपनी रचनायें भेजना प्रारम्भ कर दें।

आर्यसमाज और आर्यपुरुष, प्रचारार्थ मुक्त वाँटने के लिये प्रति वर्ष इस अर्क को भारी संख्या में मँगाया करते हैं। इस वर्ष भी समाजों और आर्यपुरुषों को अभी से इस अंक के लिये आर्डर भेजना शुरू कर देना चाहिये। जिससे सभा को

अंक छपाने में सुभीता रहे। एक प्रति की कीमत सदा की तरह लागत से भी कम केवल १२) होगी।

सभा के मान्य उपदेशक और भजनीक महानुभावों से भी प्रति वर्ष की भाँति प्रार्थना है कि वे अपने-अपने मण्डल की समाजों और वहाँ के आर्यपुरुषों को इस अंक को भारी मात्रा में मँगाने की प्रेरणा करके प्रचार के इस पवित्र कार्य में सभा का हाथ बँटावें। हमें पूर्ण आशा है कि हमारे ये भाई सदा की तरह अपना पूरा सहयोग देंगे।

अनुसन्धान-विभाग—

यह सर्व विदित ही है कि आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब के आधीन अनुसन्धान विभाग की तरफ से अथर्ववेद का भाष्य शुरू हो चुका है। और जो कि अनुसन्धान विभाग के मासिक पत्र आर्य में क्रमिक रूप से प्रकाशित हो रहा है। भाष्य प्रतिमास आपके सामने आ जाता है। आर्य का प्रत्येक स्वाध्यायी पुरुष इस बात को भली-भाँति जानता है कि वेद-भाष्य किस योग्यता से लिखा जा रहा है। एक अनुवाक की समाप्ति पर हम सम्मत्यर्थ विद्वानों के पास यथा शीघ्र भेजनेवाले हैं। भाष्य किस कोटि का है यह तो विद्वानों की सम्मति आने पर ही अच्छी तरह से निर्णीत हो सकेगा। परन्तु इतना तो वेद का हर एक स्वाध्यायी कह सकता है कि यह भाष्य बड़ी योग्यता तथा नवीनता लिये हुए है। इस भाष्य में क्या नवीनता पैदा की जा रही है इसको हम दो एक शब्दों में आपके सामने रख देना चाहते हैं।

पाश्चात्य वैदिक विद्वानों तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों का प्रायः यह आक्षेप रहा है कि वेदों में हमें कोई एक शृंखला नज़र नहीं आती। बीच बीच में कई मन्त्र या सूक्त बहुत उच्चकोटि के

हैं परन्तु उन मन्त्रों का अन्य मन्त्रों से कोई शृंखला बद्ध सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। यदि यह परमात्मा ही का ज्ञान है तो इसमें कोई न कोई शृंखला अवश्य होनी चाहिये। यह उनका आक्षेप किसी अंश तक सत्य भी है। क्योंकि उपलब्ध भाष्यों में हमें कोई भी ऐसा भाष्य नज़र नहीं आता जिसमें सब मन्त्रों का आपस में क्रमबद्ध सम्बन्ध दिखाया गया हो। सायणाचार्य, द्विटनी, ग्रिफिथ आदि विद्वानों के अथर्ववेद के भाष्यों से इस भाष्य में एक यह नवीनता होगी कि पहिले मन्त्र का दूसरे मन्त्र से, पहिले सूक्त का दूसरे सूक्त से, पहिले अनुवाक का दूसरे अनुवाक से और पहिले काण्ड का दूसरे काण्ड से और सारे अथर्ववेद का दूसरे वेदों से क्या सम्बन्ध है यह स्पष्ट रूप से दिखाया जाये। पाठकों ने यदि वेदभाष्य ध्यान से पढ़ा होगा तो यह शृंखला उन्हें स्पष्ट रूप से क्रमशः आती हुई प्रतीत होगी।

भाष्य के प्रारम्भ में अथर्व और आंगिरस ये दो नाम किस विषय को सूचित करते हैं यह दर्शाया गया है और इसके बाद इस अथर्ववेद का अन्य वेदों से क्या सम्बन्ध है भूमिकारूप में यह भी बता दिया गया है। मुख्यतः अथर्ववेद में शरीरोपयोगी तत्त्व का वर्णन है। यहाँ आरम्भ के ही सूक्त में एक रूपक बाँधा गया है। अज्ञान रूप एक शत्रु है जिसका विनाश करना है, इसके लिये अपने शरीर को धनुर्यष्टी बनाया गया है, इस धनुर्यष्टी पर ज्ञान रूप शर चढ़ाकर अज्ञान रूपी शत्रु का विनाश करना है। इसके लिये बल की अत्यन्त आवश्यकता है। बलप्राप्ति के लिये बलों के परमनिधान उस परम पिता परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह हमें विविध ज्ञानों को देवे। इस प्रकार सारे सूक्त में विविध विविध ज्ञानों का संकेत रूप में वर्णन कर दिया है। चूँकि शर, जल और दर्भ का भी पर्याय

वाची है इसलिये अगले सूक्तों में शर के पर्याय वाची जल को लेकर जल चिकित्सा की ओर संकेत किया गया है। जल से किस प्रकार शारीरिक व्याधियाँ दूर होती हैं इस विषय का इस सारे अनुवाक में निर्देश किया गया है। इस प्रकार इस अनुवाक में जल-चिकित्सा का वर्णन करके अगले अनुवाक में जल चिकित्सा के लिये उपयोगी होने के कारण अग्नि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार संक्षेपतः आपके सामने दिग्दर्शन के लिये हमने यह बतानेकी कोशिश की है कि हम इस भाष्य में और भाष्यों से कुछ नवीनता ही पैदा करना चाहते हैं आपका कर्तव्य है कि इस पवित्र यज्ञ में आप भी कुछ आहुति डालें।

हमारे इस विभाग का सालाना खर्च ६०००) है। इस महत्वपूर्ण कार्य को देखते हुए यह राशि कोई बड़ी नहीं है। यदि आप चाहें तो इस राशि को आसानी से पूरा कर सकते हैं हमारी इच्छा है कि पञ्जाब से हमें ऐसे ६०० दानी मिल जायें जो कि १०) सालाना इस विभाग की सहायता किया करें। पाठकों को यह जानकर बहुत हर्ष और उत्साह होगा कि इस समय तक १०० से ऊपर सज्जन इस परिवार में सम्मिलित हो चुके हैं जिनकी सूची नीचे दी जाती है। हम आशा करते हैं कि आप भी इस परिवार में शीघ्रातिशीघ्र शामिल होकर पुण्य के भागी बनें।—

१. श्री० मूलचन्द्र जी	गुजराँवाला
२. श्री० भीमसेन जी	"
३. श्री० चाननशाह जी	पिण्डदादनखान
४. श्री० ताराशाह जी	"
५. आर्यसमाज	"
६. श्री० मथुरादास सेवाराम जी	जड़ावाला
७. श्री० बहादुरचन्द जी	"
८. आर्यसमाज	"

६. सेठ हुकुमचन्द जी	तान्दलियावाला
१०. श्री० निरञ्जनदास जी	मुल्तान शहर
११. प्रो० सदानन्द जी	"
१२. प्रो० हरवंसलाल जी	"
१३. श्री० शिवदयालु जी	डिंगा
१४. श्री० कन्हैयालाल जी	डलहौजी
१५. श्री० नानकचन्द जी	"
१६. श्री० शिवराम जी	"
१७. श्री० मिडूडूमल जी	भटिण्डा
वेदप्रकाश	
१८. श्री० भगवन्तराम जी	"
१९. सरदार वेणीप्रसाद जी	"
२०. श्री० हज़ारासिंह इन्द्रसिंह जी	"
२१. ला० सन्तराम जी	"
२२. ला० ईश्वरदास जी	"
२३. श्री० इन्द्रसेन जी	मानसामण्डी
२४. बाबू ओंकारनाथ जी	भटिण्डा
२५. दी रस्तोगी ब्रदर्स	बिजनौर
२६. श्री० भक्तराम जी	अम्बाला छावनी
२७. भगत मुकुन्दलाल जी	मुजफ्फरगढ़
२८. आर्यसमाज	दायरादीन पनाह
२९. श्री० श्रीराम जी	शिमला
३०. ठाकुरब्रदर्स	"
३१. श्री० काशीराम जी अग्रवाल	"
३२. श्री० भक्तराम जी	"
३३. श्री० गोपालप्रसाद जी	न्यु देहली
३४. श्री० सी० वी० विश्वनाथन	शिमला
३५. ला० दीवानचन्द जी	न्यु देहली
३६. श्री० अयोध्याप्रसाद जी	"
३७. श्री० किशननारायण जी	शिमला
३८. श्री० लक्ष्मीनारायण जी	न्यु देहली
३९. श्री० पं० हुकुमचन्द जी	शिमला

४०. श्री० रामगोपाल जी न्यु देहली
 ४१. ला० जयश्रीराम जी शिमला
 ४२. श्री० श्रीकृष्ण जी ककड़ न्यु देहली
 ४३. श्री० पं० बिहारीलाल जी शिमला
 ४४. श्री० हकीकतराय जी न्यु देहली
 ४५. श्री० जयरामदास जी शिमला
 ४६. श्री० हीरालाल जी ,
 ४७. श्री० दीनानाथ जी C. B. R. न्यु देहली
 ४८. श्री० दीनानाथ जी रईस शिमला
 ४९. श्री० बट्टीलाल जी ,
 ५०. श्री० रामचन्द्र जी न्यु देहली
 ५१. श्री० नारायणदत्त जी शिमला
 ५२. श्री० वृषभान जी न्यु देहली
 ५३. श्री० हरिश्चन्द्र जी थापर ,
 ५४. श्री० शङ्करनाथ जी शिमला
 ५५. श्री० चौ० केदारनाथ जी ,
 ५६. श्री० आसानन्द जी न्यु देहली
 ५७. श्री० हरिश्चन्द्र जी शिमला
 ५८. श्री० बिहारीलाल जी रईस ,
 ५९. श्री० रा० सा० अमरनाथ जी न्यु देहली
 ६०. श्री० रा० सा० गङ्गाराम जी शिमला
 ६१. श्री० मेहरचन्द्र जी पुरी ,
 ६२. श्री० ला० हीरालाल जी शिमला
 ६३. आर्यसमाज कसौली
 ६४. ला० लक्ष्मण दास जी ,
 ६५. श्री० गोविन्दराम जी ,
 ६६. श्री० जगतराम जी शिमला
 ६७. श्री० चन्द्रभानजी ,
 ६८. श्री० बंसीलाल जी नन्दा ,
 ६९. श्री० हरिश्चन्द्र जी न्यु देहली
 ७०. श्री० चन्दूलाल जी शिमला
 ७१. श्री० मेलाराम जी सूद ,
 ७२. श्री० किशोरी लाल जी ,
 ७३. श्री० रामदास जी न्यु देहली
 ७४. श्री० पं० जयदेव जी शिमला
 ७५. श्री० ला० ठाकुरदास जी ,
 ७६. श्री० हंसराज जी खन्ना न्यु देहली
 ७७. श्री० रा० सा० हकूमतराय जी ,
 ७८. श्री० भगवान दास जी शिमला
 ७९. श्री० ला० सालिगराम जी न्यु देहली
 ८०. श्री० रामलाल जी मेहरा ,
 ८१. आर्यसमाज सदर रावलपिण्डी
 ८२. श्री० ला० भलादाराम जी शिमला
 ८३. श्री० ला० चिरञ्जीव लाल जी ,
 ८४. श्री० ब्रजलाल जी सपड़ा मियांवली
 ८५. श्री० ला० ईश्वरदास जी चटकारा ,
 ८६. श्री० बट्टीप्रसाद जी खुल्लर लाहौर
 ८७. सरदार उजागरसिंह जी तेजाविला
 ८८. श्री० पं० जयचन्द्र जी फतहगढ़ चूड़ियां
 ८९. आर्यसमाज लाहौर छावनी
 ९०. आर्यसमाज लाहौर छावनी बंगाली मोहल्ला
 ९१. रा० सा० अमृत राय जी अम्बाला छावनी
 ९२. आर्यसमाज महतपुर
 ९३. श्री० शिवनारायण जी न्यु देहली
 ९४. रा० सा० मुकन्दलाल जी ,
 ९५. श्री० अमरनाथ जी बेरी ,
 ९६. श्री० भगवानदास जी आर. ए. एफ. ,
 ९७. श्री० राजरूप जी ,
 ९८. श्री० रामचन्द्र थापर ,
 ९९. श्री० जयचन्द्र जी टण्डन ,
 १००. श्री० गुरुदत्त जी शिमला
 १०१. श्री० अमरनाथ जी अन्वी न्यु देहली
 १०२. श्री० हीरालाल जी ,
 १०३. श्रीमती लीलावती जी शिमला

में सामग्री की ओर भी पूरा ध्यान दिया गया है। इसलिये उनके बीच में जो क्रिया की गई है उसमें उपभूत, जुहू, (आय-व्यय) आदि का वर्णन है। फिर उसका विशेष रूप से ध्यान देकर उत्तराधार तय्यार किया जाता है। वर्तमान युग की भाषा में यदि पूर्वाधार को प्रोग्राम (Programme) और उत्तराधार को बजट (Budget) कह दें तो लगभग ठीक होगा। होता विशेष रूप से इनके सम्बन्ध में सिद्धान्तों का वर्णन करता है। अध्वर्यु वास्तविक कार्यकर्ता है जो इन्हें तय्यार करके उपस्थित करता है। इसलिए पूर्वाधार को मानसिक और उत्तराधार को वाचिक कहा गया है। और इनको एक गाड़ी में जुतने वाले दो वाहनों से उपमा दी गई है। १। छठी कण्डिका तक स्पष्ट हैं। ७ वीं कण्डिका से यह प्रतीत होता है कि विद्वान् लोग अन्दर जो संविधान तय्यार करते हैं वह बैठ कर तय्यार किया जाता है। परन्तु सभा में प्रकाशित करते समय बोलने वाले को खड़े होकर बोलना चाहिए। इसीलिये कहा “आसीनस्तमाधारयति यं मन-से आधारयति तिष्ठंस्तं यं वाचे” ७। आठवीं कण्डिका से यह प्रतीत होता है कि प्रजा में राजा की ओर से संविधान उपस्थित करने वालों का आसन सभापति के दाहिनी ओर अन्य लोगों से पृथक् कुछ ऊँचा होना चाहिये जिससे गड़बड़, अस्तव्यस्तता, विचार शैथिल्यादि दोषों से बचे रहें। ८।

पूर्वाधार सुब से, चुपचाप, बैठ कर किया जाता है। उत्तराधार, सुचा से, बोलकर खड़े होकर किया जाता है। तात्पर्य यह कि पहिले जो रूप-रेखा तय्यार की जाती है, वह चुपचाप एकान्त में मनन पूर्वक बैठ कर तय्यार की जाती है। फिर जब सभा में उपस्थित हो तब खोल कर वाणी द्वारा सब को सुनाई जाती है। और वाद-विवाद तथा मन्थन-पूर्वक उसका निर्णय होता है इस सभा में लोग खड़े होकर अपना आशय कहते हैं। ६। १०। ११। १२

पूर्वाधार के पश्चात् उत्तराधार से पहिले सम्मार्जन क्रिया है। इसका अर्थ है कि सभा में विवाद उपस्थित होने से पूर्व रूप रेखा सब के पास पहुँचनी चाहिये और इस ढङ्ग से पहुँचनी चाहिये कि सबका ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो। होता का धर्म है कि वह लोगों को स्वयं इस बात के लिये प्रेरित करे कि वे उस विषय पर विचार करें जिससे उसे सब की सम्मति प्राप्त हो सके। यह इस प्रकार है जैसे आगे बढ़ कर ज्ञानाग्नि-रूपी बैल को चाबुक मार कर तेज करना। उसके पश्चात् उत्तराधार है। सो यद्यपि बीच में यह छोटा सा कर्म आ गया है, परन्तु वास्तव में यह दोनों आधार एक ही हैं, भिन्न-रूप से हैं, वास्तव में भिन्न नहीं।

प्रत्येक प्रश्न पर तीन बार लोगों की सम्मति आनी चाहिये, इसीलिये “त्रिः सम्मार्ष्टि” कहा है। १३। १४। १५

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्

अथ चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्

अब दोनों आधारों का परस्पर सम्बन्ध कह कर दोनों आधारों के बीच में होने वाली क्रिया तथा उत्तराधार की व्याख्या आरम्भ होती है:—

स सुचोत्तरमाधारमाधारयिष्यन् । पूर्वेण सुचावज्जलिं निदधाति “नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः” (यजुः २।७) इति तदेवेभ्यश्चैव तत्पितृभ्यश्चात्विज्यं करिष्यन्निन्हुते “सुयमे मे भूयास्तमि” (यजुः २।७) ति सुचावादत्ते सुभरे मे भूयास्तं भर्तुं वा० शकेयमित्येवैतदाहा “स्कन्नामद्य देवेभ्य आज्य० सम्भ्रयासमि” (यजुः २।८) त्यविजुध्वमद्य देवेभ्यो यज्ञं तनवाऽ इत्येवैतदाह ॥१॥ “अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषमि” (यजुः २।८) ति । यज्ञो वै विष्णुस्तस्माऽएवैतन्निन्हुते मात्वावक्रमिषमिति “वसु मतीमग्ने ते छायामुपस्थेषमि” (यजुः २।८) ति साध्वीमग्ने ते छायामुपस्थेषमित्येवैतदाह ॥२॥ “विष्णोस्थानमसी” (यजुः २।८) ति । यज्ञो वै विष्णुस्तस्येव ह्येतदन्तिकं तिष्ठति तस्मादाह विष्णोस्थानमसीती “त इन्द्रो वीर्यमकृणोदि” (यजुः २।८) त्यतो हीन्द्रस्तिष्ठन्दीक्ष्यतो नाष्टा रक्षा०स्यपाहंस्तस्मादाहेत इन्द्रो वीर्यमकृणोदि “त्यूध्वोऽध्वर आस्थादि” (यजुः २।८) त्यध्वरो वै यज्ञ ऊध्वो यज्ञ आस्थादित्येवैतदाह ॥३॥ “अग्ने वेहोत्रं वेदूत्य” (यजुः २।९) मिति । उभयं वा ऽएतदग्निदेवाना० होता च दूतश्च

तदुभयं विद्वि यदेवानामसीत्येवैतदाहा “वतां त्वां द्यावापृथिवी ऽअव त्वं द्यावापृथिवी” (यजुः २।९) ऽइति नात्र तिरोहितमिवास्ति “स्विष्टकृदेवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषाभूत्स्वाहे” (यजुः २।९) तीन्द्रो वै यज्ञस्य देवता तस्मादाहेन्द्र आज्येनेति वाचे वा ऽएतमाधारमाधारयतीन्द्रो वागित्यु वाऽआहुस्तस्माद्वेवाहेन्द्र आज्येनेति ॥४॥ अथासं०स्पर्शयन्त्सुचौ पर्येत्य । ध्रुवया समनक्ति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आधार आत्मा वै ध्रुवा तदात्मन्येवैतच्छिरः प्रतिदधाति शिरो वै यज्ञस्योत्तर आधारः श्रीर्वै शिरः श्रीर्हि वै शिरस्तस्माद्योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवत्यसावमुण्यार्द्धस्य शिर इत्याहुः ॥५॥ यजमान एव ध्रुवामनु । योऽस्माऽअरातीयति स उपभृतमनु स यद्वोपभृता समञ्ज्याद्यो यजमानायारातीयति तस्मिञ्छ्रियं दध्यात्तद्यजमान ऽएवैतच्छ्रियं दधाति तस्माद्ध्रुवया समनक्ति ॥६॥ स समनक्ति । “सं ज्योतिषा ज्योतिरि” (यजुः २।९) ति ज्योतिर्वा ऽइतरस्यामाज्यं भवति ज्योतिरितरस्यां ते ह्येतदुभे ज्योतिषी सङ्गच्छेते तस्मादेव० समनक्ति ॥७॥ अथातो मनसश्चैव वाचश्च । अहम्भद्रऽ उदितं मनश्च ह वै वाक्चाहम्भद्रऽ उदाते ॥८॥ तद्ध मन उवाच । अहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मि न वै मया त्वं किं चनानभिगतं वदसि सा यन्मम त्वं कृतानुकरानुवर्त्मास्यहमेव त्वच्छ्रेयोऽस्मीति ॥९॥ अथ ह

वागुवाच । अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद्वै त्वं
वेत्थाहं तद्विज्ञपयाम्यहं संज्ञपयासीति
॥१०॥ तेप्रजापतिं प्रतिप्रश्नमेयतुः । स
प्रजापतिर्भनसऽएवानूवाच भन एव त्वच्छ्रेयो
भनसो वै त्वं कृतानुकरानुवर्त्मासि श्रेयसो
वै पापीयान्कृतानुकरोऽनुवर्त्मा भवतीति
॥११॥ सा ह वाक्प्रोक्ता विसिष्मिये ।
तस्यै गर्भः पपात सा ह वाक्प्रजापतिमुवा-
चाहव्यवाडेवाहं तुभ्यं भूयासं यां मा परा-
वोच इति तस्माद्यत्किं च प्राजापत्यं यज्ञे
क्रियतऽउपांश्चैव तत्क्रियतेऽहव्यवाडूढिवा-
क्प्रजापतयऽआसीत् ॥१२॥ तद्वैतदेवाः ।
रेतश्चर्मन्वा यस्मिन्वा बभ्रस्तद्व स्म पृच्छ-
न्त्यत्रेव त्याशदिति ततोऽत्रिः सम्बभूव
तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्येतस्यै हि यो-
पायै वाचो देवताया एते सम्भूताः ॥१३॥

इति चतुर्थध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

“सुचा द्वारा उत्तराघार करने की इच्छा से
(अध्वर्यु) सुचों के पूर्व की ओर अञ्जलि रखता
है और “नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः”
(यजुः २।७) यह वाक्य बोलता है। सो
ऋत्विक् कर्म करने से पूर्व देव और पितरों
का निहोरा करता है। नमः और स्वधा दोनों
शब्दों का अर्थ अन्न है। परन्तु नमः देवों का
अन्न है और स्वधा पितरों का (देखा स्वर्ग
पृ० १८)। अब आगे उत्तराघार में वज्र
बनना है सो उसमें मुख्य ध्यान देवों के वेतन
(नमः) और पितरों की पेन्शन (स्वधा) का

करना पड़ेगा। इसलिये यहाँ उन दोनों का
उच्चारण कर दिया। वज्र और है क्या ?
मुख्यतया यही दो अंश उसमें हैं। तीसरा
अंश क्रय-विक्रय है सो उसका वर्णन मन्त्र के
अगले भाग में करते हैं। यह दोनों सुचा जुहू
और उपभृत् परमात्मा की कृपा से मेरे लिये
सुयम अर्थात् उठाये जाने योग्य, सम्भालने
योग्य हों, मैं इन्हें सम्भाल सकूँ। तात्पर्य यह
कि उत्तराघार (वज्र) तबही ठीक बनेगा जब
जुहू (व्यय) और उपभृत् (आय) (देखा
पृ० १६२) दोनों ठीक सम्भले हुए हों। इस
लिये कहा है आय-व्यय तुम दोनों मेरे द्वारा
सुख से नियन्त्रित रहो, मैं भरण कर सकूँ
यही कहता है,—“सुयमे मे भूयास्तम्”
(यजुः २।७) इस प्रकार आय-व्यय के
वर्णन में वेतन पेन्शन के अतिरिक्त क्रय-विक्रय
भी सम्मिलित हो गए।

सो मैं जो व्यय करूँ सो देवों तक पहुँचे
कहीं स्कन्न न हो (Leakage न हो), मैं
अविश्रुब्ध होकर देवों के लिये यज्ञ का विस्तार
करूँ यही कहता है। फिर यजति स्थान
की ओर बढ़ते समय अध्वर्यु वाक्य पढ़ता
है—“अङ्घ्रिणा विष्णो मात्वाऽव क्रभियम्”
(यजुः २।८) इसकी व्याख्या से पहिले विष्णु
और इन्द्र में भेद समझ लेना चाहिये। विष्णु
और इन्द्र दोनों त्वष्टा के विरोधी हैं। त्वष्टा
व्यक्ति के अधिकारों का प्रतिनिधि है। और
यह दोनों समाज के। किन्तु इनमें आपस में

वही भेद है जो शासन और प्रजा में है, जो Government और People में है। वास्तव में तो त्वष्टा और विष्णु की लड़ाई होनी चाहिए। किन्तु राष्ट्र की लड़ाई त्वष्टा से (अथवा उसकी दुष्ट सन्तान से) होती है शासन के रूप में ही। इसलिये हम इन्द्र और त्वष्टा को लड़ता पाते हैं। इधर विष्णु अर्थात् राष्ट्र तो सोता रहता है। जब इन्द्र को मुस-बत पड़ती है उसे जगा देता है। इसीलिये विष्णु शक्ति में बड़ा होने पर भी उपेन्द्र कहलाता है। असली कार्य करता है इन्द्र। अब अध्वर्यु अर्थात् प्रबन्धकर्त्ता बजट तथा कार्यक्रम बनाते समय कहता है—हे विष्णो! हे राष्ट्र! मैं अपने पैर से तुझे कभी न लाँघूँ। अर्थात् पग पग तेरी आज्ञा से रक्खूँ। विष्णु नाम यज्ञ अर्थात् राष्ट्रका है। यदि किसी छोटे संगठन को विष्णु मानलें तो वहाँ भी बजट उस सारे समुदाय के हित की दृष्टि तथा आज्ञा से बनना चाहिये। इसलिये कहा हे विष्णो! हे संगठन! मैं अपने पैर से तुझे कभी अवक्रान्त न करूँ। सो यज्ञ रूप विष्णु है उसके आगे निहोरा करता है। “मात्वाऽ-वक्रमिषम्।” हे अग्ने! हे विशेषज्ञ! मैं तेरी वसुमती धन्वर्षिणी छाया में सदा उपस्थित रहूँ, सो यह तेरी मङ्गलमय छाया में रहूँ ऐसा कहता है।^{२१} कार्यकर्त्ता के खड़े होने के स्थान को कहता है “विष्णोःस्थानमसि” (यजु० २१८ सो विष्णु नाम यज्ञ का है उसके ही समीप खड़ा होता है। इसलिये कहा—

“विष्णोःस्थानमसि।” “इत इन्द्रो वीर्यम-कृणोत्।” (यजु० २१८) इस राष्ट्र से ही विष्णु ने सदा शक्ति पाई, यहीं खड़ा होकर दाहिनी ओर नाशकारी राक्षसों को मारता था। इसलिये कहा—“इत इन्द्रो वीर्यमकृणोत्।” यहाँ से (राक्षसों के मारे जाने के कारण) वह अध्वर में, हिंसा रहित राज्य में, ऊँचा पद पाता था।^{२३} आगे वाक्य पढ़ता है “अग्ने वे होत्रम् वे दूत्यम्।” (यजु० २१९) हे अग्ने! (विशेषज्ञ) तू होत्रम् (बुलाना) दूत्यम् (सन्देश लेजाना) यह दोनों जान। अग्नि देवों का होता तथा दूत दोनों है। वह दोनों जान यही यहाँ कहा है। तू आवापृथिवी (आय व्यय) की रखवाली कर, आवापृथिवी तेरी रखवाली करें! द्यौः वर्षा करने के कारण व्यय और पृथिवी उपजाऊ होने के कारण आय है। जो होता और दूत दोनों होगा वह पदार्थों में से दिव्य शक्तियों को बुलाएगा भी और हमारी शक्तियें उन तक पहुँचाएगा भी। होता आय बढ़ाने वाला और दूत व्यय बढ़ाने वाला इन दोनों को जानने वाला ही स्विष्टकृत, ठीक ठीक यज्ञ करने वाला, होगा। इसीलिये कि इन दोनों को जान कर ही इन्द्र वृत्त रूप हवि से स्विष्टकृत हुआ। क्या अच्छा कहा—“इन्द्र आज्येन” (यजु० २१९) इसलिये कहा कि इन्द्र ही यज्ञ का देवता है। अथवा यह आचार वाणी के लिये किया जाता है अथवा वाणी इन्द्र है ऐसा कहते हैं इसीलिये कहा—

“इन्द्र आज्येन” १४। फिर सुचों को (जुहू तथा उपभृत् को) परस्पर स्पर्शन करता हुआ जुहू में से कुछ घृत ध्रुवा के घृत में डालता है (इसे समञ्जन कहते हैं)। यह उत्तराधार यज्ञ का सिर है। ध्रुवा यज्ञ का आत्मा है। सो सिर को आत्मा के आश्रय करता है। उत्तराधार यज्ञ का सिर है। और लक्ष्मी सङ्गठन का सिर है। श्रीः और सिर एक ही हैं। इसीलिये जो जिस भाग में (अर्ध में) बड़ा होता है उसे उस धड़ का सिर कहते हैं। भाव यह कि आय और व्यय दोनों का प्राण स्थिर कोष है। उसका ध्यान रख कर ही सारा वज्रट आदि बनना चाहिये। और आय व्यय का भी हिसाब स्पष्ट अलग अलग होना चाहिये। इसीलिये उन्हें परस्पर स्पर्श नहीं होने देते १५। ध्रुवा यजमान है। जो उसका विरोधी है सो उपभृत् है। यदि उपभृत् के साथ जुहू का समञ्जन किया जाय तो यजमान की श्री उसके पास चली जायगी। जो यजमान को उसका अंश नहीं देना चाहता किन्तु इस प्रकार ध्रुवा का समञ्जन करने से श्री यजमान के पास ही रहती है। इसीलिये ध्रुवा से समञ्जन करना है। इसका भाव यह है कि स्थिर कोष यजमान के पास रहना चाहिये। और आय व्यय दोनों का हिसाब उसके पास जाना चाहिये। जहाँ आय का हिसाब यजमान को नहीं पहुँचता वहाँ आय के ग्रहण करने वाले उसे यजमान को न देकर स्वयं रख लेते हैं। इसलिये उसके अ+राति

(न देने वाले=शत्रु रा दाने) होजाते हैं १६। वह समञ्जन के समय वाक्य बोलता है “संज्योतिषा ज्योतिः” (यजु० २।६) आय रूप ज्योति स्थिर कोष रूप ज्योति से सङ्गत ही। उपभृत् में विद्यमान घृत भी ज्योति होता है, ध्रुवा में भी घृत ज्योति होता है। सो यहाँ वे दोनों ज्योति इकट्ठी हो जाती हैं। इसीलिये इस मन्त्र से समञ्जन करता है १७। अब यहाँ एक मन की और वाणी की (कहते हैं)। एक समय दोनों “मैं बड़ा” “मैं बड़ी” इस प्रकार कहने लगे १८। सो मन बोला देख मैं ही तुझ से बड़ा हूँ तू कोई बात ऐसी नहीं बोलती जो मुझे पहिले ही ज्ञात नहीं होती। सो तू जो मेरी किये का अनुकरण करनेवाली, मेरी राह पर चलने वाली, है इसलिये मैं तुझ से बड़ा हूँ १९। अब वाणी बोली मैं ही तुझ से बड़ी हूँ। जो कुछ तू जानता है उसे मैं ही प्रकाशित करती हूँ मैं ही समझाती हूँ २०। वे दोनों झगड़ते-झगड़ते प्रजापति के द्वार में न्याय कराने पहुँचे। उस प्रजापति ने मन के पक्ष में ही निर्णय किया। मन ही तुझ से बड़ा है। तू मन का अनुकरण करने वाली, उसकी राह पर चलने वाली है। छोटा बड़े का अनुकरण करने वाला, उसकी राह पर चलने वाला, होता है २१। इस प्रकार फटकारी जाकर वाणी अत्यन्त खिन्न हो गई। इस दुःख के मारे उसका गर्भ गिर गया। वह प्रजापति से बोली जा मैं तेरे लिये कभी हवि का वहन न करूँ जिसने मुझे दुतकार दिया। इसलिये

यज्ञ में प्रजापति के नाम का जो कर्म किया जाता है, वह चुपचाप ही किया जाता है। क्योंकि वाणी प्रजापति के लिये हवि वहन नहीं करती थी। १२। वह जो गिरा हुआ वीर्य था उसे देवों ने चमड़े में अथवा किसी पदार्थ में जा दबाया। पर लोग पूछते ही रहे “वह यहाँ छिपा है” “वह यहाँ छिपा है”। इसी में से अत्रि उत्पन्न हुआ। बस अत्रि वाली स्त्री को आत्रेयी कहते हैं (रजस्वला को आत्रेयी कहते हैं)। इसीलिये जो आत्रेयी से बात करता है वह दोषी कहलाता है। क्योंकि वह विकृत गर्भ इसी प्रकार की वाणी रूप स्त्री से पैदा हुए। १३।

इस कथा का भाव यह है कि किसी सभा में उपस्थित होने से पहिले बजट संविधान, कार्य-क्रमादि सब उपज्ञान कर्म (Creative कार्य) एकान्त में चुपचाप होने चाहियें। क्योंकि चुपचाप में परिपक्वता आती है। कोलाहल में नहीं। जो लोग इस प्रकार के गम्भीर कार्यों में लगे हों उन्हें रहस्य गोपन भली प्रकार आना चाहिये। साधारण प्रजा में हरेक रहस्य के विषय में गपोड़े घड़ने की प्रवृत्ति होती है। किन्तु उन्हें इन गपोड़ों से डरना नहीं चाहिये। वह घड़े ही इसलिये जाते हैं कि उनसे तङ्ग आकर लोग रहस्य उगल दें। किन्तु जब वह नहीं बताते तो अत्रि (Idle curiosity) उत्पन्न होता है। किन्तु ऐसी प्रजा से इसी प्रकार दूर रहना चाहिये, जैसे रजस्वला स्त्री से। क्योंकि यदि वह

गम्भीर उत्तर-दायित्व रखने वाले लोग प्रजा से दूर न रहें तो ऐसे गपोड़े पैदा होते हैं जैसे रजस्वला से भोग करने से विकृत गर्भ होते हैं। अथवा गर्भ-पात होता है। इस प्रकार अच्छे-अच्छे संविधानों का भ्रूण-पात (Abortion) हो जाता है। इसलिये प्राजापत्य कार्य करने वालों को अर्थात् कोई नया संविधान (Scheme) बनाने वालों को अपना कार्य चुपचाप ही करना चाहिये, और जब तक वह कार्य परिपक्व न हो बाहिर न आने देना चाहिये। नहीं तो वह रजस्वला में गर्भाधान के समान होगा। यहाँ यह दृष्टान्त इसी लिये दिया गया है कि रहस्य गोपन करने वालों को उनका उत्तर-दायित्व बताया जावे। मनुष्य में मण्डली में बैठकर अपने आपको बड़ा बनाने की और शेखी मारने की एक उतावलेपन की प्रवृत्ति होती है। वही उससे रहस्योद्घाटन करवाती है। इस प्रकार के मनुष्यों को शतपथ ने यह घृणा दिलाई है कि तुम्हारा कार्य ऐसा ही घृणित और पलीत है जैसे रजस्वला से गमन करना। जैसे रजस्वला से गमन अत्यन्त कामातुर मनुष्य करता है इसी प्रकार यह कार्य गौरवातुर मनुष्य करते हैं। गौरवातुरता इतनी ही बुरी है जितनी कामातुरता।

इति चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम्

अथ पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणं

अब प्रवराश्रावण विधि की ओर आते हैं। उधर अध्वर्यु ने होता की सलाह से

संविधान और उत्तराधार तय्यार किये, उधर होता ने सारा कार्यक्रम बनाया। अब इससे पहिले कि पुरोडाश अर्थात् एक नये स्नातक को कार्य्य सिखाने के लिए उससे कार्य्य लिया जाय, उस कार्य्य के भिन्न भिन्न अंगों के परस्पर सम्बन्ध का नाटक प्रयाज के नाम से किया जायगा। किन्तु उस से पहिले होता अपने पद पर स्थित होकर जो शपथ लेता है उसका वर्णन करते हैं। जिस से जो भी पुरुष राष्ट्र में किसी विभाग में विशेषज्ञ (Expert) रूप से स्थित किये जायें वे समझें कि उत्तरदायित्व क्या है? और शपथ किस प्रकार ली जाती है। इस विधि का नाम प्रवराश्रावण है। अर्थात् होता के प्रवर (वरण किए जाने) के समय आश्रावण सारी सभा को सावधान होकर सुनो इस प्रकार कहना—

स वै प्रवरायाश्रावयति। तद्यत्प्रवरा-
याश्रावयति यज्ञो वाऽआश्रावणं यज्ञमभि-
व्याहृत्याथ होतारं प्रवृणाऽइति तस्मात्प्रव-
रायाश्रावयति ॥१॥ स इध्मसन्नहनान्ये-
वाभिषद्याश्रावयति। स यद्वानारभ्य यज्ञम-
ध्वर्युराश्रावयेद्वेपनो वा ह स्यादन्यां वार्त्ति-
मार्जेत् ॥२॥ तद्वैके। वेदे स्तीर्णायै बर्हि-
मिषद्याश्रावयन्तीध्मस्य वा शकलमपच्छि-
द्याभिषद्याश्रावयन्तीदं वै किञ्चिद्यज्ञस्येदं
यज्ञमभिषद्याश्रावयाम इति वदन्तस्तदु तथा
न कुर्यादेतद्वै किञ्चिद्यज्ञस्य यैरिध्मः सन्नद्धो

भवत्यग्निं सम्मृजन्ति तद्वेव खलु यज्ञमभि-
षद्याश्रावयति तस्मादिध्मसन्नहनान्येवाभि-
षद्याश्रावयेत् ॥३॥ स आश्राव्य। य एव
देवानां होता तमेवाग्रे प्रवृणीतेऽग्निमेव
तदग्रे चैवैतदेवेभ्यश्च निह्नुते यदहाग्रेऽग्निं
प्रवृणीते तदग्रे निह्नुतेऽथ यो देवानां होता
तमग्रे प्रवृणीते तदु देवेभ्यो निह्नुते
॥४॥ स आह। अग्निर्देवो दैव्यो होतेत्य-
ग्निर्हि देवानां होता तस्मादाहाग्निर्देवो
दैव्यो होतेति तदग्रे चैव देवेभ्यश्च निह्नुते
यदहाग्रेऽग्निमाह तदग्रे निह्नुतेऽथ यो
देवानां होता तमग्रऽआह तदु देवेभ्यो
निह्नुते ॥५॥ देवान्यद्द्विद्वांश्चिकित्वानिति।
एष वै देवाननु विद्वान्यदग्निः स एनाननु
विद्वाननुष्ठया यद्दित्येवैतदाह ॥६॥ मनु-
ष्वद्भरतवदिति। मनुर्ह वाऽअग्रे यज्ञेनेजे
तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते तस्मादाह मनु-
ष्वदिति मनोर्यज्ञऽइत्यु वाऽ आहुस्तस्माद्वे-
वाह मनुष्वदिति ॥७॥ भरतवदिति। एष
हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद्भरतोऽग्निरि-
त्याहुरेष उ वाइमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा वि-
भर्त्ति तस्माद्वेवाह भरतवदिति ॥८॥ अथा-
र्षेयं प्रवृणीते। ऋषिभ्यश्चैवैनजेतदेवेभ्यश्च
निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति

तस्मादार्पणं प्रवृणीते ॥६॥ परस्तादर्वाङ्म-
 वृणीते । परस्ताद्वर्वाच्यः प्रजाः प्रजायन्ते
 ज्यायसस्यतयऽउ चैवैतन्निहनुत ऽइदं हि
 पितैवाग्नेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रस्तस्मात्परस्तादर्वा-
 ङ्मप्रवृणीते ॥१०॥ स आर्पणमुक्त्वाह ।
 ब्रह्मण्वदिति ब्रह्मह्यग्निस्तस्मादाह ब्रह्मण्व-
 दित्या च वक्षदिति तथा एवैतदेवता आवो-
 ढ्वाऽआह ता एवैतदाहा च वक्षदिति
 ॥११॥ ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितार
 इति । एते वै ब्राह्मणा यज्ञस्य प्रावितारो ये
 ऽनुचाना एते ह्येनं तन्वतऽएतऽएनं जन-
 यन्ति तदु तेभ्यो निहनुते तस्मादाह ब्राह्मणा
 अस्य यज्ञस्य प्रावितार इति ॥१२॥ असौ
 मानुष इति । तदिमं मानुषं होतारं प्रवृ-
 णीतेऽहोता हैष पुराथैतर्हि होता ॥१३॥ स
 प्रवृत्तो होता जपति । देवता उपधावति
 यथानुष्ठ्या देवेभ्यो वषट् कुर्याद्यथानुष्ठ्या
 देवेभ्यो हव्यं वहेद्यथा न ह्वलेदेवं देवता-
 उपधावति ॥१४॥ तत्र जपति । एतच्चा
 देव सवितर्वृणत ऽइति तत्सवितारं प्रसवा-
 योपधावति स हि देवानां प्रसविताग्निं
 होत्रायेति तदग्नये चैवैतदेवभ्यश्च निहनुते
 यदहाग्नेऽग्निमाह तदग्नये निहनुतेऽथ यो
 देवानां होता तमग्र ऽआह तदु देवेभ्यो

निहनुते ॥१५॥ सह पित्रा वैश्वानरेणेति ।
 संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः प्रजापतिस्त-
 त्संवत्सरायैवैतत्प्रजापतये निहनुतेऽग्ने पूषन्
 बृहस्पते प्र वद प्र च यजेत्यनुवक्ष्यन्वा
 ऽएतद्यक्ष्यन् भवति तदेताभ्य एवैतदेवताभ्यो
 निहनुते यूयमनुब्रूत यूयं यजतेति ॥१६॥
 शतम् ४०० ॥ वसूनां रातौ स्यात् ।
 रुद्राणामुर्व्यायां स्वादित्या आदितये स्या-
 मानेहस इत्येते वै त्रया देवा यद्वसवो रुद्रा
 आदित्या एतेषामभिगुप्तौ स्यामेत्येवैतदाह
 ॥१७॥ जुष्टमद्य देवेभ्यो वाचमुद्यासमिति ।
 जुष्टमद्य देवेभ्योऽनुच्यासमित्येवैतदाह तद्वि
 समृद्धं यो जुष्टं देवेभ्यो ऽनुब्रवत् ॥१८॥
 जुष्टां ब्रह्मभ्य इति । जुष्टमद्य ब्राह्मणेभ्यो
 ऽनुच्यासमित्येवैतदाह तद्वि समृद्धं यो जुष्टं
 ब्राह्मणेभ्योऽनुब्रवत् ॥१९॥ जुष्टां नराशं
 सायेति । प्रजा वै नरस्तत्सर्वाभ्यः प्रजाभ्य
 आह तद्वि समृद्धं यश्च वेद यश्च न साध्व-
 न्ववोचत्साध्वन्ववोचदित्येव विस्मृज्यन्ते
 यदद्य होतृवर्ये जिह्वं चक्षुः परापतत् अग्नि-
 ष्टपुनराभियाज्जातवेदा विचर्षणिरिति यथा
 यानग्नेऽग्नीन्होत्राय प्रावृणत ते प्राधन्वन्नेवं
 यन्मेऽत्र प्रवरेणासायि तन्मे पुनराप्यायये-
 त्येवैतदाह तथो हास्यैतत्पुनराप्यायते ॥२०॥

मेळि मदनतं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं
सत्यवाचम् ॥ ऋ० ३।२६।६

इत्थं विदुषो धारावर्षित्वमुक्तम् । इदानीं
पर्जन्यस्य तदुपमानतया वर्णनम्—

अस्मभ्यमिन्द्रविन्द्रयुर्मध्वः पवस्व धारया ।

पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ॥ ऋ० ६।२।६।

अथेदानीं पर्जन्यत्वेन वर्णनम्—

“पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा
पृथिव्या गिरिषु क्षयं दधे । स्वसार आपो
अभि गा उतासरन्त्स ग्रावभिर्नसते वीते
अध्वरे ॥ ऋ० ६।८।२।३॥

अस्या ऋचोऽर्थस्त्वेवम्—

“पर्णिनस्तर्पणशीलगुणयुक्तस्य महिषस्य
महतो विदुषः पिता ज्ञानदत्त्वेन गुरुः पितेत्यु-
च्यते पालकत्वात्, पर्जन्यस्तर्पयिता जनहित-
करश्च गिरिषु तपोधननिवासयोग्येषु पृथि-
व्या ब्रह्मचर्याश्रमस्य नाभावानुकूले स्थले क्षयं
निवासं दधे । तं गुरुकुलात् समावृत्तं महिषं

महान्तं सोमं स्नातकमभिलक्ष्य तस्य स्वसारो
भगिन्योऽसरन् प्रत्युद्गमनाय स्नेहरसनिर्भ-
रेण मनसाऽभ्यागच्छन् । आपो अन्याश्च
योषित आगच्छन् । तथा च “योषा वै आपः”
इति ब्राह्मणम् । उत गाः गोदानमङ्गलार्थमा-
नीयमाना गा अपि तमभ्यसरन् । स च वीते
कमनीये अध्वरे यज्ञे समावर्तनाख्ये ग्रावभिः
स्तुतिकृद्भिर्विद्वद्भिस्सन् नसते सङ्गच्छते ।
मा चात्र सोमाख्यस्यौषधेर्वर्णनमित्याशङ्कि ।
उत्तरस्मिन्नेव मन्त्रे भगवता वेदेन “अन्तर्वा-
णीषु प्रचरा सुजीवसेऽनिन्द्यो वृजने सोम
जागृही”ति सोमस्य वाङ्मयधारावगाहने-
ऽव्याहतप्रचरणारूपानदर्शनात् । अस्यैव
सोमस्य ऋग्० ६।१।३ तमे सूक्ते “ऋतं वद-
न्तद्युम्ना”दि मन्त्रे वर्णनम् । तत्रापि चायं
पर्जन्यवृद्ध इत्युच्यते तस्माज्ज्ञानाख्यस्य शरस्य
विद्वद्रूपः पर्जन्यः पितेत्यव्याहतम् । सोमस्य
स्नातकाभिधायकत्वे प्रमाणान्तराण्यस्माकं

कहा है । ऋग् ६।२।६ में विद्वान् स्नातक को
वृष्टिमान् पर्जन्य (मेघ) से उपमा दी गई है ।
ऋग्० ६।८।२।३ में विद्वान् स्नातक को ‘पर्जन्य’
ही कहा है । इस मन्त्र का अर्थ है—“यह
सोम अर्थात् विद्वान् स्नातक पर्जन्य है, ज्ञान
से लोगों का तपण करने वाले बड़े-बड़े
ज्ञानियों का यह गुरु बन कर पिता कहलाता
है, यह पृथिवी अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में निवास
करके आता है, जब वह गुरुकुल से पढ़कर

आता है तो उसकी बहिनें उसका स्वागत
करने के लिये आगे आती हैं, नगर की अन्य
स्त्रियों भी स्वागत करने के लिये आगे आती
हैं, गोदान मंगल के लिये लाई गई गौवें भी
उसके पास आती हैं, वह समावर्तन-यज्ञ
में अनेक ग्रावा अर्थात् विद्याओं का गान
करनेवाले विद्वानों से संगत होता है ।” इस
मन्त्र में सोम नामक ओषधि का वर्णन
है ऐसा नहीं समझना चाहिये । इससे

सोमाख्ये प्रबन्धेऽनुशीलनीयानि ।

व्या० प्र०—शतवृष्ण्यम् । वर्षतीति वृषा,
वृष सेचने, कनिन् युवृषितक्षीति (उ० १।
१५६) कनिन्, वृष्णिभवं वृष्ण्यम्, भवेश्छ-
न्दसि (पा० ४।४।११०) इति यत् ।

अल्लोऽपोनः (पा० ६।४।१३४) इत्युपधा-
लोपः । ये चा भावकर्मणोः (पा० ६।१।१६८)
इति प्रकृतिभावस्तु व्यत्ययेन न प्रवर्तते ।
तेना । अन्येषामपि दृश्यते (पा० ६।३।१३७)
इति सांहितिको दीर्घः । शम् । शमु उपशमने,
अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (पा० ३।२।७५) इति
विच् । शमिति सुखनामसु पठितम् (नि० ३।६)
उपशमनं रोगाणाम् (नि० ४।२१) । करम् ।

डुकृञ् करणे, छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (पा०
३।४।६) इति वर्तमाने लुङ्, कृ मृ हरुहि
भ्यश्छन्दसि (पा० ३।१।५९) इति च्लेरङादेशः,
बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि इति अडभावः ।
निषेचनम् । नि+सच सेचने भावे ल्युट्, उप-
सर्गात् सुनोति इति षत्वम् । बहिः । वह
प्रापणे औणादिकः इसुन् । बाल । अनुकरण-
शब्देऽयमित्यनेन प्रकारेण शब्दं कुर्वित्यर्थः,
यद्वा बल प्राणने, वधे च ण्यन्तयोरनयोः
क्विप् । इति । इण गतौ क्तिच् ॥१॥

अथेदानीन्तेषां मुञ्जदर्भादीनामपां ज्ञाना-
ख्यस्य शरस्य च मित्रो मित्रदेवोऽपि पितेति
वर्णयति :—

अगले ही मन्त्र में वेद ने कहा है कि
“हे सोम तू अनिन्द्य होकर उत्कृष्ट जीवन
लाभ करने के लिए वाणियों (विद्याओं) के
भीतर विचरण कर ।” यह वाङ्मय धाराओं
में विचरण करने वाला सोम ओषधि नहीं हो
सकता । यह विद्वान् ही हो सकता है । इसी
सोम को ही ऋगू० ६।१।१३ सूक्त के ऊपर
उद्धृत मन्त्रों में “सत्यज्ञान को बोलने वाला
और सत्य ज्ञान को ही धन समझने वाला”
कहा । यह सोम विद्वान् ही
हो सकता है । ऋषि दयानन्द ने इस
सूक्त के मन्त्रों को विद्वान् संन्यासी में
लगाया है । इन मन्त्रों में सोम को पर्जन्य-
वृद्ध कहा है । ऐसे विद्वान् को बढ़ाकर योग्य
बनाने वाला पर्जन्य कोई विद्वान् ही हो

सकता है । इस प्रकार ज्ञानरूप शर का
पिता पर्जन्य विद्वान् है यह सुस्पष्ट होजाता
है । सोम विद्वान् स्नातक का नाम है इस
में विशेष प्रमाण हमारे निबन्ध सोम में
देखें ।

अब अगले मन्त्र में यह बताते हैं कि
इन मुञ्ज-दर्भादि, जल और ज्ञान नामक
शरों का पिता मित्र भी है । शर जाति में
समाविष्ट दर्भ और जलों का पिता मित्र
नामक वायु है इस अर्थ को पहले लेकर
व्याख्या करते हैं । ब्राह्मण में लिखा है कि
मित्र और वरुण क्रम से प्राण और उदान
नामक वायु हैं (श० १।८।३।१२) । इस प्राण
या मित्र का एक गुण शास्त्रों में माधुर्य
कहा है । माधुर्य दर्भों में होता है । माधुर्य

विद्वा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्णयम् ।
 तेना ते तन्वे ३ शंकरं पृथिव्यां ते
 निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥२॥
 विद्वा । शरस्य । पितरम् । मित्रम् ।
 शतवृष्णयम् । तेन । ते । तन्वे । शम् ।
 करम् । पृथिव्याम् । ते । निऽसेचनम् ।
 बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥२॥

अ०—शरस्य पितरं शतवृष्णयं मित्रं
 विद्वा तेन ते तन्वे शं करं ते निषेचनं बहिः
 पृथिव्यामस्तु बाल् इति ॥२॥

तत्र पूर्व शरजातिप्रविष्टानां दर्माणाम-
 पाञ्च पिता मित्राख्यो वायुरिति तद्वर्णन-
 परतया व्याख्यानमारभ्यते । तत्र च प्रमाणम्
 “प्राणोदानौ वै मित्रावरुणाविति । श० १।८।
 ३।२॥ प्राणो वै मित्रः श० ६।५।१।५ ॥ ८।४।२।
 ६ ॥ १।२।१।२।१२॥ तस्य मित्रापरपर्यायस्य
 प्राणस्य गुणो माधुर्यं दर्भेषु दृश्यते । माधुर्यं

हि नाम ब्राह्मणानां गुणः । प्राणश्च “ब्रह्म-
 मित्रः” (श० ४।१।४।१) इति सकललोक-
 सान्त्वनतया शतपथब्राह्मणे ब्राह्मणत्वेन
 गीयते । अपान्तु मित्रावरुणौ जनकावेव ।
 तत्रप्रमाणम् :—

विद्युतो ज्योतिः परि सञ्जिहानम् मित्रा-
 वरुणा यदपश्यतां त्वा ।

तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा
 विश आजभार । ऋ० ७।३।१०

“हे वसिष्ठ ! यन्मित्रावरुणौ प्राणोदाना-
 ख्यौ वायू विद्युतो हेतोः स्वीयं ज्योतिर्वायु-
 भूतं रूपं परि सञ्जिहानं त्वां यदपश्यतां तत्त
 एकं जन्म यदा त्वां विशः स्वसन्निवेशस्था-
 नादगस्त्यो भूमण्डलवलयभूतो नाइट्रोजन-
 प्रधानो वायुराजभार स्वोदरे प्रवेश्योद-
 गच्छत् ।”

योऽयं लोकसाधारणः पवनाख्यया
 प्रसिद्धो वायुः स मित्रावरुणयोरुभयोरपि
 संसर्गादुत्पन्न इति मैत्रावरुणिरुच्यते । वरुण-
 स्य प्राधान्याच्च वारुणिरित्युच्यते । जलन्तु

ब्राह्मण लोगों का गुण कहा गया है । और
 मित्र को ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्राह्मण बताया
 गया है (श० ४।१।४।१) । मित्र और वरुण
 जल को तो उत्पन्न करते ही हैं । इस में
 ऋग्वेद ७।३।१० मन्त्र प्रमाण है । मन्त्र का
 अर्थ इस प्रकार है—“हे वसिष्ठ (जल) तेरा
 एक तो जन्म यह है जबकि मित्र और
 वरुण (प्राण और उदान वायु) विद्युत् के

कारण अपना वायु रूप छोड़ते हुए तुम्हको
 देखते हैं, जबकि अगस्त्य (भूमण्डल को
 घेरने वाला नाइट्रोजन-प्रधान वायु) तुम्हें
 अपने रहने के स्थान से अपने भीतर
 भरकर ऊपर को उठता है ।” लोकप्रसिद्ध
 साधारण वायु मित्र और वरुण दोनों के
 संसर्ग से बनता है । इसलिये उसे मैत्रा-
 वरुणि कहते हैं । वरुण की उसमें प्रधानता

मित्रावरुणयोर्न संसर्गादपितु समन्वयादु-
त्पन्नमित्यनयोर्विशेषः । न च पूर्वं हाइड्रोजना-
ख्यं वायुं वरुणशब्देनाभिधाय कथमत्र नाइ-
ट्रोजनो वरुणशब्देनाख्यायत इत्याशङ्कनीयम् ।
प्राणचेष्टाच्छादकानां (वृञ् आच्छादने) सर्वे-
षामपि वायूनां वरुणाभिधानकुक्षौ प्रवेशात् ।
अगस्त्यस्य मुख्यत्वेन वारुणित्वं सामान्येन
मैत्रावरुणित्वञ्च वाल्मीकिरामायणे उत्तर-
काण्डे (५७ सर्ग ५ श्लोक) महाभारते वन-
पर्वणि च (१०४।१) द्रष्टव्यम् । अयमेव च
वायुः समुद्रजलमादाय गच्छतीत्यगस्त्यस्य
समुद्रशोषणकथामूलमित्यनुसन्धेयम् ।

अथ काविमौ मित्रावरुणाविति निपुणं
विवेचनमपेक्षते । मित्रो हि नाम पाश्चात्य-
तन्त्रे हाइड्रोजनाख्यो वायुरिति मुनिवरो
गुरुदत्तः । तमेवानुसरंश्चायर्षो चन्द्रमणि-
रपि विद्यालङ्कारस्तथैव प्रत्यपीपदत् ।
उभावप्येतावस्माकमभ्यर्हणाहौ ।

कस्य नाम न सुविदितस्मुनिवरस्य
गुरुदत्तस्य पाण्डित्यम् । कश्च नामायर्षो न
तन्नामप्रणतिपूर्वकमुदीरयति । अस्मज्ज्येष्ठ-
सतीर्थ्य आर्यश्चन्द्रमणिरपि निरुक्तभाष्य-
कृदक्षयां कीर्तिसंश्रुते । परमत्र तु भ्रान्तमु-
भाष्यामपीति भीतभीता निरुद्धनिःश्वासा-

होती है इसलिये उसे वारुणि भी कहते हैं ।
जल, मित्र और वरुण के संसर्ग से नहीं
अपितु समन्वय से बनता है । मित्र और
वरुण जल बनाते हैं ऐसा जब कहा जाता
है तब वरुण का अर्थ हाइड्रोजन नामक
वायु होता है । मित्र और वरुण वायु-
मण्डल के सामान्य वायु को बनाते हैं तब
वरुण का अर्थ नाइट्रोजन नामक वायु होता
है । जो वायु प्राण चेष्टा को आच्छादित
कर के रोक दें वे सारे ही वरुण हैं (वृञ्
आच्छादने) । अगस्त्य (वायुमण्डल) मुख्य
रूप से वारुणि है और सामान्येन मित्रा-

वरुणि है यह रामायण (उत्तर० ५७।५)
और महाभारत (वन प० १०४।१) से स्पष्ट
है । यही अगस्त्य वायु जल को लेकर
चलता है । अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया
इस पौराणिक कथा का मूल यही है । मित्र
और वरुण क्या हैं इसकी ज़रा और विवे-
चना करते हैं । पाश्चात्य विज्ञान में जिसे
हाइड्रोजन कहते हैं उस वायु का नाम मित्र
है, ऐसा मुनिवर पण्डित गुरुदत्त जी का
कहना है । उन्हीं का अनुसरण करते हुए
पण्डितवर चन्द्रमणि विद्यालङ्कार ने भी
ऐसा ही लिखा है । हमारी सम्मति में इन
दोनों विद्वानों का मत ठीक नहीं है । मित्र
का अर्थ उद्रजन (Hydrogen) है इसके
लिये मुनिवर गुरुदत्त जी ने निम्न तीन
हेतु दिये हैं :—

१. इतरेतरसम्भेदे षट्कद्वयगुणसम्पदुपेतद्रव्यप्र-
जननं संसर्गाः । विलक्षणद्रव्यजनकत्वञ्च समन्वयः ।
एतावेव पाश्चात्यतन्त्रे फिजिकल एक्शन कैमिकल एक्शन-
शब्दाभ्यामुच्येते ।

स्सत्यपरायणतया प्रसभं कशयेव ताड्य-
माना विदुषामन्तिकमुपसरामः । मित्रोऽयमु-
द्रजनाख्यो वायुरिति प्रतिजानानो मुनिवरो
हेतुत्रयमुदाहरति ।

(१) मित्रो मानहेतुः,

(२) सहकारी,

(३) मित्रो हि वैदिके वाङ्मय उदानेति
संज्ञायते ।

पूर्वं तावन्मित्रो मानहेतुरित्येव न सम-
ञ्जसम् । मित्रशब्दो हि दैवादिकान्मेद्यते “रमि-
चिमिदि शसिभ्यः कः” इत्यौणादिकेषु व्यु-
त्पन्नः । कचिच्च पुस्तकेष्वमिचिमिशसिभ्यः
कः इत्यपि लभ्यते पाठः । तत्रापि मिनोतेः प्रक्षे-
पणार्थादयमुत्पन्नः । तत्कथम्मानार्थोऽयमिति
चिन्त्यम् । स्नेहार्थान्मेद्यतेरयमुत्पन्न इति चे-
त्सहकारित्वं तत्तूभयोर्हाइड्रोजनौक्सिजनयोः
परस्परं स्नेहदर्शनात् समानमेव । उदानेति
संज्ञा मित्रे यदि लभ्यते तन्नियतं मुनिवरस्य

सारवान् पक्षः स्यात् । न तु तथा कचिदपि
लभामहे । विपरीतन्तु पश्यामः । तथा च
ब्राह्मणम् “प्राणोदानौ मित्रावरुणौ” । श०
३।२।२।१३ प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ ।
श० १।८।३।१२॥ ३।६।१।१६॥ ५।३।
५।३४॥ ६।५।१।५६॥

तत्र केचिद्ब्रूयुः किमनेन । न तावदत्र
प्राणोदानौ यथासंख्येन मित्रावरुणावपित्व
त्यात्तरमिति बलादुभयत्र मित्रप्राणयोः
पूर्वनिपातो वस्तुतस्तु मित्र उदानो वरु-
णश्च प्राण इति । परन्तु तदपि क्षोदक्षमम् ।
प्राणो वै मित्रः इति ब्राह्मणे सुस्पष्टं दर्शनात् ।
तथा च । “प्राणो वै मित्रः” इति श० ६।५।
१।५॥ श० ८।४।२।६॥ श० १२।६।२।
१२॥ स्थलेष्वास्नायते । परिशेषाच्चोदान इति
वरुणस्य नाम । उदानस्य वरुणत्वञ्चाचार्यो-
ऽपि ऋग्वेदे (२।२८।४, ६।५१।१) स्व-
भाष्ये पर्यपुष्णात् । उदानस्य हाइड्रोजनत्व-

१. मित्र का अर्थ है मान अर्थात् तोल
का हेतु ।

२. मित्र का अर्थ है सहकारी । उद्रजन
ओषजन (Oxygen) से मिलकर पानी
बनाता है ।

३. वैदिक साहित्य में मित्र को उदान
कहा गया है ।

अब पहले तो यही ठीक नहीं कि मित्र
का अर्थ मान हेतु होता है । यह शब्द दिवा-
दिगण की “जिमिदा स्नेहने” धातु से बनता

है । कहीं-कहीं मित्र शब्द को “मिन् प्रक्षेपणे”
धातु से भी बनाया गया है । कुछ भी हो
मित्र का मान अर्थ कभी नहीं हो सकता ।
स्नेहार्थक जिमिदा से बना मानकर सहकारी
अर्थ यदि किया जाय तो हाइड्रोजन और
ऑक्सिजन दोनों ही जल निर्माण में परस्पर
सहकारी हैं । मित्र की यदि उदान संज्ञा
मिल जाती तो मुनिवर का वचन सर्वथा
ठीक होता । पर ऐसा नहीं है । इसके विप-
रीत मित्र को प्राण और वरुण को उदान

न्तुभयवादिसम्मतम् । तथाहि शतपथब्राह्मणे-
 ऽन्तर्यामिग्रह उदानत्वमारोपयन्नाह भगवान्
 याज्ञवल्क्यः—“उदानो ह्यन्तर्यामोऽमुं (दिवं)
 ह्येव लोकमुदनन्नभ्युदनिति । श० ४।१।२।२६।
 अत्रास्य दिवमभ्युत्पतने शक्तिः सुस्पष्टैव ।
 आचार्य्योऽपि “स्फूर्तिहेतव ऊर्ध्वमन्यते चेष्ट-

यते येन तस्मै उत्क्रमणपराक्रमहेतव ।” इति
 व्याचष्टे (यजुः १।२०)

अथेदानीम्प्राणस्य मित्रत्वमुदानस्य च
 वरुणत्वं सहेतुकमुपपाद्य कोऽयम्प्राण
 इति निर्णेतुमुपक्रामामः । तत्रास्मा-
 कञ्जीवनाधारभूतः पाश्चात्यतन्त्र औक्सिजन-

कहा गया है । उदाहरण के लिये देखिए
 श० ३।२।२।१३। श० १।८।३।१२। श० ३।६।
 १।१६। श० ५।३।५।३४। श० ६।५।१।५६ कोई
 कह सकता है कि इन स्थलों में तो मित्रा-
 वरुण प्राणोदान हैं केवल इतना ही कहा
 गया है । यहां यथासंख्यता नहीं है कि
 मित्र प्राण है और वरुण उदान है । प्रत्युत
 प्राण को अल्पाच् होने से उदान से पूर्व पढ़
 दिया गया है । वस्तुतः मित्र उदान है और
 वरुण प्राण है ऐसा अभिप्राय है । यह भी
 ठीक नहीं है । क्योंकि शतपथ में अन्यत्र
 (श० ६।५।१।५ श० ८।४।२।६ श० १२।६।
 २।१२) स्पष्ट रूप में मित्र को प्राण कहा
 गया है इसलिये परिशेष से वरुण को ही
 उदान मानना होगा । ऋषि दयानन्द ने भी
 ऋग्वेदभाष्य में (ऋ० २।२।८।४ ऋ० ६।५।१।
 १) वरुण का अर्थ उदान किया है । उदान
 हाइड्रोजन का वाचक है ऐसा हम और मुनि-
 वर गुरुदत्त जी दोनों ही मानते हैं । शतपथ
 ब्राह्मण में (श० ४।१।२।२०) याज्ञवल्क्य
 ऋषि ने उदान का अर्थ हलका होने से

उठकर आकाश में उड़ जानेवाला किया है ।
 ऋषि दयानन्द ने भी उदान का अर्थ ऊर्ध्व-
 गति का, उत्क्रमण का हेतु ऐसा किया है ।
 (यजु० १।२०) ।

मित्र का अर्थ प्राण और वरुण का
 अर्थ उदान निश्चय करके अब यह निर्णय
 करते हैं कि प्राण का अर्थ क्या है । हमारे
 जीवन का आधारभूत, पाश्चात्य विज्ञान में
 जिसे औक्सिजन कहते हैं उस वायु का
 नाम प्राण है, ऐसी हमारी स्थापना है ।
 कई लोग इसे स्वीकार नहीं करते । गुरुकुल
 के योग्य स्नातक वीरेन्द्र वेदवाचस्पति और
 तड़ित्कान्त वेदालङ्कार हमारे इस मत का
 विरोध करते हैं । तड़ित्कान्त ने तो एक पत्र
 में हमारे मत का विस्तार से खण्डन भी
 लिखकर भेजा था । उस की युक्तियों का
 सार इस प्रकार है :—

१. गुदा के मार्ग से बाहर निकलने
 वाला अपान, प्राणापानव्यानादि में पड़े
 गये अपान से भिन्न है ।

२. नासिका की राह फेफड़ों में जाने

त्याख्यायाख्यायमानो वायुरित्यस्मत् पक्षः । तत् केचिन्न सहन्ते । तथा चाहरोला गुरुकुलेऽध्यक्षपदमधितिष्ठन् वेदवाचस्पति वीरेन्द्रो वेदालङ्कारश्च तडित्कान्तोऽस्मत् पक्षं प्रत्याचक्षते । वेदालङ्कारस्तु महता लेखेन प्रमाणोपवृंहितेनास्मान्त्सनाश्रितवान् । उभावप्यायुष्मन्तावनेकविद्यास्थानतत्त्वावगाहन-समुन्मीलितप्रज्ञावस्मदीयादेव गुरुकुलात् स-मावृत्तौ यदृच्छयाऽपि किञ्चिद् ब्रुवाणौ कथमिवोपेक्षायाः पात्रत्वमानेयौ किम्पुनर्यु-क्तियुक्तं वचो ब्रुवाणौ । तदित्यमाह तडित्-कान्तः—

१. गुदद्वारेण बहिर्निर्गच्छन्नपानः प्राणा-पानव्यानादिषु पठ्यमानादपानाद् भिन्नः ।

२. नहि नासिकामार्गेण फुफ्फुसद्वयं प्रविष्टो वायुरुदरं प्रविशति ।

३. प्राणश्च नासिकाद्वारेण बहिर्गच्छन् वायुरुच्यतेऽपानश्च नासारन्ध्रेणान्तः प्रवि-शन्निति ।

वाला वायु पेट में नहीं जाता । गुदा से निकलने वाला वायु भिन्न ही है । इसलिये गुदापान सामान्य अपान से भिन्न है ।

३. नासिका द्वारा बाहर निकलने वाला वायु प्राण है और नासिका द्वारा अन्दर शरीर में जाने वाला अपान है । भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने छान्दोग्य भाष्य में ऐसा ही लिखा है (छा० १।३।३) । सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में ऋषि दयानन्द

तत्र प्रमाणानि । तथाहि छान्दोग्योपनिष-दाभ्यामेव भगवाञ्छंकराचार्यो यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपान इति व्याहृतिं विवृण्वन्नाह “यद्वै पुरुषः प्राणिति मुखनासि-काभ्यां वायुं बहिर्निस्सारयति स प्राणाख्यो वायोवृत्तिविशेषः । यदपानिति अवश्वसिति ताभ्यामेवान्तराकर्षति वायुं साऽपानाख्या वृत्तिः” छान्दोग्य भाष्ये । १।३।३

आचार्येण सायणेनाप्यथर्व ७।५५।२ मन्त्रस्य भाष्ये “प्राणः नासिकाविवराद् बहिर्निर्गच्छन् वायुरपानः हृदयस्याधोभागे सञ्चरन् वायुरि” ति गदितम् । सत्यार्थप्रका-शस्य तृतीयसमुल्लासे यतीन्द्रोऽप्याह “प्राण, भीतर से वायु को निकालना, अपान, बाहर से वायु भीतर को लेना ।” तदिदं व्याकृति-विरुद्धं, स्वाशयविरुद्धं, प्रत्यक्षविरुद्धञ्च । पूर्वं तावद्व्याकृतिविरुद्धम् । यतो हि सायणस्वीये-ऽथर्ववेदभाष्ये एकादशे काण्डे द्वितीयस्मिन्न-नुवाके प्राणसूक्ते प्राणशब्दं व्युत्पादयन्नेवमाह

ने भी लिखा है कि “प्राण—भीतर से वायु को निकालना ; अपान—बाहर से वायु भीतर को लेना ।”

यह कथन व्याकृतिविरुद्ध स्वाशय-विरुद्ध और प्रत्यक्षविरुद्ध है । व्याकृतिविरुद्ध कसे है यह देखिये । सायणाचार्य ने अपने अथर्ववेदभाष्य के ग्यारहवें काण्ड के द्वितीय अनुवाक के प्राण सूक्त में प्राण शब्द की व्याकृति इस प्रकार दी है—“जो प्रकर्ष से

“प्रक्षेपणानिति सर्वशरीरं व्याप्य चेष्टन इति प्राणः ।” आचार्योऽपि यजुर्वेदभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य विंशतितमं मन्त्रं व्याचक्षाणः कथयति “प्राणाय प्रकृष्टमन्यते जीव्यते येन तस्मै जीवनधारणहेतवे बलायेति ।” तथा च प्रश्नोपनिषदि “तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते ।” तदित्थं यो बहिर्गच्छति तस्य कथं प्राणेति संज्ञा प्रेक्षावताम्परीक्षानिरूपणं सहेत ।

अपि चापानव्यतिरिक्तेनैव प्राणेन भाष्यम् । अपानश्च पायूपस्थयोः स्थितो वायुः । तथा च प्रश्नोपनिषदि द्वितीयप्रश्ने पञ्चम्यां

कण्डिकायां “पायूपस्थेऽपानमि” ति समास्नायते । न च योऽपानमार्गाद्वहिर्गच्छति स एवास्माकं जीवनहेतुः । गुदमार्गाद्वहिर्गच्छन् हि वायुमुख्यत्वेन नाइट्रोजनमुख्येन तत्त्वेन घटितो लभ्यते । स च प्राणचेष्टानिरोधक एव । अपान शब्दस्य व्युत्पत्तिस्प्रदर्शयत्यतिवरोऽपि नाभेरधोगामिवात इत्याह (यजु० भा० १८।२) अपानतीति शब्दस्योत्पत्तिप्रक्रियां दर्शयन्नपि “अपानमधोगमनशीलं वायुं निष्पादयन्ती विद्युदित्याह (यजु० भा० ३।७) तत्परिशेषाच्चासारध्रेणान्तः प्रविश्य शरीरचेष्टाधारभूत एव वायुर्जीवनमूलतया प्राणसंज्ञां लब्धुमर्हति ।

अन्नन करे, सारे शरीर में व्याप्त होकर चेष्टा करे वह प्राण है ।” अपने भाष्य में यजुर्वेद के दूसरे अध्याय के बीसवें मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा है—“जिससे प्रकृष्ट अन्नन हो, जीवन धारण हो वह प्राण है ।” इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में लिखा है कि “प्राण के उठने पर सब इन्द्रिय उठने लगती हैं और उसके प्रतिष्ठित रहने पर सब प्रतिष्ठित रहती हैं ।” इसलिये जो नासिका से बाहर जाये उस वायु की प्राण संज्ञा नहीं हो सकती । प्राण को अपान से भिन्न ही होना चाहिये । अपान गुदा और उपस्थ में स्थित वायु को कहते हैं । प्रश्नोपनिषद् के द्वितीय प्रश्न की पञ्चम कण्डिका में लिखा है—“गुदा और उपस्थ में अपान रहता है ।” गुदा से निक-

लने वाला वायु जीवन हेतु हो नहीं सकता । उसमें नाइट्रोजन की अधिकता होती है और नाइट्रोजन प्राण चेष्टा का निरोधक है । इसलिये यह कथन स्वाशयविरुद्ध भी है । अपान शब्द की व्युत्पत्ति दिखाते हुये यतिवर दयानन्द ने अपने भाष्य में (यजु० १८।२) यही लिखा है कि जो वायु नाभि से नीचे है वह अपान है । “अपानती” शब्द (यजु० ३।७) का अर्थ करते हुए भी ऋषि ने अपान का अर्थ अधोगमनशील वायु ही किया है । यह बात प्रत्यक्ष के विरुद्ध भी है । नासिका से निकलने वाला वायु किसी ने भी जीवन की सहायता करते हुए नहीं देखा । उस वायु में कार्बन डाइऑक्साइड नामक तत्त्व रहता है । उसका सांस लेने से तो प्राणी मर जाते हैं ।

१०४. बी. एस. मेहता	न्यु देहली	समस्त अभियुक्तों ने अपने को दोषी स्वीकार
१०५. श्री० मेहरचन्द जी पुरी	न्यु देहली	कर लिया है।
१०६. श्री० रघुपति नारमदेव जी	„	अगर सचमुच इन आदमियों के विचारों में
१०७. श्री० सी० एल० सचदेव जी	„	परिवर्तन हो गया है और इनका सोशलिज़्म और
१०८. ला० ज्योतिप्रसाद जी	देहली	कम्युनिज़्म में विश्वास नहीं रहा है, और पूंजीवाद
१०९. आर्यसमाज	संगरूर	की फिर स्थापना करना चाहते हैं तो जीवन के
११०. श्री० मनोहरनाथ जी कौल	न्यु देहली	सम्बन्ध में साम्यवाद की फिलासफी एक काफी
१११. प्रो० रामदेव जी एम. ए.	„	विचारणीय समस्या बन जाती है। यदि साम्यवाद
११२. देशराज जी	देहली	से भी जीवन के अन्दर वह शान्ति नहीं मिल सकती
११३. श्री मेलाराम जी	लाहौर	जिसकी प्राप्ति के लिये दुनिया भगी चली जा रही
११४. आर्यसमाज	मण्डी बाहाउद्दीन	है तो इसमें कोई शक नहीं कि साम्यवाद दुनिया
११५. आर्यसमाज	भलवाल	में थोड़े दिनों का ही मेहमान रह जाये। दुनिया

[अवशिष्ट दानी महानुभावों के नाम आगामी अंक में दिये जायेंगे ।]

रूस में षड्यन्त्र—

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि ट्राटस्की जोकि सोवियट रशिया के विधाताओं में से एक था वह अपने साथियों सहित मौजूदा कम्युनिज़्म को उखाड़ फेंकने की निरन्तर कोशिश कर रहा है। परन्तु स्टालिन की सरकार एक बार नहीं पहिले भी कई बार कम्युनिज़्म के विरोधियों को दण्ड दे चुकी है। अब १७ व्यक्ति और गिरफ्तार किये गये हैं और उन पर मुकदमा चल रहा है। ये १७ प्रायः सब-के-सब रशिया के प्रतिष्ठित और ऊँचे पदों पर रह कर काम कर चुके हैं। इन

समस्त अभियुक्तों ने अपने को दोषी स्वीकार कर लिया है। अगर सचमुच इन आदमियों के विचारों में परिवर्तन हो गया है और इनका सोशलिज़्म और कम्युनिज़्म में विश्वास नहीं रहा है, और पूंजीवाद की फिर स्थापना करना चाहते हैं तो जीवन के सम्बन्ध में साम्यवाद की फिलासफी एक काफी विचारणीय समस्या बन जाती है। यदि साम्यवाद से भी जीवन के अन्दर वह शान्ति नहीं मिल सकती जिसकी प्राप्ति के लिये दुनिया भगी चली जा रही है तो इसमें कोई शक नहीं कि साम्यवाद दुनिया में थोड़े दिनों का ही मेहमान रह जाये। दुनिया देख चुकी है कि साम्राज्यवाद से दुनिया के अन्दर शान्ति नहीं हो सकती। यदि साम्यवाद भी इसी कोटि में आजाये और यदि इसी प्रकार की घटनायें रूस में होती रहीं तो दूसरी क्रान्ति का होना अवश्यम्भवी है। हमारा तो विश्वास है कि अन्त में गुण-कर्मानुसार वैदिक वर्णव्यवस्था ही दुनिया में अमन-चैन पैदा कर सकती है। योग्यता अर्थात् गुण-कर्म और स्वभाव की कसौटी एक ऐसी चीज है जो कि प्राकृतिक है और जिसको छोड़ा नहीं जा सकता। हमें तो यही प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तान ही अन्त में सारे संसार को शान्ति का पाठ पढ़ा-येगा। पहिले भी हिन्दुस्तान सारे संसार का गुरु रह चुका है और इस में कोई शक नहीं कि अब भी वह अपने उसी गुरु पद को प्राप्त कर ले।

—भगवदत्त वेदालङ्कार



खंडन मंडन के ग्रन्थ

शास्त्रार्थ दर्पण (उर्दू)—इसमें मिरजइयों की नौट बुक का उत्तर दिया गया है । ले० म० चिरंजीलाल 'प्रेम' मूल्य ॥) ।

वैदिक स्वर्ग (उर्दू)—मौ० अब्दुलहक की पुस्तक 'वेदों में बहिश्त' का उत्तर दिया गया है । ले० पं० चमूपति जो एम० ए० मू० ॥) ।

रह-ए-जहाद वेद—मौ० सनाउल्ला के "रसाला जहाद-ए-वेद" का उत्तम उत्तर है । ले० म० श्यामलाल । रिआयती मू०)

त्रिदेव-निर्णय—ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों देवताओं पर वैदिक प्रमाणों के आधार पर अच्छा प्रकाश डाला गया है । ले० पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ । मू० ॥) ।

वेदार्थकोष—ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य से वैदिक शब्दों के अकारादि क्रम से अर्थ लिखे गए हैं । इसमें निरुक्त तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की टिप्पणियाँ भी दी गई हैं । प्रथम भाग प्रस्तुत है । इसमें अकार से लेकर आकार तक के प्रारम्भ होने वाले शब्द आ गए हैं । मू० ५)

शतपथ में एक पथ—पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार द्वारा किये जा रहे शत-पथ के भाष्य के भूमिका रूप में यह पुस्तक है । मू० १)

दयानन्द रत्नमाला—इसमें आर्यसमाज के दस नियमों के पोषक सार्व-जनिक वाक्यों का ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से संग्रह किया गया है । मू० ३)

Immortal Sayings of Dayanand—यह दयानन्द रत्नमाला का अंग्रेजी संस्करण है । मू० ३)

वैदिक धर्म और साइन्स (उर्दू)—वैदिक मिद्धान्त पर एक योग्यता-पूर्ण लिखी हुई पुस्तक है । ले० पं० विशनदाम बी० ए० । रिआयती मू० १=)

अध्यक्ष, साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर ।

फाल्गुन, १९९३

26.11.13
Regd. No. 2757

२४२०
* ओ३म् *

आर्य का ऋषि-बोधांक



वार्षिक मूल्य ३)

सम्पादक:—

एक प्रति १८)

पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन, लाहौर ।

विषय-सूची

सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश—वरुण की अग्नि-सेनाओं को देखने वाला	सम्पादक	३८५
२.	बोध (कविता) ...	ब्र० सूर्यदेव, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ ...	३८७
३.	आर्यसमाज और उसका संगठन	श्री नारायण स्वामी जी महाराज	३८८
४.	सेवाभाव से समाज में काम करो	श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज	३८९
५.	मेरा कल्याण कैसे हो? ...	श्री चिरंजीलाल जी वानप्रस्थी ...	३९१
६.	आर्यसमाज में शिक्षा-प्रणाली ...	श्री आचार्य देवशर्मा जी ...	३९३
७.	दिव्य दयानन्द ...	श्री पं० हरिश्चरण जी विद्यालङ्कार	३९६
८.	हमारी शिवरात्रि ...	श्रीमती विद्यावती जी देहली ...	४२०
९.	बैठे-बैठे खयाल आया मैंने लेखनी उठाली	श्री पं० नरदेव जी वेदतीर्थ ...	४०१
१०.	ऋषि दयानन्द की विरादरी ...	श्री पं० चमूपति जी एम. ए. ...	४०३
११.	इसलाम का सब से बड़ा आक्षेप	श्री. पं० शान्तिप्रकाश जी आर्योपदेशक	४०८
१२.	आर्यों के घर ...	श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार ...	४११
१३.	आकाश में उड़ने वाला अश्व ...	श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति	
		आचार्य दयानन्दोपदेशक विद्यालय	४१४
१४.	ऋषि-बोध ...	श्री पं० प्रियरत्न जी आर्य ...	४१५
१५.	पाखण्ड-खण्डिनी (कविता) ...	श्री पं० जयदेव जी स्नेही ...	४१८
१६.	शिक्षा का अदर्श ...	श्री पं० यशपाल जी वैदिकमिश्रनरी	४१९
१७.	महर्षि पर देवनिन्दा का दोष निराधार है	श्री पं० मुनीश्वरदेव जी सिद्धान्तशिरोमणि	४२०
१८.	कौपीनधारी (कविता) ...	ब्र० सत्यभूषण, योगी, गुरुकुल कांगड़ी	४२३
१९.	भाषा-विज्ञान और वेद ...	श्री पं० विश्वनाथ जी आर्योपदेशक	४२५
२०.	आचार्य दयानन्द ...	श्री पं० धर्मदेव जी दर्शन-केसरी	४२७
२१.	स्त्री-जाति और ऋषि दयानन्द (कविता)	श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार ...	४३०
२२.	ऋषि की पुराण-समीक्षा ...	श्री पं० दत्तपति जी शास्त्री आर्योपदेशक	४२१
२३.	वेदार्थ की मुख्य शैली ...	श्री ला० नन्दलाल जी ...	४२१
२४.	महर्षि तेरी जय हो ...	श्री ला० निरञ्जननाथ जी ...	४३४
२५.	पुकार (कविता) ...	श्री पं० चेताराम जी शर्मा ...	४३७
२६.	महर्षि दयानन्द और अनार्ष ग्रन्थ	श्री स्वामी रुद्रानन्द जी महाराज ...	४३८

सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
२७.	धर्म का सार ...	श्री प्रो० लालचन्द जी एम. ए. ...	४४१
२८.	बालक और मूषक (कविता) ...	श्री पं० चमूपति जी एम. ए. ...	४४२
२९.	सम्पादकीय	४४३
	(क) ऋषि-बोधांक
	(ख) ऋषि का संदेश
	(ग) ऋषि का व्यापक कार्य-क्षेत्र
	(घ) वेद का हमारे लिए महत्व
	(ङ) अपनी इस प्रतिज्ञा का हमें पालन करना चाहिए
	(च) हम तो मनुष्य भी नहीं, हमें देवता बनना होगा
	(छ) हृदय में उगने वाली मधुरता की बेल



आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये, यह आपका कर्तव्य है ।

ग्राहकों से—आर्य अङ्कुरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है। पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये । फिर अङ्कुरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये । इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे । अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये ।

**पत्र-व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
ग्राहक-संख्या, पतेवाली चिट पर लिखी होती है ।**



ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽरावणः ॥

भाग १८	लाहौर, फाल्गुन १६६३, मार्च १६३७ [दयानन्दानन्द ११२]	अंक ११
--------	---	--------

वेदोपदेश

वरुण की अग्नि-सनाओं को देखने वाला

अथा न्वस्य संदृशं जगन्वान् अग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि ।

स्वर्यदश्मन्नाधिपा उ अन्धोऽभि मा वपुर्दृशये निनीयात् ॥

ऋगू० ७।८।२

अर्थ—(अथा) अब (अस्य) इस वरुण भगवान् के (संदृशं) दर्शन को (जगन्वान्) पाकर (वरुणस्य) वरुण भगवान् का (अग्नेः) जो अग्नि का (अनीकं) सैन्य है उसे (नु) निश्चय से (मंसि) मैं समझने लग गया हूँ (अधिपाः) सब की रक्षा करने वाले (अन्धः) सब में प्राण धारण करने वाले हे वरुण भगवान् (अश्मन्) इस फैले हुए संसार में (यत्) जो (स्वः) सुख पहुँचाने वाला (वपुः) स्वरूप है उसे (मा) मुझे (अभिनिनीयात्) दीजिये (दृशये) लोगों के देखने के लिये ।

गत मन्त्र में उपदेश दिया गया था कि हमें भगवान् की स्तुति करनी चाहिये । परन्तु वह स्तुति प्रेम में भर कर मनन पूर्वक की गई हो । ऐसी स्तुति करने से हम शुद्ध हो जायेंगे । प्रस्तुत मन्त्र में उस

स्तुति का एक और फल बताया गया है। वह फल है भगवान् के दर्शन। भगवान् की स्तुति से हमें भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है। जब हम प्रेम में भर कर विचार पूर्वक भगवान् के गुण गावेंगे तो इस प्रेममय गुणगान का आवश्यक परिणाम यह होगा कि हम में भगवान् के गुण प्राजावेंगे। भगवान् के सत्यादि गुण आजाने से हम निर्मल, निर्दोष, पवित्र बन जावेंगे। पाप का मल धुल जाने से निर्मल बन गये आत्मा में भगवान् का अनुभव बड़ा स्पष्ट होने लगेगा। हमें उनका दर्शन हो जायेगा। भगवान् का अनुभव हो जाने पर हमारे आत्मा के चक्षु खुल जाते हैं। हमें एक दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

उस दिव्य दृष्टि के प्राप्त होजाने पर हमें सर्वत्र वरुण भगवान्—वरणीय प्रभु का अग्नि का सन्य फैला हुआ दृष्टि गोचर होने लगता है। अग्नि का अर्थ है जो जीवन के लिये उपयोगी गरमी दे, प्रकाश प्रदान करे और उन्नति के मार्ग पर आगे ले जावे। हमें जीवनोपयोगी गरमी देने के लिये, जीवन यापन के लिये परमावश्यक प्रकाश—भौतिक और मानसिक दोनों प्रकार का प्रकाश—देने और इस प्रकार अभ्युदय के मार्ग में हमें आगे लेजाने के लिये इस विश्व-ब्रह्माण्ड में वरुण भगवान् ने अग्नियों की सेनायें खड़ी कर रखी हैं। जीवन के एक-एक क्षेत्र में हमारी सहायता करने के लिये अगणित अग्नियों की सेनायें जुटी खड़ी हैं। सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि, उपदेशक, गुरु, राजा आदि अग्नियें विश्व में फैले हुए वरुण भगवान् के इस महान् अग्नि-सैन्य के कुछ थोड़े से अति प्रसिद्ध अग्नि हैं। इन अग्नियों का अग्निपन तो हमें थोड़ा सा ही विचार करने से प्रतीत होने लगता है। परन्तु ज़रा और गम्भीर विचार करने पर इनके अतिरिक्त भी

अगणित अग्नि हमें विश्व में अनुभव होने लगते हैं। और जब इस विचार के साथ हमारा परमात्मानुभव भी मिल जाता है तब तो हमें एक विचित्र प्रकार का आध्यात्मिक चक्षु प्राप्त हो जाता है। इस चक्षु की उपस्थिति में हमें स्पष्ट दीखने लगता है कि यह अग्नियों का महासैन्य उस महाप्रभु ने ही हमारी रक्षा और अभ्युदय के लिये खड़ा कर रखा है। यह व्यूह रचना उसी चतुर सेनानायक की रची हुई है। उसी अदम्य शक्ति वाले सेनापति की आज्ञा की वशवर्ती होकर ये अग्नि-सेनायें चल रही हैं। यदि वह ये सेनायें न खड़ी करता तो हमारी रक्षा, हमारा जीवन और हमारी किसी भी क्षेत्र में उन्नति कहाँ होनी थी।

उस अधिपति ने, उस सब को प्राण देने वाले ने, इस फैले हुए विस्तीर्ण संसार में यह अग्नि-व्यूह इसलिये रच रखा है जिससे हमें सुख प्राप्त होसके। भगवान् के अनेक रूपों में से उनका एक रूप यह भी है कि वे सब प्राणियों को सुख पहुँचाते हैं। उनका यह सुख पहुँचाने वाला स्वरूप प्राप्त करना ही आध्यात्मिक जीवन का, प्रभु की उपासना का, लक्ष्य है। भगवान् जैसे भाँति-भाँति के अपने अग्नि-सैन्यों द्वारा सबको सुख पहुँचा रहे हैं उसी प्रकार, भगवान् के गुण-कीर्तन द्वारा हमें भी अपने-आपको ऐसा बना लेना चाहिये कि हमारे द्वारा सबको सुख पहुँचे। जैसे उपासक को भगवान् का स्वरूप सबको सुख देने वाला दीखता है ऐसे ही उपासक का स्वरूप भी ऐसा होना चाहिए कि वह उसके सम्पर्क में आने वाले प्राणियों को सुख पहुँचाने वाला दीखे। उसके जीवन को देख कर उसके सम्पर्क में आने वाले लोग कह सकें कि ईश्वर भक्त हो तो ऐसा हो—जैसे प्रभु सब संसार को सुख पहुँचाने की चिन्ता रखते हैं वैसे ही यह उनका भक्त भी अपने

चारों ओर के संसार को सुख पहुँचाने में ही लगा रहता है ।

भगवान् दयानन्द एक इसी प्रकार के प्रभु-भक्त थे । उन्होंने भगवान् की उनके प्रेम में भर कर मनन पूर्वक स्तुति की थी । इसके फलस्वरूप उन्हें भगवान् के दर्शन हुए थे और उन्होंने भगवान् का सुख-मंगलकारी स्वरूप अनुभव किया था । उनकी क्षेमकारिणी अग्नि-सेनाओं को देखा था । इस अनुभव से उन्होंने अपने-आपको भी दूसरों के लिए

सुख-मंगल उत्पन्न करने वाला बना लिया था । उन्होंने लोगों के दुःखों को दूर करके उन्हें सुखी बनाने के पीछे अपने-आपको समर्पित कर दिया था । इसी काम में उन्होंने अपने भौतिक शरीर को स्वाहा कर दिया ।

यदि आज शिवरात्रि के दिन अपने गुरु का स्मरण करके हम भी उनके चरण-चिह्नों पर चलते हुए संसार को सुखी बनाने की भावना अपने भीतर भर लें तो हमारा यह उत्सव मनाना सफल हो जाये ।

बोध

(ब्र० सूर्यदेव, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ)

सत्ता विहीन शिव प्रतिमा पर,
जब मूषक को चढ़ते देखा ॥
नित मृत्यु विवर की ओर और,
मानव गण को बढ़ते देखा ॥
अमरत्व प्राप्ति के हेतु तभी,
तुमने विराग से राग किया ।
भूतल का भव्य विभूति भरा,
वैभव विशाल वर, त्याग दिया ॥
धन धान्य भरा सब साज सजा,
घर अपना सुख दाता छोड़ा ।
दुःख दैत्य दबे तप तीव्र तपे,
नूतन पथ से नाता जोड़ा ॥
उस सरल सत्य शिव सुन्दर से,
तुम थे अबोध, अब बोध हुआ ।
अध भरे भयावह भीषण सब,
भावों का भी अवरोध हुआ ॥



आर्यसमाज और उसका संगठन

[लेखक—श्री नारायण स्वामी जी महाराज, प्रधान सार्वदेशिक आ० प्र० सभा]

आर्यसमाज का जो संगठन इस समय प्रचलित है वह पश्चिमी देशों में प्रचलित, अथवा सिद्धान्त-रूप में जाने हुए, किसी संगठन की पूरी नक़ल नहीं है।

इस समय के प्रचलित संगठन को प्रजातन्त्री-राज्य व्यवस्था ही, जिसे अंगरेज़ी में Democracy कहते हैं, कह सकते हैं। परन्तु यह प्रकार (System) चाहता है कि प्रधान-मन्त्री स्वयं मंडल चुने। लेकिन आर्यसमाज में अधिकारियों के सिवा अन्तरंग सभासद् तक, जिन्हें हम Ministers without portfolio ही कह सकते हैं, सभा द्वारा चुने जाया करते हैं। और इस पर भी आर्यसमाज के उपनियम प्रधान ही को किसी काम के बनने या बिगड़ने का उत्तरदाता ठहराते हैं। इसलिए आर्यसमाज का संगठन एक नए प्रकार का ही संगठन है। इसके सिवा प्रजातन्त्री व्यवस्था अथवा Democracy के लिए यह आवश्यक है कि प्रजा अपनी सम्मति का मूल्य समझे और अच्छी तरह से जाने कि सम्मति के स्थिर करने (Formation of opinion) में किसी प्रकार का राज़ीनामा नहीं हुआ करता। किसी मनुष्य की सम्मति वही हुआ करती है जो उसके अन्तरात्मा से निकली हो। जान स्टुअर्टमिल ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ Political Economy में एक जगह लिखा है कि जो लोग सम्मति का मूल्य न समझते हों और उन्हें अपनी सम्मति के प्रगट करने का साहस न हो वे प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के पाने के अधिकारी नहीं हो सकते। अभी देश में

प्रचलित निर्वाचन के सम्बन्ध में एक जगह की घटना समाचारपत्रों में पढ़ी गई थी कि एक मत दाता ने बैलेट बॉक्स के सामने जाकर हाथ जोड़े और सिर झुकाया मानो, वह कोई उसका देवता ही था। भला ऐसे पुरुषों की सम्मतियों का क्या मूल्य हो सकता है। अस्तु। इसके सिवा अंगरेज़ी Democracy का शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों से मिलकर प्रचलित रूप में आया है। Demos जिसके अर्थ प्रजा के हैं और Krators जिसके अर्थ हैं बल, शक्ति इत्यादि। मतलब साफ है कि Democracy के लिए बलशाली प्रजा होनी चाहिए तभी यह व्यवस्था सफल हो सकती है। हमारे निर्वाचन किसी सिद्धान्त पर नहीं अपितु जन्म की जातियों पर प्रायः निर्भर हुआ करते हैं। किसी व्यक्ति को क्यों सम्मति देनी चाहिए इसलिए कि वह हमारी जन्म की जाति का सदस्य है। इसी निर्बलता का फल यह है कि जो ज़्यादा शोर मचा सकते हैं वही अधिक सम्मति भी प्राप्त कर सकते हैं। आर्यसमाज भी कहीं-कहीं और कभी-कभी इसी निर्बलता का शिकार बना करता है। इसलिए यह बात विचारणीय है कि आर्यसमाजों में यह निर्वाचन-प्रथा कहाँ तक प्रचलित रहनी चाहिए और कहाँ तक नहीं, अथवा प्रचलित प्रथा में क्या संशोधन होना चाहिए। मेरी सम्मति यह है कि ऐसे खास-खास आर्यसमाजों को छोड़ कर जिन्हें प्रान्तिक सभायें नामज़द कर दें बाक़ी समस्त समाजों में निर्वाचन-प्रथा बन्द कर देनी चाहिए। उनके अधिकारियों का चुनाव

तीन निष्पक्ष व्यक्तियों द्वारा हुआ करे। जिनमें से एक स्थानिक, दूसरा प्रान्तिक सभा का प्रतिनिधि और तीसरा एक विद्वान् चाहे वह गृहस्थ उप-देशक हो या संन्यासी हो। ये तीनों मिल कर स्थानिक सदस्यों से विचार विनिमय करके ७, ९, ११ या १५ व्यक्तियों को छांट लिया करें और इनमें से सर्व-सम्मति से एक व्यक्ति को 'प्रधान' बनाकर, उससे कह दिया करें कि वह मंत्री आदि स्वयं

उनके सम्मुख ही चुन लेवे। ऐसा करने से स्थानिक झगड़े बहुत कम हो जावेंगे और आर्यसमाजों तथा प्रान्तिक सभाओं में भी झगड़े न हुआ करेंगे। प्रान्तिक तथा सार्वदेशिक सभा में केवल 'प्रधान' चुना जाया करें और 'मंत्रि-मंडल' बनाने का उसे अधिकार होना चाहिए। यह पंक्तियाँ केवल विचार के लिए हैं इन पर आर्यसमाज के शुभ-चिन्तकों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

सेवा-भाव से समाज में काम करो

(ले०—श्री स्वामी स्वतन्त्रातनन्द जी महाराज)

यह वह रात्रि है जिस समय महर्षि ने उपवास करके जागरण किया था। इस रात्रि में उनको यह बोध हुआ था कि यह पापाणमय शिव वास्तव में शिव नहीं है। उसी समय उपवास से मन पृथक् हो गया और भोजन के लिये गृह को चल दिये।

ऋषि-जीवन की एक घटना है। उनको एक समाज उच्च-पद पर बिठाना चाहता था। उनसे प्रार्थना और याचना की गई। उन्होंने उत्तर दिया—मैं यह पद नहीं ले सकता और कहा यदि आप चाहते ही हैं कि मुझे कोई पद दें तो मेरा नाम आर्यसमाज के सेवकों में लिख लें। यदि उस समय महर्षि कोई मुख्य-पद ले लेते तो आर्यों की प्रवृत्ति उधर होनी स्वाभाविक थी। परन्तु ऋषि ने उस प्रवृत्ति के लिए स्थान नहीं बनाया।

आचार्य रामदेव जी वर्तमान आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान के मुख से भाषणों में मैंने कई बार पूर्वीय और पश्चिमी सभ्यताओं के भेद विषयक इस भाव के शब्द सुने हैं—पश्चिमी सभ्यता अधिकार मांगती है और पूर्वीय सभ्यता कर्तव्य बताती है। आप अपना कर्तव्य पालन करें,

अधिकार की चिन्ता कभी न करें। तथा पश्चिम के प्रान्तों का उल्लेख करते समय पाताल लोक का निर्वाचन विषयक स्वरूप वह प्रकट किया करते हैं—जो व्यक्ति कारागार में होने चाहियें थे वह न्यायाधीश बने हुए हैं और गुण्डे दवाव से वोट प्राप्त कर लेते हैं।

इस समय भारतवर्ष में भी निर्वाचन-युग का आरम्भ हो रहा है और हम सब देख रहे हैं कि इसमें सत्यासत्य का कितना विवेक है और वोट प्राप्ति के क्या २ साधन हैं और वोट किसको मिलता है, जो पद लोलुप हैं वह क्या २ करते हैं।

इन अवस्थाओं के पश्चात् आप आर्यसमाज को ध्यान से देखें क्योंकि आर्यसमाज में भी निर्वाचन पद्धति का प्रयोग है। प्रत्येक आर्यसमाज में प्रतिवर्ष निर्वाचन होता है और प्रान्तीय सभाओं में भी प्रति वर्ष निर्वाचन होता है। मैं अपने अनुभव के आधार पर यह लिखता हूँ कि अनेक समाज ऐसी हैं जिनमें किसी ने पद की लालसा नहीं की और न ही कभी किसी से अपने लिये वा अपने साथी नेताओं के लिये सम्मति की भिक्षा मांगी। परन्तु यह भी मानना

पड़ेगा कि ऐसी समाजें भी हैं जिनमें सम्मति मांगी जाती है। सम्मति बनाई जाती है। इसके लिये धन-पय भी किया जाता है। क्या महर्षि का किसी विशेष-पद को स्वीकार न करना उनको कोई शिक्षा दे सकता है, यदि उत्तर हां में हो तो वह इन पदों के लिये ऐसा क्यों करते हैं? क्या कभी इन कार्य-कर्ताओं ने इस बात पर विचार भी किया है कि वह इससे समाज को उन्नत करते हैं वा अवनत कर रहे हैं। यदि वह इसे उन्नति का साधन मानते हैं तो प्रत्येक समाज में यदि यही दृश्य हो जाय तो वह संतुष्ट होंगे। जहाँ तक मैं जानता हूँ वह भी इस दृश्य को नहीं चाहते हैं। इसीलिये जिस समय किसी समाज में ऐसा अवसर आवे तो उसके मिटाने का यत्न किया जाता है। यदि यह अच्छा वा उपयोगी होता तो इसके मिटाने की क्या आवश्यकता थी। जहाँ यह सम्मति भिक्षा समाजों के लिए हानि-प्रद है वहाँ प्रान्तीय सभाओं के लिये उससे भी अधिक हानि-दायक है। और यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त प्रतीत होता है। जहाँ इसका प्रभाव हुआ वहाँ मनोमालिन्य और अनेक विवाद उपस्थित हो जाते हैं। और जब तक इससे पृथक् न हों वह शान्त नहीं होते हैं।

राजकीय और धार्मिक संस्थाओं में महान् अन्तर है। इसलिये दोनों को सम बनाना असम्भव ही है। राजकीय संस्था में शक्ति का प्रयोग है जो राजस-प्रकृति से सञ्चालन की जाती है। और धार्मिक संस्था में शक्ति का प्रयोग नहीं है। यहाँ प्रायः सात्विक भाव से ही संस्था चलाई जाती है। सात्विक-भाव में मस्तिष्क का प्रयोग अधिक होता

है। इसलिये जो बात राज्य संस्था में उपयोगी हो, आवश्यक नहीं कि वह धार्मिक संस्था में भी उपयोगी हो।

इस समय आर्य-समाजियों को इस विषय पर विचार करना चाहिये वह इस रोग को जो समाज में आ रहा है कैसे दूर करें। इसके अनेक उपाय हो सकते हैं। वह जिसे उचित समझें करें। मुझे इसमें आग्रह नहीं कि वह किस प्रकार करें। मैं केवल यह चाहता हूँ आर्य-समाज की किसी संस्था में सम्मति भिक्षा का प्रचार न हो। और साथ ही जो पद लोलुप हैं, उनको आर्य-समाज पर कृपा करनी चाहिये। वह इसे धर्म का स्थान मान कर इसमें आकर पद लोलुपता का त्याग करके सेवा-भाव से काम करें और कर्तव्य परायण होकर समाज को उन्नत करें।

यदि आर्य-समाजी महर्षि-बोधोत्सव के त्योहार के समय महर्षि के अनेक गुणों का स्मरण करते समय उनके इस पद त्याग का भी स्मरण कर लें और स्मरण करके अपने जीवन में लाने का यत्न करें, जिस प्रकार महर्षि ने पापाण मय मूर्ति को शिव न मानने का बोध प्राप्त किया था उसी प्रकार आर्य-समाजी अधिकार प्राप्त करने को आर्य-समाज के लिये हानि-दायक मानकर उसे त्याग करके समाज उन्नति के पथ पर चलने का यत्न करें, तो बोधोत्सव का बोध उन्हें भी शान्त करेगा। और यदि बोधोत्सव से कोई बोध प्राप्त करना है तो जिस प्रकार महर्षि लिखित मीठा २ कहने से मुख मीठा नहीं होता है उसी प्रकार बोध की केवल बातों से बोध भी न होगा।



मेरा कल्याण कैसे हो ?

[ले०—श्री चिरंजीतलालजी वानप्रस्थी, लाहौर]

ऋषि दयानन्द के पास जब कोई व्यक्ति एक मामूली धुनिप से लेकर महाराजा तक भी आया और अपने कल्याण का मार्ग पूछा और उपदेश के लिए प्रार्थना की तो ऋषि की जीवनी से पता लगता है कि ऋषि ने सब को गायत्री का अर्थ सहित जाप करना और व्यवहार को शुद्ध रखना कहा और जिज्ञासुओं को गायत्री का अर्थ सहित जाप स्वयं सिखलाते भी रहे।

ऋषि दयानन्द के गुरु श्री विरजानन्द जी बहुत काल तक गायत्री का जाप करते रहे। उसीके कारण उन्हें प्रबल आत्म-शक्ति और सूक्ष्म बुद्धि प्राप्त हुई। उसी बुद्धि के संग तथा गायत्री जापादि का फल ऋषि दयानन्द का जीवन था। मनुस्मृति में भी लिखा है कि जो सन्ध्या नहीं करता, वह द्विज नहीं बनता अपितु शूद्र ही रहता है।

मनु महाराज का यह कथन मुझे सोलह आने ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि मेरा विश्वास है कि जो सन्ध्या और गायत्री के अर्थों को जान कर उनका अनुष्ठान करता, सन्ध्या के अन्दर जीवन को उन्नत करने का जो तरीका बताया है उस पर अमल करता और गायत्री में जो ईश्वर के गुण वर्णन किए हैं उनको अपने जीवन में घटाता है वही असली ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बन सकता है बाकी तो सब नाम मात्र के द्विज हैं।

इतिहास पर दृष्टि डालने से भी यह बात ठीक प्रतीत होती है। वैदिक काल में जब हमारे पूर्वज गायत्री का जाप और सन्ध्या किया करते थे तो उनका दिव्य जीवन था। परन्तु मध्यकाल में जब निराकार ब्रह्म की पूजा छोड़ कर हमने मूर्ति-

पूजा में ही अपना कल्याण माना, तो सारा भारत-वर्ष मूर्ति बन गया। जैसे मूर्ति के आगे से सब कुछ उठा लो, उसके वस्त्राभूषण सब उतार लो, अंग काट लो तो भी मूर्ति में कोई गति पैदा नहीं होती यही हाल भारतवर्ष का हुआ। मूर्तिपूजा का जो बुरा फल हो रहा था वह ऋषि दयानन्द ने आकर देखा। ऋषि दयानन्द के तप और आत्म-त्याग से फिर रूची निराकार पूजा अर्थात् सन्ध्या गायत्री की विधि का प्रादुर्भाव हुआ। हम जिस प्रकार की सन्ध्या करते हैं वैसी ही हमारी अवस्था है। हम इस समय प्रायः सन्ध्या गायत्री का पाठमात्र करते हैं और इसी में अपना कल्याण माने बैठे हैं। लेकिन पाठ-मात्र का जितना फल होता है वही हो रहा है, उतने ही हम उन्नत हुए हैं। जैसे रोटी का जाप करने वाले का पेट नहीं भरता, भूखा रहता है, दुःखी और कमजोर होता है ऐसे ही सन्ध्या गायत्री के केवल पाठ का फल हमारे आत्मा को मिल रहा है अर्थात् आत्मिक-बल नहीं, शान्ति नहीं, धीरज नहीं, नम्रता नहीं।

जैसे किसी उद्यान की शोभा सुगंधित फूलों और उत्तम फलों से है ऐसे ही किसी व्यक्ति, परिवार या समाज की शोभा उसके उत्तम गुणों और उत्तम गुणों वाले पुरुषों से होती है जिनकी शारीरिक, मानसिक और सामाजिक उन्नति ठीक तौर पर बढ़ी हुई हो।

उत्तम पुरुष कैसे बनते हैं? जैसे एक मनुष्य अपना मकान अपनी सामर्थ्य और अपने विचार के अनुसार तजवीज़ करता है और वैसी ही सामग्री लाकर मकान बनाता है फिर सामर्थ्य

और विचार बदलने पर मकान में तबदीली भी करता रहता है या शहर के गंदे वायु मंडल को छोड़ कर बाहिर शुद्ध वायु में खुला बंगला बनाता है या सामर्थ्य, विचार उल्टे होने पर पहला कान भी बेच देता है और उससे भी गन्दी फोठड़ी में जा रहता है और अधिक दुःख उठाता है; ऐसे ही जीवात्मा अपने विचारों और शक्ति के अनुसार ही अपना अच्छा या बुरा सूक्ष्म या स्थूल शरीर बनाता है और फिर अपने अच्छे या बुरे विचारों के अनुसार उनको सुधारता या बिगाड़ता रहता है अर्थात् उत्तम या निकृष्ट, पापी या पुण्यात्मा बनता चला जाता है। यह मनुष्य के अपने इच्छित्यार की बात है। ईश्वर ने जीव को मनुष्य जन्म में यह शक्तियाँ दे रखी हैं जिनका अच्छा या बुरा इस्तेमाल करना जीव का अपना काम है। तात्पर्य यह है कि उत्तम पुरुष उत्तम विचारों से बना करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि उत्तम विचार कहाँ से आते हैं। उत्तम संग से अर्थात् किसी जीते-जागते विद्वान् उत्तम पुरुष की संगत से, माता, पिता, गुरु और ऋषि-मुनियों की लिखित पुस्तकों के स्वाध्याय से और फिर इन सब के स्रोत सर्वोत्तम पुरुष परमेश्वर, उसकी वाणी वेद और वेद के सार गायत्री मन्त्र के जाप से। जैसाकि सन्ध्या के एक मन्त्र में कहा है—

उद्वयं तत्सस्परि स्वः

उस देवों-के-देव और सूर्यों-के-सूर्य सर्वोत्तम जगदीश्वर की संगत न होने से आज हम में न्यूनता यही है कि हम में उत्तम पुरुष बहुत ही कम हैं जिसका कारण मुझे यही प्रतीत होता है कि हम विधिपूर्वक सन्ध्या तथा गायत्री का जाप नहीं करते। हम तो केवल पाठमात्र करने वाले और उसी में कल्याण मानने वाले हैं।

कोई कारण नहीं कि यह गुण मनुष्य के अन्दर न आ जायें, यदि कोई पूरी जिज्ञासा से एक व्रत-धारी हर समय चौकस और नियम पूर्वक चलने वाले सिपाही की तरह निरन्तर अभ्यास करे, जैसे अग्नि के गुण जानकर, लाभप्रद वस्तु समझकर मनुष्य यत्न करके आग जलाता है और निरन्तर काफ़ी प्रज्वलित रखता है तो उसकी सर्दी दूर हो जाती है, अंधेरा दूर हो जाता है ठोकरों से बचकर सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करता है। विपरीत इसके जिसकी सर्दी दूर नहीं हुई, अंधेरा दूर नहीं हुआ, ठोकरें लगती हैं, मंज़िल नज़दीक आती प्रतीत नहीं होती। उसने आग नहीं जलाई। यदि जलाई भी है तो कमज़ोर। कभी थोड़ी से जलाई फिर छोड़ दी और काम लग गए। वह बुझ गई अर्थात् जैसी प्रज्वलित करनी चाहिए थी वैसी नहीं की। ऐसे ही जिस व्यक्ति, परिवार या समाज में लड़ाई, झगड़ा, अशान्ति, द्वेष चल रहा है वहाँ सन्ध्या ठीक नहीं हो रही। गायत्री का जाप-पाठमात्र बेगार के तौर पर ही हो रहा है। क्योंकि जहाँ खारिश है, अशान्ति है वहाँ मलिनता, अपवित्रता ज़रूर है। मन मैले हैं, रजोगुण और स्वार्थ की प्रबलता है। सन्ध्या या गायत्री से प्रभु-पूजा का पहला फल यह निकलता है और निकलना चाहिए कि मनुष्य पुजारी के मन, वचन, कर्म में पवित्रता आ जावे अर्थात् मैलापन हट कर नम्रता, हलकापन और पाप से नफ़रत पैदा हो जावे। यदि यह फल नहीं निकला तो जाप शुरू ही नहीं हुआ। अभी पाठ हो रहा है। पवित्रता से सत्य और शान्ति के दर्शन होते हैं और जहाँ सत्य वहाँ विश्वास, जहाँ विश्वास वहाँ प्रेम, जहाँ प्रेम वहाँ एकता और जहाँ एकता वहाँ शक्ति और जहाँ शक्ति वहाँ उद्देश्य की प्राप्ति, लोक परलोक की सिद्धि। जिस तरह

मरजी हो व्रत करके देख लो। इस अटल नियम को कौन टाल सकता है। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि यदि वह लोक पर लोक की सिद्धि चाहता है, जाति, देश और समाज का सुख, कल्याण, मङ्गल और स्वतन्त्रता चाहता है तो उसके लिए जरूरी है कि पहले स्वयं सुधरे, स्वयं पवित्र बने, स्वयं प्रेम करना सीखे और यह फल या गुण गायत्री के ठीक तौर पर जाप करने से, व्यवहार को शुद्ध करते हुए विधि-पूर्वक सन्ध्या करने से प्राप्त होंगे।

ऋषि दयानन्द को जो प्रति दिन गालियाँ देते थे वे उन्हें भी आदर से बुलाते, अपने पास बिठाते, मिठाई और मेवे से झोली भर वापिस करते और उन्हें अपना प्रेमी बना लेते। क्या हम ऋषि के शिष्य और भक्त कह लाने वाले ऋषि दयानन्द के गुण का अनुसरण करेंगे? परन्तु यह गुण तो तब आदगे जब हम शुद्ध हृदयों से सच्ची सन्ध्या और गायत्री का जाप करने के लिए कुछ समय देना शुरू करेंगे।

यही कल्याण का मार्ग है।

आर्यसमाज में भिक्षा-प्रणाली

(विशेषतः गुरुकुल के लिये)

आचार्य देवशर्मा जी का एक पत्र

निम्नलिखित पत्र आचार्य देवशर्मा जी ने गुरुकुल के लिये भिक्षा की पद्धति विषय पर श्रीमान् मुख्याधिष्ठाता जी क नाम लिखा है। परन्तु यह पत्र सम्पूर्ण आर्यजनता के नाम भी वैसा ही अर्थ रखता है। अतः नीचे दिया जाता है।

गुरुकुल के लिये भिक्षा करने के विषय में अपने भाव लिख देना अब आवश्यक समझता हूँ। मैंने भिक्षा कदा है, चन्दा नहीं। आज कल चन्दा माँगना एक पेशा हो गया है, अतः बहुत अधिक संस्थाएँ तथा बहुत से कुशल पुरुष चन्दा माँगने लगे हैं तथा लोग भी विभिन्न कारणों से प्रेरित होकर तथा विभिन्न प्रकार के दबाव व विचार से प्रेरित होकर रुपया देते हैं। यह देखकर भिक्षा के शुद्ध स्वरूप को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

भिक्षा का अर्थ है—परमेश्वर के कार्य के लिये माँगना और (यह भी कहा जा सकता है कि भिक्षा का अर्थ है परमेश्वर से माँगना, मनुष्य से नहीं) अतः भिक्षा माँगने का अधिकारी हर कोई पुरुष नहीं है। इसीलिये मैंने देर तक स्वयं भिक्षुक बनने

की, अपना निर्वाह भिक्षा द्वारा करने की हिम्मत नहीं की। यद्यपि मैं पिछले १०-१२ वर्षों से भिक्षुक बन जाने की सोचा करता था। अन्त में सन् १९३३ के अप्रैल में जब मैंने यह अच्छी तरह समझ लिया कि वस्तुतः सब धन परमेश्वर का है और वह उसी के कार्य के लिए है तभी से (गुरुकुल का आचार्य-पद छोड़ने के बाद से) मैंने स्वयं भिक्षा-वृत्ति स्वीकार कर ली, वेतन भोगी रहना छोड़ दिया। ब्राह्मण का यह भिक्षा-धर्म स्वीकार कर लेने पर इन पिछले तीन-चार वर्षों में मुझे धन सम्बन्धी उपर्युक्त सत्य (अर्थात् धन परमेश्वर का है) दिनों दिन और स्पष्ट होता गया है तथा मैं जहाँ भिक्षा-वृत्ति के गौरव को समझता गया हूँ वहाँ इसके साथ २ भिक्षुक होने की भारी ज़िम्मेवारी को भी समझता गया हूँ।

इसलिये अब जब मैं फिर गुरुकुल में आचार्य हुआ तो मेरे सामने गुरुकुल के लिए भी भिक्षा करने का सवाल आया और गुरुकुल के लिये धन एकत्र करने के वर्तमान तरीके को मेरा अन्तःकरण नहीं बीकार कर सकता। गुरुकुल एक ब्राह्मण संस्था है; अतः ईश्वरीय कार्य करने के प्रयोजन से ही यह गुरुकुल धन आदि की वाह्य सहायता के लिए जनता पर आश्रित है अर्थात् परमेश्वर पर आश्रित है। यदि ऐसा नहीं है तो गुरुकुल में मुझे अपना कोई स्थान नहीं दिखाई देता है। और यदि ऐसा है तो मेरा मुख्य कार्य गुरुकुल के अन्दर के कार्य को अच्छी से अच्छी तरह करना और फिर निश्चिन्त रहना है; कम से कम बाहर से आने वाले धन के लिये चिन्ता करना मेरा काम नहीं है। यदि हमारा कार्य अच्छा होगा; देश, धर्म व संसार के लिए आवश्यक होगा तो उसके लिये आवश्यक धन भी अवश्य मिलेगा, इसमें मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है और मेरी समझ में और किसी को भी नहीं होना चाहिए। अतएव ठीक स्थिति तो यह है कि गुरुकुल को सब दान गुरुकुल में ही पहुँच जाना चाहिए, इसके लिए गुरुकुल के आचार्य को या गुरुकुल के कुछ अन्तरीय लोगों को स्थान २ पर चन्दा माँगते फिरना नहीं चाहिए। इस तरह चन्दा करते फिरने की अवस्था से हमारे इस गुरुकुल का पद बहुत ऊँचा है या ऊँचा होना चाहिए। गुरुकुल अब ऐसी वस्तु नहीं है जिसे लोग न जानते हों और जिसकी चर्चा करने के लिए गुरुकुल के स्वयं आचार्य को इस तरह द्वार २ फिरने जाने की आवश्यकता हो। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि द्वार २ फिरना मुझे वैयक्तिक तौर पर कुछ भी कष्टकर नहीं प्रतीत होता। मेरे लिए सभी कार्य (जब तक वे कर्तव्य कर्म हैं) एक ही समान आनन्ददायक हैं। यह मैं निःसंकोच कह

सकता हूँ कि किसी दाता के 'न' करने से या नाना प्रकार के अप्रिय उत्तर देने से मुझे ज़रा भी बुरा नहीं लगता है। इस सब कार्य में मैं मज़ा ले सकता हूँ और मुझे मज़ा आता है। परन्तु जो कुछ बुरा लगता है वह यह है कि इससे गुरुकुल अपने पद से गिरता है। गुरुकुल के आचार्य के लिए यह ऐसा कार्य है जिससे कि उसे केवल धन के लिए उचित स्थान से नीचे उतरना पड़ता है और इससे धन को उसके अपने आवश्यक महत्व से बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। यही एक मात्र कारण है जिससे कि मेरा अन्तःकरण गुरुकुल के लिये भी इस तरह भिक्षा या चन्दा करने की इजाज़त नहीं देता।

इसमें भी मुझे ज़रा सन्देह नहीं कि गुरुकुल को उसके कार्य के लिये आवश्यक धन गुरुकुल में पहुँच जाया करेगा, यदि हम सचमुच भिक्षा-वृत्ति में रहने लगेँ अर्थात् परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास रखते हुए अपना सारा यत्न गुरुकुल को अन्दर से अधिक-अधिक सच्चा गुरुकुल बनाने में करते रहें और इस सब कार्य को ईश्वरीय कार्य समझ कर पूर्ण निःस्वार्थ भाव से कार्य करते रहें। प्रारम्भ के कुछ वर्ष चाहे गुरुकुल में कम धन आवे पर पीछे आर्थिक स्थिति भी अवश्य ठीक हो जायगी। बल्कि फिर जो स्वेच्छा से, भक्ति से, गुरुकुल के आदर्शों को पूरा करने की ऊँची भावना से ही दिया गया धन गुरुकुल को प्राप्त होगा, वह धन अधिक तेजस्वी होगा। वह थोड़ा धन भी बहुत लाभ पहुँचायेगा। स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज के इस कथन को मैं सत्य मानता हूँ कि गुरुकुल की यथेष्ट सफलता न होने का एक कारण यह है कि यहाँ पर धन ठीक प्रकार का नहीं आता। अच्छी कमाई या बुरी कमाई की बात को विवेचन करने का यहाँ अवसर

नहीं है। यहाँ तो इतना ही कहना है कि दानी ने वह दान किस भाव से दिया है इसी बात का सब से अधिक महत्व है। यदि उसने बिना किसी अन्य स्वार्थ के, बिना किसी दबाव के, गुरुकुलीय आदर्शों को सफल करने के लिए ही दान दिया है तो वह ठीक तरह का दान है और इसकी पहिचान यह है कि वह बिना किसी बाह्य प्रेरणा के गुरुकुल को पहुँचा दिया जायेगा। अब भी बहुत सा रुपया लगभग १४ या १५ हजार प्रति वर्ष, गुरुकुल को गुरुकुल में ही पहुँचा दिया जाता है। बाकी २५ हजार भी गुरुकुल में ही क्यों नहीं पहुँच सकता? यदि जनता को वस्तुतः गुरुकुल से कोई अरुचि हो गई है और उसके कारण वह गुरुकुल को धन नहीं देना चाहती तो वह उचित ही है, वह होना ही चाहिए, और गुरुकुल को उसे सहना चाहिये। परन्तु मुझे जहाँ तक ज्ञान है ऐसी कुछ बात विशेषरूप से नहीं कही जा सकती। जितनी ऊँची आशाएँ भावुकता वश जनता ने गुरुकुल से कर ली थीं उनका पूरा न उतरना मामूली सी बात है। यह हुआ ही करता है। फिर यदि इस गुरुकुल में कोई वास्तविक कमी है तो वह गुरुकुल में उतने उच्चकोटि के व्यक्ति न मिलने के कारण है जितने कि गुरुकुल में होने की आशा की जानी चाहिये। फिर भी जनता की तरफ से धन कम आने का मुख्य कारण जनता में ही धन की कमी होना तथा जनता से आर्थिक सहायता चाहने वाली संस्थाओं का बढ़ जाना है, और कोई बड़ा कारण नहीं है। अस्तु! कहने का तात्पर्य यह है कि भिक्षा का तरीका बदलने से गुरुकुल को आर्थिक हानि पहुँचनेकी भी मुझे कोई आशंका नहीं है।

सब धन परमेश्वर का है और मेरा काम परमेश्वर के कार्य (जगत्-हित का कार्य) में पूर्णतया लगे रहना है और बाह्य सहायता के लिए भी पर-

मेश्वर पर (भिक्षा पर) अवलम्बित रहना है। ये बातें मेरे लिये कोरी फ़िलासफ़ी की या हवाई बातें नहीं हैं किन्तु जीवन के कठोर सत्य हैं, अतः एव मेरा निश्चय यह है कि अब वर्तमान स्थिति के अनुसार गुरुकुल को उसके लिए आवश्यक धन गुरुकुल में ही पहुँच जाना चाहिए या जितना धन उसे पहुँच जाय (भिक्षा में मिले) उसी से उसे काम चलाना चाहिये। कम से कम मुझे उस तरह चन्दे करने को बाध्य न समझा जाय। अधिक से अधिक मैं यह कर सकता हूँ कि मुझे जहाँ के लोग प्रेम पूर्वक भिक्षा के लिये निमंत्रित करें वहाँ मैं चला जाऊँगा पर वहाँ भी मुझ से वैसा कार्य न लिया जाय जिसका मतलब रुपये को ज्ञान से अधिक महत्त्व देना हो। वैसे चाहे कितनी ही तपस्या का काम लिया जाय। जनता से मिलना तो गुरुकुल के अधिकारियों को चाहिए ही। जनता को ज्ञान-दान देना भी हमारा कर्त्तव्य है। पर वह ज्ञान-दान रुपये के बदले में नहीं। ज्ञान का बदला तो रुपया से दिया ही नहीं जा सकता। ये ही बातें हैं जिन्हें अब आर्यसमाज को अपने संगठन में ठीक रूप में स्थापित कर देना चाहिए। इसीलिये मैं चन्दे के रूप को बदलना चाहता हूँ।

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि इस प्रकार जो धन मुझे बुला कर प्रेम-पूर्वक गुरुकुल के लिए दिया जायगा या इसी भाव से सीधा गुरुकुल मेरे नाम से भेजा जायगा उसका उसी भाव से उपयोग किए जाने की जो ज़िम्मेवारी मुझ पर आ जाती है उसे भी मैं अवश्य उठाऊँगा। यद्यपि अभी तक रुपये-पैसे के खर्च की ज़िम्मेवारी से मैं सर्वथा बरी था।

अब यह आप देख लीजिये कि कहीं-कहीं के गुरुकुल-प्रेमी सज्जन मुझे ऐसी भिक्षा के लिये बुलाएँगे या नहीं।

दिव्य दयानन्द

[ले० — श्री पं० हरिशरणजी विद्यालंकार]

१. दैवी-संपत् (Divine qualities)

गीता के १६वें अध्याय के प्रारम्भ में प्राणिसृष्टि को 'दैव' तथा 'आसुर' इन दो भागों में विभक्त किया गया है। दिव्य गुणों का उल्लेख करते हुए निर्भयता चित्तशुद्धि इत्यादि २७ गुणों का वर्णन हुवा है। उनके विरोधी गुण ही आसुर गुण कहलाते हैं। संसार में प्रत्येक प्राणी कुछ दिव्य गुणों को लिये हुवे दीखता है, उनके साथ उसमें कुछ आसुर गुण भी विद्यमान होते हैं। कइयों में आसुर गुणों की प्रधानता पायी जाती है। वह प्राणी अत्यन्त विरल ही है जो सब दैवी संपदाओं से युक्त हो। साथ ही ऐसा भी कोई विरल ही प्राणी होगा जिसमें कि कोई भी दैवी सम्पदा न होकर, सभी आसुरी सम्पत्तियाँ समुपस्थित हों। पहला व्यक्ति यदि देव है तो दूसरा वस्तुतः असुर है; इनके मिश्रण से उत्तम मध्यम व निकृष्ट मनुष्य-कक्षाएँ बनती हैं।

आज हम 'आचार्य के जीवन में दैवी सम्पत् कहाँ तक है' यह देखने के लिये ही प्रवृत्त हुवे हैं—

२. हीः (अशुभ कर्म में लज्जा)

धृति तथा आर्जव (सरलता)

बालक मूलशंकर का जीवन वस्तुतः बोधरात्रि की घटना से आरम्भ होता है। उस समय केवल पुजारियों के ही नहीं अपितु स्वयं बालक के माता-पिता के भी सो जाने पर भी, हम उस अल्पवयस्क बालक को शयन-रूप अकार्य को करने में लज्जित होकर (हीः=लज्जा, अशुभकृत्य करने में) 'धृति' पूर्वक आसन जमाकर बैठा हुवा देखते हैं।

यह धृति रूप गुण उस समय और भी उज्ज्वल रूप में प्रकट होता है जब कि प्रिय बहिन व प्रियतम चचा की मृत्यु पर, हम उस बालक को, बिना किसी विलाप व क्रन्दन के, मृत्यु की गम्भीर समस्या पर विचार करते हुवे देखते हैं। इसी बालक का अग्रिम विद्यार्थी-जीवन, जिसमें कि वह गुरु की गवेपणा में शतशः गहन जंगलों में, दुर्गम पर्वत शिखरों पर तथा अनेकों हिमशिला व्याप्त नदी धाराओं में भटकता फिरता है, वह विद्यार्थी-जीवन उसके अतुल धैर्य की साक्षी दे रहा है। उसी बालक मूलशंकर को स्वामी दयानन्द के रूप में हम ३५ करोड़ भारतीय जनता को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व को अवर्णनीय आपत्तियों का दृढ़तापूर्वक अभिनन्दन करते हुए, जगाता हुवा पाते हैं।

इसी बोधरात्रि के दिन जिस सरलता पूर्वक बालक मूलशंकर को हम 'शिव' विषयक प्रश्न पूछता हुवा देखते हैं, वही सरलता=प्रकटचित्तता उसके सारे जीवन में ओत-प्रोत दृष्टिगोचर होती है।

३. त्याग, यज्ञ, दान, अलोलुपत्व

इस बालक का जीवन अपनी विशाल पैतृक सम्पत्ति के 'त्याग' से प्रारम्भ होता है। गार्हस्थ्य सुखों को, सत्य की प्राप्ति के लिये तुच्छ समझना उस विद्यार्थी की त्याग भावना को प्रबल रूप से पुष्ट कर रहा है।

विद्यार्थी-जीवन समाप्त होने पर उस सच्चे संन्यासी का सम्पूर्ण जीवन लोक संग्रहरूप प्राजापत्य-यज्ञ में व्यतीत हो जाता है। वह अपने इच्छापत्र (Will) में अपनी ग्रन्थ व यन्त्र सम्बन्धी सब सम्पत्ति को लोकहित के लिये दान कर जाता है।

प्रचार के जीवन में हम देखते हैं कि बड़े-बड़े मठाधीशों व राजाओं से दिये गये अपार सम्पत्तियों के प्रलोभन उस जनहितरत संन्यासी को प्रलुब्ध कर नीतिमार्ग से विचलित नहीं कर सकते। क्या ये उसकी निर्लोभता के प्रबल प्रमाण नहीं हैं ?

४. तप, दम, शान्ति, तेज

मूलशंकर का जीवन प्रारम्भ से उसके तपस्वी होने की साक्षी दे रहा है। एक छोटे बालक के लिये क्षुधापिपासा की परवाह न कर चतुर्दशी के व्रत के लिये पुण्यप्राप्ति की भावना से तय्यार हो जाना वस्तुतः उसकी तपःशीलता को व्यक्त करता है। उसका सारे का सारा विद्यार्थी-जीवन भूख-प्यास व सर्दी-गर्मी का सहन करता हुवा उसकी तपस्विता का उज्ज्वल प्रमाण है। प्रचार की तय्यारी के दिनों में, प्रचण्ड शीत के पड़ते हुए होने पर भी गंगा की रेती में केवल कौपीन धारण किये हुए उस संन्यासी को समाहित देख सभी दंग रह जाते हैं। आचार्य का प्रचारका जीवन मानापमान रूप द्वन्द्व पर भी अद्वितीय विजय पाकर, अवश भी जनसमुदाय को उस तीव्र तपस्वी के सामने नतमस्तक कर देता है।

उल्लिखित तपःशीलता ही उसकी प्रकाण्ड जितेन्द्रियता (दम) तथा मनोमर्दन=अन्तःकरण-विजय=आत्मवृत्ता व शान्ति का रहस्य है। बिना तप के किसी भी व्यक्ति के लिये जितेन्द्रिय व आत्मावान् होना सम्भव नहीं है। आचार्य की यह जितेन्द्रियता उसके विरोधियों के हृदयों में भी उसके लिये आदर के भाव को जागरित कर देती है।

यही जितेन्द्रियता उस प्रबल सुधारक के अनुपम तेज का मूल है। उस संन्यासी का तेज ही था जिसके कारण बड़े-बड़े क्षत्रिय मानी बल-दर्पित गुण्डे व ठाकुर लोग, उस संन्यासी के हुंकार मात्र से कम्पितहस्त हो शस्त्रों को भूमि पर फेंक भाग खड़े हुए। उस संन्यासी के सम्पूर्ण यज्ञमय जीवन में उसकी तेजस्विता ही उसकी रक्षिका थी।

परिणामतः उसे वर्तमान सुधारकों के समान रक्षक जनसमूह की कभी आवश्यकता ही नहीं हुई।

५. स्वाध्याय, सत्वंसशुद्धि, शौच, सत्य

जरा, बालक मूलशंकर को प्रिय चाचा के शव के सामने स्थित गम्भीरता पूर्वक मृत्यु की समस्या पर विचार करते हुए तो अपने सामने चित्रित करिये। बुद्ध के समान 'क्या मुझे भी मरना होगा' 'क्या किसी प्रकार इस मृत्यु पर विजय पाना सम्भव नहीं?' इन जटिल प्रश्नों को सोचने में वह लगा है। बोधरात्रि के दिन क्या यही पाषाणखण्ड महादेव है, जो तुच्छ प्राणियों से अपवित्र किया जा रहा? 'क्या यही सृष्टि का कर्ता-धर्ता व हर्ता हो सकता है?' इस प्रकार के प्रश्न उसे विह्वल कर रहे हैं। इन्हीं के हल के लिये उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से आगमों व निगमों का मन्थन किया।

इस बाह्य स्वाध्याय के साथ उसने प्रारम्भ से ही Introspection (स्व+अध्याय) को भी जारी रखा। अग्रिम जीवन में हम आचार्य को अठारह-अठारह घण्टों तक निरन्तर समाहित देखते हैं। प्रतिदिन वे इस अन्तर्ध्यान को घण्टों करते हैं। परिणामतः, यही अन्तर्विवेचना उनके हृदय में किसी भी आसुरीभाव को प्रविष्ट नहीं होने देती। "ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्" ईशगुणध्यान से अनीश्वर (Satanic) गुणों को दूर करने के मनु से दिये गये पाठ को वस्तुतः उस संन्यासी ने पढ़ा था।

आत्मनिरीक्षण से उसका अन्तःकरण सदैव निर्मल रहता है। इस सत्त्वसंशुद्धि का ही परिणाम है कि भविष्य की बातों का भी ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब उनके अन्तःकरण में पड़ जाता है। उसे हम नवयुवक गणपति को २८ वर्ष की आयु में हो जाने वाली मृत्यु का ज्ञान हो जाने के कारण विवाह न करने का परामर्श देते हुवे देखते हैं। ग्वालियर में भागवत की कथा के प्रारम्भ में भावी उत्पात की शान्त्यर्थ गायत्री-पुरश्चरण का निर्देश देते हुए पाते हैं। अपनी मृत्यु की भी दो वर्ष पूर्व सूचना देते हुए सुनते हैं।

वह संन्यासी प्रतिदिन के स्नानादि अपने वाह्य को ही पवित्र न रखता हुआ, सतत अन्तःनिरीक्षण से सत्याचरण से, मानस शुद्धि का भी सम्पादन करता है। उसके पवित्र मन पर प्राकृतिक भोग-सम्पत्तियाँ प्रहार के लिये छिद्र को ढूँढ़ नहीं पातीं। उसके पवित्र हृदयान्तरिक्ष में निवास करने वाले उस सत्यस्वरूप परमेश्वर से सत्य का प्रकाश किया जाता है। उसी सत्य के ओज से ओजस्वी हुआ २ वह संन्यासी सतत उसी सत्य का प्रकाश जनहित के लिये करता हुआ दीखता है।

६. ज्ञान-योगव्यवस्थिति, अभय

दैनन्दिन स्वाध्याय का ही परिणाम था कि उस संन्यासी ने ईश्वर का साक्षात्कार किया। वस्तुतः शास्त्रों के स्वाध्याय से ईश्वर का ज्ञान (Knowledge) प्राप्त करके, मानस-स्वाध्याय से उस सर्वद्रष्टा का उसने साक्षात् दर्शन (Realisation) किया।

इस ईश-ज्ञान को प्राप्त करके वह आत्म कल्याण से ही सन्तुष्ट न होगया। अपितु अपने लिये कुछ भी कर्तव्य न रहने पर भी, लोकसंग्रह को ध्येय बनाकर वह सच्चा कर्मयोगी बना। निष्काम कर्म करते हुये उसने लोकहित के लिये अपने जीवन को अर्पण कर दिया। एवं उस न्यासी के संन्यादर्श जीवन में हम ज्ञान तथा योग का वह उचित साम्य (व्यवस्थिति=Harmony) पाते हैं जो कि इस संसार में आश्चर्यवत् ही उपलब्ध है। यही साम्य उसे मनुष्यों के सामने अमानव व दिव्य (Super-human) रूप से उपस्थित करता है।

यह ईश्वर साक्षात्कार व लक्ष्य की उदात्तता उसे अमानव बनाकर मानव-भय से ऊपर उठा देती है। वह वीर (राग) भय (क्रोध) संन्यासी निःशंक होकर सर्वत्र विचरता हुआ सत्य का प्रकाश

जनता में फैलाता है। शासकों के सन्मुख भी उनके धर्म की असत्यता को उपस्थित करता है। अपने भक्तों से चेतावनी दिये जाने पर भी, निर्भय हो, जोधपुर रियासत में जाता है। राजा को उसके मुख पर उसके अनाचार के लिये भर्त्सना करता है। उसे इस पार्थिव देह में आस्था व ममता ही कहाँ है जो उसे किसी मानव भय से भयभीत कर सके।

७. दया, मार्दव, क्षमा, अक्रोध, अद्रोह, अहिंसा

वह मृत्यु के भय से भी भयभीत न होने वाला चित्त सचमुच वज्र से भी कठोर है, परन्तु देश की नानाविध दुर्गति को देखकर दया के भाव से आर्द्र हो जाने वाला वह चित्त फूलों से सुकुमार भी है। वह लोकोत्तर दिव्य मृदु-धीर हृदय गौ इत्यादि मूक प्राणियों की हिंसा को भी देखकर, उनके दुःख में दुःखित होकर, उनके कष्ट को समझता है। यह दूसरे के दुःख में दुःखी होना ही उसके मार्दव को प्रमाणित करता है। वह निश्चय कर लेता है कि वह देश की दुर्गति को दूर करने के लिये, प्राणियों के कष्टों के निवारण के लिये अपने प्राणों की भी आहुति दे डालेगा।

बस उसी निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने के लिये वह स्थान २ पर घूमता है, प्रान्त २ में चक्कर लगाता है। अन्धकार में प्रबलरूप धारण की हुई मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध, बालविवाह, पशुवध, मांसभक्षणादि प्रथाओं को उज्ज्वल सत्य के प्रकाश से छिन्न भिन्न कर देता है।

जिनको वह जगा रहा है वे ही नींद के नशे में मूढ़ हुए २ उस पर घातक प्रहार करते हैं, ईंट पत्थर बरसाकर उसका अपमान करते हैं। परन्तु वह उनकी मूर्खता को जानता हुआ उन्हें सहन

करता है। उन मूढ़ दयनीय व्यक्तियों को क्षमा कर देता है। नींद के नशे के नाशक उस संन्यासी पर क्रुद्ध हुए २ उन मूढ़जनों पर वह शान्तमूर्ति संन्यासी किसी प्रकार का क्रोध न करता हुआ (“क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येत्” मनु०) मन में अणुमात्र भी उनके अशुभ का चिन्तन न कर (अद्रोह), उनकी गालियों का उत्तर आशीर्वादों, उनके लिये की गई शुभ प्रार्थनाओं से देता है (“आक्रुष्टः कुशलं वदेत्” मनु०)। फेंकी गई ईंट पत्थरों को पुष्पवत् समझता हुआ अपनी उदात्तता का परिचय देता है, अपनी द्वन्द्वातीत स्थिति को व्यक्त करता है। उसमें किसी प्रकार की हिंसा की भावना आ ही कैसे सकती है, चूँकि वह प्राणीमात्र को अभयदान देकर ही तो संन्यास धर्म में दीक्षित हुआ है। (“यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः ऽ ब्रजत्यभयं गृहात्” मनु०)। वह अपने विष देने वाले को भी बन्धन से मुक्त करवा देता है। अन्तिम समय में प्राणों के लेने वाले को भी सहाय देकर प्राणों का दान देता है। वह संन्यासी सचमुच अहिंसा की प्रतिमूर्ति है।

८. अपैशुन, अचापल, वांतिमानिता

उस दिव्य दयानन्द संन्यासी के सम्पूर्ण जीवन में एक क्षुद्र से क्षुद्र भी घटना ऐसी नहीं मिलती जो कि कुछ भी अंश में उसकी पिशुनता=दुर्जनता की पोषक होकर उसे अदिव्य व मानव बना डाले। उसका सम्पूर्ण तपोमय जीवन विषयोपभोग से अस्पृष्ट रह कर उसकी इन्द्रियों के अचापल को आदर्शरूप से जनसमाज के सामने रख रहा है।

किसी भी दोषलेश से दूषित न हुआ २ वह दिव्य जीवन कितना उत्कृष्ट था ? किसी भी न्यूनता से न न्यून वह जीवन कितना उदात्त था ? मानव न होकर वह सचमुच दिव्य था। परन्तु इतना होते हुए भी क्या हम उस आदर्श संन्यासी में गर्व

व दर्प का अंश देखते हैं ? नहीं, वह तो एक बालक से भी बतलाये जाने पर अपने वाक्स्खलन को स्वीकार करने को उद्यत है। सत्य के पता लगने पर अपने पहले विचार को परिवर्तित करने में किसी प्रकार का अपमान नहीं समझता। वस्तुतः जो जितना उदात्त चरित्र होता है उतना ही विनीत होता है। “ब्रह्मणा अर्वाङ् विपश्ययति” ज्ञान से मनुष्य नीचे देखता है—ऐसा वेद में कहा है। यह पूर्ण निरभिमानता आचार्य के ब्रह्मज्ञानी होने को प्रमाणित करती है।

९. ब्रह्मशक्ति+क्षात्रशक्ति

आचार्य दयानन्द ब्रह्मज्ञानी होते हुए क्रिया-निष्ठ हैं। उपनिषदों के शब्दों में क्रियावान् ब्रह्मनिष्ठ आचार्य ब्रह्मवित् ऋषियों का शिरोमणि हैं। उसमें ज्ञान और क्रिया का उचित सामञ्जस्य है। ब्रह्मशक्ति व क्षात्रशक्ति का उपयुक्त समन्वय है। उसकी ज्ञानेन्द्रियशक्ति व कर्मेन्द्रियशक्ति पूर्ण विकसित होकर, श्री को प्राप्त होकर, उसे आदर्श दिव्य जन्म व कर्म वाले पुरुष के रूप में जनता के सामने पेश कर रही है।

१०. २७ दिव्य सम्पदायें

इस आदर्श संन्यासी में हम उल्लिखित २७ दिव्यांशों की स्थिति का विवेचन कर चुके हैं। यद्यपि समीप भूत व लिखित इतिहास के पृष्ठों ने अभी तक उसकी मानवसत्ता का विलोप नहीं होने दिया। परन्तु आश्चर्य नहीं कि सुदूर भविष्य में प्रजापति दक्ष की २७ पुत्रियों से विवाहित चन्द्र के तुल्य इन २७ दैवी सम्पदाओं से गृहस्थ, उस अगृहस्थ आचार्य को आने वाली पीढ़ियों (Generations) ज्ञान-ज्योत्स्ना के विस्तारक चन्द्रावतार के रूप में ही देखने लगें। उसे अमानव दिव्यरूप में तो हम इस समय देख ही रहे हैं।

हमारी शिवरात्रि

[ले०—श्रीमती विद्यावती जी, देहली]

मेरे पौराणिक भाई शिवरात्रि का त्यौहार शिवजी का व्रत रखकर और सारी रात का जागरण करके मनाते हैं। उनका ख्याल है कि इस रात जागकर ही सच्चा भक्त शिवजी के दर्शन कर सकता है।

इस समय मेरी आँखें भी बालक मूलशंकर की उस शिवरात्रि के दृश्य को देख रही हैं, जबकि शिव के सब भक्त एक २ कर के नींद की मस्ती में खुराटे लेने लगते हैं यहाँ तक कि पुजारी और अन्त में मूलशंकर के पिताजी भी ऊँघने लगते हैं, परन्तु बालक मूलशंकर जिसके हृदय में शिव दर्शन की सच्ची और प्रबल लालसा थी और जो शिव का स्वागत करने के लिये चारों ओर बड़ी उत्सुकता से देख रहा था उसी जागते हुए बालक मूलशंकर को सच्चे शिव के दर्शन हुए और शिवजी की कृपा से सच्चा ज्ञान हासिल हुआ। सच है—

जिन ढूँढा तिन पाइया

मनुष्य जागकर ही संसार की प्रत्येक वस्तु से शिक्षा ग्रहण कर सकता है। सोया हुआ मनुष्य चतुर होने पर भी वस्तुओं की वास्तविकता से वञ्चित रहता है। जागते हुए बालक मूलशंकर के सन्मुख पत्थर की मूर्ति भी बोल उठती है कि मैं शिव नहीं हूँ, चूहा भी पुकार उठा कि पत्थर का शिव भोग नहीं खाया करता। इसलिये आवश्यकता है मूलशंकर की तरह श्रद्धा पूर्वक जागते रहने की। ऐसा करने पर ही मनुष्य नये प्रकाश में पहुँच सकता है। आइये, बोधोत्सव के इस शुभावसर पर जिसको कि हम प्रति वर्ष बड़े प्रेम से मनाते आ रहे हैं आज अनुसन्धान करें कि क्या

जिन सिद्धान्तों पर ऋषि ने अपना जीवन और अन्त में अपने प्राण बलिदान किये हम उनके अनुयायी कहलाते हुए उन सिद्धान्तों पर पूर्णतया चल रहे हैं? यदि ऋषि के बतलाये आदर्श मार्ग पर चलने का व्रत लेकर भी हम अपने कतव्यों के प्रति उदासीन हैं तो हम कहाँ ऋषि के अनुयायी भक्त कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं।

यह सच है कि हिन्दू जाति में सुधार उत्पन्न करने वाले आर्यसमाज ने वैदिक-धर्म का प्रचार करते हुवे यद्यपि साठ साल के एक छोटे से अरसे में बहुत सा कार्य किया परन्तु क्या यह भी सच नहीं कि आज ईसाई और मुसलमानों के अपूर्व उत्साह भरे कार्य के सम्मुख आर्यसमाज का काम भी एक छोटा सा काम प्रतीत होता है। ईसाइयों के अन्दर हमें ऐसे व्यक्ति अधिकांश संख्या में मिलते हैं जो सांसारिक वासनाओं के प्रलोभनों को जीत कर अपने देश, परिवार तथा कुटुम्ब के वियोग को सहते हुए सहस्रों मील की दूरी की परवाह न कर के दूर-दूर देशों में जा कर अपने मत का प्रचार करते हैं। ऊँच नीच के भेद-भाव को छोड़ कर गरीबों की छोटी-छोटी झोंपड़ियों में जा, मैले कुचैले गरीबों के छोटे-छोटे बच्चों को गोदी में उठाकर उन्हें लोरियाँ दे, उनके माता-पिता के चित्त को मोह लेते हैं। ईसाई पादरी अपने धर्म के प्रचार के लिये सर्दी, गर्मी, अमीरी, गरीबी, महल वा झोंपड़ी की परवाह नहीं करता। वह अपने आपको अपने धर्म पर बलिदान कर देने के लिये सर्वदा उद्यत रहता है। आर्यसमाज में आज ऐसे व्यक्तियों की न्यूनता है। यही कारण है कि ऐसे उच्च और पवित्र

सिद्धान्तों के रखते हुवे भी आर्यसमाज अपनी संघ-शक्ति को बढ़ा नहीं सका। ऋषि का जीवन आत्मत्याग का अपूर्व जीवन था और ऋषि के कार्यों में अद्भुत साहस की विचित्र छटा झलक रही है। आर्यसमाज को भी अपने आपको इसी साँचे में ढालने और इसी रंग में रँगने की आवश्यकता थी। परन्तु दुःख है कि जिस आर्यसमाज को आज प्रकाश स्तम्भ बन कर दुनिया को एक वैदिकधर्म के झण्डे के नीचे लाना था और जाति के बिखरे मोतियों को एक सूत्र में पिरोना था उसी आर्य समाज में आज स्वार्थता और दल-बन्दी का बल बढ़ता हुआ दिखलाई दे रहा है जिस के

कारण आर्य जाति के संगठन में कमजोरी आ रही है।

आर्य वीरो! एक समय था जब हिन्दुओं ने ऋषि का विरोध किया था। परन्तु आज मैं कह सकती हूँ कि भिन्न-भिन्न मतों के अन्धकार में पड़े हुवे लोग भी वैदिकधर्म की दिव्य ज्योति का प्रकाश देखने लगे हैं। इसलिये आवश्यकता है उस आत्मत्याग की दीक्षा लेने की जिस आत्मत्याग द्वारा ऋषि ने हिंदू जाति की नसों में नवजीवन का संचार किया। ऐसा करने पर ही हमारी शिवरात्रि और हमारा यह बोधोत्सव हमारे कल्याण का हेतु बन सकता है।

बैठे-बैठे खयाल आया मैंने लेखनी उठायी और लिखने लगा

(ले०—श्री पं० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ, ज्वालापुर)

“विशेषाङ्क” प्रति वर्ष निकलते हैं और लेखक महोदय अपनी शक्ति और कल्पना के अनुसार भिन्न-भिन्न दृष्टि से एक ही विषय पर लिखते हैं। इस तरह लिखते-लिखते आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द, आर्यसमाज और आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विषय में कुछ भी लिखना शेष नहीं रहा है। बार-बार उसी अथवा उन्हीं विषयों में कोई लिखने बैठे तो क्या लिखे और कितना लिखे। इस से तो अच्छा कि स्वामी जी के ग्रंथों से ही विशेष-विशेष वाक्य अथवा प्रकरण उद्धृत कर लिये जाया करें।

अन्तर्मुख हूजिए

इस विशेषाङ्क के लिए मेरा इतना ही वक्तव्य है कि अन्तर्मुख हूजिए क्योंकि अन्तर्मुख हुए बिना शक्ति नहीं मिलती और शक्ति के बिना कोई चमत्कार नहीं

दीखता, चमत्कार के बिना कोई पूछता नहीं—कोई व्यक्ति, जाति, समुदाय, राष्ट्र यह चाहे कि संसार में उसका मान हो और उसकी बात को संसार स्वीकार करे तो उसमें कोई विशिष्टता होनी चाहिए, उसमें कोई चमत्कार होना चाहिए।

पाँच वर्ष के लिए आर्यसमाज का द्वार बन्द

एँ, यह आप क्या लिखने लगे हैं। मैं ठीक लिख रहा हूँ। आर्यसमाज में नये मेंबरों का प्रवेश बन्द कीजिए। नये होने वाले मेंबरों से कह दीजिए कि पाँच वर्ष के लिए दरवाज़ा बन्द है। अब हम शक्ति संचय करने में लगे हुए हैं। अब हम अन्तर्मुख होकर घर को ठीक कर रहे हैं।

कोई अधिकारी नहीं सब समान

इन पाँच वर्षों में केवल रविवार को ही आर्य-

समाज नहीं लगा करेगी अपितु प्रातः ५ से ६ और सायं ६ से ७ अथवा ७ से ८ सत्संग हुआ करेगा। इसमें बाहर के श्रोता अथवा दर्शक नहीं आ सकेंगे केवल पुराने मेंबर ही बैठ कर सत्संग वार्त्तालाप, कथा, विचार-विनियम, आत्म-निरीक्षण, स्वदोष-परीक्षण किया करेंगे। जब ये सत्संग होंगे तब उस समय समाज का दरवाजा बंद रहेगा, भीतर क्या-क्या हुआ यह बाहर कोई किसी से नहीं कहेगा प्रत्येक दोषी मेंबर अपनी शक्ति के अनुसार प्रायश्चित्त किया करेगा। इन सत्संगों में न कोई प्रधान न कोई मन्त्री और न कोई पदाधिकारी रहेगा। सब समान रहेंगे।

फिर समाजाधीन संस्थाओं का क्या होगा

संस्थाओं को विशेष विशेष समितियाँ बना कर उनके सुपुर्द कर दिया जाय और कह दिया जाय कि पाँच वर्ष सुमति से चलाते रहें किन्तु कोई पदाधिकारी सत्संग में सम्मिलित नहीं हो सकता। उपसमिति के सदस्य सत्संग में नहीं आ सकते। सारांश सत्संग में आने वालों के पीछे कोई पुंछला नहीं होना चाहिए। सत्संग में सम्मिलित होने वाले सब निर्विकार मन से सम्मिलित हों। इस प्रकार पाँच वर्ष के पश्चात् जब बाहर वालों के लिए समाज का द्वार खुलेगा तब आप अपने भी चमत्कार देखेंगे, समाज में भी चमत्कार देखेंगे, समाज में आने वाले भी निर्विकार मन से आयेंगे और आर्यसमाज आध्यात्मिक केन्द्र बन जायगा।

अब तो

आर्यसमाज गृह कलह के अड्डे बन रहे हैं। लोगों को आर्यसमाज में चमत्कार नहीं दीख रहा है। लोग यह तो मान गये हैं कि आर्यसमाज

काम करने वाली संस्था है, हिन्दुओं की रक्षा करने वाली, मतमान्तरों के अण्ड-वण्ड पाखण्ड को खण्ड खण्ड करने वाली, ईसाई-मुसलमानों के मुँह तोड़ने वाली समाज है किन्तु साथ यह भी मानने लगे हैं कि आर्यसमाज झगड़ालू सोसाइटी है, इसमें शान्ति नहीं है और इसमें—

आध्यात्मिकता का दिवाला निकला

हुआ है फिर हिन्दुओं की रक्षा

कौन करेगा ?

यदि पाँच वर्ष के लिए आर्यसमाज का द्वार बन्द किया गया तो फिर ईसाई मुसलमानों की तो चाँदी बन जायगी। हिन्दुओं की रक्षा कौन करेगा ? इनको तो सब लूट-खसोट लेंगे।

इसकी चिन्ता आप छोड़िये

इसकी चिन्ता आप न कीजिए। हिन्दू अब सचेत होगये हैं। आप जिस कार्य को करते-कराते रहे हैं उसको इन्होंने खूब समझ लिया है और स्वयं उस कार्य में संलग्न हैं।

स्मरण रखिए

यदि अन्तर्मुख होकर शक्ति सञ्चय न करेंगे तो संसार में आपका काम समाप्त समझिए। आपने संसार को दौड़ना सिखाया और वह आपसे दस कदम आगे ही आगे जा रहा है, आप प्रतिक्षण पिछड़ते जा रहे हैं। संसार में जो पीछे रहेगा उधर कोई ध्यान नहीं देगा और ज़माना ऐसा आया है कि उसकी ओर झाँकने के लिये अथवा उसको साथ लेकर आगे बढ़ने के लिए न तो संसार में धैर्य है न समय—इन सब बातों को सोच कर जैसा उचित समझें करें। बैठे बैठे खयाल आया, मैंने यह लेखनी उठाई और लिख डाला।

ऋषि दयानन्द की विरादरी

[ले०—पं० चमूपति जी, एम. ए.]

पञ्जाब में ऋषि का पदार्पण १८७७ में हुआ था और आज १९३७ है। ६० वर्षों के इस अन्तर में देश की अवस्था बिलकुल बदल गई है। इस परिवर्तन का कारण कुछ तो समय स्वयं ही है। संसार का कोई पिण्ड ऐसा नहीं जो ज़माने के साथ-साथ परिणाम अर्थात् तब्दीली का पात्र न बनता हो। फिर चेतन पिण्ड तो इधर भौतिक परिणामों में से गुज़रता है, उधर आध्यात्मिक विचार-धारा पर सवार हुआ अन्दर-अन्दर ही निरन्तर बहता जाता है, बहता जाता है। मानव समाज चेतन पिण्डों से तो बना ही है। परन्तु इन चेतन व्यक्तियों के अतिरिक्त इसका एक सामाजिक आत्मा भी है। हमें देखना यह है कि पंजाब के सामाजिक आत्मा ने इन वर्षों में क्या प्रगति की है? और उसमें आर्य समाज के प्रचार का क्या और कितना भाग है? ऐतिहासिक का काम केवल अतीत का अध्ययन करना ही नहीं है। उसकी दृष्टि भविष्य पर भी रहती है। उसका काम यह भी है कि वह प्रवृत्तियों की भावी दिशा की ओर संकेत करे। एक प्रचारक समाज के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि वह अपने निश्चित उद्देश्यों में कहाँ तक सफल हुई है? मानवीयता के अग्रिम विकास में उसका स्थान क्या है? आखिर हम विश्व का भाग हैं। हमें विश्व से पृथक् नहीं हो जाना चाहिए।

आर्य समाज का पहिला कार्य है सामाजिक सुधार। सर्व-साधारण आर्य समाज में इसलिये आये हैं कि यह एक सुधारक समाज है। आज बाल-विवाह केवल आर्य समाज ही नहीं, सनातन-धर्म के मन्तव्यों से भी हट चुका है। “अष्टवर्षा

भवेद् गौरी” की रट अब कहीं नहीं लगाई जाती। ६ वर्ष की कन्या और ११ वर्ष के बर के “वैदिक” विवाहों के विज्ञापनों का समय भी अब बीत चुका है। शिक्षित समाज में कन्याओं की शिक्षा का रिवाज चल पड़ा है। इनकी आयु १६ वर्ष तक ले जाना इतना कठिन नहीं रहा, जितना कुमारों की आयु २५ वर्ष तक पहुँचा देना। व्यक्ति चालीस-चालीस वर्ष तक भी बिना विवाह किये रह जाते हैं परन्तु सर्व-साधारण को अभी शारदा बिल के १८ वर्ष भी दूभर प्रतीत होते हैं। आर्य समाज इस विषय में जाति का अगुआ है। यह आदर्श के निकट पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। शिक्षित समाज इसके पीछे-पीछे प्रगति करता जाता है। समाज-सुधार की गति का क्रम अब यही है—आगे-आगे आर्य समाज, बीच-बीच में शिक्षित दल, उसके पीछे सर्व-साधारण।

विधवा-विवाह के लिये समाज ने सीधा प्रयत्न तो नहीं किया। सम्भवतः नियोग का सिद्धान्त इस में बाधक रहा। आदर्श-वादी उपदेशक ऐसे विवाहों की अनुमति केवल शूद्रों को देते थे। कोई विधवा विवाह कर ले तो उसे अच्छा समझ कर भी कहा यही जाता था कि सिद्धान्त की दृष्टि से यह कार्य प्रशस्त नहीं है। उस समय के कुछेक विधुरों ने सचमुच संयम के आदर्श को ऊँचा कर दिया था। किन्तु सामान्य जनता ने उनके मार्ग का अवलम्बन नहीं किया। सर गंगाराम विधवा-सहायक सभा ने विधवा-विवाह की प्रथा चला दी है और उसके मुख्य कार्य-कर्ता हमेशा आर्यसामाजिक रहे हैं। नियोग अपने विशुद्ध रूप में केवल शास्त्रार्थी का ही

विषय रहा है। इसके क्रियात्मक उदाहरण शून्य के बराबर हैं। इस समय विधवा-विवाह ही का प्रचार हो रहा है। मन्द-गति से चल कर भी जनता इसी ओर जा रही है। शुरू के समाचार-पत्रों में नियोग का अर्थ विधवा-विवाह लिया गया प्रतीत होता है।

विवाह के विषय में जात-पात के बन्धन तोड़ने में भी अब कठिनता नहीं रही। कोई ऐसा कर ले तो न उसकी प्रशंसा होती है न विरोध। समाज का उदार विभाग उप-जाति के अन्दर विवाह न कर उससे गोत्र का काम ले लेता है। विवाह के क्षेत्र को संकुचित करने की प्रथा अब धीरे-धीरे हटती जा रही है। इन जातों तथा उपजातों को सर्वथा हटा देने की माँग भी है परन्तु दूसरी ओर सगोत्र-विवाहों द्वारा सम्मिश्रण का डर है। एक ऐसा क्षेत्र रहना आवश्यक है जिसकी सभी लड़कियाँ बहनें समझी जायँ। आर्य जाति की यह एक पवित्र अमानत है जिसे नष्ट नहीं होने देना चाहिए। जैसे हम ऊपर कह आये हैं, आर्य-धर्म (शिरोमणि) सभा का लक्ष्य विवाह की परिधि आर्य मन्तव्यों के स्त्री-पुरुषों तक ही परिमित कर देने का था, परन्तु समाज की विशाल प्रगति में ये संकुचित प्रयत्न अब विलीन हो चुके हैं। आर्य-शास्त्रों की दृष्टि में विवाह-सम्बन्ध गृहस्थ को सुखी बनाने के लिये है। इसका एक साधन सवर्णता है। जात-पात तोड़ देना अथवा धार्मिक मन्तव्य का अभेद सवर्णता का पर्याय नहीं है। सम्भव यह भी है कि मन्तव्यों की विभिन्नता में भा दम्पती के गुण कर्म स्वभाव का समन्वय हो जाय। ऐसी स्थिति में विवाह-सम्बन्ध का निरोध नहीं हो सकता।

आर्य जाति ने अब तक अपनी संस्कृति के अन्दर विभिन्न विश्वासों के वर-वधुओं के विवाह होने दिये हैं। पौराणिकों, सिखों, जैनों, बौद्धों के

परस्पर विवाह होते रहते हैं। इससे प्रत्येक घर में “नानाधर्माणं यथौकसम्” की एक स्वल्प-सी सृष्टि होती गई है। आर्य समाज ने भी इस प्रथा को चलने दिया है। इस प्रकार घर-घर में मन्तव्यों का संवर्ष तो हुआ ही है। परन्तु विजय प्रायः आर्य सिद्धान्तों की ही हुई है। प्रबल मन्तव्यों का विजयी होना स्वाभाविक है। आर्य भ्रातृ सभा वर्तमान जात-पात की उपेक्षा करती हुई भी जब सामाजिक सम्बन्ध को ही आर्य समाजियों के अन्दर परिमित करती है तो यह दूसरे शब्दों में एक नई—आर्य समाजियों की—जात को जन्म देती है। समाज की अब तक की गति इस के प्रतिकूल विशालता की ओर है।

पं० गुरुदत्त का विचार था कि वे अपने लड़के का विवाह देश तथा जाति के बन्धन को तोड़ कर करेंगे। पण्डित जी तो चढ़ती जवानी में ही इस संसार से कूच कर गये। उन के पश्चात् ऐसे अनेक विवाह आर्य समाज में हुए हैं परन्तु विदेशी महिलाएँ भी आर्य परिवारों का भाग बन गई हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता। संयुक्त परिवारों की प्रथा शिथिल हो जाने के कारण इन दम्पतियों को विशेष कष्ट नहीं हुआ। परिवर्तन के युग में संयुक्त परिवार चल ही नहीं सकते थे। जहाँ भिन्न-भिन्न पीढ़ियों के आदर्श भिन्न हों, वहाँ उन का एक ही छत के नीचे निर्वाह कर सकना कठिन है। परन्तु एक बार टूटी हुई प्रथा फिर से स्थापित की जा सकेगी, यह कहना भी मुश्किल है। आर्य संस्कृति के बहुत से अमूल्य आदर्श संयुक्त परिवारों की प्रथा से सम्बद्ध हैं। आर्य समाज सारे संसार को एक कुटुम्ब बनाना चाहता है। इस कल्पना का आधार घर-गिरस्थी की कुल-परम्परा है। आर्य समाज को यह परम्परा फिर से स्थापित करनी होगी।

अपनी उदार भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए भी हमें अपनी पुरानी संस्थाओं की सुरक्षा के विचार को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। विवाह संस्कार से सम्बद्ध भ्रान्तियाँ हटती जा रही हैं।

इस संस्कार के अतिरिक्त अन्त्येष्टि संस्कार में खूब परिवर्तन हुआ है। स्वयं आर्यसमाजियों के सिर मुँडाने की प्रथा इस शताब्दी के आरम्भ तक चलती आई है। साहसी व्यक्ति इस में अपवाद रूप रहे हैं। समाज से अब यह रिवाज भिट चुका है। अमृतसर के सज्जन ऐसे संस्कारों की कथाएँ सुनाते हैं जिन्हें सनातनी अपने ढंग से और समाजी अपने ढंग से करना चाहते थे। समाजियों को सफलता इसलिफ हुई कि वे भाग कर श्मशान में पहिले पहुँच गये और उन्होंने ने अपनी रीति से संस्कार का आरम्भ कर दिया। आज इस भाग-दौड़ की आवश्यकता नहीं है। विदेश में स्थापित किये गये उपनिवेशों में तो हिंदू-मात्र इस रीति को अपना चुके हैं। भारतवर्ष में भी आर्य समाज में इस का प्रचार हो चुका है और शेष जाति इसकी विरोधी नहीं रही। सियापा आदि कुप्रथाएँ संपूर्ण शिक्षित समाज हटाता जा रहा है। हिंदुओं ने हमारे संस्कार को अपनाया नहीं तो अपनी रीति का परिवर्तन अवश्य कर दिया है।

दलितोद्धार के क्षेत्र में आर्य समाज क्रांति लाया है। अब छूत-छात पंजाब प्रान्त में कहीं-कहीं है तो सही, पर आखिरी साँसों पर। आर्य समाज के दलितोद्धार की विशेषता यह है कि इसका आधार धार्मिक है। अस्पृश्यता चली ही धार्मिक भ्रान्तियों के कारण है। इसका वास्तविक प्रतिकार धर्म ही के रास्ते हो सकता है। आर्थिक संकट केवल अछूतों पर नहीं, और समुदायों पर भी हैं। भारतीयों में दरिद्रता का काल कहाँ है? यहाँ तो

जातियों की जातियाँ पेट पर पत्थर बाँध कर सोती हैं। छूत-छात का सार धार्मिक वहिष्कार का लोप कर दिया है। “आर्य भक्त” गायत्री के पाठ से ही आर्य समाज में प्रविष्ट होता है। वह पहिले ही दिन “द्विज” बन जाता है। यह उसे तत्काल ऋषियों की सम्पूर्ण सम्पत्ति का दायभागी बना देता है। अब उसके वही संस्कार होंगे, वही यज्ञ याग होंगे, वही क्रिया-कलाप होगा जो अन्य समाजियों का। यह बात अस्पृश्यता-निवारण के अन्य प्रयत्नों में नहीं पाई जाती। “अछूत” जातियों का आर्थिक, सामाजिक, तथा मानसिक उद्धार तो अन्य समुदाय भी कर रहे हैं, आर्य समाज भी। इस में यदि कोई कमी है तो साधनों की स्वल्पता के कारण। दलितोद्धार के कार्य में आर्य समाज की विशेष सफलता का कारण उस की धार्मिक उदारता है।

पिछले दिनों से दलितों के सम्बन्ध में एक नई उलझन पैदा हो गई है। भारतीय शासन सम्बन्धी नवीन सुधार ने दलित जातियों को पृथक् अधिकार दे दिये हैं। इन जातियों के उद्धार के मार्ग में ये अधिकार स्पष्ट बाधक हैं। पृथक् अधिकार के प्रलोभन ने आर्य जाति में इन के घुल-मिल जाने की प्रक्रिया को रोक दिया तो मानवीय विकास के एक मंगल प्रयत्न के रास्ते में अड़चन पैदा हुई। इस में न “अस्पृश्यों” का कल्याण है न आर्य जाति का। “अस्पृश्य” रहने में यदि विशेष अधिकारों की प्राप्ति हो तो कोई स्पृश्य काहे को बनना चाहेगा? मानवीयता का हित एकता में है।

आर्य समाज का शुद्धि-आन्दोलन किन-किन अवस्थाओं में से गुज़रा है?—यह कहानी भी खूब मनोरंजक है। शुरू-शुरू में लाहौर का समाज दीक्षार्थी को अमृतसर भेज देता था। वहाँ के

पण्डितों की सिफारिश ले कर वह हरद्वार जाता था। वहाँ पाँधा जी की भेंट चढ़ा कर ही कहीं वह शुद्धि का प्रमाण-पत्र प्राप्त करता था। मास्टर गंगप्रसाद की प्रधानता के साथ जब समाज पर 'धर्मात्मा दल' का अधिकार हुआ, तभी पाँधा जी की पाँधाई बीच में से हटाई गई। तब से शुद्धि का वह रूप हुआ जो आजकल प्रचलित है। इस संस्कार द्वारा अधिक सफलता आर्य जाति से बिछड़ गये व्यक्तियों तथा समुदायों के वापस लाने में हुई है। सिरों से नये आर्य, समुदायों के रूप में समाज में नहीं आए। हाँ! व्यक्तियों का प्रवेश आरंभ-काल से होता रहा है। आज अवस्था यह है कि कोई ऐसे प्रवेशों की चर्चा ही नहीं करता।

आर्य धर्म का मूल-मन्त्र है कुल की भावना। आर्य समाज इस भावना का विस्तार करना चाहता है, हास नहीं। यदि किसी के गुण-कर्म अपने कुल के अनुकूल न रहें और इस कारण उस का वर्ण बदल जाय तो ऋषि उसे अपने नये वर्ण के किसी कुल ही में चले जाने का आदेश करते हैं। ऐसे परिवर्तन जो भी होंगे और जहाँ भी होंगे, वे नये कुलों की स्थापना करेंगे। ऐसे ही, मुसलमानों तथा ईसाइयों के आर्य बनने पर होगा। नवार्य किसी आर्य कुल में ही प्रविष्ट होगा। परन्तु जब तक स्वयं आर्यों में ही कुलों का आधार सवर्णता नहीं, जन्म रहता है, नवार्यों का आर्य कुलों में आना असम्भव है। ऐसी अवस्था में ऋषि का आदेश निम्नलिखित है :—

“मुसलमान आदि अन्य मत वाले वैदिक मत में आवें तो वे जिस वर्ण के गुण और कर्म युक्त हों, उसी वर्ण में रह सकते हैं। विवाह और खान पान आदि व्यवहार भी अपने सगान वर्ण के साथ करें। आज कल आर्य लोग उनके साथ उक्त व्यवहार नहीं

करेंगे। इसलिये अपने लोगों में ही करें और मत वैदिक रखें। इससे किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती।”

(‘सद्धर्म-प्रचारक’ में प्रकाशित ऋषि दयानन्द का पत्र—“प्रकाश” २१ माघ १९६५ में उद्धृत।)

ऋषि कुलों की रचना सवर्णता अर्थात् गुण, कर्म, स्वभाव की एकता के आधार पर करना चाहते हैं, केवल सिद्धान्त की एकता के आधार पर नहीं। क्या यह सम्भव नहीं कि भिन्न-भिन्न विश्वासों के नर-नारी यथा-पूर्व अपने कुलों ही में रहा करें? विश्वासों की एकता और सवर्णता पर्याय नहीं है। फिर धार्मिक विश्वास के बदल जाते ही किसी के पारिवारिक प्रेम के पात्र भी झट-पट और के और क्योंकर हो जायें? माता-पिता की वत्सलता में एक मिठास है जो धार्मिक साधन में सहायक होती है। ऐहिक जननी जगज्जननी का प्रतिबिम्ब है। जगत्पिता के पास ले जाने वाला धर्म किसी को उसके ऐहिक पिता से पृथक् करके ही क्यों रहे? आजकल धर्म-सभाएँ संख्याओं की होड़ में लग रही हैं। अपने रेवड़ की संख्या बढ़ाने के लिए गडरिया मेमने को पराये रेवड़ की भेड़ से जुदा कर लेता है। मेमने को आध्यात्मिकता का विचार हो तो वह भेड़ को छोड़े ही नहीं। यदि धर्म-सभाएँ संख्याओं की होड़ को फोड़ कर सर्व-साधारण की आध्यात्मिक उन्नति को ही अपना लक्ष्य बना लें तो धर्म-परिवर्तन के साथ-साथ परिवार-परिवर्तन अनिवार्य न रहे। हिन्दू आर्यों की तरह मुसलमान आर्य भी आर्य-समाजियों का एक भेद हो जायें। एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न विश्वासों के लोग रहा करें। इस अवस्था में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के पार-स्परिक दंगे-फ़साद की सम्भावना ही मिट जाय।

इस आदर्श की प्राप्ति में कठिनाइयाँ हैं। इस

समय यह कहना अत्युक्ति नहीं कि यह दशा एक मृग-मरीचिका है। परन्तु मानव जाति के उदात्त विचार की प्रगति उधर ही को है। विचारकों का कहना है कि आध्यात्मिक विश्वासों का विभेद रहते हुए भी सामाजिक व्यवहार एक किया जा सकता है। मानव जाति के इन नेताओं की सम्मति में मनुष्य समाज के विकास की आदर्श दिशा “नाना धर्माणं यथौकसम्” की ओर है। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि जब तक इसलाम और ईसाईयत का व्यवहार इस विषय में बदल नहीं जाता, अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती, नहीं हो सकती।

ऋषि दयानन्द ने समाज की स्थापना मुसलमानों के घर में की थी। पारसियों को आर्यों में फिर से हिल-मिल जाने का मार्ग दिखा गया था। आर्य समाज तथा अमेरिका की थियोसाफ़िकल सोसाइटी में अंग-अंगी सम्बन्ध स्थापित कर दिया था। ऋषि के स्थान पर सर सौपद नमाज़ पढ़ लेते थे। गिर्जे में ऋषि का उपदेश हुआ था। ऋषि का उद्देश्य सम्पूर्ण विश्व को ही एक विरादरी का रूप देने का था। देहली के दरबार के अवसर पर सर्व-धर्म सम्मेलन इसी लिये बुलाया गया था। सार्व-भौम भ्रातृत्व का यही सबसे पहिला सूत्र था।

धर्म के नाम पर संसार की जातियों को एक

कर देने की ध्वनि ऋषि ने उठाई है। इसी ध्वनि का श्रवण करने अलखधारी देहली गये। इसका पाठ विपाश, श्रुतद्री, परुष्णी, असिक्री तथा वितस्ता को बढ़ाने के लिये हमारे अभिनव विश्वामित्र ने पंजाब में पदार्पण किया। मुहम्मदअली की गायत्री और सागरमल की आस्तिकता इसी मधुर ध्वनि की मीठी गुञ्जार थी। इस ध्वनि के मूल-नाद की उत्पत्ति आध्यात्मिक अनुभूति से ही होती है। गुरुदत्त का योग, लेखराम की समाधि, मुन्शीराम का एकतारा आध्यात्मिक अनुभूति के भिन्न-भिन्न रूप थे। ऋषि का ऋषित्व क्या था? यास्क के शब्दों में वेद का दर्शन। ऋषि साक्षात्कृत-धर्मा थे। हमारा साठ वर्ष का इतिहास ऋषि के इसी ऋषित्व की व्याख्या-मात्र है। इस व्याख्या में भ्रान्ति भी है, भूल भी। इसकी सत्यता की साधन मूल के निकट रहने में है। आर्य समाज के सम्पूर्ण प्रचार का मूल ऋषि की आर्प-दृष्टि है—वेद की “सर्ववारा संस्कृति” में ऋषि की आर्प दृष्टि। हमारे इतिहास का लक्ष्य इस विश्व-वारा, विश्व-व्यापक दृष्टि का सार्वभौम प्रचार है। विश्व-व्यापक बन्धुत्व ही ऋषि का पाँचजन्य है। इस पाँचजन्य को पंजाब प्रान्त की पाँचों नदियों ने सुना है। आज उनकी लहरों की गुञ्जार में ऋषि का जय-जयकार है।

वेद में क्या लिखा है

यह जानना चाहने वाले प्रत्येक आर्य पुरुष को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के आसिक पत्र आर्य का ग्राहक बनाना चाहिये। वेद के गूढ़ रहस्यों को बताने वाली जितनी सामग्री “आर्य” में रहती है उतनी और किसी पत्र में नहीं मिल सकती। “आर्य” का वार्षिक मूल्य केवल ३) है। “आर्य” को षड़िए और वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने की अपनी प्रतिज्ञा को चरितार्थ कीजिये।

इसलाम का सब से बड़ा आक्षेप

[ले० श्री पं० शान्तिप्रकाश जी रईसलमुनाज़िरीन आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब]

अहले इसलाम का सब से बड़ा प्रश्न वैदिक धर्म पर यह है कि वेद में एक ईश्वर की पूजा का विधान नहीं। वेद बहु देवतावाद का पोषक है तथा वेद मतावलम्बियों में कुत परस्ती या मूर्तिपूजा इसी कारण से है। महर्षि दयानन्द के आविर्भाव से पूर्व मुसलमान मौलवी इन्हीं प्रश्नों के आधार पर हिन्दुओं को यवन मत स्वीकरण का निमन्त्रण दिया करते थे।

अबोध बालक मूलशंकर ने अपने पूर्वजों से चली आई प्रथा के अनुसार पिता की आज्ञा से शिवरात्रि में शिव पूजन व्रत रखा। पिता ने शिव महिमा पूर्व सुना ही दी थी कि वह शिव देवों का देव महादेव है। सारा संसार उसी के नियम में चल रहा है। उसकी आज्ञा का कोई भी प्राणी उल्लङ्घन करने की शक्ति नहीं रखता। परन्तु व्रत काल में आधीरात के समय शिव-मूर्ति पर चढ़ाये गये नैवेद्य को खाने की इच्छा से एक चूहा शिवजी पर चूढ़ने लगा। उस समय पुजारी लोग सोये पड़े थे। अद्वावश मूलशंकर सचेत था। पिता को जगा कर कारण पूछा कि जिस शिव की महिमा आपने वर्णन की थी वह शिव कोई और होगा। इस मूर्त शिव में तो अपने ऊपर से इस तुच्छ शक्ति वाले चूहे के हटाने का भी साहस नहीं है। पिता ने भर्त्सनाओं से पुत्र को चुप करा दिया। चुप हुये बालक के हृदय में नाना प्रकार की शंकायें उपस्थित हुईं। अन्त में यह निश्चय हुआ कि वह महिमावान् शिव कोई और है। इसी इलहाम द्वारा मूलशंकर ने घर-बार छोड़ कर नाना प्रकार की यातनायें

सहते हुए योग समाधि द्वारा ब्रह्म दर्शन किये। और दुर्लभ ऋषि पद पर आरूढ़ हुए।

तदनन्तर ऋषि गुरुदेव की आज्ञा से विशुद्ध वैदिक धर्म का प्रसार यत्र तत्र करते चले आये। उन्हें संसार के सभी मतों से सम्बन्ध पड़ा। आर्य जाति वैदिक सिद्धांतों से विमुख हो चुकी थी। वेद के ऐसे भाष्य तैयार हो चुके थे जो वेद के मन्तव्यों से विपरीत थे। इसी कारण से ईसाई और मुसलमान वेद पर आक्षेप करते थे। और चुपके २ आर्य जाति को निगलते जा रहे थे। ऋषि ने एक दृष्टि उधर भी की। विधर्मियों के मौलिक मन्तव्यों का निरीक्षण किया। तब पता चला कि यह आक्षेप वेद पर नहीं हो सकते अपितु उनके अपने मतों में ही यह सारे दोष मौजूद हैं, जिन्हें वह छिपाये बैठे हैं। तब ऋषि ने सत्यासत्य निर्णय के लिये सत्यार्थ प्रकाश की रचना की। तब विशुद्ध वैदिक धर्म संसार के सामने आया। अब वेदों पर अनेक पूजा पोषकता का आक्षेप नहीं किया जा सकता। वेद में तो एक ईश्वरोपासना का विधान है। अथर्व में स्पष्ट कहा है कि :—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।
न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।
तस्मिन् निगतं सहः स एक एव वृदेक एक एव ।
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृत्तो भवन्ति ॥

अथर्व० १३।४।१६-२१

परमात्मा दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दस नहीं अपितु वह एक ही है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यो स
सुपर्णः गरुत्मान् ।

वह परमात्मा एक है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि सब उसके गौणिक नाम हैं। तथा च :—

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ॥

सोऽग्निः स सूर्यः स एव महायमः ॥

अ० १३।४।४-५

अर्यमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य और महायम, यह उस परमात्मा के नाम हैं।

इत्यादि वेद के स्थलों में स्पष्ट बहु देवता पूजा-वाद का खण्डन है। इसलिये वैदिक धर्म में शिर्क का दोषारोपण नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि शिर्क जितना इसलाम में है और कहीं क्या होगा! जैसा कि कुरआनशरीफ में वर्णित है :—

(क) या अय्यो हल्लज़ीन आमन् आमन् बिल्लाहे व रसूलेहि वल् किताबिल्लज़ी नज़्ज़ल अला रसूलेही वल्लिकताबिल्लज़ी अंज़ल मिन्क़ुल्ल वमन्यकफ़ुर बिल्लोह वमलयकतेही व कुतुवेही वप्सुलेही वल्यौमल् आखिरे फ़क़द् ज़ज़ल्ल ज़ज़लालम्बईदा— कुरान

ऐ लोगो जो ईमान लाये! ईमान लाओ अल्लाह पर और उसके रसूल (ह० मुहम्मद) पर और उस किताब पर जो नाज़िल की अल्लाह ने अपने रसूल पर (अर्थात् कुरआनशरीफ़ पर) और उस किताब पर जो नाज़िल की कुरआन से पहिले। और जिसने कुफ़र (इनकार) किया अल्लाह से और उसके फ़रिश्तों से और उसकी किताबों से और उसके रसूलों से और क़यामत के दिन से। पस वह बड़ी गुमराही में गुमराह हुआ।

इस आयत में अल्लाह के सिवा रसूल और फ़रिश्तों पर ईमान लाना आवश्यक माना गया है। अन्यथा नरक की प्राप्ति होगी। मनुष्य पूजा और फ़रिश्ता पूजा (देवता पूजा) इससे अधिक और क्या हो सकती है?

(ख) व मन्युत्वे इल्लाह व रसूलहू युदख़िल्हो जन्नातिन् तज़री मिन् तह तिहल् अन्हारो ख़ालदीन् फ़ीहा ज़ालिकल्फ़ौज़ल् अज़वीम व मन्य अस्विल्लाह व रसूल हूँ.....युदख़िल्हो नारन् ख़ालिदन् फ़ीहा व लहू अज़ाबु मुहीन कुरआन

और जिसने फ़रमांवरदारी की अल्लाह की और उसके रसूल की तो दाख़िल होगा बिहिश्त में जिनके नीचे नहरें बहती हैं वह उस बिहिश्त में हमेशा रहेगा और यही सब से बड़ा पुरपार्थ है। और जिसने नाफ़रमानी की अल्लाह और उसके रसूल की तो दाख़िल होगा दोज़ख़ में और हमेशा रहेगा उसमें और उसमें उसको बहुत बड़े दुःखों की मार है।

इस आयत में अल्लाह और रसूल की फ़रमांवरदारी और नाफ़रमानी को एक ही स्थान दिया गया है। यदि कोई भला पुरुष रसूल की अनुचित आज्ञा का उल्लंघन करे तो कुरआनशरीफ़ के मतानुसार नारकी होगा। सदा नरक में रहता हुआ दुःखों की मार सहता रहेगा। यह है मनुष्य पूजा का फल। यही कारण है कि मुसलमान लोग ह० मुहम्मद की आज्ञा में सहस्रों निरपराधों का हनन करते चले गये। अन्यथा उन्हें सदैव के लिये नरक प्राप्ति की आशंका थी।

(ग) व अक्की मुस्स्वलात व आतुज्ज़कात व अखी हुलरसूल ल अल्लकुम तुहूमून— कुरआन और स्थिर रखो नमाज़ और देते रहो ज़कात और पैरवी करो रसूल की शायद कि बख़्शे जाओ।

इस आयत में नमाज़ और ज़कात अर्थात् भक्ति

और दान के अतिरिक्त रसूल की फरमावरदारी भी आवश्यक बतलाई है। अन्यथा पाप क्षमा न होंगे और केले शुभ-कर्म नहीं तरा सकेंगे। इससे अधिक आर्क और क्या हो सकता है ?

(घ) कुल् इन् कुन्तुम् तोहिब्बुनल्लाह फ़ावेऊनी योह्विक्कुमल्लाहो व यग़फ़िरुलकुम् ज़नूबकुम् वल्लाहो ग़फ़ूरुसहीम् ।

कह दे ऐ रसूल ! यदि तुम प्रेम रखते हो अल्लाह से तो पैरवी करो मेरी जिससे प्यार करे अल्लाह तुम से और क्षमा करे पाप तुम्हारे क्योंकि अल्लाह क्षमा करने वाला दयालु है ।

(ङ) व मन्यु शाकिफ़िररसूल नुस्लेहि जहन्नम व सा अतममीरा ।

और जो कोई इनकार करे रसूल से तोले जायेंगे हम उसको दोज़ख़ में जो कि बहुत बुरा ठिकाना है ।

इन दोनों आयात का तात्पर्य यही है कि सच्चरित्र और सुकर्मों का कर्ता भी हो, परन्तु जब तक रसूल को साथ न माने तब तक उसका निस्तारा नहीं । और यदि वह रसूल से इनकार करता है तो उसका स्थान नरक में होगा । एक और प्रमाण भी सुन लीजिए—

(च) इन्नलज़ीन यकफ़ूरुन बिन्नाहे व रुसुलेही व युरीदून अन्युफ़रिरू बैनल्लाहे व रुसुलेही व यकूलून नो मिनो विवअज़्ज़िन् व नक्फ़ुरो विवअज़्ज़िन् व युरीदून अन्यत्तख़िज़ बैन ज़ालिक सबीला उलाएक हुमुल्काफ़िरून हक्कन् व अअत्तदना लिक्काफ़िरीन अज़ावन् मुहीना ।

निश्चय जो लोग इनकार करते हैं अल्लाह से और उसके रसूलों से और चाहते हैं कि भेद रखें अल्लाह और उसके रसूलों में और कहते हैं कि ईमान लाये हम कुछ पर और इनकार किया कुछ से और अनुसरण करते हैं इसीमार्ग का । पस वही

काफ़िर हैं निश्चित, और तैयार कर रखी है हमने उन काफ़िरों के लिये दुःखों की मार अर्थात् दोज़ख़ ।

इस आयात में तो स्पष्ट कह दिया है कि जो अल्लाह और रसूलों में भेद करता है वह काफ़िर है । जो कि मरने के पश्चात् नारकी बनेगा । और जीवनकाल में उस पर इसलाम की तलवार चलेगी । मोमिन या मुसलमान होने के लिये कल्मा शरीफ़ पर ईमान लाना आवश्यक है और कल्मा रसूल के बिना पूर्ण नहीं हो सकता । तो क्या यह थोड़ा शिर्क है ? काबा शरीफ़ में सङ्गे अख़बर-एक विशेष पत्थर-की पूजा खुल्लन खुल्ला होती है तो क्या यह बुत परस्ती नहीं ? मुसलमान बुतशिकन (मूर्तिभंजक) होते हुए भी बड़े मूर्ति-पूजक हैं । यही अवस्था इसलाम के अंदर मिर्ज़ाइयों की है । उनका ईमान भी मिर्ज़ा गुलाम अहमद के बिना अपूर्ण रहता है ।

परन्तु ऋषिवर मूर्ति भंजक न होते हुये भी मूर्ति पूजकों से मूर्ति पूजा छुड़वाने वाले थे । उन्होंने अपने आपको परमेश्वर या परमेश्वर के समान भी नहीं कहा । और नहीं किसी आर्य के लिये दयानन्द पर ईमान लाना आवश्यक है । मुक्ति के लिये सच्चरित्र और सत्कर्मों होना आवश्यक है ।

आज की रात्रि वह रात्रि है जिसमें ऋषि को बोध हुआ है । वह मूर्त शिव को त्याग कर अमूर्त सच्चे शिव की तलाश को चले थे । आज की रात्रि से केवल मूलशंकर का कल्याण नहीं हुआ अपितु समस्त संसार का कल्याण हुआ है । आज इसलाम और ईसाइयत में भी मूर्ति पूजा और मर्दुम पूजा के विरुद्ध आंदोलन हो रहे हैं । पौराणिक धर्म भी मूर्ति पूजा से हाथ धो रहा है । ऋषि की आवाज़ संसार के कोने २ में पहुँच रही है । आओ आर्यों ! हम अपने साहस और पुरुषार्थ द्वारा ऋषि की आवाज़ को द्विगुणित कर दें ।

आर्यों के घर

(ले०—श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार)

मैं उस ऋषि की महिमा कैसे वर्णन करूँ ? यदि मेरा एक-एक रोम भी जिहा का काम देने लगे तो भी तो यह काम पूरा नहीं होगा।

जब कोई नया आन्दोलन संसार में आता है तो वह वेश-भूषा, रहन-सहन, नृत्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, वास्तु सभी कलाओं पर अपनी छाप छोड़ जाता है।

हां एक शर्त है वह आन्दोलन सजीव हो निर्जीव न हो।

क्या आर्य-समाज का आन्दोलन सजीव है ?

मैं तो अवश्य मानता हूँ कि वह सजीव है। परन्तु मेरी समझ में उसकी सजीवता अभी अधूरी है। जहाँ तक बुराइयों के जङ्गल को उखाड़ कर कठोर सत्य प्रचार का रूखा कार्य है उसमें उसकी सजीवता की छाप कम से कम वर्तमान भारत के जीवन के हर पृष्ठ पर है। परन्तु "सत्यं शिवम् सुन्दरम्" में से 'सुन्दरम्' इस अंग की पूर्ति उसने अभी नहीं की।

आर्यसमाज में अभी तक रणशिविर (War camp) का रूखापन है। यह रूखापन किसी अंश तक तो उसकी शोभा है। यदि रूखापन और दबूपन में से चुनना ही हो तो रूखापन कम हानिकारक है। परन्तु अन्ततोगत्या रूखापन को भी गुण नहीं कहा जा सकता है। अब समय आ गया है कि आर्यसमाज निर्माण कार्य की ओर, कला द्वारा सुन्दरता की उपासना की ओर, भी ध्यान दे ?

इसमें सन्देह नहीं कला में आर्यसमाज की छाप अवश्य होनी चाहिये। आर्यसमाज का मुख्य रस है वीर रस। वीर रस का सब से अधिक पोषक

है वात्सल्य रस। जिसे किसी के प्रति वात्सल्य नहीं, जो किसी से निष्काम प्रेम नहीं करता वह वीरता प्रकट कहाँ करेगा। बस आर्यसमाज के सङ्गीत, नृत्य, चित्र, वास्तु निर्माण इन सब में भी इन दोनों की छाप होनी चाहिये। परन्तु साथ ही कला अवश्य होनी चाहिये।

मैं आज वास्तु निर्माण को लेता हूँ। आर्यसमाज के निवासार्थ गृहों की तो बात क्या कहें, उसके मन्दिरों तक में कला नहीं। आप संसार के किसी धार्मिक वर्ग को ले लीजिये, उनके मन्दिरों में एक प्रकार की एकरसता है। परन्तु आर्यसमाज के मन्दिर सब निशले, सब आपा-पंथी। किसी में यज्ञशाला कोने में है, किसी में बीच में है। न कोई द्वार का रूप है न कोई सभा भवन का। पहिले व्याख्यान शाला बन गई, फिर कन्या पाठशाला बन गई। फिर किसी को यज्ञशाला की याद आ गई। बस किसी कोने में उसे भी जड़ दिया गया। फिर अतिथिशाला का स्मरण हो आया वह भी पीछे से कहीं जमा दी गई। मानो किसी को पाजामे की आवश्यकता थी, कुर्ता सामने पड़ा था वही पाजामे के स्थान पर पहिन लिया। फिर कुर्ते की याद आई तो पगड़ी कुर्ते की जगह लपेट ली। अब सिर नंगा दीखा तो चादर पगड़ी की जगह बाँध ली। किसी तरह सर्दी का बचाव होगया, चलो छुट्टी पाई। यही ढंग हमारे मन्दिर बनाने का है।

हमारे रहने के मकानों में कोई क्रम अवश्य देखने में आता है। परन्तु वहाँ एक और खेल होता

है। वहाँ क्रम तो है पर वह है विलायती क्रम। फिर उसमें हम आर्य-सभ्यता घुसेड़ने का यत्न करते हैं। सचमुच उस समय ऐसी दशा होती है मानों आरमोनियम को कूटपीट कर तम्बूरा बनाया जा रहा हो। बाबू जी ने विलायती हवा में पले इङ्गी-नियर साहिब से मकान का उपमान (Design) बनवाया। अब मकान में प्रवेश के दिन उन्हें गृह-प्रवेश संस्कार की भी याद आगई। अब पुरोहित सोचता है, हवन कुण्ड कहाँ रखूँ, यज्ञ-वेदी कहाँ बनाऊँ, पैर धोने का क्रम कहाँ हो। यदि कभी प्राचीन पद्धति का गोदान आजावे तो गौ कहाँ खड़ी हो। और तो जाने दीजिये बैठें कहाँ? बैठने के लिये सब कमरे कुर्सी और कौचों के लिये बने हैं। पुराना फर्श बैठने का क्रम ही नहीं। चार एक कमरे में बैठे हैं। पाँचवें सज्जन और आगए। कुर्सी केवल चार थीं। अब खड़े खड़े चिल्ला रहे हैं। ओ करतार ! करतारा ओए !! जल्दी कुर्सी लाओ !

आर्य संस्कृति के कुछ विशेष अङ्ग हैं। हमारे घरों में भी उनकी छाप होनी चाहिये। आज मेरी इच्छा है कि स्वयं कुछ न कहकर वेद इस विषय में क्या कहता है, यह बताऊँ। वेद ने शाला के विषय में इतनी बातें कहीं हैं :—

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।

शालाया विश्वावराया नद्धानि विचृतामसि ॥

(अथ० ६।३।१)

वह—

(१) उपमिता हो।

(२) प्रतिमिता हो।

(३) परिमिता हो।

(४) विश्वावरा हो।

(५) नद्दा हो।

(६) विचृता हो।

उपमिता

इनमें से पहिले उपमिता इस अङ्ग को लेता हूँ। उपमिता का अर्थ है Well-designed परन्तु अच्छे Design को वेद ने अन्धेरे में नहीं छोड़ा। अच्छे Design को हम कहाँ से प्राप्त कर सकते हैं, यह भी वेद ने स्वयं बता दिया है। वेद ने कहा है वह “उपमिता” हो। अर्थात् उसे संसार की किसी सुन्दर तथा उपयोगी वस्तु से उपमा दी जा सके। वह उपमा किसकी होनी चाहिये, यह भी वेद ने शाला शब्द को खोलिङ्ग रखकर बता दिया है। परन्तु खी भी तो माता, भगिनी, पत्नी, पुत्रवधू आदि अनेक रूपों में हमारे सामने आती है। अतः मकान बनानेवाले को यह ज्ञान होना चाहिये कि वहाँ किस रस का प्रकाश हो रहा है। फिर भी दो अंश वहाँ अवश्य होने चाहिए जिन्हें “आग्नेय” तथा “सोम” कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मण में कहा है :—

“द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति आर्द्रं चैव शुष्कञ्च । यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत् सौम्यम् ॥” (श० १।६।१।२३) अर्थात् “संसार में दो ही तत्त्व हैं। एक गीला दूसरा सूखा। जो सूखा है वह आग्नेय है, जो गीला है वह सौम्य है।” ईंटों की दृढ़ता, दीवारों की दृढ़ता आदि मकान में आग्नेय अंश हैं। तालाब, स्नानागार, फुलवाड़ी, चित्र आदि सौम्य अंश हैं। मकानों के रङ्ग में भी आग्नेय तथा सौम्य भाव होता है। यदि आप हिन्दू-मन्दिरों को देखें तो वहाँ प्रायः वट-वृक्ष लगा होगा। वट-वृक्ष के पत्रों की हरियाली शृङ्गार की हरियाली नहीं होती। उसमें शान्त-रस की श्यामिका है। उसकी जटाओं में तथा घनी छाया में एक वृद्ध पितामह का वात्सल्य टपकता है। इसी लिये मन्दिरों में उसे स्थान दिया गया है। मन्दिर की रचना में

भी सोम अंश अधिक है। वहाँ निवास का विशेष प्रबन्ध नहीं। दूसरी ओर आर्यसमाज के मन्दिर भी सभा-भवन हैं और वस्तुतः सभा-भवन भी नहीं, डेरे हैं। आर्यसमाज के हर कार्य में आग्नेय अंश प्रधान है। और सोम का तो यों कहिये कि अभाव है। सो घर में सब से पहिली वस्तु अनुभाव (Expression) होना चाहिये और वेद के अनुसार वात्सल्य का अनुभाव होना चाहिये। इसका वर्णन अथर्व० ३ काण्ड १२ सूक्त में देखना चाहिए।

वेद ने जो मकान का वर्णन किया है वह इस प्रकार है :—

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः
उत्सो वा तत्र जायतां हदो वा पुण्डरीकवान्।

“हे हमारे घर तेरे आने के मार्ग तथा जाने के मार्ग दोनों में फूलों से सजी दूबी (Lawn) लगी हो। वहाँ या तो छोटा-सा कमलों वाला तालाब बना हो या फव्वारा लगा हो।” यह सोम अंश है जिसका वेद ने वर्णन किया है। अब अग्नि अंश भी लीजिये—

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।
सदो देवानामसि शाले ॥

“उस घर में अग्नि शाला हो, हविः शाला हो, सदः पुरुषों की बैठक हो, जनानी बैठक हो, देव-शाला हो।” रसोई घर को भी अग्नि-शाला में ही समझना चाहिये।

यह दोनों अंश ऐसे ढंग से परस्पर मिले हों जैसे एक आदर्श-महिला में मिले होते हैं। अर्थात् सोम अंश की कुछ प्रधानता होनी चाहिये। किन्तु आज कल इसके विपरीत हमारे घरों में अग्नि अंश प्रधान है।

प्रतिमिता

फिर सोम का दूसरा अंग प्रतिमान (Symmetry) है। इसलिये कहा प्रतिमिता। इसका अर्थ संस्कार विधि में ऋषि ने इस प्रकार किया है—

“प्रतिमान अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार कोणों और कक्षा भी सम्मिलित हों।”

अब तीसरा गुण ऐसा है जो अग्नि तथा सोम दोनों अंश रखता है। वह है—

परिमिता

इसका अर्थ यह है कि जितने कार्य उससे लेने हैं उनके अनुकूल कमरे परिमित तथा आपस में उनका सम्बन्ध भी परिमित हो। अर्थात् वह Well measured तथा well proportioned हो। यह—

- (१) उपमान।
- (२) प्रतिमान।
- (३) परिमाण।

वास्तु शास्त्र के तीन आधार भूत सिद्धान्त कहे जा सकते हैं। इसके पश्चात् कहा है कि वह—

विश्ववारा

हो। उसमें चारों ओर द्वार हों। वायु का निर्गम तथा प्रवेश खुला हो। यह आयुर्वेद की बात है इस लिये इसे भी आग्नेय अंश कह सकते हैं।

नद्धा

अब कहा नद्धा हो। अर्थात् उसके बन्धन तथा चिनाई दृढ़ हो। यह भी अग्नि अंश है।

विचृतामसि

वह बन्धन जब चाहें खोले भी जा सकें। अर्थात् द्वार जब चाहें खोले वा बंद किये जा सकें। यह भी वैज्ञानिक अंग है। इसे भी आग्नेय अंश कह सकते हैं।

इस प्रकार इस लेख में हमने संक्षेप से वेद में वर्णित वास्तु शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन कर दिया। समय मिलने पर कभी विस्तार से भी वर्णन किया जायगा। आशा है आर्य-नगर निर्माण के समय इन सूक्तों से भी काम लिया जायगा।

आकाश में उड़ने वाला अश्व

(ले०—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, आचार्य दयानन्द उपदेशक विद्यालय)

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६३ वें सूक्त का देवता 'अश्व' है। परन्तु सूक्त के अधिकांश मन्त्रों में जो वर्णन है वह सामान्य अश्व-पशु पर घटता नहीं। मन्त्रों में इस अश्व के जो वर्णन हैं उनमें से नमूने के तौर पर कुछ इस प्रकार हैं—

आत्मानं ते मनसारादजानाम्

अवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम् ।

शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिः

अरेणुभिर्जेहमानं पतत्रि ॥

ऋ० १।१६३।६

अर्थात्—“हे अश्व मैं इस पृथिवी से उठ कर दूर आकाश मार्ग से उड़ते हुए तुम्हारे पक्षी रूप (पतङ्ग) शरीर को (आत्मानं) मन से जानता हूँ, बिना किसी बाधा के सुख-पूर्वक संचार के योग्य (सुगेभिः) धूल से रहित (अरेणुभिः) मार्गों से उड़ते हुए तुम्हारे पक्षी के से (पतत्रि) सिर को (शिरः) मैंने देखा है।”

हिरण्यशृङ्गोऽस्यो अस्थ पादा मनोजवाः ।

ऋ० १।१६३।६

अर्थात्—“इसके शृङ्ग सुवर्ण के अथवा सुवर्ण की तरह चमकने वाले हैं (हिरण्यशृङ्गः), इसके पैर लोहे के हैं (अस्थः अस्य पादाः), और उनका वेग मन के वेग की तरह तीव्र है (मनोजवाः)।”

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासाः

सं शूरणासो दिव्यासो अत्याः ।

हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते

यदाक्षिपुर्दिव्यमजमशवाः ॥

ऋ० १।१६३।१०

अर्थात्—“जब ये अश्व बहु-संख्या में (अशवाः), आकाश के (दिव्यं) मार्ग से (अजमं) उड़ते हैं तो ये सिरों की ओर फैले हुए (ईर्मन्तासः), बीच के भाग में संकुचित (सिलिक=संसृत+मध्यमासः) तीव्र गति से चलने वाले (शूरणासः), और निरन्तर देर तक चलने वाले (अत्याः), हंसों जैसे पंक्ति बांध कर चलते हैं (हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते)।”

इस मन्त्र की अश्वों के लिये हंसों से दी गई उपमा को ज़रा और स्पष्टता से समझ लीजिये। ये अश्व हंसों की तरह आकाश में उड़ते हैं। हंसों की तरह ही तीव्र गति से उड़ते हैं और देर तक निरन्तर उड़ते रहते हैं। और जब पंक्ति बांध कर उड़ रहे होते हैं तो पंक्ति में उड़ने वाले हंसों की तरह ही लगते हैं। उड़ने के समय हंस कैसे होते हैं? “ईर्मान्तासः”—हंसों के सिरों के भाग अर्थात् दोनों ओर के पंख और पीछे की ओर के पूँछ के पंख फैले हुए होते हैं। और “सिलिकमध्यमासः”—फैले हुए पंखों और पूँछ की तुलना में हंसों का मध्य भाग अर्थात् शरीर संकुचित होता है—छोटा दीखता है। ये अश्व भी ऐसे ही हैं। आकाश में उड़ने के समय इनके सिरों के भाग फैल जाते हैं और उन फैले हुए सिरों के भागों की तुलना में उनका मध्य भाग अर्थात् शरीर छोटा दीखता है।

यह वर्णन सामान्य अश्व पर नहीं लग सकता। वह आकाश में नहीं उड़ सकता। फिर उड़ते हुए हंस की तरह नहीं दीख सकता। वह ‘ईर्मान्त’ और ‘सिलिकमध्य’ नहीं हो सकता। सामान्य घोड़ा यदि ईर्मान्त हो तो उसका यह रूप होगा—अगली

टांगें आगे की ओर फैली होंगी और पिछली टांगें और पूंछ पीछे की ओर फैली होंगी। अब यह रूप उड़ते हुए हंस का नहीं है। फिर, घोड़े की फैली हुई टांगों और पूंछ की तुलना में उसका मध्य अर्थात् शरीर छोटा नहीं दीखता। उसका शरीर टांगों और पूंछ से कहीं बड़ा होता है। एक बात और। यदि घोड़ा आकाश की ओर उछलने लगे तो उसकी अगली टांगें आगे को न फैल कर, मुड़ कर उसके पेट की ओर नीचे आ जायेंगी।

इसके अतिरिक्त ऊपर उद्धृत ऋगू० १।१६।६। मन्त्र में तो स्पष्ट ही इस विचित्र अश्व के शरीर को पक्षी कहा है और कहा है कि वह आकाश के निर्धूल और बाधा रहित मार्ग से उड़ता है।

इस वर्णन को देख कर पाठकों के मन में सन्देह नहीं रहा होगा कि यह पक्षी जैसा विचित्र अश्व क्या है। इसका वर्णन स्पष्ट बताता है कि यह अश्व और कोई नहीं, विमान है। विमान ही आकाश में उड़ सकता है, उसकी ही आकृति पक्षी जैसी होती है और उसी का शरीर लोहे आदि धातुओं से बना होता है। विमान जड़ वस्तु होकर भी आकाश में उड़ जाता है इसीलिये उद्धृत ऋगू० १।१६।३।६ मन्त्र में कहा है—“हे अश्व मैं इस पृथिवी से उठकर आकाश मार्ग से उड़ते हुये तुम्हारे

पक्षी रूप शरीर को मन से जानता हूँ।” वैसे तो नहीं समझ में आता कि लोहे आदि जड़ वस्तुओं से बना हुआ विमान-पक्षी आकाश में कैसे उड़ सकता है। परन्तु मन से विचारने से—अध्ययन करने से यह बात समझ में आ जाती है। //

अश्व शब्द वेद में अन्यत्र भी कई स्थानों पर अश्व-पशु अर्थ में न प्रयुक्त होकर यन्त्र-कला से सञ्चालित होने वाले विमान, रथ आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त और उणादि कोष में अश्व शब्द की निरुक्ति ‘अशूङ् व्याप्तौ’ धातु से की गई है। “अश्नुतेऽध्वानमित्यश्वः”—अर्थात्, “अश्व वह है जो मार्ग को व्याप्त कर ले, उसे शीघ्र समाप्त करले”। अश्व-पशु इसीलिये अश्व हैं क्योंकि वह रास्ते को शीघ्र तय कर लेता है। और इसी लिये यन्त्र-सञ्चालित विमान, रथादि भी अश्व हैं क्योंकि वे भी मार्ग को जल्दी समाप्त कर लेते हैं। स्वयं सायणादि भाष्यकारों ने भी अनेक स्थलों पर अश्व के धात्वर्थ ‘व्याप्ति’ को ध्यान में रखकर इसके अश्व-पशु से भिन्न कितने ही अर्थ किये हैं। परन्तु जहाँ अश्व का गौ, भेड़, बकरी आदि पशुओं के साथ साहचर्य हो, अथवा जहाँ उसका अन्न, घास, जौ आदि के खाने का वर्णन हो, या जहाँ अश्व से अश्व की उत्पत्ति कही गई हो, वहाँ उसका अर्थ अश्व-पशु ही करना होगा।

ऋषि-बोध

(ले०—श्री पं० प्रियरत्न जी, आर्ष)

प्रत्येक मनुष्य एक विशेष गन्तव्य स्थान का यात्री है, उस तक पहुँचना परम ध्येय और मानवीय जीवन का साफल्य है। प्राचीन-काल में उस विशेष स्थान तक एक मार्ग जाता था, परन्तु दैववशात्

वर्षा-भूचाल आदि विविध उत्पातों से वह मार्ग अस्त-व्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट हो गया, कचित्-कचित् पथचिह्न मिलता भी था तो वहाँ लुटेरे परिपन्थी लोग धन छीन लेते और प्राण-घात तक कर देते

थे। इस प्रकार उस विशेष स्थान के यात्री बड़े दुःख और असमझस में पड़े भटक रहे थे। भिन्न-भिन्न पथ-प्रदर्शक और पन्थ मिले, पर उस तीर्थ तक पहुँचने की समस्या बनी ही रही! एक पन्थ ऐसा मिला जो देखने में तो सुपथ था परन्तु आगे चल कर वह कच्चा कुपथ हो गया और कुछ दूर चल कर बारम्बार ग्रामों में घुस कर विलुप्त हो जाता था, पुनः जब किसी ग्राम के वासी से पूछा जाता था कि उस विशेष स्थान तक कौन सा रास्ता जाता है तो वह कह उठता था कि आप लोगों का प्राप्तव्य विशेष स्थान यही है। इस उत्तर से अनेकों यात्री वहीं पर रह जाते थे और कुछ धीरे यात्री वहाँ उस विशेष स्थान के लक्षण न पाकर आगे बढ़ते थे किन्तु वह मार्ग कुछ दूर चल कर पुनः अन्य ग्राम में घुस जाता था, वहाँ के वासी भी वही उत्तर देते थे कि वह आपका प्राप्तव्य विशेष स्थान यही है। उसी प्रकार वहाँ भी कुछ यात्री रह जाते और कुछ आगे बढ़ते। ऐसे ही ग्राम पर ग्राम आते रहते थे और उनमें यात्री फँसते जाते थे, अनेकों के जीवन चलते २ हो मर खप जाते थे क्योंकि ग्रामों का इतना बाहुल्य था कि आयु भर भी चलते-चलते उन का अन्त न आता था, पुनः विशेष स्थान तक पहुँचने की तो कथा ही क्या! अस्तु।

कुछ पथ-प्रदर्शक ऐसे मिले जिन्होंने कहा कि हमारे मार्ग में न अटकाव है, न ग्राम है, अन्त में पूर्ण विराम है। लोगों ने इन पर क्रदम रखा, चले, आगे बढ़े, पर इन मार्गों ने तो यात्री को बड़े भारी अन्धकूप में और महागर्त में ही जा गिराया, जहाँ यात्रा का विराम हुआ और जीवन तमाम हुआ।

कई एक मार्ग-दर्शक ऐसे मिले जिन्होंने कहा कि हमारा मार्ग विश्वास का है, उस पर चलने से अवश्य अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर सकोगे।

यात्रियों ने उनका भी अवलम्बन किया, किन्तु चलते-चलते उन्हें यह अनुभव हुआ कि हम चलते हुए भी नहीं चल रहे हैं, बात क्या है? मार्ग चक्र-रूप मालूम होता है। सचमुच हम तो आँखों पर पट्टी बंधे हुए तैली के बेल के सदृश चलते हुए भी वहीं के वहीं हैं। व्याकुलता होती है, आवाज़ उठाते हैं। पथ-प्रदर्शकों की ओर से उत्तर मिलता है कि विश्वास के साथ चलते जाओ, कुछ सोचना—तर्क करना तो पथ-भ्रष्ट होना है।

इस प्रकार उस गन्तव्य विशेष स्थान के यात्रियों की व्यथा और दीन-दशा को देख एक वैज्ञानिक पथ-निर्माता एवं पथ-प्रदर्शक आया, उसने अपने दूरवीक्षण (दूरवीन यन्त्र) से उस गन्तव्य विशेष स्थान का वेध किया और उस तक पहुँचने के लिए एक सुदृढ़ मार्ग निर्माण किया। मार्ग के मुखद्वार पर पाँच रंगों की पाँच पताकाएँ लगाईं जो उस मार्ग की सत्यता प्रदर्शित करती हैं। एवं उस मार्ग में पथ-रक्षक भी नियुक्त किये जिससे यात्रियों को कोई विघ्न न पहुँचा सके या पथच्युत न कर सके। नगर-नगर में उस मार्ग की विज्ञप्ति देने के लिये घोषणा-मन्दिर स्थापित किये। स्वयं पथ-प्रदर्शक वन अपने पीछे यात्रियों को बिना भूल-भ्रम के सुख से चलाया, सारा विश्व उसकी दूरदर्शिता और पथ-प्रदर्शकता की शरण में आ यशोगान करने लगा। अस्तु।

पाठकों को उक्त सारे उपन्यास का न्यास समझ में आ गया होगा, तथापि हम भी स्पष्ट कर देते हैं—

वह गन्तव्य विशेष स्थान है—परब्रह्म परमेश्वर, विश्वात्मा जगदीश्वर। उस तक पहुँचना, उसका साक्षात् करना, मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य है। उस तक जाने वाला प्राचीन मार्ग था 'वैदिकधर्म' जो कि अविद्यान्धकार और वेदों के अप्रचार आदि उत्पातों से लुप्त हो गया था। उसके क्वचित्-क्वचित्

अवशिष्ट मार्ग में परिवन्धी हैं—धर्म के नाम पर मूण्डने वाले अनेक आडम्बरी साधु, सन्त, महन्त—जिन्होंने चेला-चेली का प्रचार किया, लाखों करोड़ों को बे घरवार किया। सदाचार के जीवन से च्युत कर मार दिया। वह देखने में सुपथ चलने पर कच्चा कुपथ-पन्थ है हिन्दू-धर्म। इस पन्थ के मध्य में पुनः पुनः पड़ने वाले ग्राम हैं—हिन्दू-धर्म के तेतीस करोड़ देवता ! इन देवताओं के पण्डे पूजारी अपने-अपने देवता को ही प्राप्तव्य पद सिद्ध करने का ठेका लिये हुए हैं। मनुष्य की आयु भी इतनी नहीं है कि जो इन देवताओं की एक-एक दिन भी भक्ति कर सके, पुनः विशेष स्थान रूप पर ब्रह्म तक पहुँचने की तो कथा ही क्या ! भारत को इस पन्थ ने जो दुर्दिन दिखलाये वह किसी से छिपे नहीं हैं। महमूद गज़नवी और शहाबुद्दीन गौरी के हाथों में इस पुण्य भारत का साम्राज्य जाने का कारण यही तो है।

दूसरी कोटि के पथ प्रदर्शक हैं—अद्वैतवादी और नास्तिक जन। जिनके मार्ग में चल बड़े अन्ध-कूप तथा महागर्त में गिर पुनः पूर्ण विराम है—अपनी सत्ता का विलीन कर देना। इस धर्म ने भारतीयों को पुरुषार्थहीनता और अकर्मण्यता की बाढ़ में बहा दिया।

चक्र रूप मार्ग हैं—मुहम्मदन और क्रिश्चियन धर्म। जहाँ हज़रत मुहम्मद और हज़रत ईसा पर ईमान लाने, विश्वास करने ही से निजात (मुक्ति) मानी गई है। तथा जहाँ 'भज़्रह्व में अकल को देखल नहीं' ऐसा मान बुद्धि के उपयोग से रहित हो विश्वास का पट्टा आँखों पर बाँध तैली के बेल की तरह अग्रगति से विचलित हो जीवन यात्रा के मार्ग में चक्र ही खाना है।

इस प्रकार धर्मपथ के यात्री मनुष्य समाज को

धर्मान्धता के घोर अन्धकार में पड़े व्यथित एवं व्याकुलित देख जो महान् पथ-निर्माता विद्वान् (इजिनियर) आया, वह था दयावान् दयानन्द ऋषि ! उसने अपने ऋषिबुद्धि या वैदिक मेधा रूप दूरवीक्षण यन्त्र से परब्रह्म जगदीश्वर का वेधकर 'आर्य धर्म' के नाम से विख्यात सुदृढ़ धर्म पथ का निर्माण किया। इस मार्ग की सत्यता को प्रदर्शित करने वाली मुखद्वार पर पाँच रंग की पाँच पताकाएँ हैं सत्य की निर्णायक पाँच परीक्षाएँ—

१. जो जो ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव और वेदों के अनुकूल वह वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य। जैसे—ईश्वर सर्वव्यापक और अनन्त है उसका अवतार या मूर्ति होना असम्भव है, तथा वेद में भी "अज एक पात्" (यजु० ३४।५३) "न तस्य प्रतिमा अस्ति" (यजु० ३२।३)

२. जो जो सृष्टि क्रम के अनुकूल हो वह वह सत्य उससे विरुद्ध असत्य। जैसे—बिना माता पिता के योग से सन्तान होने का कथन मिथ्या है। एवं करोड़ों मील दूरी पर पृथिवी से कई लाख गुणा बड़े अग्नि पिण्ड सूर्य को निगल जाने या चाँद के अंगुलि से दो टुकड़े कर देने आदि बात असत्य हैं।

३. आप्त अर्थात् धार्मिक विद्वान् सत्यवादी का जो कथन-उपदेश और सदाचार के अनुकूल हो वह वह मान्य ग्राह्य विपरीत अमान्य अग्राह्य है। जैसे—गुण कर्मों के बिना जाति का विचार या अछूतता का व्यवहार। वरन् विश्वामित्र, मतंग, महीदास आदि ऋषि न कहलाते।

४. जो अपने आत्मा की साक्षी के अनुकूल है वह उचित और अन्यथा अनुचित समझना। जैसे—शस्त्र प्रहार से अपने को दुःख होता है एवं प्राणी-मात्र के प्रति भी वैसा ही समझना।

५. जो जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अनुकूल हो वह सत्य विपरीत असत्य जानना। जैसे—अग्नि में दाहत्व धर्म है।

उक्त पथ पर सचेत रखने वाले रक्षक हैं—वेद तथा वेदानुकूल आर्षग्रन्थ, जिनका परम ध्येय इस सत्यपथ की रक्षा करना ही है।

इस सत्य धर्मपथ की घोषणा करने के लिये ऋषि ने जो विज्ञप्ति मन्दिर स्थापित किये वे हैं आर्यसमाजें तथा आर्यसंस्थाएँ, जो सदा मनुष्य जीवन की यात्रा के आर्य धर्म रूप सत्य-पथ की

घोषणा करते रहते हैं। ऋषि के इस आर्य धर्म रूप सत्य-पथ की सत्यता और महत्ता संसार भर में प्रसिद्ध हो चुकी है, ग्राम-नगर और देश-विदेश में ऋषि का यश फैल गया है। आज उस ऋषि की रात्रि शिवरात्रि शिव अर्थात् मनुष्य जीवन की यात्रा के प्राप्तव्य विशेष स्थान रूप परब्रह्म जगदीश्वर के वेध की रात्रि है—यह उसके ऋषिबोध की रात्रि है। ऋषि का वेध ही ऋषि का बोध है, ऋषिबोध है। अन्तर्यामी जगदीश्वर शक्ति दे कि हम आर्य भी इस बोध से बोध ले सकें।

पाखण्ड खण्डिनी

(श्री पं० जयदेव जी 'स्नेही' शास्त्री)

तुम कौन ? यहां कैसे आई ? हिमगिरि पर क्यों इठलाती हो ?
 भगवां निशान यह किसका है ? क्यों भेद नहीं समझाती हो ?
 'पाखण्ड खण्डिनी' नाम है मेरा, मैं मथुरा से चलि आई हूँ ।
 इन भगवे योगी के संग से, भगवां निशान यह पाई हूँ ॥
 तुम पूछो, मैं कैसे आई ? नादान भला समझाऊँ क्या ?
 पाखण्डपाश में बन्धे हुआँ के, बन्धन न सुलझाऊँ क्या ?
 प्रस्तर प्रतिमा की पूजा के, पापपंक से पंकिल जो,
 अवतारवाद व मृतक श्राद्ध के मिथ्या मग में मंकित जो ।
 वर्णभेद व छूतभूत पाखण्डप्रथा से अंकित जो,
 वैदिकपथ से विमुख हुए हैं, कलुषित और कलंकित जो ॥
 इन भोले भाले भक्त जनों को, न सत्यमार्ग दर्शाऊँ क्या ?
 भटके-अटके-लटके जन को, राह राह न लाऊँ क्या ?
 आदेश गुरु का लेकर के, ये मेरे स्वामी आये हैं ।
 दुर्गम बीहड़ बन पर्वत के, इन नाना कष्ट उठाये हैं ॥
 'खण्ड खण्ड पाखण्ड करो' आदेश गुरु का एक यही ।
 आदेश-पताका बन कर मैं, फिरती फहराती मही मही ॥
 स्वामी जब यों आदेश करें, तो सेवा से घबराऊँ क्यों ?
 तन मन धन सब बार बार कर, हँस हँस बली न जाऊँ क्यों ?
 धन्य पताके ! धन्य पताके ! खण्ड खण्ड पाखण्ड करो ।
 सहृदय "स्नेही" मित्रों के हित, उदय ज्ञान मात्तण्ड करो ॥

शिक्षा का आदर्श

[ले०-पं० यशःपाल जी सिद्धान्तालंकार वैदिक मिशनरी]

प्राचीन भारत में सदाचार-निर्माण शिक्षा का मुख्य उद्देश्य माना गया है। सदाचार के बिना शिक्षा सर्वथा निष्फल है। वेदों के पढ़ने तथा पढ़ाने पर विशेष बल दिया जाता था परन्तु वेदों के मानने वाले विद्वान् का सदाचार रहित होने पर प्राचीन भारतीय समाज में कोई स्थान न था। मनु ने इस विषय पर विचार करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि—

सावित्रीमात्रसारोपि वरं विप्रः सुयंत्रितः
नायंत्रितस्त्रिवेदोपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ।

२।११८

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ।

२।१६०

ब्रह्मचर्य जीवन में विद्यार्थी के लिये इस प्रकार का वातावरण पैदा किया जाता था जिससे वह अपने चरित्र की भली प्रकार से रक्षा कर सके। अध्यापक केवल विद्यार्थी के बौद्धिक विकास की ओर ध्यान नहीं रखते थे परन्तु उसके सदाचार की भी पूरी तरह से रक्षा करते थे। ब्रह्मचारी को यह समझाया जाता था कि उसका जीवन पवित्र कार्य के लिये समर्पित है (Consecrated) और सदाचार का भङ्ग करने वाला ब्रह्मचारी भारी दोष का भागी बन जाता है। इस प्रकार की शिक्षा का जातीय जीवन (National character) पर गहरा प्रभाव पड़ता था। बहुत पुराने काल की जिसे कि यूरোपियन विद्वान् प्रागैतिहासिक काल

कहते हैं, चर्चा छोड़ भी दें तथापि मध्यकालीन भारत के इतिहास के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की शिक्षा की जातीय जीवन पर गहरी छाप थी। मैगस्थनीज़ ने लिखा है—“An Indian has never been convicted of lying. Truth and virtue they held in high esteem.” भारतीय कभी असत्य नहीं बोलते। धर्म तथा सत्य का वे बहुत मान करते हैं। आगे चल कर वे लिखते हैं कि “They are not litigants. Witnesses and seals are not necessary when a man makes a deposit, he acts in trust. Their houses are usually unguarded” भारतीयों में मुकुदमेवाजी का अभाव है। वे बिना लिखत-पढ़त के लेन-देन का कार्य करते हैं। उनके व्यावहारिक जीवन का आधार पारस्परिक विश्वास है। ७वीं सदी में ह्यूकाङ्ग ने भारतीय समाज का गूढ़ निरीक्षण किया है। भारत के सम्बन्ध में लिखते हैं—“They will not take anything wrongfully and they yield more than fairness requires. They fear of retribution for sins in other lives and make light of what conduct produces in this life. They do not practice deceit and they keep their sworn obligations.” अर्थात् वे अन्याय से किसी की वस्तु ग्रहण नहीं करते। धोखे का उनमें सर्वथा अभाव है। एक मुसलमान यात्री अलइदरीसी ने लिखा है कि

“The Indians are natuarally inclined to justice and never depart from it in their actions. Their good faith, honesty and fidelity to engagements are well known and they are so famous for these qualities that people flock to their country from every side; hence the country is flourishing and their condition prosperous.” अर्थात् अपने पवित्र तथा शुभ गुणों के कारण भारतीय बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके गुणों पर मोहित होकर ही

देश देशान्तर से लोग यहाँ आते हैं। मार्कोपोलो ने लिखा है कि “You must know that these Brahmans are the best merchants in the world and the most truthful, for they would never tell a lie for anything on the earth.” यहाँ के ब्राह्मण बड़े सत्यपरायण हैं और वे संसार की किसी भी वस्तु के लिये असत्य नहीं बोलते। इस प्रकार से विदेशी यात्रियों के लेखों से स्पष्ट है कि भारत की प्राचीन शिक्षापद्धति ने भारतीय जीवन को कितना उन्नत तथा समुज्ज्वल बनाया था।

महर्षि पर देव-निन्दा का दोष निराधार है

[ले० श्री पं० मुनीश्वरदेव जी सिद्धान्तशिरोमणि, आर्योपदेशक]

आजकल पौराणिक लोग आर्यसमाज व उसके संस्थापक महर्षि श्री स्वामी दयानन्द जी सरस्वती महाराज पर देव-निन्दा का मिथ्या दोष लगा कर सर्वसाधारण विशेषतया ग्रामीण और अपढ़ जनता को बहका कर सत्य सनातन वैदिक-पथ से भ्रष्ट करते हैं और अपने व्याख्यानों व लेखों-समाचार पत्रों द्वारा सदा घोषणा करते रहते हैं कि राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, इन्द्र, वृहस्पति, सूर्य और व्यास आदि देवताओं की वास्तव में आदर-स्तुति इज्जत हम ही लोग करते हैं, यह लोग (आर्यसमाजी-दयानन्दी) तो इन (राम कृष्णादि) को खानते ही नहीं।

पाठक वृन्द ! हम आज अपने इस लेख द्वारा आप को यह बताना चाहते हैं कि वास्तविक बात क्या है। आर्या आर्यसमाज पर यह (देव-निन्दा का) दोष चरितार्थ भी हो सकता है या यूँहीं पौराणिक लोगों का मिथ्या प्रलाप है? हमारी डंके

की चोट से घोषणा है कि जैसी उक्त देवताओं की इज्जत महर्षि ने व आर्यसमाज ने की है व करता है, ऐसी पौराणिक लोग नहीं करते। हम अपने भावों को स्पष्ट करने के लिये सत्यार्थप्रकाश के वह स्थल जिनमें उक्त देवों के विषय में महर्षि के विचार मिलते हैं, उद्धृत करते हैं। पाठक विचार करें :—

१. ब्रह्मा जी के विषय में ‘जो सांगोपांग चारों वेदों का जानने वाला है, वही ब्रह्मा है।’ (सं० प्र० २०वीं बार पृ० २६)

२. “ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वानों ने भी परमेश्वर में ही विश्वास करके उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना करी, उस से भिन्न की नहीं।” (सं० प्र० पृ० ५)

३. श्री कृष्ण जी के विषय में “देखो श्री कृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उसका गुण कर्म स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों

के सदृश है, जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्री कृष्ण जी के जन्म से मरण पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो ऐसा नहीं लिखा और इस भागवत वाले ने अनुचित मन माने दोष दूध दही माखन आदि की चोरी, कुब्जा दासी से समागम, पर स्त्रियों से रासलीला, क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्री कृष्ण जी में लगाये हैं। इसको पढ़ पढ़ा सुन सुना के अन्य मत वाले श्री कृष्ण जी की बहुत सी निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्री कृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों कर होती।” (स० प्र० पृ० २१६)

४. श्री व्यास जी विषय में “जो अष्टादश पुराणों के कर्ता व्यास जी होते तो उनमें इतने गपोड़े न होते, क्योंकि शारीरिक सूत्र और योग-शास्त्र के भाष्य आदि व्यासोक्त ग्रन्थों को देखने से विदित होता है कि व्यास जी बड़े विद्वान्, सत्यवादी धार्मिक योगी थे, वे ऐसी मिथ्या कथा कभी न लिखते। और वेद शास्त्र के विरुद्ध असत्यवाद लिखना व्यास सदृश विद्वानों का काम नहीं किन्तु यह काम विरोधी, स्वार्थी, अविद्वान्, पामरों का है।” (स० प्र० पृ० २१३)

५. “देखो मूर्ति पूजा से श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण नारायण और शिवादि की निन्दा और उपहास होता है। सब कोई जानते हैं कि ये बड़े महाराजाधिराज और उनकी स्त्री सीता, रुक्मिणी, लक्ष्मी और पार्वती आदि महारानियाँ थीं। रामलीला और रासलीला भी करवाते हैं, सीता-राम, राधा-कृष्ण, नाच रहे हैं। राजा महन्त सब सेवक आदि आनन्द से बैठे हुए देख रहे हैं। और रामलीला व रासलीला के अन्त में सीता-राम और

राधा-कृष्ण से भीख मँगवाते हैं। इत्यादि बातों को आप लोग विचार लीजिए कि कितने बड़े शोक की बात है। भला कहो तो सीता-राम आदि ऐसे दरिद्र और भिक्षुक थे ? यह उनका उपहास और निन्दा नहीं तो क्या है ?”

(स० प्र० पृ० २२६-२७)

पाठक-वृन्द ! यह हैं पुण्यात्मा महर्षि के अपने पूर्वज देवताओं, विद्वानों राम-कृष्ण आदि के प्रति हृदयोद्गार। अब इन पूर्व लिखित सत्यार्थप्रकाश के उद्धरणों की विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। आप स्वयं इन्हें पढ़कर अपनी सम्मति स्थिर कर सकते हैं। इन उद्धरणों की विद्यमानता में हमारा विश्वास है कि कोई भी समझदार मनुष्य यह कभी नहीं कह सकता कि महर्षि दयानन्द-सरस्वती व उनके चरण-चिह्नों पर चलने वाला आर्यसमाज राम, कृष्ण आदि पूर्वज विद्वान् धार्मिक महानुभावों-देवों-की निन्दा करता है ! ऐसी अवस्था में जो महानुभाव महर्षि पर व आर्यसमाज पर देव-निन्दा का मिथ्या-दोषारोपण करेंगे, समझ लो वे लोग महा अन्यायी, छली और धोखेबाज़ हैं। और महापुरुष के सुनहरी सन्देश के सर्वत्र प्रचारित होने में बाधक हैं। अब हम पाठकों की सेवा में बताना चाहते हैं कि राम, कृष्ण आदि देवताओं के विषय में पौराणिक दृष्टि-कोण क्या है। देखिये शिव-पुराण उमा सं० अ० ४ श्लो० २७ में लिखा है कि—

ब्रह्मा च बहुवारं हि मोहितः शिवमायया ।

अभवद् भोक्तुकामश्च स्वसुतायां परासु च ॥

यह तो हुआ ब्रह्मा जी के विषय में पुराण का प्रशंसा-पत्र। अब लीजिये विष्णु जी के विषय में (शि० पु० रुद्र सं० २ युद्ध ख० ५ अ० २३ में लिखा है कि एक दिन विष्णु ने छलकर वृन्दा नाम

स्त्री से व्यभिचार किया, जब वृन्दा को पता चला कि यह तो विष्णु है तब उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर विष्णु से कहा—

रे महाधम दैत्यारे परधर्मविदूषक ।

इस प्रकार पुराण ने विष्णु को भी सदाचार का प्रशंसा-पत्र दे दिया । अब कृष्ण जी (१६ कला वाला) के विषय में देखिये (प्र० वै० क० ज० ४ अ० ३ श्लो० ५६ से ६३ में) लिखा है कि एक दिन समयपाकर राधा से बिना पूछे ही श्रीकृष्ण जी विरजा नाम की गोपी से काम-क्रीडार्थ आये । जब राधा को पता चला कि मेरे प्राण-नाथ वहाँ गये हैं तो वह झट मौक़े पर आ गई, और सब लीला को देख कर अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोली—

हे कृष्ण विरजाकान्त गच्छ मत्पुरतो हरे ।

कथं दुनोपि मां लोल रतिचौरातिलम्पट ॥

हे सुशीले शशिकले हे पद्मावति माधवि ।

निवार्यतां च धूर्तोऽयं किमस्यात्र प्रयोजनम् ॥

अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है । पुराणकर्ता ने श्रीकृष्णजी को—जिनको आर्यसमाज योगेश्वर, धार्मिक योगी, आस पुरुष आदि विशेषणों से अलंकृत करता है—लोल, रति चोर, अति लम्पट और धूर्त आदि खिताबों से सुशोभित किया है ! शोक ! महा शोक !!

इन्द्र देवता के बारे में भी ऐसा ही वर्णन (ब्र० वै० कृष्ण० ज० ख० अ० ४७ श्लो० २०) में मिलता है कि एक दिन इन्द्र देवता स्नानार्थ स्वर्णनदी पर गये, तो आपने वहाँ गौतम की सुन्दरी स्त्री अहिल्या को देख लिया । बस फिर क्या था, आपने उसके पति का भेष बना कर उसे रमण के लिये ज़बर्दस्ती खींच कर—

चकार विविधं तत्र शृगारं सुमनोहरम् ।

मूर्च्छां सं प्राप कामेन तंद्रां च मुनिकाशिनी ॥

इसी प्रकार—

चन्द्र देवता ने वृहस्पति की स्त्री का अपहरण किया ।

सूर्य देवता ने अपनी भतीजी संज्ञा से समागम किया ।

श्री राम जी ने शूषणखा के सामने “सभार्यो-ऽहं-अभार्योऽयम्” कह कर मिथ्या भाषण इत्यादि किया, अनेक दोष देवताओं पर अथवा पूर्वज विद्वानों पर पौराणिक धर्म के मान्य पुस्तकों अष्टादश पुराणों में लगाये गये हैं । जो कि पुराणातिरिक्त मान्य धर्म-ग्रन्थों व इतिहासों में सर्वथा, ख-पुष्पवत्, अभाव अर्थात् अप्राप्त है ।

अतः महर्षि पर देव-निन्दा का मिथ्या दोष लगाना निराधार है । कपोल कल्पित है । वाङ् मात्र ही है ।

: : कौपीन-धारी : :

[ले०—ब० सत्यभूषण “योगी” गुरुकुल काङ्गड़ी]

एक था कौपीन धारी

विश्व में नव प्राण भरता ।

(१)

वह चमकता सूर्य आया,
कलुष रजनी को रुलाया,
सुप्त जगती को जगाया,
हृदय-पद्मों को खिलाया,
तेज लख पर-धर्म तारे ।
म्लान हो डूबे बिचारे ॥
दुष्ट चौर समूह ने मुंह
गहन वन में जा छिपाया,
दिव्य द्युति से ही दमकता
वह बढ़ा आगे निरन्तर,
जो उसे था घूरता निज
नयन में करता विकलता ।
एक था कौपीन धारी
विश्व में नव प्राण भरता ॥

(२)

शिव सुधाधर शुभ्र मोहन
था जुड़ाता दग्ध जन को,
सुरसरी रससारिणी थी
शोधती जो मलिन मन को,
वेद मधु पीयूष से था
पूर्ण वह इक मेघ मञ्जुल,
जलधि में आलोक गृह था
पथ दिखाता पोत-गण को,
जग - सहारे का सहारा
शाद्वल^१ स्थल था सुखद वह,

गर्त आगे का दिखाया
अशनि सुन्दर था चमकता ।
एक था कौपीन धारी
विश्व में नव प्राण भरता ॥

(३)

धधकता गोला भयङ्कर
था बरसता कुटि दल में,
आ गया जो बच न पाया
छार हो जाता अनल में,
तीक्ष्ण शर था बाँधता जो
ढोंगियों के चित्त सन्तत,
शत्रु तृण क्या ठहरते उस
वेग वाले पवन बल में !
बहुत थे अनुभव उसे पर
हारने का था न अनुभव,

था बड़ा हर बात में वह
दम्भियों का दम्भ हरता ।
एक था कौपीन धारी
विश्व में नव प्राण भरता ॥

(४)

भाइयों की गालियों में
मधुर गायन ही सुना था,
प्रेम का ही वसन उसने
सकल जीवन में बुना था,
पत्थरों की वृष्टियों भी
पुष्प-वर्षण थे उसे तो,

^१ Oasis (नखलिस्तान) ।

पुष्प-शय्या छोड़ कण्टक—

कीर्ण विस्तर को चुना था,

था हलाहल पूर्ण प्याला

भी सुधारस मधुर उसको,

दुःखियों के दुःख से मृदु

हिय सदा उसका सिसकता ।

एक था कौपीन धारी

विश्व में नव प्राण भरता ॥

(३)

विश्वहिय स्वर लहरियों पर

वह चढ़ा करता सुनर्तन,

चित्र हृत्तन्त्री बजा कर

मुग्ध कर लेता जगन्मन,

क्यों न हो यह जब बजाता

हो स्वयं आ दिव्य गायक !

तान थी अनुपम अनोखी

भूम पड़ता विश्व कणकण,

चकित हर्षित थे सभी सुन

नित्य नव गायन पुरातन,

आह उसको स्पर्श करती

तो विकलता से झनकता ।

एक था कौपीन धारी

विश्व में नव प्राण भरता ॥

(६)

उंगलियाँ बत्ती बना

मेरी जला दें हों जला दें !

तनिक भी तो दुख नहीं है

धूल में मुझको मिला दें !

देखलें यदि पन्थ कुछ भी

भ्रान्त वे काली निशा में,

धन्य यदि मम धूल उनको

बन घड़ा ^१जीवन पिला दे,

मधुर ध्वनियाँ नित गुञ्जाता

ही रहा ऐसी अमर वह

जगत हित ही सौँस लेता

विघ्न गण को देख हँसता ।

एक था कौपीन धारी

विश्व में नव प्राण भरता ॥

(७)

प्राण हर के भी बचाए

प्राण, यह क्षमता कहीं है ?

विश्व के इतिहास में

बलिदान ऐसा क्या कहीं है ?

शान है नर जाति की वह

मान भारतवर्ष का है,

कर दया आनन्द ने यह

पूत सारी की मही है,

क्या कहें कितना कहें

इस जीभ में है शक्ति कितनी !

एक “योगी” ब्रह्मचारी

था जगत का त्राण करता ।

एक था कौपीन धारी

विश्व में नव प्राण भरता ॥

१. जीवन=पानी ।

भाषा-विज्ञान और वेद

(ले० श्री पं० विश्वनाथ जी आर्योपदेशक)

संसार की सब विद्याओं को तीन भागों में विभक्त किया जाता है। पदार्थ-विद्या, भाषा-विज्ञान और आत्म-विद्या। इनकी आगे जाकर अनेक शाखायें हो गई हैं और इनमें समय २ पर उन्नति और अवनति भी होती रहती है।

अनुभव से सिद्ध हुआ है कि मनुष्य इन तीनों विद्याओं को बिना सीखे प्राप्त नहीं कर सकता। अकबर के गुँग महल की कथा प्रसिद्ध है। योरुप में भी इसी प्रकार का अनुभव प्राप्त किया गया है। मैंने स्वयं दो ऐसे गुँगों को देखा जिनकी जिह्वा में किसी प्रकार का दोष नहीं था, केवल वधिर होने से वह सूक भी थे। इसका कारण यही था कि कुछ न सुनने से जिह्वा के होते हुए भी बोलने में समर्थ नहीं हो सके।

अब विचार करना चाहिये कि यदि सृष्टि के आरम्भ में जगदीश्वर वेद द्वारा इन विद्याओं का प्रकाश न करता तो मनुष्यों की आज क्या अवस्था होती। सचमुच वह एक निपट पशु ही रह जाते अतएव अधमर्युण मन्त्र के भावानुसार महर्षि वेद-व्यास जी ने अपने ब्रह्म सूत्र में ईश्वर की सत्ता में तीन प्रमाण उपस्थित करते हुए “शास्त्र योनित्वात्” इस सूत्र द्वारा वेद-ज्ञान का देना भी ईश्वरीय सत्ता का हेतु बतलाया। क्योंकि संसार में वर्तमान ज्ञान का हेतु वेद के बिना कोई दूसरा नहीं हो सकता। और वेद का प्रादुर्भाव ईश्वर के बिना नहीं हो सकता। इसी बात को पातञ्जलि मुनि ने—

सपूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

इस सूत्र में स्पष्ट किया है कि शिक्षा की पर-

म्परा से ईश्वर सब का गुरु है। इस लेख में केवल भाषा विज्ञान के सम्बन्ध में बतलाना है। भारतवर्ष की मनुष्यगणना (सन् १९३१ ई०) की सूचना है कि यहाँ बड़ी २ वारह बोलियाँ बोली जाती हैं। जिनके नाम यह हैं—हिन्दोस्तानी, बंगाली, तिलगू, मराठी, तामल, पंजाबी, राजस्थानी, किनारी, उड़िया, गुजराती, ब्राह्मी, मलाया। परन्तु इनके आगे बहुत से भेद हो जाते हैं और सब छोटी-मोटी भाषाओं की संख्या २२२ है। इसी प्रकार सारे भूमण्डल में १००० से अधिक भाषायें बोली जाती हैं।

भाषा-विज्ञान से अनभिज्ञ पुरुष यही समझते हैं कि यह सब भाषायें सृष्टि के आरम्भ से ऐसी ही चली आती हैं, परन्तु वेद भगवान् ने बताया कि—

वृहस्पते प्रथमं वाचोऽग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।

ऋ० १०।७१।१

अर्थ—हे वृहस्पति परमात्मा आपने सब पदार्थों के नाम रखते हुए सृष्टि के आरम्भ में पहली वाणी का उपदेश किया पुनः यह भी बताया कि इस वेद की भाषा से संसार में अनेक भाषायें बन जाती हैं। यथा—

तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि- संन वन्ते ।

ऋ० १०।७१।३

अर्थ—उस वेद-वाणी को लेकर मनुष्य बहुत भाषायें बना लेते हैं और इसी से सात गायत्र्यादि छन्दों को प्राप्त करते हैं। मनुस्मृति में भी लिखा है—

नाम रूपं च भूतानां कर्मणाश्च प्रवर्तनम् ।

वेद शब्देभ्यः सृष्ट्यादौ निर्ममे स महेश्वरः ॥

“7] अथ—महेश्वर भगवान् ने सृष्टि के आदि में
to वेद शब्दों के द्वारा सब भूतों के नाम कर्म और प्रवृत्ति
का निर्माण किया।

बाइबल में भी कथा आती है कि पहले मनुष्य
क बोली बोला करते थे तब उन्होंने एक मीनार
बना कर आकाश पर चढ़ना चाहा। खुदा ने इस
कार्य को रोकने के लिये उनकी बोली में भेद डाल दिया।

संस्कृत इंगलिश लैटन डैनमार्क-स्वीडन
पिता (पितृ) फ़ादर बप्टर फीडर
माता (मातृ) मदर मैटर माडर

भारत की सब भाषायें संस्कृत से निकली हैं।
संस्कृत के सब विद्वान् अपनी २ भाषा के मेल को
जानते हैं। अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

संस्कृत और यंद भाषा—सन् १८५२ ई० में मार्टन
हाग नाम के भाषा विज्ञान के पण्डित ने बताया कि
पारसियों की पुस्तक यंद अवस्था के अर्थ करने में
फ़ारसी से इतनी सहायता नहीं मिल सकती जितनी
कि वैदिक भाषा से मिल सकती है। इस पुस्तक
की दो भाषायें हैं। एक गाथा, दूसरी अवस्था। गाथा
में वैदिक भाषा की तरह ३ वचन, ८ विभक्ति और
वैसे ही लकार भी हैं। परन्तु अवस्था में व्याकरण
का कुछ भी विचार नहीं—यथा गाथा में देव शब्द
शब्द का तृतीया विभक्ति का रूप संस्कृत की तरह
“देवेन” है परन्तु अवस्था में केवल देव है। वर्तमान

संस्कृत—हस (हँसना) नद (शब्द करना) शंक (सन्देह करना) स्तर (ढांपना) आप्त मस (मापना)
अरबी—हज़ नदा शक्क सतर आफ़त मसह
संस्कृत—छी क्षल गै (गाना) सम्मिलित अम्ब (पिता) अम्बा (माता)
अरबी—मस्तूरात गुसल गुना शमूलियत अब्व उम्म

संस्कृत और अमरीका की भाषा—पुरानी
दुनिया की सब भाषायें संस्कृत से ही निकली हैं।
यह सिद्ध हो जाने पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि
वैदिक भाषा संसार भर की भाषाओं की माता

आरम्भ में यूरोप के विद्वानों को स्यात इसी
कथा ने भाषा विज्ञान की खोज में प्रवृत्त किया।
तत्पश्चात् विद्वानों ने जब अनेक भाषाओं का ज्ञान
प्राप्त किया तो बड़े आश्चर्य से देखा कि संसार की
प्रसिद्ध भाषाओं में विशेष शब्द सर्वथा एक जैसे
ही मिलते हैं। अन्य शब्द भी कुछ न कुछ सादृश्य
रखते हैं। यथा—

फ़ारसी भाषा का भी संस्कृत भाषा से बहुत
सादृश्य है। पंजाबी भाषा की तरह यदि इसमें से
अरबी तुर्की आदि के शब्द निकाल दें तो शेष सब
संस्कृत के शब्द रह जाते हैं जो थोड़े से विकृत
हो चुके हैं।

संस्कृत और अरबी—अरबी भाषा हिब्रू भाषा
की शाखा है, और इसकी गणना आर्य भाषाओं
में नहीं समैटिक भाषाओं में है। कई यूरोपियन
विद्वान् संस्कृत को हिब्रू भाषा की बड़ी बहिन कहते
हैं। परन्तु विचार से देखा जावे तो संस्कृत भाषा
से हिब्रू भाषा का यद्यपि दूर का सम्बन्ध है
तथापि यह भी संस्कृत भाषा से ही निकली है।
अरबी भाषा के बहुत से शब्दों का संस्कृत से
सादृश्य भी इसी बात को सिद्ध करता है। यथा—

संस्कृत और अरबी—अरबी भाषा हिब्रू भाषा
की शाखा है, और इसकी गणना आर्य भाषाओं
में नहीं समैटिक भाषाओं में है। कई यूरोपियन
विद्वान् संस्कृत को हिब्रू भाषा की बड़ी बहिन कहते
हैं। परन्तु विचार से देखा जावे तो संस्कृत भाषा
से हिब्रू भाषा का यद्यपि दूर का सम्बन्ध है
तथापि यह भी संस्कृत भाषा से ही निकली है।
अरबी भाषा के बहुत से शब्दों का संस्कृत से
सादृश्य भी इसी बात को सिद्ध करता है। यथा—

है तो अमरीकन भाषा का भी संस्कृत से कुछ
सम्बन्ध होना चाहिये। प्रभु कृपा से इसका प्रमाण
भी मिल गया है। सरस्वती (मासिक पत्र) के
अप्रैल ३२ के अंक में लिखा था—

“दक्षिण अमरीका में नहर पनामा के निकट एक जाति पाई जाती है जो श्वेत इण्डियन कहाते हैं। (पूर्व लाल इण्डियन और पीले इण्डियन का नाम ही सुना जाता था) एक विश्वविद्यालय के अध्यापकों ने इसकी खोज की। वह इस जाति की दो स्त्रियों और एक पुरुष को पकड़ लाये। यह गले और कानों में चाँदी के भूषण पहनते हैं। इनकी भाषा कुछ काल तक न समझी गई। पीछे ज्ञात हुआ कि इनकी भाषा संस्कृत है जिसमें स्थानिक शब्द मिले हुए हैं। इनके गीत की खोज हो रही है। यह निश्चय किया गया है कि यह उन भारतीयों की सन्तान हैं जो किसी समय भारत से अमरीका पहुँचे।”

संस्कृत और अफ़रीका की भाषा—मि० ओज़ा कहते हैं कि अफ़रीका की की बोली (हबशी भाषा) सुहेली के बहुत से शब्द संस्कृत का बिगाड़ हैं। यथा ‘आज्ञा’ लेनेको ‘अग्गा’ कहते हैं। (आर्यमित्र १३-४-३४)

इसके सम्बन्ध में निष्पक्ष विद्वानों की सम्मतियाँ भी दी जाती हैं।

मौलवी ज़काउल्ला लिखते हैं—भाषा की वैज्ञानिक खोज से एक फरंग ने एक आश्चर्य जनक बात

मालूम की है कि आर्यों की भाषा एशिया द्वीप की अर्द्ध और यूरोप की सब भाषाओं का मूल है। तारीख़ हिंद पहला भाग मैक्समूलर लिखते हैं—भाषा विज्ञान सिद्ध करता है कि संसार की पहिले एक ही भाषा थी। (साइंस आफ़ दी लैंग्वेज पृ० ४८१) संस्कृत, लैटन यूनानी से विस्तृत और पूर्ण भाषा है और वेद आर्य भाषा तथा आर्य-सभ्यता की पुरानी स्मृति हैं। (फ़िज़िकल रिलीजन पृ० १६) सब भाषायें संस्कृत से निकलीं। आर्यों से यूनान ने, उनसे रोमन ने और उनसे अंगरेज़ों ने विद्या प्राप्त की। (डा० बेलंलापन) संस्कृत भाषा में सन्धियाँ हैं। नाम और धातुओं के अनेक रूप हैं। कृत प्रत्ययों तद्धितों और समासों की भरमार है। धातुओं की संख्या भी अधिक है। संस्कृत में १७०६ धातु हैं इंगलिश में ४६१ गायक में ६० हिब्रू में ५०० चीनी में ४५० जर्मन में २५० हैं। प्रायः भाषा का परिवर्तन कठिनता से सहज की तरफ़ हुआ करता है। इस नियम के अनुसार भी संस्कृत सब भाषाओं की माता सिद्ध होती है। और वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने में यह एक बहुत बड़ा प्रमाण है।

आचार्य दयानन्द

(ले०—पं० धर्मदेव शास्त्री दर्शन-केसरी दर्शन-भूषण, सांख्य-वेदान्त तीर्थ आदि, देहरादून)

मैं जितना भी अधिक अध्ययन करता हूँ उतनी ही अपने आचार्य ऋषि दयानन्द के प्रति श्रद्धा बढ़ती ही जाती है। ऋषि दयानन्द के वेद-भाष्य के कुछ स्थल मुझे समझ नहीं पड़ते थे, परन्तु मेरा विश्वास था कि ‘ऋषि’ ने जो अर्थ किया है वह आर्ष दृष्टि से किया है अधिक स्वाध्याय करने से कभी न कभी स्वयं ही स्पष्ट हो जाएगा, और ऐसा ही

हुआ। आज भी कुछ स्थल मुझे समझ न पड़ते हों, परन्तु मेरा दृढ़ निश्चय है कि एक दिन उनको मैं स्वाध्याय करते २ समझ लूँगा। मुझे क्या किसी भी आर्य को यह गर्व होना चाहिये कि हमारा आचार्य संसार के बहुत थोड़े महा-पुरुषों में अग्रणी है, तपस्या, विद्या, ब्रह्मचर्य आदि सभी विशेषताओं में उसका चरित्र अनुपम है, मुझे स्मरण है जब

बनारस में पं० अखिलानन्द ने व्याख्यान देते हुए ये शब्द कहे कि स्वामी दयानन्द का रमाबाई के साथ अनुचित सम्बन्ध था, तो मेरे गुरु काशी के व से प्रसिद्ध विद्वान् दार्शनिक सार्वभौम-माध्व-म्प्रदायाचार्य-साहित्य दर्शनाचार्य श्री गोस्वामी दामोदर शास्त्री जी ने ये शब्द सुन कर कहा था कि “कौन दुष्ट व्यक्ति उस बाल-ब्रह्मचारी सूर्य-सम तेजस्वी विद्वान् के सम्बन्ध में इस प्रकार की बातें कहता है, मैंने उन्हें काशी शास्त्रार्थ के समय देखा है। उस समय कोई भी व्यक्ति उस ब्रह्मचारी को देख ही नहीं सकता था, कोई बोल नहीं सकता था, विद्या में तो उसे कोई पार भी नहीं पा सकता था।”

आचार्य दयानन्द की विद्या के सम्बन्ध में उपर्युक्त काशी के विद्वान् ने कहा है कि “वेदों की भूमिका यदि कोई कही जा सकती है तो आचार्य दयानन्द की ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका ही। यह पुस्तक तो अपूर्व है। सायण ने जो भूमिका लिखी है वह मीमांसा के सूत्रों की ही कुछ २ व्याख्या मात्र है अथवा संग्रह मात्र।”

इसी प्रकार जिन भी काशी के विद्वानों ने ऋषि के ग्रन्थों का दर्शन किया है अथवा साक्षात् उनका दर्शन किया है वे उनकी विद्या, निर्भीकता और ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हैं।

काशी की ही बात है अखिलानन्द जी ने ऋषि के आचार पर गन्दे आक्षेप किये, उन्हीं दिनों किसी अन्य कार्य से पूज्य मालवीय जी के पास जाने का अवसर मिला और उन्होंने ऐसा सुनकर कहा कि— “दयानन्द के चरित्र पर आक्षेप करना सूर्य पर थूकना है।” कहने का तात्पर्य यह है कि मेरा आचार्य सभी दृष्टियों से इस योग्य है कि संसार उसे अपना गुरु माने। महात्मा गान्धी जी तो कहते हैं

कि ऋषि दयानन्द के ब्रह्मचर्य के सामने मुझे शर्म आती है।

इस पर भी मुझे यह कहते हुए शर्म आती है और दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आर्यसमाज में पहिले तो विद्वान् ही कम हैं उनमें भी ऐसे कम आर्य विद्वान् हैं जो ऋषि पर अटूट श्रद्धा करते हों। हां कोई थोड़ा सा भी पढ़-लिख कर ऋषि दयानन्द की व्याकरण की तथा अन्य प्रकार की अशुद्धियाँ निकालने में कोई कसर नहीं छोड़ते। कोई यदि इसी धुन में है कि वह सिद्ध करे, ऋषि दयानन्द ऋषि नहीं थे, तो दूसरा इस बात को कहते हुए मानो अपने ऋषित्व का ख्यापन करता है कि ऋषि दयानन्द की संस्कृत तो शंकर की संस्कृत की अपेक्षा बहुत नीचे दर्जे की है। ऋषि ने जिस पाठ विधि का निर्देश सत्यार्थ-प्रकाश में किया है उसकी सत्यता में तो शायद ही किसी को अन्तः विश्वास हो।

आखिर यह क्यों? वास्तव में आर्यों को ऋषि दयानन्द का क्रान्तिकारी खण्डनात्मक जीवन ही दृष्टि-गोचर होता है, ऋषि का वह जीवन भाग जिस में वे रात्रि के दो बजे उठकर समाधि लगाते हैं, और गुरु के पाद-प्रहार को अपने लिये अमृत समझ कर गुरु के ही कष्ट का ध्यान करते हैं, नहीं दीखता है, जो कि उनका मुख्य भाग है। यह है श्रद्धा का भाग। आज हम में श्रद्धा या विश्वास का अभाव है। स्मरण रखो श्रद्धा के बिना किसी भी धर्म को स्थिरता नहीं मिल सकती।

जिस ऋषि ने हमारे लिये गंगोत्री के हिम में गल जाने से बचने का उद्यम किया सब से बढ़ कर हमारे लिये मुक्ति के आनन्द को छोड़ा और अन्त में छोड़ा अपने शरीर को उसके ऋण के उतारने का हमने क्या विचार भी किया?

शंकर के शिष्यों ने आचार्य शंकर के सिद्धान्तों

को कितना प्रबल कर दिया है। शंकर ने वेदान्त सूत्रों पर भाष्य लिखा है आज उस पर अनेकों टीकाएँ बन चुकी हैं जिनमें वाचस्पति मिश्र की 'भामती टीका' तो बहुत ही प्रसिद्ध है इस टीका पर भी कई टीका टिप्पणियाँ लिखी जा चुकी हैं। यही बात रामानुज के वेदान्त भाष्य के भी सम्बन्ध में कही जा सकती हैं। इन आचार्यों के सिद्धान्तों की व्याख्या में जो ग्रन्थ लिखे गये उनकी तो संख्या ही नहीं। परन्तु मैं जब अपने आचार्य के सम्बन्ध में सोचता हूँ तब दुःख होता है। ऋषि दयानन्द का सर्वोत्तम ग्रन्थ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका और वेद-भाष्य है। उस पर संस्कृत में अथवा अन्य भाषा में प्रमाण युक्ति-युक्त व्याख्यात्मक भाष्य नहीं लिखा गया। आर्य विद्वानों को इसमें अपमान प्रतीत होता है कि वे अपने आचार्य के ग्रन्थ पर व्याख्या लिखें, उसका भाष्य लिखें। होना यह चाहिये कि सब से पूर्व आर्यसमाज की सारी शक्ति वेदभाष्य पर भाष्य करने में लगाई जाए। मेरा यह अभिप्राय नहीं कि और काम छोड़ देने चाहिये। मैं तो इतनी प्रार्थना करता हूँ कि इस समय भिन्न २ स्थानों पर जो विभिन्न प्रतिनिधि सभाओं की ओर से वेद-भाष्य का आयोजन हो रहा है वह एक स्थान पर हो और उसका लक्ष्य रक्खा जाए ऋषि के सूत्रात्मक वेद-भाष्य पर व्याख्यान करना अर्थात् उसे स्पष्ट करना।

मुझे इस अवसर पर आर्य विद्वानों से भी प्रार्थना करनी है और वह यह कि पाश्चात्य ढंग से अथवा पौराणिक प्रकार से वेद की व्याख्या करने वाले यूरोप में और भारत में भो अनेकों विद्वान् हैं। यदि हमारे हृदय में ऋषि के प्रति कुछ भी श्रद्धा है तो हमारा कर्तव्य है कि हम ऋषि की ही शैली का अनुसरण करें और आर्यों में बुद्धि-भेद उत्पन्न न करें।

जो बात समझ न पड़े उस पर मौन करें। अथवा परस्पर उस पर विचार विनियम करें। मुझे आशा है कि इस सम्बन्ध में ऋषि का आशय आज नहीं, तो कालान्तर में अवश्य विदित हो जावेगा।

आर्य विद्वान् तो ऋषि के ऋण से इस प्रकार उद्गुण हो सकते हैं। आर्य स्त्री और पुरुषों का कर्तव्य है कि वे अपने आचार्य के निर्दिष्ट वैदिक सिद्धान्तों पर अटल श्रद्धा करें। वेद की रक्षा के लिये वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय करें और इस प्रकार का अनुसन्धान करने वाले वैदिक संस्थाओं की आर्थिक सहायता करें। पुराने आर्यों में जो विशेषता थी जो कि अब जा रही है वह थी स्वाध्याय की। मैं आज पुनः प्राचीन शब्दों में आर्यों से प्रार्थना करूँगा कि—

‘स्वाध्याय्या प्रमदः’

स्वाध्याय से प्रमद मत करो। स्वाध्याय का अर्थ है अपने जीवन का अध्ययन और उसमें सहायक मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन। आर्य परिवारों में इस की प्रथा ज़ोरों से जारी होनी चाहिये।

अपने आचार्य ऋषि दयानन्द की प्रशंसा में मैं अन्त में वेदादि के अपूर्व विद्वान् श्री सत्यव्रत सामश्रमी के विचार उपस्थित करके इस लेख को समाप्त करूँगा। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ पेतरेया-लोचन में आचार्य दयानन्द के सम्बन्ध में निम्न विशेषण दिये हैं—

“वेद वैदिकमतप्रचारायोत्सर्गीकृतजीवने नाद्यतनसर्वार्यवर्गेण अस्मच्छद्भाभाजनेन आचार्य दयानन्द स्वामिना ।” अर्थात् “आचार्य दयानन्द स्वामी ने वेद और वैदिक मत के प्रचारार्थ अपने जीवन की बलि दे दी। वे वर्तमान काल के समस्त आर्यों में श्रेष्ठ गिने जाने के योग्य हैं। हम उनके प्रति श्रद्धा के भाव रखते हैं”।

एक आर्योत्तर विद्वान् जब इस प्रकार आचार्य दयानन्द के प्रति इतने श्रद्धा के भाव रखता है तब किसी आर्य विद्वान् का ऋषि के प्रति अश्रद्धामय शब्द कहना कितना बुरा है।

मुझे तो ऋषि दयानन्द शब्द की अपेक्षा आचार्य दयानन्द शब्द अधिक प्रिय और युक्ति संगत प्रतीत होता है। हम आर्यों के तो वे आचार्य हैं। हमारा

कर्तव्य है कि सदा अपने आचार्य के चरणों में नत मस्तक रहें।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने ग्रन्थों में ऋषि के नाम के साथ ही आचार्य पद लगाया है। वास्तव में वर्तमान काल में वे ही आचार्य पद से सम्बोधित किये जा सकते हैं। इसीलिये मैं अपने बाबा को आचार्य दयानन्द कहता हूँ।

स्त्रीजाति और ऋषि दयानन्द

[श्री० पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार]

कैसी ठण्डी छाँह री सखि जोगी की कुटिया में^१ !

(१)

कब की बेसुध मैं थक हारी,
जने जने ने ठोकर मारी।
दयावन्त इक तापस आया,
पकड़ लई झूट बाँह री ॥ सखि०

(२)

कहे जोगी बेटी ! क्यों रोवे,
ढाल बनूं मैं तू सुख सोवे।
चलो सखी चलिये दुखिया को,
मिलती उजली छाँह री ॥ सखि०

(३)

भाग जगे सखि दर्शन पाए,
रह रह प्रेम उमड़ कर आए।
घाव भरे तन कली खिली,
नहिं अंग उमंग समाँह री। सखि०

(४)

निर्मल एक पहाड़ी झरना,
धोवे उस कुटिया के चरना।
मुख धोऊँ जल छलके आली,
फिर - फिर नैनन माँह री ॥ सखि०

१. यह गीतिका पहाड़ी राग में गार्ई जायेगी।

ऋषि की पुराण-समीक्षा

(ले०—श्री पं० दलपति जी शास्त्री, आर्योपदेशक)

- (१) सकल विमल हृल्ललाम भूता,
भ्रमि जन भ्रान्ति कुलस्य नाशयित्री ।
सुमति सहित मूहमानयित्री,
प्रसरतु भुवि पावनी समीक्षा ॥

अर्थ—महर्षि दयानन्द जी की पुराणों की आलोचना सब निष्पक्ष सज्जनों ने शिरोधार्य की । यह आलोचना भ्रम से युक्त मनुष्यों के भ्रम समूह को नाश करने वाली, तथा बुद्धिमत्ता से युक्तियों का प्रयोग सिखलाने वाली । पवित्र भावना से की गई इस प्रकार की समालोचना साहित्य संसार के भ्रम समूह को दूर करती रहे ।

समीक्षा सार

- (२) प्रतिपद शत मिथ्या कल्पना जल्प युक्तम्,
कुमति कथित देवाचार दोषेण पूर्णम् ।
ऋषि मुनि चरितानां कुत्सितार्थ प्रकाशम्,
कथमिव सुमतेः स्यान्माननीयं पुराणम् ॥

अर्थ—जिन पुराणों में प्रतिपद में सैकड़ों असत्य कल्पनाएँ तथा मन गढ़न्त बातें हों और देवताओं के आचार पर दुर्बुद्धियों ने लाञ्छन लगाये हों, ऋषि मुनियों के चरित्रों को भी दूषित किया गया हो, भला बुद्धिमानों को ऐसे पुराण कैसे माननीय हो सकते हैं ।

- (३) बहु विध मत जाताज्ञान काल प्रसूतिम्,
निज निज मत साध्ये पूरित स्वार्थ सिन्धुम् ।
नहि पर मधुना वै निश्चित श्लोक संख्यम्,
कथमिव सुमतेः स्यान्माननीयं पुराणम् ॥

अर्थ—मतमतान्तरों के फैलाये अज्ञान अविद्या के समय में जिनकी रचना हुई, और इसीलिये अपने २ मतों को सिद्ध करने की खेचतान जिनमें भरी हो, परन्तु आज तक भी जिनकी श्लोक संख्या का निश्चय न हो सका हो, ऐसे पुराण ग्रन्थ बुद्धिमानों को नहीं मानने चाहिये ।

- (४) अहमिह खलु वेदेभ्योऽपि पूर्वं प्रजातम्,
वदनत ऋत वेदो ब्रह्मणो निःसृतोऽथ ।
इति निभ शत मिथ्या सिन्धु विवृद्ध कायम्,
कथमिव सुमतेः स्यान्माननीयं पुराणम् ॥

अर्थ—जो यह कहें कि पुराण वेदों से भी पहिले ब्रह्मा जी ने रचे, पश्चात् ब्रह्मा जी के मुख से वेद निकले, इस प्रकार की असत्य बातों के भण्डार से जिनका शरीर बढ़ाया गया हो ऐसे पुराण बुद्धिमानों को कैसे माननीय हो सकते हैं ?

- (५) निखिल निगम मार्ग ध्वंसने बद्धकायम्,
वृषल कुमत भावान्दोलने पूर्ण यत्नम् ।
विकृतविरस वर्ण म्लेच्छ भाषा प्रकाशम्,
कथमिव सुमतेः स्यान्माननीयं पुराणम् ॥

अर्थ—जिन्होंने इस्लाम, ईसाईयत आदि विधर्मों मतों को ईश्वर प्रेरणा से भेजा हुआ बतला कर तथा बिगड़े हुए नीरस अक्षरों वाली म्लेच्छ भाषा का प्रचार करके वैदिक धर्म के मार्ग को नाश करने के लिये कमर कसली हो ऐसे पुराण विद्वानों को कैसे माननीय हो सकते हैं ?

- (६) नव नव मत पुष्टि ध्वान्त संदीप्त वैरम्,
स्खलन बहुलताया यत्र प्रत्यक्ष राज्यम् ।

विहित सरल निर्दोषार्य साहित्यभ्रंशम्,
कथमिव सुमतेः स्यान्माननीयं पुराणम् ॥

अर्थ—नये नये शैव शाक्त, वैष्णवादि मतों के झगड़ों को फैलाकर जिन्होंने द्वेष की अग्नि को खूब प्रज्ज्वलित किया, जिनमें सैकड़ों व्याकरण साहित्य इतिहासादि की अशुद्धियों का प्रत्यक्ष राज्य है जिन्होंने सरल निर्दोष वैदिक साहित्य को संसार की दृष्टि में गिराया, भला ऐसे पुराण कभी बुद्धिमानों के लिए माननीय हो सकते हैं ?

उपसंहार—उपरि लिखित स्वरचित श्लोकों में

कही गई बातों के प्रमाण के लिये स्वाध्याय शील सज्जनों को उपदेशक विद्यालय लाहौर से सम्पादित पुराणों की आलोचनाएँ तथा अन्य विद्वानों की समीक्षाएँ पढ़नी चाहियें, जिनसे उपरि लिखित सारे वाक्य अक्षरशः सिद्ध होते हैं। मैंने भी ब्रह्माण्ड महापुराण की समीक्षा लिखी है, जिसमें से कुछ उपरि लिखित श्लोक ऋषि बोधांक के पाठकों की भेंट किये हैं जिसकी शीघ्र ही जनता के सामने आने की आशा है। महर्षि दयानन्द जी के बोधोदय के हो जाने पर भी जो अभी पुराण ग्रह ग्रस्त हैं, यह उनका दौर्भाग्यमात्र है।

वेदार्थ की मुख्य शैली

(ले० - श्री नन्दलाल आर्य, गुरुदत्त भवन, लाहौर)

स्वामी दयानन्द जी के आगमन से पूर्व भारत-वर्ष में वेद का नाम ही था। परन्तु वेद क्या है इसका कुछ पता नहीं था। साधारण जनता को तो वेद का नाम भी भूल चुका था। विद्वानों का भी वेद के अध्ययन की ओर ध्यान नहीं था। ऐसी अवस्था में वैदिक-धर्म का ज्ञान कैसे हो सकता था, वेद एक बंद पुस्तक समझे जाते थे। उस समय स्वामी दयानन्द ने बतलाया वेद मनुष्य-मात्र का धर्म ग्रन्थ है। यह ईश्वर की वाणी है। सृष्टि के आरम्भ में वेद का प्रकाश किया है। संसार में जितना धर्म-कर्म और ज्ञान फैला है वह सब वेद से ही फैला है। वेद एक बंद (Sealed Book) पुस्तक नहीं बल्कि एक खुली (Revealed Book) पुस्तक है।

विद्या के प्रवाह की कमी से वैदिक-भाषा का प्रचार कम हो गया। वेद का अध्ययन छूट गया। वेद एक कठिन ग्रन्थ समझा जाने लगा। साधारण

विचार यही था कि वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना अति कठिन है। यथा सूर्य के प्रकाश के लोप हो जाने से अन्धकार फैल जाता है तथैव वेद प्रचार के अभाव से अविद्या निशा ने अन्धकार जमा लिया। स्वामी दयानन्द ने फिर से वेद का प्रचार किया और बतलाया कि वेद कठिन नहीं है। वेद के अध्ययन का मार्ग सरल है, वेद की भाषा सरल है, जब परमात्मा ने मनुष्य के हित के निमित्त इस कल्याणकारी वेद वाणी को प्रकाशित किया है तो यह मनुष्य की समझ से बाहर कैसे हो सकता है। इसलिये स्वामी जी ने बतलाया कि वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना परम-धर्म है। वेद पढ़ने वाले के लिये कठिन नहीं है। जो कोई वेद का लगातार अध्ययन करता है उसके लिये वेद सरल है। बात यह है कि वेद का पठन-पाठन बंद हो गया है इसलिये वेद कठिन मालूम होते हैं। वेद मन्त्रों के संग्रह का नाम है। मन्त्र नाम मनन का है जो कोई

मन्त्रों का मनन करता है उसको मन्त्रों के अर्थ का प्रकाश हो जाता है। वेद अनन्त ज्ञान का भण्डार है अर्थात् इन वेद मन्त्रों में अनन्त ज्ञान भरा हुआ है। जिस तरह एक वृक्ष के छोटे से बीज में पूरा वृक्ष सूक्ष्म अवस्था में वर्तमान होता है ठीक उसी तरह सब ज्ञान वेद मन्त्रों या वेद शब्दों में वर्तमान है। बीज की पालना करने, जल-वायु और प्रकाश से सिंचन होने पर उस बीज से वृक्ष पैदा हो जाता है। तथैव मन्त्र रूपी बीज के मनन करने से ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। जिन मनन शील महात्माओं ने वेद मन्त्रों पर मनन करने से वेदार्थ का प्रकाश किया है वे ऋषि कहलाते हैं। वे मन्त्र द्रष्टा हैं। उन्होंने अपने मनन और अध्ययन से वेद मन्त्रों से साक्षात् ज्ञान प्राप्त किया है।

वेद के अर्थों में बड़ा वाद-विवाद रहता है। विशेष कर प्राचीन ऋषियों के वेदार्थ पर बड़ा मतभेद चलता है। वाद-विवाद का यह कारण है कि वेदार्थ की जो कुंजी है उसे लोग भूल चुके हैं। वह कुंजी यह है कि वेद का अर्थ वेद से किया जावे। यह एक सवाल है कि जब परमात्मा ने वेद का प्रकाश किया तो इसके अर्थ भी साथ बतला दिये। संसार के अन्दर जितना साहित्य बना है वह वेद ज्ञान से ही बना है। इसलिये इस साहित्य से ही वेद का अर्थ किया जावे यह उचित नहीं। जब संसार में केवल वेद था और अन्य कोई ग्रन्थ नहीं था उस समय भी वेद ज्ञान का प्रकाश था और लोग वेद के अनुसार व्यवहार करते थे। उस समय वेद के अर्थ वेद से ही किये जाते थे। इसलिये वेद-मन्त्रों के जो अर्थ वेद के द्वारा किये जावेंगे वही यथार्थ होंगे। वेद से वेद के अर्थ वेद के मन्त्रों के मनन से हुए हैं। वेद-मन्त्रों के अर्थ वैदिक शब्दों और वैदिक अक्षरों के जो अर्थ हैं वही अर्थ उन शब्दों और

अक्षरों के बने हुए वेद-मन्त्रों के हैं। यह अर्थ मूल अर्थ कहलाते हैं। जैसा बीज होता है, अर्थात् मूल या जड़ होती है वैसा ही इससे वृक्ष बनता है। इसी तरह इन बीज रूप या मूल रूप अक्षरों के अर्थ हैं। वैसे ही मन्त्रों के अर्थ होते हैं। इनको यौगिक अर्थ करना कहते हैं। अर्थात् धातु या मूल से बने शब्द के अर्थ हैं। वस यह वेदार्थ करने की कुंजी है। वेद में सब सत्य विद्या है और अनन्त ज्ञान है। इसलिये वेद-मन्त्रों के अनन्त अर्थ होते हैं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के अर्थ होते हैं। और यह सब ठीक माने गये हैं। वेद-मन्त्रों के अर्थ चाहे भिन्न भिन्न हों, परन्तु यदि प्रत्येक अर्थ सृष्टि-नियम के अनुकूल और बुद्धि-पूर्वक है वे सभी अर्थ ठीक हैं। वाद-विवाद वहाँ होता है जहाँ वेद के यौगिक अर्थ में मूल अर्थ नहीं किये जाते। बल्कि अपने विचारों से किये जाते हैं। अपने विचार भिन्न और विरोधी होने से वेद के अर्थ में भी विरोध आ जाता है। सायण, महीधर आदि प्राचीन भाष्य-कर्ताओं के वेदार्थ पर जो आपत्ति उठाई जाती है वह इसी लिये है कि उन्होंने वेद के अर्थ यौगिक नहीं किये। उन्होंने इसके अर्थ ऐतिहासिक और याज्ञिक अर्थ किये हैं। जिस समय वेदों को एक इतिहास ग्रन्थ समझा जाता था उस समय के विद्वान् वेद के अर्थ ऐतिहासिक करते थे। और जिस समय यज्ञों का प्रचार था उस समय वेद के अर्थ यज्ञ-परक किये गये। इस प्रकार बाहिर की परिस्थिति से प्रभावित होकर जो अर्थ किये जावेंगे वे ठीक नहीं होंगे।

स्वामी दयानन्द ने जो अर्थ किये हैं उनकी विशेषता यही है कि वे यौगिक हैं। वे मूल अर्थ हैं। स्वामी दयानन्द ने जो वेद-भाष्य किया है उसमें इस नियम का अनुकरण किया गया है कि

वेद से वेद का अर्थ साक्षात् करके इस अर्थ को प्रकट किया है। स्वामी जी के भाष्य में वेदार्थ के साथ साथ अन्य ग्रन्थों के प्रमाण भी आये हैं। उन प्रमाणों का यह अर्थ नहीं कि स्वामी जी ने वेद के अर्थ उन ग्रन्थों की सहायता से या उन प्रमाणों के अनुकूल किये हैं। बल्कि यह है कि स्वामी जी ने जो अर्थ साक्षात् करके किये हैं वे दूसरे ऐसे ही ऋषियों ने भी किये हैं। स्वामी जी ने स्वयं लिखा है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने वेद का प्रकाश किया और साथ ही जिन चार ऋषियों पर वेदों का प्रकाश किया, उन्हें इन के अर्थ भी बताये और पुनः पुनः जब जब किसी ते मन्त्र के अर्थ जानने चाहे उसने योग-समाधि द्वारा परमात्मा का साक्षात् करके उन वेद-मन्त्रों का साक्षात् किया या देखा। इसीलिये वे ऋषि लोग मन्त्र-दृष्टा कहलाते हैं। अतः यथार्थ अर्थ वही हैं जो वेद से हों और साक्षात् किये गये हों। अन्य ग्रन्थों की सहायता से जो अर्थ होंगे वे सच्चे वेदार्थ नहीं होंगे। यास्काचार्य जी निरुक्त अध्याय ३ खण्ड १२ में लिखते हैं कि मन्त्र के पद अक्षर के सम्मिलन से बनते हैं। इनके अर्थ जानने के लिये मनन करना चाहिये। तर्क करना चाहिये। वे ही

लोग मन्त्रों के अर्थों को जान सकते हैं जो ऋषि अर्थात् मन्त्र के अर्थ को ज्ञान की आंख से देखने वाले हैं और तप करने वाले हैं। और जो विशुद्ध अन्तःकरण वाले हैं। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्य को स्वयं शुद्ध अन्तःकरण से वेद के मन्त्रों का मनन करना चाहिये और तर्क करना चाहिये। इस से मनुष्य को सही अर्थ प्राप्त होंगे। इसलिये वेद के अध्ययन का प्रचार होना चाहिये। जब वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब का परम धर्म है तो वेद का स्वाध्याय होना चाहिये वेद मन्त्रों पर मनन करना चाहिये। बार बार मनन करने और निरन्तर अध्ययन से वेद कठिन नहीं रहता। बल्कि सरल हो जाता है।

आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब ने “वेद से वेदार्थ” नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है यह एक मौलिक पुस्तक है इस में वेद-मन्त्रों से वेद-मन्त्रों का अर्थ करने की चार पांच शैलियों का वर्णन किया गया है। हर एक आर्य को इस पुस्तक को पढ़ना चाहिये। कीमत भी केवल चार आने है। इस पुस्तक को पढ़ने से आर्यों की आंखें खुल जायेंगी। उन्हें पता लग जायगा कि वेद के अर्थ किस तरह वेद के द्वारा किए जाते हैं उनके ज्ञान में वृद्धि होगी।

महर्षि तेरी जय हो !!

(ले०—श्री ला० निरंजननाथ जी)

मेजर रीड को ऐसे दो आदमियों की आवश्यकता थी, जो इस बात के लिए तैयार हों कि उनके शरीरों पर रोग के संदिग्ध मच्छर काटें। ताकि मेजर साहब अपने अनुभव को सिद्ध करने में सहायता प्राप्त सकें। इस पर दो फ़ौजियों ने अपने-आप को पेश किया। मेजर ने उनको समझाया कि इस

कार्य से उनको कष्ट भी होगा और जीवन को भी ख़तरे में डालना होगा। इस पर भी वे दोनों युवक अपने प्रण पर डटे रहे। मेजर ने फिर उनसे कुछ कहा और साथ ही यह भी लालच दिया कि उनको कुछ पारितोषिक भी दिया जावेगा। इससे चिड़ कर उन दोनों युवकों ने अपने बाजू हटा लिये और कहने

लगे कि वे किसी प्रकार का बदला नहीं लेना चाहते। वे तो केवल इसी लिये अपने-आपको खतरे में डाल रहे थे कि इस अनुभव से मनुष्य-मात्र का भला होने वाला है। मेजर उन युवकों के त्याग पर बहुत खुश हुए और उनके लिये आदर के भाव प्रगट करके अपने अनुभव में तत्पर हो गये।

एक अँगरेज़ लेखक ने अपने जाति के त्याग-भाव और अँगरेज़ वैज्ञानिकों की इस प्रकार प्रशंसा की है और दूसरी ओर भारतियों के लिये जो कुछ लिखा गया है। उसका नमूना भी देख लीजिये।

‘गाँवों में प्लेग है और हमारे भारतीय भाई गाँवों से बाहर बट वृक्ष के नीचे हाथ पर हाथ रखे बैठे हैं और अपने-अपने भाग्य को कोस रहे हैं। इसी को अपनी शान्ति और सन्तोष माने बैठे हैं। एक अँगरेज़ कभी ऐसी शान्ति को पसन्द नहीं करेगा। वह ऐसी अवस्था में हाथ पावों को हिलायेगा। या तो दवाई लेकर घर घर जाकर रोगियों को राज़ी करने का यत्न करेगा। या रोग को जड़-मूल से हटाने के लिये उद्यम करेगा। अँगरेज़ बच्चों ने नदियों के रुख बदल दिये। अपने मार्ग से पर्वतों को हटा दिया और मनुष्य-मात्र के जीवन के सुख जुटाने में भरसक यत्न किया है।’

ऊपर के दो उदाहरण देकर हम यह मानने में संकोच नहीं करते कि अँगरेज़ वैज्ञानिकों और विद्वानों ने मनुष्य-मात्र की भलाई के लिये अनेक आविष्कार किये हैं। कौन नहीं जानता कि आयुर्वेदिक सूक्ष्म औषधियों का प्रचार कम हो जाने पर जब यूनानियों—हकीमों का दौरा हुआ तो लोगों को प्याले भर-भर दवाई पीने और उनके तैयार करने में कितना कष्ट उठाना पड़ता था। परन्तु जब अँगरेज़ी सूक्ष्म दवाइयाँ आने लगीं तो यूनानी प्यालों की इतिश्री होने में ज़रा भी विलम्ब न

लगा। ऐलोपैथी ने चीड़-फाड़ के सुन्दर और उपयोगी ढंग निकाल लिये। केवल क्लोरोफ़ार्म को ही ले लीजिये। केवल इसी के प्रयोग से आज मनुष्य-मात्र का कितना भला हो रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन महापुरुषों ने अपने परिश्रम आदि त्याग से जो कुछ किया है वह सराहनीय है।

परन्तु हम पूछना चाहते हैं कि क्या आदि-सृष्टि से ही अँगरेज़ अपने साथ इतनी बुद्धिमत्ता लेकर पैदा हुए थे। सब लोग जानते हैं कि अँगरेज़ों ने जब भारतवर्ष में पदार्पण किया तो उस समय भी उनका अपना देश ज़्यादा उन्नत नहीं था। उस समय विलायत में इतनी मशीनरी नहीं थी। ये ऐतिहासिक जानते हैं कि भारत में उस समय भी कपड़ा अच्छा बनता था। भारत का बड़े बड़े विलायती बड़े से बढ़िया हुआ करता था। भारत की शासन-प्रणाली घटिया नहीं थी। भारत के सदाचार की मुक्त कंठ से प्रशंसा की जाती थी। भारत की वीरता का डंका बजता था न कि आलस्य का। भारत ने अपनी स्वतन्त्रता के लिये जो हाथ-पैर मारे उसे पढ़-सुन कर कौन कह सकता है कि भारत अपने भाग्यों के भरोसे जीने वाला है या भारत आलसी है।

भारतीय का जो नक़शा पैरा संख्या तीन में दिया गया है उसे भी एक निकृष्ट उदाहरण समझ कर स्वीकार कर लेते हैं। पर उसमें इतनी आपत्ति अवश्य करनी पड़ती है कि आखिर भारत के अज्ञानी रहने की ज़िम्मेवारी किस के सिर पर है! जब भारत पराधीन हो गया तो पराधीनों की जो दशा हो सकती है उससे वह कैसे बच सकता था। भारत के शासकों ने भारत को उठाने में आज तक भी वे साधन उपस्थित नहीं किये जो उन्होंने अपने देश को उठाने में आज से कई वर्ष पहले कर रखे हैं। पद-दलित भारत जब साधनहीन हो गया

पुकार

(रचयिता—श्रीयुत चेताराम जी शर्मा, जालन्धर)

दयामय दयानन्द आनन्द-निवास,
 तुम्हें भूलते जाते हैं ये मैकाले के दास; फँसकर परभाषा के पाश ॥ १ ॥
 स्वार्थ-कुटिल वैरी निर्मित जो हानि-कारिणी राह,
 अन्धे दौड़े जाते उस पर बड़ा परस्पर डाह; फिर भी रखते सुख की चाह ॥ २ ॥
 घर-बाहर सर्वत्र विदेशी भाषा करे विलास,
 निज अधिकार प्रवंचित हिन्दी वैठी आज निराश, पाकर अपनों से निर्वास ॥ ३ ॥
 शक्ति-शील-सौन्दर्य-दायिनी निज भाषा विसराय,
 उदास, दफ्तर की मंडी से लौटें धक्का खाय; अपना सुख-सम्मान गँवाय ॥ ४ ॥
 भारतीय-पाण्डव अति पीड़ित पराधीनता पाय,
 हिन्दी सैरन्ध्री है कुचक्र-कीचक के अन्याय; कौन भीम बन आय बचाय ॥ ५ ॥
 कहीं वेद-ध्वनि दे न सुनाई; साम स्वरोँ का गान,
 करे कौन, 'त्रिजमोहन' ही जब 'कैफ़ी' पर गलतान; ठुकरा अपनी पहिली आन ॥ ६ ॥
 फारस, अरब, चुगद, गिलमों, मय, जुल्फ हूर के दास,
 'ज्वाला'-'प्याला' के मतवाले रचते निज उपहास; तजकर शांति-सुधा का रास ॥ ७ ॥
 सुधा गागरी देवनागरी का तज पुण्य विलास,
 नित उलटी सेवन करते हैं ये उर्दू के दास; तुम पर है न इन्हें विश्वास ॥ ८ ॥
 एंग्लो आर्य-समाजी तेरा करके नाम प्रकाश,
 काम बनाते मैकाले का, सुख-सुविधा के दास; संस्कृत-हिन्दी को वनवास ॥ ९ ॥
 आर्य सदस्य रहे आजीवन किया न वर अभ्यास,
 छलबल कर निज-दुर्बलता को कहते 'सेवा खास,' भजते अपने व्यसन-विलास ॥ १० ॥
 सार्वजनिक धन पर कर अपनी वैयक्तिक रुचि भोग,
 लक्ष्य-भ्रष्टकर संस्थाओं को देते अपना रोग; कहते मणि-कांचन संयोग ॥ ११ ॥
 अन्तःपुर से भी अब देने लगी 'सभ्यता' बास,
 खाँस रही, चढ़ गया उन्हें भी नव शिक्षा का आस; जिसमें क्षय-कीटाणु-निवास ॥ १२ ॥
 दिव्य धरोहर, वर बिभूतियाँ जो तुमने दी दान,
 काल-चाल के मारे हम उनका न रख सके मान; उन पर होते घात महान ॥ १३ ॥
 तेरी गुरुता का गौरव, निज लघुता का संकोच,
 पर तेरा गौरव देता मम मानस को उत्कोच, जिससे मिटा सोच-संकोच ॥ १४ ॥

महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज और अनार्ष ग्रन्थ

[ले० श्री स्वामी रुद्रानन्द जी महाराज]

महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने प्रत्येक विषय में, अनार्ष ग्रन्थों ही को मुख्य रूप से पाठविधि में रख कर अनार्ष ग्रन्थों का स्पष्ट खण्डन कर दिया है। सर्व विषयों से पूर्व व्याकरण में अष्टाध्यायी और महाभाष्य को रखते हुये सारस्वत-चन्द्रिका कौमुदी और मनोरमा को कुग्रन्थ लिखा है। हम बहुत वक्रगति से न चलते हुये सीधे नाक की सीध में चल कर महर्षि श्री स्वामी दयानन्द जी की प्रतिज्ञा की पुष्टि करना चाहते हैं और तर्क शास्त्र के आधार पर पाठकों को दिखलाना चाहते हैं कि इन अनार्ष ग्रन्थों में कितना गूढ़ पन्थ है। थोड़ा सा काल अर्थात् हमारी घड़ी के पाँच मिनट हमारे ही लेख को प्रदान करने का कष्ट करें तो श्रीमती कौमुदीदेवी के गर्भ में से पौराणिक बालक उत्पन्न करके दिखाएँ और श्रीमती जी को प्रसूति-गृह में जाड़े के भय से अग्नि जलाकर उसके बहुत ही समीप सुला दें। देखिए और बुद्धि पर बिना बल देने के स्वाभाविक दृष्टि से अवलोकन करें।

राशगोघ्नौसंप्रदाने। गां हन्ति तस्मै गोघ्नोऽतिथिः ॥”

श्री पाणिनिजी महाराज ने सम्प्रदान में गोघ्नः शब्द सिद्ध किया है। परन्तु यह नहीं कहा गोघ्न कौन होता है। इस सूत्र से सरल भाव से हम यह कह सकते हैं गां हन्ति तस्मै गोघ्नः। जिसका अर्थ हुआ उसके लिए गाय मारी जाती है इसलिए वह गोघ्न होता है। चलो कोई बात नहीं झगड़ा खतम हुआ। जिस किसी के लिये जो कोई गाय मारे या मारी जाए वह गोघ्न हुआ। न जाने वह सिंह है राक्षस म्लेच्छ है या क्या है। परन्तु

श्री भट्टोजिदीक्षित जी को क्या सूझी कदाचित् वाम मार्ग का उन्माद रोग सिर में घुस गया झट बोल उठे गोघ्नः=अतिथि। अन्य हो महाराज ब्राह्मण होकर ऐसी बात परन्तु पूछे कौन? इनके विचारों में तो अतिथि के लिए गाय मारना बड़ा कर्म है। आजकल जाने लोक क्यों ऐसा नहीं करते। करें तो हम देखें किस निरख पर.....पड़ते हैं।

“कन्यायाः कनीनच।” इसका यह अभिप्राय है कन्या की सन्तान को कानीनक कहते हैं। बिलकुल ठीक है और व्याकरणों के मत से सोलह आने ठीक है। परन्तु कन्या को कुमारी समझना या उसी की सन्तान को कानीन कहना युक्तियुक्त नहीं। निरुक्तकार के मत में “कन्या कमनीयाभवति,” परन्तु भट्टोजिदीक्षित तो असम्भव और सम्भव में भेद न करते हुये बोले “कानीनो व्यासः कर्णश्च, कानीन कह देने मात्र से काम चल जाता था पुनः व्यास और कर्ण कहने की क्या आवश्यकता थी। व्यास और कर्ण की क्या असम्भव है परन्तु भट्टोजिदीक्षित ने तो व्याकरण में भुस भरने का ठेका ले रखा था। एक और सूत्र में पौराणिक पोप-लीला। “गति बुद्धि प्रत्ययवसानार्थं शब्द कर्मा कर्म कारकामाणिकर्तासणौ।” इस पर आपने लिखा है।—“शत्रूनगमयतस्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ॥ आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद्विधिम् ॥१॥ आस-यत्सलिले पृथ्वीं यः समे श्री हरिर्गतिः ॥” इसका यह प्रयोजन है कि हरि की कैसी गति है। शत्रुओं को स्वर्ग में पहुँचा दिया अर्थात् राक्षस जो देवताओं से लड़ रहे थे उनको परमेश्वर ने स्वयं मारा था

इसलिये स्वर्ग को गए और देवताओं को अमृत पिलाया। कब पिलाया मोहनी रूप बनकर जब सागर मथा था तब पिलाया था। (आसयत्) भूमि को जल पर कैसे ठहराया यह श्री वराह भगवान् के अवतार वाद को श्रीमती भागवती जी से देखिये। इस प्रकार जितने दृष्टान्त दिये हैं सर्व पौराणिक ढकोसले हैं। “शूलोद्धाद्यत्”। इस पर लिखते हैं— “शूलैः संस्कृतं शूल्यं मांसं ।” न जाने आप मांस कहाँ से ले आये और शूल पर चढ़ाकर बैठ गए अन्यथा मक्की की छल्ली गुलगुलादि भी लिख सकते थे। क्योंकि शूल पर बहुत से पदार्थों का संस्कार हो सकता है। इस प्रकार की बातों को देखकर ही महर्षि ने कौमुदी को कुग्रन्थ कहा। प्रत्येक ज्ञानी मनुष्य इस बात को समझ सकता है अतिथि के लिए गो का मारना और कुमारी लड़कियों से व्यभिचार का उदाहरण बच्चों के आगे रखना कितना हानिकारक है। यदि कोई दुराग्रह ग्रह ग्रस्त कहे इसमें व्यभिचार कहाँ है तो ऐसे मूढ़ से हम पूछते हैं व्यभिचार तुम्हारे कोप में किस को कहते हैं। जबकि बेड़ी पर मल्लाह की भोती भाली कन्या को फुसलाकर सनातन धर्मी ऋषि ने गर्भ कर दिया और उधर सूर्य भगवान् मन्त्र के यन्त्र से बिना बुलाए कोपीन उठाये भागे आए आये और गर्भ ठहरा दिया और कर्ण कन्या से उत्पन्न हुआ ऐसा ज्ञान जब बालक व्याकरण से ग्रहण कर लेते हैं तो सम्भवासम्भव में नितान्त भेद नहीं कर सकते।

(२) महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने कोप को लिया है इस विषय में निरुक्त को आर्प-माना है और अमर-कोषादि का निषेध किया है देखिये—उपरा-गोग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूष्णि च । उपराग और ग्रह उसको कहते हैं जब चाँद और सूर्य को

राहु ग्रस्त लेता है। अमर-कोष के कवि से कोई पूछे राहु क्या बला है और सूर्य चन्द्र को कैसे ग्रस्तता है तो अतिरिक्त सागर-मथन वाली मिथ्या कथा के कोई प्रमाण न दे सकेगा। इस मनुष्य को इतना भी ज्ञान नहीं जितना लोअर-मिडल के ग्रामीण लड़के की दुम को होता है। व्याकरण में यही कथा, कोप में वही, गेहूँ का भुस, फिर बच्चों का ज्ञान कैसे बढ़े। अब ज़रा आँख खोल कर और कान बंद करके विष्णु के नाम भी सुन लो—

विष्णु नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः ।
दामोदरो हृषीकेशः केशवो माधवः स्वभूः । दै-
त्यारिः पुण्डरीकाक्षो गोविन्दो गरुडध्वजः पीता-
म्बरो देवकीनन्दनः । इत्यादि

यदि विचार किया जावे तो सर्वनाम वही हैं जिनमें से ईश्वर में क्लेश आ सकते हैं।

श्री स्वामी जी ने एक हेतु और दिया है कि क्षुद्राशय लोकों की इच्छा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने कठिन रचना करनी जिसको बड़े परिश्रम से पढ़ कर अल्प लाभ हो। इस विषय में न्याय सिद्धान्त मुक्तावली को लें। मंगल पर ही कितना मन गड़ा डाला है और मंगल भी कैसा बढ़िया।

“नूतन जलधररुचेय गोपवधूटी दुकूल चौराय
तस्मै कृष्णाय नमः संसार महीरुहस्य बीजाय ।

अर्थ—(नूतन) नव-बादल जो वर्षा करने को उद्यत हो ऐसे कृष्ण (गोप-वधू) गोप लोगों की वधुओं से बारीक वस्त्रों को चुराने वाले संसार-र पी वृक्ष के बीज उस कृष्ण के लिये नमस्कार हो। कैसा अपवाद है, कैसे अपशब्द संयुक्त वाक्य हैं। इनको पढ़ कर किनने उत्तम भाव उत्पन्न होते हैं। पुनः ऐसे विचित्र मंगलवाद पर जल्प किया है। यथा—

ननु न विघ्नध्वंसं प्रति न वा समाप्तिं प्रतिकारणं,
विनापि भङ्गलं नास्तिकादीनां ग्रन्थे निर्विघ्नपरि
समाप्ति दर्शनात् ।

शङ्का उठाई है। मंगल न तो विघ्नों के नाश का
कारण है और न समाप्ति का हेतु है क्योंकि बिना
भी मंगल के नास्तिकों के ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त होते
देखे जाते हैं। इसका समाधान इस प्रकार करने
की व्यर्थ चेष्टा है।

यथा अविगीतशिष्टाचार विषयत्वेनमंगलस्य
सफलत्वे सिद्धे ।

अनिन्द पुरुषों का शिष्टाचार है इसलिये मंगल
सिद्ध है। हम पूछते हैं ऐसा मंगल कौन से अनिन्द-
त्वैश्वर्य अविगति किसने गाया है? यह हेतु बिल-
कुल गलत है या यूँ कहो यह हेतुवाभास है। न्याय
वैशेषिक, सांख्य कहीं ऐसा मंगल न मिलेगा, ऐसे
मंगलाचारों पर महर्षि ने आपत्ति की है। एक और
लचर हेतु दिया है।

“यत्र भङ्गलं न दृश्यते तत्रापिजन्मान्तरीयंतत्
कल्प्यते ।”

जहाँ नास्तिकादि ग्रन्थों में मंगल नहीं दीखता
वहाँ ग्रन्थ-कर्ता के जन्म-जन्मान्तर में की कल्पना
करनी होती है। कितनी युक्ति-हीन बात है जन्मा-
न्तर में कैसे अनुमान कर लिया। दूसरी बात यह
कही है—

यत्र च सत्यपि भङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते तत्र
बलवत्तरोविघ्नो विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यम् ।

अर्थ—जहाँ मंगल करने पर भी ग्रन्थों की
समाप्ति नहीं होती वहाँ विघ्न बलवान् होते हैं अथवा
विघ्नों का समूह (आगे) होता है। इन दोनों हेतुओं
से मंगल को निरर्थकता प्राप्त है। जब हम पूर्व-जन्म
पर ही ढासना लगा कर सोना चाहते हैं तो शङ्का
उठाने की क्या आवश्यकता है। मैंने दो ही विषय
पाठकों के सामने इसलिये रखे हैं कि लेख लम्बा-
चौड़ा न हो जावे और किसी नाजूक-मज़ाज के
दिमाग-रूपी थैले को फाड़ कर बाहिर निकल पड़े।
दूसरा कारण यह भी है व्याकरण और न्याय सर्व-
मतों और सर्व-जातियों के लिये तुल्य हैं, इनमें कोई
दोष नहीं हुआ करता। परन्तु इन अकल के कोल्हु-
ओं ने इन दोनों विषयों में भी तैल निकाल कर
बाहिर फेंक दिया और खली उदर में भर ली, इसी
लिये महर्षि ने आर्ष-ग्रन्थों का पढ़ना बतलाया है,
मैंने न्याय वैशेषिक सांख्य अष्टाध्यायादि किसी
ग्रन्थ में मंगल नहीं देखा केवल अथादि देखे हैं।
परन्तु इन्होंने तो कृष्ण जी को संसार-रूपी वृक्ष का
बीज बता कर न्याय में भी पोप लीला धर दबाई।
धन्य है वह महर्षि जिसने पोप जाल को युक्ति की
कैची से आद्योपान्त काट करके रख दिया इसी
कारण पोप ऋषि के गुणानुवाद के स्थान गाली
प्रदान कर रहा है। परन्तु अब सांप निकल गया
लकीर पीटा करें।



धर्म का सार

[ले० श्री० प्रो० लालचन्द जी एम. ए.]

एक शिक्षित आर्यसमाजी एक बार एक महात्मा के पास गया जो पहाड़ों की गुफा में रहते थे। हमारे भाई ने बहुत कुछ पढ़ रखा था। पर वह अलग रखा था, अभी वह जीवन में नहीं घटा था। बहुत पढ़ने से और कुछ अमल न करने से बुद्धि परेशान थी। जब सुना कि एक बड़े सिद्ध महात्मा हिमालय की एक गुफा में रहते हैं तो अपनी परेशानी दूर करने के लिये महात्मा जी के पास जा पहुँचे। सौभाग्य से वहाँ उस समय और कोई नहीं था। महात्मा जी अभी अभी समाधि से उठे थे और अपने तेज से अन्धेरी गुफा को प्रकाशित कर रहे थे। जब हमारे भाई ने हाथ जोड़ के श्रद्धा से प्रणाम किया तो महात्मा ने मुसकराते हुए पास बैठने को कहा।

म०—सुनाओ भाई कैसे आए ?

भ०—भगवन् आज मैं आप से धर्म का सार पूछना चाहता हूँ।

म०—तो क्या तुमको धर्म का सार पता नहीं है ? मालूम तो बड़े पंडित होते हो। पहले बताओ तुम धर्म का सार क्या समझते हो ?

हमारा भाई बड़ा प्रसन्न हुआ कि उसे भी अपनी विद्या बताने का और रोव जमाने का अवसर मिला। कभी कहता अहिंसा ही परम धर्म है। कभी कहता सत्य सब से ऊँचा धर्म है। कभी कहता प्रेम सब धर्मों का सार है। कभी कहता ब्रह्मचर्य से बढ़ कर दुनिया में कोई वस्तु नहीं। कभी कहता साहस मुख्य वस्तु है। कभी कहता धैर्य प्रथम वस्तु हैं। और इन सब बातों को पुष्ट करने के लिये वेद शास्त्र और अन्य जो हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी भाषा में बड़े अच्छे ग्रन्थ पढ़ रखे थे उन सबके अत्युत्तम वाक्य कह सुनाए।

महात्मा ने मुसकराते हुए कहा—भाई तुम तो बहुत कुछ जानते हो तुम को और क्या बताएं ?

भ०—भगवन् दर असल बात यह है कि यह जानता ही हूँ। इसका तो केवल यही फायदा है कि लोगों में अपना रोव जमा लेता हूँ।

म०—तो क्या मुझ से जो सार पूछना चाहते हो इस लिये कि औरों पर रोव जमाने में जो कमी है वह पूरी की जाय ? भाई हम इस लिये किसी को कुछ नहीं बताते।

भाई साहब ने आँखें नीचे करके कहा—“भगवन् सच कहता हूँ आप जो बताएंगे उस पर अवश्य अमल करने का प्रयत्न करूँगा।

“अरे हमारे साथी चालाकी, “यत्न करूँगा” ? तो आज कल की सभ्यता ने एक चालाकी सिखा दी अगर बात को पूरा न कर पाए तो कह दिया मैंने तो यत्न करने की ही प्रतिज्ञा की थी। नहीं भाई इस प्रकार की टालमटोल से काम नहीं चलेगा। अगर हमसे कुछ पूछना चाहते हो तो पहले जो तुम जानते हो उस में से तो तुम को सब से अधिक महत्व पूर्ण बात लगती हो वह पहले अमल में ला कर बताओ। फिर हम उपदेश करेंगे। बताओ किन बातों को कह कर तुमने मुझ पर रोव जमाने की कोशिश की उन में से सबसे अधिक तुम किस को धर्म का सार समझते हो।

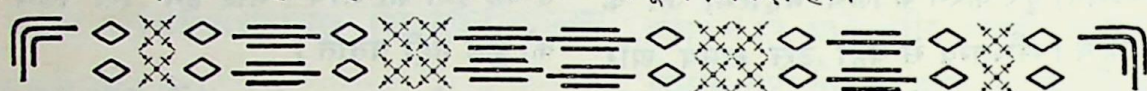
भ०—उन में से मुझे सब से बड़ा सत्य बोलना लगता है।

म०—अच्छा तो सत्य को ही पकड़ो। सत्य को जानो। सत्य को अमल में लाओ। सत्य को सदा लक्ष्य रखो। सत्य से कभी च्युत न होओ। यदि कभी झूठ मुख से निकल जाये तो उस को स्वीकार करो। और उसका प्रायश्चित्त करो। सत्य

सच मुच एक बड़ा ऊंचा धर्म है । सत्य से बड़ी शक्ति मिलती है । सत्य से ही प्रभु के दर्शन का अधिकारी होता है । सत्य के प्रताप से मनुष्य जो संकल्प करता है पूरा हो जाता है । सत्य से चित्त प्रसन्न रहता है । सत्य से निश्चय होता है । सत्य बड़ा भारी तप है । सत्य से लोक और परलोक सुधरते हैं । यदि तुम एक साल तक सत्य का पालन कर के बताओगे तो फिर हम तुम को अपने उपदेश सुनने का अधिकारी सम्झेंगे । जिस भूमि को साफ़ नहीं किया, जिसमें हल नहीं चलाया उसमें

बीज बोना बेसूद है ।

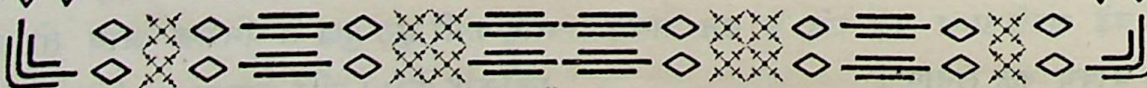
भाइयो, आओ हम भी अपनी भूमि तैयार करें हम भी सत्य-व्रती हों, ताकि जो सुन्दर उपदेश एक साल के बाद हमारे व्रती भाई को मिला उस से हम भी फ़ायदा है उठा सकें । चूँकि अगले अंक में महात्मा जी.का सार-गर्भित उपदेश होगा इस लिये सब भाइयों से प्रार्थना है कि एक नहीं तो कम से कम एक मास ही सत्य का पूरा पूरा अभ्यास कर के अगले अंक में उपदेश को सुनें जिस से उन को पूरा फ़ायदा हो ।



बालक और मूषक

(रचयिता—श्री पं० चमूपति जी एम. ए.)

मोहनास्त्र कर मोघनिशा का जागा एक बाल चोचाल ।
बालक औ' मूषक ने मिल कर काट दिये सब मायाजाल ॥
जहाँ बुद्धि वृद्धों की सोई कर विमोह-विजया का पान ।
किया रतजगा शिशु अबोध ने रहा सचेत अहो अनजान ॥
मोटी बात नहीं समझे जो सूक्ष्म तर्क के थे अवतार ।
मूषक ने दीं काट ग्रन्थियाँ चंचल शिशु मति के अनुसार ॥
श्रद्धा सोई शंका जागी अहो मोह-माया के रंग ।
व्रत किसका किसने पाला जगा मूल मूषक के संग ॥
काँप रहा था तारा-मण्डल साँय-साँय करती थी रात ।
धन्य धन्य कह उठे देवगण घोर निशा में हुआ प्रभात ॥
शंका की प्रस्फुरित गोद में सजग धर्म का हुआ प्रकाश ।
अहो विनायक-वाहन मूषक शिव कह उठे स्वयं शाबाश ॥
शंका श्रद्धा की जननी हो दिया बोध-निशि ने वरदान ।
सजग मूलशंकर की जय हो सोये सुर औ नर पाषाण ॥





ऋषि-बोधोद्घ—

प्रति वर्ष की भांति इस वर्ष भी शिवरात्रि के—आर्यों के पुण्य बोधोत्सव के—अवसर पर हम आर्य का यह ऋषि-बोधोद्घ आर्य-जनता की सेवा में उपस्थित कर रहे हैं। आर्य का यह १८ वां बोधोद्घ है। आर्य के इस अद्भुत में हम सदा आर्य-जनता के लिये विचार की पुष्कल सामग्री देते रहे हैं। इस वर्ष भी जो लेख इस अंक में जा रहे हैं यदि आर्य-पुरुष उनका गम्भीरता से मनन करेंगे तो उन्हें उनमें अनेक ग्रहण करने योग्य बातें प्राप्त होंगी, जिनके अपने क्रियात्मक जीवन में ढाल लेने से हमारा भारी कल्याण हो सकता है और हम ऋषि के सच्चे अनुयायी और उनके प्रारम्भ क्रिये कार्य को आगे ले जाने में समर्थ उनके सच्चे सिपाही बन सकते हैं। यदि पाठकों ने कुछ सीखने की दृष्टि से इन लेखों का पठन और मनन किया तो हम इस अद्भुत को निकालने के अपने प्रयत्न को पूर्ण रीति से सफल समझेंगे।

ऋषि का सन्देश—

इस अद्भुत में विभिन्न विद्वानों की लेखनी से जो लेख जा रहे हैं उनमें मनन शील पाठकों के लिये इतनी विचार सामग्री दे दी गई है कि हमें इस अद्भुत में पाठकों को अपनी ओर से और कुछ लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यों भी हम प्रति वर्ष इस अवसर पर अपने विचार पाठकों की सेवा

में उपस्थित करते रहे हैं। इसलिये हम आज कोई नवीन बात पाठकों को दे सकेंगे ऐसा हमें नहीं दीखता। परन्तु सम्पादक को भी कुछ न कुछ अपने पत्र के प्रत्येक अद्भुत में लिखना ही होता है। इस परिपाटी के अनुसार एक-आध विचार पाठकों की सेवा में हमको भी रखना है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि संसार के लिये ऋषि के जीवन का मुख्य सन्देश क्या था? ऋषि के जीवन का मुख्य सन्देश वेद था! ऋषि संसार के कोने-कोने में रहने वाले व्यक्तियों तक वेद के विचार पहुँचाना चाहते थे। न केवल वेद के विचार ही पहुँचाना चाहते थे, प्रत्युत उन विचारों के अनुसार लोगों का क्रियात्मक-जीवन भी ढालना चाहते थे। एक शब्द में ऋषि संसार को वेद के रंग में रँगना चाहते थे।

ऋषि का व्यापक कार्य-क्षेत्र—

यद्यपि ऋषि का कार्य-क्षेत्र बड़ा व्यापक था। स्त्री-शिक्षा के प्रश्न को उन्होंने हल किया। अछूतों-द्वार की समस्या उन्होंने सुलझाई। बाल-विवाह के विष को देश से उन्होंने दूर किया। जन्माश्रित जात-पात की जड़ पर कुठार-पात करके गुण-कर्म स्वभाव पर आश्रित वैज्ञानिक वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादन उन्होंने किया। ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों की शुद्ध और आदर्श-परिपाटी उन्होंने दिखाई। देश में एक राष्ट्र-भाषा के प्रचार का उन्होंने प्रयत्न किया। भारत की सांस्कृतिक-भाषा संस्कृत के

पुनरुद्धार का उन्होंने घोर प्रयत्न किया। प्राचीन आर्यों के गौरव के गाने उन्होंने गाये। स्वराज्य और स्वराष्ट्र की उदात्त-भावनाओं को इस युग में सर्व-प्रथम उन्होंने देश की नसों में भरा। देश में प्रचलित असंख्य कुप्रथाओं और कुरीतियों के विरुद्ध उन्होंने घोर आवाज़ उठाई। धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्डों का उन्होंने प्रबल खण्डल किया। विधर्मियों को संस्कृत करके अपने मत में लाने की पद्धति आधुनिक हिन्दुओं को उन्होंने सिखलाई। इन पंक्तियों में गिनाये गये ऋषि के ये कार्य उनके व्यापक कार्य-क्षेत्र के सम्पूर्ण प्रदेश को नहीं छूते हैं। ऋषि के कार्यों की नामावलि इससे कहीं लम्बी है। परन्तु ऋषि ने यह जो कुछ किया इसलिये किया कि उन्हें वेद से ऐसा करने की प्रेरणा मिलती थी। ये सब कार्य जो ऋषि ने अपने जीवन में किये उन की देश जाति के लिये उपयोगिता में सन्देह नहीं है। इनके अभाव में राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। परन्तु ऋषि ने मुख्यतः इन कार्यों को इसलिये नहीं हाथ में लिया था कि ये अपने आप में उपयोगी हैं। अपने आप में भी ये कार्य उपयोगी तो हैं ही, परन्तु ऋषि के लिये ये कार्य करणीय इसलिये थे कि वेद उन्हें करने की प्रेरणा करता है।

वेद का हमारे लिये महत्त्व—

इस दृष्टि से देखने पर हमें मालूम पड़ता है कि ऋषि के लिये वेद का कितना अधिक महत्त्व था। उनके लिये कोई-कोई बात करने योग्य अथवा न करने योग्य इसलिये थी कि वेद उसके करने या न करने की आज्ञा देते हैं। ऋषि ने अपना सारा जीवन इसी वेद के प्रचार में ही खपा दिया। अपने पीछे भी वेद का प्रचार होता रह सके, इसके लिये उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज के सभासदों के लिये भी

ऋषि ने वेद का जो महत्त्व रक्खा है वह और सब बातों के महत्त्व से बढ़ जाता है। जो व्यक्ति आर्य-समाज का सभासद बनना चाहता है उसे आर्य-समाज के दस नियमों को स्वीकार करने के रूप में दस प्रतिज्ञाओं पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। यदि कोई व्यक्ति इनमें से एक प्रतिज्ञा को भी स्वीकार नहीं करेगा तो वह आर्यसमाज का सभासद नहीं बन सकता। इन दस प्रतिज्ञाओं में से एक प्रतिज्ञा यह है कि मैं वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने को अपना परम-धर्म मानूँगा। जो व्यक्ति इस प्रतिज्ञा को स्वीकार नहीं करेगा, वह यदि अन्य सारी प्रतिज्ञाओं को स्वीकार भी कर ले तो भी उसे आर्यसमाज का सभासद नहीं बनाया जा सकता। जो आर्यसमाज में आयेगा उसे दूसरी नौ प्रतिज्ञाओं के साथ यह वेद सम्बन्धी प्रतिज्ञा भी स्वीकार करनी पड़ेगी। अब देखिये इस प्रतिज्ञा में वेद के पढ़ने और उसके प्रचार को किसी आर्य-समाजी के लिये साधारण धर्म नहीं, परन्तु परम-धर्म अर्थात् सब से ऊँचा धर्म (Highest duty) बताया गया है। इससे पाठक देखेंगे कि हम आर्य-समाजियों के लिये ऋषि ने वेद का कितना अधिक महत्त्व रक्खा है।

अपनी इस प्रतिज्ञा का हमें

पालन करना चाहिये—

हम सभी आर्य-पुरुष इस प्रतिज्ञा को लेकर आर्यसमाज में आते हैं। परन्तु क्या हम अपनी इस प्रतिज्ञा का पालन करते हैं। बहुत थोड़े आर्य-पुरुष ऐसे होंगे जो इस गम्भीर प्रतिज्ञा का पालन जिस रूप में चाहिये उस रूप में करते होंगे। एक तो किसी भी मनुष्य कहलाने योग्य मनुष्य को अपनी की हुई प्रतिज्ञाओं का वैसे ही पालन करना

चाहिये। मनुष्य का मनुष्यत्व इसी में है। दूसरे हमें अपने आचार्य की ओर देखना चाहिये। हमारे आचार्य ऋषि दयानन्द प्रतिज्ञा के धनी थे। उन्होंने कभी जो कहा वह करके दिखाया। न केवल जो कहा प्रत्युत जो उन्होंने माना वह भी करके दिखाया। एक मनस्वी पुरुष का मन्तव्य उसकी प्रतिज्ञा ही होती है। हम ऐसे प्रतिज्ञा के धनी आचार्य के शिष्य हैं। हमें अपने गुरु के जीवन से अपनी प्रतिज्ञा को, अपने मन्तव्य को, क्रिया रूप में ढालने की शिक्षा लेनी चाहिये। यदि हम आर्यसमाज में प्रविष्ट होते समय की गई वेद पढ़ने सम्बन्धी इस अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते होते तो आज हमारे जीवन सर्वथा भिन्न प्रकार के होते। आज हम बहुत अंशों में मनुष्य कहलाने के भी अधिकारी नहीं हैं। उस अवस्था में हम साधारण मनुष्य से बहुत ऊँचे देवता होते।

हम तो मनुष्य भी नहीं हैं,

हमें देवता बनना होगा—

वेद हमारे जीवन की सभी समस्याओं के सम्बन्ध में अपने विशेष प्रकार के विचार रखता है। जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं है जिसे वेद ने छोड़ दिया हो। व्यक्ति का व्यक्ति से और व्यक्ति का समाज से जो सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध की जो पचासों शाखाएँ हैं, जिनके कारण मनुष्य का सामाजिक जीवन एक जटिल पहेली बन जाता है, इन सब के सम्बन्ध में वेद ने सार्वभौम सचाई की शिक्षायें दी हैं। सन्तान का आदर्श-निर्माण कैसे हो सकता है, सन्तानों की शिक्षा किस प्रकार की और कहाँ हो, हमारे बच्चों के शिक्षक कैसे हों, विवाह की आयु क्या हो, पति-पत्नी की योग्यता किस प्रकार की हो, उनका पारस्परिक सम्बन्ध

किस प्रकार का हो, लोगों के पारस्परिक व्यवहार और बर्ताव कैसे हों, समाज का संघटन किस प्रकार का हो, राज्य प्रबन्ध किस प्रकार चलाया जाये, मनुष्य अपने आत्मा को निष्पाप और निष्कलंक कैसे बना सकता है जिससे वह एक दिन मोक्ष-सुख का अधिकारी हो सके, इत्यादि जीवन से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रश्नों पर वेद में विचार किया गया है और उनका उचित समाधान किया गया है। यदि हम वेद का गम्भीरता-पूर्वक स्वाध्याय करके अपने जीवन को उसकी शिक्षाओं के अनुसार ढालना प्रारम्भ कर दें तो हम जहाँ आज साधारण मनुष्य भी नहीं हैं, वहाँ हम अपने आप को ऊँचा करते-करते देवता की श्रेणी तक ले जा सकते हैं। उदाहरण के लिये हम पाठकों के आगे वेद की एक सुन्दर और मधुर शिक्षा रखते हैं।

हृदय में उगने वाली मधुरता की बेल—

अथर्व वेद में एक स्थान पर बड़ा सुन्दर अलंकार बाँधा गया है। हमारे शरीरों में बीमारियाँ लग जाती हैं। उनके इलाज के लिये हम वैद्य के पास जाते हैं। वैद्य हम से कहता है कि जंगल में जाकर अमुक बूटी की जड़ खोद कर उसके रस का पान करो। तुम्हारा रोग उसके सेवन से दूर हो जायेगा। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में रोग लग जाते हैं उसी प्रकार समाज के शरीर में भी रोग लग जाते हैं। समाज के शरीर में लगने वाले रोग ईर्ष्या-द्वेष आदि हैं। जिस समाज के व्यक्तियों में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष घुस जाते हैं वह समाज जीवित नहीं रह सकता। वह नष्ट होकर मर जायेगा। इन ईर्ष्या-द्वेष रूप रोगों से समाज-शरीर को बचाने के लिये भी हमें एक बूटी का रस निकालकर पीने की आवश्यकता है। परन्तु यह बूटी किसी जंगल

में नहीं उगती। यह हमारे हृदय में उगती है। वहीं से खोदकर इसके रस का पान करने की आवश्यकता है। वह बूटी हृदय में रहने वाली मधुरता की, प्रेम की, भावना की है। इसे खोदकर पीने से समाज-शरीर के ईर्ष्या-द्वेषादि रोगों की निवृत्ति हो जाती है। हम में से प्रत्येक के हृदय में पाई जाने वाली यह मधुरता की भावना भी सच-मुच खोदकर ही हृदय में से निकालनी पड़ती है। इतना परिश्रम जंगल की बूटी को प्राप्त करने के लिये वहाँ की मट्टी और पत्थर-रोड़ों को खोदकर परे करने में नहीं करना पड़ता जितना मधुरता की भावना को सदा दबाकर रखने वाली हृदय की ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध आदि वृत्ति रूप मिट्टी-पत्थरों की परे करने में पड़ता है। सचमुच अपनी मधुरता की वृत्ति को हमें विरोधी वृत्तियों के नीचे से खोदकर ही बाहर करना पड़ता है। दो व्यक्ति बात कर रहे हैं। एक ने देखा कि दूसरे ने कोई ऐसा शब्द कह दिया जो उसके लिये अपमान सूचक है। उस शब्द के पहले व्यक्ति के कानों पर पड़ने भर की देर है। उसका खून खौल पड़ता है। आँखें जल उठती हैं। ओठ काँपने लगते हैं। हृदय में क्रोध का बवण्डर उठ खड़ा होता है। भुजायें बेचैन हो उठती हैं। ऐसे अवसर पर अपने क्रोध को विचार पूर्वक दबाकर शान्त रखने और मधुरता की भावना को स्थिर रखने में कितना परिश्रम करना पड़ता है यह वही जानते हैं जिन्हें कभी ऐसे मानसिक युद्ध जीतने का अवसर प्राप्त हुआ है। हृदय की

सभी अच्छी भावनाओं को स्थिर रखने और उनकी विरोधी बुरी भावनाओं को दबाने में ऐसा ही प्रयत्न करना पड़ता है। यदि हम प्रत्येक अवसर पर अपने हृदय की इस मधुरता की, प्रेम की, भावना रूप बेल को सुरक्षित रखें, उसे ईर्ष्या-द्वेष, क्रोधादि की मट्टी से दबने न दें तो हमारे समाज-शरीर को ये रोग कभी आक्रान्त नहीं कर सकते। जब ये ईर्ष्या-द्वेषादि रूप रोग हमारे समाज-शरीर में नहीं होंगे तो हमारे समाज की कभी अवनति नहीं हो सकती। उसकी सदा उन्नति ही होती रहेगी।

परन्तु हम लोग वेद की इस शिक्षा पर आचरण नहीं करते हैं। इसीलिये ईर्ष्या-द्वेष और उनसे उत्पन्न होने वाले लड़ाई-झगड़े हमारे समाज-शरीर को सदा खाते रहते हैं। और परिणाम स्वरूप हमारा समाज उन्नति न करके अवनति के मार्ग पर पड़ जाता है। वेद की हजारों शिक्षाओं में से यह एक छोटी सी शिक्षा है। इसीके पालन करने से हमारा कितना कल्याण हो सकता है। यदि हम वेद की सभी शिक्षाओं का मनन करके उन पर आचरण करने का प्रयत्न करें तो हमारा जो कल्याण होया उसका हम शब्दों में वर्णन भी नहीं कर सकते।

आज ऋषि-बोधोत्सव के दिन आर्य पुरुषो ! वेद को पढ़ने और उसके अनुसार अपने आचरण ढालने की अपनी प्रतिज्ञा को भविष्य में सदा पूरा करने की प्रतिज्ञा करो। आपका इस उत्सव को मनाना तभी सफल होगा।

४४५
३२५
२.१

छप गई !

छप गई !!

छप गई !!!

अग्निहोत्र की अनूठी व्याख्या

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार की प्रतिभापूर्ण लेखनी का एक और चमत्कार

देवयज्ञ

नामक पुस्तक छपकर तैयार हो गई !!

पण्डित बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार आर्यसमाज के प्रतिभाशाली वैदिक विद्वान् हैं। उनकी लिखी स्वर्ग, सोम, मरुत, शतपथ में एक पथ, शतपथ भाष्य, ब्रह्मयज्ञ आदि पुस्तकें आर्यसमाज के साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। उनकी सन्ध्या की व्याख्या ब्रह्मयज्ञ के थोड़े ही काल में दो संस्करण निकल चुके हैं। देवयज्ञ पुस्तक भी ब्रह्मयज्ञ की ही कोटि की है। देवयज्ञ में अग्निहोत्र के मन्त्रों की व्याख्या के अतिरिक्त देवयज्ञ के अङ्ग, उद्देश्य-प्रणिधान, ईर्ष्या-विजय, विश्वेदेवा और यजमान, वषट्कार और स्वाहाकार, स्विष्टकार, अदब्धता, यज्ञ-चक्र, ब्रह्मप्रणिधान, आदि कितने ही अन्य विषयों पर भी सर्वथा मौलिक विचार दिये गये हैं। एक बार मँगा कर अवश्य पढ़िये। मूल्य केवल 1/- है।

निम्न पुस्तकें भी मँगाकर पढ़िये

ब्रह्मयज्ञ 1/-

स्वर्ग 1/-

सोम 1)

मरुत 1)

शतपथ में एक-पथ 1)

मिलने का पता—

अध्यक्ष—अनुसन्धान-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

गुरुदत्त भवन, लाहौर।

पण्डित प्रियव्रत प्रिण्टर और पब्लिशर द्वारा नवयुग प्रिण्टिंग प्रेस, १७, मोहनलाल रोड, लाहौर,

में छपकर गुरुदत्त भवन, रावी रोड, लाहौर, से प्रकाशित हुआ।

का. १६-४००

उ. उ. नं. २७५७
Regd. N. L.—2757

चैत्र
१९९३

१५
१८३०

आर्य

वैदिक तत्त्वज्ञान आर धर्म का प्रचारक पत्र

(वार्षिक मूल्य ३)
(एक प्रति १=)



सम्पादक—
पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर

विषय-सूची

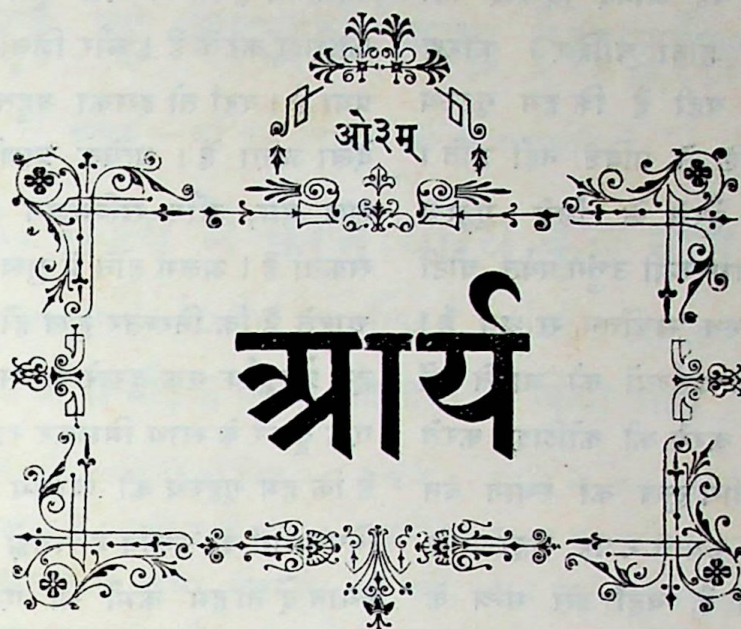
सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश	... भगवद्गुप्त वेदालङ्कार	४५१
२.	वेदों के राजनैतिक सिद्धांत	... श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति	४५३
३.	ऋषियों का मर्त्यत्व	... श्री पं० भगवद्गुप्त जी वेदालङ्कार	४६७
४.	उपनिषद् और वेदार्थ	... श्री पं० चन्द्रकान्त जी वेदवाचस्पति	४७३
५.	ऋषि दयानन्द, हिन्दी और पंजाब	... श्री कुमारी दमयन्ती देवी जी विद्यालङ्कृता	४७७
६.	सम्पादकीय—	... श्री पं० भगवद्गुप्त जी वेदालङ्कार	४८५
	(क) विनम्र निवेदन	...	
	(ख) धर्म-निर्णय का अधिकार	...	
७.	पुस्तक-परिचय	...	४८६
८.	शतपथ-ब्राह्मण	... श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार	३६५



आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये, यह आपका कर्तव्य है ।

ग्राहकों से—आर्य अङ्कुरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है । पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये । फिर अङ्कुरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये । इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे । अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये ।

पत्र-व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
ग्राहक-संख्या, पतेवाली चिट पर लिखी होती है ।



ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्यः ॥

ॐ

भाग १८

लाहौर, चैत्र १९९३, अप्रैल १९३७
[दयानन्दाब्द ११२]

अंक १२

ॐ

वेदोपदेश

सच्चा गृहास्थाश्रम

इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायु व्यश्नुतम् ।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नपुत्रिभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ ऋ० १०।८५।४२॥

शब्दार्थः—हे पति और पत्नी ! (इहैव) इसी घर में (स्तं) बने रहो (मा वियौष्टं) एक दूसरे से अलग मत होवो (पुत्रैः) पुत्रों से (नपुत्रिभिः) पौत्रों से (क्रीडन्तौ) खेलते हुए (स्वे गृहे) अपने इस घर में (मोदमानौ) सुख से रहते हुए (विश्वमायुः) सम्पूर्ण आयु को (व्यश्नुतम्) व्यतीत करो ।

भावार्थः—इस मन्त्र में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं ।

१. यहीं रहो ;
२. एक दूसरे से पृथक् न होओ ।
३. और पुत्र पौत्रों के साथ आनन्द पूर्वक

आयु व्यतीत करो ।

बना
ये
के
सब
स
दा
“
ते
क
है
ह
।

आज गृहस्थ-जीवन प्रायः भार रूप प्रतीत होता है। गृहस्थियों में वह आनंद दिखाई नहीं देता जो कि वास्तव में होना चाहिए। कारण क्या ! इसका कारण यही है कि हम गृहस्थ में एक आश्रम की दृष्टि से प्रविष्ट नहीं होते। इस संसार-सागर को तैरने के लिये गृहस्थ नौका के समान है। संसार-रूपी उत्तुंग पर्वत चोटी को लांघने के लिये गृहस्थ सर्वोत्तम साधन है। यदि हम गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों को जानते हों और उन्हें यथाशक्ति पूरा करने की कोशिश करते हों तो गृहस्थ एक अद्वितीय सुख का स्थान बन जाता है। वेद में जहाँ स्थान २ पर गृहस्थ के कर्तव्यों को दिखाया गया है, वहाँ इस मन्त्र के अन्दर भी गृहस्थी के लिये कुछ कर्तव्य बताये गये हैं, यदि गृहस्थी उन कर्तव्यों का पालन करेगा तो निश्चय से वह सुखी होगा। पहला कर्तव्य जिसकी ओर मन्त्र का निर्देश है वह है, इसी घर में ही मिलकर रहना ! जिस घर में पति पत्नी के अन्दर प्रेम नहीं, वहाँ वे मिलकर नहीं रह सकते। वे एक दूसरे से अलग होना चाहते हैं। एक दूसरे से घृणा पैदा होती है। इसका परिणाम यह होता है कि वे एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। जिस पति के अन्दर पत्नी के लिये अर्द्धांगिनी भाव होता है और जिस पत्नी के अन्दर पति के लिये स्वामी-भाव होता है वहाँ ही सच्चा सुख होता है। और वे एक दूसरे से मिलकर रहना चाहते हैं। उनमें कभी लड़ाई नहीं होती। वे एक दूसरे से उकताते नहीं। परन्तु जिस पति के अन्दर पत्नी के लिये अर्द्धांगिनी-भाव नहीं, और जिस पत्नी के अन्दर पति के लिये स्वामी भाव नहीं वहाँ प्रेम नहीं हो सकता।

बात-बात पर लड़ाई होती है। इसका परिणाम यह होता है कि वे एक दूसरे से दूर रहने की कोशिश करते हैं। और जिन देशों में तलाक की प्रथा है। वहाँ तो इसका बहुत ही बुरा परिणाम देखा जाता है। प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। सुख प्रेम, और सम्मिलन के अन्दर ही मिल सकता है। अलग होने में सुख नहीं। और यदि हम चाहते हैं कि निरन्तर सुख हो तो हमें चाहिये कि हम प्रेमपूर्वक एक दूसरे के साथ रहें। प्रेम-पूर्वक एक दूसरे के साथ मिलकर रहने का साधन यह है कि हम गृहस्थ को आश्रम की दृष्टि से देखें। विषयभोग का स्थान न समझें और धर्म को ऊँचा स्थान दें तो हम कभी भी एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। वेद की तो आज्ञा यह है कि “मा वियौष्टम्” हे पति पत्नी ! तुम कभी भी एक दूसरे से अलग मत होवो एक दूसरे को तलाक मत दो। जहाँ घर में प्रेम पूर्वक मिलकर रहा जायेगा, वहाँ कभी घृणा, द्वेष, क्रोध, दुःख आदि का समावेश ही नहीं हो सकेगा और नहीं कभी तलाक देने की अवस्था पैदा होगी, और उस घर में प्रेम, आनन्द, तथा सुख का राज्य होगा, तो स्वभावतः हमारी आयुर्वे बहुत विस्तृत होगी। केवल पुत्रों के साथ ही नहीं अपितु पौत्रों के साथ भी हम सुख से खेल सकेंगे। और दीर्घ आयु, प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन भी यह है कि हम प्रेमसे रहें, एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से न देखें और पुत्र और पौत्रों साथ खेलते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करते जायें, तो गृहस्थ संसार-सागर से तारनेवाला बन जाये और मनुष्य भी सुख से रहें। यही उपदेश इस मन्त्र में दिया गया है।

—भगवद्भक्त वेदालङ्कार

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

१६. राज्य में करने योग्य कुछ बातें (Some ends to be realised by the state)

१५. प्रजा-पीड़क लोगों को दण्डित किया जाय

वेद में प्रजा को कष्ट देने वाले व्यक्तियों को भिन्न २ नामों से संबोधित किया गया है। कहीं उन्हें यातु-धान और रक्षस् या राक्षस नाम दिया गया है तो कहीं दस्यु और पिशाच कहा गया है। यातु-धान का शब्दार्थ होता है पीड़ा देने वाला। यातु शब्द का अर्थ 'पीड़ा' या 'हिंसा' वैदिक-साहित्य में सुप्रसिद्ध है। "यातयति वध-कर्मा" (नि० २।१६) धातु से इसकी व्युत्पत्ति होती है। जो दूसरे में यातु को धारण कराये वह 'यातु-धान'—यातुं दधातीति यातुधानः। रक्षस् या राक्षस का अर्थ होता है ऐसे दुष्ट जिनसे लोगों की रक्षा की जानी चाहिये—"रक्षितव्यमेभ्यः।" इसका अर्थ छिप कर मारने वाले या हानि करने वाले भी होता है—"रहः क्षिण्वन्ति इति।" दस्यु उन लोगों को कहते हैं जो प्रजाओं का क्षय करते हों। 'दसु उपक्षये' धातु से यह शब्द निष्पन्न होता है—"दस्यन्तीति दस्ययः।" पिशाच शब्द मांसाहारी अर्थ में प्रयुक्त होता है। रक्षस्^१ या राक्षस शब्द भी इस अर्थ में कई बार प्रयुक्त हुए हैं। उक्त प्रकार के लोगों तथा स्तेन, तस्कर

(चोर) आदि से प्रजा की रक्षा करना अनेक स्थलों पर राजा का कर्तव्य बताया गया है। इतना ही नहीं, व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं से भी प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य बताया गया है।

क. यातुधान

उदाहरण के लिये—

अथर्व १।६।८ सूक्तों में इन्द्र (सम्राट्) और उसके अग्नि, सोम, बृहस्पति आदि राज्य-कर्मचारियों से यातुधानों को मारने की प्रार्थना की गई है। दोनों सूक्तों में प्रजा-जन राज्य को हवि अर्थात् राज्य का देयांश कर दे रहे हैं (अथर्व० १।७।३ और १।८।१) और उसके बदले में राज्य से यातुधानों को मार भगाने की प्रार्थना कर रहे हैं। प्रजा-जन राजा से कह रहे हैं कि:—

"आरभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे।

"दूतों नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् विलापय। अथ० १।७।६ अर्थात्—"हे अग्नि (सम्राट्) तू हमारे लिये ही उत्पन्न हुआ है, तू दूत बन कर उनके समाचार संग्रह कर और हमें सुना या दूत अर्थात् उत्पाक (दुदु उपतापे) बन कर यातुधानों को रुखा डाल।" कहा है कि राजा इन यातुधानों को इतना उत्तम करे कि वे भयभीत होकर आप ही

१. रक्षस्, पिशाच और यातुधान शब्दों का जब वेद के आयुर्वेद विषयक प्रकरणों में प्रयोग होता है—जब इनको औषधों द्वारा या वैद्य द्वारा मारने का वर्णन होता है—तब इनका अर्थ शरीर को खा जाने वाले, ये अनुसूचित संस्कृत शब्दों के राजा को आत्म-सर्पण कहें—

बना
ये ३
के र
सब
सग
दा
“ह
ते
क
है
ह
।

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः । त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् आयन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् । अथ० १।७।५ अर्थात् — “हे जातवेदः अग्नि (सम्राट्) हम तेरे वीर्य को देखें, हे मनुष्यों को पहचानने वाले (नृचक्षः) हमें बता यातुधान कहाँ-कहाँ हैं और किस प्रकार के हैं, तेरे द्वारा चारों ओर से तपाये हुए (परितप्ताः) वे यातुधान तेरे सन्मुख आ खड़े हों, यह कहते हुए कि यह मैं हूँ, यह मैं हूँ ।”

सायण ने यातुधानों को मनुष्यों से भिन्न प्रकार की जाति के प्राणी माना है, जिन्हें साधारण बाल-चाल में राक्षस, दैत्य या दानव कहते हैं। हमारी सम्मति में यातुधान मनुष्यों से भिन्न प्रकार की किसी विशेष जाति के प्राणी नहीं हैं। ये मनुष्य ही हैं। क्योंकि ये अपने दुष्ट स्वभाव के कारण लोगों को मारते हैं, उन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं, और अति दुष्ट स्वभाव वाले खा भी जाते हैं, इसलिये इन्हें यातु-धान कहा जाता है। अथर्व० १।७।१ मन्त्र ही देखिये।

इसमें कहा है—

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।

त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्यो बभूविथा॥

अर्थात्—“हे अग्ने (सम्राट्) तू यातुधानों को पकड़ ला, इस प्रकार पकड़ ला कि वे तेरी स्तुति करें अर्थात् कहें कि ‘महाराज आप बड़े कृपालु हैं, इस बार क्षमा कर दीजिये, भविष्य में हम कभी ऐसे कार्य नहीं करेंगे’ सब से वन्दित हे देव क्योंकि तू दस्युओं का मारने वाला है ।” राजा से मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि तू यातुधानों को पकड़ ला क्योंकि तू दस्युओं का मारने वाला है। इस वाक्य से यातुधान और दस्यु एक ही चीज़ सिद्ध होते हैं। और दस्यु चोर, डाकू, लुटेरे, हिंसक, खूनी प्रवृत्ति के लोगों (Criminal) लोगों को कहा जाता

है। लौकिक संस्कृत-साहित्य तक में दस्यु के ये ही अर्थ हैं। इसलिये यातुधान भी इसी प्रकार के लोग हुए। फिर, अभी ऊपर उद्धृत अथर्व० १।७।५ मन्त्र में सम्राट् से कहा है “प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः” अर्थात् “हे मनुष्यों को परखने वाले हमें यातुधानों के विषय में बतला।” यातुधानों के सम्बन्ध में प्रजाजनों को जानकारी देने वाले राजा को “नृचक्षः” अर्थात् मनुष्यों को पहचानने वाला कहना स्पष्ट सिद्ध करता है कि यातुधान लोग दुष्ट प्रवृत्ति के मनुष्य ही हैं।

इसी भाँति अथर्व ८।३ सूक्त में भी यातुधानों को मारने का वर्णन है। सूक्त में प्रजाजन अग्नि (सम्राट्) से यातुधानों को मारने की प्रार्थनायें कर रहे हैं। यहाँ रक्षस् और यातुधानों को एक कर दिया गया है (अथ० ८।३।१०)। ये यातुधान लोग मनुष्य ही हैं यह इस सूक्त में भी अनेक बार प्रयुक्त हुए अग्नि के विशेषण “नृचक्षः,” अर्थात् “मनुष्यों को पहचानने वाला” से सिद्ध होता है। यातुधान कौन हैं इस सम्बन्ध में इस सूक्त के निम्न मन्त्र भी देखिये—

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं योऽग्ने अनृतेन हन्ति । अथर्व० ८।३।११

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।

यो अधन्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ अथर्व० ८।३।१५

अर्थात्—“जो ऋत को अनृत से मारता है वह यातुधान है अग्ने (सम्राट्) तीन बार तेरे बन्धन में पड़े।” “जो यातुधान पुरुष के मांस से, जो अश्व के मांस से, जो अन्य किसी पशु के मांस से

अपने आपको पुष्ट करता है (समङ्क्ते)^१, जो गौ को मारकर उसका दूध हर लेता है, हे अग्ने (सम्राट्) उन सब के सिरों को अपने शस्त्र से काट डाल।”

प्रथम मन्त्र में ‘तीन बार बन्धन में पड़े’ का भाव यह प्रतीत होता है कि यातुधान लोगों को पहले तो केवल समझा दिया जाये कि वे अपना दुष्कर्म परित्याग कर दें, यदि फिर भी न मानें तो आर्थिक और शारीरिक दण्ड दिया जाये, और यदि उसपर भी न सुधरे तो उन्हें मार ही डालना चाहिए।

इन मन्त्रों में स्पष्ट बता दिया गया है कि यातुधान या राक्षस लोग कौन हैं। जो ऋत को अनृत से मारे, सत्य नियमों को अपने असत्य व्यवहारों से नष्ट करना चाहे वह यातुधान है। जो दूसरों की जान लेना चाहे वह यातुधान है। और ऐसे दुष्ट लोगों को आवश्यकतानुसार घोर से घोर दण्ड देना राजा का कर्तव्य है।

इसी प्रकार ऋगू० १०।८७ और अथर्व ८।३ तथा अथर्व ८।४ और ऋगू० ७।१०४ सूक्तों में भी यातुधानों को मारने का विधान है। ऋगू० १०।८७ और अथर्व ८।३ सूक्त हलके परिवर्तन के साथ लगभग एकही हैं। ऋगू० ७।१०४ और अथर्व ८।४ पर हम अधिक विस्तार से आगे विचार करेंगे। इन दोनों में इन्द्र और सोम से यातुधानों और दूसरे अपराधियों को दण्डित करने की प्रार्थना है। यहां इन्द्र सम्राट् का अर्थात् राज्य के शासक (Executive) विभाग का और सोम सम्राट् के न्यायाधीश स्वरूप का अर्थात् राज्य के न्याय विभाग का वाचक है। यातुधान मनुष्य से भिन्न और किसी जाति के प्राणी नहीं हैं यह इन सूक्तों के १६ वें मन्त्र से भी सुस्पष्ट है। मन्त्र इस प्रकार है :—

यो माऽयातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।

इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोर-धमस्पदीष्ट ॥ अथर्व ० ८।४।१६। ऋ० ७।१०४।१६

इसमें एक प्रजाजन जिस पर अपराधी होने का मिथ्या दोषागोप किया गया है कह रहा है—“किसी को पीड़ा न देने वाले (अयातुं) मुझ को जो यातु-धान कहता है, जो पवित्र (शुचिः) मुझ को रक्षस् कहता है. इन्द्र (सम्राट्) उसे अपने महान् वध से मारे, वह सब जन्तुओं से अधम अवस्था में पहुँच जाये।”

मैं किसी को यातु नहीं देता इसलिये मुझे यातुधान या राक्षस क्यों कहा जाय, मन्त्र के वक्ता का यह वाक्य असंदिग्ध कर देता है कि जो दूसरों में अपने हिंसा कर्मों द्वारा यातु (पीड़ा) धारण कराये वही यातुधान हो जाता है। यातु-धान कोई योनि विशेष नहीं है।

यातुधानों को दण्डित किया जाय यह तो पाठक देख चुके। इस सम्बन्ध में ऋ० १०।८७ और अथर्व ८।३ के निम्न दो मन्त्र और देखिये—

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुपस्पृश जातवेदः समिद्धः ।

आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि^१ धत्स्वासन् ॥ ऋ० १०।८७।२॥ अथर्व ० ८।३।२ पश्चात् पुरस्ताद् अधराधुतोत्तरात्^२ कविः काव्येन परि पाह्यग्ने ।

सखा^३ सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ता^४ अमर्त्यस्त्वं नः ॥ ऋ० १०।८७।२१ अथर्व ० ८।३।२०

१. ऋग्वेदे वृक्त्वी इति पाठः ।

२. ऋग्वेदे उदक्तादिति पाठः ।

३. ऋग्वेदे सखे इति पाठः ।

१. सम्यग् अभिव्यनक्ति पोषयति आत्मानम् । अञ्जु

व्यक्तिभक्षणक गतिगतिपु । इति सायणः

वना
ये ३
के २
सब
सग
दा
“
ते
क
है
ह
।
:

अर्थात्—“हे धन और ज्ञान देने वाले अथवा सब को जानने वाले (जातवेदः) अग्नि (सम्राट्) तू अपने प्रताप से चमकता हुआ, लोहे की दंष्ट्राओं वाला बन कर अर्थात् अपराधियों को दण्ड देने के लिये लोहे के शस्त्रास्त्रों और वेड़ियों आदि से युक्त होकर, अपने तेज से यातुधानों को स्पर्श कर अर्थात् उन्हें अपने तेज से तपा दे, इन मूर्खता-पूर्ण व्यवहार शील लोगों (मूर्खदेवान्) को पहले अपनी जिह्वा से पकड़, इन मांसाहारियों को तू शक्ति शाली होकर (वृष्टा)^१ कारागार में (आसन्)^२ डाल दे।” “हे अग्ने (सम्राट्) तू कवि है—गहराई तक पहुँचने वाला ज्ञानी विद्वान् है, अजर है—तेरी शक्ति जीर्ण नहीं होती, अमर्त्य है—तेरा प्रभाव कभी मरता नहीं, तू हमारा सखा है, तेरे मित्र हम लोगों की, तू अपने काव्य अर्थात् गहराई तक पहुँचने वाले ज्ञान द्वारा पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और उत्तर सब कहीं से, यातुधानों से हमारी रक्षा कर, जिस से हम तेरी स्तुति कर सकें (जरिम्णे)।”

इनमें से प्रथम मन्त्र के “आ जिह्वया मूर्खदेवान् रभस्व”—इन मूर्खतापूर्ण व्यवहार शील लोगों को अपनी जिह्वा से पकड़—इस वाक्य का यह भाव है कि अपराधी को दण्ड देने से पहिले उसे उपदेश द्वारा समझाना चाहिये कि भाई ! तेरा यह काम ठीक नहीं है, तू इसे छोड़ दे। यदि इतने से अपराधी समझ जाय तो उसे दण्डित करने की आवश्यकता नहीं है। यदि समझाने से न समझे तो कारागार आदि में डालने का दण्ड देना चाहिये। दूसरे मन्त्र का भाव यह है कि यातुधानों से असली रक्षा तो हमारी तभी हो सकती है जब कि राष्ट्र में

चारों ओर शिक्षा का खूब प्रचार हो। अज्ञान के कारण ही लोग यातुधान बन जाते हैं। यदि जनता में काव्य का—क्रान्तदर्शी गहरे ज्ञान का—प्रचार हो तो यातुधानों की संख्या बहुत कम रह जायेगी। शिक्षा प्रचार के द्वारा भी यातुधानों को मारने का प्रबन्ध राजा को करना चाहिये।

ख. रक्षस्

अब लीजिये रक्षसों को। रक्षसों या राक्षसों से प्रजा की रक्षा करने का विधान भी राजा के लिये अनेक स्थलों पर किया गया है। अभी यातुधानों के सम्बन्ध में अथर्व ८।३, ऋगू० १०।८७ और अथर्व ८।४, ऋगू० ७।१०४ सूक्तों पर दृष्टिपात करते हुए हम देख चुके हैं कि इनमें यातुधानों और रक्षसों को एक ही कर दिया गया है। जो यातुधान हैं वे ही रक्षस् भी हैं। अर्थात् प्रजोपपीड़क मनोवृत्ति के लोगों को कभी यातुधान और कभी रक्षस् कह कर इन बड़े-बड़े सूक्तों में उनसे प्रजा की रक्षा का उपदेश राजा को दिया गया है। इन सूक्तों से अलग भी रक्षस् प्रवृत्ति के लोगों से प्रजा की रक्षा करने का राज-कर्तव्य अनेक स्थानों पर उपदिष्ट किया गया है। उदाहरण के लिये निम्न कुछ मन्त्रों को देखिये—

सहस्राक्षो विचर्षणिरग्नि रक्षांसि सेधति।

ऋगू० १।७६।१२

जहि रक्षांसि सुक्रतो। ऋगू० ६।१६।२६

अग्नीरक्षांसि सेधति। ऋगू० ७।१५।१०

यद्वा उ विशपतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशि।

विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति। ऋगू० ८।२३।१३

घ्नन् मृग्राण्यप द्विषो दहन्नक्षांसि विश्वहा। अग्ने

तिग्मेन दीदिहि। ऋगू० ८।४३।२६

अर्थात्—“[गुप्तचर आदि के रूप में] सहस्रों

आँखों वाला, सब को देखने वाला यह अग्नि

१. वृष शक्ति बन्धन। शक्तिबन्धमात्मनि कृत्वा।

२. अस्यन्तेऽपराधिनोऽत्रेत्यास्यं कारा। पद्वन्नोमासित्यास्य-
याऽन्भावः। छान्दसः सप्तम्या लुक्।

(सम्राट्) रक्षस् लोगों को राष्ट्र से निकाल भगाता है।” “हे उत्तम बुद्धि या कर्मों वाले अग्नि (सम्राट्) रक्षस् लोगों को मार।” “यह अग्नि (सम्राट्) रक्षस् लोगों को मार भगाता है।” “प्रजाओं का पति, ज्ञानादि से तीक्ष्ण, प्रीति युक्त होकर यह मनुष्य (मनुषः)^१ अग्नि (सम्राट्) प्रजा में घुसे हुये सभी रक्षस् लोगों को मार भगाता है।” “हे अग्ने (सम्राट्) तू हमें मारने वाले, हम से द्वेष करने वाले रक्षस् लोगों को मारता हुआ, जलाता हुआ सर्वदा अपने तीक्ष्ण तेज के साथ चमकता रह।”

इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर अग्नि और इन्द्र को “रक्षोहाः”^२ अर्थात् रक्षस् लोगों को मारने वाला कहा है। अग्नि और इन्द्र के इस विशेषण से भी यह सूचित होता है कि राजा को राष्ट्र में से रक्षस् प्रवृत्ति के लोगों को नष्ट कर देना चाहिये।

ग. दस्यु

अब दस्यु के सम्बन्ध में देखिये। दस्यु शब्द लौकिक संस्कृत साहित्य में भी सुप्रसिद्ध है। लौकिक संस्कृत में दस्यु का प्रयोग प्रायः सामाजिक कर्म-मर्यादा को तोड़ने वाले चोर, डाकू लुटेरे आदि के अर्थ में होता है। यह कभी-कभी शत्रु अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। संस्कृत के सुप्रसिद्ध लघु-कोष अमरकोष में इसके यही दो अर्थ दिये गये हैं। वाचस्पत्यबृहदभिधान में इसके निम्न अर्थ दिये गये हैं :—

१. महासाहसिके (डाकू चोर)।

२. खले (नीच, दुर्जन)।

१. मनोज्ञावन्वतावित्यजि पुक्। छान्दसो वृद्धभावाः।

२. उदाहरण के लिये ऋगू० १।८७।१॥ १०।१६२।

१॥ १।१२।११ और अथर्व० ४।२३।३॥ ८।३।१॥

१ २८।१ देखिये।

३. ब्राह्मणादि चतुर्वर्णभिन्ने (जो चातुर्वर्ण्य की मर्यादा में न रहता हो)।

४. कर्मवर्जिते (जो सामाजिक कर्म-मर्यादा को तोड़ता हो)।

शब्दकल्पद्रुम में इसके निम्न अर्थ दिये हैं :—

१. चौरः (चोर)।

२. रिपुः (शत्रु)।

३. महासाहसिकः (डाकू)।

४. कर्मवर्जितः (जो सामाजिक वर्ण-मर्यादा के कर्मों को न करता हो)।

५. असुरः (रक्षस्, पिशाच आदि)।

स्वयं वेद दस्यु से क्या समझते हैं यह वेद के अन्यत्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्।

अब स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः। ऋगू० ८।७०।११

इस मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है। मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है :—

“जो अन्यत्रत है, अमानुष है, अयज्वान है, अदेवयु है ऐसे दस्यु को पालना, पूर्ति और तृप्ति करने वाले पदार्थों को देने वाला (पर्वतः^१) हमारा सखा यह इन्द्र (सम्राट्) सुख की अवस्था से (स्वः) गिरा देता है और उन्हें राज्य की ओर से नियुक्त अपराधियों को मारने वाले लोगों को (सुघ्नाय^२) अर्पित कर देता है।”

मन्त्र का भाव यह कि इन्द्र (सम्राट्) दस्यु को सुखी नहीं रहने देता उसे दण्डित करता है। और आवश्यकता होने पर उसे अपने मृत्युदण्ड के लिये नियुक्त कर्मचारियों द्वारा मरवा भी देता

१. पर्वतः पर्ववान्। २. पुनः पृथग्विः प्रीणातेर्वा।

नि० १।२०

२. सुधु इन्ने मृत्यवे इति सायणः।

बना
ये ३
के २
सब
सग
दा
“
ते
क
है
ह
।

है। दस्यु कौन लोग होते हैं यह मन्त्र के पूर्वाद्ध में पढ़े गये दस्यु के विशेषणों से स्पष्ट हो जाता है। जो ‘अन्यव्रत’ हो। व्रत कहते हैं कर्म को, नियम को। समाज की मर्यादा को सुरक्षित रखने के लिये जो नियम और कर्म आवश्यक हैं जो उनका पालन नहीं करता, उनको तोड़ने के लिये उनसे भिन्न प्रकार के कर्म करता है, वह ‘अन्यव्रत’ है। इसीको अगले विशेषण में और स्पष्ट करते हैं। जो ‘अमानुष’ हो। समाज संघटन में मिलकर रहने वाले मनुष्यों में से न हो। उनसे भिन्न प्रकार का मनुष्य हो। वे लोग जिस प्रकार के कर्म करते हैं उनसे भिन्न प्रकार के कर्म करता हो। इसी भाव को अगले विशेषण में और अधिक विस्पष्ट करते हैं। जो ‘अयज्वा’ हो। जो यजन न करता हो, यज्ञ का विघातक हो। यजन के देवपूजा, संगतिकरण और दान ये तीन अर्थ होते हैं। देव के परमात्मा, विद्वान्, पवित्र गुण आदि कई अर्थ होते हैं। पूजा का अर्थ है किसी चीज़ का यथायोग्य सत्कार कर के उससे उपयुक्त लाभ लेना। जो इस प्रकार की देवपूजा का विघातक है वह दस्यु है। संगतिकरण का अर्थ है मनुष्यों का, पदार्थों का परस्पर संघटन करके व्यवस्था बनाना। जो मनुष्यों की समाज व्यवस्था का, मनुष्यों द्वारा रचित पदार्थों की व्यवस्थाओं का विघातक है वह दस्यु है। जो समाज से लाभ तो उठाता है, परन्तु अपनी योग्यताओं से समाज को बदले में ‘दान’ कुछ नहीं करता वह दस्यु है। इस प्रकार के ‘अयज्वा’ लोग दस्यु हैं। जो ‘अदेवयु’ है वह दस्यु है। देव शब्द “दिवु” धातु से बनता है, जिसके “क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार, दयुति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति” ये दस अर्थ होते हैं। जो लोग राष्ट्र में इन बातों की वृद्धि करते हैं वे देव हैं।

जो अदेवयु है, ऐसे देव लोगों को नहीं चाहता, उन्हें नष्ट करना चाहता है, वह दस्यु है। भाव यह है कि जो क्रीडा अर्थात् राष्ट्र के लोगों की खेल-कूद को नष्ट करता है; जो विजिगीषा अर्थात् राष्ट्र के लोगों की किसी भी क्षेत्र में विजय की भावना को नष्ट करता है; जो व्यवहार अर्थात् राष्ट्र के लोगों के उद्योग-धन्दे, वाणिज्य-व्यवसाय को नष्ट करता है; जो द्युति अर्थात् राष्ट्र के तेज को नष्ट करने वाली बातें करता है; जो स्तुति अर्थात् राष्ट्र के लोगों की प्रशंसनीय बातों और गुणों को नष्ट करता है; जो मोद अर्थात् राष्ट्र के लोगों के हर्ष को नष्ट करता है; जो मद अर्थात् राष्ट्र के लोगों की तृप्ति को नष्ट करता है; जो स्वप्न अर्थात् लोगों की सुख की नींद को नष्ट करता है; जो कान्ति अर्थात् राष्ट्र के लोगों की शोभा को बिगाड़ता है अथवा भयभीत करके उनकी इच्छाओं को नष्ट करता है; जो गति अर्थात् राष्ट्र के लोगों का स्वच्छन्दता से इधर-उधर विचरना रोक देता है; गति का अर्थ गति के सिवा ज्ञान और प्राप्ति भी होता है—जो राष्ट्र के ज्ञान को नष्ट करता है और लोगों की प्राप्ति को, आमदनी को, नष्ट करता है, वह ‘अदेवयु’ है—दस्यु है। ऐसे दस्यु को उसकी सुख की अवस्था से गिराने का—उसे दण्डित करने का, और आवश्यकता हो तो मृत्यु के घाट भी उतार देने का विधान राजा के लिये इस मन्त्र में किया गया है। दस्युओं को दण्डित करने का उपदेश राजा को और भी अनेक स्थानों पर दिया गया है। उदाहरण के लिये निम्न कुछ मन्त्र देखिये।—

तमु त्या वृत्रहन्तमं यो दस्यूरैवधनुषे । द्युमैरभि
प्रणो नुमः । ऋग् ० १।७८।४

दस्यून्निष्ठम्युंश्च पुरुहूत एवैहत्वा पृथिव्या शर्वा
निवर्हीत् । ऋग् ० १।१००।१८

अपावृणोज्ज्योतिरार्याय नि सव्यतः सादि
दस्युरिन्द्र । ऋगू० २।११।१८

हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नितारीत् । ऋगू०
२।२०।८

अयमग्निः पृतनापाट् सुवीरो येन देवासो
असहन्त दस्यून् । ऋगू० ३।२६।६

हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् । ऋगू० ३।३४।६

अरन्धयः शर्धत इन्द्र दस्यून् । ऋगू० ६।२३।२

पुरु च वृत्रा हनति निदस्यून् । ऋगू० ६।२६।६
त्वं दस्यूँरोकसो अग्न आज उरु ज्योतिर्जनय-

न्नार्याय । ऋगू० ७।५।६

युजा कर्माणि जनयन् विश्वौजा अशस्तिहा
विश्वमनास्तुरापाट् ।

पीत्वी सोमस्य दिव आ वृधानः शूरो निर्युधा-
धमदस्यून् ॥ ऋगू० १०।५५।८

विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः बर्हिष्मते रन्धय
शासद्व्रतान् ।

शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते
सधमादिषु चाकन ॥ ऋगू० १।५१।८

परा दस्यून् ददती देवपीयून् । अथर्व० १२।१।३७
इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

“हे अग्ने (सम्राट्) तू वृत्र अर्थात् राष्ट्रोन्नति के
अवरोधक लोगों और बातों का सब से श्रेष्ठ मारने
वाला है, तू दस्युओं को कम्पा देता है, ऐसे तुझे
को हम धनों के साथ प्रणाम करते हैं अर्थात् तुझे
नम्रता-पूर्वक कर आदि रूप में देय धन देते हैं ।”
“बहुतों द्वारा बुलाया जाने वाला वह इन्द्र (सम्राट्)
दस्यु लोगों को और अन्य शिष्यु^१ अर्थात् राष्ट्रो-
न्नति का उपशमन करने वाले लोगों को, गतिशील
मरुतों (एवैः)^२ अर्थात् सैनिकों द्वारा आक्रमण

करके, अपने शस्त्रों से पृथिवी में से मार डालता
है ।” “हे इन्द्र (सम्राट्) दस्यु तेरे वार्ये ओ-
पराजित पड़ा है, तूने दस्यु को मार कर वार्य
अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, सामाजिक
वर्ण मर्यादा में रहने वाले इन चार प्रकार के
लोगों के लिये प्रकाश कर दिया है ।” “इन्द्र
(सम्राट्) ने दस्यु लोगों को मार कर अपने प्रजा-
जनों की लोहे की प्राचीरों वाली नगरियों की रक्षा
कर ली ।” “यह अग्नि (सम्राट्) शत्रु सेनाओं का
पराभव कर्ता है, सुवीर है, जिसकी सहायता से
राष्ट्र के व्यवहार-शील लोग अथवा विजिगीषु सैनिक
(देवासः) दस्युओं का पराभव करते हैं ।” “यह
इन्द्र (सम्राट्) दस्यु लोगों को मार कर वार्य वर्ण
अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, सामाजिक
वर्णमर्यादा में रहने वाले इन चार प्रकार के लोगों
की रक्षा करता है ।” “बल के साथ उठते हुए
दस्यु लोगों को हे इन्द्र (सम्राट्) तू रांध डालता
है—नष्ट कर देता है ।” “यह इन्द्र (सम्राट्) बड़े-
बड़े राष्ट्रोन्नति के अवरोधकों (वृत्रा) और दस्यु
लोगों को मार डालता है ।” “हे अग्नि (सम्राट्)
तू दस्यु लोगों को स्थान से बाहर निकाल देता है
और इस प्रकार वार्य अर्थात् सामाजिक वर्णमर्यादा
में रहने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन
चार प्रकार के लोगों के लिये प्रकाश कर देता है ।”
“अपने सहयोग से (युजा) राष्ट्र में भाँति-भाँति
के कर्म कराने वाला, सब प्रकार के बलों वाला
अकल्याण का नाश करने वाला, सब का ध्यान
रखने वाले मन से युक्त (विश्वमनाः), शीघ्र ही
शत्रुओं का पराभव करने वाला, सोम अर्थात्
प्रजाओं द्वारा कर रूप में दिये गये ऐश्वर्य का पा-
करके, राष्ट्र के व्यवहारों की (दिवः) चारों ओ-

१. शमयितृन् वधकारिण इति सायणः ।

२. एवैर्गमनशीलैर्गमिणिभिः ।

वृद्धि करता हुआ यह शूर इन्द्र (सम्राट्) अप-

वना
ये श
के र
सव
सर
दा
“
ते
क
है
ह
।

शस्त्रों से दस्यु लोगों को भून डालता है।” “हे इन्द्र (सम्राट्) तू आर्य अर्थात् सामाजिक वर्ण-मर्यादा में रहने वाले चारों वर्णों के लोगों को और दस्यु लोगों को जान, शासन करने वाला तू अव्रत अर्थात् कर्म और नियम विधातक दस्यु लोगों को बर्हिष्मान्^१ अर्थात् यज्ञवान् अर्थात् सामाजिक संघटन में रहने वालों के लिये मार दे या वश में कर ले (रन्धय)^२ शक्तिशाली तू यजमान अर्थात् सामाजिक संघटन में रहने वालों को उत्तम कर्मों में प्रेरणा करने वाला वन, जिनसे मिलकर आनन्द प्राप्त किया जाता है ऐसे व्यवहारों में मैं तेरी उन सब प्रेरणाओं को चाहता हूँ (चाकन)^३।” “हे मातृ-भूमि तू देवों अर्थात् राष्ट्र के विद्वानों या व्यवहारशील लोगों को कष्ट देने वाले दस्यु लोगों को परे हटा देने वाली है।”

यहाँ अथर्व १२।१।५७ मन्त्र का “अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवी” यह अंश भी ध्यान में लाने योग्य है इसका अर्थ है—“हमारी मातृ-भूमि ने उन लोगों को जो राष्ट्र का क्षय करते हैं इस तरह उड़ा दिया है जैसे अश्व धूल को उड़ा देता है।” यहाँ यद्यपि दस्यु शब्द का प्रयोग नहीं है तथापि भाव वही है। दस्यु कहना या क्षयकारी जन कहना एक ही बात है। दस्यु का अर्थ क्षयकारी ही होता है।

इसी प्रसंग में अग्नि और इन्द्र के ‘दस्युहन्तम’^४

‘दस्युहा’^१ इन विशेषणों पर ध्यान कर लेना चाहिये। इनका अर्थ है ‘दस्युओं को मारने वाला’ अग्नि और इन्द्र के इन विशेषणों से भी यह स्पष्ट सूचित होता है कि (सम्राट्) का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के लोगों का उपक्षय करने वाले लोगों को नष्ट करता रहे।

दस्यु के लिये प्रायः ‘हन्’ क्रिया का प्रयोग आता है। हन् का अर्थ मारना होता है। परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक अपराध पर दस्यु को जान से ही मार डालना चाहिये। जैसे ऊपर यातुधानों के सम्बन्ध में लिखते हुए दिखाया है, वेद की सम्मति में पहले तो अपराधी को समझाया ही जाना चाहिये। यदि फिर भी न माने तो उसे दण्डित किया जाय और यदि उस पर भी न माने तो उसे मारा भी जा सकता है। हन् धातु का अर्थ भी केवल जान से ही मारना नहीं होता। इसका अर्थ ताड़ना करना भी होता है। “पाणिना जर्जरितमुखभागां वेणुलतामादाय नरपति प्रति बोधनार्थं सकृत् सभाकुट्टिममाजघान,” (कादम्बरी) “दण्डेन मां हन्ति,” आदि वाक्यों में इसका ताड़ना करना ही होता है। इसलिये दस्युओं के सम्बन्ध में भी इसके दोनों ही अर्थ लेने चाहियें। अपराध करने पर उन्हें सुधारने के लिये उनकी ताड़ना की जाये और आवश्यकता हो तो जान से भी मार डाला जाय।

घ. पिशाच

ऊपर के वर्णनों से पाठकों के ध्यान में आया होगा कि यातुधान, रक्षस् और दस्यु सभी प्रकार के प्रजोपपीडक लोगों को कहा जाता है। सामान्य पीडा जनक कार्यों से लेकर दूसरों को

१. बर्हिष्मन्त बर्हिष्मा यज्ञेन युक्तायेति सायणः । बृह बृहि बृद्धौ । बर्हिष्यञ्च । यज्ञोहि सर्वं वर्धयति ।

२. रन्धय हिंसां प्रापय यद्वा वशं गमयेति सायणः । रन्धयति वंशगमने इति यास्कः । नि० ६।१२

३. कामये इति सायणः ।

४. देखो ऋगू० ६।१६।१५॥८।३१.८॥ यजुः १.१।३४

१. देखो ऋगू० १।१००।१२॥ ६।४५।२४॥ ८।७६ १.१॥ ८।७७।३॥ अथ० २०।४२।२॥ २०।७८।३

मारकर उनका सांस तक खा जाने का घोर कर्म करने वाले सभी लोग सामान्येन इन तीनों नामों से व्यवहृत हो सकते हैं। जो लोग केवल दूसरों को मारकर उनके सांस खा जाने का घोर कर्म करते हैं उनका एक विशिष्ट नाम 'पिशाच'^१ भी है। इन पिशाचों को मारने का आदेश भी राजा के लिये वेद में स्थान-स्थान पर किया गया है। उदाहरण के लिये निम्न कुछ मन्त्र देखिये :—

पिशाचिमिन्द्रं सं मृण सर्वं रक्षो निवर्हय ॥
ऋग्वे० १।१३३।५॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः ।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमं यावय ॥
अथर्व० १२।१।५०॥

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरो
अस्य धृष्णुः ॥ अथर्व० ५।२६।१०॥

सहे पिशाचान्त्सहस्रैषां द्रविणं ददे ।
सर्वान् दुरस्यतो हन्मि सं म आनूतिर्कृध्यताम् ।
अथर्व० ४।३६।४॥

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममादिशे ।
अथ० ४।३६।७॥

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम ।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥
अथ० ४।३६।८॥

इन मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—
“हे इन्द्र (सम्राट्) तू पिशाच को मार डाल

और सब राक्षसों का नाश करदे।” “हमारे कामों में घुसने वाले (अप्सरसः)^१ और इस प्रकार हमें दुःखी और हिंसित करने वाले (गन्धर्वाः)^२ जो लोग हैं, जो कंजूस लोग हैं (अरायाः), जो छलिया लोग हैं (किमीदिनः)^३, जो पिशाच हैं, जो सब प्रकार के रक्षस् लोग हैं, उन सब को हे मातृभूमि अर्थात् मातृभूम्युपलक्षित राज्यशक्ति तू हमसे दूर करदे।” “सांस खाने वाले, रुकावट डालने वाले (रुधिरं), मन के हर्ष को मारने वाले, पिशाच को हे अग्नि तू मार डाल बली इन्द्र उसको अपने वज्र से मार डाले, धर्षणशील सोम उसके सिर को काट डाले।”

यहाँ इन्द्र के साथ आने के कारण अग्नि और सोम को राज्य के दो अधिकारी समझना चाहिए। अग्नि दौत्यकर्म करता है। जो समाचार लावे—ले जावे वह दूत कहलाता है। अग्नि का विभाग पिशाचों के समाचार लाकर सुनाता है और इस प्रकार वह एक रीति से उन्हें मारता ही है। सोम न्यायविभाग का अधिकारी है। सोम द्वारा पिशाचों को सिर काटने आदि का दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार वह भी एक रीति से पिशाचों को मारता ही है। इन्द्र राज्य के शासक हिस्से का प्रतिनिधि है। न्यायालय के विधान के अनुसार वह पिशाचों को दण्डित करता है। इस प्रकार यह तो असल में मारता ही है।

१. अपांसि कर्माणि सरन्तीत्यप्सरसः ।

२. गन्धः अर्दनकारी चासौ अर्वः हिंसाकापी च गन्धर्वः ।
गन्ध अर्दने—अच्+अर्व हिंसायाम्—अच् । शकन्धादि-
परूपम् ।

३. किमीदिने किमिदानीमिति चरते, किमिदं किमिदमिति वा
पिशुनाय चरते ॥ नि० ६।११॥

१. पिशाचशब्दस्य व्युत्पादनप्रकारस्त्वयम्—पिशितमश्ना-
तीति पिशाचः । पिशित+अश्+कर्मण्यण् । पृषोदरादनि-
यथोपदिष्टमिति शितभागस्य लोपः, अश भागस्य शाचादेशः
(शब्द कल्पद्रुमे) । यद्वा—पिशितमाचामतीति पिशाचः ।
पृषोदरादीनि यथोपदिष्टमिति इत भागस्य अम्भागस्य च
लोपः (वाचस्पत्ये) ।

बना
ये श
के र
सब
सग
दा
“ह
ते
क
है
ह
।
:
बना
ये श
के र
सब
सग
दा
“ह
ते
क
है
ह
।
:
“मैं अग्नि (सम्राट्) पिशाचों का पराभव
कर देता हूँ, मैं इनका बल-पूर्वक धन छीन लेता हूँ,
मैं प्रजा का अनिष्ट चाहने वाले सभी को मार देता
हूँ, मेरा प्रजा का कल्याण करने के विषयक संकल्प
(आकूतिः) सदा बढ़ता रहे।” “मैं अग्नि (सम्राट्)
जिस ग्राम में प्रवेश करता हूँ वहाँ से पिशाच
लोग नष्ट हो जाते हैं।” “जिस ग्राम में मेरा यह
उग्र तेज प्रवेश करता है वहाँ से पिशाच लोग नष्ट
हो जाते हैं और फिर पापकर्म को नहीं जानते—
अर्थात् पिशाच कर्म को छोड़ देते हैं।”

ये अन्तिम तीन मन्त्र अथर्व० ४।३६ सूक्त के
हैं। यह सूक्त आठ मन्त्रों का है। इसके प्रथम दो
मन्त्रों में प्रजाजन अग्नि (सम्राट्) से प्रार्थना कर
रहे हैं कि हे अग्ने जो हमें मारना चाहता है तू उसे
भस्म कर दे। शेष मन्त्रों में अग्नि (सम्राट्)
प्रजाजनों को अपने रक्षण का आश्वासन दे रहा
है कि तुम सर्वथा निर्भय रहो, मैं तुम्हारे हिंसकों
को नष्ट कर दूंगा।

ड. स्तेन और तस्कर

स्तेन और तस्करों के सम्बन्ध में राजा के
लिये वेद की जो आज्ञा है वह निम्न कुछ मन्त्रों से
स्पष्ट होती है :—

अप त्वं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।

द्विष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् । ऋगू० ६।५।१।३

स्तेनं राय सारमेय तस्करं वा पुनः सर ।

स्तोतुनिन्द्रस्य रायसि किमस्मान्दुच्छुनायसे
नि षु स्वप ॥ ऋगू० ७।५।३॥

रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्भ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा
तना च । ऋगू० ७।१०।१०, अथर्व० ८।४।१०

ये स्तेना ये च तस्करास्तांस्तेऽग्नेऽपि दधाम्या-
स्ये । यजुः १।१।७७

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने । ये

कक्षेष्वायवस्तांस्ते दधामि जम्भयोः । यजुः

१।१।७६

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति ।

पथामपद्यं सेनैतिवन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ।

अथर्व० ४।३।५

मा व स्तेन ईशत । अथर्व० ४।२१।७ ॥ ऋगू०

६।२८।७

नेमा इन्द्र गावो रिपन् मो आसां गोपती रिपत् ।

मासाममित्रयुर्जन इन्द्र मा स्तेन ईशत । अथर्व०

२०।१२।७।१३

सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः । अथर्व०

४।३६।७

न ता नशन्ति न दधाति तस्करः । ऋगू० ६।२८।३

अथर्व० ४।२१।३

परमेणोत तस्करः । अथर्व० ४।३।२

स्तेनानां पतये नमः । यजुः १६।२०

तस्कराणां पतये नमः । यजुः १६।२१

इनका अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—

“हे अग्ने (सम्राट्) पापशील, बुरा चिन्तन
करने वाले, हमारे शत्रु चोर (स्तेन) को परे फेंक
दीजिये, हे सत्पति हमारे लिये चजना फिरना
आसान (सुगं) कर दीजिये।” “लौटकर फिर
अपनी पुरानी जगह ही आजाने वाले (पुनः सर)
कुत्ते तू वहाँ जा जहाँ चोर (स्तेन)^१ वा डाकू
(तस्कर)^२ हों, हमें क्यों तंग करता है, सो जा,
हम तो इन्द्र (सम्राट्) के गुणों की स्तुति करने
वाले हैं।”

१. प्रच्छन्नधनापहारी स्तेन इति सायणः ।

२. प्रत्यन्नधनापहारी तस्कर इति सायणः ।

ये सुरंगं दत्त्वा परपदार्थापहारिणस्ते स्तेनाः, दस्यवो
द्यूतादिकापत्येन परपदार्थापहारीस्तस्कराः । इति
दयानन्दः ।

इस मन्त्र का भाव यह है कि हमारा सम्राट् बड़ा उत्तम प्रबन्ध करने वाला है, हम उसके प्रबन्ध की सदा स्तुति करते हैं, उसके प्रबन्ध से हमें स्तेन और तस्करों का खटका नहीं है, हे कुत्ते तू हमारी नींद भौंक-भौंक कर खराब मतकर, तू ने भौंकना ही हो तो वहाँ जाकर भौंक जहाँ स्तेन और तस्कर हों। मन्त्र की व्यञ्जना यह है कि राज्य-प्रबन्ध ऐसा उत्तम होना चाहिये कि प्रजा-जनों को कभी स्तेन और तस्कर का भय ही न हो—उन्हें स्तेन और तस्करों की सूचना देने के लिये कुत्ते रखने की भी आवश्यकता न पड़े।

“हे अग्नि (सम्राट्) चोरी करने वाला हमारा शत्रु भूत स्तेन तेरे द्वारा हिंसा को या क्षीणता को (द्वंशं) प्राप्त होवे, वह तेरे द्वारा दण्डित होकर अपने शरीर और सन्तानों से भी वियुक्त हो जावे।” “हे अग्नि (सम्राट्) जो (स्तेन)^१ हैं और जो तस्कर हैं हम उन्हें तुम्हारे आस्य अर्थात् कारागार में बन्द करते हैं।” “जो मलिन पापकर्म करके छिप जाते हैं (मलिम्लवः)^२ ऐसे जो पापाचारी स्तेन^३ (चोर) और तस्कर (डाकू) हैं, जो कि लोगों में ही रहते हैं, या जंगलों में रहते हैं, या नदी पर्वतादि की गुफाओं में (कक्षेषु) रहते हैं, उन सबको हे अग्नि (सम्राट्) हम तेरी जबड़ों जैसी दृढ़ पकड़ में डालते हैं।” “जो आज स्तेन हमारा धन अपहरण करने आता है, वह हमारे प्रहार से पिसकर लौटता है, उसे चलते-फिरते हुए मार्गों में ही नाश प्राप्त हो, उसे इन्द्र (सम्राट्)

मार्ग में ही अपने वज्र से मारदे।” “हे हमारी गौओं तुम्हें कभी चोर न ले जा सके।” यह मन्त्र खण्ड जिस सूक्त में आया है उसमें इन्द्र (सम्राट्) से गोवों का रक्षा और वृद्धि की प्रार्थना है। गृहपति कह रहा है कि क्योंकि इन्द्र की संरक्षा है इसलिये तुम्हें चोर नहीं लेजा सकेगा। मन्त्र की व्यञ्जना यह है कि राजा को ऐसा सुप्रबन्ध करना चाहिये कि प्रजाजनों के गौ आदि पशुओं को स्तेन न ले जा सकें। “हे इन्द्र (सम्राट्) ये गौवें नष्ट न हों, इनका गोपति (स्वामी या साँड) नष्ट न हो, कोई हमारा अमित्र पुरुष या चोर (स्तेन) इन्हें ले न जा सके।” “मैं अग्नि (सम्राट्) न चोरों (स्तेनैः) के साथ समझौता कर सकता हूँ और न वन में रहने वाले डाकू आदि (वनर्गुभिः) के साथ मैं समझौता कर सकता हूँ—अर्थात् इनको मैं नष्ट ही कर डालता हूँ।” “हमारी ये गौवें न तो नष्ट ही होती हैं और न ही तस्कर (डाकू) इन्हें दबा सकता है।” जिस सूक्त का यह मन्त्र है उसमें इन्द्र (सम्राट्) से गौओं की रक्षा और वृद्धि की प्रार्थना है। क्योंकि सम्राट् की रक्षा है इसलिये हमारी गौवें न नष्ट होती हैं और न ही तस्कर उन्हें ले जा सकते हैं। “तस्कर हम से बहुत दूर के मार्ग से होकर जावे।” जिस सूक्त का यह मन्त्र खण्ड है उसके अन्तिम मन्त्र में इन्द्र (सम्राट्) और सोम (न्यायाधीश) से जन्म रक्षा का विधान है। इसलिये इस मन्त्र खण्ड का भाव यह हुआ कि क्योंकि हमें इन्द्र और सोम की रक्षा मिल रही है इसलिये तस्कर डर के मारे हम से बहुत दूर होकर जाये। पास आया तो इन्द्र और सोम उसे छोड़ेंगे नहीं। “स्तेनों के पति को वज्र देना चाहिये।” “तस्करों के पति को वज्र (नमः)^१ देना चाहिये।”

१. मलं पापाधिक्यमपामस्तीति मलिनः तथाविधा भूत्वा म्लोचन्ति।

अवृश्याभवन्ति इति मलिम्लवः। इति महीधरः।

२. ये मलिनः सन्तो म्लोचन्ति गच्छन्ति इति दयानन्दः।

३. गुप्तचौराः स्तेनाः प्रकट चौराः तस्करा इति महीधरः।

स्तेना गुप्ताश्चौराः, तस्कराः प्रसिद्धा इति दयानन्दः।

१. नम इति वज्र नामसु पठितम्। निधं० २।२०

बना
ये
के
स
स
दा
“
ते
क
ह
ह
।

कई बार ऐसा होता है कि चतुर और शक्तिशाली स्तेन और तस्कर अपने अधीन दूसरे चोरों और डाकुओं का समुदाय एकत्र कर लेते हैं। ऐसे चोर और डाकुओं के समुदाय को तोड़ने के लिये आवश्यक होता है कि उनके मुखिया को पकड़ा जाये और दण्डित किया जाये। जब तक यह मुखिया (पति) बचा रहता है वह, उसके साथियों के पकड़े जाने पर, और स्तेन और तस्करों को एकत्र करके उनका गिरोह खड़ा करता रहता है। इन दोनों मन्त्रों में क्रम से स्तेनों (चोरों) और तस्करों (डाकुओं) के गिरोहों के मुखिया को वज्र से मारने का विधान है। ये मन्त्र खण्ड यजुर्वेद के रुद्राध्याय के हैं। राष्ट्र परक अर्थ में रुद्र का सामान्य अर्थ दुष्टों का रोदनकर्ता होने से राजा या राज्य समझ लेना चाहिये।

ऋषि दयानन्द, सायण और महीधरने अपने भाष्यों में स्तेन और तस्कर के जो अर्थ दिये हैं उन्हें हमने उन्हीं के शब्दों में नीचे टिप्पणियों में दे दिया है। इनके आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जिन्हें सामान्य भाषा में चोर कहा जाता है उन्हें वेद में स्तेन कहा गया है और जिन्हें डाकू कहा जाता है उन्हें वेद में तस्कर कहा गया है। यों स्तेन और तस्कर भी दस्युओं में ही आ जाते हैं। क्योंकि सभी प्रकार का उपक्षय करने वालों को दस्यु कहा जाता है। परन्तु चोरी और डाकेज़नी करने वाले दस्युओं के विशिष्ट नाम क्रम से स्तेन और तस्कर हैं।

च. व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी

मनुष्यों की तरह ही पशुओं और दूसरे जन्तुओं में जो प्रजोपपीड़क हिंसक प्राणी हैं उनसे भी राष्ट्र के लोगों की रक्षा करना राजा का एक कर्तव्य बताया गया है। उदाहरण के लिये अथर्व ४।३ सूक्त

में स्तेन, तस्कर, यातुधान पुरुषों से रक्षा के साथ-साथ व्याघ्र, वृक आदि हिंसक पशुओं और सांप, गोह आदि हिंसक जन्तुओं से भी लोगों की रक्षा करने का उपाय करना राज्य का कर्तव्य बताया गया है। सूक्त के मन्त्र इस प्रकार हैं—

उदितस्त्रयो अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः ।

हिरुग्धि यन्ति सिन्धवो हिरुग् देवो वनस्पति
हिरुडूमन्तु शत्रवः ॥१॥

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।

परेण दत्वती रज्जुः परेणावायुरर्पतु ॥२॥

अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।

आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ॥३॥

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।

आदुष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥४॥

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति ।

पथामपध्वं सेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥५॥

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपि शीर्णा उ पृष्टयः ।

निम्रुकू ते गोधा भवतु नीचा यच्छशयुर्मृगः ॥६॥

यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ।

इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्र जम्भनम् ॥७॥

अर्थात्—“व्याघ्र, दुष्ट पुरुष और वृक ये तीनों यहाँ से अर्थात् हमारे पास से उठकर चले जायें, जैसे नदियें ज़मीन में छिपकर चलती हैं, वनस्पति जंगलों में छिपे रहते हैं वैसे ही ये तीनों शत्रु भी हमारे लिये छिप जायें और झुक जायें अर्थात् अधीन हो जायें।” “वृक हमारे दूर के मार्ग से हो कर चले तस्कर और भी दूर के मार्ग से हो कर चले, दान्तां वाली रज्जु अर्थात् सांप हमसे दूर ही दूर चले, और भी जो प्राणी हमारे साथ पाप अर्थात् हमारी हिंसा करना चाहता है वह हमसे दूर से ही चले।” “तेरी आँखों को और तेरे मुख को हे व्याघ्र हम नष्ट कर देते हैं, और तेरे बीसों

नखों को भी ।” “दान्त वालों में अर्थात् हिंसकों में जो कि प्रथम है उस व्याघ्र को हम नाश कर देते हैं, स्तेन को भी, साँप को भी, यातुधान को और वृक को भी ।” “जो स्तेन आज आयगा वह पिसकर ही जायेगा. मार्गों में उसे नाश प्राप्त हो, इन्द्र (सम्राट्) उसे वज्र से मार दे ।” “मृग अर्थात् व्याघ्रादि हिंसक पशु के दान्त कुण्ठित (मूर्णाः) ^१ हो जायें, उसकी पसलियों चूर-चूर हो जायें, हे हमारे व्यक्ति तेरे लिये गोधा छिप कर चले, मार्ग में आकर सो जानने वाला और कोई हिंसक पशु भी तेरे लिये छिप जाये ।” “जो संयम अर्थात् तस्कर और व्याघ्रादि का वश में करना हो चुका है वह नियम नहीं हो सकता अर्थात् वशमें आये हुए तस्कर व्याघ्रादि वश से बाहर नहीं हो सकते, और जो वियम अर्थात् व्याघ्रादि का हमसे दूर भगा दिया जाना हो चुका है वह संयम अर्थात् समीप में आना नहीं हो सकता अर्थात् दूर भगाये हुये व्याघ्रादि हमारे पास फिर नहीं फटक सकते, क्योंकि हे व्याघ्र जम्भन अर्थात् व्याघ्रादि के नाशन कर्म तू इन्द्र और सोम से उत्पन्न होने वाला आथर्वण कर्म है ।”

सूक्त के इस अन्तिम मन्त्र का भाव समझ लेना चाहिये । पहले छः मन्त्रों में प्रजाजन दुष्ट पुरुषों, पशुओं और जन्तुओं से रक्षा की आशंसा कर रहे हैं । उनको मारने का भी वर्णन कर रहे हैं । सातवें मन्त्र में कह रहे हैं कि यह व्याघ्रादि के जम्भन अर्थात् नाशन का कर्म जो हम करते हैं वह असल में होता किस कारण है । यह नाशन होता इसलिये है कि यह इन्द्र और सोम से उत्पन्न (इन्द्रजाः,

सोमजाः) आथर्वण कर्म है । अर्थात् इस व्याघ्र-जम्भन कर्म को इन्द्र (सम्राट्) और सोम (न्यायाधीश) करते हैं । हम भी उनकी सहायता से यह कर्म कर लेते हैं । और यह इन्द्र और सोम का आथर्वण कर्म है । अथर्वा ^१ कहते हैं उसे जो विचलित न हो । अथर्वा का जो हो उसे कहेंगे आथर्वण । इन्द्र और सोम अथर्वा हैं । वे भय, लोभ आदि किसी भी बात से अपने प्रजापालन के कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं होते । बड़ी दृढ़ता के साथ अपने कर्तव्य को करते हैं । इस दृढ़ता का परिणाम यह होता है कि वे एक बार जिस तस्कर व्याघ्रादि का संयम कर देते हैं—उसे वश में कर लेते हैं—वह उनके वश से निकल नहीं सकता और जिसको वे परे भगा देते हैं वह लौट कर पास नहीं आ सकता इन्द्र के साथ सोम (न्यायाधीश) इसलिये पढ़ा कि सूक्त में तस्करादि दुष्ट पुरुषों को दण्डित करने का वर्णन है । दुष्ट पुरुषों को इन्द्र तभी दण्डित करेगा जबकि सोम द्वारा उनका अपराध प्रमाणित होकर उन्हें दण्ड विधान सुना दिया जायेगा । सोम के विधान के अनुसार ही इन्द्र अपराधी को दण्ड देगा ।

सूक्त में व्याघ्रादि के मारने का भी वर्णन है । सूक्त के अन्तिम मन्त्र में आये सोम शब्द की इस सम्बन्ध में यह ध्वनि है कि राज्य-कर्मचारी जंगलों में रहने वाले व्याघ्रादि पशुओं को यों ही व्यर्थ में न मार डालें । जब सोम की—न्याय-विभाग की—अन्वेष्टा द्वारा यह सिद्ध हो जाये कि अमुक व्याघ्रादि प्राणी कितना भयङ्कर है और वह प्रजा को कितनी हानि पहुँचा रहा है, तथा उसके हिंसक

१. मूर्च्छा मोढ समुच्छ्राययोः, मुव बन्धने । निष्ठा । राह्यप इति छकार वकारयो लोपः । रदाम्यामिति निष्ठा नत्वम् । मूर्णा मूढा बद्धा वा । कुण्ठिता इति यावत् ।

१. अथर्वाणोऽथर्वणन्तः थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः

स्वभाव को और होने वाली हानि को ध्यान में रखते हुए उसे कितना दण्ड देना होगा—दूर देश में भगा देना होगा, उसके दाँत और नाखून तोड़ देने होंगे या मार ही देना ठीक होगा—तभी इन्द्र अर्थात् शासन-विभाग के राज्य कर्मचारी किसी व्याघ्रादि को दण्डित कर सकेंगे। यह है वेद की न्याय व्यवस्था !

जिसे हिन्दी भाषा में बघेरा कहते हैं उसके लिये यहाँ व्याघ्र शब्द प्रयुक्त हुआ है। व्याघ्र, सिंह और चीते के बीच का प्राणी होता है। यह एक प्रकार का सिंह ही होता है। इसकी गर्दन पर सिंह की तरह केसर नहीं होते। इसकी घ्राण-शक्ति बड़ी तीव्र होती है। दूर से ही संघकर अपने

शिकार को जान लेता है। वृक भेड़िये को कहते हैं। और गोघा गोह को। मन्त्र में नामोल्लिखित व्याघ्र, वृक, साँप और गोघा को हिंसक प्राणियों का उपलक्षणमात्र समझना चाहिये। सभी हिंसक प्राणियों से प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्तव्य है। वेद में अन्यत्र भी इन और दूसरे प्राणियों को शासन करने का वर्णन है। हम विस्तार भय से अधिक मन्त्र उद्धृत नहीं करते। ऊपर वर्णित यातुधान, रक्षस्, दस्यु, पिशाच आदि को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में भी उद्धृत मन्त्रों से कहीं अधिक मन्त्र वेद में हैं। हमने उदाहरण के लिये केवल कुछ-कुछ ही मन्त्र यहाँ दिये हैं।

ट्रैक्टों का सिलसिला

सभा का साहित्य विभाग प्रति मास हिन्दी तथा उर्दू में समाजों में प्रचारार्थ मुफ्त बाँटने के लिये ट्रैक्ट प्रकाशित करता है। २५ प्रतिष्ठानों का एक पैकट प्रति मास मँगवाने पर २) वार्षिक चन्दा है। यदि आप का समाज अभी तक इस ट्रैक्टों के मासिक सिलसिले का ग्राहक नहीं बना तो शीघ्र ही २) मनीआर्डर द्वारा भज कर इस के अवश्य ग्राहक बन जाइये।

अध्यक्ष—साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

ऋभुओं का मर्त्यत्व ।

[ले०—पं० भगवद्भक्त जी, वेदालंकार]

प्रास्ताविक ।

मैं आज आपके सामने ऋभुदेवता-विषयक छोटा-सा निबंध लिये हुए उपस्थित हुआ हूँ। कहाँ यह अनन्त अथाह वेद पारावार और कहाँ मैं अल्पवयस्क, अल्पज्ञ तथा अल्पश्रुत साधारण व्यक्ति ! तथापि मैं यह दुस्साहस करने के लिये क्यों उद्यत हुआ हूँ, इसका उत्तर इस प्रकार है कि, अनुसंधान-विभाग के अध्यक्ष पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार की तरफ से मुझे ऋभुदेवता के ऊपर कार्य करने के लिये आज्ञा दी गई थी। उनकी अध्यक्षता में मैंने इस देवता के ऊपर परिश्रम किया। कुछ प्रमाण इकट्ठे किये और इन प्रमाणों के आधार पर कुछ परिणाम निकाले। यदि आप विद्वज्जनों की दृष्टि में मैं कुछ सफल समझा गया, तो यह केवल परिश्रम तथा प्रमाणों का ही परिणाम होगा। मेरे अन्दर कोई ऐसी प्रतिभा नहीं, जिससे कि मैं सर्व सत्य विद्याओं के भण्डार वेद को समझ सकूँ। वेदान्तर्गत सर्व सत्य-विज्ञानों का समझना और प्रकाशन करना, उन दिव्यज्योति ऋषि महर्षियों का ही काम है। मुझ जैसे अल्पज्ञ साधारण व्यक्ति के लिए यह काम बहुत-ही कठिन है। परन्तु फिर भी वेद में किये गये निरन्तर परिश्रम की प्रेरणा से मैं यह साहस कर सका हूँ, कि आप जैसे धुरंधर विद्वानों से इस अनन्त पार पारावार में कूदने के लिए आशीर्वाद ले सकूँ। बस यह आज्ञा से अनुप्राणित आशीर्वाद की आकांक्षा-ही मेरे इस दुस्साहस का कारण है। मुझे वेदार्थ-प्रकाशन में सफलता होगी या नहीं, यह तो संदिग्ध है। परन्तु यह तो

निश्चित ही है, कि मैं आपका आशीर्वाद अवश्य पाऊँगा। इस निश्चय का कारण है, आपकी उदारता में विश्वास।

वेदार्थ के लिए देवताज्ञान की कितनी आवश्यकता है, इस विषय पर पिछले दिनों में अनेक विद्वान् लिख चुके हैं। अतः मेरा और लिखना केवल पिष्ट-पेषण होगा।

देवता सम्बन्धी प्रश्नों के निर्णय में मैंने किस पद्धति का अनुसरण किया है, इसपर भी अधिक लिखना व्यर्थ होगा। केवल इतना कहना पर्याप्त है, कि मैंने उस पद्धति का अनुसरण किया है, जिसका अनुसरण पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार ने अपने 'सोम और मरुत' नामक निबंधों में किया है। एक वाक्य में वह पद्धति इस प्रकार है, कि वेद में आए हुए देवताओं के विशेषणों द्वारा उनकी विशेषताओं का पता लगाना। अब मैं प्रकृत विषय पर आता हूँ।

(१) ऋभुओं का मर्त्यत्व ।

ऋभुदेवता के विषय में सबसे प्रथम विचारणीय विषय यह है, कि क्या ऋभु पौराणिक गाथाओं के अनुसार मनुष्येतर अलौकिक जीव हैं अथवा इहलौकिक मानवीय जीव ?

निम्न ११ स्थानों पर 'नृ' शब्द ऋभुओं के विशेषण-रूप से आता है।

ऋग्वेद १।११।०६, १।११।०८, १।११।१३, १।१६।११, ३।६।०१, ३।६।०५, ४।३।३६, ४।३।४४, ४।३।४५, ४।३।४६, ४।३।४५॥

परन्तु इस पर यह आक्षेप हो सकता है, कि 'नृ'

शब्द केवल मनुष्य का ही वाचक नहीं, अपितु ‘नृ’ शब्द का अर्थ ‘नेतारः’ भी होता है। अतः इस आक्षेप का परिहार करने के लिये मनुष्यताद्योक्त अन्य विशेषणों पर भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना होगा। इन्हीं ऋभुओं के विशेषण-रूप से—

१. ऋभवः सुहस्ताः । (ऋग्वेद १०।६६।१०॥)
२. स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः । (ऋ० ४।३३।८॥)
३. देवानामृभवः सुहस्ताः । (ऋ० ४।३५।३॥)
४. स्वपस्याः सुहस्ताः । (ऋ० ४।३५।६॥)
५. शं नः ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः (ऋ० ७।३५।१२)
६. दमूनसो अपसो ये सुहस्ताः (ऋ० ५।४२।१२)

इन उपर्युक्त ६ स्थानों पर ऋभुओं के लिये ‘सुहस्ताः’ विशेषण आया है, अतः उत्तम हाथ पांव वाले ऋभु मनुष्य ही हैं, कोई अलौकिक जीव नहीं। यदि कोई इस पर भी कहे, कि उत्तम हाथ-पांव तो देवताओं के भी होते हैं, परन्तु उन हाथों में मनुष्येतर विशेषतायें होती हैं। अतः केवल “सुहस्ताः” ऐसा विशेषण आ जाने से उनके मर्त्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। इस पर मैं अन्य प्रमाण उपस्थित करता हूँ, वह यह है—

ऋग्वेद ४।३७।१ में उन्हें ‘मनुषः’ कहा गया है। अर्थात् वे मरणधर्मा मनुष्य हैं। इस पर भी यदि कोई विद्वान् ‘मनु’ का अर्थ मननशक्ति करे, तो उनके मर्त्यत्व में सब से प्रबल तथा अकाट्य प्रमाण ऋग्वेद १।११०।४ में आता है, यह इस प्रकार है—

‘विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तोऽमृतत्वमानशुः ।’ यहाँ पर कितना स्पष्ट वर्णन किया है ‘मर्तासः सन्तः’ वे मर्त्य हैं, मरणधर्मा हैं। ऋभुदेवताओं के मर्त्यत्व को सायण ने भी स्वीकार किया है। ऋग्वेद १ मं०, २० सू०, १ मं० की व्याख्या में आता है कि—

‘ऋभवो हि मनुष्याः सन्तस्तपसा देवत्वं प्राप्ताः ।’

यहाँ पर भी सायण ने “मनुष्याः सन्तः” ऐसा निर्देश किया है। केवल यहीं नहीं परन्तु अन्य कई स्थानों पर भी सायण यही बात कहता है। ऋग्वेद १ मं० १६१ सू० १ मं० की व्याख्या में—

‘ऋभवो नाम सुधन्वनस्त्रयः पुत्राः ऋभुर्तिभ्वा वाज इति ते च मनुष्याः सन्तः सुकर्मणा देवत्वं प्राप्य कदाचित् कर्मकाले सोमपानाय प्रवृत्ताः ।’ और ऋग्वेद १।१६१।५ की व्याख्या में आता है कि ‘देवयोग्यं त्वाष्ट्रचमसं मनुष्याः ऋभवः स्वीकृत्य चतुर्धा व्यभजन् ।’

अतः सायण ने भी कई जगह अपनी व्याख्या में ऋभुओं को ‘मनुष्याः सन्तः’ ऐसा कहा है।

परन्तु कई विद्वान् इसका यह भी समाधान कर सकते हैं, कि ‘मनुष्य होकर मरणोत्तर (मृत्यु के बाद) तपस्या के द्वारा ऋभुओं ने देवत्व प्राप्त किया ।’ परन्तु यह समाधान ठीक नहीं। प्रथम तो यह समाधान व्याकरण के प्रतिकूल है। ‘मनुष्य होकर मृत्यु के बाद ऋभुओं ने तपस्या के द्वारा देवत्व प्राप्त किया’ यदि यही अर्थ करना था, तो वेद में ‘मर्तासो भूत्वा’ ऐसा पाठ होता। और व्याकरण का दिग्गज पण्डित सायण भी अपनी व्याख्या में ‘मनुष्याः सन्तः’ ऐसा न करके ‘मनुष्याः भूत्वा’ ऐसा पाठ देता। परन्तु वेद में जब ‘मर्तासः सन्तः’ ऐसा सूर्यसमान चमकता हुआ ‘सन्तः’ पाठ मौजूद है तो सायण किस आधार पर ‘सन्तः’ के स्थानपर ‘भूत्वा’ पाठ कर देता? इसलिये यही उचित है, कि मनुष्य होते हुये वे देव कहलाये, न कि मनुष्य होकर ।*

* ऐतरेय ब्राह्मण ६।१२ में भी ऋभुओं का मर्त्यत्व अव्याहत रूप में विद्यमान है। वहाँ आता है—प्रजापतिर्वै पितृ ऋभून् मर्त्यान्तसतो मर्त्यान्कृत्वा तृतीयसवन आभजत् ।’ यहाँ पर भी ‘मर्त्यान्तसतः’ ‘मर्त्य होते हुए’ ऐसा स्पष्ट वर्णन है।

कई लोग यह कहकर आत्मसंतुष्टी कर सकते हैं, कि अमृतत्व का प्राप्त करना अलौकिक देवत्व का प्राप्त करना ही है। चूँकि देवता ही अमर होते हैं, मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धन में आता है। इस लिये अमृतत्व से यह स्पष्ट ही है, कि ऋभु तपस्या के द्वारा जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूट गए, अर्थात् अलौकिक जीव बन गए। परन्तु यह भी युक्ति-संगत नहीं। प्रथम तो 'मर्तासः सन्तः' ऐसा मौजूद है। इसकी मौजूदगी में यह कहना, कि 'वे जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूट गए' देखते हुए भी न देखना है। और दूसरे भौतिक दृष्टि से अमर होना यह तो नितांत असंभव है। हाँ! अध्यात्मिक दृष्टि से बहुत आदमी अमर हो जाते हैं।

राम और कृष्ण हमारे अन्दर विद्यमान नहीं, परन्तु उनकी आत्मा आज भी हिन्दुओं के हृदयों को नचा रही है। राम और कृष्ण अमर हैं, पर आध्यात्मिक दृष्टि से अमर हैं, भौतिक दृष्टि से नहीं। ऋभुओं के अमृतत्व का भी यही तात्पर्य है। शतपथ-ब्राह्मण में "नामृतत्वस्याशास्ति" (२।२।२।१४) भौतिक दृष्टि से अमृतत्व की कोई आशा ही नहीं। इस प्रकार कह कर स्पष्ट ही भौतिक अर्थों में अमृतत्व का प्रत्याख्यान किया है।

अतः इस वाक्य की उपस्थिति में कहीं भी किसी मनुष्य के सम्बन्ध में अमृतत्व का अर्थ भौतिक दृष्टि से अमरत्व करना वैदिक वाङ्मय के विरुद्ध है और पौराणिक लोगों की दृष्टि में तो वेद विरुद्ध है; क्योंकि वे तो शतपथ-ब्राह्मण को साक्षात् वेद मानते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में तो अमरत्व की भावना ही दूसरी है। श० ब्राह्मण ६।५।१।१० में आता है "एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति" सारी आयु का भागना ही अमरत्व है। और वह सारी आयु

'शतायुर्वै मनुषः' में स्पष्ट कर दी गई है, कि मनुष्य की आयु सौ साल तक है। इसी प्रकार तांडव ब्राह्मण में भी यही भावना पाई जाती है 'एतद्वाव मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति' (ता० २२।१२।२) अतः सारी आयु का भोगना ही अमृतत्व है। इस लिए ऋभु हम आप सरीखे मनुष्य हैं, यह बात सिद्ध करके हम आगे चलते हैं।

(२) ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति ।

अब यह निर्णय करने के लिये कि वे किस प्रकार के मनुष्य हैं, हमें ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति देखनी पड़ेगी। भगवान् यास्क ने निरुक्त में ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—

‘उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वेति ॥

जो बहुत चमकते हैं। ज्ञान अथवा सत्य के कारण बहुत चमकते हैं और जिनकी सत्ता, ज्ञान और सत्य में ही है।

और 'ऋभवो मेधावि नामसु पठितम्।' इस प्रकार निघण्टु ३।१५ में इन्हें 'मेधावी' नामों में पढ़ा है। इस प्रकार निघण्टु और निरुक्त से यह पता चलता है कि वे अत्यन्त बुद्धिमान् हैं, अपने विद्या-बल के कारण संसार में चमकते हुए सितारे हैं।

(३) ऋभुओं का त्रित्व ।

ऋभु—सूक्तों में कई मन्त्र ऐसे आते हैं, जिनसे ऋभुओं का त्रित्व पता चलता है अर्थात् ऋभु तीन हैं। वे मन्त्र निम्न हैं।

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ
इत्यन्यो अब्रवीत्। वधर्यन्ती बहुभ्यः प्रैको
अब्रवीत्ता वदन्तश्चमसां अर्पिशत।

(ऋग्वेद १।१६।१६)

४२१

बना
ये ३
के २
सब
सग
दा
“
ते
क
है
ह
।

आपो भूयिष्ठा इति एकः । यह प्रथम ऋभु है ।
अग्निर्भूयिष्ठ इति अन्यः । „ दूसरा „ „
वधर्यन्ती बहुभ्यः प्र एकः । „ तीसरा „ „
इसी प्रकार अगले मन्त्र में भी ऋभुओं का
त्रित्व दर्शाया गया है—

श्रोणामेक उदकं गामवाजति मांसमेकः पिंशति
सूनयाभृतं । आ निम्रुचः शकृदेको अपाभरत्
किंस्वित्पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः ॥

(ऋक् १।१६।१०)

श्रोणामेक उदकं गामवाजति—यह प्रथम ऋभु है ।
मांसमेकः पिंशति सूनयाभृतम्— „ दूसरा „ „
आनिम्रुचः शकृदेको अपाभरत्— „ तीसरा „ „
अगले मन्त्र में तो उनके त्रित्व का अत्यन्त स्पष्ट
वर्णन है ।

ज्येष्ठ आह चसमा द्वा करेति कनीयान् त्रीन्
कृण्वामेत्याह । कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट
ऋभवस्तत्पनयद्वचो वः ॥ (ऋ० ४।३३।५)

यहाँ पर ज्येष्ठ, कनीयान् और कनिष्ठ शब्दों से
उनके त्रित्व का स्पष्ट वर्णन किया गया है । अतः
यह तो मानना ही पड़ेगा कि यहाँ तीन ऋभुओं का
वर्णन है ।

(४) ऋभुओं का पारस्परिक सम्बन्ध ।

ऋभुओं के त्रित्व की सिद्धि में जो एक मन्त्र
दिया गया था—

ज्येष्ठ आह चसमा द्वा करेति कनीयान् त्रीन्
कृण्वामेत्याह । कनिष्ठ आह चतुरस्करेति
त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद्वचो वः ॥ (ऋ० ४।३३।५)

इस मन्त्र में ज्येष्ठ, कनीयान् और कनिष्ठ शब्दों
से ऋभुओं का आपस में भ्रातृत्वसम्बन्ध भी व्यञ्जित
होता है । कदाचित् ऐतिहासिकों ने इसी आधार
पर उन्हें वास्तविक भाई समझ कर उनमें परस्पर
भ्रातृत्व की कल्पना कर ली हो । और इस ही

ऐतिहासिक पक्ष का आश्रय लेकर सायण ने भी
अपने भाष्य में जगह-जगह पर उनके भ्रातृत्व को
प्रदर्शित किया है । जब उनमें भ्रातृत्व की कल्पना
कर ली गई तो उनका कोई पिता भी होना चाहिए ।
इसी ही बात को सायण ने अपने भाष्य ऋक्
१।११।०२ में इस प्रकार दर्शाया है ।

‘ऋभुर्विभ्वावाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य
त्रयः पुत्राः बभूवुरिति ।’ अर्थात् ऋभु, विभ्वा और
वाज ये तीन आङ्गिरस सुधन्वा के पुत्र हैं । अब
विचारणीय विषय यह है, कि क्या सुधन्वा कोई
व्यक्ति विशेष था, जिसके ये तीनों ऋभु, विभ्वा
और वाज पुत्र थे और आपस में भाई-भाई कह-
लाते थे अथवा ये सब काल्पनिक हैं ?

पूर्व पक्ष—सायण का पक्ष है कि आङ्गिरा का पुत्र
सुधन्वा व्यक्ति विशेष था, जिसके ये तीनों ऋभु पुत्र
थे और आपस में भाई-भाई कहलाते थे ।

उत्तर पक्ष—हमारा पक्ष है कि यह सब काल्प-
निक है, सुधन्वा कोई व्यक्ति विशेष नहीं था, नाही
उसके ये तीनों पुत्र थे और नाही उनमें परस्पर
भ्रातृत्व का सम्बन्ध था ।

(१) युक्ति—ऋभु, विभ्वा और वाज इन तीनों
में बहुवचन का प्रयोग मिलता है ।

“तद्वो वाजा ऋभवः सुप्रवाचनं देवेषु विभ्वो
अभवन् महित्वनम् ॥ (ऋक् ४।३६।३)

वाजाः, ऋभवः और विभवः इन तीनों के अंदर
बहुवचन का प्रयोग मिलता है । यदि ये तीनों एक-
एक व्यक्ति थे तो इनके नामों में बहुवचन का प्रयोग
क्यों किया गया ? इसका हमें कोई आधार नहीं
मिलता ।

इसलिये इससे प्रतीत होता है कि ये तीन व्यक्ति
नहीं हैं, तीन classes अर्थात् तीन वर्ग हैं जिनमें ऋभु
भी बहुत सारे हैं, वाज और विभ्वा भी बहुत सारे हैं ।

यहाँ कई लोग विप्रतिपत्ति उठा सकते हैं कि निरुक्तकार यास्काचार्य ने विभ्वा को तो नित्य एकवचनान्त माना है, जैसा कि निम्नलिखित प्रमाण से मालूम पड़ता है—“ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आंगिरसस्य त्रयः पुत्राः बभूवुः । तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवचनिगमा भवन्ति न मध्यमेन ॥ (देवत काण्ड ११ अ० २ पा० १३ ख० १०) और केवल इतना ही नहीं, ‘विभ्वन्’ शब्द का “विभ्वः” बहुवचनान्त प्रयोग व्याकरण के अनुसार बन भी नहीं सकता । अतः विभ्वन् को बहुवचनान्त ‘विभ्वः’ मानना ठीक नहीं । इसका उत्तर यह है, कि जब वेद में ऋभवः और वाजा बहुवचनान्त में आये हैं तो ‘विभ्वः’ को हम क्यों न बहुवचनान्त मानें ? व्याकरण की बात यह है, कि वेद में इस प्रकार बहुत जगह व्यत्यय देखे जाते हैं । प्रकरण तो यही कहता है, कि विभ्वः को भी बहुवचनान्त माना जाये । अथवा निरुक्तकार और व्याकरण के सामने हम प्रकरण को दुर्बल भी मान लें तो भी ऋभु और वाज के बहुवचनान्त होने में तो किसी को लेशमात्र भी सन्देह नहीं है । यह तो सर्ववादी सम्मत है । इसलिये ऋभु और वाज के बहुवचनान्त होने से वे पुत्र नहीं हो सकते, Classes अर्थात् वर्ग मानने पड़ेंगे । इसी प्रकार उनके साहचर्य से विभ्वा भी कोई (पुत्र) व्यक्ति नहीं हैं, यह भी एक वर्ग है । ऐसा हमें मानना चाहिये ।

पूर्वपक्ष—कई लोग यह कह सकते हैं कि, जिस प्रकार ‘रघवः’ गोत्रवाची शब्द है, इसी प्रकार ‘ऋभवः’ भी बहुतसारे के लिये गोत्रवाची प्रयोग हो सकता है । परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं । चूँकि उनमें एक वर्ग का नाम भी ऋभु है और तीनों के लिये भी ‘ऋभवः’ शब्द का प्रयोग मिलता है और पिता का यह नाम है नहीं । इसलिये यह ऋभु शब्द गोत्रवाची भी नहीं हो सकता । चूँकि भाई

के नाम से गोत्र कहीं नहीं चला करता, पिता नाम से ही सदा गोत्र चला करता है । कोई यह भी कह सकता है, कि ऋभुओं को “सौधन्वनासः” या “सौधन्वनाः” इस शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है । अतः यही गोत्रवाची नाम मान लिया जाये । मेरी सम्मति में ऐसा मानना भी ठीक नहीं । यदि उन्हें ‘सौधन्वनासः’ या ‘सौधन्वनाः’ इस गोत्रवाची नाम से सम्बोधित करना था तो ‘ऋभवः’ यह शब्द उन सबके लिये सामान्य रूप से प्रयोग में न आता । चूँकि ऋभु शब्द तो एक का ही नाम है । विभ्वा और वाज का नहीं है । परन्तु ऋभवः शब्द उन सब के लिये प्रयुक्त होता है, अतः ‘सौधन्वनाः’ या ‘सौधन्वनासः’ गोत्र के रूप में नहीं है । अपितु वेद का इन्हें ‘सौधन्वनाः’ कहने का कुछ और ही भाव प्रतीत होता है । वह भाव हमारी सम्मति में यह है जो कि इनके स्वरूपों, विशेषणों आदि से पता चलता है ।

सुधन्वा का अर्थ यह है कि उत्तम मारने की शक्ति से युक्त एवम् (व्युत्पत्ति)—यन्त्रविद्या ।

इनके स्वरूपों अथवा विशेषताओं को तो आगे ही दर्शाया जायेगा, परन्तु सङ्केत मात्र यहाँ यही कहा जा सकता है कि ये तीन Crafts हैं । ये तभी काम कर सकते हैं जब कि सुधन्वा—अर्थात् आम रक्षा के साधनों से युक्त राजा इनकी रक्षा करता हो । अथवा दूसरा भाव यह प्रतीत होता है, कि ये राजा के रक्षा आदि कार्यों में सर्वश्रेष्ठ सहायक हैं । युद्धके समय ही इनकी योग्यता पता चलती है । कुछ भी हो इतना स्पष्ट है, कि ये सुधन्वा व्यक्ति विशेष के पुत्र नहीं हैं । चूँकि मरुत और रुद्र को भी सुधन्वा नाम से कहा गया है जैसा कि ऋग्वेद ५।४२।११ से पता चलता है कि यहाँ सुधन्वा रुद्र है । मन्त्र इस प्रकार है—

वना तमुष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति
ये श भेषजस्य । यक्ष्वामहे सौमनसाय रुद्रं नमोभि-
के र देवमसुरं दुवस्य ॥ (ऋ० ५।४२।११)

सब एक दूसरे मन्त्र में मरुतों को भी सुधन्वा शब्द
सम से याद किया गया है ।

दा वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान
“इषुमन्तो निषङ्गिणः । स्वश्वाः स्थ सुरथाः
ते पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम् ।
क (ऋग्वेद ५।५७।२) ।

ह और वेद की यह शैली भी है कि, काल्पनिक
ह या आलंकारिक पुत्रत्व उसमें कई जगहों पर पाया
ह जाता है । ‘रुद्रस्य पुत्राः’ (ऋ० ६।६६।३)
‘सहसस्पुत्राः’ ‘ऋतस्यपुत्राः’ (१।१६४।११)
‘दिवस्पुत्रा’ (ऋ० ४।२।१५) ‘पृश्नेः पुत्राः’
‘(ऋ० ५।५८।५) ।

इसी प्रकार ऋभुओं के लिए आए हुये ‘सौधन्व-
नासः’ ‘सौधन्वनाः’ ‘मनोर्नपातः’ ‘शवसो नपातः’
इत्यादि शब्द भी इसी भावना से ओतप्रोत समझने
चाहिँ ।

इसी प्रसंग में एक और बात विचारणीय है,
वह यह कि क्या सुधन्वा अंगिरा का पुत्र था जैसा
कि ऐतिहासिकों ने तथा सायण ने कल्पना की है ।
इस पर हमारा कहना यह है कि—

(१) वेद में बृहस्पति के लिए तो आंगिरस शब्द
का प्रयोग मिलता है, परन्तु सुधन्वा के लिए कहीं
नहीं मिलता । इससे पता चलता है कि सुधन्वा के
लिये आंगिरस की कल्पना पीछे की गई । अतः इस
बात से हमारे इस सिद्धान्त की ज्यादाह पुष्टि होती
है कि—वेद में वंशपरंपरा काल्पनिक तथा अलंकार-
परिपूर्ण है ।

(२) और बृहस्पति के लिए जो आंगिरस शब्द
का प्रयोग वेद में मिलता है, वह भी काल्पनिक तथा
अलंकारगर्भित है ।

एतरेय ब्राह्मण ३।३४ में आता है कि—

येऽगारा आसँस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः
पुनरवशांता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत् ।

जो प्रदीप्त अंगारे थे उनका नाम आङ्गिरस पड़ा ।

और जब वे अङ्गारे शांत होकर फिर प्रदीप्त किए
गये, तब उनका नाम बृहस्पति पड़ा । इससे आपको
स्पष्ट पता चल गया होगा कि बृहस्पति को ही
आङ्गिरस कहते हैं ।

इसी प्रकार अङ्गिरा शब्द तो बहुतों के लिए
आया है, जैसा कि शतपथ ६।१।२।२८ में आता है
कि, ‘प्राणो वा अङ्गिराः ।’

(३) प्राण को भी अङ्गिरा कहा है, केवल इतना
ही नहीं ऋ० १।३।११ में आता है, कि ‘त्वमग्ने प्रथमो
अङ्गिरा... ।’ हे अग्नि, तू पहला अङ्गिरा है । फिर
दूसरे मन्त्र में कह दिया कि ‘त्वमग्ने प्रथमो
अङ्गिरस्तम...’ इन मन्त्रों से स्पष्ट पता चलता है
कि अङ्गिरा भी वही है और ‘अङ्गिरस्तम’ भी वही
है । यदि अङ्गिरा कोई व्यक्ति विशेष है, तो उसके
लिए अङ्गिरस्तम शब्द का कैसे प्रयोग किया जा
सकता है ? चूँकि तर और तम प्रत्यय व्यक्तित्व-
वाची शब्दों के साथ कभी नहीं लगाये जाते ।
इसलिये अंगिरा भी कोई व्यक्ति विशेष नहीं है और
यह गोत्रवाची शब्द भी नहीं है । कई लोगों को
यह भी शंका हो सकती है, कि यदि ऋभुओं के
अन्दर पुत्रत्व की भावना वेद विरुद्ध है, तो यास्क
ने अपने निरुक्त में ऋभुओं को पुत्रत्वरूप में क्यों
दर्शाया ? जैसा कि निरुक्त में आता है—

ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः

पुत्राः बभूवुः । तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवर्णिगमा
भवन्ति न मध्यमेन ।

(११ अ० २ पा० १३ खं० १०२)

इस प्रकार चूँकि उसने ऋभुओं को पुत्रत्वरूप से दर्शाया है और इस कथानक का खण्डन नहीं किया और ना ही, उसको ऐतिहासिकों का पक्ष बतलाया अतः इससे यह प्रतीत होता है कि निरुक्तकार यास्काचार्य को भी ऋभुओं का पुत्रत्व, सुधन्वा का पितृत्व तथा अङ्गिरा का पितामहत्व ही अभीष्ट था। इसलिए अङ्गिरा तथा ऋभुओं को तो हमें व्यक्ति विशेष ही मानना चाहिये, ऐसी जिनके अन्दर शंकायें उत्पन्न होती हों, उन्हें चाहिए कि वे अपनी इन शंकाओं को दूर कर दें। चूँकि यास्काचार्य का यह तरीका है, कि जिनकी उन्होंने व्युत्पत्ति दी है उनको वे व्यक्ति विशेष मानते ही नहीं और जिनको वे व्यक्ति विशेष मानते हैं उनकी उन्होंने कहीं पर भी व्युत्पत्ति नहीं दी।

ऋभवः, विभ्वा और वाज की यास्काचार्य व्युत्पत्ति दी है, इसलिए ये व्यक्तिवाची नाम हैं। इस विवाद में मैं ज्यादा पढ़ना नहीं चाहूँ कि पिछले दिनों बहुत सारे विद्वानों ने इस पर्याप्त प्रकाश डाला है। इतना स्पष्ट है कि ऋ विभ्वा और वाज उनके मत में व्यक्तिवाची शब्द नहीं हैं और जो मत उन्होंने पुत्रत्व आदि दृष्टि अपने निरुक्त में दिखा रक्खा है, वह उनका अप्रामाण्य मत नहीं, वह ऐतिहासिकों का मत है। अतः अङ्गिरा सुधन्वा तथा ऋभु कोई व्यक्ति विशेष नहीं हैं उनके पितृत्व तथा पुत्रत्वादि सम्बन्ध काल्पनिक तथा आलंकारिक हैं और पितृत्व तथा पुत्रत्वानि सम्बन्ध का काल्पनिक वर्णन करना वेद की शैली है।

उपनिषत् और वेदार्थ

[श्री पं० चन्द्रकान्त जी, वेदवाचस्पति आचार्य गुरुकुल सोनगढ़ (काठिवाड़)]

वेद का उपनिषदों से कैसा सम्बन्ध है? इस उपनिषत् शब्द के विषय के स्पष्टीकरण के लिये हमें विभिन्न अर्थ सर्वप्रथम 'उपनिषद्' शब्द के अर्थ पर ध्यान देना चाहिये। जैसे उपनिषदों का अर्थ सुलभ नहीं, वैसे 'उपनिषत्' शब्द का अर्थ भी सुलभ नहीं। उपनिषत् का मौलिक वाच्यार्थ "गुरु और शिष्य की गुप्त मण्डली" (i) A confidential secret sitting (congregation) है। लक्ष्यार्थ "गुरु के चरणों में बैठ कर सीखने योग्य शब्द"—"ब्रह्मात्मिका अपरा गुह्यविद्या" "Secret teaching" है। (उपनिषद्वत्ते प्राप्यते ब्रह्मविद्या जनया इत्युपनिषत्) (ii) शंकराचार्य की सम्मति में भी उपनिषत् का अर्थ "उपनिषत् सादयति अविद्यां नाशयत्युपनिषत्" इस निरुक्ति के अनुसार भी ब्रह्मविद्या-गुह्यविद्या ही

उपनिषत् है। किन्तु परिपत् यदि समुदाय की सभा का नाम है तो उपनिषत् अल्प समुदाय का मन्त्र चिन्तन है। दूसरे शब्दों में उपनिषत् गुह्यविद्या है Secret वा Esoteric science ही नहीं, परन्तु Mystic science भी है। इसीलिये उपनिषदों का "इति रहस्यम्" (नृसिंहिड), "गुह्य आदेशः" (छान्दोग्य० ३-५, २), "परमं गुह्यम्" (कठो० ३-१७) आदि नामों से वर्णन किया गया है। अतः उपनिषद् शब्द का मुख्य अर्थ गुह्यविद्या-ब्रह्मविद्या ही है (iii) इसके अतिरिक्त उपनिषद् ग्रन्थों में ज्ञानगर्भित सूत्ररूप वाक्यों को भी उपनिषत् संज्ञा दी गई प्रतीत होती है।

१. यथा—“यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन, य एवं वेद इत्युपनिषत्। (तै० उ०)

बनाये शक्य है। जहाँ से मन के साथ वाणी पीछे लौट जाती ऐसे ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला किसी से रता नहीं। जो इस प्रकार जानता है वह यह उपनिषत् है।

२. उपनिषत् का अर्थ—रहस्य “तस्योपनिषत्”

तस्यस्य सत्यम्, प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्,

[० आ० ३० ३-४-१०]

उसका उपनिषत् अर्थात् रहस्य वाक्य “सत्यं सत्यम्” है “प्राण निश्चय से सत्य है” इस प्रतीक में “सत्यस्य सत्यम्” यह वाक्य उपनिषत् है।

३. तज्जलान् (छा० ३-१४-१, तद्वनं (केन ४-८), संयद्वाभ, वामती (छा० ४-१५-२४) इत्यादि गुह्य अर्थ वाले वाक्यांशों को उपनिषत् कहा गया है।

इस प्रकार उपनिषत् शब्द “रहस्य विद्या” अर्थ में योगरूढ़ प्रतीत होता है। इसी कारण “वात्स्यायन कामसूत्र” तथा “कौटिल्य अर्थ शास्त्र” में गुह्यरूप से समझाने योग्य प्रकरण के अधिकरण को ‘उपनिषत्’ नाम दिया गया है। अस्तु—

इसी प्रकार उपनिषत् शब्द के अर्थ के निर्णय वेद ब्रह्म विद्या का हो जाने पर उपनिषदों का वेदों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि वेद और उपनिषत् एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते। उपनिषदों के बिना वेद निर्जीव हैं और वेदों के आश्रय के बिना उपनिषदों की सत्ता नहीं है। उपनिषदें जिस ब्रह्मविद्या को पुकार रही हैं, वेद भी उसी ब्रह्मविद्या की घोषणा करते हैं। यह विषय उपनिषत् की निम्न श्रुति से प्रमाणित हो सकता है—

सर्वे वेदा यत्पदमाप्नुवन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।

यदि छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्यो मित्येतत् (क० ५-१५)

“सारे वेद जिस पद का बार-बार वर्णन करते हैं, तपस्वियों के समस्त तप जिस को दर्शाते हैं, जिसको पाने के लिये ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य करते हैं उस पद को संक्षेप से कहता हूँ—यह “ओ३म्” अक्षर है।”

इस श्रुति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि समस्त वेद ईश्वर का वर्णन करते हैं, संपूर्ण वेद मंत्रों की ध्वनि उसी ब्रह्म में लीन हुआ करती है। यह बात वेद मंत्र से भी प्रमाणित है। इसी बात को महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार कहा है कि समस्त वेद मंत्र ईश्वर परक हैं। यदि वेदों की इस ब्रह्म-विद्यारूपा आत्मा को वेदों से दूर कर दिया जाये तो वेद भौतिक अग्नि, वायु, सूर्य और चाँद आदि के वर्णनमात्र ही रह जायेंगे।

वेद की इस वास्तविक spirit को न समझने के कारण ही पौराणिक काल के पण्डितों ने वेदों को शुष्क काण्ड का विषय बना दिया। जिसके परिणाम स्वरूप वेदों का मनमाना विनियोग होने लगा, यज्ञों के अनर्थ प्रारंभ हो गये और वेदों का वास्तविक वैज्ञानिक अर्थ हमारे सामने से ओझल हो गया। अस्तु—

एवं हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वेदों और उपनिषदों का एक ही प्रतिपाद्य विषय है। वेदों में यदि अधिदैव तथा अधिभूत वर्णन आते हैं तो अध्यात्म के वर्णन भी अवश्य होने चाहिये। इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने के लिये ही ये ‘उपनिषद् ग्रन्थ’ बने हैं। वेदों के ज्ञान विषयक मन्त्रों की उपनिषदों में व्याख्या है। बहुत से विद्वानों का तो यहाँ तक आग्रह है कि यजुर्वेद के

१. ऋचोऽन्तरे परमे व्योमन् यस्मिन्देव अग्निर्विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद स किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तस्मै समासते ॥

२. देखो “उपनिषदों की भूमिका” पं० इन्द्रजी कृत (पृ० ५७)

—केन उपनिषद् में “केनेषितं पतति” इत्यादि श्रुति से मन,

४० वें अध्याय या ईशावास्योपनिषत् को ही आधार मान कर सब उपनिषदें लिखी गई हैं।

इस धारणा को यदि उपेक्षा भी की जाये तो भी हमारे पास कतिपय प्रमाण इस बात को सिद्ध करने के लिये हैं कि उपनिषद् वेदाश्रित हैं। इससे विपरीत जिन लोगों का यह कहना है कि उपनिषदों के ऊँचे-ऊँचे विचार संहिताओं में अंकुर रूप में भी विद्यमान नहीं हैं, उनको इस बात का (१) ध्यान रख कर कि प्रसिद्ध उपनिषदों के तत्त्वों के आधार में ऋग्वेदादि के मन्त्र हैं अपना मन्तव्य परिवर्तित कर देना चाहिये। मैत्रेयी उपनिषत् (२) और कौषीतकी आदि उपनिषदों में तो पद-पद पर ऋग्वेद के मंत्र औपनिषदिक विचारों की पुष्टि में दिये गये हैं। इस के सिवाय अन्य समस्त उपनिषदों में.....(३) पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१३०), केन पाष्णी सूक्त (अथर्व० १०।२) स्कंभ सूक्त (अथ० १०।७।२), ब्रह्मणस्पति सूक्त (ऋ० १०।७२), वाक् सूक्त (ऋ० १०।१२६), हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋ० १०।१२१) वैश्वानर सूक्त तथा अघमर्षण आदि सूक्तों में प्रदर्शित दार्शनिक विचारों के प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही (४) शुक्र यजुर्वेद-संहिता का शिव-संकल्प अध्याय (वा० स० ३४), रुद्राध्याय (१६) अश्वमेध - उपनिषदध्याय (२६) तथा पुरुष सूक्त केवल कर्म-काण्ड परक ही नहीं है प्रत्युत उपासना परक होने से उपनिषदों के तुल्य कोटि के ही हैं। इसलिये भी उपनिषद् की अध्यात्म भाव-

प्राण आदि क प्रेरक के विषय में प्रश्न उठा कर “श्रोत्रस्य श्रोत्रम्” आदि श्रुति से उत्तर दिया है कि ब्रह्म ही प्रेरक है। आगे “न तत्र चक्षुर्गच्छति” श्रुति द्वारा उस ब्रह्म का वर्णन किया गया है। केन उपनिषत् के उपरिलिखित आशय को “अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्वा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्” इस ईशोपनिषत् श्रुति ने सूत्र रूप में प्रकट कर दिया है। इसी प्रकार कठ, प्रश्न आदि उपनिषदों के अन्तर्निहित गूढ़ाशय को समझ कर ईश की श्रुतियों से तुलना की जा सकती है।

नाओं का स्रोत वेदों को ही मानना उचित है। हम इस प्रकरण में पाठकों के सामने यह रखना चाहते हैं कि जिस प्रकार वेदों के जानने में ब्राह्मण ग्रन्थों की शैली अत्युत्तम साधन है वैसे ही उपनिषदों की शैली भी एक उत्तम साधन है। उपनिषदें वेदों की किस प्रकार की व्याख्यायें हैं? इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये हमें निम्न विषयों पर विशेष विचार कर लेना चाहिये।

(i) क्या उपनिषदें वास्तव में वेदों के आश्रित हैं? (ii) यदि हैं तो उनकी वर्णन शैली क्या है?

इन दो प्रश्नों के समाधान के अनन्तर ही ‘उपनिषत्’ किस प्रकार के भाष्य हैं? उपनिषत्कारों के मन्त्रार्थ करने की नीति किस प्रकार की है? इन सब प्रश्नों का उत्तर प्राप्त कर सकते हैं अतः हम क्रम-पूर्वक दोनों प्रश्नों पर विचार करते हैं।

“उपनिषदें वेदों के आश्रित हैं”

(१) ऐतिहासिक दृष्टि से हमें यह ज्ञात है कि प्रधान दसों उपनिषदें किसी न किसी वेद पर साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध से आश्रित हैं। जैसे ईशावास्य, कठ तथा तैत्तिरीय, यजुर्वेद पर आश्रित हैं अर्थात् ये यजुर्वेद की उपनिषदें हैं। इसी प्रकार अन्य उपनिषदें भी अपने-अपने वेद पर आश्रित हैं। ईशावास्योपनिषत् तो उपनिषत् तथा वेद में तादात्म्य को भी प्रमाणित करती है।

(२) उपनिषदों के ‘वेद रहस्य’ ‘वेदान्त’ [वेदांतो नामोपनिषत्प्रमाणम्] वेदान्तसार] आदि नाम भी सिद्ध करते हैं कि उपनिषदें वेदों के रहस्य को प्रकट करती हैं, अतएव ये वेदों पर आश्रित हैं।

३. उपनिषदों में अनेक स्थानों पर ब्रह्म आदि के वर्णन के अनन्तर “एषा वेदोपनिषत्” “एषा संहितोपनिषत्” अर्थात् “यह वेद की उपनिषत् है,” “यह संहिता की उपनिषत् है” यह लिखा होता है। उदाहरण (१) के

उदाहरण

लिये तै० उ० ११।६ “एष आदेशः, एष उपदेशः । एष वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् एवमुचैतदुपास्यम् ।”

“यह जो मैंने तुम्हें शिक्षा दी है यही मेरी आज्ञा है । यही मेरा उपदेश है । अर्थ यही वेद का सार तथा रहस्य है । यही वेद शास्त्र का आदेश है । ऐसा ही तुझे करना चाहिये । इसी प्रकार यह उपदेश तुझे आचरण में बसाना चाहिये ।” एक और उदाहरण लीजिये—(२) तै० उ० ३।१ “अथासः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः ।”

“अब हम संहिता संबंधी रहस्य को खोलेंगे।”

इन दोनों उदाहरणों में “वेदोपनिषत्” तथा “संहिता उपनिषत्” ये दो शब्द शंकर स्वामी तथा आनन्दगिरि आये हैं । जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपनिषत् स्वयं अपने आपको

वेद पर आश्रित बताती हैं । वेद के आश्रित होने का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उपनिषदें वेद की व्याख्या करती हैं । शंकर स्वामी ने वेदोपनिषत् का अर्थ ‘वेद रहस्य’ किया है । टीकाकार ‘आनन्दगिरि’ ‘वेद रहस्य’ का अभिप्राय ‘वेदार्थ’ करते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपनिषदें वेद को अपने व्याख्येय ग्रन्थ के रूप में—स्वीकार करती हैं ।

(४) उपनिषदों में ब्रह्म* विषयक वर्णन किया गया है कि वह (ब्रह्म) सत्य है, उपनिषत् ब्रह्म का वर्णन करती है । त्रिकालावाधित है, संसार का रचयिता, धर्ता तथा संहर्ता है, ज्ञानस्वरूप तथा आनन्द स्वरूप है, व्यापक है इत्यादि ।

इस प्रकार के समस्त वर्णन वेद के मन्त्रों से मिलते हैं । बल्कि बहुत स्थानों में उपनिषत् की अनेक श्रुतियाँ वेद मन्त्रों से मिलती हैं । अथवा यूँ कह सकते हैं कि उपनिषदों में ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक मन्त्रों का भी उद्धरण दिया गया है ।

* देखो श्वेता ३ अ० ६ अध्याय । मुण्डक २।७.

जिससे यह सिद्ध होता है कि स्वयं उपनिषत्कार वेदों को आश्रय मानते हैं और वेदों से उपनिषदों का सम्बन्ध अध्यात्मव्याख्या की दृष्टि से स्वीकार भी करते हैं । उदाहरणार्थ—

(i) छां० ३।१२।६ “तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः । पादो ऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥

श्रुति का अर्थ अनावश्यक है । देखना यह है कि उपर्युक्त उपनिषत् की श्रुति ही अन्यत्र ऋक्, यजुः (३।१३) तथा अथर्व, तीनों वेदों के पुरुषसूक्त में मन्त्ररूप से आई है । अथवा इस प्रकार कह सकते हैं कि छां० ३।१२ खण्ड में वर्णित गायत्रीरूप ब्रह्म की महिमा की पुष्टि के लिये वेदमन्त्र को उपनिषत्कार ने उद्धृत किया है । दोनों अवस्थाओं में हमारी मूल धारणा ही पुष्ट होती है । और प्रमाण लीजिये—

(ii) क—श्वेताश्वतर उपनिषत् ३ अ० १३ की “विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः” यह श्रुति यजुः १७।१६, ऋ० १०।८१।३ स्थान से उद्धृत किया गया मन्त्र प्रतीत होता है ।

(iii) ख—श्वे० उ० ३।८ “वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्”, श्वे० उ० ३।१४ “सहस्रशीर्षा पुरुषः” क्रमशः ये श्रुतियाँ यजुः ३१।१८, अथ० १६।६।१ स्थानों से उद्धृत किये गये मन्त्र प्रतीत होते हैं ।

(iv) ग—श्वे० श्व० उ० ३।४।२-३ श्रुतियाँ स्पष्ट ही वेदमन्त्रों के उद्धरण हैं ।

(v) घ—“द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते” इत्यादि मन्त्र (३ य मुंडक) तथा श्वे० उ० ६।६ में है । (यह मन्त्र ऋक् १।१६।४।२० तथा अथ० ६।६।२० का है ।

(vi) ङ—श्वे० उ० ४।१९ में “नैनमूर्ध्वं न तिर्यश्च न मध्ये परिजग्रभत्” दी श्रुति गई मन्त्र संहिता के क्रम से विपरीत करके उद्धृत की गई प्रतीत होती है । यह मन्त्र यजुः ३२।२ स्थल पर आया है ।

(vii) च—कठोपनिषत् ५ बल्ली । २ श्रुति “हंसः शुचिपत् वसुरन्तरिक्षसत्” आदि श्रुति यजुर्वेद १२ वें अध्याय का १४ वां मन्त्र ही है। इस श्रुति में ब्रह्म का ही वर्णन किया गया है। यहाँ इनकी व्याख्या निष्प्रयोजन है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपनिषदों में आते हैं। इनसे यह प्रतीत होता है कि उपनिषदें घोषणा कर रही हैं कि वे स्वतः वेद के गुह्य अर्थों का प्रकाश करने वाली हैं—ब्रह्मविद्या की गायिकायें हैं।

साथ ही उपनिषदों में जगह २ पर उद्धृत किये जाने वाले ‘तदेवाऽयुक्ता’ इत्यादि शब्दों से वेदमंत्र भी यह प्रमाणित करते हैं कि वेदों की अध्यात्म व्याख्या होती है और उपनिषदों की प्रवृत्ति विशेषकर इसी प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर हुई है।

(५) स्वयं उपनिषदें इस बात को स्वीकार करती हैं कि वे ईश्वरीय ज्ञान वेद के ही सार हैं, वेद ही उनका अवलम्बन है। उदाहरण के लिए—

(क) श्वेताश्वतर उपनिषद् ५।६—

“तद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेद ते ब्रह्मयोनिम् । ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥

वेदों के रहस्यरूप उपनिषदों में गूढ़ उस ब्रह्म को, और उस वेद के कारण ब्रह्म को वेदवेत्ता जानते हैं। जो पूर्वज देव और ऋषि उसे पहचान गये वे उसमें लीन होकर मुक्त हो चुके।”

(१) ईश्वरीय ज्ञान वेद है :—(!) मुं० २।१।४ “वाग्वि-वृताश्च वेदाः” मुं० २।१।६ “तस्माद्वचः सामयजूषि...” इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि उपनिषद् भी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान कहती है।

ऋषि दयानन्द, हिन्दी और पंजाब

[ले०—कुमारी दमयन्ती देवी विद्यालङ्कृता, साहित्यरत्न]

“आर्य-भाषा का सीखना कोई कठिन काम नहीं है..... दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं जब काश्मीर से कन्या-कुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का प्रचार होगा।”

—“दयानन्दप्रकाश”

भाषा-विज्ञान के अनुसार आर्यों की पहली टोली अफ़ग़ानिस्तान और हिन्दुकुश के मार्ग से आकर पंजाब में बसी थी। दूसरी टोली गिलगित और चित्तल के मार्ग से आई। पर वह भी सब से पहले पंजाब आई और उसने पूर्वागत आर्यों को चारों तरफ़ खदेड़ दिया, और अपने आप

पूर्व पंजाब के निकट सरस्वती नदी के किनारे बस गई। संस्कृत-साहित्य में मध्यदेश शब्द आता है, जिसका व्यवहार आरम्भ में कुरु, पांचाल और उत्तर के हिमालय प्रदेश के लिये हुआ था। कहा जाता है कि मध्यदेश ही आर्यों की जन्मभूमि है। इस तरह से पंजाब ही भारतवर्ष का केन्द्र सिद्ध होता है। यही आर्यों की जन्मभूमि है, कर्म-भूमि है। इसी के शान्त तपोवनों में सारी सभ्यता और संस्कृति के स्रोत ईश्वर-निर्मित वेद भगवान की—जो विश्व का सब से सुन्दर और आदि काव्य है—ध्वनि गूँजी थी। इसी की सरिताओं के किनारे ऋषियों ने ‘प्रथमा संस्कृति विश्ववारा’

“मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्” का अमृत ज्ञान किया था, अपनी साधना के फल को बिखेरा था। इस तरह पंजाब ही भारतवर्ष का गुरु था, इसके बाद आर्य चारों ओर फैलते गए। क्रमशः भाषाओं का विकास होता गया, और भाषाओं के अनेक भेद होते गए। उस समय सर्व-साधारण की भाषा प्राकृत के ४ भेद हो गये—शौरसेनी, मागधी, अर्द्ध-मागधी, महाराष्ट्री। वर्तमान हिन्दी की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है। पंजाबी की उत्पत्ति भी शौरसेनी से ही हुई है। इसी दृष्टि से पंजाबी और हिन्दी दोनों एक परिवार की भाषाएं हैं। और विशेषकर खड़ी बोली से तो पंजाबी का विशेष सम्बन्ध है। भाषा-विज्ञान के अनुसार इन दोनों पर संस्कृत की पैशाची प्राकृत का प्रभाव पड़ा है। पंजाबी पर वह ज्यादा है और खड़ी बोली पर कम। ११ वीं सदी में प्राकृत भाषाओं का स्थान बोलचाल के रूप में अपभ्रंश भाषाएँ ले चुकी थीं, और वह भी धीरे-२ साहित्य की भाषाएँ बन रही थी।

ऐसे समय में हमारी प्रान्तीय भाषाओं का जन्म हुआ, जिनमें हिन्दी का आदि-कवि चन्द-बरदाई माना जाता है, जिसका जन्म संवत् ११८३ में पंजाब की राजधानी लाहौर में हुआ। इस तरह पंजाब के केन्द्र ने ही हिन्दी-साहित्य के जन्मदाता को जन्म दिया, यह गौरव भी पंजाब के ही हिस्से पड़ा है। पर इस गौरव को पंजाब आज भूल गया है! वीर भूमि पंजाब! जरा उठ और अपने गौरव की ओर तो झाँक! जो साहित्य विश्व-भारती मन्दिर में नैवेद्य चढ़ाने जा रहा है, उसके आदि-कवि को उत्पन्न करने का गौरव भी तुझे ही प्राप्त है। इसी साहित्य से तेरी यह उदासीनता! उसके बाद २०० $\frac{1}{2}$ वर्ष तक पंजाब मौन रहा है।

बड़ी उदारता से उसने अपना गौरव औरों के हाथों में सौंप दिया। और अपने आप मुसलमानों से झगड़ने में लग रहा है। उधर हिन्दी-साहित्य का विकास होता रहा। उसने वीरगाथा से चलकर भक्तिकाल में प्रवेश किया। ठीक इसी समय मुसलमानी शासन ने राजनैतिक स्थिति उलट दी, जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है। यह मुसलमानी धर्म एकेश्वरवाद का विचार लेकर आया, इधर हिंदुओं की स्थिति डावांड़ोल हो रही थी, वे अपने सामने मन्दिरों को टूटते हुए देख रहे थे, पर गज की एक टेर पर दौड़ कर आने वाले भगवान् उनकी रक्षा करने के लिए आते हुए दिखाई न दिए। इस समय एक वैज्ञानिक सत्य के साथ यह एकदम संभव था कि हिन्दू-जनता बहु देवतावाद को छोड़कर मुसलमानी धर्म की ओर झुक जाती। ऐसे समय में कवीर शुद्ध-ब्रह्मवाद को लेकर आए जिससे एकेश्वरवाद का जोर कम हो गया। चूँकि हिन्दुओं ने एकेश्वरवाद से अधिक तत्व ब्रह्मवाद में पाया। इसी सम्प्रदाय में सिक्खधर्म के जन्मदाता नानक हुए, जिनकी जन्मभूमि पंजाब थी, इन्होंने पंजाब में एकेश्वरवाद की लहर को रोका। यह भक्त थे, भक्तिरस के आवेश में, इन्होंने जो कविता की है वह प्रचलित काव्यभाषा ब्रज में की पंजाबी में नहीं। पंजाब के धर्मवीर ने पंजाब को पीछे ढकेलना नहीं चाहा। इसीलिए उसने प्रचलित काव्यभाषा में कविता की, जिसमें कहीं २ पंजाबी के शब्द आ गए हैं। चूँकि वे पंजाबी थे। इनकी कविता के उदाहरण—

“गुरु किरपा जेहि नरयै किन्हीं

तिन्ह यह जुगति पिछानी ।

नानक लीन भयो गोविन्द सो

ज्यों पानी संग पानी ॥

भक्त हृदय की कैसी आतुरता है। वेबसी की कैसी सुन्दर व्यञ्जना है। इसको पढ़कर जार्ज हरवर्ट की निम्नलिखित कविता याद आ जाती है—

“O be mine still, still make me thine
Or rather make no thine or mine”

नानक के बाद सिक्ख सम्प्रदाय में ६ गुरु और हुए, जो सभी अच्छे कवि थे, और उन्होंने ब्रजभाषा में कविता की। इनकी वाणियों का संग्रह सिक्खों के धर्मग्रन्थ ग्रन्थसाहब में है। ग्रन्थसाहब का अधिकांश भाग ब्रजभाषा में लिखा गया है। जिसमें पंजाबी शब्दों का छिड़काव है। १० वें गुरु गोविन्दसिंह का जन्म सं० १७२३ में हुआ था। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इनका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने कई साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—सुनीति-प्रकाश, प्रेम सुमार्ग, बुद्धिसागर और चण्डीचरित्र। यह बड़ी प्रौढ़ साहित्यिक ब्रजभाषा लिखते थे, हिन्दी में कविता कर हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपने को अमर कर लिया है। इनकी रचना का उदाहरण देखिए—

“विद्या के प्रचार हों, कि अद्वैत अवतार हों।
कि सुद्धता की मूर्ति हों, कि सिद्धता की सरन हों॥
जोवन के जाल हों, कि कालहू के गाल हों।
कि सत्रुन के साल हों, कि मित्रन के प्रान हों।

इसके बाद सं० १६८० में हृदयराम नामक कवि ने हनुमन्नाटक लिखा, जिसकी कविता बड़ी सुन्दर है, इन्होंने भी प्रचलित काव्य-भाषा में ही कविता की। इनको उत्पन्न करने का गौरव भी पंजाब को ही प्राप्त है। इसके बाद पंजाब फिर मौन हो गया। मुझे पंजाब की एक बात बहुत आश्चर्य में डाल देती है कि वह किसी काम में प्रारम्भिक योगदान करके उसका गौरव औरों को देकर अपने-आप चुप बैठ

जाता है, उसकी यह उदारता चित्त को प्रभु नहीं करती, प्रत्युत निराशा के गहन अन्धका ले जाकर छोड़ देती है।

वर्तमान हिन्दी-गद्य के आविर्भाव में पंजाब का हाथ

फिर जब नई समस्या गद्य की उठी, प्राचीन हिन्दी-साहित्य के इतिहास में महान् परिवर्तन स्थित हुआ। कविता की धारा रुक गई। गद्य धारा बड़े वेग से बही। अंग्रेजों के सम्पर्क से भारतीय इतिहास और साहित्य की गति बदल गई। सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज़ उठी। सामाजिक, राजनैतिक विचारों में क्रान्ति हो गई, जनता के जीवन की धारा आगे बढ़ गई पर साहित्य पीर रह गया। ऐसे समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म एक क्रान्तिकारी के रूप में हुआ। भारती ने स्वयं भारतेन्दु के कण्ठ में बैठ कर राष्ट्रीय भावना उच्छ्वसित की थी। भारत माँ की करुणोज्ज्वल छवि ने उस दिन भारत और उसके साहित्य के हृदय में घर कर लिया। कविता की वीणा के शृङ्गारित गाने बिखर गये, देश-भक्ति के गीतों को स्थान मिला, जनता के विचारों के साथ साहित्य का समन्वय हो गया।

इसी परिवर्तन के युग में ऋषि दयानन्द का जन्म हुआ। भारत ने हरिश्चन्द्र और ऋषि दयानन्द को एक ही समय में पाया। विश्व-जनी वैदिक-धर्म की फिर से प्राण प्रतिष्ठा करना और “कृण्वन्तो विश्वमार्यम्” का सन्देश देने वाले वेदों का—जिनको लोग भूल गये थे—पुनरुद्धार करना ही ऋषि दयानन्द के जीवन का लक्ष्य था। इस काम के लिये उन्होंने जगह-जगह शास्त्रार्थ किया, व्याख्यान दिए, वे अपने सिद्धान्तों को भारत-व्यापक बनाना चाहते थे, इसी से उन्होंने स्वयं गुजरा

वन
ये
के
स
स
द
“
ते
व
ना
में
संय
अथ
में
क
से

जाए भी इस काम के लिए वह भाषा ग्रहण की
ऐसे स समय सर्व-व्यापिनी हो रही थी, जिसमें गद्य
रता विकास हो रहा था, वह खड़ी बोली थी।
पनिऋषि दयानन्द अपने हृदय में वैदिक-धर्म की
२। लेकर उत्पन्न हुए थे। उस आग को उन्होंने
सत्यशी-भाषा के ही द्वारा बिखेरा। ऋषि दयानन्द ने
३० ज्ञाने ग्रन्थों की—सत्यार्थप्रकाश, संस्कार विधि,
वेदादि-भाष्य भूमिका तथा वेदों की भाष्य-रचना
ही में ही की। इस तरह उन्होंने हिन्दी का प्रचार
या और शास्त्रार्थ के द्वारा हिन्दी-साहित्य में
गहन मण्डनात्मक शैली का विकास किया, जिस
हिन्दी-भाषा की व्यञ्जना शक्ति बढ़ी। सं० १९३२
उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की और आर्य-
माजियों के लिये वैदिक सिद्धान्तों के प्रकाशन का
माध्यम हिन्दी को ही स्वीकार किया और उसका
ढना अनिवार्य कर दिया।

अब प्रश्न यह है कि उनकी मातृभूमि गुजरात
में थी। वह सारे भारत में घूमे थे। पर उनके
सिद्धान्तों को अपना हृदयाञ्चल पसार कर किसने
सब से अधिक पहले और किसने सब से अधिक
अपनाया, और कार्य रूप में प्रदर्शित किया, और
अब भी कर रहे हैं! कौनसा देश उनके सिद्धान्तों
के प्रचार का केन्द्र बना? किस देश ने सब से
अधिक वैदिक-धर्म और आर्यसमाज के प्रचारक
उत्पन्न किए? किसने अपने बाँके धर्मवीर देश की
बलि-वेदी पर निछावर किए? किस देश में ऋषि
दयानन्द को सब से अधिक सफलता मिली है?

तो उसका उत्तर एकमात्र यही होगा कि ऐसा
गौरवशाली देश पंजाब ही है। इस विजय के सेहरे
के लायक वीरभोग्या वसुन्धरा पंजाब का माथा है।
ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तों को सब से पहले पंजाब
ने ही अपनाया, अतएव उन सिद्धान्तों का जो

माध्यम ऋषि दयानन्द ने स्वीकृत किया था उसको
भी पंजाब ने अपनाया। और प्राणपन से उस
माध्यम हिन्दी-भाषा के प्रचार और विस्तार के
लिए पंजाब लग गया है। अतः आर्यसमाज के
कारण, ऋषि दयानन्द के कारण, हिन्दी की चर्चा
पहले-पहल पंजाब में प्रारम्भ हुई। पंजाब ने ही
भारत में हिन्दी का प्रारम्भिक प्रचार किया।

ऋषि दयानन्द के बाद पंजाब में हिन्दी के प्रचा-
रकों में—यद्यपि वह आर्यसमाजी नहीं थे—नवीन
चन्द्राय और श्रद्धाराम फुल्लौरी का नाम उल्लेखनीय
हैं। अंग्रेजों के सम्पर्क से शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा
था, यू० पी० में राजा शिवप्रसाद इस भाग में काम
कर रहे थे। पंजाब में नवीन चन्द्राय। इनकी भाषा
शुद्ध हिन्दी होती थी। उन्होंने न्याय वेदान्त जैसे
गूढ़ विषयों पर भी पुस्तकें लिखी थीं; हिन्दी के
प्रचार के लिए ‘ज्ञान प्रदायिनी’ नामक पत्रिका
निकाली थी। इनकी भाषा का नमूना देखिये—

“विधवा-विवाह शास्त्र सम्मत अथवा शास्त्र
विरुद्ध कर्म है, विषय की मीमांसा में प्रवृत्त होना हो
तो पहिले यह निरूपण करना आवश्यक है कि वह
शास्त्र कौन-सा है जिसके सम्मत होने से विधवा-
विवाह कर्त्तव्य समझा जाए।”

श्रद्धाराम फुल्लौरी की भाषा बहुत ही प्रौढ़ तथा
परिमार्जित है। इन्होंने अपना सिद्धान्त ग्रन्थ
“सत्यामृत” बड़ी ही प्रौढ़ भाषा में लिखा है।
उन पर पंजाब को गर्व होना चाहिये। इनकी भाषा
का नमूना देखिए :—

“सुनी बातें सारी सत्य नहीं होतीं क्योंकि
सुनने में बहुत सी बातें ऐसी भी आती हैं जो अनु-
भव और संसारी नियम से विरुद्ध हों जैसा कि
पिछले समय में लोग वृक्षों, पर्वतों तथा पक्षी
आदि कों का वातचीत करना सुनाया करते थे।”

वर्तमान हिन्दी गद्य के विकास में पंजाब का हाथ

मुझे यह लिखते हुये गर्व हो रहा है कि—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जिनकी ‘उसने कहा था’ नाम की कहानी ने हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया है, पंजाबी ही थे। निबन्ध के लेखक अध्यापक पूर्णसिंह भी, जिनकी भावों और विचारों को अनूठे ढंग से मिश्रित करने वाली शैली ने लोगों को चमत्कृत कर दिया था, पंजाबी थे। ‘न्याय दर्शन’ के अनुवादक कृपाराम मिश्र भी पंजाबी थे।

इनके अतिरिक्त आर्यसमाज के कई पंजाबी नेताओं ने और आर्यसमाजियों ने भी हिन्दी में पुस्तकें लिखकर पंजाब में हिन्दी का प्रचार किया है। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी के नाम और काम को कौन भूल सकता है? इन्होंने ‘कल्याण मार्ग का पथिक’ नाम की पुस्तक हिन्दी में लिखी। इनकी भाषा बड़ी ही सुन्दर और परिमार्जित होती थी। इस पंजाबी आर्यसमाजी नेता ने हिन्दी के पक्षपाती होने के कारण ही अमृतसर में होने वाले चतुर्थ ‘हिन्दी साहित्य सम्मेलन’ के सभापति के आसन को अलंकृत किया था। यह पंजाब के लिए बड़े गौरव की बात है।

‘दुःखी भारत’ के लेखक स्वनाम धन्य स्वर्गीय लाला लाजपतराय का नाम पंजाब में हिन्दी के प्रचारकों में अमर रहेगा।

श्री आचार्य रामदेव जी ने ‘भारतवर्ष का इतिहास’ और ‘पुराणमत पर्यालोचन’ आदि पुस्तकें लिखकर हिन्दी भाषा की बड़ी सेवा की है। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा होती है।

श्री चमूपति जी और श्री सन्तराम जी की सेवाएं हिन्दी कभी भुला नहीं सकती। चमूपति जी ने ‘योगेश्वर कृष्ण’ आदि पुस्तकें और सन्तरामजी ने

‘आदर्श पति’ आदि पुस्तकें लिखकर हिन्दी-संसा के लेखकों में अपने नाम को अमर कर दिया है।

श्री सुधाकर जी ने ‘मनोविज्ञान’ पर मङ्गला प्रसाद पारितोषक प्राप्त किया है। स्वामी सत्यदेव जी ने यात्रा सम्बन्धी लेखों के लिये बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की है। लाला देवराज जी ने हिन्दी में कई छोटी २ पुस्तकें लिखकर पंजाब में हिन्दी का अच्छा प्रचार किया है।

हिन्दी के कहानी-साहित्य के गौरव श्री सुदर्शन जी जिनकी भाषा स्वाभाविक है और शैली मौलिक है, जो अपनी आसपास की दुनिया से खोजे हुए साधारण कथानक को भी कला का रूप दे देती है, प्रसिद्धि में प्रेमचन्द जी के बाद जिनका नाम सर्व-प्रथम लिया जाता है—पंजाबी ही हैं। पंजाब के लिए यह कितना गौरव है।

इनके अतिरिक्त श्री दुर्गादास जी भास्कर, रणवीर जी इत्यादि कई नवयुवक भी अच्छे कहानी लेखक हैं।

हिन्दी के प्रचार में डी० ए० बी० कालेज और गुरुकुल आदि आर्यसमाजी संस्थाओं ने भी बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है। डी० ए० बी० कालेज के प्रोफेसर श्री सूर्यकान्त जी एम. ए. ने ‘हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास’ लिख कर पंजाब में हिन्दी-साहित्य के प्रचार का अच्छा उद्योग किया है।

गुरुकुल कांगड़ी के कई पंजाबी स्नातकों ने हिन्दी माँ के चरणों में अपनी २ सुन्दर रचनाओं की भेंट चढ़ाई है, जिनसे हिन्दी माँ का गौरव बढ़ गया है। उनके कार्य का गौरव पंजाब का ही गौरव है। चूँकि गुरुकुल कांगड़ी का संचालन ‘आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब’ कर रही है। यदि ऐसा न भी होता तो भी पंजाबी होने के कारण,

१७४

वन
ये
के
रता
स
स
द
“
ते
ता
में

[०३]

संय

अथ

में
क
से

दे

जाव इन पर गर्व कर सकता। अब तो पंजाब को इन पर डबल गर्व हो। चाहिए।

श्री जयचन्द्र जी विद्यालंकार ने “भारतीय इतिहास की रूपरेखा” पर मङ्गलाप्रसाद पारितोषक प्राप्त किया है। इससे पंजाब का गौरव बहुत बढ़ गया है।

श्री चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार बड़े अच्छे कहानी लेखक हैं, और इन्होंने हिन्दी-साहित्य के कहानी लेखकों में अपना स्थान भी बना लिया है। पंजाब इन पर गर्व कर सकता है।

प्रो० सत्यव्रत जी विद्यालंकार ने ‘ब्रह्मचर्य-सन्देश’, पं० यशःपाज जो सिद्धान्तालंकार ने “वदिक सिद्धान्त दर्पण” और “शक्ति रहस्य” श्री सत्यदेव जी विद्यालंकार ने “परदा” और “स्वामी श्रद्धानन्द जी का जीवन चरित्र” लिखकर, प्रो० इन्द्र जी ने ‘अर्जुन’ तथा पं० प्रियव्रत जी ने ‘आर्य’ के सम्पादक की हैसियत से और एक श्रेष्ठ लेखक की हैसियत से हिन्दी की बड़ी सेवा की है।

पंजाब यूनीवर्सिटी ने भी रत्न, भूषण और प्रभाकर की परीक्षाओं द्वारा पंजाब में हिन्दी के प्रचार का प्रशंसनीय उद्योग किया है। इस तरह हिन्दी के प्राचीन साहित्य के निर्माण में पंजाब ने बहुत महत्व-पूर्ण कार्य किया है। हिन्दी-काल के आदि-कवि को जन्म भी पंजाब ने ही दिया है। पर पंजाब प्रारम्भिक योगदान करके ही रह गया, हिन्दी-साहित्य की गति के साथ २ नहीं चल सका। उसके बाद उसने कोई ऐसा महत्व-पूर्ण कार्य नहीं किया, जिसमें और प्रान्तों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हो। वर्तमान हिन्दी-साहित्य की उन्नति की प्रतिध्वनि पंजाब तक बहुत क्षीण रूप से पहुँची—जिसका उल्लेख अभी ऊपर किया जा चुका है—इसके लिए पंजाब को बहुत क्षीण

गौरव दिया जा सकता है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य के विकास में पंजाब ने बहुत थोड़ा हिस्सा लिया है। पंजाब में ‘प्रसाद’ जी जैसे कितने नाटककार हैं? सुदर्शन जी के सिवाय कितने उपन्यास लेखक हैं? कितने समालोचक हैं? कितने निबन्ध लेखक हैं? उत्तर में उँगलियों पर गिने हुए आदमी मिलेंगे—जिनके नाम अभी ऊपर गिनाए जा चुके हैं। पंजाब के लिए यह कितने शर्म की बात है कि उसके कलाकार इतने कम हैं कि वह उँगलियों पर गिने जा सकते हैं।

हिन्दी-साहित्य के निर्माण में हिस्सा लेकर भी उर्दू को अपनाने की चेष्टा पंजाब के लिये एक विचित्र बात मालूम पड़ती है। जो पंजाब हमेशा से सारे भारतवर्ष का नेता रहा है, वह हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के काम में—जिस हिन्दी को पहले कालिजों और स्कूलों में स्थान नहीं मिला था, उसको अब यूनीवर्सिटियों में स्थान मिल गया है। जिस हिन्दी को बोलने में मिडिल स्कूल के लड़के अपनी हेठी समझते थे, उसी में बोलने के लिए देश के बड़े २ नेता प्रयास करते हैं। बंगाल, गुजरात, मद्रास इत्यादि सभी प्रान्तों में इसके प्रचार और विस्तार के लिये उद्योग किया जा रहा है। शान्ति-निकेतन में सी. एफ. एण्ड्रूज के द्वारा हिन्दी लेख और पुस्तकें लिखने और लिखवाने का प्रयत्न हो रहा है—सब से पीछे रह गया है। उसे तो लोगों को अपने पीछे चलाना चाहिये था, पर वह आपही सब से पीछे चल रहा है। और उर्दू को जो अब फ़ारसी की पोशाक में विदेशी हो गई है, ग्रहण किया हुआ है। विदेशी भाषा के द्वारा कभी कोई देश उन्नति नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में पंजाब को हिन्दी की ओर झुकना ही होगा। उसका अपना कोई साहित्य नहीं है, जो है वह भी हिन्दी

में ही है—जैसे 'सिक्खों का ग्रन्थसाहब', केवल उस पर पंजाबी शब्दों का छिड़काव है। जिन भाषाओं के पास अपना समृद्ध साहित्य है; जैसे बंगला, गुजराती, मराठी—अन्तर्प्रान्तीय मामलों के लिये उन्होंने भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया है। तब पंजाब के लिये राष्ट्रभाषा हिन्दी को स्वीकार करने में क्या अड़चन है?

गुरुमुखी भाषा का सवाल तो हल हो ही चुका है कि गुरुमुखी हिन्दी का ही एक रूप है। गुरुमुखी लिपि का अन्तर्भाव भी नागरी लिपि में हो जाता है। और भारतवर्ष के लिये फ़ारसी भाषा और फ़ारसी लिपि की भी अनुपयुक्तता सिद्ध हो चुकी है, अतः पंजाब को अपनी उन्नति के लिये भारतवर्ष की उन्नति के लिए हिन्दी को ग्रहण करना ही पड़ेगा।

अब प्रश्न यह है कि पंजाब हिन्दी के कौन से रूप को ग्रहण करे? हिन्दी का कौन-सा रूप पंजाब में लोक-प्रिय हो सकता है? पंजाब वालों के लिये सहसा उर्दू का परित्याग करना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। जिसका व्यवहार वे सदियों से कर रहे हैं। अतः वे संस्कृत मिश्रित हिन्दी को तो ग्रहण कर ही नहीं सकते। उनके लिए हिन्दी का वह रूप ग्राह्य और लोक-प्रिय होगा, जिसमें से उर्दू शब्दों का बहिष्कार न हो, परन्तु उर्दू के प्रचलित शब्दों का ग्रहण हो, हिन्दुस्तानी यही काम कर रही है। वह न तो संस्कृत-गर्भित हिन्दी है न फ़ारसीनुमा उर्दू। इन दोनों का मध्यमार्ग है उसने उर्दू का साथ नहीं छोड़ा है, उसको साथ लेकर चल रही है अतः पंजाब के लिये हिन्दुस्तानी को समझना कोई कठिन बात नहीं है। उर्दू का साथ न छोड़ने के कारण हिन्दुस्तानी ही पंजाब के लिये लोक-प्रिय हो सकती है और साथ ही मंगल-विधायिनी भी हो

सकती है। हिन्दुस्तानी के द्वारा पंजाब उस साहित्यिक हिन्दी तक भी पहुँच जाएगा जिसको वह उर्दू के व्यवधान के कारण अपने से कोसों दूर समझ रहा है। चूँकि पहले वह राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दुस्तानी को ग्रहण करेगा जिसमें उर्दू और हिन्दी दोनों के प्रचलित रूपों का सम्मिश्रण है। अतः उर्दू शब्दों के साथ-साथ हिन्दी के शब्दों को भी सुनने, समझने और व्यवहार करने की योग्यता इसमें आ जाएगी, फिर धीरे-धीरे उसकी आदत भी पड़ जाएगी और वह साहित्यिक हिन्दी को समझने में समर्थ हो जाएगा। अतः मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हिन्दुस्तानी ही राष्ट्र भाषा के आसन को ग्रहण कर सकती है और पंजाब इसी के द्वारा हिन्दी-साहित्य के विकास में योगदान कर सकता है और इसी को राष्ट्र-भाषा के रूप में अपना सकता है। एक और कारण से भी पंजाब के लिये हिन्दी का हिन्दुस्तानी रूप ही लोक-प्रिय हो सकता है। ऋषि दयानन्द की आँखों के सामने ही पंजाब आर्य-समाज का केन्द्र हो गया था, और है। पंजाब ने जहाँ तक आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार का सम्बन्ध है, भारत के सभी प्रान्तों की आँखें खोली हैं। इसके लिये वह भारतवर्ष का ही नहीं, सारे संसार का नेता है। ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज का क्षेत्र बहुत विस्तृत कर दिया था, उन्होंने वह वैदिक धर्म लिया था जिसका आदर्श 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' है। इसी वैदिक धर्म का प्रचार करना आर्यसमाज का उद्देश्य है, और पंजाब आर्यसमाज का केन्द्र है। इसीलिये वह आर्यसमाज के सिद्धान्तों का सारे भारतवर्ष में प्रचार करना चाहता है, किंतु भाषा लेता है फ़ारसीनुमा उर्दू, और वह भी प्रान्तीय और विदेशी। ऐसा करने से वह अपने आर्यसमाज के प्रचार कार्य में कैसे सफल हो सकता है? अतः

यदि पंजाब को आर्यसमाज के सिद्धान्तों का भारत-व्यापी प्रचार करना है, यदि ऋषि दयानन्द के कार्य को पूरा करना है, तो उसे वही भाषा लेनी पड़ेगी जो भारतवर्ष में सबसे अधिक व्यवहार में आ रही है, राष्ट्रभाषा का आसन ग्रहण कर रही है। ऐसी भाषा हिन्दुस्तानी ही है, अतः पंजाब को यही ग्रहण करनी होगी, इसी के द्वारा अपने कार्य में वह सफल होगा। इस राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिये पंजाब को निम्नलिखित स्कीम को कार्य रूप में परिणत करना चाहिये—

(१) पत्र-व्यवहार, पते, निमन्त्रणपत्र हिन्दु-स्तानी होने चाहिएँ।

(२) ३, ४ उच्चकोटि की मासिक पत्रिकाएँ निकालनी चाहिएँ, जिनका उद्देश्य हिन्दुस्तानी का प्रचार होना चाहिए। वेशक अभी आरम्भ में उनके द्वारा उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण न हो।

(३) बनियों की बहियों में हिन्दुस्तानी का प्रयोग होना चाहिए।

(४) कुछ ग्राम-समाचारपत्र भी निकालने चाहिएँ जो ग्रामों की आवश्यकताओं को पूरा कर सकें।

(५) जैसे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग ने उच्चकोटि के साहित्य निर्माण के लिए प्रत्येक वर्ष निश्चित किए हुए विषय की सर्वश्रेष्ठ रचना पर मंगलाप्रसाद-पारितोषक देना निश्चित किया है, उसी तरह पंजाब-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को पंजाब में हिन्दी का प्रचार करने के लिये नवीन लेखकों को रचना-प्रतियोगिता में पुरस्कार देने चाहिएँ।

पंजाब ने न-जाने कितने रंग देखे हैं, एक दिन इसी की शस्य-श्यामला भूमि के शान्त तपोवनों में वेदों का गान हुआ था, भारतीय सभ्यता संस्कृति का विकास हुआ था। इसी की छाती पर कुरुक्षेत्र का लोमहर्षण युद्ध हुआ, जिसमें कि भारतीय स्वाधीनता का सूर्य अस्ताचल की ओट में हो गया। सिकन्दर की पहली चढ़ाई भी पंजाब में हुई। मुसल्मान भी पहले पंजाब में आकर बसे, हीं से सारे हिन्दुस्तान में फैले। भारतवर्ष की

स्वाधीनता के लिए प्राणों की आहुति देने वाले मरहटों की हार भी सन् १७६१ में पानीपत के युद्ध में हुई। सिक्खों की शक्ति का पतन भी १४ फरवरी सन् १८४६ में पंजाब के गुजरात में हुआ, उस दिन सिक्ख सैनिकों ने आँखों में आँसू भरकर कहा था कि आज यथार्थ में महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु हुई है। सन् १९१६ में पंजाब की छाती पर अमृतसर में जलियानवाले बाग का हत्याकांड हुआ, जिसमें न जाने कितनी माताओं ने अपने पुत्र खो दिए, कितनी बहनों ने अपने भाई खो दिए, कितनी स्त्रियों ने अपना सुहाग खो दिया। नवम्बर १९३५ में यहीं शहीदगंज का मामला हुआ। जिस पंजाब ने भारतवर्ष को सभ्यता का, स्वाधीनता का सन्देश दिया था, उसी पंजाब ने अपने भीषण हृदय में सब कुछ छिपा लिया। इतनी निष्ठुरता, नीरसता इसी के ही पल्ले पड़ी है। आज भारत की स्वाधीनता और पराधीनता के इतने रंग देख कर भी पंजाब आर्यसमाज के कारण भारतवर्ष का नेता बना है। उसने आर्यसमाज को गौरवान्वित किया है, और आर्यसमाज ने इसे, नहीं तो फैशन में, भारतवर्ष का फ्रांस किस बात का गौरव कर सकता है? अतः इसे अब आर्य सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा ही भारतवर्ष में होने वाले स्वाधीनता-संग्राम में हिस्सा लेना चाहिए। इसी की छाती पर कुरुक्षेत्र में—भारतीय स्वाधीनता का सूर्य अस्त हुआ था, वहीं पर फिर से उसका उदय हो इसी में उसका गौरव है। उसने चन्द्रवरदाई को जन्म देकर हिन्दी-साहित्य को जन्म दिया था, उसी विशाल हिन्दी-साहित्य को आज राष्ट्रभाषा हिन्दी इसे 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये' कहकर भेंट दे रही है, हिन्दी-साहित्य मन्दिर में पंजाब का आह्वान कर रही है। राष्ट्रभाषा की इस भेंट को, इस आह्वान को स्वीकार करने में ही पंजाब की शान है। उसी दिन ऋषि दयानन्द की आँखें तृप्त हो सकेंगी, आत्मा आनन्द से मुखरित हो उठेगी।



विनम्र निवेदन—

इस मास आर्यसामाजिक जगत् के उत्सवों की अधिकता से विद्वानों को प्रायः बाहर ही रहना पड़ रहा है। इसलिये इस बार वेद-भाष्य नहीं दिया जा रहा। वैसे तो वेदभाष्य हमारे पास पर्याप्त मात्रा में किया हुआ पड़ा है। परन्तु विद्वानों की अनुपस्थिति में इस बार न देना ही उचित समझा गया। अगली बार—जितना प्रतिमास वेदभाष्य निकलता है—उससे दुगुना प्रकाशित किया जायेगा। इसलिए हमारी वेद-प्रेमी सज्जनों से विनम्र प्रार्थना है कि वे हमें क्षमा करेंगे।

धर्म-निर्णय का अधिकार—

वेद सर्व सत्य विद्याओं का भण्डार है। कोई भी ऐसी सत्य विद्या नहीं जिसका बीज वेद में न हो। परमात्मा का ज्ञान अनन्त है इसलिये वेद भी अनन्त हैं। अतः वेदों का पार पाना मुश्किल ही नहीं असम्भव है। इस अनन्त और अथाह वेद पारावार में कोई कहीं तक पहुँचा हुआ है तो कोई कहीं तक किसी को उसका थोड़ा ज्ञान है तो किसी को उससे ज्यादा ज्ञान है। पूर्ण ज्ञान तो किसी को भी सम्भव नहीं, ऋषि महर्षि तक वेदों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते साधारण आदमी का तो कहना ही था।

ऐसी अवस्था में यह कहना कि अमुक बात पूर्णतया वेदानुकूल है और अमुक नहीं—बड़ी कठिन है। कई बात ऐसी हुआ करती हैं जिनके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता केवल विद्वानों और त्यागी तपस्वी महात्माओं के कथनों पर ही विश्वास किया जाता है। और विद्वानों के अन्दर भी कई सूक्ष्म बातों में मतभेद हो जाया करते हैं। परन्तु मतभेद का होना इस बात को साबित नहीं करता कि उनमें से एक अवश्य ही गलत हो और दूसरा अवश्य ही ठीक हो। दोनों गलत भी हो सकते हैं और दोनों ठीक भी हो सकते हैं। आदर्श पर पहुँचने के लिये कई रास्ते हो सकते हैं यदि वे रास्ते हमें उस आदर्श तक पहुँचा दें। हाँ! इतनी बात अवश्य है कि सीधा रास्ता एक ही होगा। परन्तु यह भी सम्भव है कि सीधा रास्ता उतना सुखकर न हो जितना कि घुमाव वाला। इसलिये आवश्यक यह है कि हम प्रत्येक चीज को जिज्ञासु भाव से देखें, संकीर्ण हृदय न बनें। आर्य समाज, जिसका प्रवर्तक एक विशाल हृदय वाला था—एक संकीर्ण समुदाय बनता चला जा रहा है। और आश्चर्य की बात तो यह है कि प्रत्येक आदमी धर्म का ठेकेदार बनने की कोशिश करता है चाहे उसे वेद का विष्णु भी ज्ञान न हो। खुद धुरन्धर विद्वान

भी पूर्णतया धर्म के ठेकेदार होने का दावा नहीं भर सकते तो साधारण आदमी का तो कहना ही क्या। इसका कारण यही है कि राग और द्वेष ने अपना इतना साम्राज्य फैलाया है कि धर्म का कोई स्थान ही नहीं रहा। यदि कोई विद्वान् धर्म या वेद के विषय में अपनी कोई सम्मति देता है तो वहाँ विरोधी चाहे वह वेद के विषय में निरक्षर भट्टाचार्य हो—विरोध करने के लिये झूट कमर कस लेता है। और यदि ऐसे आदमियों के अधिकार में कोई

अखबार हो तो भलाई के बजाय हानि ही ज्यादा होती है। धार्मिक अखबारों का आधिपत्य तो उन्हें ही मिलना चाहिये जो कि वेदों के निष्पक्ष विद्वान् हों और उदार वृत्ति के हों। संकुचित हृदय के न हों। धार्मिक उत्थान में ही जो सदा लगे रहते हों, अपना जिनको कोई स्वार्थ न हो, लालच के वशी-भूत जो न होते हों। तभी आर्य समाज की तरक्की होगी। और आर्य समाज का मिशन पूरा होगा।
—भगवदत्त वेदालङ्कार

पुस्तक-परिचय

‘भूगोल’ का ‘स्पेन-अंक’

सम्पादक—रामनारायण मिश्र ; पृष्ठ संख्या १३६ ; मूल्य ॥८०; पता—मैनेजर ‘भूगोल’, अलाहाबाद।

आजकल के प्रातायात के साधनों से एक देश का दूसरे देश के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है कि एक देश की भौगोलिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव दूसरे देश के ऊपर हुए बिना नहीं रहता। प्रतिक्षण एक का दूसरे पर प्रभाव होता रहता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश के साथ-साथ अन्य देशों की उपर्युक्त परिस्थितियों का भी हमेशा ज्ञान रहना चाहिये।

आजकल यूरोप दो विचार-धाराओं की रण-स्थली बना हुआ है। जिसका केन्द्र-स्थान स्पेन है। यूरोप का भाग्य-चक्र आज स्पेन की गर्दन

पर लटक रहा है। अतएव स्पेन आज अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का केन्द्र-स्थान बना हुआ है। इस सारी प्रगति को समझने के लिये भूगोल-पत्रिका का स्पेन-अंक हमारी बहुत सहायता करता है। इसमें भौगोलिक स्थिति के साथ-साथ राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, परिस्थितियों को भी सुचारु रूप से दिखाने का प्रयत्न किया गया है। और इन सब बातों को समझने के लिये साथ-साथ नक्शे तथा चित्र आदि भी दिये गये हैं जो कि समझने में पर्याप्त सहायता करते हैं। इसलिये स्पेन के युद्ध की प्रगति को समझने के लिये प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में यह अंक रहना अतीव आवश्यक है।

x

x

x

अथाध्वर्युं चाग्नीध्रं च सम्मृशति । सनो
वाऽअध्वर्युर्वाग्धोता तन्मनश्चैतद्वाचं च
सन्दधाति ॥२१॥ तत्र जपति । षण्णो-
र्वीरं ॐ हसस्पान्त्वग्निश्च प्रीथवी चापश्च
वाजश्चाहश्च रात्रिश्चेत्येता मा देवता आर्त्ते-
र्गोपायन्त्वित्येवैतदाह तस्यो हि न ह्वलास्ति
यमेता देवता आर्त्तेर्गोपायेयुः ॥ २२ ॥
अथ होतृषदनमुपावर्त्तते । स होतृषदनादेकं
तृणं निरस्यति निरस्तः परावसुरिति
पुरावसुर्ह वै नामासुराणां ॐ होता स
तमेवैतद्द्वोतृषदनान्निरस्यति ॥ २३ ॥ अथ
होतृषदनऽउपविशति । इदमहमर्वासोः
सदने सीदामीत्यर्वासुर्वै नाम देवानां ॐ
होता तस्यैवैतत्सदने सीदति ॥ २४ ॥ तत्र
जपति । विश्वकर्म्मस्तनूपा असि मा मो
दोषिष्टं मा मा हि ॐ सिष्टमेष वां लोक
इत्युदङ्ङेजत्यन्तरा वाऽएतदाहवनीयं च
गार्हपत्यं चास्ते तदु ताभ्यांनिह्नुते मा मो
दोषिष्टं मा मो हि ॐ सिष्टमिति तथा हैनमेतौ
न हि ॐ स्तुः ॥ २५ ॥ अथाग्निमीक्षमाणो
जपति । विश्वे देवाः शास्तन मा यथेह
होता वृतो मनवै यन्निषद्य । प्र मे ब्रूत
भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो
वहानीति यथा येभ्यः पक्कं ॐ स्यात्तान्
ब्रूयाद्वनु मा शास्त यथा व आहरिष्यामि
यथा वः परिवेक्ष्यामीत्येवमेवैतद्देवेषु प्रशास-
नमिच्छतेऽनु मा शास्त यथा वोऽनुष्ठया-
वषट्कुष्यामनुष्ठया हव्यं वहेयमिति तस्मादेवं
जपति ॥ २६ ॥ ब्राह्मणम् ॥२॥ [५१] ।

अग्निर्होता वेत्वग्नेर्होत्रमिति । अग्नि-
रिदं ॐ होता वेत्वित्येवैतदाहाग्नेर्होत्रमिति
तस्यो हि होत्रं वेत्तु प्रावित्रमिति यज्ञो वै
वेत्तु यज्ञमित्येवैतदाह साधु ते यजमान
देवतेति साधु ते यजमान देवता यस्य
तेऽग्निर्होतित्येवैतदाह घृतवतीमध्वर्यो सुच-
मास्यस्वेति तदध्वर्युं प्रसौति स यदेकामि-
वाह ॥ १ ॥ यजमान एव जुहूमनु । योऽ-
स्माऽअरातीयति स उपभृतमनु स यद्वेऽ
इव ब्रूयाद्यजमानाय द्विषन्तं भ्रातृव्यं
प्रत्युद्यानिनं कुर्यादत्तैव जुहूमन्वाद्य उपभृत-
मनु स यद्वेऽइव ब्रूयादत्रऽआद्यं प्रत्युद्यानिनं
कुर्यात्तस्मादेकामिवैवाह ॥ २ ॥ देवयुवं
विश्ववाराभिति । उपस्तौत्येवैनमेतन्महय-
त्येवयदाह देवयुवं विश्ववाराभितीडासहै
देवां २ ॥ ऽईडेन्यान्नमस्याम नमस्यान्यजाम
यज्ञियानितीडामहै तान्देवान्य ऽईडेन्या
नमस्याम तान्ये नमस्या यजाम यज्ञियानिति
मनुष्या वा ऽईडेन्याः पितरो नमस्य देवा
यज्ञियाः ॥ ३ ॥ या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वा-
भक्ताः । पराभूता वै ता एवमेवैतद्या इमाः
प्रजा अपराभूतास्ता यज्ञ ऽआ भजति
मनुष्याननु पशवो देवाननु वया ॐ स्योषधयो
वनस्पतयो यदिदं किञ्चैवमु तत्सर्वं यज्ञऽ-
आभक्तम् ॥ ४ ॥ ता वाऽएताः । नव
व्याहतयो भवन्ति नवेमे पुरुषे प्राणा एता-
नेवास्मिन्नेतद्वाति तस्मान्नव व्याहतयो
भवन्ति ॥ ५ ॥ यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम ।
तं देवा अन्वमन्त्रयन्ता नः शृणुष न

आवर्त्तस्वेति सो ऽस्तु तथेत्येव देवानुगाव-
वर्त्त तेनोपावृत्तेन देवा अयजन्त तेनेऽवै-
तदभवन् यदिदं देवाः ॥ ६ ॥ स यदाश्राव-
यति । यज्ञेवैतदनुमन्त्रयतऽआ नः श्रूय
न आवर्त्तस्वेत्यथ यत्प्रत्याश्रावयति यज्ञ
एवैतदुपावर्त्ततेऽस्तु तथेति तेनोपावृत्तेन
रेतसा भूतेनऽर्त्तिवजः सम्प्रदायं चरन्ति
यजमानेन परोऽङ्गं यथा पूर्णपात्रेण
सम्प्रदायं चरेयुरेवमनेनऽर्त्तिवजः सम्प्रदायं
चरन्ति तद्वाचैवैतत्सम्प्रदायं चरन्ति वाग्धि
यज्ञो वागु हि रेतस्तदेतैनैवैतत्सम्प्रदायं
चरन्ति ॥ ७ ॥ सोऽनुब्रूहीत्येवोक्त्वाध्वर्युः ।
नापव्याह रेन्नोऽएव होतापव्याहरेदाश्रावय-
त्यध्वर्युस्तदग्नीधं यज्ञ उपावर्त्तते ॥ ८ ॥
सोऽग्नीन्नापव्याहरेत् । आ प्रत्याश्रावणा-
त्प्रत्याश्रावयत्याग्नीत्तत्पुनरध्वर्युं यज्ञ उपा-
वर्त्तते ॥ ९ ॥ काण्डस्यार्द्धम् ॥ १० ॥
सोऽध्वर्युर्नापव्याहरेत् । आ यजेति वक्तो-
र्यजेत्येवाध्वर्युर्होत्रे यज्ञः सम्प्रयच्छति ॥ १० ॥
सहोता नापव्याहरेत् । आवषट्कारात्तं
वषट्कारेणाग्रावेव योनौ रेतो भूतः सिञ्च-
त्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायतऽइति
नु हविर्यज्ञेऽथ सौम्येध्वरे ॥ ११ ॥ स वै
ग्रहं गृहीत्वाऽध्वर्युः नापव्याहरेदोपाकरणा-
दुपावर्त्तध्वमित्येवाध्वर्युरुद्गाताभ्यो यज्ञः
सम्प्रयच्छति ॥ १२ ॥ तऽउद्गातारो
नापव्याहरेयुः । ओत्तमाया एषोत्तमेत्येवो-
द्गातारो होत्रे यज्ञः सम्प्रयच्छन्ति ॥ १३ ॥
स होता नापव्याहरेत् । आ वषट्कारात्तं

वषट्कारेणाग्रावेव योनौ रेतो भूतः सिञ्च-
त्यग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य स ततः प्रजायते
॥ १४ ॥ स यद्व सोऽपव्याहरेत् । यं
यज्ञ उपावर्त्तते यथा पूर्णपात्रं परासिञ्चे-
देव ऽह स यजमानं परासिञ्चेत्तत्र यत्र हैव-
मृत्विजः संविदाना यज्ञेन चरन्ति सर्वमेव
तत्र कल्पते न मुह्यति तस्मादेवमेव यज्ञो
भर्त्तव्यः ॥ १५ ॥ ता वाऽएताः । पञ्च
व्याहतयो भवन्त्यो श्रावयास्तु श्रौषड्यज-
येयजामहे वौषडिति पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः
पशुः पञ्चर्त्तवः संवत्सरस्यैषैका यज्ञस्य
मात्रैषा सम्पत् ॥ १६ ॥ तासां सप्तदशा-
क्षराणि । सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापति-
यज्ञ एषैका यज्ञस्य मात्रैषा सम्पत् ॥ १७ ॥
ओं श्रावयेति वै देवाः । पुरोवातः ससृजिरे-
ऽस्तु श्रौषडित्यभ्राणि समस्तावयन्यजेति
विद्यतं ये यजामह ऽइति स्तनयितुं वष-
ट्कारेणैव प्रावर्षयन् ॥ १८ ॥ स यदि
वृष्टिकामः स्यात् । यदीष्ट्या वा यजेत
दर्शपूर्णमासयोर्वै ब्रूयाद्वृष्टिकामो वाऽअ-
स्मीति तत्रोऽअध्वर्युं ब्रूयात्पुरोवातं च विद्यु-
तश्च मनसा ध्यायेत्यभ्राणि मनसा ध्याये-
त्यग्नीधः स्तनयितुं च वर्षं च मनसा
ध्यायेति होतारः सर्वायेतानि मनसा ध्या-
येति ब्रह्माणं वर्षति हैव तत्र यत्रैवमृत्विजः
संविदाना यज्ञेन चरन्ति ॥ १९ ॥ ओं
श्रावयेति वै देवाः । विराजसभ्याजुहुवुरस्तु
श्रौषडिति वत्समुपावासृजन्यजेत्युद जयन्ये
यजामह ऽइत्युपासीदन्वषट्कारेणैव विरा-

जमदुहतेयं वै विराडस्यैवाऽएतदोह एव
ह वा ऽ अस्माऽइयं विराट् सर्वान् कामा-
न्दुहे य एवमेतं विराजो दोहे वेद ॥ २० ॥
ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥ [५. २.] ॥

प्रवरों के सम्बन्ध में यहाँ दो विधि हैं। एक आर्पेयवरण दूसरी प्रवराश्रावण। आर्पेय-वरण में अध्वर्यु ने होता की प्रशंसा में कहा था कि “हे कश्यप ! हे अवत्सार ! हे नैध्रुव ! अग्ने महान् २॥ असि ब्राह्मण भारत” अर्थात् हे कश्यप, अवत्सार और नैध्रुव के वंशज ब्राह्मण आप महान् हैं। अब होता के अपने पद पर प्रतिष्ठित होते समय उन्हें फिर याद दिलाते हैं कि तुम अपने उच्च पद के कर्तव्यों को कश्यपवत् (कश्यप की तरह) अवत्सारवत् (अवत्सार की तरह) निध्रुववत् (निध्रुव की तरह) पालन करो। सो इस पद स्वीकार की घोषणा को, कि आप हमारे द्वारा वृत होकर, इस पद पर प्रतिष्ठित होते हैं, प्रवराश्रावण कहते हैं।

सो वह प्रवर के लिए घोषणा करता है। सो यह जो प्रवर के लिये घोषणा करता है (“अस्तु श्रौपट्”=सुनो इस प्रकार की आज्ञा देता है) सो यह सुनाना ही तो यज्ञ है क्योंकि सब में सुनाने से मनुष्य के हृदय पर समाज का बन्धन गहरा हो जाता है। इसीलिये विवाहादि कर्म सब के सामने किये जाते हैं। सो वह यज्ञ के प्रति घोषणा करके फिर होता का वरण करूँ इस भावना से प्रवर का आश्रावण करता है। सो यह क्रिया इधम

(समिधाओं का गठुर) सन्नहन को प्राप्त होकर स्पर्श करके, की जाती है। यदि यज्ञ को स्पर्श किये बिना अध्वर्यु आश्रावण कर दे तो वह कम्प रोग का रोगी हो अथवा अन्य कोई कष्ट पावे। भाव यह है कि होता का वरण उन बन्धनों के द्वारा होना चाहिये जो इस विषय में नियत हैं। क्योंकि होता को यज्ञ का भार अपने ऊपर लेना है। ऐसे समय अध्वर्यु को इस विषय में सन्तोष होना चाहिये कि होता को इस पदवी पर प्रतिष्ठित करने के सब नियम पालन किये जा चुके हैं। सो उन बन्धनों का उपलक्षण इधम सन्नहन है। यदि कोई होता, प्रजा में होता के चुनाव सम्बन्धी सब नियम पालन हो चुके हैं ऐसा बिना जाने, घोषणा करेगा तो वह हृदय में काँपता रहेगा अथवा सचमुच दोष निकलने पर किसी अन्य दण्ड का भागी होगा। इस में कई लोग यह कहते हैं कि वेदि पर बिछे हुए कुशों में से एक कुशा को अथवा एक समिधा को ही स्पर्श करके आश्रावण कर दे। क्योंकि यह सब पदार्थ ही यज्ञ के अङ्ग हैं, उनमें से किसी को स्पर्श करके घोषणा करते हैं। किन्तु ऐसा न करे। जिससे यज्ञ काष्ठ बँधे होते हैं जिससे अग्निसम्मार्जन करते हैं इस प्रकरण में यज्ञ का वही अङ्ग अपेक्षित है। इसलिये इधमसन्नहन नाम की रस्सी को स्पर्श करके ही आश्रावण करे। तात्पर्य यह कि ऐसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने के समय यथा कथञ्चित् यह सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये कि चुनाव ठीक हो गया किन्तु

एक एक नियम (बन्धन) का ठीक पालन होना चाहिये। जिस तिथि को उपस्थित होना, जिस प्रकार के पत्र पर हस्ताक्षर होना, आदि उस विभाग के नियमों के अनुसार आवश्यक हों उनका पूरा पालन होना चाहिये। इसीलिये बन्धन की रस्सी को छूकर आश्रावण क्रिया की जाती है। ३। आश्रावण के पश्चात् अर्थात् सब ध्यान से सुनो (श्रौ३षट्) इस घोषणा के पश्चात् पहिले दैव होता का कीर्त्तन किया जाता है। सो यह अग्निदेव तथा अन्य देवों के सामने निहोरा करता है। इस विधि में अग्नि का वरण करता है। ऐसा कहकर अग्नि का आदर किया जाता है। और “जो देवों का होता है उसे पहिले वरण करना है” ऐसा जो कहता है यह देवों के आगे निहोरा करता है। ४। वह वाक्य बोलता है ‘अग्निर्दैव्यो होता’ वह सब से बड़ा अग्रणी परमात्मा सूर्य चन्द्रादि इस ब्रह्माण्ड की दिव्य शक्तियों का होता है। इसलिये कहा “अग्निर्दैव्यो होता” सो यह अग्नि परमात्मा और उसकी दिव्य शक्तियों के सामने अपनी तुच्छता अनुभन करता है (हे प्रभु तू सूर्य चन्द्रादि का होता इनको बुलाने की सामर्थ्य रखता है मैं संसार के साधारण पदार्थों को भी बड़ी कठिनता से तेरे बनाए ज्ञान द्वारा इकट्ठा करता हूँ) पहिले अग्नि का नाम लिया यह अग्नि के सामने अपनी तुच्छता दिखाई। फिर उसे दैव्य होता कहा इसमें अन्य जड़ देवों की महिमा और अपनी तुच्छता दिखाई। ५।

हे अग्ने तू सब से बड़ा विद्वान् और सब को बसेरा देने वाला अथवा सब के रोग दूर करने वाला है। “कित निवासे रोगापनयने च” तू सब पदार्थों को सङ्गठित करता है। ऐसे ही हमारा भी होता यज्ञ करे। सो वह परमात्मा अग्नि देवों का जानता है और सञ्चालन करता है ठीक उसी प्रकार यह होता भी अपने विभाग के पदार्थों और काय-कर्त्ताओं के दिव्य गुणों को भली-भाँति जान कर अनुष्ठया (ठीक:ठीक) यज्ञ करे यही कहता है। ६। मन हमारे अध्यात्म राज्य में सदा यज्ञ करता चला आया है। सब से पहिला यज्ञ का नमूना यही है। जिस प्रकार मन ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को ठीक चलाता है तब कार्य सफल होते हैं। इसी का अनुकरण करके संसार के लोग भी एक मननशील विद्वान् को आगे करके उसके पीछे चलते हैं। इसीलिये कहा मनुष्यत् क्योंकि यज्ञ वास्तव में तो मन का ही कर्म है इसीलिये कहा ‘मनुष्यत्’ मनु देखो पृ० ५६।७ आगे बोलता है भरतवत् यह अग्नि देवों तक हव्य पहुँचाता है। इसीलिये अग्नि का नाम भरत है। यह होता भी प्राण बन कर प्रजा का पालना करता है। इसीलिये कहा भरतवत्। भरत कुटुम्ब के उस व्यक्ति को कहते हैं जिसकी कमाई पर कोई कुटुम्ब पलता है सो कहा कि यह होता इन्द्रियों में मन की तरह; कुटुम्ब में भरत की तरह, अपने पद पर स्थित होकर यज्ञ करे। ८। अब मनु की तरह, भरत की तरह, इसी शृङ्खला में यजमान के प्रवरों के नाम भी जोड़ता है। सो

आर्षेय अर्थात् गोत्र के आदि पुरुष तथा अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों के नाम साथ मिला कर वाक्य को पढ़ता है। यहाँ कौन से नाम लेने यह हर गोत्र का अलग नियम है। सो इस विषय के ग्रन्थों में देखने से पता लग सकते हैं। जैसे कश्यप गोत्र में 'असितवत् अवत्सारवत् कश्यपवत्' यह बोला जायगा। इसमें दो भिन्न प्रकार होते हैं। जब प्रथमवार नाम उच्चारण किये जाते हैं तो वह "अग्ने महा२॥ असि ब्राह्मण भारत" इस वाक्य के साथ ही होता द्वारा बोले जाते हैं। वहाँ होता स्वयं अपने पद की प्रशंसा करता है। सो यहाँ अध्वर्यु उसके प्रवरों का उच्चारण करता है। सो प्रवर ग्रन्थों में किस गोत्र में होता किस प्रकार उच्चारण करता है और अध्वर्यु किस प्रकार उच्चारण करता है यह दिया हुआ है। भाव इसका यही है कि जिस प्रकार इन्द्रियों में मन, और कुटुम्ब में भरत, कर्तव्य पालन करता है, जिस प्रकार तुम्हारे गोत्र में असित अवत्सार कश्यप अपना नाम उज्ज्वल कर चुके हैं, उसी प्रकार इस पद पर प्रतिष्ठित होकर तुम भी करो। यज्ञ मण्डप में इकट्ठे हुए ऋषि और विद्वानों के सामने निवेदन करता है कि अमुक प्रतिष्ठित कुल का महा-वीर्य यह होता आज इस यज्ञ को प्राप्त हुआ है। ६। बड़े की ओर से छोटे की ओर वरण करता है। संसार में सन्तान इसी प्रकार उत्पन्न होते ही अर्थात् पहिले बड़ा फिर छोटा सो बड़े को उससे बड़े के सामने छोटा बनाता है। पहिले दादा फिर उसका पुत्र फिर पोता

इसीलिये प्राचीन से अर्वाचीन की ओर आता है। १०। इन तीनों ऋषि नामों के पीछे और शब्द कहता है 'ब्रह्मणवत्' सो ब्राह्मण अग्नि है। इसीलिये कहा ब्रह्मणवत् अर्थात् सच्चे ब्राह्मणों की तरह इसीलिये कहा ब्रह्मणवत् फिर कहता है आ च वक्षत सो "देवान् आज्यपां आ वह" आदि में जिन-जिन दिव्य गुणों को यज्ञ में उपस्थित करने के लिये पहिले कहा जा चुका है उन्हीं की ओर निर्देश करता है, कि सच्चे ब्राह्मणों की तरह उन-उन उत्तम गुणों को इस यज्ञ में आ वक्षत उपस्थित करे। ११। "ब्राह्मणा अस्य यज्ञस्य प्रावितारः" क्योंकि वह ब्राह्मण ही यज्ञ की रक्षा करते हैं जो अनुवचन अर्थात् अध्यापनोपदेशन में लगे होते हैं यही इसका विस्तार करते हैं। यही इसको उत्पन्न करते हैं। उनके सामने निहोरा करता है। इसीलिये कहता है ब्राह्मण इस यज्ञ के रखवाले हैं। १२। फिर अन्त में वाक्य बोलता है असौ.....मानुषः। सो जिस प्रकार ब्रह्माण्ड यज्ञ का परमाग्नि भगवान् होता है जिस प्रकार यन्त्र यज्ञ में भौतिक अग्नि होता है इस प्रकार अपने यज्ञ में मनुष्य होता को वरण करते समय नाम लेकर कहता है कि आज उस बड़े होता को साक्षी करके हम इस मानुष होता को वरण करते हैं। रिक्त स्थान में होता का नाम लिया जाता। सो इस मानुष होता का विधि-पूर्वक वरण करता है इससे पहिले वह अहोता था अब होता हुआ। १३।

अब अपने पद पर प्रतिष्ठित होता हुआ

होता जपता है। सो वह जाप इसलिये है कि वह भगवान् की दिव्य शक्तियों को और उन गुणों के रखने वाले सांसारिक मनुष्यों को शरण्य मान कर उनकी शरण में जाता है कि जिससे यथानुष्ठया (नियत कार्य-क्रमानुसार) देवों के लिये ठीक कार्य करे। यथानुष्ठया उन को उनका हव्य पहुँचाए और कहीं चूके नहीं इसलिये देवता स्मरण करता है। १४। अब अगली कण्डिका में उस जप मन्त्र की व्याख्या होगी, परन्तु हम सुगमता के लिये उसे इकट्ठा दे देते हैं फिर कण्डिका क्रम से व्याख्या करेंगे। जप मन्त्र इस प्रकार है—

ओं एतच्चा देव सवितर्वृणते ऽग्निं
होत्राय सह पित्रा वैश्वानरेणाग्ने पूषन्
बृहस्पते प्र च वद प्र च यज वसूना ॐ
रातौ स्याम रुद्राणामुर्व्यायां स्वादित्या
अदितये स्यामानेहसः जुष्टामद्य देवेभ्यो
वाचमुद्यासम् जुष्टां ब्रह्मभ्य जुष्टां नराशंसाय
यदद्य होतृवर्ये जिह्वं चक्षुः परापतत् अग्नि-
ष्ट् पुनरभ्रियाजातवेदा विचर्षणिः ।

इसका भाव इस प्रकार हुआ—

हे देव सविता आज सब ने मिलकर जो मुझे होता बनाया है सो वास्तव में आपको होता बनाया है। और अकेले आपको नहीं पिता वैश्वानर के साथ अग्नि को होता बनाया है। हे पूषा देव ! हे बृहस्पति देव ! मैं क्या बोलूँगा मैं क्या यज्ञ करूँगा मुझे निमित्त बना कर आपही बोलिये आपही यज्ञ करिये।

हमारा यज्ञ इस ढङ्ग से चले कि वस्ती (Civil population) का दान बना रहे। रुद्रों की (युद्ध विभाग की) शत्रुहिंसाशक्ति बनी रहे। हम प्रकृति माता के सुपूत सिद्ध हों, वह अखण्डित रहे किसी प्रकार का दोष उसमें उत्पन्न न हो। आज ऐसी बात बोलूँ जो राज-पुरुषों को भी प्रीतिकारक हो, ब्राह्मणों को भी प्रीतिकारक हो। प्रजावर्ग में भी प्रशंसित हो। इस मेरे होतृवरण कर्म में जो कहीं दृष्टि सन्मार्ग से च्युत होकर टेढ़ी पड़ी हो। सर्वान्तर्यामी (जातवेदाः) सर्वलोक साक्षी सकल लोक नायक भगवान् उसे पुनः ठीक स्थान पर आभूषित कर दे।

अब कण्डिका क्रम से व्याख्या सुनिये। सविता नाम है नियम बनाने वाली राज-सभा के अध्यक्षरूप में राजा का, सो प्रजा में कहीं भी किसी स्वतन्त्र व्यापारादि कर्म में लगा हुआ भी होता अपने आपको सब से पहिले सीधा राज-सभा के अधीन समझता है। यदि यजमान भी उसे कोई ऐसा कर्म करने को कहे जो राज-नियम विरुद्ध हो, वह उसे नहीं करेगा। इसलिये सब से पहिले जपता है “एतच्चा देव सवितर्वृणते” सो यह सब से पहिले आज्ञा लेने सविता की सेवा में उपस्थित होता है, क्योंकि सम्पूर्ण देवों को कार्य करो इस प्रकार की आज्ञा देने वाला वही है। और सब से बड़ा सविता परमात्मा है। सो वस्तुतस्तु उसे ही स्मरण करता है। क्योंकि यदि राजाज्ञा भी परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध हो तो वह नहीं माननी चाहिये। सो परिणामतः

‘देवसवितः’ का अर्थ हुआ सारे संसार के आज्ञा द्वारा प्रेरक परमात्मन् और तदनुवर्ती, राजन् आज हम वस्तुतः तुझे ही होता वरण करते हैं।

फिर आगे वाक्य बोलता है अग्नि होत्राय सो अग्नि के नाम स्मरण द्वारा अग्नि के आगे तथा अन्य सब देवों के आगे निहोरा करता है। अग्नि का नाम स्मरण अग्नि के आगे निहोरा है। और क्योंकि वह देवों का होता है और उसका नाम पहिले लेता है, इसलिये देवों के आगे निहोरा करता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार वह संसार रूप यज्ञ में गति शील तथा अन्धकार निवारक होने के कारण सच्च होता का कार्य करता है। इसी प्रकार राज्य में, राजा द्वारा नियुक्त ब्राह्मणाग्रगण्य होता कार्य करता है। और विश्व में भगवान् स्वयं सविता होता अध्वर्यु सब कुछ है। सो हे अग्नि सदृश गुण वाले राजब्राह्मण अथवा सकल लोकाग्रणी परमेश्वर वास्तव में आप ही इस यज्ञ के भी होता हैं। मैं तो निमित्त मात्र हूँ। ११५।

आगे वाक्य बोलता है सहपित्रा वैश्वानरेण, हे सविता आपके पिता वैश्वानर के सहित अग्नि को आज सब मिलकर होता बनाते हैं। वैश्वानर अग्नि का अर्थ हम पहिले लोकप्रिय शिक्षण (Popular education) होता आये हैं वह सविता के लिये पितृरूप हैं। क्योंकि जैसी प्रजा की सम्मति होगी तदनुरूप ही राज्य नियम भी उत्पन्न होंगे।

अशिक्षित प्रजा के नियम भी भदे होंगे। सुशिक्षित प्रजा के नियम भी सुसंस्कृत होंगे। सो राज का राजत्व प्रजा की इच्छा से ही पैदा होता है इसलिये वैश्वानर अग्नि को सविता का पिता कहा गया। अब परमात्मा में यह कैसे सङ्गत होंगे सो विचारना है। सो परमात्मा के नियमों का पता उसके संवत्सर के देखने से पता लगता है। यदि आज तीव्र गरमी पड़ रही है तो हम नहीं कह सकते कि उसकी इच्छा संसार को सुखा डालने की है किन्तु वस्तुतः वह गर्मी उत्तम वर्षा की भूमिका है। इसलिये गर्मी के नियमों का रहस्य वर्षा होने पर खुलता है। इसी बात को कवि ने इन शब्दों में कहा है, ‘सहस्रगुणमुत्सृष्टु मादत्ते हि रसं रविः’ सो संवत्सर ही वस्तुतः वर्ष भर में दीखने वाले सब नियमों का जन्म-दाता है। वर्षभर में जितनी क्रिया हैं वह एक चक्र का अङ्ग है। इसलिये ब्रह्माण्ड में संवत्सर को सविता का पिता कहा गया। परमात्मा के ही जिस एक नियम से दूसरे का जन्म अर्थात् प्रादुर्भाव होता है उन्हें आलङ्कारिक भाषा में पिता पुत्र कहा गया है इसलिये कहा है सो पिता स पुत्रः (अथर्व ७।६।१) इसलिये कहते हैं संवत्सर का नाम ही पिता वैश्वानर प्रजापति है। सो यह संवत्सर प्रजापति के सामने अपना छोटापन बताता है अर्थात् कहता है कि मुझ होता को गुरु संवत्सर है उससे ही मैं सीखता हूँ कि ग्रीष्म शरत् वर्षादि परस्पर विरोधी शक्तियों को प्रजा के कल्याण के लिये किस प्रकार सुसंगठित किया

जाता है सो संवत्सर के रूप में अपने यज्ञ नियम बनाने वाला भगवान् मेरा गुरु है। वस्तुतः वही होता है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ।

हे अग्ने हे पूषन् हे बृहस्पति मेरे द्वारा आप ही बोलिये आप ही यज्ञ कीजिये सो आगे यज्ञ कर्म में होता अनुवचन किया चाहता है। सो इन देवताओं के सामने अपनी तुच्छता स्वीकार करता है।

अग्नि राजा द्वारा विभाग विशेष में नियुक्त विशेषज्ञ ब्राह्मण का नाम है। पूषा उन राज-कर्मचारियों को कहते हैं जिनको किसी राजाज्ञा को काय में परिणत करने का कार्य अर्पित होता है। उदाहरणार्थ पोलीस के अध्यक्षने शूरसेन को आज्ञा दी कि तुम दुष्टकर्मा को पकड़ो क्योंकि उसने हत्या की है सो हत्या करने वाले को पकड़ना चाहिये यह सविता का आदेश है। दुष्टकर्मा को पकड़ो उसने हत्या की है यह वरुण का आदेश है। शूरसेन को दुष्टकर्मा तक पहुँचाना अश्विनौ का काम है। दुष्टकर्मा को पकड़ना पूषा का काम है। बृहस्पति एक सम्राट् है। वैदिक व्यवस्था में राजा दण्ड द्वारा शासन करता है बृहस्पति अनु-शासन अथवा प्रेरणा द्वारा। इस देवता का विशेष वर्णन ऋग्वेद द्वितीय मण्डल २३ सूक्त में देखना। सो अग्नि पूषा बृहस्पति वस्तुतः यज्ञ कर रहे हैं मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। सब से बड़ा अग्नि पूषा तथा बृहस्पति परमात्मा है। सो हे अग्रणीगुणयुक्त हे पुष्टायुक्त तथा हे बड़ों के बड़े परमात्मन् तथा तद्गुणविशिष्ट राज-पुरुषो वस्तुतः आप ही इस यज्ञ में अनुवचन

करिये और यज्ञ करिये मैं तो निमित्त-मात्र हूँ। १६।

आगे वाक्य बोलता है वसूनां रातौ स्याम रुद्राणामुर्व्यायां स्वादित्या आदितये स्याम-नेहसः इसका अर्थ है कि हम वसुओं की दान शक्ति में रहें। रुद्रों की हिंसा शक्ति में रहें। आदिति के लिये अनेहस् (दोष रहित) उत्तम आदित्य हों। सो वसु रुद्र आदित्य यह तीन देव हैं हम इनकी अभिगुप्ति में रहें यही कहता है। सायण ने यहाँ उर्व्यायाम् के स्थान में उर्व्यायाम् पाठ दिया है इसका अर्थ किया है उरुता अर्थात् महत्ता किन्तु महत्ता रुद्र के साथ सङ्गत नहीं होती। उर्व्वधातु का अर्थ हिंसा है, सो उर्व्वा अथवा उर्व्या उर्व्वी हिंसा-याम् से बनाना चाहिये। हम वसुवस्ती बसाने वाले, सृष्टि वृद्धि करने वालों की दान शक्ति में रहें। रुद्रों की हिंसा शक्ति में रहें। और आदित्यों की अदम्यता में इनकी अभिगुप्ति में रहें इनकी अभिगुप्ति करें और इनके द्वारा अभिगुप्त हों। इन दोनों को एक शब्द द्वारा कहा कि इनकी अभिगुप्ति में रहें। तात्पर्य यह कि होता के तीन काम हैं। जिरुका वह विशेषज्ञ है उस के अनुकूल पदार्थों की सृष्टि विरोधी शक्तियों का नाश तथा प्रकृति के जिस तत्त्व से वह पदार्थ पाया है उसकी पूर्ति। उदाहरण के लिये कृषि के होता को लीजिये बीज बोना उसका वसु कर्म है बाड़ लगाना रुद्र कर्म है, तथा पृथिवी में से खेती करने द्वारा जो दिति (कमी) उत्पन्न हुई है उसे ठीक खाद डाल कर पूरा कर देना आदित्य कर्म है इसी से वह आदिति

यात्री-मित्र

लेखक - स्वामी सत्यदेव परिव्राजक; प्रकाशक—सत्यज्ञान

निकेतन ज्वालापुर (यू. पी.) मूल्य ॥); पृष्ठ संख्या १०५

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक यात्री-रूप में बहुत प्रसिद्ध हैं। उन्होंने देश-विदेश का काफी भ्रमण किया है, और अपने ज्ञान की वृद्धि की है। यात्रा ज्ञान प्राप्ति का अत्युत्तम साधन है, यात्रा करने वाले नाना प्रकार के स्थलों को देखते हैं। विविध प्रकार के आदमियों से उनका वास्ता पड़ता है। इसी प्रकार तरह-तरह के प्राकृतिक पदार्थ व प्राणियों से उनका समागम होता है। इस प्रकार मनुष्य के ज्ञान का भण्डार भरपूर हो जाता है। यात्रा मनुष्य के लिए ही नहीं अपितु जाति व देश के लिए भी बहुत फायदेमन्द है। जो मनुष्य किसी उद्देश्य से व जिज्ञासु रूप में भ्रमण करते हैं वे अपना तथा जाति व देश का बहुत उपकार करते हैं इसलिये किसी को निरुद्देश्य भ्रमण नहीं करना चाहिये।

यात्रा में नानाविध कठिनाइयों का मुकाबिला करना पड़ता है। कई बातें ऐसी हैं कि जिनसे अनभिज्ञ आदमी सुख-पूर्वक यात्रा नहीं कर सकता। उसके लिये पथ-प्रदर्शक की अत्यन्त आवश्यकता होती है। स्वामी जी ने देश-विदेश का काफी भ्रमण किया है। उन्हें अनुभव भी बहुत है। उन्हीं अनुभवों से स्वामी जी महाराज ने यात्री के लिये

पथ-प्रदर्शक के रूप में हमारे सामने यह पुस्तक रखी है। पुस्तक में संक्षेप से यात्रा के लिये सभी आवश्यक बातों की ओर निर्देश कर दिया गया है। विदेश यात्रा और नित्य की स्वदेश यात्रा को सुखद बनाने के इच्छुक व्यक्तियों को यह पुस्तक सदा अपने हाथ में रखनी चाहिए।

× × ×

हिन्दू-धर्म की विशेषतायें

लेखक तथा प्रकाशक उपर्युक्त; मूल्य १-); पृष्ठ संख्या ८४

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, उच्च-कोटि के विद्वान् तथा अनुभवी आदमी हैं। उन्होंने अपने दृष्टि-कोण से हिन्दू-धर्म को विस्तृत तथा व्यापक रूप में दर्शाने की कोशिश की है। एक जाति की उन्नति के लिये जो आशा, ज्ञान, कर्म त्याग, ईश्वर-प्रेम, समाजवाद आदि उत्तम गुण चाहियें वे सब हिन्दू-धर्म में पाये जाते हैं। साम्यवाद व बोल्शे-विज़्म पूर्ण रूप से चाहे हिन्दुस्तान के लिये अनु-करणीय न हो परन्तु हिन्दु-जाति की जो नवीन तथा सर्वोत्तम वर्णाश्रम व्यवस्था है उसको पुनर्जीवित करने के लिये तो सर्वश्रेष्ठ साधन हैं।

इसी का प्रचार सारे जगत् में शान्ति पैदा कर सकता है। स्वामी जी की यह कृति अत्यु-त्तम है, आशा है कि प्रत्येक व्यक्ति इसका अवश्य स्वाध्याय करेंगे।

छप गई !

छप गई !!

छप गई !!!

अग्निहोत्र की अनूठी व्याख्या

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार की प्रतिभापूर्ण लेखनी का एक और चमत्कार

देवयज्ञ

नामक पुस्तक छपकर तैयार हो गई !!

पण्डित बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार आर्यसमाज के प्रतिभाशाली वैदिक विद्वान् हैं। उनकी लिखी स्वर्ग, सोम, मरुत, शतपथ में एक पथ, शतपथ भाष्य, ब्रह्मयज्ञ आदि पुस्तकें आर्यसमाज के साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। उनकी सन्ध्या की व्याख्या ब्रह्मयज्ञ के थोड़े ही काल में दो संस्करण निकल चुके हैं। देवयज्ञ पुस्तक भी ब्रह्मयज्ञ की ही कोटि की है। देवयज्ञ में अग्निहोत्र के मन्त्रों की व्याख्या के अतिरिक्त देवयज्ञ के अङ्ग, उद्देश्य-प्रणिधान, ईर्ष्या-विजय, विश्वेदेवा और यजमान, वषट्कार और स्वाहाकार, स्विष्टकार, अदब्धता, यज्ञ-चक्र, ब्रह्मप्रणिधान, आदि कितने ही अन्य विषयों पर भी सर्वथा मौलिक विचार दिये गये हैं। एक बार मँगा कर अवश्य पढ़िये। मूल्य केवल 1/- है।

निम्न पुस्तकें भी मँगाकर पढ़िये

ब्रह्मयज्ञ 1/-)

स्वर्ग 1/-)

सोम 1)

मरुत 1)

शतपथ में एक-पथ 1)

मिलने का पता—

अध्यक्ष—अनुसन्धान-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

गुरुदत्त भवन, लाहौर।

पण्डित प्रियव्रत प्रिण्टर और पब्लिशर द्वारा नवयुग प्रिण्टिंग प्रेस, १७, मोहनलाल रोड, लाहौर,

में छपकर गुरुदत्त भवन, रावी रोड, लाहौर, से प्रकाशित हुआ।

वैशाख, १९९४ १६-४-३६

G. N. ...
Salgaripur 2757.

* ओ३म् *

आर्य

Library



वार्षिक मूल्य ३)

सम्पादक: —

एक प्रति १८)

पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, गुरुदत्त भवन, लाहौर ।

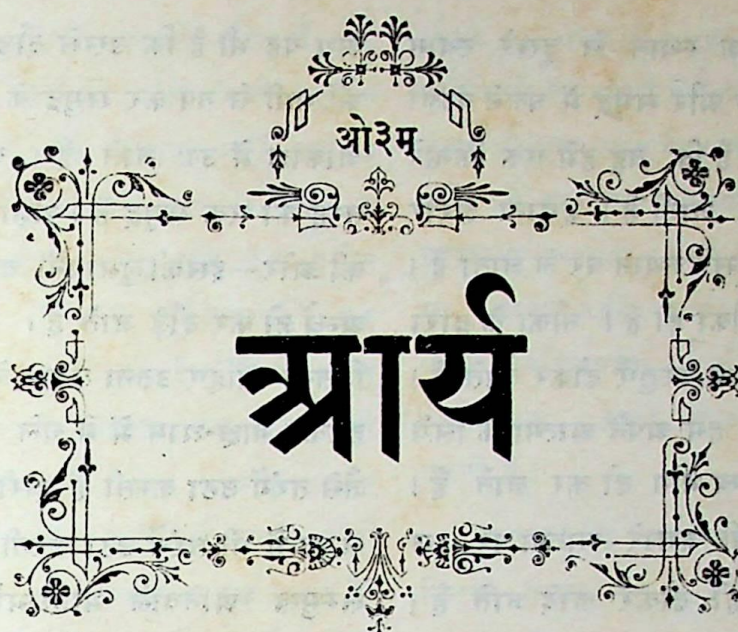
विषय-सूची

सं०	विषय	लेखक	पृष्ठ
१.	वेदोपदेश		
२.	वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त	... श्री० पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति	६
३.	आर्यसमाज और मुसलमान	... श्री० पं० धर्मदेव जी शास्त्री दर्शनकेसरी	१२
४.	ऋभुओं का मर्त्यत्व	... श्री० पं० भगवद्भक्त जी वेदालंकार	१४
५.	जगज्जननी का ध्यान	... श्रीमती विद्यावती देवी जी	१६
६.	पशु, मनुष्य व देव	... श्री० पं० हरिशरणजी विद्यालंकार	२०
७.	समाश्वासन	... श्री० सत्यभूषणजी 'योगी'	२२
८.	सम्पादकीय:—	... पं० भगवद्भक्तजी वेदालंकार	२३
	(क) शस्त्रीकरण की होड़		
	(ख) कोचीन-नरेश का निन्दनीय कृत्य		
	(ग) स्पेन में रणचण्डी का नृत्य		
	(घ) हिन्दी पर घातक वार		
	(ङ) भारत में सुधार		
	(च) जर्मनी में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली		
९.	अथर्ववेद भाष्यम्	अनुसन्धान विभाग	४१—५६

आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये, यह आपका कर्तव्य है ।

ग्राहकों से—आर्य अङ्कुरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है। पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये। फिर अङ्कुरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये। इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे। अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये।

पत्र-व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
ग्राहक-संख्या, पतेवाली चिट पर लिखी होती है ।



ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अ॒प्तुरः कृ॒ण्वन्तो वि॒श्वमा॒र्यम् । अ॒प॒घ्नन्तोऽरा॒व्याः ॥

भाग १६

लाहौर, वैशाख १६६३, मई १६३७
[दयानन्दाब्द ११३]

अंक १

वेदोपदेश

मैं और भगवान् एक नौका पर

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम् ।

अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेख ईखयावहै शुभे कम ॥

ऋग० ७।५८।३ ॥

अर्थ—(यत्) जब (वरुणः) सबका वरणीय (स्नुभिः) तरंगों से (अधि चराव) उन पर चढ़कर और सब को बचाने वाला भगवान् (च) और जो हम खेलते हैं, तब, (प्रेखे) मैं खूब झूलता हूँ मैं उपासक (नावं) एक नौका पर (आ रुहाव) (शुभे) संसार के भले के निमित्त (कम्) उसके सुख के लिये (प्रेखयावहै) तब हम दोनों खूब झूल कर समुद्र के (मध्यं) मध्य में (प्र-ईरयाव) छोड़ देते प्रयत्न करते हैं। हैं, और तब (यत्) जो (अपां) समुद्र के जलों की यह हमारा शरीर ही एक नौका है। नौका

का शाब्दिक अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाली। नदी और समुद्र में चलने वाली नौका इसी लिये नौका है कि वह हमें एक किनारे से दूसरे किनारे पर ले जाती है। हमारा शरीर भी हमें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है। इसलिए वह भी एक नौका ही है। नौका के द्वारा हम अनेक प्रकार की भोग्य वस्तुएँ ढोकर लाते हैं। इस शरीर के द्वारा भी हम अपने आत्मा के लिये अनेक प्रकार के सुख-दुःख भोग ढो कर लाते हैं। धर्मा-धर्म के संस्कार भी हमारे आत्मा पर इस शरीर-नौका के द्वारा ही ढोकर लादे जाते हैं। किसी भी दृष्टि से देखें हमारा शरीर हमारे लिये नौका है। इस नौकामें चिरंतन यात्री हमारा आत्मा चढ़ा हुआ है। जब भगवान् का साक्षात्कार होकर हमारे हृदय में उनके दर्शन हो जाते हैं तो मानो भगवान् भी हमारी नौका पर चढ़ जाते हैं। यह शरीर नौका हमें इस लिये मिली है कि हम इसकी सहायता से संसार समुद्र को तर जायें और मोक्ष-सुख के भागी बनें। परमात्मा हमें यों ही मोक्ष-सुख नहीं चखा देते। हमारे द्वारा अपनी योग्यता प्रमाणित कर दी जाने पर ही हमें प्रभु मोक्ष-सुख देते हैं। योग्यता प्रमाणित करने के लिये हमें संसार समुद्र में भेजा जाता है। यदि हम इस समुद्र को अपने शुभ कर्मों की सहायता से तरने में समर्थ हो गये तब तो हम मोक्ष-सुख के अधिकारी हो जायेंगे। और यदि हम यहाँ आकर अशुभ कर्मों में ही लिप्त रहे तो हमें इसी समुद्र में डूबते रहना होगा। मोक्ष-सुख अपने पुरुषार्थ द्वारा संसार-समुद्र को तैर कर जीता जाता है। समुद्र का शाब्दिक अर्थ है जिसकी ओर दौड़कर जाते हैं। समुद्र की ओर सब नदियों के जल दौड़कर जाते हैं इसीलिये उसे समुद्र कहते हैं। समुद्र का एक

अर्थ यह भी है कि उससे दौड़ कर जाते हैं। सूर्य की गर्मी से तप कर समुद्र के जल उससे उठ कर आकाश में उड़ जाते हैं। यह संसार भी इसी तरह का एक समुद्र है। अज्ञानी जन इसके विषयों की ओर—इसकी लुभावनी चमक-दमक की ओर—ग्रन्थे हो कर दौड़े जाते हैं। और ज्ञानी जन इससे जितना चाहिए उतना लाभ लेकर अन्त में इससे हटकर मोक्ष-धाम में चले जाते हैं। समुद्र में जैसे तरंगें उठा करती हैं इसी भाँति इस संसार-समुद्र में भी तरंगें उठा करती हैं। इसमें मनुष्य के सम्मुख आनेवाले भाँति-भाँति के विषय और तरह-तरह की समस्याएँ ही तरंगें हैं। जब तक मनुष्य को भगवान् के दर्शन नहीं हो जाते और उनकी पवित्र प्रेरणा में वह चलना नहीं सीखता तब तक उसे इस संसार-समुद्र की तरंगों के खूब थपेड़े खाने पड़ते हैं। वह उनकी बेहोश कर देने वाली मार के नीचे बुरी तरह आता है। उसे नहीं सूझता कि वह अपनी नौका को इस समुद्र के परले पार कैसे ले जावे। पर जब उसकी नौका पर भगवान् भी आ बैठते हैं—जब उसे भगवान् के दर्शन हो जाते हैं—और वह उनकी पवित्र प्रेरणा में अपनी किशती चलाने लगता है तब वह इस समुद्र की भयङ्कर-से-भयङ्कर तरङ्गों से भी नहीं घबराता। वह उनकी मार में नहीं आता। वह तो उन पर चढ़कर—उन पर सवार होकर—खेलता और झूलता है। अब वह तरङ्गों की लपेट में नहीं आसकता। अब तो उसकी नैया पार निकल जायेगी। न केवल उसे अपनी नौका के भाग्य और भविष्य के बारे में कोई सन्देह नहीं रह जाता प्रत्युत वह औरों की नौकाओं को भी पार लगाने के काम में लग जाता है—उनके भले और सुख की बातें सोचने और करने लग जाता

है। और इस पवित्र कर्म में उसकी नौका में बैठे हुए भगवान् उसकी सहायता और मार्ग प्रदर्शन करते हैं। वह अपने को अकेला नहीं अनुभव करता। दूसरों की नौकाओं को पार ले जाने के काम में उसे भगवान् अपने साथ लगे हुए प्रतीत होते हैं। इसी लिए मन्त्र में "प्रेख्यावहे" यह द्विवचन की क्रिया प्रयुक्त की गई है। जिस धातु से यह क्रियारूप बनता है उसका अर्थ झूलना भी होता है और उत्कृष्ट गति, चेष्टा अर्थात् उत्कृष्ट प्रयत्न करना भी होता है। इसीलिये हमने दोनों भावों को मिलाकर, हम झूलकर प्रयत्न करते हैं ऐसा अर्थ कर दिया है। भाव यह है कि जिस

व्यक्ति को भगवान् का सहारा मिल जाता है वह परोपकार के कामों में भारी-से-भारी प्रयत्न करता हुआ भी उस प्रयत्न के भार से दबता नहीं। और यदि उसे कभी अपने प्रयत्नों में कुछ समय के लिये सफलता न भी मिले तो भी उसे निराशा या चिन्ता नहीं दबाती। उसके मनमें सदा ऐसी निश्चिन्तता और प्रसन्नता रहती है जैसी एक झूला झूलनेवाले के मन में रहा करती है।

मनुष्य! तू अपनी नौका पर भगवान् को बिठाने वाला बन। फिर तेरा कल्याण ही कल्याण है।



ट्रैक्टों का सिलसिला

सभा का साहित्य विभाग प्रति मास हिन्दी तथा उर्दू में समाजों में प्रचारार्थ मुफ्त बाँटने के लिये ट्रैक्ट प्रकाशित करता है। २५ प्रतियों का एक पैकट प्रति मास मँगवाने पर २) वार्षिक चन्दा है। यदि आप का समाज अभी तक इस ट्रैक्टों के मासिक सिलसिले का ग्राहक नहीं बना तो शीघ्र ही २) मनीआर्डर द्वारा भेज कर इस के अवश्य ग्राहक बन जाइये।

अध्यक्ष—साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

१६. राज्य में करने योग्य कुछ बातें

(Some ends to be realised by the state)

१७. गृहनिर्माण

अथर्ववेद के तृतीय काण्ड के बारहवें सूक्त में शाला-निर्माण का वर्णन है। इसमें यह बताया गया है कि हमें अपने रहने के घर किस प्रकार के बनाने चाहियें और उनमें किस प्रकार का समृद्धि से युक्त जीवन व्यतीत करना चाहिये। इस सूक्त का चतुर्थ मन्त्र इस प्रकार है :—

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो

बृहस्पतिर्निमिनोतु प्रजानन् ।

उक्षन्तुद्रा मरुतो घृतेन भगो

नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥

मन्त्र का अर्थ है :—“(सविता) राष्ट्र के सब लोगों को कर्त्तव्य कर्मों में प्रेरणा करने वाला (वायुः) गतिशील और गन्धनशील अर्थात् अपने प्रभाव द्वारा सर्वत्र पहुँच जाने वाला और राष्ट्र में हो रही हर एक बात की गन्ध ले लेने वाला, उसे जान जाने वाला, अथवा दुष्टों का गन्धन अर्थात् नाश कर देने वाला, अथवा वायु की तरह सर्वत्र गति-शील और बलवान् (बृहस्पतिः) राष्ट्र के बड़े-से-बड़े लोगों या बड़ी-से-बड़ी बातों की रक्षा करने वाला (प्रजानन्) ज्ञान से युक्त (इन्द्रः) सम्राट् (इमां) मेरे इस (शाला) घर को (निमिनोतु) बनाये (मरुतः) वायुएँ (घृतेन) अरण्य शील तेजस्वी (उद्रा) जल से (उक्षन्तु)

इसका सिचन करें (भगः) ऐश्वर्यशाली और ऐश्वर्य देने वाला (राजा) यह हमारा राजा (कृषिं) हमारी खेती को (नि तनोतु) बढ़ाये ।” मन्त्र को विचार-पूर्वक पढ़ने से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) ‘सम्राट् मेरे घर को बनावे’, इस वाक्य का यह भाव है कि राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति, जो कि अपना घर बनाना चाहता है, घर बनाने से पहले राज्य की स्वीकृति लेगा। राज्य का एतद्विषयक विभाग स्वीकृति देने से पूर्व हर एक बात की जाँच पड़ताल करेगा कि कहाँ, कैसी स्थिति में, किस प्रकार का घर बनाया जा रहा है। वह यह भी देखेगा कि स्वास्थ्यादि के नियमों को भी घर बनाते समय ध्यान में रखा जा रहा है कि नहीं। सब बातों की सन्तुष्टि कर लेने पर ही राज्य किसी को कहीं घर बनाने की स्वीकृति देगा। क्योंकि राज्य की स्वीकृति के बिना किसी का घर नहीं बन सकता इस लिये मन्त्र में आलंकारिक ढंग से कह दिया कि राजा ही मेरे घर को बनाता है।

(२) सम्राट् के “प्रजानन्” विशेषण की व्यञ्जना यह है कि राज्य के वास्तु-निर्माण विभाग के कर्म-चारी इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली हर एक बात का अच्छी तरह “प्रज्ञान” अर्थात् प्रकृष्ट

ज्ञान रखते हैं। उनके पास ज़मीनों की सब स्थितियों के मान-चित्र रहते हैं। नये बनने वाले घरों के मान-चित्र देख कर उनके विषय में भी वे अनुमति देने से पहले प्रत्येक ज्ञातव्य बात जान लेते हैं। और यदि नये बनाये जा रहे घरों में किसी बात की न्यूनता या वृद्धि करने की आवश्यकता हो या और उनके विषय में और ही कोई ज्ञातव्य बात हो तो उस विभाग के विशेषज्ञ कर्मचारी अपने प्रकृष्ट ज्ञानके कारण प्रत्येक बात में उचित परामर्श देते और आवश्यक नियन्त्रण रखते हैं। शाला-निर्माण के सम्बन्ध में कोई बात उनके ज्ञान से बच नहीं सकती।

(३) “सविता” आदि का जो सामान्य भाव है वह ऊपर पदार्थ में ही आगया है। ‘सविता’ सूर्य को भी कहते हैं। इसलिये इस शब्द से यह ध्वनि भी निकलती है कि शाला ऐसी बनानी चाहिए जिसमें सूर्य का प्रकाश और उष्णता भली भाँति प्रवेश कर सकें। “वायु” शब्द की यह भी ध्वनि है कि हमारी शालाओं में स्वच्छ वायु का भी स्वच्छन्द प्रवेश हो सकने के लिये प्रवन्ध रहना चाहिये। उनमें द्वार, खिड़कियाँ और गवाक्ष प्रचुर संख्या में रहने चाहिये। “बृहस्पति” ज्ञानी ब्राह्मणों को कहते हैं। पौराणिक देवमाला में भी बृहस्पति देवताओं के गुरु माने जाते हैं। इस अर्थ के आधार पर इस पद की ध्वनि यह होगी कि शाला निर्माण करते समय ज्ञानी ब्राह्मणों का, गुरु लोगों का, आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिये अथवा यह कि ऐसे ब्राह्मण लोग हमारे घरों में सदा आ जा सकें और हमें सदुद्देश दे सकें इस का सदा ध्यान रखना चाहिये। ब्राह्मण ग्रन्थों में बृहस्पति की दिशा ऊर्ध्वा^१ अर्थात् आकाश है ऐसा

कह कर आकाश से भी उसका सम्बन्ध बनाया गया है। तब इस शब्द की यह भी ध्वनि होगी कि हमारी शाला में आकाश बहुत रहना चाहिये अर्थात् वह खुली होनी चाहिए। उसके प्रकोष्ठ (कमरे) पर्याप्त लम्बे-चौड़े और ऊँचे रहने चाहिये जिससे उनके निवासियों को प्रभूत वायु मिल सके।

सविता आदि कर्तव्य भेद से राजा के भी नाम होते हैं। राजा के इन स्वरूपों की विशिष्ट विवेचना आगे की जायेगी। तब गृह-निर्माण का राज्य के इन विशिष्ट विभागों से भी सम्बन्ध सिद्ध होगा।

(४) “वायुर्ष क्षरणशील तेजस्वी जल से इसका सिंचन करें”, इसका वाक्य-भाव यह है कि हमारे घर में जो जल व्यवहार में आता हो वह जहाँ तक सम्भव हो सके शुद्ध वर्षा जल से संगृहीत होना चाहिये। वायुर्ष क्षरणशील तेजस्वी जल से सिंचन केवल वर्षा द्वारा ही कर सकती हैं। वायुओं द्वारा जल सिंचन का और कोई उपाय नहीं है। “सिंचन करें” क्रिया की यह ध्वनि है कि जल का सेवन अधिकता से करना चाहिये। स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है कि अपने शरीर को स्नान और पान द्वारा खूब जल दिया जाये। “मरुत” सेना के सिपाहियों को भी कहते हैं। इसलिये इस पद की यह ध्वनि भी हो सकती है कि लोगों के पीने आदि का जो जल हो उसे कोई किसी प्रकार से दूषित न कर सके इस बात का ध्यान राजा के सिपाही लोग सदा रखें। और इस प्रकार अपने “मरुतों”

अथैतदन्तरिक्षम् एषा हि दिग् बृहस्पतेः । श० ५ । ५ ।

१ । १२ ॥ मन्त्रपि—ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः ।

अथर्व० ३ । २७ । ६ ॥

१. एषोर्ध्वा बृहस्पतेर्दिगित्येवाहुः । श० ५ । १ । १ । ४ ॥

द्वारा प्रतिपालित जल से राज्य प्रजा के लोगों का सिंचन करे।

(५) मन्त्र के अन्तिम चरण से राजा का यह कर्तव्य भी बताया गया है कि वह राष्ट्र की कृषि की उन्नति करे जिस से राष्ट्र के प्रत्येक घर के निवासियों को यथेष्ट खाने को मिल सके।

हमारा इस मन्त्र को प्रस्तुत करने का यह अभिप्राय है कि पाठक देखें वेद की राजनीति में किस प्रकार राज्य का यह कर्तव्य बताया गया है कि वह व्यक्तियों द्वारा गृह-निर्माण से पूर्व प्रत्येक बात की भलीभाँति जाँच पड़ताल कर ले और तत्पश्चात् ही उसके निर्माण की स्वीकृति दे। मन्त्र के “इन्द्रः निमिनोतु प्रजानन्” इन शब्दों से यह बात स्पष्ट ध्वनित हो रही है। वैदिक गृहस्थ की जिस शाला के निर्माण में राज्य ने सहायता देनी है और देखना है कि वह एक आदर्श शाला बन रही है या नहीं उसका चित्र पाठकों के मानसिक चक्षु के आगे लाने के लिये सूक्त के कुछ मन्त्र खण्डों को नीचे उपस्थित करना अप्रासंगिक न होगा—

इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालाम् । अथ० ३।१२।१

इहैव ध्रुवा प्रतिष्ठि शाले । अथ० ३।१२।२

इन मन्त्र खण्डों से सूचना मिलती है कि हमें अपने घर “ध्रुव” अर्थात् स्थिर, ऐसे दृढ़ और पक्के मजबूत बनाने चाहियें जिससे वे ऋतुओं के प्रभाव और भूकम्प आदि के झटकों को सहन कर सकें। “देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे” (३।१२।५) से द्योतित किया गया है कि हमारी शाला देखने में “देवी” अर्थात् बड़ी भव्य हो और इसके लिये उसका निर्माण “देव” अर्थात् बड़े क्रियाकुशल शिल्पियों से कराना चाहिये।

“धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः” (३।१२।३)—उसमें

अनेक “धरुण” अर्थात् स्तम्भ हों जिनके ऊपर बड़ी-बड़ी “छन्द” अर्थात् छतें रखी हों। अर्थात् हमारी शाला खूब विशाल हो। धरुणी का यह भाव भी हो सकता है कि वह अपने भीतर सब आवश्यक चीजों को धारण करने वाली हो और “बृहच्छन्दा” का यह भी भाव हो सकता है कि उस में वेद मन्त्रों का खूब पाठ होता हो। वह “मानस्य पत्नी” (३।१२।५) हो, अर्थात् मान या पैमाइश के पीछे वह इस तरह चलती हो जैसे पतिव्रता पत्नी पति के पीछे चलती है। तात्पर्य यह कि उसकी प्रत्येक चीज़ खूब नाप तोल कर बनानी चाहिये। इस वाक्य का यह भी भाव हो सकता है कि वह हमारी मान-मर्यादा की रक्षा करने वाली हो। “क्षेमे तिष्ठति” (३।१२।१) “शरणा स्योना”—हमारे क्षेम में रहे हमें मंगल प्रदान करे और हमारे लिये सुखदायक शरण-स्थान हो। उसमें “अश्वावती गोमती ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वती” (३।१२।२)—घोड़े हों, गौवें हों, बलदायक रस से युक्त अन्न हों, घी हो, दूध हो। “पूति धान्या” (३।१२।३)—उसमें खाने के लिये जो धान्य या अन्न हों वे पवित्र हों। उसमें घी, दूध, दही की यथेष्ट प्रचुरता हो। इस विषय के इस सूक्त के मन्त्र और मन्त्र-खण्ड हम गोपालनविषयक प्रकरण में देकर आ रहे हैं। इसलिये उन्हें यहाँ पुनः उद्धृत करना अनावश्यक है। “इमा आपः प्रभराम्य यक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः” (३।१२।६)—उसमें प्रयोग में लाने के लिये जो जल हों वे यक्ष्मादि रोग रहित हों और इतने शुद्ध और शक्ति-सम्पन्न हों कि हमारे शरीर के यक्ष्मादि रोगों को नष्ट कर सकें। संभवतः ऊपर व्याख्यात चतुर्थ मन्त्र में इसीलिये वर्षा की वायुओं द्वारा लाये गये शुद्ध जल को प्रयोग में लाने की ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार

हमारी शाला “उच्छ्रयस्व महते सौभाग्य” (३।१२।२)—सब प्रकार के सौभाग्य से युक्त हो। उस शाला में रहने वाले हम “सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीराः” (३।१२।१)—सब के सब वीर, उत्तम वीर, कभी किसी से हिंसित न होने वाले वीर होकर रहें। “मा ते रिपन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः” (३।१२।६)—उस शाला में रहने वाले हम किसी प्रकार भी हिंसित न हों और सारे वीर होकर सौ वर्ष पर्यन्त जीने वाले हों। “आ त्वा वत्सो गमेदा कुमारः” (३।१२।३)—हमारे घर में हमारी गौवों के बछड़े और हमारे बालक खेलते हुये आया करें। वह शाला “सूनृतावती” (३।१२।२) हो—उसमें रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति प्रिय मधुर और सत्य वाणी बोला करे, प्यारे और सत्य वचनों की गूँज ही सदा उसमें से निकला करे।

अथर्व० ६।३ सूक्त भी शाला निर्माण विषयक ही है। हमारे घर किस प्रकार के हों इस पर उस सूक्त से भी बहुत सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इसलिये वहां से भी कुछ वाक्य उद्धृत कर देना आवश्यक है। “उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत” (अथर्व० ६।३।१)—हमारी शाला उपमिता अर्थात् खूब बारीकी से माप (Measurement) करके बनाई गई हो, प्रतिमिता अर्थात् उसकी प्रत्येक रचना उसकी दूसरी रचनाओं के साथ तुलना कर के अनुपात (Proportion) जान लिया गया हो, परिमिता अर्थात् उसकी हरेक रचना चारों ओर से नाप जोख कर बनाई गई हो। उपमिता शब्द की यह ध्वनि भी है कि वह ऐसी सुन्दर हो कि दूसरे लोग उसे उपमा स्वरूप रख कर उसके अनुसार अपने घर निर्माण किया करें, अथवा यह कि संसार की किसी सुन्दर चीज़ से उसकी

उपमा दी जा सके अर्थात् जगत् की किसी बड़ी सुन्दर चीज़ से डिज़ाइन (Design) लेकर उसे बनाया जाये। परिमिता का यह भाव भी है कि उसमें हमारी सारी आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता हो—वह हमारे लिये पर्याप्त हो। “कविभिर्निमितां मिताम्” (६।३।१६)—वह कवि अर्थात् गृह-निर्माण विद्या का गहरा ज्ञान रखने वाले क्रान्तदर्शी शिल्पी विद्वानों द्वारा बनाई गई हो। “हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः सदो देवानामसि देवि शाले” (६।३।७)—उसमें हवि अर्थात् अन्नादि रखने का स्थान अलग हो, अग्निशाला अर्थात् यज्ञशाला पृथक् हो, स्त्रियों के बैठकर बातचीत करने का स्थान अलग हो, देवों अर्थात् पुरुषों के बैठने का स्थान अलग हो और सदः अर्थात् रहने-सोने आदि के सामान्य स्थान अलग हों। “अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रतिगृह्णामि”—अर्थात् द्युलोक और पृथिवी लोक के बीच में जितना विस्तार है उससे युक्त इस शाला को ग्रहण करता हूँ इस आलंकारिक वाक्य द्वारा यह बताया है कि हमारी शाला खूब खुली विस्तार वाली होनी चाहिये। हमारी शाला आवश्यकतानुसार “द्विपक्षा चतुष्पक्षा पट्पक्षा अष्टापक्षा दशपक्षा” (९।३।२१) अर्थात् दो, चार, छः, आठ और दस विभागों वाली हो। वह “विश्ववारा” (६।३।१) अर्थात् सब संग्रह करने योग्य उत्तम वस्तुओं से सुसज्जित हो। वह “ऊर्जस्वती पयस्वती विश्वान्नं विभ्रती” (६।३।१३)—बलदायक रसीले पदार्थों से युक्त हो, दुग्ध और भाँति भाँति के अन्नों को अपने भीतर रखने वाली हो। उसमें गौवें हों, घोड़े हों (६।३।१३) और वह “प्रजावती” (६।३।१३) हो अर्थात् उसमें रहने वाले सभी निवासियों की सन्तानों से वह भरी रहती

हो। भाव यह है कि उसका रहन-सहन इतना स्वास्थ्य-प्रद हो कि उसके निवासी यथेष्ट बलिष्ठ सन्तानें उत्पन्न कर सकें।

इस सूक्त के ३१ मन्त्र हैं। स्थानाभाव के कारण यहाँ सभी मन्त्रों से उद्धरण नहीं दिये जा सकते। स्थालीपुलाक न्याय से ऊपर उद्धृत वाक्यों द्वारा सूक्त का आशय ही हम केवल दिखा सके हैं। यह सूक्त ध्यान से पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें नवनिर्मित घर में प्रवेश का वर्णन है। प्रवेश-संस्कार के समय उसके सारे बन्धन खोले जाते हैं—द्वार, खिड़कियाँ, झरोखे आदि को जो सांकलों आदि के बन्धनों से बाँधा हुआ होता है उनको इस सूक्त के मन्त्रों द्वारा प्रवेश संस्कार कर के खोला जाता है। मन्त्रों में शाला में प्रवेश कर रहा व्यक्ति उससे बातें कर रहा है। यह बात करना आलङ्कारिक है। चाव और उमंगों के साथ बनवाया हुआ घर गृहपति को जीवित सा ही प्रतीत होता है। वह उसमें प्रवेश करते हुए ऐसा अनुभव करता है मानों उसका एक जीवित प्रिय जन से ही संगम हो रहा है। गृह के बन्धन खोलते समय—उसका उद्घाटन करते समय—वह एक वाक्य यह भी बोलता है—“इन्द्रेण विचृतामसि” (६।३।३)। अर्थात् हम इन्द्र की सहायता से तेरे बन्धनों को खोलते हैं—तेरा उद्घाटन करते हैं। इस वाक्य से यह भाव निकलता है कि नवनिर्मित घर में प्रवेश तभी हो सकता है जबकि सम्राट् की आज्ञा मिल जावे। नवनिर्मित घर स्वास्थ्य आदि के सारे नियमों का पालन करता है, गृहस्थ की सारी आवश्यकतायें उसमें पूरी हो सकती हैं, उसके निर्माण में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है, इत्यादि बातों की जब राज्य के कर्मचारी जाँच कर लें और उसके पीछे उसे रहने योग्य ठहरा दें

तभी नव-निर्मित घर में प्रवेश हो सकता है। पाठक देखें वैदिक राज्य में राष्ट्र के लोगों की कितनी हितचिन्ता रहती है!

हमारे रहने के घर किस प्रकार के हों इस सम्बन्ध में अथर्व० ६।१०६ सूक्त भी देख लेना चाहिये। सूक्त के मन्त्र इस प्रकार हैं :—

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः।

उत्सो वा तत्र जायतां हृदो वा पुण्डरीकवान् ॥१॥

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।

मध्ये हृदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥२॥

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि।

शीतहृदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ॥३॥

मन्त्रों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है :—

“हे शाला (ते) तेरे (आयने) आने के मार्ग में और (परायणे) बाहर जाने के मार्ग में (पुष्पिणीः) फूलों से युक्त (दूर्वाः) दूर्वा घास (प्ररोहन्तु) उगी रहें (तत्र) वहाँ घर में (उत्सः) झरना (जायताम्) हो (वा) अथवा (पुण्डरीकवान्) कमलों से युक्त (हृदः) जलाशय हो ॥१॥”

घर में आने का मार्ग और, और घर से बाहर जाने का मार्ग और हो। इन मार्गों पर दोनों ओर पुष्पित घास लगी रहें। और प्रत्येक घर के साथ आमोद के लिये एक पानी का झरना अथवा जलाशय होना चाहिये जिसमें कमल खिले रहें।

“(इदं) यह हमारा घर (अपां) जलों का (न्ययनं) आकर एकत्र रहने का स्थान हो (समुद्रस्य) समुद्र के (निवेशनम्) रहने की जगह हो (नः) हमारे (गृहाः) घर (हृदस्य) जलाशय के (मध्ये) बीच में हों और (मुखा) उनके मुख (पराचीना) पश्चिम की ओर (कृधि) हे शिल्पी तू कर दे ॥२॥”

प्रथम मन्त्र में रहने के एक सामान्य गृह का

वर्णन है। इस दूसरे मन्त्र में अतिशय गर्मी से बचने के लिये बनाये जाने वाले घरों का वर्णन है। बहुत अधिक गर्मी से बचने के लिये जो घर बनाये जायें उनमें पानी का बहुत अधिक प्रवन्ध रहना चाहिये। इतना अधिक पानी का प्रवन्ध हो कि उनको अलङ्कार से समुद्र का घर ही कहा जा सके। हो सके तो शीतल जलाशयों के बीच में भी ऐसे घर बनाने चाहियें। और उनके मुख पश्चिम की ओर रखने चाहियें जिससे सूर्य की किरणें सीधी न पड़ सकें।

“शाले) हे घर (त्वा) तुझे (हिमस्य) हिम की (जायुणा) जरायु अर्थात् झिल्ली से (परिव्ययामसि) हम चारों ओर से आच्छादित करते हैं (नः) हमारे लिये तू (शीतहृदा) शीतल जल युक्त जलाशय वाला (भुवः) होकर रह (अग्निः) अग्नि भी (ते) तेरे लिये (भेषजम्) औषध का कार्य (कृणोतु) करे ॥३॥

इस मन्त्र के प्रथम तीन चरणों में अत्यधिक गरमी से बचाने वाले घर बनाने का ही वर्णन है। गरमी से बचने के लिये किसी उपाय से हिम की पतली झिल्ली या हिम जैसी शीतलता रखने वाली किसी वस्तु की, जिसे शीत गुण के कारण हिम सा ही कहा जा सके, झिल्ली घरके चारों ओर वेष्टित कर देनी चाहिए। और शीतल जलाशयों का भी वहाँ सांनिध्य रहना चाहिये।

चतुर्थ चरण में अतिशीत से बचने का उपाय बताया गया है। अर्थात् घर ऐसे हों जिनके प्रत्येक स्थान में अग्नि द्वारा उष्णता पहुँचाई जा सके। शीत का औषध अग्नि ही है।

इस प्रकार इस सूक्त में यह बताया गया है कि हम जो रहने के घर निर्माण करें वे बड़े सुनियमित,

सुन्दर, सुसज्जित और रमणीक होने चाहियें। उनमें गर्मी और सर्दी से बचने का पूरा प्रवन्ध रहना चाहिये।

अथर्व० ७६० सूक्त भी शाला विषयक ही है। इसमें एक गृहपति, जो विदेश से वाणिज्य द्वारा धन कमा कर कालान्तर में वापिस लौटकर अपने घर में आया है, अपने घरों को सम्बोधन कर रहा है। वह उनकी महिमा का, उनकी सम्पत्ति का और उनकी सुखप्रदता का संगीत गा रहा है। उसके कुछ उद्गार हैं:—“इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः पूर्णा वामिनः” (७६०।२)—ये घर सुख देने वाले हैं, बलशाली रसीले पदार्थों से युक्त हैं, दूध से सम्पन्न हैं, सुन्दर धन से परिपूर्ण हैं। “भूरिधनाः स्वादुसमुदः अक्षुध्या अतृप्याः” (७६०।४)—इनमें बहुत धन है, ये स्वादु पदार्थों से आनन्दित करने वाले हैं, इन पर भूख और प्यास का प्रभाव नहीं है। “उपहूता इह गावः उपहूता अजावयः अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः” (७६०।५)—इन घरों में गौवं हैं, बकरी और भेड़ें हैं और अन्न का अमृत है अर्थात् अमृत स्वरूप अन्न है। “सुभगाः इरावन्तः हसामुदाः” (७६०।६)—ये सौभाग्य से परिपूर्ण हैं, इनमें उत्तम जल है, इनमें आनन्द के मारे हँसी और मोद रहते हैं। “येषु सौमनसो बहुः” (७६०।३)—इनमें सौमनस रहता है अर्थात् इनके सभी निवासी उत्तम मन वाले हैं। “सूनृतावन्तः” (७६०।६)—इनमें सूनृता रहती है अर्थात् इनके निवासी प्रिय मधुर और सत्य वाणी बोलते हैं। इनमें सब भाँति का इतना आनन्द है कि “येषामध्येति प्रवसन्” (७६०।३)—प्रवास में गया हुआ व्यक्ति सदा ही इनका स्मरण करता रहता है।

एक गृहस्थ को कैसे घरों में रहकर किस प्रकार का आनन्द और वैभव का जीवन व्यतीत करना चाहिये इस पर इन शाला सूक्तों से सुन्दर प्रकाश पड़ता है। राजा का कर्त्तव्य है कि वह

ध्यान रखे कि उसके राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार का सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सके। वह तभी वास्तव में राजा—प्रकृति-रंजन-कर्ता है।

आर्यसमाज और मुसलमान

[ले०—श्री० पं० धर्मदेव जी शास्त्री दर्शन केशरी दलपति श्रद्धानन्द दल देहरादून]

श्री. अविनाशल्लिङ्गम् महोदय मद्रास प्रान्त के प्रसिद्ध राष्ट्रिय कार्यकर्त्ता हैं। नई मद्रास एसेम्बली में कांग्रेसी निर्वाचित सदस्य हैं। देहली के कन्वेन्शन में सम्मिलित होने के लिए वे उत्तर भारत आए थे, देहली से सीधे वे देहरादून की प्रसिद्ध महिला शिक्षण संस्था कन्या-गुरुकुल को देखने के लिए १२ मार्च को देहरादून भी पधारे। इस बात के लिखने की तो कोई आवश्यकता नहीं कि उन्होंने आर्यसमाज के शिक्षा कार्य और विशेषतः कन्याओं की शिक्षा के सम्बन्ध में प्रशंसनीय क्रान्तिकारी आन्दोलन की भूरिभूरि प्रशंसा की। ऋषि दयानन्द की कृपा से अब कन्याएँ यज्ञोपवीतिनी बन कर ईश्वरीय ज्ञान वेद के मंत्रों का उच्चारण करती हैं, ये और इसी प्रकार की अनेक अन्य बातें गैर-आर्यसमाजी दर्शक के लिए बहुत आश्चर्य-जनक होती हैं। श्री. अविनाशल्लिङ्गम् महोदय पर तो इन बातों का बहुत प्रभाव पड़ा।

बातचीत करते हुए आर्यसमाज के कार्यक्रम पर विचार विनिमय होता रहा, मैंने उन्हें आर्यसमाज के समाज सुधार सम्बन्धी कार्यों और पुरोगम का परिचय कराया, वे उसे ध्यान से सुनते रहे। आर्यसमाज ने उत्तर भारत में राष्ट्रिय और

सामाजिक क्रान्तिकारी कार्य किए हैं उस की आधार-शिला वेद हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि आप मद्रास प्रान्त में आर्यसमाज का प्रचार करें' मैंने कहा।

‘यह सब ठीक है परन्तु?’

‘परन्तु कैसे ठीक कहिए, स्पष्ट करिये’—मैंने आग्रह किया।

‘मैं भी तो कांग्रेस में हूँ, देश की स्वतंत्रता मुझे भी तो प्रिय है और उसके लिए सब कुछ करने को तय्यार हूँ, फिर आप मुझ से तो अपने विचार स्पष्ट कह दीजिए। हम आर्यसमाजी साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के नहीं। सत्य का ग्रहण करना और असत्य को छोड़ देना, हमारा मुख्य नियम है, अतः आप परन्तु ? मैं बात को छिपाइये मत, स्पष्ट कहिए।’

इस पर वे बोले—

‘आर्यसमाज का मुख्य क्षेत्र पंजाब है, और कहीं भी उसका प्रभाव नहीं।’

‘नहीं जनाब ? आर्यसमाज का नैतिक प्रभाव तो सारे देश पर है। यू० पी० और बिहार में भी उसका प्रभाव बहुत है। यू० पी० में तो पंजाब की अपेक्षा आर्यसमाज के सदस्य अधिक हैं।’

मैंने बीच में टोक कर कहा।

वे इसे स्वीकार करके और बोले—

‘मैं मानता हूँ, आर्यसमाज ने देश पर महान् उपकार किया है। सामाजिक सुधार में तो आर्यसमाज का ऋण सारे देश पर है। परन्तु एक बात है कि आर्यसमाजी कांग्रेस के राष्ट्रिय आन्दोलन में बाधा उपस्थित करते हैं।

‘वह कैसे श्रीमन् ! ‘स्वराज्य’ शब्द का जन्म भी तो ऋषि दयानन्द ने वेद के आधार पर किया है। फिर सब से प्रथम ही उन्होंने स्वदेशी राज्य को ही उपादेय बताया है, मैंने बीच में पूछा।

‘हाँ ठीक है, परन्तु देश की स्वतन्त्रता तो हिन्दू और मुसलमानों के सहयोग से ही प्राप्त होगी। आर्यसमाजी मुसलमानों को चिढ़ाते हैं, जिससे वे कांग्रेस में शामिल नहीं होते। पिछले निर्वाचन में भी हिन्दू स्थानों में तो कांग्रेस की विजय हुई है। पर मुसलमान पहिले तो खड़े ही कम हुए हैं, और उन में भी हारे अधिक हैं। यह सब उन्हीं प्रान्तों में हुआ है, जहाँ आर्यसमाजियों की बहु संख्या है।’

“अपने दिल में कुछ निश्चित सिद्धान्त करके ही इस प्रकार की बात कही है। अच्छा आपके ही कथनानुसार पंजाब में आर्यसमाजी बहुत हैं, सूबा सरहद्द में भी आर्यसमाजी हैं, परन्तु इन्हीं दोनों प्रान्तों में कुछ कांग्रेसी सदस्य निर्वाचित हुए हैं, सीमाप्रान्त में तो बहुत अधिक। यू० पी० में एक भी नहीं हुआ। अच्छा? यू० पी० में भी आर्यसमाजियों की संख्या अधिक है परन्तु बंगाल में तो आर्यसमाज का बहुत ही कम प्रभाव है, वहाँ तो एक भी सदस्य मुसलमानों में से कांग्रेसी नहीं। सर फ़जुलहक, जिसको कांग्रेस ने ही बड़ा बनाया और कलकत्ता कारपोरेशन का मेयर भी बनाया, उसने भी तो कांग्रेस का साथ छोड़ दिया। आपके

प्रान्त में भी तो मुसलिम लीग के कुछ मुसलमान सफल हुए ही हैं। बम्बई में तो उनकी संख्या ही अधिक है। वहाँ कौन सा आर्यसमाज का प्रभाव है। मेरा नम्र-निवेदन है कि आप पूरी स्थिति पर विचार करके ही कुछ निर्णय करिए !”—मैंने शान्ति से कहा।

“आर्यसमाज हिन्दू संस्कृति और वैदिक सभ्यता का रक्षक है। अपने कार्य के लिए आर्यसमाज किसी से समझौता नहीं करता। आर्यसमाज तो तब भी कार्य करेगा, जब देश की स्वतन्त्रता मिल जाएगी। हाँ, यह ठीक है कि आर्यसमाज में कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो कांग्रेस की नीति का विरोध करते हैं, परन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम है। आर्यसमाजी जन्म से ही देशभक्त होता है, देशभक्ति का घूँट उसे जन्म से पिलाया जाता है। मुसलमान कांग्रेस का साथ आर्यसमाज के कारण नहीं देते यह बात तो सत्य से परे है। जुमा मस्जिद देहली में सब से प्रथम एक आर्यसमाजी संन्यासी को ही मुसलमानों ने अवसर दिया कि वे वेद मन्त्र का उच्चारण करके हिन्दू मुसलिम एकता पर भाषण करें। स्वर्गीय अमर शहीद स्वामी अद्वानन्द जी की उस घटना को कौन भूल सकता है। हिन्दू मुसलमान एकता के लिए उनसे अधिक कार्य किसने किया। और फिर मान भी लीजिए कि आर्यसमाजी, कांग्रेस में मुसलमानों को लाने में बाधक हैं, तब भी यदि अन्य आर्यसमाजियों के विरोधी सम्प्रदाय वाले कांग्रेस में देश के नाते सम्मिलित हो सकते हैं तो मुसलमानों को उससे कौन रोकता है? आखिर कांग्रेस तो प्रत्येक देशवासी की है न? परन्तु बात तो यह है कि मुसलमानों में अभी तक देश की भावना ही कम जागृत हुई है। वे मुस्लिम हित क

देश के हित की अपेक्षा अधिक ग्राह्य समझते हैं। वे सौदा करना चाहते हैं, जिधर से अधिक मिलने की आशा होती है उधर मिल जाते हैं और यह निश्चित है कि वर्तमान स्थिति में विदेशी सरकार मुसलमानों को जितना आप दोगे, उससे अधिक देगी। इस बात में आप उससे जीत नहीं सकते। अतः वर्तमान परिस्थिति में जब तक मुसलमानों में राष्ट्रियता की भावना जागृत नहीं होती, तब तक कांग्रेस में उनकी संख्या नहीं के बराबर ही रहेगी। मुसलमानों को कांग्रेस में लाने का उपाय यही है कि कांग्रेसी मुसलमान नेता मुसलमानों में राष्ट्रियता का प्रचार करें। ऊपर की लीपा-पोती से कोई स्थायी लाभ नहीं होगा।

मैंने जोरदार शब्दों में कहा, ये सब बातें सुन कर वे निरुत्तर हो गए। मैंने उनसे अन्त में कहा कि 'यदि आर्यसमाज ने पंजाब में प्रचार न किया होता, तो हम भारतवासी अंग्रेजों के पंजे में से छूटकर भी सदा के लिए मुसलमानों के पंजे में रहते, क्योंकि तब मुसलमान ही पंजाब में होते, और वे क्या न करते'। मेरा यह अर्थ नहीं कि आर्यसमाज मुसलमानों की विरोधिनी है, अपितु वह मुसलमानों को भाई बनाना चाहती है, परन्तु यह तब होगा, जब वे भी भाई समझने लगेंगे। मुझे तो विश्वास है कि आर्यसमाज ही सच्चे अर्थों में हिन्दू मुसलिम एकता करेगा। इति।

ऋभुओं का मर्त्यत्व ।

[ले०—पं० भगवदत्त जी, वेदालंकार]

१) ऋभुओंकी इतर देवताओंसे विशेषतायें

अब मैं विशेषणों के आधारपर यह दिखाने की कोशिश करूँगा, कि ऋभु अन्य देवताओं से किस बात में भिन्न हैं। इस विषय में सब से पहिला प्रकाश तो ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति से ही पता चलता है। वह व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वा ।

अर्थात् वे अपने ब्रह्मावल के कारण खूब चमकने वाले हैं, उनके अन्दर संग्रहीत ज्ञान विशेष है, अर्थात् विशेष ज्ञान वाले हैं।

अब हम कुछ विशेषणों से भिन्न क्या क्या विशेषतायें रखते हैं।

तत्त्व ।

वेद में लगभग १०४ प्रयोग हम तक्ष् धातु के मिलते हैं। इस गणना में मैंने पुनरावृत्त मन्त्रों को छोड़ दिया है। इन १०४ प्रयोगों में लगभग २७ प्रयोग ऋभुओं के लिये आये हैं और ६-१० प्रयोग त्वष्टा के लिये हैं। और बहुत सारे प्रयोग ऐसे हैं जो कि उपनाम के रूप में प्रयुक्त हुए हैं, अवशिष्ट दो-दो तीन-तीन प्रयोग ऐसे हैं जो अन्य देवताओं के लिये आये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ऋभुओं का तक्ष् धातु से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहीं तक नहीं कि तक्ष् धातु का ऋभुओं के साथ अनेक बार प्रयोग हुवा है परन्तु इससे भी बढ़कर बात यह है कि जहाँ कहीं तक्ष्ण के लिये उपमा देने की आवश्यकता हुई वहाँ उपमान के रूप में ऋभुओं का ही प्रयोग किया है। उपमान के रूप

में प्रयोग उसी का किया जाता है जो उस विषय में सब से मुख्य माना जाये। जैसे मुख के सौंदर्य के लिये चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। इससे पता लगता है कि सौंदर्य में चन्द्रमा मुख्य है, ठीक उसी प्रकार तक्षण में ऋभु मुख्य हैं, तभी तो उनसे उपमा दी गई, जैसे—

शर्धो वा यो मरुतां ततक्ष ऋभुर्न त्वेषो रभसानो
अद्यौत् । (ऋ० ६।३।८)

इस मन्त्र में 'ऋभुर्न शर्धः' इस मन्त्रभाग से स्पष्ट पता चल जाता है, कि ऋभु उपमान में हैं। एक और उदाहरण लजिये,

'प्रास्तौदृष्वौजा ऋष्वेभिस्ततक्ष शूरः शवसा ।
ऋभुर्न क्रतुभिर्मातरिश्वा' (ऋ० १०।१०५।६)

इसलिये जहाँ तक्षण को दर्शाया गया है, वहाँ उपमान में ऋभुओं को ही लिया गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि ऋभुओं का तक्षण से विशेष सम्बन्ध है, जो कि और किसी का नहीं है।

तक्ष धातु का विस्तार ।

लोक में तक्ष धातु बहुत संकुचित अर्थों में ली जाती है। लोक में तक्ष धातु से तरखान (बढ़ई) का काम समझा जाता है। परन्तु वेद में यह धातु इतने विस्तृत तथा सुन्दर अर्थों में प्रयुक्त की जाती है, कि जो साधारण संस्कृत पढ़नेवालों को आश्चर्य में डाल देती है।

भौतिक पदार्थों का तक्षण ।

तक्षन् रथं सुवृत्तं विदमनापसः...।
(ऋ० १।१११।१)

ऋभुओं ने एक उत्तम रथ बनाया। अतः तक्ष धातु का प्रयोग अचेतन भौतिक चीजों को सुन्दर रूप देने में तो आता ही है। परन्तु अन्य आध्यात्मिक चेतन जीवों को तथा चेतना के गुणों को भी सुन्दर रूप देने में आता है।

आध्यात्मिक गुणों का तक्षण ।

सप्त मर्यादाः कवयस्ततश्चुस्तासामिदमेकामभ्य
ङ्गुरोगात् । (ऋ० ५।१।६)

यहाँ मनुष्य की सात मर्यादाओं का तक्षण है।
सख ऋभुभिः पुरुहूतप्रियेभिरिमां धियं सातये
तक्षता नः । (ऋ० १०।५४।१७)

यहाँ बुद्धि का तक्षण बताया गया है। इसी तरह से अन्य गुणों का तक्षण वेद में आता है।

मनुष्य का तक्षण ।

यूयं राजानमिर्यं जनाय विभ्वतष्टं जनयथा
यजत्राः । (ऋ० ५।५८।४)

इस मन्त्र में राजा के तक्षण किये जाने का वर्णन किया गया है।

सृष्टि का तक्षण ।

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।

(अथर्व वेद १।३२।३)

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे
पृथिवीं दिवं च । (ऋ० ११।५।८)

वैदिक वाङ्मय का तक्षण ।

यस्मादृचो अपातक्षन् । (१०।७।१०)

जिससे ऋचाओं का तक्षण हुवा। परन्तु इन सब प्रकार के तक्षणों में एक बात समान है, वह यह कि बनाना और घड़ना। इसके अतिरिक्त तक्ष धातु का द्विकर्मक रूप में भी प्रयोग मिलता है। उदाहरण के तौर पर—

जिब्री यत्सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना
चरथाय तक्षत ।

यहाँ पर पितरों और युवानों ये दो कर्म हैं। इस प्रकार हमें पता चल गया कि वेद में तक्ष धातु का बहुत विस्तृत अर्थ है। ऋभुओं ने क्या क्या तक्षण किया यह तो पीछे ही पता चलेगा जब कि उनके

अवदानों पर विचार किया जायेगा। यहां रंगमंच पर तक्ष धातुको लाने का इतना ही प्रयोजन था कि तक्ष धातु का विशेष संबंध ऋभुओं से है जो कि त्वष्टा को छोड़कर और देवताओं से न के बराबर है। और इसका पुष्ट प्रमाण यह है कि तक्षण में ऋभुओं को ही उपमानभूत समझा गया है और देवताओं को नहीं, जैसा कि ऊपर दर्शाया जा चुका है। और दूसरे तक्ष धातु का संकुचित अर्थ नहीं है, अपितु बहुत विस्तृत अर्थ है, यह भी बात ध्यान में रखनी चाहिये। यदि ऋभुओं की अन्य देवताओं से सब विशेषताओं को विस्तार से आपके सामने रखूँ, तो इस निबंध का कलेवर बहुत बढ़ जायेगा। इसलिये यही उचित प्रतीत होता है कि अन्य विशेषताओं को संकेत रूप में मैं आपके सामने रखता जाऊँ।

सुकृतः सुहस्ताः ।

यह समन्वय ऋभुओं के लिये ही आया है। परन्तु 'सुहस्ताः' विशेषण ऋ० ६।६७।३७ तथा ऋ० १०।३०।२ इन दो स्थानों पर 'अध्वर्यवः' के लिये भी आया है। परन्तु 'सुकृतः सुहस्ताः' या 'स्वपसः सुहस्ताः' ऐसा सहचार तो ऋभुओं के लिये ही आया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऋभु लोग उत्तम तथा सधे हुए हाथों के द्वारा उत्तम उत्तम कर्म करते हैं।

तक्ष धातु तथा 'सुकृतः सुहस्ताः' इन दोनों का ऋभुओं के साथ विशेष सम्बन्ध देखकर किन्हीं दो शायद यह भ्रम हो सकता है कि ऋभु साधारण बढई को कहते हों। परन्तु उनके भ्रम दूर करने के लिये यहां तो कुछ विशेष कहा नहीं जा सकता। जब उनके कार्यों पर विस्तार से विचार किया जायेगा तभी आपको यह पता चल जायेगा कि क्या ये मामूली तरखान हैं अथवा कोई और हैं। हां! यहां इतना दिग्दर्शन कराया जा सकता है कि ये

केवल हाथ से ही काम करने वाले नहीं हैं, परन्तु ज्यादातर दिमाग से काम करने वाले हैं।

प्रथम तो ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति ही यह बताती है, कि वे दिमाग से काम करने वाले हैं। उनकी शोभा है ही ज्ञान में। निम्न प्रमाण भी इस ही बात को पुष्ट करते हैं।

१. अभि क्रत्वा मनसा दीध्यानाः ।
(ऋ० ४।३३।६)

२. रथं ये चक्रः सुवृतं सुचेतसोऽविहरन्तं
मनसस्परिध्यया (ऋ० ४।३६।२)

३. ततश्चर्मनसा हरी । (ऋ० १।२०।२)

४. यया धिया गामरिणीत चर्मणः ।

येन हरी मनसा निरतक्षत । (ऋ० ३।६०।२)

५. मनोर्नपातः । (ऋ० ३।६०।३)

इत्यादि मन्त्रांशों से स्पष्ट पता चल गया होगा कि ऋभुओं का काम केवल हाथों से ही करने का नहीं है, अपितु मनन करने का तथा सोचने का ज्यादा है। साथ ही 'सुकृतः सुहस्ताः' से यह पता चलता है कि वे निरं ज्ञान-व्यवसायी भी नहीं हैं, उनका क्रियात्मक जीवन से सीधा संबंध है।

सत्यमन्त्राः

दुनिया में ज्ञान प्राप्ति के दो साधन हैं, एक कविता और दूसरा विज्ञान। कविता कल्पना प्रधान होती है और विज्ञान परीक्षण प्रधान होता है। इन दोनों साधनों से ही दुनिया में ज्ञान की प्राप्ति होती है। कविता करने वाले कवि लोग सौंदर्य, अच्छाई तथा बुराई आदि की तरफ मनुष्यों को प्रेरणा देते हैं, अर्थात् मानसिक जगत पर प्रभाव डालते हैं। उस मानसिक प्रभाव को पैदा करने में चाहे उन्हें दुनिया को अथवा परमात्मा के नियमों को तिलांजलि देनी पड़ जाए, वह स्वीकार है। परंतु

मानसिक प्रभाव में लेशमात्र भी कमी नहीं आने देना चाहते। जैसा मम्मट ने भी कहा है—

नियतिनियमरहितां लहादैकमयीमनन्यपरतंत्रां ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥

अर्थात् कवियों पर नियति (प्रकृति) का कोई नियम नहीं चलता। परंतु वैज्ञानिक इसके विपरीत होता है। वह परीक्षण प्रधान होता है। जब तक कोई बात सिद्ध न हो जाए और सत्य की कसौटी पर न कस जाए, तब तक वैज्ञानिक किसी भी बातको मानने के लिए तैयार नहीं। चाहे उस वैज्ञानिक को एक नयी चीज क्यों न छोड़नी पड़ जाए। वह हर एक बात को सीधी-सादी सरल भाषा में रखता है। कविता का अंश अर्थात् कल्पना बहुत कम होती है। सत्य का अंश बहुत होता है। अतः ऋभुओं को कहा गया है कि तुम 'सत्यमन्त्राः' हो। इससे यह प्रतीत होता है कि 'सत्यमन्त्राः' शब्द उनके कल्पना प्रधान होने के विरोधी रूप में परीक्षण प्रधान होने का निर्देश करने के लिए रखा गया है।

विज्ञानापसः

इसका अर्थ है, कि विज्ञान द्वारा अपने कर्मों को करने वाले। यह विशेषण एक जगह और भी आया है। वहाँ पर यह मरुतों के लिए आया है। उनके लिए भी यह विशेषण सुचारु रूप से संगत हो जाता है। मरुत लोग भी विज्ञानों के द्वारा ही अपने कर्मों को करने वाले होते हैं। आजकल के युद्ध तो हैं ही विज्ञान के ऊपर आश्रित। ऋभुओं का काम विज्ञान के द्वारा नये-नये आविष्कार करना और मरुतों का काम है उन आविष्कृत अस्त्र-शस्त्रों से युद्ध करना।

सुषुप्वांसः

यह विशेषण भी केवल ऋभुओं के लिए ही

आया है। इन्हें खूब सोने देना चाहिए, चूंकि थका हुआ दिमाग निद्रा के बाद फिर तरोताजा हो जाता है अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है, कि ऋभु लोग वे हैं जो कि ज्ञाननिद्रा में सोते रहते हैं।

ससन्तः

सुषुप्वांसः और ससन्तः ये दो विशेषण ध्यान से देखने योग्य हैं और इन्हीं के लिए ये दोनों विशेषण आये हैं। निम्न मन्त्र में ससन्तः का प्रयोग किया गया है—'द्वादश धून् यद्गोह्यस्यातिथ्ये रणन् ऋभवः ससन्तः'—१२ महिने जो कि ज्ञान के आतिथ्य में लगे रहते हैं। अर्थात् गंभीर तथा गहन विचार में इतने तल्लीन रहते हैं कि मानो वे सो रहे हों। यह गाढ़ निद्रा एक प्रकार से प्रयोग-शाला की निद्रा है। अथवा यूँ भी कह सकते हैं कि सोते-सोते भी इन्हें अपनी अन्वेषणीय बातों का ध्यान रहता है।

ऋजूयवः

ऋ० १।२०।४ में यह विशेषण भी केवल इनके लिए ही आता है। इसका अर्थ है 'ऋजुत्वमिच्छन्तीति ऋजूयवः' अर्थात् सीधे तथा सरल मार्ग का अवलम्बन करने वाले। जैसा कि मैं 'सत्यमन्त्राः' विशेषण की व्याख्या में दर्शा चुका हूँ कि कवि और चित्रकार हमेशा कल्पना प्रधान कृति करते हैं और इसके साथ-साथ वे लक्षणा और व्यंजना में ही अपनी बातों को रखते हैं, सदा टेढ़ा मार्ग अख्तियार करते हैं—जैसा अलंकार शास्त्र में कहा भी है। 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' सीधी सादी सरल भाषा का अनुकरण करना उन्हें पसन्द नहीं। परन्तु वैज्ञानिक सदा अपनी बातों को सादी सरल तथा जो द्व्यर्थक और संदेहास्पद न हो ऐसी भाषा में रखते हैं। वे सीधी रेखा में

चलते हैं। ऋभुओं को भी यह कहा गया है कि तुम 'ऋजूयवः' हो।

अपाकाः

अगला विशेषण इनके लिए 'अपाकाः' आया है। यह विशेषण भी केवल इन्हीं के लिए आया है। इसका अर्थ यह है, कि 'अपाकाः परिपाकान्तरानपेक्षाः' जो कि परिपक्व बात को स्वीकार करने वाले हैं—अर्थात् ऐसी बात जिसमें की और परिपाक की अपेक्षा तथा अवकाश न हो। अन्त में आता है कि—'पक्वप्रज्ञः मूर्खः तद् विलक्षणः' इसका अर्थ यह हुआ कि जो परिपक्व बुद्धि वाले हैं, अर्थात् परिपक्व बातों को ही स्वीकार करते हैं और अंतिम सत्य भी तभी समझते हैं, जब कि वह परिपक्व हो चुका है।

उपमं नाधमानाः

यह दोनों शब्दों का सहचार केवल ऋभुओं के लिये ही आया है। जो यह चाहते हैं कि दुनिया में उनकी उपमा दी जाये, अर्थात् जो कि आनेवाली संतति के लिए दृष्टान्तभूत होना चाहते हैं।

प्रतिजूतिवर्षसः।

ऋ० ३-६०-१ में यह विशेषण भी केवल इन्हीं के लिये आया है। सायण ने इसका अर्थ दिया है "प्रतिपक्षाभिभवनशीलतेजोयुक्ताः" जिन के अन्दर प्रतिपक्ष को अभिभव करने की सामर्थ्य हो। इसका तात्पर्य यह है कि राजा को चाहिये

कि वह ऐसे विद्वानों को रखे जो कि साममुख्य में सर्वश्रेष्ठ हों अथवा ऋभुलोग ऐसे आविष्कार करने वाले हों जिनकी मार के सामने शत्रु ठहर नहीं सकता हो।

मनोनिपातः

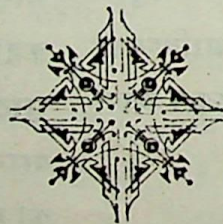
ऋ० ३-६०-३ में यह विशेषण भी केवल ऋभुओं के लिये ही आया है। मननिपात का अर्थ है कि वे मनु अर्थात् मनन के पुत्र हैं, हमेशा मनन करने वाले हैं, इसलिये इन्हें यहाँ कहा गया है कि ये मननिपातः हैं।

मधुप्सरसः।

इस विशेषण की भी अपनी विशेषता है। यह विशेषण भी केवल ऋभुओं के लिये ही आया है। इसका अर्थ है मधुर-वेशवाले। इससे प्रतीत होता है, कि वैज्ञानिकों ऐसा वेश पहनना चाहिये जिससे कि वह मधुर प्रतीत होता हो, सुन्दर हो, आँखों को खराब न लगे और उस वेश को देखने वालों के ऊपर मधुर प्रभाव पड़े।

६ ऋभुओं के अवदान।

किन-किन कार्यों का ऋभुओं के साथ सम्बन्ध है यहाँ पर मैं उनका केवल निर्देश मात्र कर सकूँगा; परन्तु साथ ही यदि कोई सायण भाष्यान्तर्गत आख्यान जुड़ा हुआ होगा तो उसे भी मैं आपके सामने रखता जाऊँगा।



जगज्जननी — का — ध्यान

[कवयित्री—श्रीमती विद्यावतीदेवी जी

धर्मपत्नी पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति बंगलौर]

तू धन्य मेरी माता, दिन-रात तुझ को ध्याऊँ ।
 तेरी ही धुन ही धूनी, दिल में सदा धुखाऊँ ॥ १ ॥
 तेरी उपासना का, बन जाय मन यह मन्दिर ।
 मैं बैठ उसके अन्दर, अँधियारी सब मिटाऊँ ॥ २ ॥
 तेरी ही ज्योति से माँ, जग जगमगा रहा है ।
 मैं भी उसी से अपने, दिल का दिया जलाऊँ ॥ ३ ॥
 तेरी ही दिव्यता का, दर्शन करूँ मैं निशिदिन ।
 तुझको ही अपने दिल में, केवल मैं देख पाऊँ ॥ ४ ॥
 मम रोम - रोम में तू, रम जा ऐ रम्य माता ।
 तव प्रेम - रस से अपनी, नस - नस को मैं न्हिलाऊँ ॥ ५ ॥
 ऐसी कृपा करो माँ, भूलू तुझे कभी नों ।
 पलभर भी तेरा पल्ला, मैं छोड़ने न पाऊँ ॥ ६ ॥
 जननी तो मेरी ऐसी, जन में हो जान जैसी ।
 मैं जान अपनी को अब, अन्दर ही जान जाऊँ ॥ ७ ॥

पशु, मनुष्य व देव

(ले०-श्री पं० हरिशरण जी विद्यालंकार)

१. असतो मा सद् गमय

(अभाव से भाव की ओर)

संसार में मनुष्य जब किसी भी वस्तु को देखता है, तो उस देखने की क्रिया में 'आत्मयुक्त बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ' ये सभी कार्य कर रहे होते हैं। कहने का अभिप्राय यह कि, 'केवल इन्द्रियों से हम किसी भी चीज़ को देखा नहीं करते। यदि मन कहीं और हो तो आँख देखती हुई भी देख नहीं रही होती, कान सुनता हुआ भी सुन नहीं रहा होता। "अन्यत्रमना अभूवम् । नाश्रौषम्"—मेरा मन कहीं और था, सो सुना नहीं है—यह अनुभव सभी का है। परन्तु इन्द्रियों के साथ मन के हो जाने से भी देखने आदि की क्रिया निष्पन्न नहीं हो जाती। चूँकि, बुद्धियुक्त आत्मा यदि मन के साथ न हो, वह सुषुप्ति-अवस्था में हृदय में सो रहा हो, तो किसी भी वस्तु का दर्शन व श्रवण सम्पन्न नहीं होता।

एवं, यह तो स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु की सत्ता का ज्ञान निम्न क्रम से ही होगा:—

(१) आत्म युक्त बुद्धि + मन ।

(२) मन + इन्द्रियाँ ।

(३) इन्द्रियाँ + अर्थ ।

इस प्रकार के सम्बन्ध से पूर्व किसी भी वस्तु की हमारे लिये सत्ता नहीं होती। परन्तु, इस प्रकार का सम्बन्ध हो जाने पर हमें वस्तु की सत्ता का ज्ञान हो जाता है। "हम असत् से सत् पर" पहुँच जाते हैं। अभाव से भाव में आजाते हैं।

परन्तु, यह तो Sensation मात्र है। यह ज्ञान मुख्यतः इन्द्रिय जन्य कहलाता है। इस ज्ञान में हमारा मन अभी कोई प्रमुख भाग नहीं ले रहा होता। उस वस्तु को यह जानते हुए भी कि वह 'है', हम नहीं जानते कि वह "कैसी है"। इसी Vision (ज्ञान) को नैयायिक 'निर्विकल्पक' (Non determinate) यह नाम देते हैं।

२. तमसो मा ज्योतिर्गमय

(अन्धेरे से प्रकाश की ओर)

हम ऊपर असत् से सत् की ओर पहुँचने का उल्लेख कर चुके हैं। हमने वस्तु की सत्ता को जान लिया तो क्या? उसके विषय में जाना तो कुछ नहीं। रहे तो अंधेरे में।

परन्तु, अब इन्द्रियों से हम आगे बढ़ते हैं। हमारा मन दर्शन क्रिया में प्रमुख भाग लेने लगता है। उस वस्तु के गुण दोषों की तुलना प्रारम्भ करता है। अन्य वस्तुओं के साथ उसकी आपेक्षिक स्थिति का विचार करने लगता है। उसका भिन्न २ दृष्टियों से संश्लेषणात्मक व विश्लेषणात्मक संख्यान (विचार) करता है, उस वस्तु के विषय में नाना प्रकार के संकल्प व विकल्प उठाता है।

अब उस वस्तु के विषय में हम अंधेरे में नहीं। हमें उस वस्तु का केवल Sensation न हो Perception होता है। उसका निर्विकल्पक ज्ञान ही न रह सविकल्पक (Determinate) ज्ञान हो जाता है। संवेदन मात्र न रह कर अवगमन हो जाता है। अब हम उस वस्तु के विषय में अंधेरे

में नहीं, हम उसे वैज्ञानिक प्रकाश में देख रहे हैं। और इस प्रकार हम “अंधेरे से प्रकाश की ओर” बढ़ आये हैं।

३. मृत्योर्मा अमृतं गमय

(मृत्यु से अमृत की ओर)

इस सविकल्पक ज्ञान से भी हम एक कदम और आगे बढ़ जाते हैं, जब कि स्वयं आत्म युक्त बुद्धि हमारी दर्शन क्रिया में प्रमुख भाग लेने लगती है, उस समय हम उस वस्तु के अन्दर एक सौन्दर्य का अनुभव करने लगते हैं, उसके अवयवों के विन्यास में एक व्यवस्था को देखने लगते हैं, अन्य वस्तुओं के साथ उसके एक सम्बन्ध का दर्शन करने लगते हैं।

आकाश के तारे अब अव्यवस्थित, बिखरे हुए न दीख, व्यवस्थित व क्रमस्थित दीखने लगते हैं। इस समय हमें उन तारों का Sensation (संवेदन) व Perception (अवगमन) होने के बाद Conception (अवधारण) हो रहा होता है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु परस्पर सम्बद्ध दीखने लगती है। सब पदार्थों में एक व्यवस्था-सौन्दर्य-अनुपम रचना प्रतीत होती है। कुछ अद्भुतता माखूम देती है, प्रत्येक वस्तु चित्र (Wonderful) सी प्रतीत होती है। वस्तुतः उस वस्तु के “उस नश्वर स्वरूप से ऊपर उठ हम उस चित्र के अमर कर्ता की ओर जाने लगते हैं”। व्यवस्था से व्यवस्थापक को पहचानने लगते हैं। सौन्दर्य से सौन्दर्यकर्ता को सोचने लगते हैं, जो कि अमर है।

इस समय उस वस्तु का नश्वर स्वरूप हमारे Vision का मुख्य विषय नहीं रहता। अपितु, उसके अन्दर ओत प्रोत अमर-सूत्र को हम देखने लगते हैं। गीता के शब्दों में, धर्मों को छोड़ धर्मों की ओर बढ़ते हैं। बस, हम, “मृत्यु से अमृत की

ओर” चले जाते हैं।

४. प्रतिबोधविदितं मतम्

(प्रत्येक ज्ञान के समय जाना गया)

अरे, इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि हम किसी भी वस्तु को देखने लगें, तो अन्ततो गत्वा हम उस अमर शक्ति परमेश्वर का ही अनुभव करने लगेंगे। यही तो बात है। जिन मनुष्यों की दर्शन क्रिया में इन्द्रियों का ही प्रमुख भाग रहता है, जिनका मन निर्मल नहीं है, वे वस्तुओं की सत्ता को बेशक जानते हैं, परन्तु उन वस्तुओं का उन्हें वैज्ञानिक ज्ञान नहीं होता। ये मनुष्य पशुओं से कुछ ही ऊपर हैं। ऊपर क्या, पशु ही हैं। वे वस्तु को बस (पश्यतीति पशुः) देखते मात्र हैं। उसके विषय में जानते कुछ नहीं।

इसके आगे जब मन दर्शन क्रिया में प्रमुख भाग लेता है, तो मनुष्य को उस वस्तु का वैज्ञानिक ज्ञान हो जाता है। वह उस वस्तु की गहराई तक पहुँचता है, वह उसके केवल पृष्ठ को नहीं देख रहा होता। उस वस्तु के विषय में मनन कर वह उसके तत्त्व तक पहुँच रहा होता है। और इस प्रकार केवल सत्ता मात्र को देखने वाली पाशविक स्थिति से ऊपर उठकर मनन करने से मनुष्यकोटि में आजाता है। (मननात् मनुष्यः)

परन्तु इससे भी आगे जब उसका आत्मा दर्शन क्रिया में प्रमुख भाग लेता है, तो उसे प्रत्येक वस्तु का एक Poetic (काव्यमय) दर्शन होता है, जो कि इस निखिल काव्य के कर्ता की ओर उसे लेजाता है। वह स्थिति शब्दों से वर्णनीय नहीं रहती। उसमें आश्चर्य, चित्रता, अद्भुतता व विस्मय के अनुभव की ही प्रधानता होती है। उस समय प्रत्येक वस्तु में उसे ईश्वर का दर्शन हो रहा होता है। इसी से तो उपनिषदों में परमेश्वर को

“प्रतिबोधविदित, प्रत्येक ज्ञान के समय जाना गया”
कहा है। और सचमुच इस समय मनुष्य मनुष्य
न रह कर दिव्य ज्योति के प्रकाश से जगमगाते
हुए हृदय वाला होता है। वह मनुष्य ही न रह
(दीव्यति=द्योतते) देव बन जाता है।

क्या प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य नहीं कि
वह पशु व मनुष्य की स्थिति से ऊपर उठ देव-
स्थिति को प्राप्त करे। अस्त से सत् की ओर
आता हुआ, अंधेरे से प्रकाश की ओर आकर,
मृत्यु से अमृत तक पहुँचने का प्रयत्न करे।

समाश्वासन

भत गा दुखद भूत के गान।

आज सँभल यह वर्तमान ही कल होवेगा भूत महान।
कब तक तू रोता जावेगा हो चिन्ताओं से हैरान।
बीत गया वह लौट न सकता रोना हँसना एक संमान।
बचा बचाले कहीं इसे भी लूट न ले जावे शैतान।
नन्हे बच्चे गिरते ही हैं गिर उठ जाते भगना जान।
रोना स्नेहमयी माँ का है अविश्वास करना अपमान।
तेजस्वी सम्राट् शुद्ध है तू “योगी” निज को पहिचान।

सत्यभूषण “योगी”



शस्त्रीकरण की होड़:—

यूरोप में जहां निःशस्त्रीकरण का विराट आयोजन किया जा रहा था आज वहां उस निःशस्त्रीकरण का जनाजा निकाला जा रहा है। संसार की सारी महा शक्तियां शस्त्रीकरण के विराट आयोजन में लग गई हैं। सारे देशों में शस्त्र निर्माण में होड़ मची हुई है। विपैली नर-संहारक गैसों, मशीनगनों, हवाई तथा समुद्रीय शक्तियों के निर्माण में प्रत्येक देश बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने के लिये तय्यार बैठा है। कुछ समय हुआ कि अंगरेज सरकार ने जापान से प्रस्ताव किया था कि जंगी जहाजों में १४ इंची तोपें लगावें परन्तु उसने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया। संयुक्त राज्य १६ इंची तोपें लगा रहा है तो जापान १८ इंची। इस तरह सभी देश इस रणचण्डी को तृप्त करने के लिये शस्त्र निर्माण की दौड़ में लगे हुए हैं। उधर स्पेन का युद्ध व्यापक रूप धारण करता चला जा रहा है। इस प्रकार अब सारी दुनिया विनाशकारी उपायों को बढ़ाती चली जा रही है। कितना भयङ्कर परिणाम होगा इसका आसानी से अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

यह पाश्चात्य सभ्यता का नग्न चित्र है। हमारे आधुनिक शिक्षित नौजवान भाई सदा पाश्चात्य सभ्यता के गीत गाया करते हैं। उनकी विचारधारा सदा पाश्चात्य रंग ढंग को लिये हुए होती है। वे भारत को भारतीयता के रूप में देखना नहीं चाहते। उसको पाश्चात्य सभ्यता का चोला पहनावा चाहते हैं। उन्हें यह नहीं पता कि हमारी सभ्यता प्राणि-

मात्र पर प्रेम दया दृष्टि आदि सिखाने वाली है और पाश्चात्य सभ्यता प्राणिमात्र को हड़प कर स्वार्थ साधना सिखाने वाली है। इस लिये दुनिया से इस विनाशकारी दैत्य का बोरा विस्तराबंधनाने के लिये आवश्यक है कि धर्म को प्रोत्साहना दी जाये। प्राणिमात्र पर दया करना सिखाया जाये। हम चाहते हैं कि प्राणिमात्र पर दया, तथा परोपकार का पाठ यूरोप को हिन्दुस्तान की तरफ से सिखाया जाये। और हिन्दुस्तान परमात्मा की तरफ से देवदूत बनकर यूरोप में शान्ति का पैगाम ले जाने वाला हो।

कोचीन-नरेश का निन्दनीय कृत्य:—

ट्रावन्कोर नरेश ने हरिजनों के लिये मन्दिर प्रवेश की आज्ञा देकर एक प्रसंशनीय तथा सुधार का काम किया था। प्रायः सारे भारतवासियों ने उस आज्ञा का अभिनन्दन किया। और ट्रावन्कोर नरेश को इस पवित्रतम तथा सुमन्न करने वाले कार्य के लिये हार्दिक बधाईयां भेजी थीं। उस समय हरिजनों का दिल न जाने कितने उल्लास में परिपूर्ण होगा। उधर दूसरी तरफ उसके पड़ोसी कोचीन नरेश ने जिस नीति का सहारा लेकर इस पवित्र कार्य का विरोध किया है वह बहुत ही घृणात्मक तथा देश व हिन्दुजाति का विध्वंस करने वाला है। हमारी राजा व राज्य के और पद-धिकारियों से प्रार्थना है कि वे पुनः इस बात पर विचार करें। शूद्र लहलहाने वाले मूक अनाथों के उल्लाह को प्रशस्त करें। और उनके लिये मन्दिर खोल

हैं। हमारी प्रत्येक आर्य भाई से यह भी प्रार्थना है कि वह सभाओं आदि के द्वारा अपना विरोध प्रदर्शन कर कोचीन-नरेश को अपनी आज्ञा लौटाने के लिए बाधित करें।

स्पेन में रणचण्डी का नृत्य—

स्पेन के युद्ध ने आजकल बड़ा उग्र रूप धारण किया हुआ है। दोनों दल अपनी ताकत को येन-केन प्रकारेण बढ़ा कर अपना प्रभुत्व स्थापित करने पर उतारू हुए हैं। इस प्रलयंकर युद्ध में अपार धन के अपव्यय के साथ हजारों निहत्थी अबलाओं और बच्चों पर भी खुले आम अत्याचार किये जा रहे हैं। हजारों ललनायें और उनके सुकुमार पुत्र अनाथ होकर विलाप कर रहे हैं। उनके प्राण सदा मृत्यु के ग्रास में फँसे हैं किन्तु विधि के विधान के मारे वे साम्राज्यवाद के हामी मुट्ठी भर सत्ताधारियों की महत्वाकांक्षा के शिकार बन कर साम्राज्यवाद और लोक तन्त्रवाद रूप चक्की के दो विशाल पाटों के बीच में पीसे जा रहे हैं। स्पेन के इस गृह-युद्ध की प्रचण्ड ज्वालायें अन्य देशों में भी फैल रही हैं। जर्मनी हिटलर शाही के बूते रशिया की सरहद्द पर युद्ध के खतरे से सतर्क होकर मोर्चेबन्दी कर रहा है। इधर इंग्लैण्ड ने भूमध्य सागर पर अपना अशुण्ण प्रभुत्व कायम रख सकने के उद्देश्य से मिश्र से सन्धि कर के नये सामुद्रिक-अड्डे के निर्माण की योजना तय्यार की है। अभी एक वर्ष पूर्व इटली ने अपने भाग्य-विधाता के नेतृत्व में साम्राज्यवाद की लिप्सा से आतुर हो एबीसीनिया सम्राट् के साम्राज्य को हड़प कर दर दर का भिखारी बना दिया था।

आज सभी यूरोपीय देश साम्राज्यवादी होकर एक दूसरे को समय पाकर हड़पने में तुले हुए हैं।

स्पेन का प्रलयंकारी गृह युद्ध भी इसी साम्राज्यवाद (Imperialism) की भावना का एक छोटा सा मूर्त रूप है। स्पेन का पदच्युत सम्राट् पेलफ़ेजो विद्रोहियों के नेता जनरल फ्रांको से मिलकर फिर से पहिले की तरह ही अपनी एकछत्र हुकूमत स्थापित करना चाहता है। इसी गृह-युद्ध में यूरोप के इटली, जर्मनी, इंग्लैण्ड, रशिया आदि देश अपनी २ महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के उद्देश्य से छिपे तौर पर जन-धन तथा शस्त्रास्त्र से बागियों और सरकारी दल को मदद दे रहे हैं। इसी युद्ध में मैड्रिड, बैलेंशिया, फिग्यूराज आदि अनेकों सुव्यवस्थित, एवं भव्यनगरों का सर्वथा विध्वंस हो गया है। जहरीली गैसों, बमों और तोपों के द्वारा आज मानवीयता पर लात मार कर नृशंसता का नग्न-रूप संसार के सामने रख दिया है। धर्म और मानवीयता इस साम्राज्यवाद की अभिलाषा के समक्ष अत्यन्त तुच्छ समझे जा रहे हैं। आज भी एबीसीनिया तथा स्पेन में हताहत हुए हजारों अबोध बच्चों तथा मानव-समाज की निर्मातृ निहत्थी अबलाओं की दर्द भरी आहें मानव-समाज के हृदय-पटल के लिए अछूती ही हैं और साम्राज्यवाद की घातक लहर अपना निरन्तर प्रभाव क्षेत्र बढ़ाती जाती है। क्या मानव-समाज कभी इस प्रलयंकारी विनाश से बाज़ आवेगा ?

हिन्दी पर घातक वारः—

राजपूताने के जितने भी रजवाड़े हैं प्रायः उन सबमें हिन्दी को मातृ भाषा राजभाषा मानी जाती रही है। बीकानेर में भी हिन्दी को यही राजभाषा का उच्चासन प्राप्त था। अनेकों वर्ष व्यतीत हो चुके, अनेकों दीवान आये परन्तु उन सब ने हिन्दी का राजभाषा के रूप में ही स्वागत किया। परन्तु अब समाचार मिले हैं कि नये दीवान श्री० बी० एन०

मेहता ने आज्ञा दी है कि पैसले अंग्रेजी में लिखे जायें और अदालतों में बहस इत्यादि में अंग्रेजी को प्रधान स्थान दिया जाये। यदि यह आज्ञा किसी अंग्रेज दीवान की तरफ से दी जाती तो इस में इतना आश्चर्य न होता। परन्तु एक अपने ही भाई के हाथ से इस प्रकार राष्ट्र भाषा का अपमान होते देख बड़ा दुःख होता है। सब राजस्थान के रजवाड़े हिन्दी में अपना काम अच्छी तरह से चला ही रहे हैं। परन्तु न जाने बीकानेर के दीवान को ऐसी आज्ञा निकालने की क्या आवश्यकता पड़ी थी। हमारी सब हिन्दु भाईयों से प्रार्थना है कि वे जगह जगह से इसके विरोध में सभायें करके अपना विरोध प्रदर्शन करें। और बीकानेर के महाराजा से प्रार्थना करें कि वे पुनः हिन्दी को सर्वोच्च स्थान द जो कि राष्ट्र भाषा को दिया जाना चाहिये।

भारत में सुधार—

बहुत अरसे से हो रहे धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि आन्दोलनों के कारण भारत में पर्याप्त जागृति के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी धर्म या सम्प्रदाय से क्यों न सम्बन्ध रखता हो अपनी अवस्था को सुधारने के लिये किसी न किसी प्रकार का त्याग करने के लिये सदा उद्यत रहता है। हिन्दुओं के अन्दर जो आज स्वतन्त्रता प्राप्ति की लालसा दिखाई देती है, वह भी प्रगतिशील आर्य समाज के आन्दोलन के कारण ही है। इसी प्रकार मुसलमानों में भी जो आज कुछ जागृति के चिह्न दिखाई दे रहे हैं वे भी किसी न किसी सामाजिक या राजनैतिक आन्दोलनों के संघर्ष के कारण ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि क्या हिन्दू, क्या मुसलमान और इसी प्रकार छोटी २ और भी जातियाँ अज सुधार की पुकार मचा रही हैं।

कांग्रेस ने सारे देश के प्रतिनिधि रूप में इन सबको केन्द्रित कर एक ऐसी उथल पुथल मचाई कि ब्रिटिश सरकार इसकी उपेक्षा न कर सकी। और उसने एक ऐसा नवविधान दिया जो कि हिन्दुस्तान के एक बड़े भारी हिस्से को मान्य न था। सारे देश की प्रतिनिधि रूप कांग्रेस ने उसे ठुकरा दिया। परन्तु दुःख से लिखना पड़ता है कि मुसलमानों ने देश का साथ न दिया।

११ प्रान्तों में से ६ प्रान्तों में तो कांग्रेस का बहुमत था उनमें कांग्रेस ने मन्त्रिपद स्वीकार नहीं किया। परन्तु जिन ५ प्रान्तों में मन्त्री पद स्वीकार किया गया है उन में मुसलमानों का बहुमत है। इसलिये मुसलमानों से किसी प्रकार सुधार की आशा करना उचित प्रतीत नहीं होता। यदि सुधार भी हुआ तो एकदेशी होगा। हिन्दुओं को तो तब तक सुधार की आशा छोड़ ही देनी चाहिये जब तक कि मुसलमानों के अन्दर उदार वृत्ति का प्रादुर्भाव नहीं होता। अभी हाल की एक घटना है कि मुसलमानों ने किस संकुचित दिल का इज़हार किया। हम देखते क्या हैं कि इस वर्तमान उथल पुथल में हिन्दू सुधारक विशेष प्रयत्नशील हैं। प्राचीन रूढ़ि से विकृत वर्ण व्यवस्था ने हिन्दुओं का जितना अधःपतन किया उतना और किसी ने भी नहीं किया। यदि यह जन्म जात पाश हिन्दुओं को न बाँधता तो न जाने आज हिन्दू उन्नति के किस उच्चतम शिखर पर पहुँचे हुये होते। डा० भगवानदास ने अस्मैवली के अन्दर जो अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्ध का बिल पेश किया था वास्तव में वह केवल हिन्दुओं का ही नहीं अपितु सारी जातियों की भलाई करने वाला था। यह दोनों हिन्दू तथा मुसलमान जातियों को प्रेम सूत्र में बाँधने वाला था। सारे संघर्ष दूर हो जाते

भाई २ आपस में फिर गले मिलते और हिन्दुस्तान की उन्नति में दोनों मिल कर अपना कन्धा लगाते । परन्तु संकुचित दिलवाले तथा अदूरदर्शी मुसलमानों ने वह पास न होने दिया । इसलिये मुसलमानों से किसी बुद्धि युक्त सुधार की आशा रखना सरासर भूल है । फिर भी देखें इन ५ प्रान्तों में वे क्या सुधार करते हैं ।

जर्मनी में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली—

जर्मनी के भाग्य विधाता हिटलर ने युवक संघ के लाखों लड़के लड़कियों के समक्ष भाषण देते हुये कहा कि जर्मनी में पुरानी रूढ़ियों के उपासक कुछ बूढ़े आदमी ऐसे हैं जिनसे हमें अब कोई सरोकार नहीं होना चाहिये । उनकी हमें अब परवाह नहीं करनी । उनसे अब बच्चे छीने जा रहे हैं, और उन्हें ऐसी शिक्षा दी जा रही है कि जिससे वे जर्मनी की उज्ज्वल कीर्ति को दिग्दिगन्त में फैला सकें । जिस समय बच्चा १० वर्ष की उमर का होता है उसे अपने उच्च कुल के होने अथवा नीच कुल के होने का कुछ पता नहीं होता । इसी अवोध और निष्पाप अवस्था में हम उन्हें लेकर १८ वर्ष तक नहीं छोड़ेंगे । तब वे किसी दल में शामिल कर लिये जायेंगे । २ वर्ष तक उन्हें सैनिक शिक्षा भी दी जायेगी ।

इस प्रकार जर्मनी राष्ट्र पुनर्निर्माण की ओर अग्रसर होगा । यह नियम प्रत्येक व्यक्ति को मानना होगा । इसी को गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली कहते हैं । भारत में यह राष्ट्र के पुनर्निर्माण का स्वप्न महर्षि दयानन्द ने तब लिखा था जब कि गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली या इससे मिलती जुलती प्रणाली को कोई जानता ही नहीं था । उस समय की शिक्षा-प्रणाली सभी देशों में इतनी विकृत थी कि प्रायः प्रत्येक देश उसको छोड़ चुका है । भारत में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली को क्रियात्मक रूप देने का श्रेय श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द को ही प्राप्त है । उन्होंने जिस योग्यता तथा दूरदर्शिता से यह काम निभाया वह उनकी ही शक्ति थी । गुरुकुल के ऊपर समय २ पर विघ्न बाधाएँ आईं परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द की तपस्या के सामने वे न ठहर सकीं । और हमें पूर्ण आशा है कि आगे भी जो विघ्न बाधाएँ आयेंगी वे भी अनायास दूर हो जायेंगी । गुरुकुल के विरोधियों से केवल हमारा यही निवेदन है कि वे जर्मनी में प्रारम्भ हुई गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली से कुछ सीख लें और भारत में भी पूरे जोर से गुरुकुल शिक्षा प्रणाली पुनः शुरू करें । और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सन्तानों को गुरुकुल की ही शिक्षा दें । तभी राष्ट्र का भला है । और तभी राष्ट्र की पूर्ण उन्नति सम्भव है । — भगवद्भक्त वेदालङ्कार

वेद में क्या लिखा है

यह जानना चाहने वाले प्रत्येक आर्य पुरुष को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के मासिक पत्र आर्य का ग्राहक बनाना चाहिये । वेद के गूढ़ रहस्यों को बताने वाली जितनी सामग्री “आर्य” में रहती है उतनी और किसी पत्र में नहीं मिल सकती । “आर्य” का वार्षिक मूल्य केवल ३) है । “आर्य” को पढ़िए और वेद के पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने की अपनी प्रतिज्ञा को चरितार्थ कीजिये ।

अपि चेदस्पत्यक्षविरुद्धमपि । नहि नासारन्ध्रेण बहिर्गच्छन् वायुर्जीवने साहाय्यङ्करोति । तस्मिन्नि कार्बनडायोक्सिडाख्ये तत्त्वे पञ्चत्वमापद्यन्ते प्राणभृतः ।

नूनमिमां प्रमाणपरम्परामालोक्य तर्जनपुरस्सरमेव गर्जनमाविशेद् गुर्जरपुंगवः—
“हंहो साहसिक नियतमधुना सीमानमतिक्रान्तन्ते वैयात्यम् । मा तावदास्तां मायावादतमिस्रातिरोहितप्रज्ञालोके कर्मयोगभयङ्करे शङ्करे ते भाषानुबन्धो मा वा श्रद्धामादध्या सीमांसामांसलप्रज्ञे माधवेऽपि । किमिदानीमात्मनोऽप्युपजीव्य हिमाद्रेरुत्तुंगशिखरे समाधिनिर्भूतनिःशेषान्धकारमृतस्मरया देदीप्यमानं भगवन्तं दयानन्दमप्यधिक्षिपसि ?”

तमित्थमनुनयपुरस्सरया वाचाऽभिमुखीकुर्मः । न ते सौम्य तादृशी काऽप्याशङ्कामनागपि हृदयं स्पृशतु । यो ह्यहर्निशं तमेव भगवन्तमनुध्यायति, निद्रापरवशोऽपि तस्यैव प्रादौ स्पृशति, स्वप्नेऽपि तमेव नयनयोः

पुरतः पश्यति, शपथेऽपि तमेवानुस्मरति, किम्बहुना यो हि तद्वाक्यमनुरुन्धानो न पदात् पदमपि प्रचलितुमोहते, कथं स एव स्वगुरावधिक्षेपसाहसमधिरोहतु ? तत् क्षणमवधानदानेनानुगृह्यतामयं वयोवृद्धः । नूनमापातिकोऽयं विरोधो न पारमार्थिकः । यत्र ह्याचार्यैरन्तःप्रविशन्वायुरपानेत्याख्यया बहिर्निर्गच्छंश्च प्राणेत्याख्ययाऽभिहितस्स हि तत्र वानस्पत्यस्यास्माभिः प्रत्यक्षमुपलभ्यमानस्य सर्गस्यापेक्षया तथाऽख्यातः । तथा हि वानस्पत्यमिदं जगद्स्माभिरुत्सृष्टेन वायुना प्राणिति, तदपानितेन च वायुना वयं जीवामः । यो ह्यास्माकमपानः स हि वीरुधां प्राणो यो वीरुधामपानः स एवास्माकं जीवनाधारतया प्राणः । न च वृक्षादौ प्राणनाभाव इत्याक्षेपणीयम् । “येन प्राणन्ति वीरुधः” इत्यथर्वसंहितायाम् (१।३२।१) दर्शनात् । नासारन्ध्राद् बहिर्गच्छन् गुदमार्गाद् बहिर्गच्छतो व्यतिरिक्त इति प्रमाणयितुम्याश्चात्यन्त्रात् किञ्चिदुदाहरामः ।

इस पर तड़ित्कान्त जी गर्ज कर कहेंगे कि क्या आप ऋषि दयानन्द के कथन को भी नहीं मानते । हमारा इस पर यही कहना है कि हमारे और ऋषि के कथन में जो विरोध दीखता है वह केवल आपातिक है वास्तविक नहीं है । जहां ऋषि ने यह लिखा है कि बाहर जाने वाला प्राण और भीतर आने वाला अपान है वहां उनका कथन

वनस्पति जगत के सम्बन्ध से है । हम जिस वायु को बाहर छोड़ते हैं वह हमारे लिये अपान है किन्तु वनस्पति के लिये वही प्राण है, उसमें जो कार्बनडायोक्साईड का तत्त्व होता है वह वृक्षों के लिये जीवनोपयोगी होता है । वृक्ष जिस वायु को बाहर फेंकते हैं वह वृक्षों का अपान है किन्तु वही हमारे अन्दर जाकर हमारे लिये जीवनोपयोगी

FLATULENCE.

Flatulence is the presence of an excessive amount of gas in the alimentary canal. Carbon dioxide is the gas expelled in greatest quantity; but nitrogen, oxygen, marsh-gas, sulphuretted hydrogen, and hydrogen may also be found.

Source of Gases.—(1) Carbon dioxide may be formed in several ways. The most important of these is the decomposition of carbohydrates, the digestion of which is delayed in the stomach. Small quantities are not improbably formed during the production of lactic acid; but it is when the lactic acid is becoming converted into butyric acid that the largest amount of the gas is given off; it then acquires the odour characteristic of butyric acid. The action of the acid gastric juice on the carbonates in the food and saliva and on the alkaline contents of the duodenum may give rise to the formation of gases in either stomach or intestines, as the case may be. A third source of

carbon dioxide is from the blood. Some writers believe that large quantities of the gas may be given off, especially in neurotic persons, by a process which constitutes a kind of gastro-intestinal respiration; but the existence of such a mode of gaseous secretion is still doubtful.

(2) Nitrogen and oxygen are generally found in small quantities, and are derived from atmospheric air swallowed with the food and saliva. In neurotic persons irregular action of the pharynx and oesophagus may lead to the swallowing of large quantities of air which is subsequently eructated.

(3) Marsh gas. Sulphuretted hydrogen, and hydrogen are invariably products of the decomposition of food, and when present are generally formed in the intestine, although they may regurgitate into the stomach. They are probably due to the putrefactive decomposition of meat, and to the action of butyric acid on cellulose. In some cases of neurotic intestinal flatu-

प्राण होता है क्योंकि उसमें जीवनोपयोगी
ऑक्सिजन होता है। वृत्तों में भी प्राण

क्रिया होती है यह इसी वेद के “येन
प्राणन्ति वीरुधः” (अथ० १।३२।१) इस मन्त्र

lence, considerable quantities of these gases, especially of sulphuretted hydrogen, may be present. In many of the cases the flatulence is developed very rapidly and is obviously due to an emotional cause.

अन्येपि च हाईड्रोजनादयः गुदमार्गाद् बहिर्गच्छन्तः प्राणचेष्टानिरोधकत्वादान संज्ञका एवेति दिक् ।

तदित्थमव्याहतं तिष्ठति वेदज्ञाननिधे-
र्वचः । नाऽपि भ्रान्तं द्रविडचक्रवर्तिना ।
नाऽपि मीमांसामांसलप्रज्ञताऽविष्कृता-
ऽचार्येण माधवेन । नाऽपि स्खलितमेषां
विद्यामन्दिरमहास्तम्भानां वशंवदेन
मौद्गल्येन । भवानपि च विचित्रिकि-
त्सामेनामाविर्भाव्य याथातथ्यप्रकाशनाव-

से सुस्पष्ट है । नासिका से हम जो वायु बाहर फेंकते हैं वह गुदा से निकलने वाले वायु से भिन्न नहीं है इसे दिखाने के लिए ऊपर पाश्चात्य आयुर्वेद से एक लम्बा उद्धरण दे दिया गया है । गुदा के वायु को अपान कहते ही हैं । इसलिये नासिका से बाहर फेंका जाने वाला वायु भी अपान कहा जा सकता है । गुदा मार्ग से जो अन्य हाईड्रोजन आदि वायु निकलते हैं वे भी प्राण-चेष्टा के निरोधक होने से अपान ही हैं । इस प्रकार वेदज्ञाननिधि दयानन्द के वचन में कोई दोष नहीं आता । और न ही कोई दोष शङ्कराचार्य आदि के कथन में आता है । संव का समन्वय अच्छी तरह हो जाता है ।

सरप्रदानेनास्मदीयानामाशिषामेव पात्रम् ।
तदित्थं स्थिरा भवतु ते निगमांगमतत्वान्वे-
षणे मतिरिति मङ्गलेनाभिनन्द्यसे ।

तदित्थं मित्रस्य जलोत्पादकत्वं
व्यवस्थाप्य दर्भपरतया जलपरतया चेमासृचं
व्याख्यातुमीहामहे ।

शरस्य दर्भस्य पितरं शतवृष्ण्यं नाना-
सुखप्रदं मित्रं तदाख्यं वायुं जानीमः खलु ।
यद्वा शरस्य “वज्रो हि वा आपस्तस्माद्
येनैता यन्ति निम्नं कुर्वन्ति यत्रोपतिष्ठन्ते
निर्दहन्ती” ति ब्राह्मणवाक्ये गीतमहिम्नो
नानारोगहिंसनसमर्थस्य जलस्य पितरं शत-
वृष्ण्यं जलोत्पादनेन नानासुखानां वर्षयितारं
मित्रं मित्राख्यं वायुं विद्वा विद्वाः खलु । तदस्य
शरस्य दर्भस्य जलस्य वा प्रभावेण समृद्ध-
वीर्यस्य ते निषेचनमृथिव्यामित्यादि पूर्ववत् ।

अब मन्त्र का शब्दार्थ सुनिये :—

(शरस्य) दर्भ अथवा जल के (पितरं)
पिता (शतवृष्ण्यं) सैकड़ों प्रकार के सुख-
वर्षण और वीर्य से युक्त (मित्रं) मित्र नामक
वायु को (विद्वा) हम जानते हैं (तेन) उस
शर से (ते) तुम्हारे (तन्वे) शरीर के लिये
(शं) कल्याण (करं) करता हूँ (ते)
तुम्हारा (निषेचनं) वीर्य निषेक (वहिः)
बाहर हो तो (पृथिव्यां) पत्नी में ही (अस्तु)
हो (ते) तुम्हारा, वह निषेचन गर्भाधान
के समय (बाल् इति) बाल् ऐसा शब्द करता
हुआ हो, अर्थात् वेग से हो जिससे एक
बार में ही गर्भाधान हो जाये ॥२॥

अथ राष्ट्रपरतया व्याख्यानमारभ्यते ।
अत्र न राष्ट्रे राजसभायां राष्ट्रापकारक-
नियमनिर्माणकर्मण्यधिकृतं राष्ट्रपुरुषो
मित्रशब्देनोच्यते । तत्र प्रमाणानि । पूर्वन्ता-
वन्न सर्वत्र प्राणोदानपरतया मैत्रावरुण-
मन्त्राणां व्याख्यानं शक्यते कर्तुमिति प्रति-
पादयितुं श्रुतिमन्त्रभागानुदाहरणमः—

युवं (मित्रावरुणौ) वस्त्राणि वसाथे ।
ऋ० १।१५२।१
एषां सत्यो मन्त्रः देवनिदो हन्ति ।
ऋ० १।१५२।२
धर्मणा व्रता रक्षेथे विपश्चिता ।
ऋ० ५।६३।७
ऋतावाना जने जने दीर्घश्रुत्तमा
ऋतावृधा । ऋ० ५।६३।१२
मित्रावरुणयोः स्पशः अमूराः अदब्धाः
ऋ० ६।६७।५

साधिष्ठेमिः पथिभिर्नयन्तु । ऋ० ७।६३।३
भूरिपाशौ अनृतस्य सेतू । ऋ० ७।६५।३
ऋतावानावृतमाघं पतो बृहत् । ऋ० ८।२५।४
धृतवता । ऋ० ८।२५।२, ८
कशावन्तौ । ऋ० ८।२५।२४
अयः शीर्षा दूता मित्रावरुणयोः ।
ऋ० ८।२०।१३

नह्येषां मन्त्राणाम्प्राणोदानपरतया व्या-
ख्यानं सम्भवति । ऋतज्ञानवस्त्रपरिधान-
मन्त्रदानव्रतरक्षणविपश्चित्वदीर्घश्रवणज्ञान-
वर्धनस्पशनियोजनमार्गनिर्देशानृतवन्धनव्रत-
धारणकशाताडनदूतप्रेषणतापोषणादीनां
चेतनधर्माणां वायुभूतयोः प्राणोदानयोरनु-
पपादात् । ब्राह्मणे च “मित्र एव कर्तुवरुणौ
दक्षौ ब्रह्मैव मित्रः क्षत्रं वरुणोऽभिगन्तैव ब्रह्म
कर्ता क्षत्रिय इति (श० ४।१।४।१) स्फुटम् ।
ब्राह्मणक्षत्रिययो मित्रवरुणाभिधानदर्शना-

अब इस मन्त्र का राष्ट्रपरक अर्थ करते
हैं । राष्ट्र में मित्र का अर्थ होता है राज-
सभा में राष्ट्रोपयोगी नियम बनवाने वाला
राज पुरुष । इस विषय में ऊपर संस्कृत में
दिये गये “मित्रावरुणौ वस्त्राणि वसाथे”
(ऋ० १।१५२।१) आदि वेद मन्त्र पहले
देखिये । इनमें मित्रावरुण का जो रूप
दिया गया है वह प्राण और उदान वायुओं
पर नहीं लग सकता । इन मन्त्रों में इनके
वस्त्र पहिनना, मन्त्रदान, व्रतरक्षण, बुद्धि-
मत्त्व, ऋत, ज्ञान, दीर्घश्रवण, ज्ञानवर्धन,

दूतनियोजन, मार्गनिर्देश, अनृतवन्धन,
ऋत की घोषणा, व्रतधारण, कशाताडन,
आदि चेतनधर्मों का वर्णन है । ये जड़
मित्र-वरुण वायुओं में नहीं रह सकते ।
ब्राह्मण (श० ४।१।४।१) में ब्राह्मण को मित्र
और क्षत्रिय को वरुण कहा है और इनको
क्रम से अभिगन्ता और कर्ता कहा गया है ।
ब्राह्मण में (श० ३।२।४।१८) ही अन्यत्र
सोमकयणी के उपलक्षण से वाणी के बन्धन
का वर्णन किया गया है । परन्तु इस बन्धन
को वरुण्य न कहकर मैत्र कहा है । वरुण का

दभिगन्तुर्कर्तुर्भेदेन च तयोः कर्मव्यवच्छेद-
प्रतिपादनाच्च । तथा चान्यत्रापि ब्राह्मणे
द्रश्यते “मित्रस्त्वा पदिवध्नीतामिति वरुण्या
वा एषा यद् रज्जुः सा यद् रज्ज्वभिहिता
यत्रैवमस्यैतद्भवति यदाह मित्रस्त्वा पदि
बध्नीतामिति” (श० ३।२।४।१८) अत्र सोम-
कयण्युपलक्षणेन वाचो बन्धनं प्रकृत्य न
वरुणपाशेन तद्वन्धनमपितु मित्रोद्देशेनेति
मीमांसितम् । वरुणश्च पाशवान्त्स एव
योऽद्यत्वे पोलीसारूप्यस्य राज्याङ्गस्याधिष्ठा-
तेत्यनुपदमेव सप्रमाणप्रतिपादयिष्यामः ।
मित्रस्तु तद्व्यतिरिक्तो राजनियमरूपेण बन्ध-
नेनानृतस्य बन्धनकर्ता (अनृतस्य सेतू ऋग्०
७।६।५।२) तथा च ऋग्वेदेऽपि ‘यन्नूनमश्यां
गतिं मित्रस्य यायां पथा । अस्य प्रियस्य

शर्मण्यहिंसानस्य सञ्चिरे”। (ऋ० ५।६।४।३) इव-
मत्राकृतम् । मित्रो हि नाम नियमोत्पादने-
नानृतस्य बन्धनमुत्पादयति । वरुणस्तु
नियमभङ्गे स्थूलेन निगडबन्धनेन व्रतभङ्ग-
कर्तारं नियच्छतीत्युभयोर्भेदः । वाचो बन्ध-
नन्तु न वरुणाधीनं स्याद्येन प्रजानां स्वाभि-
प्रायाविष्करणे स्वाधीन्यं न व्याहन्येतेति
मित्रस्त्वा पदिवध्नीतामित्यस्य यजुषो
(यजु० ४।१९) हृदयम् । तदित्थं राजनियम-
निर्माणनियुक्तायां सवित्राधिष्ठितायां सभायां
राजाभिप्रायदर्शनपूर्वकं नियमनिर्माणपरो
राजपुरुषो मित्र इति सुव्यवस्थितम् । इदानी-
मृचोऽभिप्रायोऽपि सुस्पष्ट एव ।

शरस्य दुर्व्यवस्थां शृणतो राजनियमस्य
पितरमुत्पादकं सुखवर्षकं मित्रं मित्राख्यं

राष्ट्रपरक अर्थ वेद में पुलिस-विभाग का
अध्यक्ष राजपुरुष होता है । यह अभी आगे
देखेंगे । मित्र वरुण से मित्र, राज्य नियम
बनाकर अनृत का बन्धन कराने वाला राज-
पुरुष है । इसी भांति ऋग्वेद (५६।४।३) में
मित्र के बताये मङ्गल कारक मार्ग से चलने
का वर्णन है । भाव यह है कि मित्र तो
नियम बनाकर अनृत का बन्धन करता है,
और वरुण मित्र के बनाये नियमों का भङ्ग
करने पर भंग कर्ता को दण्डित करके उसका
बन्धन करता है । ऊपर निर्दिष्ट (श० ३।२।
४।१८) में “मित्रस्त्वा पक्षु बध्नीताम्” आये
इस यजुर्वेद (४।१९) का अभिप्राय यह

है कि वाणी का बन्धन वरुण अर्थात् पुलिस
के हाथ में नहीं रहना चाहिए वह मित्र
के हाथ में रहना चाहिए अन्यथा प्रजाओं
की अपने अभिप्राय के प्रकाशन की स्व-
तन्त्रता नष्ट हो जायेगी । इस प्रकार राज-
नियम निर्माण में नियुक्त, सविता की अधी-
नता में काम करने वाली राजसभा में राजा-
भिप्राय दर्शन पूर्वक राष्ट्रोपयोगी नियम
निर्माण में नियुक्त राजपुरुष मित्र है, यह
वात स्पष्ट हो जाती है ।

अब मन्त्र का शब्दार्थ सुनिये—

(शरस्य) दुर्व्यवस्था के नाश करने
वाले राजनियम के (पितरं) उत्पादक

राजपुरुषं विद्म विद्मः खलु । तेन तदुत्पा-
दितेन राजनियमेन हे राष्ट्र ते तन्वे शङ्करम् ।
ते राजनियमस्य निषेचनं तत्प्रयोगाधिकारः
पृथिव्यां तत्प्रयोगविस्तारसमर्थं सत्पात्र
पवास्तु । यदा च तादृशं पुरुषं लभेथास्तदा
निषेचनं बालिति विचिकित्सां विना
भट्टित्येवास्तु ॥२॥

अथाग्रे शरपितृत्वेन वरुणः स्तूयते :—

विद्वा शरस्य पितरं वरुणं शत-

वृष्णयम् । तेना ते तन्वे शंकरं पृथिव्यां ते
निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥३॥

विद्म । शरस्य । पितरं । वरुणं ।
शतऽवृष्णयम् । तेन । ते । तन्वे । शम् ।
करम् । पृथिव्याम् । ते । निऽसेचनम् ।
बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥३॥

अ०—शरस्य पितर शतवृष्णयं वरुणं

(शतवृष्णयं) सैकड़ों प्रकार के सुखों की
वर्षा करने वाले (मित्रं) मित्र नामक राज-
पुरुष को (विद्म) हम जानते हैं । (तेन)
मित्र द्वारा उत्पादित राजनियम से (ते)
तुम्हारे (तन्वे) शरीर के लिये (शं)
कल्याण (करम्) करता हूँ । हे राष्ट्र (ते)
तुम्हारा (निषेचनं) राजनियम के प्रयोग
का अधिकार (बहिः) बाहर हो तो अर्थात्
किसी को सौंपा जाये तो (पृथिव्यां) उस
राजनियम को व्यापकरूप में प्रयोग करने
में समर्थ सत्पात्र में ही (अस्तु) हो । जब
ऐसा सत्पुरुष मिल जाये तो (ते) तुम्हारा
वह अधिकार-प्रदान (बाल् इति) शीघ्र ही
कर दिया जाये ॥ २ ॥

अब अगले मन्त्र में वरुण का शर के
पिता के रूप में वर्णन चलता है ।

इस मन्त्र की दर्भ, जल और राष्ट्र इन
तीन परक व्याख्या होगी ।

पहिला दर्भ परक अर्थ इस प्रकार है :—
(शरस्य) दर्भ के (पितरं) जलप्रदान द्वारा
उत्पादक (शतवृष्णयं) सैकड़ों प्रकार के सुखों
की वर्षा करने वाले (वरुणं) उदान अर्थात्
हाइड्रोजन नामक वायु को (विद्म) हम जानते
हैं (तेन) उस दर्भ से (ते) तुम्हारे (तन्वे)
शरीर के लिये (शं) कल्याण (करं) करता
हूँ । शेष पूर्ववत् ।

दर्भ में तुवरत्व अर्थात् जो कसैलापन
होता है वह वरुण अर्थात् उदान (हाइड्रोजन)
नामक वायु के कारण होता है । वरुण का
यही तुवरत्व उसके संयोग से बने अम्लों में
खटास के रूप में अनुभव होता है ।

अब मन्त्र की जलपरक व्याख्या देखिये :—

(शरस्य) जल के (पितरं) उत्पादक
(शतवृष्णयं) सैकड़ों प्रकार के सुखों की वर्षा
करने वाले (वरुणं) उदान वायु को (विद्म)
हम जानते हैं । शेष पूर्ववत् ।

विद्य तेन ते तन्वे शं करं ते निषेचनं बहिः
पृथिव्यामस्तु बाल इति ॥३॥

अथ दर्भपरतया जलपरतया राज-
पुरुषपरतयाचेति त्रेधा व्याख्यानम् । शरस्य
दर्भस्य जलद्वारा पितरं शतवृष्ण्यं वरुणं
विद्य जानीमः । तथा च दर्भे तुवरत्वं वरुण-
स्योदानाख्यस्य वायोर्गुणस्सकलेष्वप्यम्ले-
षूदानस्यदर्शनात् । तेन हे पुरुष ते तन्वे
शङ्करमित्यादि पूर्ववत् ।

अथ जलपरतया व्याख्यानम् :—

शरस्य जलस्य पितरं वरुणमुदानाख्यं
वायुं विद्य जानीमः । शेषं पूर्ववत् ।

अथेदानीं राजपुरुषपरत्वेन व्याख्यानम् :—

तत्कोऽयं वरुणः, कतमोऽयं क्षत्रियाणां
राज्यतन्त्रेऽधिष्ठितानामिति मीमांस्यते ।
तत्कर्मस्माभिरत्र वचनीयं श्रुतिवाक्यानि

अब इसी मन्त्र का राष्ट्रपरक अर्थ
देखिये । शब्दार्थ देने से पहिले यह देख
लेना चाहिये कि राष्ट्र-परक अर्थ में वरुण
क्या होगा । इस सम्बन्ध में वरुण के वेद
में आये कुछ निम्न वर्णन देखिये । “जो
खड़ा हुआ है, जो चल रहा है, जो किसी
को ठग रहा है, जो छिपकर चल रहा है, जो
दो कहीं एकान्त में बैठकर सलाह करते हैं,
राजा वरुण उसे जान लेता है ।” अथर्व
४।१६।२ “जो दुलोक में भी चढ़ जाये वह
भी राजा वरुण से नहीं छूट सकता, वरुण
के सहस्रों आँखों वाले गुप्तचर सर्वत्र फिर

ब्राह्मणवाक्यानि च स्वयमेव स्वीयमर्थं विवृ-
णुयुरिति तान्येवोपन्यस्यन्ते ।

“यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो
निलायं चरति यः प्रतङ्कम् । द्वौ संनिपद्य
यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ।”
(अथर्व० ४।१६।२)

कथमसौ वेदेत्यनुयोगे “उत यो घामति
सर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य
राज्ञः दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा
अतिपश्यन्ति भूमिम् ।” (अथर्व० ४।१६।४)
किमयङ्करोति ? “ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त
त्रेधा तिष्ठन्ति विशिता रुशन्तः । छिनन्तु सर्वे
अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ।”
(अथर्व० ४।१६।६) अत्र छिनातिरयं वैदिको
बन्धनार्थो न तु छेदनार्थश्छिनन्तिः । बन्धना-
र्थस्तत्त्वतिसृजन्तिवति पदस्य विरोधितया

रहे हैं, वे भूमी को पार करके भी देख लेते
हैं ।” (अथर्व ४।१६।४) “हे वरुण दुष्टों की
हिंसा करने वाले तेरे जो सप्त पाश तीनों
लोकों में बिछे हुए हैं वे अनृतवादी को बांध
लेवें और जो सत्यवादी हो उसे मुक्त कर दें ।”
(अथर्व ४।१६।६) इसी भांति ऋ० १।२४।१३
में भी वरुण के पाशों का वर्णन है । ऋग्वेद
१।२५। ७, ८, ९ मन्त्रों में बताया गया है कि
वरुण सब प्रकार के लोक-सञ्चार का ज्ञान
रखता है । वह सब प्रकार के लोक-सञ्चार
का ज्ञान कैसे रखता है इसे ऋग्वेद १।२५
के ही १३ वें मन्त्र में बताया है कि उसके

स्फुटमेव लभ्यते । ऋग्वेदेऽपि “अवैनं राजा
वरुणः ससृज्याद्विद्वां अदब्धो विमुमोक्तु पाशानि”
(ऋ० १२४।१३) इति वरुणपाशवर्णनम् ।
अथास्य लोकसञ्चारज्ञानतत्परत्वम् “वेदा यो
वीनां पदमन्तरिक्षेण पततां वेदनावः समुद्रियः”
(ऋ० १२।५७) “वेद मासो धृतव्रतो द्वादश
प्रजावतः वेदा य उपजायते ।” (ऋ० १२५।८)
“वेदवातस्य वर्तनिमुरो ऋष्वस्य बृहतः । वेदा
ये अध्यासते ।” (ऋ० १२५।६) कथमसौ वेत्ती-
त्यग्रे निर्दिश्यते । “विभ्रद्द्रापि हिरण्यं
वरुणो वस्त निर्णिजम् । परिस्पशो निषेदिरे ।”
(ऋ० १२५।१३) तदित्यं चारैर्वृतो ज्योतिर्मयं
कवचं प्रक्षालितमुज्ज्वलं च वस्त्रं वसानस्ति-
ष्ठतीति स्फुटमेव रक्षाधिकारे नियुक्तस्य-
वर्णनम् । यजुःष्वपि :—

“नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य
पाशः ।” (यजु० ८।२३)

“उदुत्तमं वरुणपाशमस्मदवाधमं विमध्य-
मंश्रथाये” (यजुः १२।१२) ति वरुणो देवो
उत्तममध्यमाधमानाम् पाशानामुच्छ्रयन
विश्रथनावश्रथनान्यभ्यर्थितः । ब्राह्मणेष्वापि—
“अनृते खलु वै क्रियमाणे वरुणो
गृह्णाति । (तै० १।७।२।६)

“वरुणो वा एतं गृह्णाति यः पाप्मना
गृहीतो भवति ।” (श० १२।७।२।१७) “वरुणं
वाऽएनत् स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन
चरति ।” (श० २।५।२।२०) “वरुण्यो वै ग्रन्थिः ।”
(श० १।३।१।१६) “तस्मादेव पत्न्या योक्ते ग्रन्थि
न कुर्वन्ति । वरुण्या वा एषा यद्रज्जुः ।” (श०
३।२।४।१८) तदयं वरुणः स एव राजपुरुषो
योऽयत्वे पोलिसाख्यं राज्यतन्त्रमश्रितिष्ठति ।
तमभिलक्ष्योच्यते । शरस्य दुष्टान् प्रति ताड-
नाय प्रयुज्यमानस्य दण्डस्य पितरं वरुणं
विद्वज्जानीमः । परमस्य दण्डस्य पृथिव्यां

गुप्तचर सत्र जगह बैठे हैं । तै० ब्रा० १।७।२।६
में लिखा है कि अनृत करने पर वरुण पकड़
लेता है । श० १२।७।२।१७ में कहा है
वरुण उसे पकड़ लेता है जो पाप से पकड़ा
हुआ होता है । श० २।५।२।२० में आता है कि
यदि कोई स्त्री अपने पति से भिन्न अन्य पुरुष
से सहवास करे तो वह वरुण्य कर्म करती है
अर्थात् ऐसा काम करती है कि जिसमें वरुण
को दखल देना पड़ता है । श० १३।१।१६
में लिखा है कि ग्रन्थि अर्थात् बन्धन
वरुण का काम है । वेद के इन वर्णनों से

यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के पुलिस
नामक विभाग के अध्यक्ष को वेद में वरुण
नाम से कहा जाता है । अब मन्त्र का
अक्षरार्थ सुनिये :—

(शरस्य) दुष्टों का नाश करने के लिये
प्रयुक्त दण्ड के (पितरं) उत्पादक (शतवृष्यं)
सैकड़ों प्रकार के मुखों की वर्षा करने वाले
(वरुणं) वरुण नामक राज्याधिकारी को
(विद्वा) हम जानते हैं । तेन) उसके द्वारा
प्रयुक्त दण्ड से, हे राष्ट्र (ते) तुम्हारे (तन्वे)
शरीर के लिये शं) मंगल (करं) करता हूँ (ते)

सत्पात्र एव निषेचनमस्तु । यस्य कस्यापि हस्ते दीयमानोऽनपराधनाम्पीडामुत्पाद्य लोकम्प्रकोपयेदवशिष्टं पूर्ववत् । वरुणशब्दस्य सायणोक्ता व्युत्पत्तिरप्यत्र द्रष्टव्या । वृणोति पाशैः प्राणिजातं स वरुण इति ।

व्या० प्र०—कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३।५३ इति वृत्र वरणे उनन् । आवृणोति लोकान् । मध्यस्थानदेवतासु—वरुणोवृणोतीति सतः नि० १०।३। ॥३॥

अथाग्रे शरपितृत्वेन चन्द्रस्य स्तुतिः ।

विद्वा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्णयम् । तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यान्ते निषेचनं वहिष्टे अस्तु बालिति ॥४॥

विद्वा । शरस्य । पितरम् । चन्द्रम् । शतवृष्णयम् । तेन । ते । तन्वे । शम् ।

हे राष्ट्र ! तुम्हारा (निषेचन) दण्ड प्रयोग के अधिकार का प्रदान (वहिः) यदि किसी को दिया जाये तो (पृथिव्यां) व्यापक रूप में प्रयोग करने में समर्थ सत्पात्र में ही (अस्तु) हो । जब ऐसा सत्पात्र मिल जाये तो वह अधिकार-प्रदान (बाल् इति) बिना संकोच के शीघ्र दे दिया जाये ।

सत्पात्र को दण्डाधिकार देने का भाव यह है कि अयोग्य व्यक्ति के हाथों में आया हुआ अधिकार राष्ट्र के लोगों के लिये बड़ा दुःखदायी हो जाता ॥३॥

अगले मन्त्र में शर के पिता रूप में चन्द्र का वर्णन करते हैं ।

इस मन्त्र के भी दर्भ, जल और राष्ट्र

करम् । पृथिव्याम् । ते । निऽसेचनम् । वहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ।

अ०—शरस्य पितरं शतवृष्णयं चन्द्रं विद्वा तेन ते तन्वे शंकरं ते निषेचनं वहिः पृथिव्यामस्तु बाल् इति ॥४॥

शरस्य दर्भस्य पितरमोषधौ रसाधायकत्वं चन्द्रस्य प्रसिद्धमेव तदस्य दर्भस्य पितरं चन्द्रं जानीमः । तस्य गुणो हिमत्वं दर्भे विद्यते तद्वलेन प्रशान्तवीर्यस्य तन्वाः कल्याणं सुव्यक्तमेव । तस्मादेव कारणाच्छतवृष्णयमिति विशेषणम् । पृथिव्यान्ते निषेचनमित्यादि पूर्ववत् । चन्द्रोदयेऽपामुल्लासः समुद्रे दृश्यते । चन्द्रकान्ताख्ये मणौ सन्निपत्तिताश्चन्द्रकिरणा जलमुत्पादयन्तीत्यपि संस्कृतवाङ्मये सुप्रसिद्धम् । तेनापां पिताऽपि चन्द्र इति तत्रापि योज्यम् । अथ

इन तीन परक अर्थ होते हैं । पहले दर्भ परक अर्थ देखिये :—

(शरस्य) दर्भ के (पितरं) रसदान द्वारा उत्पादक (शतवृष्णयं) सैकड़ों प्रकार के सुखों की वर्षा करने वाले (चन्द्रं) चन्द्रमा को (विद्वा) हम जानते हैं । शेष पूर्ववत् ।

चन्द्रमा ओषिधियों में रस प्रदान करके उन्हें गुणवती बनाया करता है यह आयुर्वेद शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है । चन्द्रमा में शीतलत्व गुण है । चन्द्रमा का वही गुण दर्भ में आकर दर्भ को प्रशान्त वीर्य अर्थात् शीतलता पहुँचाने वाला बना देता है । अब दूसरा जलपरक अर्थ देखिए :—

लोके स्वाधिकारानुरूपव्यापार परिश्रान्ता-
नाम्प्रजानां खेदापनोदाय नानागीतनृत्यवा-
द्यादिभिः काव्यनाटकादिभिश्चित्रकलयाऽन्यै-
रपि च सुकुमारैरूपायैरैहिकामुष्मिकोभय-
कल्याणाविधातेनानन्दजनने नियुक्तो राज-
पुरुषश्चन्द्रशब्देनोच्यते । सांऽयमद्यत्वे कान्ता-
सम्मिलितललितकलादिशब्दैरभिधीयमानः कला-

सङ्घातो द्विविधः श्रान्तानां श्रमापनुदः
श्रान्तानुषुप्तानाम्प्रबोधोत्साहजननश्च । पूर्व-
स्तावच्चन्द्रशब्देनोच्यतेऽपरश्चोषःशब्देन तद्व-
द्याख्यानन्तूपः सम्बन्धिषु सूक्तेषु करिष्यते ।
तत्कर्मणि नियुक्ताः पुरुषा अपि ताभ्यामेव
शब्दाभ्यामभिधीयन्ते । तदस्य श्रमोत्पन्नस्य
खेदस्य शरणेन हिंसनेन (शृञ् हिंसायाम्)

(शरस्य) जल के (पितरं) उत्पादक
(शतवृष्यं) सैकड़ों प्रकार के सुखों की
वर्षा करने वाले (चन्द्रं) चन्द्रमा को (विद्म)
हम जानते हैं । शेष पूर्ववत् ।

चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र के
जलों में ज्वार अर्थात् एक प्रकार की वृद्धि
हो जाती है इसी अभिप्राय से चन्द्रमा को
जलों का पिता कहा गया है । संस्कृत-
साहित्य में यह भी प्रसिद्ध है कि चन्द्रमा
की किरणों को चन्द्रकान्त मणि पर एकत्र
करके जल उत्पन्न किया जा सकता है ।

अब राष्ट्र परक अर्थ देते हैं । इस अर्थ
में चन्द्र का अर्थ होगा वह राज पुरुष जो
कि अपने अपने कर्म-व्यापारों से परिश्रान्त
प्रजाजनों की थकावट दूर करने के लिये
अनेक प्रकार के गीत, नृत्य, वाद्य, काव्य,
नाटक, चित्रकला, आदि आमोद-प्रमोद के
साधनों द्वारा ऐहिक और आमुष्मिक दोनों
प्रकार के आनन्द वर्धन की सामग्री जुटाता
है ।

ये चीजें आजकल ललित कला शब्द
से पुकारी जाती हैं । कलायें दो प्रकार की
हैं । एक थके हुआओं का श्रम दूर करने वाली
और दूसरी थक कर सोये हुआओं को जगाकर
उनमें उत्साह भरने वाली । पहली कलायें
चन्द्र शब्द से और दूसरी उषः शब्द से
कही जाती हैं । उषः सम्बन्धी सूक्तों में
इन दूसरी कलाओं की विशेष व्याख्या की
जायेगी । इन दोनों प्रकार की कलाओं का
प्रबन्ध करने में नियुक्त राजपुरुषों को भी
क्रम से चन्द्र और उषा कहते हैं । अब मन्त्र
का शब्दार्थ सुनिये—

(शरस्य) थकावट को नष्ट करने वाले
ललितकला ज्ञान के (पितरं) उत्पादक (शत-
वृष्यं) सैकड़ों प्रकार की सुखों की वर्षा
करने वाले (चन्द्रं) ललित कलाओं के अध्यक्ष
राजपुरुष को (विद्म) हम जानते हैं । (तेन)
उस ललित कला ज्ञान से (ते) तुम्हारे (तन्वे)
शरीर के लिये (शं) मङ्गल (करम्) करता हूँ ।
हे राष्ट्र (ते) तुम्हारा (निषेचनं) ललित

शराख्यां लभमानस्य ज्ञानस्य पितरं शतवृष्ण्यं
नानासुखवर्षकं चन्द्रं विद्म जानीमः । परम-
स्थापि निषेचनं सत्पात्र एवास्तु दुष्टजनास्तु
प्रजान्चित्ताऋषणेऽप्रतिमेनानेनोपायेन तादृशीं
सुकुमारतां लोकं जनयेयुर्येन तेषामुत्साह-
शक्तिर्निःशेषताङ्गच्छेत् । तस्मात् सत्पात्र
एवास्य शरस्य व्यासो दुष्टास्तु वरुणेन
निग्राह्यास्तस्माद्वरुणानन्तरमेव चन्द्रवर्णनम् ।
शेषं तेना ते तन्वे शङ्करमित्यादि
पूर्ववत् ।

व्या० प्र०—चन्द्रम् । स्फायितश्चीत्या-
दिना उ० २।१३। इति चदि आह्लादने रक् ।
चन्द्रश्चन्दते कान्तिकर्मणः नि० ११।५ ॥४॥

अथेदानीं शरपितृत्वेन सूर्यस्तुतिः—

विद्म शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।

कलाओं के प्रबन्ध के अधिकार का प्रदान
(वहिः) यदि बाहिर हो तो अर्थात् किसी को
सौंपा जाये तो (पृथिव्यां) व्यापक रूप में
प्रबन्ध करने में समर्थ सत्पात्र में ही (अस्तु)
हो, जब ऐसा पुरुष मिल जाये तो (ते)
तुम्हारा अधिकार प्रदान (बालिति) बिना
संकोच के दे दिया जाये ।

वरुण के अनन्तर ही चन्द्र इस लिये
आया है कि ललित कलाओं का प्रबन्ध
सत्पात्रों को ही सौंपना चाहिये जो असत्पात्र
लोग ललित कलाओं के नाम से दुष्ट भावों का
प्रचार करें उन्हें वरुण दण्डित करे ॥४॥

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यान्ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥५॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । सूर्यम् ।
शतवृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् ।
करम् । पृथिव्याम् । ते । निऽसेचनम् ।
वहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥५॥

अ०—शरस्य पितरं शतवृष्ण्यं सूर्यं
विद्म । तेन ते तन्वे शं करं ते निषेचनं बहिः
पृथिव्यामस्तु बाल् इति ।

शरस्य दर्भस्य पितरं शतवृष्ण्यं सूर्यं विद्म
जानीमः । “प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः”
इत्यसौ प्रश्नोपनिषदि (१।८) गीयते । वीरुधा-

अब शर के पिता के रूप में सूर्य का
वर्णन चलता है । इस मन्त्र के भी दर्भ जल
और राष्ट्रपरक तीन अर्थ होंगे । पहिले
दर्भ परक अर्थ लीजिये—

(शरस्य) दर्भ के (पितरं) उत्पादक (शतवृष्ण्यं)
सैकड़ों प्रकार के सुखों की वर्षा करने वाले
(सूर्य) सूर्य को (विद्म) हम जानते हैं । शेषपूर्व०।

सूर्य को सब प्रजाओं का प्राण कहा
गया है (प्रश्नोपनिषद् १।८) ओषधियों
को भी सूर्य ही प्राण देता है ।
वनस्पतियों में जो हरे रंग का तत्त्व है वह
सूर्योदय से ही उत्पन्न होता है । इसी लिये

प्राणदायकत्वमस्य सकललोकविदितम् ।
यदिदं वानस्पत्ये सर्गे हरितं तत्त्वं तत्सूर्योद-
यादेव निष्पद्यते । तस्मादेव नवरात्रेषु तमसि
प्ररोहिता यवाः पीतवर्णताम्रमजन्ते । तस्माद्वी-
रुधाम्प्राणप्रदत्वाद्दर्भस्य पितरं सूर्यं जानीमः
खलु । यत् प्रभावादेवायं मूत्रकृच्छ्राश्मरी
तृष्णावस्तिरूक्प्रदरास्त्रजित् । अतएवायं
शरोऽपि शतवृष्णयो नानासुखानां वर्षकः ।
तेना ते तन्वे शङ्कुरमित्यादिपूर्ववत् ।

अपामपि पिता सूर्यः स्वप्रभावेन पर्जन्य-
जनकत्वान्मलविनाशाच्च । तस्मात्तत्रापि
योज्यम् ।

अथेदानीं सकलप्रजासु विद्याप्रचारकर्म-
ण्यधिष्ठितं राजपुरुषं सूर्येति नाम्ना स्तौति ।
तत्र प्रमाणानि । अयं हि सूर्यः—

“सुज्योतिषः सूर्य दक्षपितृननागास्त्वे
सुमहो वीहि देवान् । द्विजन्मानो य ऋतसापः
सत्याः स्वर्वन्तो यजता अग्निजिह्वाः ।”

ऋ० ६।१०।२

इति ऋग्वेदे प्रार्थ्यते । द्विजांस्त्वमेवाना-
गास्त्वेऽनपराधत्वे कामयेत्युक्तम् । अयमेव
मित्रावरुणार्यमादिभ्यः सत्यस्त्रवीति ।

“यद्य सूर्यं ब्रवोऽनागा उद्यन्मित्राय वरु-
णाय सत्यम् । वयं देवत्रादिते स्याम तव

नवरात्र के दिनों में अन्धकार में वोए हुए जौ
पीले वर्ण के रहते हैं । इस प्रकार सब ओष-
धियों का प्राणदाता होने के कारण सूर्य दर्भ
का भी पिता है । सूर्य से प्राण लेने के कारण
ही दर्भ में मूत्र निरोध, पथरी, वस्ति के
रोग, प्रदर, रुधिर का स्राव आदि रोगों को
दूर करने की शक्ति पैदा होती है ।

अब जलपरक अर्थ देखिये—

शरस्य) जल के (पितरं) उत्पादक
(शतवृष्ण्यं) सैकड़ों प्रकार के सुखों की वर्षा
करने वाले (सूर्य) सूर्य को (विद्म) हम
जानते हैं । शेष पूर्ववत् ।

सूर्य के ताप से समुद्र के जल वाष्प
बनकर आकाश में जाकर बादल बन जाते
हैं फिर उन बादलों से वर्षा होकर जल प्राप्त

होता है । इस प्रकार सूर्य जलों का भी
पिता है ।

अब राष्ट्रपरक अर्थ सुनिये—

राष्ट्र में विद्या प्रचार के काम में नियुक्त
राज पुरुष को सूर्य कहते हैं । इस सम्बन्ध
में वेद के कुछ वर्णन देखिये—

ऋ० ६।१०।२ में कहा है “हे सूर्य तू
निष्पाप, ज्ञान से युक्त, और सत्य मार्ग पर
चलने वाले वना ।” ऋ० ७।६०।१ में कहा है
कि “हे सूर्य तू ही मित्र वरुण अर्यमा आदि
राज्याधिकारियों को सत्य का उपदेश करता
है ।” सूर्य से सत्य सीख कर ये मित्र
आदि राजपुरुष क्या करते हैं ? इस
सम्बन्ध में ऋ० ७।६०, १५, १६ मन्त्रों
में कहा है कि ये ज्ञानी हैं, अनृत को

प्रियासो अर्यमन् गृणन्तः ।” ऋ० ७।६०।१

अस्योपदेशेन ते मित्रवरुणार्यमादयः
किङ्कुर्वन्तीत्यपि द्रष्टव्यम् । “इमे चेतारो अनृत-
स्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति । इम
ऋतस्य वावृधुदुरोणे शम्मासः पुत्रा अदितेर-
दध्याः ।” ऋ० ७।६०।५

“इमे मित्रो वरुणो दूळमासोऽचेतसं चि-
च्चिनयन्ति दक्षैः । अपि कर्तुं सुचेतसं वतन्त-
स्तिरश्चिदंहः सुपथा नयन्ति ।” ऋ० ७।६०।६

अन्यत्र मन्त्रे—

“उत्सूर्यो बृहदर्चीष्यश्चेत् पुरु विश्वा
जनिम मानुषाणाम् । समो दिवा ददृशे रोच-
मानः कृत्वा कृतः सुरुतः कर्तुमिभूत् ।”
ऋ० ७।६२।१

अत्रास्य स्फुटमेव लोकैर्निर्माणमुक्तम् ।
तस्मादयं कृत्वा राजा कर्तृभिः तद्विद्भिः प्रजा-
पुरुषैरनुमोदितः स्वाधिकारे स्थापित इति
स्पष्टमेव । नहि नक्षत्रमण्डलाधिपतेः कर्तृभिः
कृतत्वमुपपद्यते ।

पहिचान लेते हैं और ऋत अर्थात् सत्य ज्ञान
को बढ़ाते हैं । अज्ञानी को अपने सामर्थ्य
से ज्ञानवान् बना देते हैं । और पुरुषों को
क्रियाशील ज्ञानवान् बना कर पाप से हटा
कर सुमार्ग पर ले चलते हैं । ऋ० ७।६२।१
में कहा है कि यह सूर्य कर्त्ता लोगों ने उत्तम
रीति से बनाया है । इसका भाव यह है
कि यह राजा और प्रजा पुरुषों द्वारा अनु-
मोदित होकर अपने अधिकार पर बैठा है ।

पुनर्दशममण्डले—

“विश्वस्य हि प्रेषितो रक्षसि व्रतमहेडय-
न्नुच्चरसि स्वधाअनु । यदद्य त्वा सूर्योपत्र-
वामहै तं नो देवा अनु मंसीरत कतुम् ।”
ऋ० १०।३७।५

इति मन्त्रेऽयं व्रतरक्षणकर्त्तृति गीयते ।
पुनरस्मिन्नेव सूक्तेऽष्टमे मन्त्रे विचक्षणैति
सम्बोधनमुपलभ्यते । एकादशे मन्त्रे चास्य
द्विजोत्पादकत्वम्पुनरपि श्रुत्यागीतम् ।
तथाहि—

“अस्माकं देवा उभयाय जन्मने शमं यच्छत
द्विपदे चतुष्पदे । अदत् पिवदूर्जयमानमाशितं
तदस्मे शं योररपो दधातन ।” ऋ० १०।३७।१

चतुष्पदां गवादीनां दुग्धादिपानेन तदु-
त्पन्नपदार्थाशनेन च बलवन्तो वयं द्विजन्मानां
यथा भूयास्म तथा देवाः कुर्वन्तिबन्त्यत्र
प्रार्थितम् । अस्य सूक्तस्य सूर्यो देवता ।

अपिच—

“उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।

बूलोक में रहने वाले भौतिक सूर्य पर यह
कर्त्ता लोगों द्वारा निर्माण—नहीं घट सकता ।
ऋ० १०।३७।५ में कहा है कि सूर्य
हमारे व्रतों की रक्षा करता है । इसी सूक्त
के आठवें मन्त्र में सूर्य को विचक्षण कहा
है । विचक्षण का अर्थ होता है ‘हर एक चीज
को समझने वाला चतुर पुरुष’ इसी सूक्त के
११वें मन्त्र में इसे हमारे दोनों जन्म देने
वाला अर्थात् हमें द्विजन्मा बनाने वाला कहा

दृशे विश्वाय सूर्यमिति मन्त्रोऽग्नवेदे (१।२०।१) यजुर्वेदे (७।४१ ॥ ८।४१ ॥ ३३।३१) अथर्ववेदि (१३।२।१६, २०।४।१३) च लभ्यते। अत्र च विश्वाय दृश इति पदं नान्यस्यैकस्यैचिदपि देवतायै प्रयुक्तम्। नहि भौतिके सूर्ये विश्वं दर्शनं सम्भवति। स हि केवलं चाक्षुषं दर्शनं कारयितुं प्रभुः। विश्वं दर्शनं तु ज्ञानप्रदातयेव सम्भवम्। अथर्ववेदि त्रयोदशकाण्डे द्वितीया-नुवाके चायं चतुर्थे मन्त्रे विपश्चिच्छब्देन त्रयोविंशे मन्त्रे विचक्षणशब्देन। पञ्चविंशे तपस्विशब्देन। पञ्चचत्वारिंशे च सुविदत्र-शब्देन च विशिष्यते।

एभिरन्यैश्चैव विधैर्वेदप्रमाणैः सूर्यस्य ज्ञानवत्त्वं ज्ञानप्रदत्त्वं च सुस्पष्टमवगम्यते। भौतिको हि सूर्यो यथा रात्रेरन्धतामिस्रं व्यपो-हति राष्ट्रे ज्ञानप्रसारकर्मण्यधिकृतो राज-पुरुषस्तथैवाविद्यातमश्छिनत्ति। अत उभयो-रपिसूर्ययोस्तमो विनाशकत्वं समानम्। राष्ट्रार्थे मन्त्रस्याक्षरार्थस्त्वेवम्। शरस्या-विद्यातमो हिंसकस्य ज्ञानस्य पितरमुत्पादकं शतवृष्यं नानासुखवर्षयितारं सूर्यं राष्ट्रे ज्ञानप्रसारकर्मण्यधिकृतं राजपुरुषं विद्म जानीमः खलु। तेन ज्ञानेन ते तन्वे शं करं करोमि। हे राष्ट्र ते निषेचनं विद्याप्रसार-

है। इसी भान्ति ऋ० १।५०।१ यजु० ७।४१ ॥ ८।४१ ॥ ३३।३१ ॥ अथर्ववेद १३।२।१६ ॥ २०।४०।१३ ॥ में सूर्य के लिए ये शब्द आते हैं “दृशे विश्वाय सूर्यम्” जिसका भाव यह है कि सूर्य सब प्रकार का दर्शन कराता है। भौतिक सूर्य केवल एक प्रकार का चाक्षुष ज्ञान ही कराता है। सब प्रकार का दर्शन कराने का सामर्थ्य तो ज्ञान-प्रदाता में ही सम्भव हो सकता है। “दृशे विश्वाय” यह विशेषण सारे वेद में केवल सूर्य के लिये ही आया है। इसी भाँति अथर्व १३।२।४ में सूर्य को विपश्चित् अर्थात् विद्वान् और उसी सूक्त के २३वें मन्त्र में विचक्षण अर्थात् चतुर कहा है। २५वें मन्त्र में ‘तपस्वी’ शब्द से कहा

गया है। और ४५वें मन्त्र में “सुविदत्र” अर्थात् उत्तम ज्ञानवाला कहा गया है। इस प्रकार सूर्य का ज्ञान से सम्बन्ध सुस्पष्ट है भौतिक सूर्य जैसे रात्रि के घोर अन्धकार को नष्ट करता है ऐसे ही राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करनेवाला राज्याधिकारी अविद्या-न्धकार को नष्ट करता है।

अब मन्त्र का अक्षरार्थ सुनिये—

(शरस्य) अज्ञानान्धकार के नाशक ज्ञान के (पितरं) उत्पादक (शतवृष्यं) सैकड़ों प्रकार के सुखों की वर्षा करनेवाले (सूर्य) राष्ट्र में ज्ञान-प्रसार करनेवाले राज्याधिकारी को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस ज्ञान से (ते) तुम्हारे (तन्वे) शरीर के लिये (शं) मङ्गल (करं) करता हूँ। हे

कर्माधिकारप्रदानं बहिश्चेद् भवेत् कस्मैचिच्च-
दर्प्येत तर्हि पृथिव्यां विद्याप्रदानकर्तारि
सत्पात्र एव भवतु तदानीं समर्प्यमाणोसा-
वधिकारो बालिति संकोचमपहाय भटित्येव
भवतु ।

सूक्तस्य मित्रादिदेवताकानां मन्त्राणां ते
निषेचनं पृथिव्यामित्यादीनि पदानि राष्ट्र-
परिच्छेदपि दर्भजलपरेऽर्थेऽपि व्याख्यातुं
शक्यन्ते । तदानीं मित्रादीनां रक्षणे निरत्ययं
निवसता ब्रह्मचारिणा संचितस्य वीर्यस्य
निषेकश्चेद्भवेत् पत्न्यामेव भवेदित्येवं तानि
पदानि व्याख्यायेरन् ।

व्या० प्र०—सूर्यम् । राजसूर्यसूर्येत्या-
दिना । पा० ३।१।१४ इति सुस्तरणेक्यप् ।
निपातनात् ऋकारस्य ऊत्वम् । सरत्याकाशे
स सूर्यः । यद्वा, पू प्रेरणे, तुदादिः—क्यप्

राष्ट्र ! (ते) तुम्हारा (निषेचनं) विद्या-
प्रसार के अधिकार का प्रदान (बहिः)
बाहिर अर्थात् किसी को सौंपा जाये तो
(पृथिव्यां) उस अधिकार का व्यापक रूप
में प्रसार करने में समर्थ सत्पात्र में ही
(अस्तु) हो । जब ऐसा सत्पात्र मिल जाये
तो तुम्हारा वह अधिकार प्रदान (बालिति)
बिना संकोच के शीघ्र ही हो जाये ।

इस सूक्त के मित्र, वरुण, चन्द्र और
सूर्य देवता वाले मन्त्रों के राष्ट्र परक अर्थों
में “पृथिव्यां ते निषेचनम्” आदि शब्दों का
यह अर्थ भी हो सकता है जो कि जल और

रुडागमः । सुवाति प्रेरयति लोकान् कर्मणि
स सूर्यः । यद्वा सु+ईर गतौ कर्मणि क्यपि
निपात्यते । वायुना सुष्ठु ईर्यते प्रेर्यते स सूर्यः ।
सूर्यः सत्ते वा सुवते वा स्वीर्यते वा ।
इति यास्कः निरु० १२।१४ ॥५॥

इत्थं शरश्लेषेण ज्ञानस्यापां दर्भस्य च
महिमानं, पर्जन्यमित्रवरुणचन्द्रसूर्येभ्यस्त-
दुत्पत्तिश्चोपवर्ण्य पुरुषतनो राष्ट्ररूपस्य च
देहस्यावष्टम्भकं तत्त्वम्प्रदर्श्य तदुपघातक-
भावनिरसनम्मूत्रशब्देन प्रस्तूपते । इदमत्रा-
कृतम् । यथा हि शुक्रं पुरुषशरीरावष्टम्भकं
राष्ट्ररूपायास्तनोर्ज्ञानमवष्टम्भकं, तच्चोपदे-
शकशासनविधानप्रवर्तकरक्षाधिष्ठातृरसवत्-
संगीतादिकलास्रोतस्वद्विद्याप्रचारकेत्यपरप-
र्यायेभ्यो राष्ट्रपुरुषेभ्यस्समुत्पद्यमानं प्राण-
भूतं राष्ट्रस्य तथा चैतस्याभयविधदेहोपका-

दर्भ परक अर्थों में किया गया है । अर्थात्
मित्र आदि की रक्षा में रह कर जिस ब्रह्म-
चारी ने वीर्य सञ्चय किया है उसके वीर्य
का निषेक केवल गर्भाधान के समय पत्नी में
ही होना चाहिए ॥५॥

इस प्रकार श्लेषालङ्कार द्वारा शर शब्द
से ज्ञान, जल और दर्भ की महिमा तथा
पर्जन्य, मित्र, वरुण, चन्द्र और सूर्य से
इन तीनों की उत्पत्ति तथा पुरुष शरीर और
राष्ट्ररूप शरीर के अवष्टम्भक तत्व को दिखा
कर, उसके विरोधी भावों को कैसे दूर किया
जाये इसको मूत्र शब्द से दिखाया जाता है ।

रक्तस्य परमधातोः पात्र एव निषेचनमुचित-
मिति ।

अथेदानीं मूत्रवर्णने प्रसक्ते किन्तावनमू-
त्रमिति निर्धारयामः । वस्तु सञ्चितं यजलं
शिशनमार्गेण बहिर्निगच्छति तन्मूत्रमिति
प्रख्यातम् । तच्च नेह सङ्गच्छते । आन्त्रेषु
समुत्पन्नजलस्य गुदमार्गेण निर्गमादत्र मन्त्रे
चान्त्रेषु मूत्रवर्णनात् । तस्मान्मूत्रप्रस्रवण
इति धातोरर्थमाश्रित्य यौगिकोऽयम्प्रयोग
इत्येवानुसंधेयम् । प्रस्रवणञ्च भित्तिप्रच्युत-
बिन्दुसञ्चयप्रवाहस्तेनान्त्रभित्तिप्रस्रवणमलवि-
न्दुसञ्चयभूतम्पुरीषमप्यत्र मूत्रशब्देनोच्यते ।
अत्र केचिदास्फारितत्वेन सबाह्वक्षेपमाशङ्के-
रन् । हन्त भो ! भक्षितेऽपिलशुने न ते शान्तो
व्याधिः । भुक्तानुजीर्णभोजनपरिणामावशेषो
हि पुरीषम्, न तदान्त्रभित्तिभ्यः प्रस्रवतीति
चेन्मैवम् । शरीरतन्त्रानवगाहनमेवात्मनस्ते
विवृणुयुस्तथा चोच्यते ।

THE FAECES.

The faeces are often regarded
as representing the undigested
or indigestible constituents of
the food which have escaped
solution and absorption in their

passage through the alimentary
canal. This view is hardly cor-
rect as applied to man or to the
carnivora. In these the absorp-
tion of the constituents of a
meal, whether consisting of fates,
proteins, or carbohydrates, is
practically complete by the time
that the food has arrived at the
lower end of the ileum. The
faeces, in fact, are not derived
from the food, but are produced
almost entirely in the alimentary
canal itself. This is shown by
the fact that on analysing the
faeces no soluble carbohydrates,
or proteins, albumoses, peptones,
or amino-acids are to be found.
After a meal of meat microscop-
ic examination of the faeces
reveals no trace of striated mus-
cle fibres. Moreover, animals
in a state of complete starvation
form faeces which do not differ
in their composition from the
faeces which are found after feed-
ing with meat, eggs, sugar, or

जिस प्रकार वीर्य पुरुष के शरीर का
स्तम्भक होता हुआ, शर नामक ओषधी के
सेवन से तथा जल स्नान से बढ़ता है ।
उसी प्रकार राष्ट्ररूप शरीर का अवष्टम्भक
तथा प्राणभूत तत्त्व ज्ञान, उपदेशक,
शासन विधान के प्रवर्तक, प्रजाओं की रक्षा

में नियुक्त राष्ट्र के पदाधिकारी, रस सम्पन्न
संगीतादिकला के स्रोत, विद्या के प्रचारक
राष्ट्र पुरुषों से पैदा होता है । इस प्रकार
पुरुष-शरीर और राष्ट्र-शरीर इन दोनों प्रकार
के शरीरों के परम उपकारक उत्कृष्ट तत्व का
सत्पात्र में ही निषेचन करना उचित है ।

सभा के साहित्य-विभाग

द्वारा प्रकाशित

स्वाध्याय के लिए अमूल्य ग्रन्थ

वेदामृत—ईश्वर, जीव, सृष्टि, वेदवाणी, प्रार्थना, संस्कार, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजनीति, सहृदयता, एकता, समानता, आयुष्य आदि विषयों पर साढ़े चार सौ पृष्ठ का बृहत् ग्रन्थ है। मूल्य २॥)

पीथूषविन्दु—इस में विविध विषयों पर १०० मन्त्रों का सुन्दर संग्रह किया है।
लेखक—पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ। मू० १-)

ऋग्वेद-शतक—ऋग्वेद के १०० सुन्दर मन्त्रों का भाष्य-सहित संग्रह किया है।
लेखक—स्वा० अच्युतानन्द जी महाराज। मू० १)

वेद से वेदार्थ—इस में वैदिक प्रमाणों से वेद का अर्थ करने की अनेक शैलियों पर विचार किया गया है। ले०—प्रो० रुलियाराम एन. एस.सी.। मू० ३)

दयानन्द रत्नमाला—इस में ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से आर्यसमाज के १० नियमों के पोषक सार्वजनिक वाक्यों का संग्रह किया गया है। ले०—श्री विश्वनाथ एम. ए.। मूल्य ३)

Immortal Sayings of Dayanand—यह दयानन्द रत्नमाला का अंग्रेजी संस्करण है। मू० ३)

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का सचित्र इतिहास—इस में गत पचास वर्षों का सभा का इतिहास ४५० पृष्ठों में लिखा गया है। इस के अतिरिक्त २३२ पृष्ठों में समाजों, गुरुकुलों तथा स्कूलों का परिशिष्ट है। इस में २२ चित्र दिये गए हैं। मूल्य सजिल्द २॥)

अध्यक्ष, साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

छप गई !

छप गई !!

छप गई !!!

अग्निहोत्र की अनूठी व्याख्या

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार की प्रतिभापूर्ण लेखनी का एक और चमत्कार

देवयज्ञ

नामक पुस्तक छपकर तैयार हो गई !!!

परिणत बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार आर्यसमाज के प्रतिभाशाली वैदिक विद्वान् हैं। उनकी लिखी स्वर्ग, सोम, मरुत, शतपथ में एक पथ, शतपथ भाष्य, ब्रह्मयज्ञ आदि पुस्तकें आर्यसमाज के साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। उनकी सन्ध्या की व्याख्या ब्रह्मयज्ञ के थोड़े ही काल में दो संस्करण निकल चुके हैं। देवयज्ञ पुस्तक भी ब्रह्मयज्ञ की ही कोटि की है। देवयज्ञ में अग्निहोत्र के मन्त्रों की व्याख्या के अतिरिक्त देवयज्ञ के अङ्ग, उद्देश्य-प्रणिधान, ईर्ष्या-विजय, विश्वेदेवा और यजमान, वषट्कार और स्वाहाकार, स्विष्टकार, अदब्धता, यज्ञ-चक्र, ब्रह्मप्रणिधान, आदि कितने ही अन्य विषयों पर भी सर्वथा मौलिक विचार दिये गये हैं। एक बार रेंगा कर अवश्य पढ़िये। मूल्य केवल 1/- है।

निम्न पुस्तकें भी मँगाकर पढ़िये

ब्रह्मयज्ञ 1/-

स्वर्ग 1/-

सोम 1)

मरुत 1)

शतपथ में एक-पथ 1)

मिलने का पता—

अध्यक्ष—अनुसन्धान-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

परिणत प्रियव्रत प्रिण्टर और पब्लिशर द्वारा नवयुग प्रिण्टर्स प्रेम, १७, मोहनलाल रोड, लाहौर,
में छपकर गुरुदत्त भवन, रावी रोड, लाहौर, में प्रकाशित हुआ।

❀ ओ३म ❀

वैदिक तत्वज्ञान और धर्म का प्रचारक पत्र

आर्य

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, गुरुदत्त भवन, लाहौर

विशेष लेख

- १—वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त
- २—श्री अरविन्द का योग
- ३—वेद वाटिका
- ४—शतपथ ब्राह्मण का भाष्य
- ५—अथर्व वेद भाष्य

वार्षिक मूल्य ३)

एक प्रति ।=)

सम्पादक:—

पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

विषय-सूचि



सं	लेख	लेखक	पृष्ठ सं
१.	वेदोपदेश	श्री भगवद्गुप्त जी वेदालंकार	८६
२.	वेदों के रालनैतिक सिद्धान्त	श्री प्रियव्रत जी वेद वाचस्पति	६२
६.	उपहास (कविता)	श्री हरिकृष्ण जी प्रेमी	१००
४.	श्री अरविन्द का योग	के ज्ञानी, मद्रास	१०१
५.	ऋषि-तर्पण	द्विरेफ	१०४
६.	वेदों का महत्व	श्री० जयदेव जी	१०५
७.	वेद वाटिका	सम्पादक	१०९
८.	वेद प्रचार समस्या	श्री जयदेव जी स्नेही	१११
९.	आर्यसमाज और खादी	श्री धर्म देव जी शास्त्री	११३
१०.	सम्पादकीय		११६
११.	अथर्ववेद भाष्य		६५—६८
१२.	शत-पथ ब्राह्मण का भाष्य		२७७—२८४

आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये यह आपका कर्तव्य है ।

ग्राहकों से—आर्य अङ्गरेजी मास की ५-६ तारीख १० प्रकाशित हो जाता है । पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये । फिर अङ्गरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये । इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे । अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये ।

**पत्र-व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये ।
पता, ग्राहक-संख्या वाले चिट पर लिखा होत है ।**



आर्य

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽरावणः ॥

भाग २०

लाहौर, आषाढ़ १९६४, जुलाई १९३७

अंक ३

[दयानन्दाब्द ११३]

वेदोपदेश



समिद्ध आत्मा

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः ।

आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥

अथर्व ५-१२-१

शब्दार्थः—(अद्य) आज (मनुषः दुरोणे) मनुष्य शक्ति सम्पन्न मनुष्य के घर में अथवा मानसिक जगत् में (समिद्धः) प्रदीप्त (जातवेदः) वेद वेत्ता (देवः) दिव्य गुण युक्त आत्मा (देवान् यजसि) इन्द्रियादि देवों से यज्ञ कर रहा है । (मित्रमहः)

मित्रों के महत्व को (चिकित्वान्) जानता हुआ तू उन देवों को (आवह) बुला । हे आत्मा (त्वं) तू (दूतः) उस परमात्मा का भेजा हुआ दूत है (कविः) क्रान्त दर्शी है और (प्रचेताः असि) प्रकृष्ट चेतना वाला है ।

इस मन्त्र में निम्न बातें बहुत महत्व पूर्ण हैं:—

१—वेदवेत्ता तथा प्रदीप्त आत्मा मानसिक जगत् में बैठा हुवा इन्द्रियादि देवों से रज्ज कर रहा है।

२—यह समिद्ध आत्मा इन्द्रियादि मित्रों के महत्व को समझने वाला है इस लिये उनका आह्वान करे।

३—वह दूत है, कवि है और प्रकृष्ट चित्त वाला है।

इस मन्त्र में मनुष्य की संकल्पाग्नि से समिद्ध अर्थात् प्रज्वलित आत्मा का वास्तविक चित्र खींचा गया है। मन्त्र में बताया गया है कि एक पहुँचे हुए सन्त महात्मा का यज्ञ स्वरूप आत्मा क्या कर रहा होता है। मन्त्र में निर्दिष्ट विशेषणों, क्रियाओं आदि से स्पष्ट पता चलता है कि मनुष्य का आध्यात्मिक आदर्श क्या है? आदर्श तक पहुँचने के लिये कौन सा रास्ता वेद में बताया गया है। इस रास्ते को तय करने के लिये उसने क्या करना है।

एक सन्त महात्मा अपने पवित्र वातावरण से परिपूर्ण आश्रम में बैठा हुवा यज्ञ कर रहा है चारों ओर भक्त मण्डली बैठी हुई वेद का गान कर रही है। नाना प्रकार की दिव्य ओषधियां प्रदीप्त अग्नि में डाली जा रही हैं। घृत की सतत प्रवाहिणी अटूट धारा अग्नि को समिद्ध कर रही है, और उस से निकलती हुई दिव्य सुगन्ध चारों ओर अपना साम्राज्य फैलाती चली जा रही है। उस प्रदेश में रहने वाला प्रत्येक प्राणी उस पवित्र वातावरण में रहने के कारण पवित्रता का पुञ्ज बनता चला जाता है। और वह वातावरण उस सन्त के चारों ओर बैठी हुई भक्त मण्डली के मानसिक जगत् में हो रहे विक्षोभ का शान्त कर रहा होता है। ऐसे याज्ञिक प्रदेश में शेर और मृग एक घाट पानी पीते हैं वहाँ से राग और द्वेष का विनाश

हो जाता है। इसी प्रकार आज मानसिक कुटीर में हमारा यह समिद्ध आत्मा आकरके विराजमान हुवा है। यह आत्मा संकल्पाग्नि, कर्तव्याग्नि से प्रदीप्त हो रहा है। चारों ओर इसकी किरणें फैल रही हैं। इस आत्मा को सत्य विद्या का आभास हो चुका है। जितने भी ज्ञातव्य या कर्तव्य कर्म हैं उनके साक्षात्कार के लिये यह संकल्प कर चुका है। जितने भी राग द्वेषादि दोष हैं उनको समूलोन्मूल करने के लिये कटिबद्ध हो चुका है। इन दोषों को किस तरह से विनष्ट किया जाय, उसका उपाय यह बताया कि वह मानसिक यज्ञस्थली में स्वयं समिद्धाग्नि होकर विराजमान हुवा है। और जब यह आत्माग्नि इतनी समिद्ध हो चुकी कि मानसिक क्षोभ, विक्षोभ राग द्वेषादि उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते तो फिर वह विषयों की ओर बहिर्मुख हुई २ इन्द्रियों का आह्वान करता है।

मन और इन्द्रियां उसकी आज्ञा में चलती हैं। बाह्य विषयों से उपराम होकर अन्तर्मुख हो जाती हैं और मानसिक जगत् में विराजमान समिद्ध आत्मा के चारों ओर बैठ कर यजन करती हैं। वह दिव्य आत्मा ज्ञान-निकेतन है सत्य का पुजारी है, इन इन्द्रियादि देवों को अपने दिव्य स्वरूप से प्रभावित कर रहा है। वह स्वयं यज्ञ कुण्ड की आग है। और इन्द्रियादि देव आहुतिमय हैं। जिस प्रकार भौतिक अग्नि में आहुति होकर स्वर्ण कुन्दन बन जाता है इसी प्रकार इस समिद्ध आत्मा में आहुति बन कर ये इन्द्रियादि देव कुन्दन बन जाते हैं। तब इन दोनों की बहिर्मुख वृत्ति न हो कर अन्तर्मुख वृत्ति हो जाती है। इस समिद्ध आत्माग्नि में आहुत होकर जब ये इन्द्रियादि देव पवित्र, शान्त तथा सूक्ष्म रूप होकर चारों ओर फैलते हैं तो जिस जिस से भी उनका सम्पर्क होता जाता है वही

पवित्र होता जाता है। उस में से रागद्वेषादि राक्षसी भाव विनष्ट हो जाते हैं। अपवित्र चीज को भी वे इन्द्रियादि देव पवित्र करने वाले होते हैं। भौतिक माया अब उन्हें फंसा नहीं सकती।

आगे कहा कि हे समिद्ध आत्मा ! तुम उन इन्द्रियादि देव तथा दिव्य भावनाओं को आह्वान करो। चूंकि ये इन्द्रियादि देव तथा दिव्य भावनायें तुम्हारी मित्र हैं, और तुम मित्र के महत्व को समझने वाले हो। उनको सन्मार्ग पर ले चलना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम परमात्मा के संदेश-हर हो इन्द्रियादि भक्त मण्डली को वह सन्देश सुनाओ। तुम कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी और प्रकृष्ट ज्ञान वाले हो। उन देवों को भी उस वेदनिर्दिष्ट मार्ग से ले चलो। जब इस प्रकार एक मनुष्य को

सब मानसिक शक्तियां उस समिद्ध आत्मा की आज्ञा में चलेंगी तो वह मनुष्य यज्ञ स्वरूप हो जायगा। उसका एक एक कर्म यज्ञ स्वरूप होगा।

और जो भी मनुष्य वा पदार्थ उसके सम्पर्क में आयेगा वह भी यज्ञ स्वरूप होता चला जायेगा। इसलिये आत्मा को समिद्ध करना चाहिये जिससे कि आत्मिक यज्ञ हो सके और आत्मिक यज्ञ के शुद्ध होने पर सब यज्ञ स्वयं होने लगते हैं। यह सब यज्ञों का केन्द्र है इसके शुद्ध होने पर सब शुद्ध होते हैं। इसके विनष्ट हो जाने पर सब विनष्ट हो जाते हैं। इस लिये कहा कि यज्ञ करो। आत्मा को समिद्ध करो।

भगवद्भक्त वेदालंकार

ट्रैक्टों का सिलसिला

सभा का साहित्य विभाग प्रति मास हिन्दी तथा उर्दू में समाजों में प्रचारार्थ मुफ्त बांटने के लिये ट्रैक्ट प्रकाशित करता है। २५ प्रतियों का एक पैकट प्रति मास मँगवाने पर २) वार्षिक चन्दा है। यदि आप का समाज अभी तक इस ट्रैक्टों के मासिक सिलसिले का ग्राहक नहीं बना तो शीघ्र ही) मनी आर्डर द्वारा भेज कर इस के अवश्य ग्राहक बन जाइये।

अध्यक्ष—साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

१६. राज्य में करने योग्य कुछ बातें

(Some ends to be realised by the state)

१९. सन्तानोत्पत्ति पर निरीक्षण

“हे शत्रुओं का पराभव करने वाले सम्राट् (अग्ने) हमें ज्ञान द्वारा (धिया) सुवीर और उत्कृष्टपुत्र रूप ऐसा प्रशंसनीय ऐश्वर्य दीजिये जिसे हम पर आक्रमण करने वाला (यावा^१) और हमें पीड़ा पहुंचाने वाला (यातुमावान्^२) शत्रु तर न सके।” “वह पुत्र बड़ाबली और चतुर हो (सुदत्तं), और ऐसा हो कि उसे, प्रति दिन भोगने योग्य हवि और घृतादि से युक्त, ऐश्वर्य की इच्छुक युवति, कुमारी कन्या (अरमतिः^३) उसकी पत्नी होकर प्राप्त कर सके।”

मन्त्रका भाव यह है कि हमारे पुत्र के पास बल, बुद्धि और प्रतिदिन भोग के योग्य सब प्रकार का अभीष्ट ऐश्वर्य हो, जिससे उस से आकृष्ट हो कर युवति कन्या उसका पाणि-ग्रहण कर सके।

“हे सम्राट् (अग्ने) हम प्रार्थना करने वालों को चिरतक काल से ऐसी भूमि (इडां) दे (साध) जिस पर हम बहुत कर्म कर सकें (पुरुदंसं^४) जिसके कारण हमें गौवें प्राप्त हो सकें (सर्नि गोः), जिस से हमारा पुत्र अपने वंश का विस्तार करने वाला

(तनयः^१) और विविध ऐश्वर्य का जनक (विजावा^२) हो सके ऐसी अपनी सुमति हे सम्राट् हम पर कर।” “अनेक कर्मों में कुशल, युद्धों में दुस्तर, तेजस्वी, ऐश्वर्य सम्पन्न, पुत्र रूप बल हे मरुतो हमें दीजिये, तुम्हारी सहायता से हम धनवान्, प्रशंसनीय, सर्वज्ञ (विश्वचर्षणि^३), पुत्र और पौत्रों को (तोकं तनयं) सौ वर्ष तक प्राप्त करते रहें (पुष्येम)।” “ब्रह्मणस्पतिः जिसे अपना सखा (युजं) बना लेता है वह हिंसा करने वाले (वनुष्यतः^४) शत्रु के वीरों को अपने वीरों से मार डालता है (वनवत्), गौवों से युक्त होता है, अपने ऐश्वर्य का विस्तार करता है, स्वयं ही ज्ञान को प्राप्त करने लगता है, और उसके पुत्र पौत्रों की वृद्धि होती है।” “हे महा बलिष्ठ (सहसः सूनो) महान् (विहायाः^५) सम्राट् (अग्ने) हमें सदा हितोपदेश कीजिये (वच्चा, ^६) पुत्र-पौत्र और घोड़े दीजिये, हम तेरी सब प्रकार की ज्ञानोपदेश की वाणियों से (विश्वाभिः गीर्भिः) पूर्ति को प्राप्त करें, और इस प्रकार सुवीर हो कर सौ वर्ष

१. अभिगन्ता शत्रुरिति सायणः।

२. हिंसायुक्त इति सायणः।

३. न विद्यते पूर्वा रमती रमणं गृहस्थ-क्रिया यस्याः सेति दयानन्दः। कुमारीति यावत्।

४. बहुकर्माणमिति सायणः।

१. सन्तानस्य विस्तारयितेति सायणः।

२. विविधैश्वर्यजनक इति दयानन्दः।

३. विशेषेण द्रष्टारं सर्वज्ञमिति सायणः।

४. हिंसतः इति सायणः।

५. विहाया इति महन्नामसु पठितम्। निर्धः ३।३

६. वदिता हितोपदेष्टेति सायणः।

तक आनन्द में रहें ।” “पुत्र पौत्र की प्राप्ति के निमित्त लोग उसी इन्द्र को पुकारते हैं ।” “शत्रु सेनाओं का पराभव करने वाला, हे सम्राट् (इन्द्र) तेरा जो प्रवृद्ध और हर्ष देने वाला बल है (मदः), उसे तू हमें दे जिससे पुत्र-पौत्र की प्राप्ति करके, तेरी रक्षा में विजयशील बनते हुए हम तेरी प्रशंसा कर सकें ।”

मन्त्र के ‘तेरी प्रशंसा कर सकें’ इस वाक्य का भाव यह है कि हम कह सकें कि देखो हमारा सम्राट् कैसा सुप्रबन्ध करता है जिससे हमें उत्कृष्ट सन्तान प्राप्त होती है और हम सब क्षेत्रों में विजयशील बनते हैं ।

“हे सम्राट् (इन्द्र) हमें मंगलों का वर्षण कर्ता धनसे युक्त, प्रवृद्ध, सुदत्त, पुत्ररूप बल दीजिये, जिसे लेकर हम तेरी रक्षाओं द्वारा अपने और पराये (जामीरँजामीन्) शत्रुओं को युद्धों में मार सकें (वंसाम १) ।” “हे इन्द्र और वरुण पुत्र और पौत्र की प्राप्ति के निमित्त लोग तुम्हें ही पुकारते हैं ।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तू हमारे शरीरों में, हमारे बलों में बल धारण करा, हमारे पुत्र और पौत्र के लिये बल दे, जीवन के लिये तू ही बल देने वाला है ।” “हे मरुतो क्योंकि (येन) तुम हमारे पुत्र-पौत्रों के लिये कभी क्षीण न होने वाला धान्य और भांति भांति के अन्न (बीजं) धारण करते हो, इस लिये हम तुमसे जो धन मांगें वह हमें दो, हमें ऐसा सौभाग्य दो जिससे हम पूर्ण आयु प्राप्त कर सकें ।” “हे वासक सम्राट् (अग्ने) हमारे और पुत्र-पौत्रों के लिये मनुष्यों से युक्त प्रभूत धन दे, पशु दे, कामनाओं को पूर्ण करने वाले (पूर्वीः २) जिनके

सेवन से पाप हम से दूर रहे ऐसे बहुत अन्न (इधः) दे, तेरी सहायता से हमारे लिये मंगल कारक, उत्कृष्ट अन्न, धन और या की अवस्थयें (सौश्रवसानि) रहें ।” “हम तेजस्वी सम्राट् (अग्नि) से प्रार्थना करते हैं उसकी अधीनता में हे आदित्य देव पुरुषो अज्ञान को बाहर निकाल फेंकने वाला (छर्दिः १) उत्कृष्ट भरण-पोषण देने वाला, मनुष्यों की पालना करने वाला, उपदेश (प्रवाचनं) प्रदान करो जिससे हमें, पशु, पुत्र-पौत्र और मंगल प्राप्त हो सकें ।” “पुत्र और पौत्र की प्राप्ति के निमित्त उस ज्ञान युक्त, वज्रधारी सम्राट् (इन्द्र) को बुलाना होता है (हव्यः अस्ति) ।” “हे वज्रधारी सम्राट् (इन्द्र) मैं जिन लोगों में रहता हूँ उनके लिए, अपने को बड़ा समझने वाले शत्रुको भी नष्ट करदे (रन्धय), अब (अधा २) हम अपने राष्ट्र में (पृथिव्या) शूरवीरों की प्राप्ति के लिए, पुत्रों, गौवों और जलों की प्राप्ति के लिए तुम्हें पुकारते हैं ।”

मन्त्र का भाव यह है कि जब हमारे राष्ट्र पर, हमारी जनसंख्या और शूर-वीर पुरुषों की कमी के कारण, शत्रुओं का भय हो तो राजा का कर्तव्य है कि वह ऐसे उपाय और प्रबन्ध करे कि जिससे राष्ट्र में सन्तानों की संख्या-वृद्धि और शूरवीर पुरुषों की प्राप्ति हो और, इस प्रकार हमारे लिए शत्रु का भय नष्ट हो जाए । युद्धादि के संघर्ष में और वैसे भी गोजन्य दुग्ध घृतादि और उत्तम जल-प्रबन्ध की कितनी आवश्यकता है स्पष्ट है । इसी लिये मन्त्र में इनकी भी प्रार्थना है ।

“हे सम्राट् (इन्द्र) ऐश्वर्यों का तू एक ही सर्वश्रेष्ठ पति है, प्रजा के सारे मनुष्यों को तू हाथ में

१. इनामेति सायणः ।

२. पूरयिष्यः कामानां बह्व्यो वेति सायणः ।

१. छर्दति बलाद्बहिर्दमति तच्छर्दिः ।

२. अधुनेति सायणः ।

रखता है, पुत्र-पौत्र और जलों की प्राप्ति के निमित्त राज्य के विभिन्न भाषा-भाषी (विवाचः) मनुष्य तुम्हें ही पुकारते हैं।” “हे अश्विनो तुम इन ज्ञानों में (धीषु) हमारी रक्षा करो, तुम्हारी ज्ञान-रक्षा से हमें उत्तम सन्तान देने वाला (सुप्रजावत्) अक्षीण (अहयं) वीर्य (रेतः) प्राप्त हो, तुम्हारी कृपा से हम उत्तम रत्नों से युक्त होकर उन रत्नों को पुत्र-पौत्र को देते हुए (तूतुजानाः^१) देवों की संगति को (देववीतिं) प्राप्त कर सकें”।

मन्त्र के ‘पुत्र-पौत्रों को धन देकर देवों की संगति को प्राप्त करें’, इस वाक्य से वानप्रस्थाश्रम प्रवेश की सूचना मिलती है। देव युलोक में रहते हैं। युलोक का एक अर्थ वानप्रस्थाश्रम भी होता है यह हम पीछे ‘राजा का राज्यकाल’ नामक अध्याय में दिखा चुके हैं।

“सम्राट् (अग्निः) जो कि वरणीय पदार्थों का स्वामी है, हमारी मित्रता में रहकर हमें अन्न देवे सबके वासक, श्रेष्ठ और राष्ट्र के लोगों के शरीरों की रक्षा करने वाले (तनूपां) सम्राट् से हम पुत्र और पौत्रों की प्राप्ति के निमित्त सदा प्रार्थना करते हैं।” “हे सम्राट् (इन्द्र) पुत्र-पौत्र, अभीष्ट पदार्थ (परिष्टिषु^२) धारणावती बुद्धि और अक्षीण धन की प्राप्ति के निमित्त ये जो बड़े-बड़े ज्ञानी लोग (वृधासः सूरयः) तेरी पूजा करते हैं और इस प्रकार ऐश्वर्य को (मघं) प्राप्त करते हैं, उनके प्रति तू सदा प्रकाशित हो और उनसे प्रेम कर (चाकन्धिं^३)” “हे आदित्यों जिस की तुम सहायता करते हो वह

व्यक्ति कभी हिंसित नहीं होता (अस्तुतः) सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करता है और अपने सदृश सन्तान को (तोकं) प्राप्त करता है।” “हे मरुतो वर्षण-शील तुम हमारे अज्ञानांधकारों को (तमांसि) दूर करो और हमें पुत्र-पौत्र दो।” “हे सम्राट् (अग्ने) सहस्रों की संख्या में ऐसा धन दे जिसके सेवन से पुष्टि प्राप्त हो, जो तेज देने वाला हो, उत्कृष्ट पराक्रम देने वाला हो, कभी क्षीण न होने वाला हो प्रभूत परिमाण में हो (वर्षिष्ठं^१) और जिसके सेवन से हमें सन्तान प्राप्त हो सके।” “हे वृत्रों के सर्वश्रेष्ठ हन्ता सोम (इन्द्रो) तू सम्राट् (इन्द्र) का शिवकारी सखा है, युद्ध करने वाले शत्रु लोग जब हमें चारों ओर से युद्ध में (समिथे) ललकारते हैं तो तुम अपने हर्ष के निमित्त (वः मदे) हमें सन्तान प्राप्ति के लिये उपदेश देना चाहते हो (विवक्षसे)।”

मन्त्र का भाव यह है कि जब राष्ट्र को शत्रुओं से युद्ध का भय होता है तो राजा के सहायक कम-चारी गण प्रजा को सन्तानोपत्ति का महत्त्व समझाते हैं और उन्हें उत्तम सन्तान प्राप्ति के उपाय बताते हैं। इस और इस आशय के ऊपर गये दो-तीन मन्त्रों की ध्वनि यह है कि राज्य को अपने राष्ट्र की सन्तानोत्पत्ति इतनी कम कभी नहीं होने देनी चाहिए कि उसे शत्रुओं से आक्रमण का भय होने लग जाये।

“जो मनुष्य युद्ध के समय, (समोहे^२) सन्तान की प्राप्ति के लिये और जो मेधावी लोग बुद्धि की कामना वाले होकर (धियायवः) सम्राट् (इन्द्र) के पास पहुंचते हैं (आशत) सम्राट् उनकी कामना को पूरा करता है।” “हे सम्राट् (अग्ने) राज्य के लिये अपना दातव्य अंश देने वाले (दाशुषे) प्रजानन के लिये

१. प्रयच्छन्तः इति सायणः।

२. परित इष्यमाणेषु अन्येष्वपि फलेषु इति सायणः।

३. अत्यर्थमभिदीप्यस्व अभिकामयस्वेति सायणः।

१. अतिशयेन वृद्धं प्रभूतमिति सायणः।

२. समोहे इति संग्रामनामसु पठितम्। निघ २।१७

प्रभूत (परीणसं ^१) धन दे जिसके सेवन से वीर सन्तान प्राप्त होसके (वीरवन्तं), और हे सम्राट् सन्तान से युक्त हम लोगों को ज्ञान दान द्वारा तीक्ष्ण बना (शिशीहि ^२) ” “हे मरुतो तुम सुवर्ण युक्त (चन्द्रवत् ^३) धन दो जिस के सेवन से हमें गौवें, घोड़े, रथ और वीर सन्तान प्राप्त होसके ” “हे सब कुछ जानने वाले (विचर्षणे) राष्ट्र में धन और ज्ञान देने वाले सम्राट् (जातवेदः) हमें ऐसा धन दे जिसके सेवन से हमें वीर सन्तान प्राप्त हो सके, और हे उत्तम कर्म और प्रज्ञावाले हमें चुपके-चुपके क्षीण करने वाले सब शत्रुओं को (रक्षांसि) मार डाल । ” “हे सम्राट् (अग्ने) हमें उत्कृष्ट वीर पुत्र रूप धन दे जो कि अन्न-रस और बल को प्राप्त करने वाला हो, प्रशंसनीय गुणों से युक्त हो, यशस्वी हो और महान् हो । ” “हे महाबली (सहसः सूनो) सम्राट् (अग्ने) हम मनुष्यों को पुष्टि के लिये वे उत्कृष्ट बल, धन और यश की अवस्थायें (सौश्रवसानि) दे जिनके कारण हमें उत्कृष्ट वीर पुत्र प्राप्त हो सकें । ” “ हे सम्राट् (इन्द्र) हम तेरे मित्र तेरे कर्मचारी गण रूप देवपुरुषों से सुरक्षित (देवगोपाः) होकर अपने व्यवहार यज्ञों की पूर्णता पर (उद्वचि ^४) अत्यन्त मंगल का उपभोग करने वाले हो जायें, हम तेरी स्तुति करें और तेरी सहायता से प्रकृष्ट लंबी आयु और श्रेष्ठ पुत्रों को प्राप्त करें (सुवीराः) । ” “हे मरुतो हमारा पुत्र बली हो प्रज्ञावान् (असुरः ^५) हो वह आश्रित

जनों का विशेष रूप से धारण करने वाला हो, हम जिसकी सहायता से सब कर्मों को (अपः ^१) तर सकें और अपने घर में आनन्द से रहें । ” “सम्राट् (अग्निः) बलशाली घोड़े देता है, प्रशंसनीय और कर्मनिष्ठ पुत्र देता है । ” “ हे सम्राट् (अग्ने) तुम्हारे कारण राष्ट्र में गहराई के गम्भीर ज्ञान (काव्या), उत्पन्न होते हैं, मननशील बुद्धियें उत्पन्न होती हैं, सिद्ध करने योग्य प्रशंसनीय बातें उत्पन्न होती हैं, धन उत्पन्न होता है और रूपवान् वीर पुत्र (वीरपेशाः) उत्पन्न होते हैं, ये वस्तुयें उस मनुष्य को प्राप्त होती हैं, जो राज्य को अपना दातव्य अंश देता रहता है (दाशुषे) और सत्यज्ञानी तथा सत्यकर्मा होता है (इत्थाधिपे ^२) । ” “सम्राट् (अग्नि) धन देता है, रूपवान् वीरपुत्र देता है और जो कि सहस्रों ज्ञानों का निष्पादन करता है ऐसा ऋषि देता है । ” “हे मरुतो हमें अपने कर्तव्य में स्थिर रहने वाला वीरपुत्रों वाला, शत्रुओं का पराभव करने वाला (ऋतिषाह ^३), सहस्रों और सैकड़ों ऐश्वर्यों या सहायक पुरुषों से युक्त महान् पुत्ररूप धन दो, अपने ज्ञान और कर्म से ऐश्वर्य कमाने वाला (धियावसुः) वह पुत्र हमें शीघ्र प्राप्त हो । ” “जो इसके लिये राज्य का देयांश देता रहता है सोम उसके लिये दुधारू गौवें देता है, शीघ्रगामी घोड़े देता है, कर्मशील, गृह-कार्यों में चतुर (सादन्य ^४) ज्ञानसभाओं में

१. अप इतिकर्म नामसु पठितम् । निधं० ३। १॥
सायणस्तु आप्रवतः शत्रून् इति व्याचष्टे ।

२. इत्येति सत्यनामसु पठितम् । निधं. ३। १०।
धीरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निधं. ३। ६ ॥ धीरिति कर्म-
नामसु पठितम् । निधं० २। १

३. गन्तृणां शत्रूणामभिभवितारमिति सायणः । ऋगतौ
कर्त्तरिक्तिच् षह अभिभवे णिवः ।

४. सदनं गृहं तदर्हं गृहकार्यकुशलमिति सायणः ।

१. प्रभूतमिति सायणः । परिपूर्वात्रसतेर्व्याप्त्यर्थात् किप् ।

२. तीक्ष्णान् कुर्विति सायणः । शिङ् निशाने ।

३. हिरण्योपेतमिति सायणः । चन्द्रमिति हिरण्यनामसु
पठितम् । निधं० १। २

४. उदकं यज्ञस्य परिसमाप्ताविति सायणः ।

५. प्रज्ञावान् इति सायणः ।

(विदध्यां) और राज सभाओं में जाने योग्य (सभेयं) पिता का यश बढ़ाने वाला (पितृभ्रवणं^१) पुत्र देता है।” “हे अश्विनो हमारे पुत्रों को बढ़ाओ।” “सम्राट् (अग्निः) कमशील, शत्रुओं का पराभव करने वाला (ऋतीषहं) सज्जनों का पालक पुत्र देता है, जिसके बल के देखने पर (संचक्षि) शत्रु भय से घबरा उठते हैं।” “हे सब कुछ जानने वाले, सैकड़ों प्रकार के कर्म और ज्ञान वाले सम्राट् (इन्द्र) तू हमें ओज और धन दे, शत्रुओं का पराभव करने वाला वीर पुत्र दे।” “हे वांसक सम्राट् (अग्ने) जो मनुष्य तुम्हें दातव्य अंश देता रहता है उसे तुम धन देते हो, वह ज्ञान का उपदेश देने वाला (उक्थशंसिनं) और शहस्रों का पालन करने वाला पुत्र प्राप्त करता है।” “बृहस्पति हमें पुत्रों और पौत्रों से युक्त ऐश्वर्य देवे, हम अन्न (इषं), बल (वृजनं) और जयशील दान (जीरदानुम्^२) को प्राप्त करें।” “हे सम्राट् (अग्ने) तुम वरण करने योग्य वीर पुत्रों से युक्त यश देते हो।” “जो मनुष्य इस सम्राट् (अग्नि) के लिये दातव्य पदार्थों को देता रहता है वह बहुतों का पोषण करने वाले वीर पुत्रों से युक्त यश को प्राप्त करता है।” “ऐश्वर्यशाली (मघवा) यशस्वी (द्युम्नी^३) तेजस्वी यह सम्राट् (अग्निः) वीर पुत्रों से युक्त यश देता है (आवंसते), इसकी नवीन सुगति बलों से युक्त होकर (वाजेभिः) हमें सदा (कुवित्^४) प्राप्त होती रहे।” “हे सम्राट् (अग्ने) हमारे द्वारा प्रशंसित तू ऐश्वर्य, वीरपुत्र अन्न दे।” “ऐश्वर्य देने वाला वह सम्राट् (द्रविणोदाः) मनुष्यों से युक्त धन देता है, अन्न देता है, वीरपुत्र

देता है और लम्बी आयु देता है।” “हे सम्राट् (अग्ने) तुम राज्य के लिए दातव्य अंश देने वाले मेधावी पुरुष को हजारों प्रकार का ऐश्वर्य, वीर पुत्र और अन्न देते हो।” “सम्राट् की सहायता से (अग्निना) ऐश्वर्य प्राप्त करता है, प्रतिदिन पुष्टि प्राप्त करता है, यश और और अत्यन्त उत्कृष्ट पुत्र प्राप्त करता है।” “हे बृहस्पते हम उत्कृष्ट सन्तानों वाले (सुप्रजाः) और वीर पुरुषों से युक्त और धनों के स्वामी बन जाएं।” “हे बलशाली सम्राट् (इन्द्र) हम जिसकी कामना करते हैं तू वही ऐश्वर्य और वीर पुत्र देता है।” “हे सम्राट् (इन्द्र) हम ऐश्वर्य से, अन्न से, बहुत सुवर्ण से युक्त, तेजस्वी बलों से, गौ, घोड़े और पुत्रों का बल देने वाली प्रकृष्ट मति से युक्त होकर पराक्रम के कार्यों का आरम्भ करें।” “हे सम्राट् (अग्ने) तेरे द्वारा सुचित हम घोड़ों से घोड़ों को, मनुष्यों से मनुष्यों को, पुत्रों से पुत्रों को प्राप्त करें, पिताओं से प्राप्त होने वाले धन के स्वामी होकर हमारे ज्ञानी पुत्र (सूरयः) सौ वर्ष तक जीते रहें।” “हे ब्रह्मणस्पते हम सर्वदा रथ देने वाले (रथ्यः) अन्न देने वाले या आयु देने वाले (वयस्वतः) और सुनियमित धन के स्वामी रहें, तू ज्ञान से (ब्रह्मणा) मेरी पुकार को सुनता है, हमारे वीर पुत्रों में वीर पुत्र उत्पन्न कर (उपपृङ्धि^१) “हे उत्तम मुख वाले (शिप्रिन्^२), ऐश्वर्यशाली, सरल स्वभाव और सरल नीति वाले (ऋजीविन्^३) सम्राट् (इन्द्र) हमें सब के वरण करने योग्य प्रभूत

१. पिता श्रूयते प्रख्यायते येन पुत्रेण तादृशमिति सायणः ।

२. जयशीलदानमिति सायणः ।

३. द्युम्नं द्योततेर्यशो वाजं वेति यास्कः । नि० ५.५

४. कुविदिति बहुनामसु पठितम् । निग्रं० ३।१

१. संपृक्तान् कुरु उत्पादयेति सायणः ।

२. शोभनहनो शोभनमुखेति यावत् ।

३. सरल स्वभावः, ऋजुनीतिरिति दयानन्दः ।

धन दे, हमें सौ वर्ष तक जीने वाला बना, हमें बहुत अथवा देर तक जीने वाले (शश्वतः) पुत्र दे ।”
“हे सम्राट् (इन्द्र) वह कब होगा जब कि तू हमारे पुरुषों से पुरुषों को और पुत्रों से पुत्रों को मिलायेगा (नीलयासे^१), हमारे युद्धों को जीतेगा, हमारी गौवों में दूध, दही, घी, इन तीन पदार्थों को धारण करने वाली (त्रियातु^२), गौवें देगा (अधिनयासि^३), और हमें सुख देने वाला धन देगा ।”

मन्त्र के पूर्वाह्न का भाव यह है कि हमारे संबंधी पुरुषों और पुत्रों को सन्तानों से युक्त कब करेगा जिस से उन की सहायता से हम सब सङ्कट-युद्धों को जीत सकें ।

“हे सम्राट् (अग्ने) तुम्हारे कारण शक्तिशाली विप्र पैदा होते हैं, अभिमानी शत्रुओं का पराभव करने वाले वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं, हे सब के हित-कारी राजन् हमें स्पृहा करने योग्य धन दे ।” “वृश्-स्पति गौवों, अश्वों, वीरपुत्रों और अन्य सहायक परिजनों (नृभिः) से युक्त अन्न (वयः) देता है ।”
“हे बली राजन् (अग्ने) ऐसा कीजिये जिस से हम प्रतिदिन तेरी रक्षा प्राप्त कर सकें, धन प्राप्त कर सकें, ज्ञान प्राप्त कर सकें (ऋताय), हे उत्तम कर्म और प्रज्ञा वाले हम गौवों और पुत्रों से युक्त होकर आनन्द में रह सकें ।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तू इस नारी को सुपुत्रा और सौभाग्यशालिनी बना, इस में दस पुत्र धारण करा और ग्यारहवां पति को बना ।”

इस मन्त्र के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर एक दम्पती के यहां दस पुत्रों तक उत्पन्न कराये जा सकते हैं । यह मन्त्र विवाह प्रकरण का है । वहां इस के इन्द्र

पद का अर्थ पनि और परमात्मा किया जाता है । परन्तु वेद में इन्द्र का एक अर्थ सम्राट् भी होता है यह हम अच्छी तरह देख चुके हैं । इसलिये इस मन्त्र से राना पदक प्रर्थ भी धानि से निकल सकता है । इसी आधार पर हमने इस मन्त्र को इस प्रकरण में दे दिया है ।

“हे राजन् (रोहित) तू मुझे गौवों और वीरपुत्रों की पुष्टि दे अर्थात् भारी संख्या में गौवें और पुत्र दे” “प्रजा के वासक लोग (वसिष्ठाः) वर्षणकर्ता, वज्रवाहु सम्राट् (इन्द्र) की पूजा करते हैं, प्रशंसित वह सम्राट् गौवें और पुत्र देने वाला ऐश्वर्य प्रदान करे, हे सम्राट् के अधीन देवपुरुषो तुम सदा मंगलों द्वारा हमारी पालना करो ।”

उपर के मन्त्रों में पुत्र-वाची अपत्य, तनय, तोक और सूनु शब्दों के अतिरिक्त जहां वीर और सुवीर पदों का प्रयोग हुआ है वहां भी हमने पुत्र, वीर पुत्र, उत्कृष्ट वीर पुत्र इस प्रकार के ही अर्थ किये हैं । वीर शब्द वेद में अनेक स्थलों में पुत्र अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, इसमें सभी भाष्यकार सहमत हैं स्वयं वेद हमें बताते हैं कि वहां वीर शब्द का प्रयोग पुत्र अर्थ में भी होता है । ऋग्वेद ७.१०४ और अथर्ववेद ८४ सूक्तों में न्यायाधीश का वर्णन है । न्यायाधीश के सम्मुख अपराधी और अनपराधी दोनों आते हैं । न्यायाधीश अनपराधी की रक्षा कर लेता है अपराधी को दण्ड दिलवाता है । इन सूक्तों का १५ वां मन्त्र इस प्रकार है:—

“अथा मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततः पूरुषस्य । अथा स ‘वीरैर्दशभि’ विव्यूया यो मा मोघ यातुधानेत्याह ।”
इसमें मिथ्या रूप से दोषारोपित व्यक्ति न्यायाधीश से कह रहा है कि “यदि मैं दूसरों को पीड़ा

१. संश्लेषये: संयोजयेरिति सायणः ।

२. त्रिधातूनां क्षीरदधिघृतानां त्रयाणां धारयित्रीरिति सायणः ।

३. साहचर्यबलादधिजयतिरत्र सम्प्राप्तिं गमयति ।

देने वाला हूँ और मैंने किसी पुरुष की आयु को सन्तप्त किया है तो मैं राजदण्ड से आज ही मर जाऊँ, नहीं तो वह व्यक्ति अपने दशों वीरों से वियुक्त कर दिया जाये अर्थात् कारा आदि में डाल दिया जाय जो मुझे व्यर्थ ही पीड़ा देने वाला कहना है।” हमने अभी ऊपर ऋग् १०.८५.४४ के आधार पर देखा है कि गृहस्थ को दस पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा दी गई है— “दशास्यां पुत्रानाधेहि” प्रस्तुत मन्त्र में मिथ्या दोषारोगी को उसके ‘दश वीरों’ से वियुक्त कर देने की प्रार्थना की जा रही है। परिणामतः वेद की भाषा में पुत्र और वीर समानार्थक हैं।

ऊपर उद्धृत मन्त्रों के अर्थ को यदि पाठकों ने ध्यान से पढ़ा होगा तो उन्होंने देखा होगा कि वेद में किस प्रकार के अद्भुत गुणशाली पुत्र प्राप्त करने का आदेश किया गया है। यदि हम किसी तरह इस प्रकार की गुणशाली सन्तान उत्पन्न करने का प्रबन्ध कर लें तो हम इस धरती पर प्रत्यक्ष देवताओं का निवास करा सकते हैं। और वेद की इन उक्तियों से सूचित होता है कि इस प्रकार के देवता उत्पन्न कर सकना हमारे अपने अधीन है। वेद हमारी किस प्रकार की सन्तानें चाहता है इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के १०.१७ सूक्त को और उद्धृत कर के फिर हम इस प्रकरण में उद्धृत मन्त्रों के आधार पर इस पर विचार करेंगे कि सम्राट् इस प्रकार की सन्तानें हमें किस प्रकार दे सकता है। यह सूक्त इस प्रकार है :—

जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते
वसूनाम् । विद्वाहि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं
चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥१॥

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं

रयीणाम् । चकृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं
वृषणं रयिं दाः ॥२॥

सुप्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुहं गभीरं पृथु-
बुध्नमिन्द्र । श्रुतऋषिमुग्र मभिमातिषाहमस्मभ्यं
चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥३॥

सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवां ।
सुदक्षम् । दस्युहन् पूर्भिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं
चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥४॥

अश्वावन्तं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं
वाजमिन्द्र । भद्रव्रातं विप्रवीरं स्वषामस्मभ्यं चित्रं
वृषणं रयिं दाः ॥५॥

प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा-
जिगाति । य आङ्गिरसो नमसोपसदयोऽस्मभ्यं
चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥६॥

वनीवानो मम दूनास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति
सुमतीरियानाः । हृदिस्पृशो मनसा वच्याना
अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥७॥

यत्त्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं
जनानाम् । अभि तद्वावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं
चित्रं वृषणं रयिं दाः ॥८॥

सूक्त के मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है।

“हे धनों के धनपति सम्राट् (इन्द्र) हम धन की कामना वाले होकर तेरा दाहिना हाथ पकड़ते हैं, हे शूर हम तुझे गौवों का गोपति जानते हैं, तू हमें कामनाओं का वर्षक अद्भुत पुत्र रूप धन दे।”
“उत्तम शस्त्रधारी, उत्कृष्ट रक्षा करने वाला, सुन्दर मार्ग पर ले चलने वाला, चारों समुद्रों तक कीर्ति वाला, धनों का धारक, कर्मशील प्रशंसनीय गुणों वाला, बहुतों द्वारा वरण करने योग्य, कामनाओं का वर्षक, अद्भुत पुत्ररूप धन हमें दे।” “उत्कृष्ट

१. गोशब्दस्य भूमीन्द्रियवाणीज्ञानादयो बहवोऽर्थाः ।

वेदवेत्ता, देव अर्थात् विद्वान् पुरुषों से घिरा रहने वाला, गुणों में महान्, शरीर में विस्तीर्ण, गम्भीर स्वभाव वाला, विस्तृत आधार वाला अर्थात् विस्तीर्ण भौतिक, मानसिक और आत्मिक आश्रयों वाला, ऋषियों की सेवा में बैठ कर ज्ञान सुनने वाला, उग्र शक्ति वाला, अभिमानी प्रतिद्वन्द्वियों का पराभव करने वाला, कामनाओं का वर्षक, अद्भुत पुत्र रूप धन हे सम्राट् (इन्द्र) हमें दे ।” “जिसके पास अन्न-रस और बल हो, प्रकृष्ट वीर अथवा मेधावी पुरुषों में विद्यावीर (विप्रवीर), संकटों से तराने वाला, धनों का संग्रह करने वाला, सभी बातों में बढ़ा हुआ, उत्कृष्ट बली और चतुर, दुष्टों को मारने वाला, शत्रुओं के नगरों को गिरा सकने वाला, सत्य का धनी, कामनाओं का वर्षक, अद्भुत पुत्र रूप धन हे सम्राट् (इन्द्र) हमें दे ।” “जिसके पास अश्व हों, रथ हों, वीर पुत्र हों, हजारों और सैकड़ों सहायक और अनुयायी पुरुष हों अथवा हजारों और सैकड़ों प्रकार का ऐश्वर्य दो (सहस्रिणं शतिनं), ज्ञान बल हो (राजं^१), भद्र लोगों का समूह जिसके चारों ओर रहता हो, प्रकृष्ट वीर अथवा मेधावी पुरुषों में वीर, सुख देने वाला, कामनाओं का वर्षक, अद्भुत पुत्र रूप धन हे सम्राट् (इन्द्र) हमें दे ।” “प्रकृष्ट सात इन्द्रियों वाला और सात प्रकार की वाणी अर्थात् छन्दों वाले वेद ज्ञान का ज्ञाता (प्रसप्तगुं), सत्य ज्ञान का धारण करने वाला, उत्कृष्ट धारणावती बुद्धि वाला, अपने ज्ञान द्वारा बड़े-बड़ों की रक्षा करने वाला (बृहस्पति), जिसके पास मननशील बुद्धि (मतिः)

च्छी तरह आती हो, जो प्राणों को वश में रखने वाला (आङ्गिरसः^१) हो, जिसके पास लोग नमस्कार कर के पहुँचा करें, कामनाओं का वर्षक, अद्भुत पुत्र रूप धन हमें दे ।” “हृदय का स्पर्श करने वाले अर्थात् मेरे हृदय से निकले हुए मन से कहे हुये अर्थात् पूर्ण तत्परता से उच्चारण किये हुए, भक्ति से भरे हुए (वनीवानः^२), इन्द्र से सुमति मांगने वाले (इयानाः^३), मेरे प्रार्थना समूह, दूतों की तरह तुम इन्द्र के पास जाते हैं, कामनाओं का वर्षक, अद्भुत पुत्र रूप धन हमें दे द्यौ और पृथिवी अर्थात् इन लोकों में रहने वाली विभिन्न शक्तियों के सब प्रभाव भी इस में अनुकूल हों (अभिगृणीताम्^४), गुणों में महान्, लोगों का अद्वितीय सहारा, कामनाओं का वर्षक, अद्भुत, पुत्र रूप धन हमें दे ।”

कई टीकाकारों ने इस सूक्त को धनपरक लगाया है। उनकी सम्मति में यहां धन की प्रार्थना की गई है। सायण ने भी इसे मुख्य रूप में धनपरक ही लगाया है। परन्तु इन लोगों की यह भ्रान्ति है। मन्त्रों में जो विशेषण धन के आये हैं वे भौतिक सोना-चांदी आदि द्रव्यों के धन पर घट ही नहीं सकते। वह भौतिक धन वेदवेत्ता, ऋषियों से ज्ञान सुनने वाला, धारणावती और मननशील बुद्धि वाला, कर्मशील, सत्यकर्मा, सत्य ज्ञान धारण करने वाला, बृहस्पति आदि सूक्त वर्णित गुणों वाला कहाँ हो सकता है? फिर इस धन को ‘धनों का धारणकर्ता’ ‘धनों का स्पर्श अर्थात् संग्रह’

१. वाजशब्दोऽत्र ज्ञानबलमाचष्टे वाजेभिर्वाजिनी-वतीति श्रुतेः सरस्वतीविषयोक्तिबलात्। अन्न-रस-बलार्थे तु चतुर्थमन्त्रे गतार्थः।

१. अङ्गिरस्तु प्राणेषु भवो महा प्राण इत्यर्थः।

२. वननवन्तः वननं संभजनं तद्वन्तः।

३. याचमाना इति सायणः।

४. अभिमन्येतामिति सायणः।

करने वाला' भी कहा है। ये विशेषण भला जड़-धन में कैसे सुसंगत हो सकते हैं? इन्हीं कठिनाइयों को अनुभव कर के सायण को तो द्वितीय मन्त्र की व्याख्या में एक पंक्ति में लिख भी देना पड़ा कि "यद्वा हे इन्द्र ईदग्गुणविशिष्टं पुत्राख्यं रयिं देहि—अर्थात् दूसरा अर्थ यह भी होगा कि हे इन्द्र ऐसे गुणों से विशिष्ट पुत्र नामक धन हमें दे।" इस सूक्त के सम्बन्ध में पुराने आख्यायिकाकारों ने आख्यायिका बना रखी है कि विकुण्ठा नामक असुर स्त्री ने इन्द्र जैसे पुत्र की कामना से कृच्छ्र-चान्द्रायणादि तप किये और इन मन्त्रों से इन्द्र से पुत्र की याचना की तब इन्द्र स्वयं ही विकुण्ठा के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हो गया। इस आख्यायिका

से भी यही सूचित होता है कि सूक्त में पुत्र रूप धन की ही प्रार्थना है, भौतिक सुवर्ण-रजतादि धन की नहीं। यों पुत्र एक प्रकार का धन तो है ही। मन्त्र में वर्णित गुणों वाले पुत्र से बढ़ कर भला और कौन सा धन किसी को वाँछनीय हो सकता है? ऐसा पुत्र तो परम धन—सर्वोत्कृष्ट धन है। इसलिये हमने सूक्त में 'रयि' का अर्थ पुत्र रूप धन किया है। पाठक सूक्त को एक बार फिर पढ़ें और देखें कि वेद अपने कहने के कवितामय ढंग में हमें किस प्रकार के गुणी पुत्र प्राप्त करने का आदेश करता है। वास्तव में पुत्र तो ऐसे गुणी पुत्र का ही नाम है।

उपहास

श्री हरिकृष्ण प्रेमी

हँस मत मेरे अधः पतन पर,

देख उधर वह झरना झर कर,
उच्च शिखर से नीचे गिर कर।
धवल-मोतियों से शुचि मनहर,
वसुधा की है रहा मांग भर।

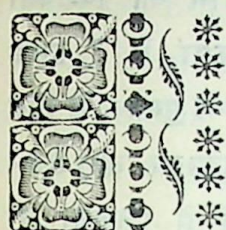
उधर देख, हिममगिरि पर्वत पर
जिसके शिखर छू रहे अंबर
सुरसरि बन वह चला भूमि पर
जग-पापों को साथ बहा कर

बहे, देख वे ऊँचे जलधर
अम्बर के आँसू भर कर
उसके कण सीपी में पड़कर
बनते मोती कैसे सुन्दर !

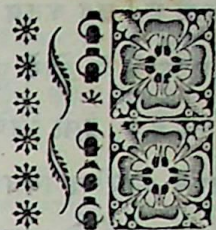
हँस मत मेरे अधः पतन पर

हँस मत मेरे अधः पतन पर

हँस मत मेरे अधः पतन पर



श्री अरविन्द का योग



[के. ज्ञानी, मद्रास]

भारत की आध्यात्मिक विभूतियों में श्री अरविन्द का अग्रतम स्थान है। गत १५—२० वर्षों के निरंतर अभ्यास द्वारा उन्होंने क्या प्राप्त किया है यदि यह जानना हो तो पाण्डिचरी में रह कर उनके शिष्यों व भक्तों द्वारा जाना जा सकता है।

श्री अरविन्द के विचारों से परिचय पाने के लिये हमें उनके ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये। उनके ग्रन्थों के विषय में स्पष्ट कर दूँ कि वो आज कल स्वयं कुछ भी पुस्तक रूपेण नहीं लिखते। शिष्यों के प्रश्नों का उत्तर-मात्र देते हैं। उन्हीं उत्तर मात्रों को आश्रम की ओर से संग्रह-रूपेण प्रकाशित किया जाता है। ऐसी ही दो पुस्तकें गत वर्षों में Lights on Yoga और Basis of Yoga नाम से प्रकाशित हुई हैं। इनके अतिरिक्त The Mother शीर्षक पुस्तिका श्री अरविन्द की अपनी लिखी है। एक और बहुत ही उपयोगी पुस्तक प्रश्नोत्तर रूप से 'मातु श्री' की लिखी हुई है, इसका नाम है:—

“Conversations with the Mother” । यह पुस्तक बेची नहीं जाती। केवल योग्य जिज्ञासुओं को 'मातु श्री' स्वयं देती हैं।

अब श्री अरविन्द-योग के विषय में लिखेंगे।

“Conversations” नामक पुस्तक में पहिला प्रश्न है 'योग किस लिये?' इसके उत्तर में कहा है:— 'यदि तुम शक्ति प्राप्त करने, विघ्न-बाधाओं से बच

कर शान्ति व आराम पाने, अथवा समाज-सेवा के लिये 'योग' चाहते हो तो यह पर्याप्त कारण नहीं। तुम्हें यह विचारना चाहिये कि क्या 'योग' की इच्छा तुम में देव-प्राप्ति के लिये है? क्या देव-प्राप्ति की भूख इतनी प्रबल है कि तुम बेचैन हो रहे हो? क्या तुम देव-प्राप्ति को ही अपना पाम-ध्येय समझते हो? यदि ऐसा है तो तुम 'योग' करने योग्य हो। 'योग' की प्रबल अभिलाषा उसकी प्राप्ति का प्रथम सोपान है।'

इसके बाद क्या करना चाहिये ?

चैतन्यता, जागरूकता। यों तो हम अपने को पर्याप्त चैतन्य व जागरूक समझते हैं परन्तु हमारा यह क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। हमें चाहिये कि अपने प्रत्येक कार्य, शब्द व विचार को गंभीरता पूर्वक सोचें। यह क्यों और कैसे हुआ? इसके आधार में क्या कारण है? कौन सी इच्छा प्रबल हो रही है? कौन सी इन्द्रिय व प्राण शक्ति सिर उठा रही है? कौन सा भूत व वर्तमान संसार मन को प्रभावित कर रहा है। इस में उचित-अनुचित क्या है? परिणाम क्या होगा? अच्छे-बुरे के विचार के बाद अपनी वृत्तियों को कुमार्ग से बचा कर सन्मार्ग पर चलाना।

प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य विषयों के वेग में बह कर अनजाने ही बहुत दूर निकल जाता है। फिर जब उसे बोध होता है तब वस्तु-स्थिति समझ

आती है। तब कदम पीछे हटाने व पूर्व-स्थिति को प्राप्त करने के लिये पुष्कल परिश्रम की आवश्यकता होती है। इसी लिये कहा है 'जाग रूकता।' सदा अपने कार्यों व विचारों को बहुत जाग्रत हो कर देखना चाहिये। जहाँ स्खलन होता दिखाई दे वहाँ फौरन 'ब्रेक' लगाना चाहिये। बहुत संभव है कि हमें अनेक बार प्रयत्न में असफलता से निराश होने की आवश्यकता नहीं। असफल प्रयत्नों द्वारा हम विषयों की जंजीरों को ढीला कर रहे हैं। एक दिन अवश्य ये कड़ियाँ टूटेंगी और हम पूर्णतः स्वतन्त्र होंगे।

* * *

श्री अरविन्द-योग में यहाँ एक विशेषता है। जहाँ वो भा प्रयत्न को आवश्यक समझते हैं वहाँ वो एक अन्य उपाय बतलाते हैं, वह उपाय है 'विसर्जन' अथवा Surrender. Basis of Yoga पुस्तक में उन्होंने लिखा है:—'कितना भी कठिन संग्राम क्यों न हो, उसे जीतना ही चाहिये। मुश्किल तो यह है कि तुम ने वास्तविक समस्या को अभी तक नहीं समझा। तुम्हारे अन्दर एक अहंकार-बुद्धि जो रंग २ में व्याप रही है, असल में तुम्हारे रास्ते की बड़ी रुकावट है।.....। जब तक तुम इस अहंकार और ममत्व को छोड़ कर पूर्णतः आत्म-विसर्जन न करो तब तक संग्राम में स्थायी विजय नहीं मिल सकती।'।

“हमारे योग का उद्देश्य योगी, संन्यासी व तपस्वी बनना नहीं है। हमारा उद्देश्य तो पूर्ण-परिवर्तन—अर्थात् अपने शरीर प्राण व मनः शक्ति को पूर्णतः 'अध्यात्म' के समर्पण करके माता की आनन्दमयी गोद में शिशु के समान रहना है।”

हमने श्री अरविन्द के अनेक शिष्यों से बात-चीत की है। सब ही Transformation या

पूर्ण-परिवर्तन को श्री अरविन्द-योग की विशेषता मानते हैं। यह पूर्ण-परिवर्तन क्या है? इसके इस लिये हम The Mother नामी पुस्तक से निम्न उद्धरण देते हैं। क्योंकि विषय अत्यन्त गहन है इस लिये श्री अरविन्द के अपने शब्दों में लिखना ही उचित है।

“If you desire this transformation, put yourself in the hands of the Mother and her Powers without cavil or resistance and let her do unhindered her work within you. Three things you must have consciousness plasticity, unreserved surrender. For you must be conscious in your mind and soul and heart and life and the very cells of your body, aware of the Mother and her Powers and their working; for although she can and does work in you even in your obscurity and your unconscious parts and moments, it is not the same thing as when you are in an awakened and living communion with her. All your nature must be plastic to her touch,... not questioning as the self sufficient ignorant mind questions and doubts and disputes and is the enemy of its enlightenment and change; not insisting on its own movements as a vital in man insists and persistently opposes its refractory desires and illwill to every divine in-

fluence; not obstructing and entrenched in incapacity, inertia and tamas as man's physical consciousness obstructs and clinging to its pleasure in smallness and darkness criets out against each touch that disturbs its soulless routine or its dull sloth or its torpid slumber. The unreserved surrender of your inner and outer being will bring their plasticity into all the parts of your nature; consciousness will awaken everywhere in you by constant openness to the Wisdom and Light, the Force, the Harmony and beauty the Perfection that come flowing down from above. Even the body will awake and unite at last its consciousness subliminal no longer to the supramental super-conscious Force, feel all her powers permeating from above and below and around it and thrill to supreme Love and Ananda."

The Mother PP. 75, 6, 7.

अर्थात्, यदि तुम 'पूर्ण-परिवर्तन' लाना चाहते हो तुम्हें चाहिये कि अपने आप को पूर्णतया अध्यात्म-शक्ति के समर्पण कर दो। इस के लिये तीन बातों का जरूरत है: जागरूकता सहज-भाव और समर्पण। जागरूकता इस लिये कि मन, बुद्धि प्राण व शरीर के प्रत्येक भाग में चैतन्यता होनी चाहिये। फिर, अध्यात्म-शक्ति व उसकी प्रेरणा का प्रति क्षण ज्ञान होना चाहिये। यद्यपि वह

शक्ति हमारे अनजाने भी कार्य करती है फिर भी ज्ञान-पूर्वक उसकी प्रेरणाओं को समझने में विशेष लाभ है।

सहज-भाव अर्थात् अध्यात्म-शक्ति के आदेश को सहज-रूप से स्वीकार कर तदनुसार आचरण हमें अपनी संकुचित बुद्धि व अल्प ज्ञान से अन्तः शक्ति की प्रेरणाओं का विरोध न करना चाहिये। और नांही अपनी भोग्यताओं के वश हो कर उनकी उपेक्षा करनी चाहिये। और नांही शरीर के तामसिक-स्वभाव के आधेन होकर उस शक्ति की आज्ञाओं को कठोर समझ कर उल्लंघन करना चाहिये।

निःस्ंकोच आत्म-समर्पण द्वारा आसानी से यह सहज-भाव पैदा होगा और जागरूकता से अन्तःकरण में सदा सतर्क रह कर शीघ्र ही 'ज्ञान' 'प्रकाश' 'व' शक्ति' का विकास होगा और उससे समता, सौन्दर्य व पूर्णता का प्रवाह-रूप बहेगा। यहां तक कि शरीर भी अपने इन्द्रिय, प्राण व मन-सम्बन्धी भावों को भूल कर इस अध्यात्मिक-पूर्णता में भाजीदार होगा। उस समय बुद्ध अहंभाव सर्व व्यापी अध्यात्म-शक्ति में विशाल अध्यात्म रूप हो जाएगा।

नोट:—यद्यपि अंग्रेजी में श्री अरविन्द ने अन्तः शक्ति को Mother या 'मां' शब्द से कहा है, हमने पाठकों की सुविधा के लिये उसका अनुवाद अध्यात्म-शक्ति किया है। और जहां तक हम श्री अरविन्द के भाव को समझ सके हैं उनका आशय भी यही है।

* * *

योग के लिये 'शान्ति' की विशेष आवश्यकता है:—
'साधना में पहिली चीज शान्ति और मन की स्थिरता है। इसके सिवाय कितने भी आध्यात्मिक

ऋषि-तर्पण

हे ऋषि गण ! अ प को कैसे तृप्त करें ?

नहीं मालूम कि आप कैसे तृप्त होंगे ?

आप सदानन्दमय पूर्ण काम परमर्षि के सत्य-संग से स्वयं पून-गवित्र और तृप्त हुए हो, तो आप की तृप्ति के लिए हम क्या दे सकते हैं ।

हे ऋषिगण ! हमने सुना है कि आप अहर्निश संतोष सुख, सत्य मङ्गलमय आनन्दों के द्वारा प्राप्त काम होगये हो तो फिर इन भिक्षुओं के पास आपको तृप्त करने के लिये क्या वस्तु हैं ? तृप्ति की आवश्यकता तो वहां है जहां अतृप्ति अभाव है, अयोग्य वाही तृप्णा है; आप तो उस ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा, ऋतंवदा वाणीरूप साधन से, सत्य कर्म और कीर्तिवाले ऋतयुग्म के वैभवों (ऋद्धि-सिद्धि) को प्राप्त कर लिया है तो फिर हम अकिञ्चन वस्तुओं के द्वारा इस तुच्छ हव्यान्न को प्राप्त करने से भला आपकी तृप्ति कैसे होगी ।

हम सोचते हैं आपकी तृप्ति करने की, पर आपको तृप्त नहीं कर सकते । आपकी तृप्ति के योग्य सामग्री हमने जुटाई, फिर भी 'ऋषि-तर्पण' का समारम्भ किये जाते हैं; यह कैसी प्रवञ्चना है ।

आप की तृप्ति ऐसी अज्ञानावस्था में, ऐसी अकर्मण्यता में तथा ऐसी अश्रद्धा में; ऐसे रागद्वेष माह पूर्ण मनो से और ऐसी हिंसामयी स्थली में कहाँ हो सकेगी ? हाय क्या हमें मालूम नहीं कि आसुरभावों से पूर्ण स्वर्ण लङ्का में भी आप नहीं आओगे, वहां का स्वादु मधु मिष्टान्न भी नहीं ग्रहण करोगे ।

शेषांश १०३ पृष्ठ

अनुभव क्यों न हों उनका कुछ फल नहीं । मन की शान्ति व स्थिरता में ही अन्तः-चैतन्य विकसित होता है ।

“धीर और स्थिर हो कर अन्तः-पुरुष को बाह्य प्रकृति से भिन्न देखना चाहिये । जब यह भिन्नता स्पष्ट और स्थायी हो जाय उस समय अध्यात्म शक्ति शीघ्र ही परिवर्तन उत्पन्न करती है ।

‘मन की स्थिरता का अभिप्राय यह है कि

तो फिर आप बतायें आपको किस यज्ञ में आवाहन करें ?

आपका आवाहन तो निश्चय उसी यज्ञ में हो सक्ता है । जिस यज्ञ में परमर्षि परमात्मदेव की पूजा हो, चर्चा और सेवा हो । जिस में उस यज्ञीय महादेव की प्राण-प्रतिष्ठा हो । ओहो !! हम कैसे भूले हैं कि आपको अपने स्वार्थमय यज्ञ में आवाहन कर, तर्पण करना चाहते हैं ।

हे पुरातन और नवीन ऋषिगण !! आपका तृप्त्यर्थ आवाहन उसी यज्ञ में होता है जो कि 'उसी' के द्वारा आरंभ होकर-संचालित होकर उसी की इच्छा में सम्पूर्णता को प्राप्त होता है । हमें आपकी प्राचीन और नवीन शिक्षा-दीक्षा से मालूम होगया है कि आप केवल इसी यज्ञ से निष्पन्न हविष्यान को ग्रहण करके तृप्त होते हैं ।

आज आपका तर्पण करने के लिये हमारे पास क्या है । हम ब्रह्म-देव-मित्रादि महायज्ञों तथा शिखोपवीतादि कृत्य-कर्म-चिन्हों की भी अवहेलना कर बैठे हैं ऐसे समय में हम आपकी आत्माओं का आवाहन किस मुख से करें । आपकी स्वच्छन्द विचरण करने वाली आत्माएँ इन परतन्त्र-हिंसा युक्त आनन्दों को प्राप्त करके कभी तृप्त हो सकेंगी ?

हे ऋषि-देवगण !! आपका तर्पण तो वस्तुतः उन्हीं यज्ञों द्वारा होता है जिनसे आपने परस्पर यज्ञमय होकर अपने परमर्षि देव का तर्पण किया था ।

“द्वेरेक”

मनुष्य उस समय मन में नानाविध विचारों को उठता हुआ देखता है परन्तु स्वयं उनसे विचलित नहीं होता । ऐसा समझता है मानो उसकी मनोभूमि पर अनेक प्रयाणिक गुजर रहे हैं परन्तु वह स्वयं स्थिर है ।”

“जिस समय मन शान्त व स्थिर हो जाएगा उस समय अध्यात्म-शक्ति की प्रेरणाएँ अधिकाधिक स्पष्ट होंगी ।”

के-ज्ञानी, मद्रास,

वेदों का महत्व

श्री जयदेव जी चतुर्वेद भाष्यकार

तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भग मित्रमदिति
दक्षम् अस्त्रिधम् । अर्यमणं वरुणं सोममश्विना
सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

ऋ १ । ५६ । ३ ॥

शंनो मित्रः शं वरुणः शंनो भवत्वयमा ।
शं न इन्द्रो वृहस्पतिः शंनो विष्णुरुक्रमः ॥
मान्य विद्वान् जनो !

आप के हृदय कमलों में से अनेक शास्त्रों के ज्ञान-सौरभ स्वभाविकरूप से प्रस्फुटित होकर यह वातावरण बहुत ही आल्हाद जनक हो रहा है । यहां अनेक विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध विराज रहे हैं । अनेक विद्वान् अपने चिर कालिक विद्या-पर्यनुशीलन से वेद-ज्ञान के नाना अंशों का मथन करके नवनीत रूप से आप लोगों के समक्ष रखेंगे । जिसे श्रवण करके ज्ञानी पुरुष अन्तराल्हाद और अविदित चर जन ज्ञान का लाभ करेंगे । ऐसे सुअवसर में ऐसे गंभीर ज्ञान के समुद्र रूप किसी वेदज्ञानमय विचक्षण विशेष को यह प्रमुख पीठ सौंपना चाहिये था जिसके रुन्निधिमात्र से समस्त ज्ञान-सिद्धान्त स्वतः व्यवस्थित रह सकते जिसके सम्बन्ध में वेद कहता है—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः
नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ॥

ऋ १० । ७१ । ५ ॥

अप्येकं वाक् सख्ये स्थिरपीतमाहू रममाणं
विपीतार्थं देवसख्ये रमणीये स्थाने इतिवा
विज्ञातार्थं यं नामुवन्ति वाग् ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि ।
यास्क० । फिर इसके अतिरिक्त इस पद की महता की अपेक्षा में मेरे जैसे अत्यल्प ज्ञान वाले व्यक्ति की तुलना ही क्या । कहां वेद का गम्भीर ज्ञान-सागर कहाँ अतपस्वी अल्पमति, वेदमार्ग में अकृतबुद्धि वा परापेक्षी जन । ऐसी स्थिति में इस पद पर बैठना आत्म वञ्चना है । तथापि वृद्धों की आज्ञा, वयस्यों का अनुरोध, और सभ्यों का सद्भाव ये सभी बिना विचारे ही करने योग्य होते हैं । इस रीति से मैं आशा करता हूँ कि आप मेरी धृष्टता को क्षमा-दृष्टि से देखते हुए इस विशेष पवित्र अवसर पर वेद भगवान के सम्बन्ध में जो विचार करने के लिये प्रवृत्त हुए हैं उसी में दत्तावधान होकर हम अपने कार्य में लग जावें ।

वेद—ज्ञानमय अगाध सागर—साक्षात् प्रमाण-भूत सर्वोपरि मान्य हैं । यह धारणा आर्य जाति के इतिहास में अनादि काल से चली आ रही है । वेद ही परम श्रुति है । और अन्य सब ग्रन्थ समूह श्रुति न होकर स्मृति कोटि में आ गिरते हैं । उन सब का प्रामाण्य श्रुति की अपेक्षा करता है । यदि वे श्रुति या वेद के ज्ञान लोक से आलोकित न हों तो उन ग्रन्थों का समस्त प्रपञ्च निर्दीप भवन के समान अन्धकारमय प्रतीत हो । उनका अनुशीलन और

अभ्यास निरुद्देश्य हो जाय। उनके अनुसार जगत् के कार्यानुष्ठान भी चारवाकानुयायी के जीवन के समान निरर्थक हो जाय।

परन्तु जब उस समस्त स्मृति-जगत् पर भगवती-वेद-माता का वचनालोक रहता है तो सभी शास्त्रों के वचन भी मातृ-वचन तुल्य परमानुष्ठान-योग्य प्रतीत होते हैं। वेद भगवद्वाणी होने से, उस परम पिता के उपदेश होने से उनसे अनुप्राणित समस्त अन्य शास्त्र भी अनुष्ठान करने योग्य जचते हैं। जिस प्रकार माता पिता गुरु, हितैषी जनों की वाणी के अनुसार करने पर अवश्य श्रेय होता है उसी प्रकार वेदानुसारी धर्म शास्त्रों के प्रोक्त विधान करने पर भी अवश्य श्रेय होता है। इसमें कुछ संदेह नहीं।

वेदों का सर्वोपरि शासन प्रभु के तुल्य शासन है। स्मृतियों का शासन सुहृत् के तुल्य शासन है। फलतः वेद वचन और अधिक ननुनचकी अपेक्षा नहीं रखता। वेद सर्वथा ज्ञानमय है। उसका अनुभव ऋषियों के हृदय में साक्षात् हुआ है। वह सर्व प्रथम-सर्व-श्रेष्ठ-अध्यात्म दर्शन है। शेष समस्त ग्रन्थ तदुपजीवित होकर उसा प्रकार हीन कोटि के हैं जैसे प्रत्यक्ष के सामने स्मृति-समान-अनुमान आदि। कान आदि के श्रवण की अपेक्षा चक्षु का देखा ज्ञान ही अधिक सत्य और सर्वोपरिमान्य होता है। इसी प्रकार साक्षात् ज्ञानमय परमेश्वर में निष्ठ ऋषियों के अन्तःकरण रूप ज्ञानवक्ष्यों से साक्षात् किया वेदमय ज्ञान, सर्वप्रथम सर्व श्रेष्ठानुभव अपने वाद के वेदोपदेश से उत्पन्न संस्कार से प्रत्युत्पन्न स्मृति-ग्रन्थों की अपेक्षा अवश्य उत्कृष्ट कोटि का होना आवश्यक है। आर्य काल में इस सत्य को उन ऋषियों ने भी स्वीकार किया

है जिनके श्रीमुख और मस्तक-मन्दिर के द्वार से प्रादुर्भूत उपनिषद्वाक्यवचनों ने जगत् में सर्वमान्यता प्राप्त की वे भी अध्यात्म ब्रह्म विद्या का साक्षात् कर उपदेश करते हुए स्थान २ पर भगवती श्रुति के पवित्र वेद वचनों से अपने वचनों को आनोक्त करते थे। ऐ १ ही सर्वत्र प्रतीत होता है कि समस्त उपनिषन्मय आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के ही व्याख्यान रूप हैं। श्रुति के ही आधार पर उनका सर्वस्वनिर्माण है। बुद्धिभेद, और वचन-भेदादि के कारण ही मूलवेद के व्याख्यान भी अनेक प्रकार के हो जाने से शाखाओं में भेद हुआ। फलतः शाखाएं भी ब्राह्मण संबलित होने से और व्याख्यान तुल्य पाठन्तर रखने से भी मूल का भी त्याग न करती हुई वेद का उसी प्रकार व्याख्यान करती हैं जिस प्रकार मूल वृक्ष की शाखाएं प्रकाण्ड से दिशा भेद से पृथक् होकर भी रस, पुष्प, फल, काष्ठ गुणादि में समान होती हैं। और वृक्ष के वास्तविक रूप को भी दर्शाती हैं। जैसे चतुर माली अवान्तर शाखाओं को छेदन कर के भी मूल वृक्ष की वृद्धि के लिये मूल वृक्ष की रक्षा करता है। और शाखाओं के कटने पर भी मूल वृक्ष की सत्ता बनी रहती है। इसी प्रकार शाखाओं के पृथक् होने पर या लुप्त हो जाने पर भी मूल वेद तरु का उच्छेद नहीं होता वह बना ही रहता है। इसी कारण अनेक शाखाओं के लोप होने पर भी अभी तक वेद-मूल अप्राप्त नहीं है। उनकी रक्षा यथावत् पूर्व सम्प्रदाय परम्परा से अभी तक होती आ रही हैं।

—भगवत्—प्रोक्त वाणी—वेद

सर्व धर्मों का आदि स्रोत

वेद-आर्य जाति की आर्य संस्कृति के परम मूल

हैं। और अनादि काल से सृष्टि के प्रथम से ही मानव जगत् को उपदेश देते चले आ रहे हैं। उनकी परम्परा का कभी उच्छेद नहीं हुआ। ऐसा ही वेदों के परम आचार्य महर्षि यास्क ने लिखा है:—

साक्षात् कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । ते
ऽवरेभ्योऽसाक्षात् कृत धर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान्
सम्पादुरूपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बलमग्रहणाय
इमं ग्रन्थं समाभ्यासिषुः वेदं च वेदाङ्गानि च ।

ऐसे तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष हुए थे जिन्होंने धर्म अर्थात् यथार्थ सत्य ज्ञान का साक्षात् कार किया था। जिन्होंने साक्षात् कार नहीं किया था उनको उन ऋषियों ने उपदेश से मन्त्रों का प्रदान किया। उनके उपदेश के लिये ग्लानि अर्थात् धारण करने में और समझने में असमर्थता जानकर उसके यथार्थ ज्ञान प्रकाश के लिये उन्होंने धर्म ज्ञान के साधन के लिये वेद और वेदों के अर्थ ज्ञान के लिये वेदाङ्गों का अभ्यास किया।

इसी प्रकार की परम्परा वेद मन्त्रों के उपदेश प्रदान की अभी तक भारतवर्ष में अनादि काल से चली आ रही है। जिसका अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा से प्रारम्भ हो कर अभी तक क्रम चला आ रहा है।

वेद अपौरुषेय हैं। उनको किसी मनुष्य ने नहीं बनाया, वे ईश्वरीय ज्ञान हैं इसका दृढसमर्थन तर्क द्वारा मीमांसा ने किया। उपदेश द्वारा उपनिषदों ने वेदों को ईश्वर का निश्वासवत् बतलाया। वेदों को लक्ष्यकर व्यासदेव ने परमेश्वर को शास्त्र योनि, अर्थात् जगत् को ज्ञान का अनुशासन धर्माधर्म वा इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार का सर्वोपरि प्रतिपादक शास्त्र का परम कारण, बतलाया

है। ऐसे ही वैशेषिक ने वेद को धर्मोपदेश में प्रामाण्यस्वीकार किया है। न्याय शास्त्रकार गोतम ने आयुर्वेद के समान वेद को परम प्रमाण माना और इसलिये कि आयुर्वेद के उपदेष्टा आप्त ऋषियों ने ही वेदों का भी उपदेश किया इसलिये वेद को भी आयुर्वेद के समान ही प्रत्यक्ष सत्य का प्रतिपादक माना। उन वेदों का परम निधान, परमनिकास और परम स्रोत यदि कोई है। तो वह ईश्वर ही कहा गया है।

संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं जिसका विश्वास ईश्वर प्रोक्त वाणी पर नहीं है। जो अन्य देश वाले हैं जिनको वेदवाणी प्राप्त नहीं हुई वे भी यदि किसी धर्म ग्रन्थ को प्रमाण मानते हैं तो उस में भी उनको यही दृढ़ विश्वास है कि यह ग्रन्थ साक्षात् प्रभु की वाणी है। जिन श्रद्धालुओं ने बाद के बने ग्रन्थों में से भी किसी ग्रन्थ को अपनी श्रद्धा का पात्र बनाया तो उसको यदि साक्षात् प्रभु का न माना तो प्रकारान्तर से उसको परमात्मा का अंशावतार मान कर उसके वचन-ग्रन्थ को प्रमाण मोना है। जैसे गीता का प्रमाण कृष्ण को परमेश्वर का अंशावतार मान कर ही भगवदुक्ति जानकर माना है। पुराणों को प्रमाण मानने में व्यासदेव को परमेश्वर का अंशावतार मान लिया गया है।

‘यथादेवे तथा गुरौ’ की श्रद्धा से गुरुवाणियों की भी पूजा भारतवर्ष में क्या समस्त देश में चली। यह श्रद्धा भी कदाचित् इसी परम्परा से चली हो जैसा मनु में लिखा है।

आचार्यों ब्रह्मणो मूर्तिः पितामूर्तिः प्रजापतेः । मनु० अ० १३ । चाहे जो हो, पर प्रमाण मानने के लिये मानव समाज के पास यदि कोई प्रबल

आधार था तो तर्क नहीं था क्योंकि तर्क या केवल बुद्धिवाद को तत्त्वदर्शियों ने अध्यात्म दर्शन में अप्रतिष्ठित स्वीकार किया है। इसी लिये मीमांसा दर्शनों में स्थान २ पर तत्त्व निरूपण करते हुए 'इति श्रुतेः, एवं दर्शनात्' इत्यादि आर्ष साक्षात्कार को ही प्रमाण में बतलाया है।

अब प्रश्न यही है कि क्या ये वेद सब से प्राचीन साक्षात् दृष्ट ज्ञान हैं वा इसके बाद भी कोई ज्ञान का साक्षात् हुआ है? इस सम्बन्ध में हमारा यही वाक्य है कि ज्ञान साक्षात् तो सदा होता रहा है और सदा होता रहेगा। इस सूर्य के पूर्व और सूर्य के उत्पन्न होने पर भी अनेक सूर्य इस जगत् में अपेक्षित हैं। उन सूर्यों के प्रकाश को पहले भी चक्षुष्मान् पुरुषों ने देखा और अब भी देखते हैं दर्शन के साधन ज्यों के त्यों बने हैं तो साक्षात् ज्ञानदर्शन करने में बाधा ही क्या है ऋषि पहले भी थे और ऋषि यानन्द के कथनानुसार जैमिनि पर्यन्त होते ही प्राये। इस युग में भी ऋषिदयानन्द भी ऋषिरूप से विदित है। यदि 'मन्त्रार्थद्रष्टा होना' ऋषि का लक्षण है तो उपदेश के अनन्तर भी मन्त्रार्थ का ज्ञान साक्षात् होता ही है इससे अध्यापक और छात्र पूर्व ऋषि और नूतन ऋषि करके ऋषि ने वेदभाष्य में स्वीकार किये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान का दर्शन होना यह कभी नहीं रुका। इसी प्रकार उपदेश परम्परा भी नहीं रुकी। देश और कालभेद से ज्ञान का भाषा भेद से रूपान्तर अवश्य हुआ। कुछ तारतम्य अर्थात् न्यूनाधिक्य भी होता रहा। इसी प्रवक्तृ भेद से उस अपूर्व ज्ञान के अनेक शाखा, हो गये।

अतिप्राचीन काल तक ज्ञान की प्रत्येक शाखा (Branch of Knowledge) को ऋषियों ने

वेद ही नाम से पुकारा वे सब भी परम वेदों के एक-देश को लेकर उत्पन्न होने से वेद के आश्रित ज्ञान सञ्चय होने से वेदाङ्ग या उपवेद कहाये। गोपथ ब्राह्मण में उनको उपवेद कहा है। जैसे आयुर्वेद, मायावेद, आसुरवेद, में वेद, सर्पदेवजनविद्यावेद, अर्थवेद इत्यादि। इन नामों का अभी भी तक बराबर उसी परम्परा से व्यवहार करते हैं। यह तो भारतवर्ष के वातावरण की बात है। परन्तु यदि दृष्टि का विस्तार करके देखें तो वेद का ही विस्तार समस्त सृष्टि में पूर्व काल में हुआ था।

जिन देशों के सम्बन्ध में इतिहास की वर्तमान सीमा के पूर्व के कुछ विवरण प्राप्त होते हैं उन से विदित होता है कि वेद का ज्ञान उनके इतिहासों से भी पूर्व जगत् में विद्यमान था।

स्कैन्डिनेविया स्थान योरोप में अपनी अति प्राचीनता के लिये प्रसिद्ध है। उसके भी अतिप्राचीन धर्म ग्रन्थ का नाम "एद्दा" और उसके याजकों का नाम 'तागामन' प्राप्त होता है। क्या यह वही 'वेद' और शाखा तो नहीं है? उन के इतिहास से भी विदित होता है कि उनके प्राचीन काल में वे अपने पूजन कार्य में पशु बलि नहीं करते थे परन्तु अधः पतन हो जाने के कारण उन में पशु बलि का क्रम चल पड़ा। क्या यही अधःपतन वेदानुयायी, सम्प्रदायों में नहीं हुआ।

In the earliest times alter of the gods wear loaded with simpler offerings of the fruits of the ground but after wards, animals and even human being were sacrifice to appear the wrath of their Gods (See the article of Scandinavians faiths of the world.

इसको एक उत्तम प्रमाण महाभारत में आये उपरिचर वसु के उपाख्यान में मिलता है वहां भी स्पष्ट माना है कि प्राचीन काल में यज्ञों में पशु बलि नहीं था। प्रत्युत बाद में धूर्तचक्र ने ऐसा शुरू कर दिया।

ईसाईयों और मुसलमानों के धर्मग्रन्थों पर दृष्टिपात किया जाय तो यह बड़े आश्चर्य से देखेंगे कि उन धर्मग्रन्थों पर भी वेद का प्रभुत्व है।

ईसाईयों की बाइबिल में परमेश्वर की सर्वोत्तम स्तुति संग्रह का नाम साम (Psalm) है। लैटिन, फ्रेंच जर्मन और अंग्रेजी भाषाओं में विशेष गीत के लिये हिम (न) (Hymns) ये शब्द स्पष्टतः वैदिक शब्द के 'सामन्' शब्द की ओर निर्देश कर रहे हैं। ये दोनों शब्द 'सामन्' शब्द के

ही अपभ्रंश ही प्रतीत होते हैं।

अंग्रेजी में एक उपपद ('Ody') लगा करता है। जैसे Prosody Melody यह ओडी, उपपद लैटिन भाषा का है जिसका अर्थ है गीत, (Song) वैदिक शब्द में उसको सूक्त, ऋक्, उक्थ, मन्त्र वा 'वेद' कह सकते हैं।

इसी प्रकार कुलान शब्द पर विचार कीजिये कुर-आन-गुरु वाणी। यह सर्वथा मुसलमानों का 'गुरु ग्रन्थसाहब हा है'। भारतवर्ष में वेद के देखा देखी बाद में सुधारक सन्तों का वाणियों की ही प्रतीष्ठा हुई। और अनुयायियोंने उसी की पूजा और पाठ करना प्रारम्भ किया। वेदों का शाखा में बंट कर उस प्रवर्तक के नाम से संहिता के रूप क्रमशः

वेद-वाटिका

वीर्य-रक्षा की महिमा

अथर्ववेद १।३५ सूक्त ४ मन्त्रों का सूक्त है। इसमें हिरण्य-धारण की महिमा बताई गई है। हिरण्य का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में वीर्य किया गया है। हमने हिरण्य का अर्थ वीर्य लेकर नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ किया है। पाठक मन्त्रों का गम्भीरता से मनन करें और वीर्य-रक्षा की महिमा को समझ कर ब्रह्मचारी बनने का प्रयत्न करें। (समादर)

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं,

शतानीकाय सुमनस्यमानाः।

तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय,

दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥१॥

अर्थ— (यत्) जिस (हिरण्यं) वीर्य को

(सुमनस्यमानाः) मंगलकारी मन वाले (दाक्षायणाः) बल की वृद्धि चाहने वाले लोग (शतानीकाय) सैकड़ों प्रकार का बल प्राप्त करने के लिये (अबध्नन्) बांधकर रखते रहे हैं (तत्) उस वीर्य को (ते) तुम्हारे अन्दर (बध्नामि) बांधता हूँ जिससे तुम्हें (प्रायुषे) आयु मिल सके (वर्चसे) तेज मिल सके (शतशारदाय) सौ वर्ष का (दीर्घायुत्वाय) लम्बा जीवन मिल सके।

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते,

देवानामोजः प्रथमजं ह्येतत्।

यो विभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं

स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥२॥

अथ—(एनं) इस वीर्य रक्षक पुरुष को (रक्षांसि) छिपे-छिपे शरीर को क्षीण करने वाले और (पिशाचाः) शरीर का मांस खा जाने वाले रोग-क्रिमि (न) नहीं (सहन्ते) सता सकते (एतत्) यह वीर्य (देवानां) विद्वानों का (प्रथमजं) मुख्य (ओजः) बल है (यः) जो (दाक्षायणं) बलदायक (हिरण्यं) वीर्य को (विभक्तिं) धारण कर के रखता है (सः) वह (जीवेषु) जीवों में (वीर्यं) लम्बी (आयुः) आयु (कृणुते) प्राप्त करता है।

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च

वनस्पतीनामुत वीर्याणि

इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो

अस्मिन् तद् दक्षमाणो विभरद्विरण्यम् ॥३॥

अर्थ—(अपां) जलों के (उत) और (वनस्पतीनां) वनस्पतियों के (तेजः) तेज को (ज्योतिः) ज्योति को (ओजः) ओज को (बलं) बल को (च) और (वीर्याणि) पराक्रमसामर्थ्यों को (अस्मिन्) इन व्यक्ति में (अधिधारयामः) धारण कराते हैं (इव) जैसे कि (इन्द्रे) इन्द्र में (इन्द्रियाणि) इन्द्र की शक्तियाँ रहती हैं, क्योंकि (दक्षमाणः) वृद्धि चाहने वाले इस व्यक्ति ने (तद्) उस (हिरण्यं) वीर्य को (विभरत्) धारण कर लिया है।

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं

संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि ।

इन्द्राग्नी विश्वेदेवा—

स्तेनुमन्यन्तामहणीयमानाः ॥४॥

अर्थ—(समानां) वर्षों की (मासां) महीनों की और (संवत्सरस्य) वर्ष की (ऋतुभिः) ऋतुओं और (पयसा) दूध से (पिपर्मि) मैं तुम्हारी पालना और 'पूर्ति करता हूँ (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान लोग (ते) वे सब (अहणीयमानाः) अक्रोधित हो कर, अनुकूल होकर। ते तुम्हें (अनुमन्यन्ताम्) वीर्य धारण में अनुमति दें, सहायता दें।

'पयसा' शब्द का भाव यह है कि—जो अपने अन्दर वीर्य उत्पन्न करना चाहता है उसे दूध का सेवन करना चाहिये। 'ऋतुभिः' का भाव यह है कि वीर्य की कामना रखने वाले व्यक्ति को दूध के सेवन से अतिरिक्त मौसम—मौसम के फल, शाक, और अन्नों का सेवन करना चाहिये। 'संवत्सरस्य' इस एक वचन का यह भाव है कि—हमें साल भर दूध और मौसम-मौसम के फलादि मिल सकें। और 'समानां' इस बहुवचन का यह भाव है कि—हमें जीवन भर प्रति वर्ष ये पदार्थ मिल सकें। इन्द्रादि परमात्मा की पेश्वर्यादि शक्तियों को बताते हैं। परमात्मा अर्थ में भाव यह होगा कि—वह हमें वीर्य के साधक दुग्धादि प्रदान करने की कृपा करें। इन्द्रादि का अर्थ उन-उन गुणों वाले राज्याधिकारी भी होता है। तब भाव यह होगा कि—राज्य ऐसा प्रबन्ध करे जिस से सब को वीर्य की प्राप्ति और पालना करना सम्भव हो सके।

बौद्ध प्रचार समस्या

(ले० श्री जयदेव स्नेही शास्त्री गुरुकुल जेहलम)

महात्मा बुद्ध के जीवन में एक जगह पर लिखा है कि जब बुद्ध विहार करते हुए कोशलराज प्रसेनजित वैद्य जीवक आदि को दीक्षा दे कर श्रावस्ती नगर में पहुंचे तब वहाँ के एक अनाथ पिण्डक भक्त श्रेष्ठी ने १४ करोड़ रुपये का एक विहार थल बना कर महात्मा की भेंट किया, और दीक्षा ली गुरु जीने उन्हें 'उपासक' बना लिया। यह ध्यान रखना चाहिये कि महात्मा बुद्ध के दो प्रकार के शिष्य थे एक 'भिक्षु' और दूसरे 'उपासक'। 'भिक्षु' वे कहते थे जिनका उद्देश्य केवल धर्म प्रचार ही था, वे महात्मा बुद्ध को अपना तन, मन और धन समर्पित कर देते थे। जैसे प्रसिद्ध 'भद्रपंच कौण्डिन्यादि' तथा 'आनन्द' 'सुनीत' स्वाति' तथा राहुल आदि।

दूसरे 'उपासक' वे गृहस्थ थे जो बौद्ध सिद्धान्तों से पूर्ण सहमति रखते हुए प्रचार कार्य में धनादि द्वारा सहायता करते थे, जैसे बिन्दुसार अनाथ पिण्डकादि।

पूर्ण भक्त नामक एक व्यापारी थे, वे उपासक तो थे ही परन्तु अनाथ पिण्डक के चौदह करोड़ के महान दान को देख कर उनके हृदय में सर्वस्व समर्पित करने की अभिलाषा हुई। वे महात्मा बुद्ध के समीप आकर विनीतभाव से बोले- 'भगवन् मुझे भी भिक्षु बनने की आज्ञा दीजिये। गुरु ने कहा यह मार्ग बड़ा कठिन है भक्त बोला मैं सरल बना लूँगा।

दीक्षा लेकर जब भिक्षु प्रचारार्थ देशान्तर में जाने लगा तब गुरु ने पूछा वहाँ के लोग कट्टर व अत्याचारी हैं। वे तुम्हें अपशब्द कहेंगे तो तुम क्या करोगे? वह बोला 'मैं चुप रहूँगा' यदि वे

तुम्हें पकड़ कर पीटें तो? मैं उन्हें उसके बदले में मारूँगा नहीं। यदि वे तुम्हें जान से मार डालने का प्रयत्न करें तो। ओहो! तब मैं उन्हें धन्यवाद दूँगा क्योंकि इस प्रकार धर्म पर बलिदान होकर मैं त्रिविध तापों से अनायास ही छुट जाऊँगा—अत एव मैं उनके प्रयत्न में बाधा नहीं डालूँगा। पूर्ण भक्त के इस उत्तर से महात्मा बुद्ध अत्यधिक प्रसन्न हुए और कहने लगे—बस धर्म प्रचार का यही मार्ग है यदि ऐसी लगन वाले भिक्षु हों तो बेड़ा पार है।

महर्षि दयानन्द के जीवन की एक प्रसिद्ध घटना है कि जब महाराज जोधपुर जाने लगे तब भक्त लोगों ने मनाह किया 'भगवन् वे लोग बड़े अत्याचारी व क्रूर हैं, कहीं कोई अनिष्ट न कर बैठें।

दयानन्द ने हँसते हुए कहा 'प्रहार करना तो दूर यदि वे मेरी एक २ अंगुली को काट कर भी उस से बत्ती का काम लें तो भी मैं अपने जीवन को सार्थक समझूँगा'—

प्रिय पाठक वृन्द! कितने हृदयंगम और सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य ऋषि के शब्द हैं यही पवित्र भावना (spirit) है जिसके कारण महर्षि ने बहुत ही थोड़ा काल कार्य करके भी अच्छी सफलता प्राप्त कर ली यही भावना बौद्ध भिक्षुओं के रोम रोम में रम रही थी जिसका परिणाम यह हुआ कि संसार का तीन चौथाई भाग बौद्ध मत प्रेमी बन गया।

अपने धर्म में पूर्ण श्रद्धा, एवं विश्वास, धर्म प्रचार की अनुपम लगन और उस के साथ साथ स्वार्थ त्याग, जबतक धर्म प्रचारक में न हो तबतक धर्म प्रचारकों की ओर से धर्मदुन्दु भी बजाना केवल फटे हुए ढोल को पीटना मात्र है।

आज आर्य समाज में एक विकट समस्या सी उपस्थित हो रही है कि वैदिक धर्म का प्रचार क्यों नहीं होता ? इतने सालों तक पारश्रम करने पर भी हमारे क्रियात्मक (Practical) जीवन में कोई भी फल नहीं पड़ा, इतना धन व्यय होने पर भी फल शून्य से थोड़ा सा ही अधिक है, वह भी किन्हीं त्यागी महापुरुषों के त्याग का फल समझना चाहिए ।

आर्य भाइयो ! आओ आज बोध रात्रि के दिन ऋषि की स्मृति को ताजा करते हुए विचारें कि इस समस्या का क्या हल है ? हमारी तुच्छ सम्पत्ति में वैदिक धर्म के प्रचारार्थ प्रचरित नीति को अब आर्यसमाज को बदल देना चाहिए क्योंकि लगातार ५० साल के अधिक अनुभव से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि हमारी प्रचार प्रणाली में लाभ की अपेक्षा क्षति अधिक है, और यदि यही अवस्था रही तो लोगों के हृदयों में से आर्यसमाज व आर्यसमाजियों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न होती जायगी ।

आवश्यकता इस बात की है जो धर्म प्रचारक प्रचारकार्य में पूरी दिलचस्पी रखते हों जिन्हें वैदिक धर्म पर श्रद्धा विश्वास हो केवल स्वार्थ के कारण ही प्रचार कार्य में न लगे हों, त्यागी, तपस्वी, सदाचारी, विद्वान् महात्मा हों, वेही बौद्ध भिक्षुओं की भांति भ्रमण करके धर्म प्रचारक (उपदेशक) बन कर वेद प्रचार करें उनकी सब प्रकार की सहायता एक 'संव' किया करे जो कि आज कल वेद प्रचार विभाग के नाम से प्रसिद्ध है । यह तो हुआ भ्रमण करके प्रचार । जो कि आज प्रायः सभी प्रचारक करते हैं जिनमें वे भी सम्मिलित हैं जिन्हें न धर्म में श्रद्धा है, न प्रचार की लगन है केवल आजीविका मान कर करते हैं जिसका परिणाम भी स्पष्ट ही है । इस से बजाय श्रद्धा के अश्रद्धा उत्पन्न होती जाती है ।

अब रहा प्रश्न उनका जो पूर्णतया स्वार्थ त्याग नहीं कर सकते परन्तु सदाचारी विद्वान् हैं और

प्रचार कार्य में लगन के साथ साथ अपने को बहुत ही उपयोगी सिद्ध कर सकते हैं वे किस प्रकार धर्म की सेवा करें ।

इस सम्बन्ध में हम यह कहेंगे कि मौखिक धर्म प्रचार के अतिरिक्त उस प्रचार में सहायता देने के लिये अन्वेषण विभाग (Research dept) पुस्तक लेखन विभाग वेदभाष्य विभाग, सेवासंघ, शिक्षणालय विभाग आदि अनेक उपयोगी ायों में वे विद्वान् सत्कार पूर्वक लगाये जा सकते हैं । इस प्रकार प्रचार में वृद्धि होगी, इन के अतिरिक्त धनादि द्वारा सहायता देने वाले महानुभाव बौद्ध काल के उपासकों के स्थान पर गिने जावेंगे अर्थात् उनका धर्मप्रचारकों पर कुछ भी प्रभुत्व न होगा । वे केवल धर्म में श्रद्धा होने के कारण अपने कल्याण के लिये पुण्य का दान देंगे । जिस प्रकार बुद्ध ने भिक्षुओं को ही धर्मप्रचार का कार्य सौंपा था, इसी तरह धर्म प्रचारक भिक्षु भावना से ही यदि कार्य करें तभी जनता में श्रद्धा विश्वास, धार्मिकता तथा जीवन की पवित्रता आ सकती है । और धर्मप्रचारक के पद की प्रतिष्ठा भी तभी बढ़ सकती है । इस उपाय से समाज का आर्थिक अप-व्याय बच सकता है और वह नित नई नई अपील की चिन्ता चीऊँटियों से मुक्त हो सकता है ।

इसके साथ प्रत्येक आर्य भाई में यह (Spirit) होनी चाहिए कि वह अपने आपको धर्म प्रचारक का सहायक समझे । वैदिक धर्म में दृढ़ श्रद्धा रखें प्रचार में लगन से काम करें और जहाँ रहे तन, मन, धन से बिना किसी स्वार्थ को सामने रखकर वेदप्रचार में सहायक सिद्ध हो ।

किसी भी धर्म को सार्वभौम विस्तृत करने का और उस से अपने जीवन बनाने का यही मार्ग है जैसा कि महात्मा बुद्ध व ऋषि दयानन्द अपने क्रियात्मक जीवन द्वारा निर्देश कर गये हैं ।

आज अपने प्रिय पाठकों की सेवा में हम यही 'वेद प्रचार समस्या' उपस्थित करते हैं, आशा है सहृदय धर्म प्रेमी इस पर अवश्य विचार करेंगे ।

आर्यसमाज और खादी

[ले.—श्री पं. धर्मदेव शास्त्री दर्शन केसरी, सांख्यवेदान्तादि]

श्रद्धानन्द दल के सदस्य को जो तीन प्रतिज्ञायें करनी पड़ती हैं, उन में एक यह भी है कि—“मैं शुद्ध खादी के ही वस्त्रों का प्रयोग करूँगा”। प्रायः आर्य पुरुष इस के सम्बन्ध में यह विचार रखते हैं, कि खादी का आर्यसमाज के साथ क्या सम्बन्ध है? श्रद्धानन्द दल ने जो खादी को इतना आवश्यक समझा है, वह केवल धार्मिक दृष्टि से ही। यह ठीक है कि इसका राजनैतिक महत्त्व भी है परन्तु जो वस्तु राजनैतिक महत्त्व रखती है, वह धर्म की चीज नहीं रहती यह समझना तो भूल है। दुःख है कि केवल राजनीति की गन्ध से भी दूर रहने की भावना के आधीन कुछ उपयोगी तत्वों की ओर आर्यसमाज की उपेक्षा रही है।

मैं शुद्ध खादी पहनता हूँ, चर्खा भी यथाशक्ति कातता हूँ केवल वैदिक आदेश के आधार पर। मुझे एक इस प्रकार के और सज्जन मिले, वे पञ्जाब गवर्नर के आफिस में उच्च लेखक थे, परन्तु वे शुद्ध खादी का ही प्रयोग करते थे। मैंने उन्हें कांग्रेस का व्यक्ति समझा, तो वे बहुत नाराज़ हुए और बोले मैं तो आर्यसमाजी होने के नाते खादी धारण करता हूँ। उन्होंने यह भी कहा कि एक बार जब सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा था, जब मुझे खादी धारण करने के कारण सरकार विरोधी समझ कर नौकरी से पृथक् करने की योजना की गई, परन्तु उन्होंने स्पष्ट

कहा है कि मैं खादी केवल आर्यसमाजी होने के नाते पहनता हूँ क्योंकि आर्यसमाज के आधार-ग्रन्थ वेद में खादी के ही वस्त्र धारण करने का भगवान् ने आदेश किया है। केवल इन्हीं के कारण पंजाब के तात्कालिक गवर्नर को यह घोषणा करनी पड़ी कि खादी धारण करने के कारण किसी को सरकारी नौकरी से वंचित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के और भी उदाहरण बनाए जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि खादी का महत्त्व धार्मिक भी है।

महात्मा गांधी को ही खादी के पुनरुज्जीवन का श्रेय है, इस का यह अर्थ नहीं कि खादी की इससे पूर्व सत्ता ही नहीं थी, खादी का सिद्धान्त उतना ही अनादि है, जितने वेद, और फिर भारतवर्ष में प्रथम भी चर्खे और खादी चलती ही थी। गांधी जी ने केवल उसका महत्त्व प्रकट किया है। महात्मा जी ने भी खादी का साक्षात्कार सर्वप्रथम अफ्रीका से लौटने पर उड़ीसा प्रान्त में भ्रमण करते हुए दरिद्र नारायण की सेवा के साधन के ही रूप में किया है। उनके ही शब्दों में खादी भगवान् की प्रेरणा का फल है। इस लिये गांधी जी की खादी शुद्ध धार्मिक है। उनके लिए भी राजनीति भी धर्म है।

खादी इसलिए भी धार्मिक है, क्योंकि विवाह में कन्या को दहेज में चर्खा देने की प्रथा अब तक भी देश के बहुत भाग में पाई जाती है। जिसका अर्थ

है, घर में चर्खा चलाने का तथा अपने घर के ही सूती वस्त्र धारण करने का सक्रिय उपदेश और आदेश। पंजाब प्रान्त में तो गरीब से गरीब व्यक्ति भी जो लड़की को और कुछ दहेज में नहीं दे सकता, चर्खा तो अवश्य देगा। इस प्रथा को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है क्योंकि इधर कुछ समय से इस ओर जनता की रुचि कम हो चली है।

ऋग्वेद ५४७।६ में भगवान् का आदेश है कि अपने पुत्रों के लिए माता को स्वयं वस्त्र कातना बुनना चाहिए “वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति”—अर्थात् माताएं पुत्र के लिए वस्त्रों को बुनती हैं। जिस वस्त्र को मां ने स्वयं स्नेह से कात कर स्वयं ही बुना हो, उस में कितना स्नेह और उदात्त भाव होगा, यह तो भुक्त भोगी ही जान सकते हैं, “अत्रा त्वायः सख्यानि जानते”—इस मार्ग के पथिक ही इसका पार्थ अनुभव कर सकते हैं। आज कल लोग यह भी कहते हैं, कि खादी महंगी पड़ती है, उनको पहले तो यह जानना चाहिए कि खादी यदि घर में कात बुन कर तैयार की जावे, तो वह किसी प्रकार भी महंगी नहीं पड़ सकती। बाज़ार को खादी भी मिल अथवा विदेशी वस्त्रों की अपेक्षा पम्परा से तो महंगी नहीं है परन्तु उस सत्य का साक्षात्कार करने के लिए अपनी दृष्टि को व्यापक बनाने की—समूचे राष्ट्र को ही आत्मा समझने की—महती आवश्यकता है। और फिर यदि खादी महंगी पड़ती है, तो मैं कहूँगा कि अच्छी और उपयोगी सभी बातें—वस्तुएं—महंगी ही पड़ती हैं। बाज़ार का भोजन घर के भोजन से महंगा नहीं पड़ता, सस्ता होता है। भ्रष्ट की तो गिनती ही नहीं। परन्तु कौन ऐसा वैश्यवृत्ति का भी पुरुष है, जो होटल के भोजन को घर के भोजन से अच्छा समझेगा। यदि घर में गाय पाल

कर अच्छा दूध पीने की इच्छा है तो उसकी कीमत का विचार न करना होगा, क्योंकि बाज़ार के दूध से वह पड़ेगा महंगा ही। हां, इन सब में भी जिसकी दृष्टि हितकर निरीक्षण कर सकती है, वे घर के ही महंगे भोजन के और घर की पाली गौ के दूध का ही बाज़ार के भोजन और दूध की अपेक्षा सस्ता समझेंगे, सत्य भी यही है। समझदार व्यक्ति महंगी समझी जाने वाली भी खादी को सस्ता समझेगा। वेद ने जिस प्रकार माता को अद्भुतसद् से सम्बोधित करके भोजनादि बनाना माता का कर्त्तव्य बताया है, इसी प्रकार उपर्युक्त मन्त्र में माता को ही वस्त्र बुनने का आदेश करके खादी को भी भोजन तुल्य दृष्टि से देखने की आज्ञा की है।

ऋग्वेद १०।७।१६ में करघे के लिए तन्त्र शब्द का प्रयोग हुआ है, मन्त्र इस प्रकार है—
तएते वाचमभिपद्य पायया सिरोस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः
ऋग्वेद २।३।६ में अच्छी प्रकार ताना बाना करके कपड़े को बुनने का आदेश है।

बुनना स्त्री-धर्म

वेद में प्रायः बुनने के साथ स्त्री का सम्बन्ध पाया जाता है। प्राकृतिक पदार्थों में भी आलंकारिक भाषा में जब बुनने का वर्णन करना वेद को अभिप्रेत होता है, तब सर्वत्र स्त्रीलिंग शब्दों में इसका वर्णन मिलता है। प्राचीन आदर्श यह है, कि स्त्री का काय-क्षेत्र घर है, और पुरुष का बाहर, इसमें उन के छोटे बड़ेपन का कोई भेद नहीं। स्त्री और पुरुष के शरीर तथा मानसिक स्थिति और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों के प्रकाश में यही उचित भी है। खादी भोजन की भांति घरेलू धन्धा है। चर्खा-संघ की ओर से जहां भी खादी निर्माण के केन्द्र हैं वहां स्त्रियों के लिए यह वृत्ति अधिक उपयोगी

सिद्ध हुई है। वे घर बैठे ही अपने आचार, बच्चों का पालन, मातृत्व की अभिव्यक्ति, सब के साथ खादी के ही द्वारा वस्त्र और भोजन उपलब्ध कर सकती हैं जो स्त्रियाँ मिलों में काम करती हैं, उनका जीवन तो नरकमय हो जाता है। स्त्री सम्बन्धी गुप्तरोगों की उत्पत्ति तथा अनाचार के केन्द्र स्त्रियों के जितने बड़े २ कारखाने हैं, उतने शायद ही कोई और होंगे। गांव की कुछ सरल स्त्रियाँ १०० में ६६ इन स्थानों पर अपना जीवन थोड़े पैसे में ही बेचती हैं, खादी में इस प्रकार का कोई दोष नहीं।

खादी प्रतीक है

खादी तो धन के विभाजन का, स्वावलम्बन और हाथ से काम करने तथा उत्पत्ति के संयमन का प्रतीक है। खादी का अर्थ है बिना किसी जोर जुल्म के अमीर की जेब से गरीब के पास पैसा पहुँच जाना यही सच्चा साम्यवाद है। खादी के समान कुटी व्यवसाय और कोई नहीं। मुर्गी पालना आदि व्यवसाय धर्म नीति के विरुद्ध हैं—साथ ही इतनी आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति उन के द्वारा नहीं हो सकती। वस्त्र तो मनुष्य की सर्व मुख्य तीन आवश्यकताओं में द्वितीय है। इस व्यवसाय को मनुष्य प्रतिदिन फुर्सत के समय थोड़े परिश्रम के द्वारा सम्पन्न कर सकता है खादी का अर्थ है—ग्राम-जीवन और इसके विपरीत विदेशी अथवा स्वदेशी वस्त्र व्यवसाय का अर्थ है, बड़े २ शहर बसाना और संसार के वायुमंडल को दूषित करना।

यन्त्रवाद और खादी

पाठक पूछेंगे कि खादी तो यन्त्रवाद के विरुद्ध सक्रिय आन्दोलन है परन्तु वेद में तो बड़े २ विमान आदि यन्त्रों के संचालन का तथा निर्माण-आदि का वर्णन मिलता है तब खादी वैदिक किस प्रकार है। मैं पाठकों के इस प्रश्न का समाधान करके लेख समाप्त करूंगा। खादी शुद्ध वेद और परमात्मा का आदेश है इसके लिए वेद के अनेक मंत्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं। दो तीन मंत्र मैंने

जिन में से ऊपर निर्दिष्ट भी कर दिए हैं। यह भी ठीक है कि वेद में यन्त्रों का वर्णन भी मिलता है। परन्तु वस्त्र निर्माण के किसी भी यन्त्र का विधान नहीं मिलता। यह तो क्या, मेरा दावा है कि वेद में बड़े बड़े कारखानों का कहीं भी विधान नहीं मिलता, जिनसे मानव शक्ति को हानि पहुँचती हो, और उन्हें बेकार रहना पड़ता हो। यदि कोई सज्जन ऐसा प्रमाण उपस्थित कर सकते हों, तो वे करें। वास्तव में यन्त्रों का विरोध नहीं किया जा सकता। स्वयं शरीर भी एक यन्त्र है चर्खा भी तो यन्त्र है। महात्मा गांधी भी इस प्रकार के यन्त्र का विरोध नहीं करते जो सामाजिक जीवन की अवश्यकताओं की पूर्ति करे। जैसे रेल। साथ ही जो यन्त्र घरेलू व्यवसाय का अंग बन सकता है, उसका भी तो विरोध नहीं करते जैसे सीने की मशीन। परन्तु जो यन्त्र मनुष्य की शक्ति को अनुपयोगी बना देता है, बेकार बनाता है, वह यत्र मनुष्यता के विकास का विरोधी है। विमान आदि का भी इस पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

परन्तु वस्त्र तो मनुष्य की वैयक्तिक आवश्यकता की पूर्ति करता है, अतः मनुष्य को इसका उत्पादन स्वयं करना चाहिये जिस प्रकार भोजन बनाना। वास्तव में मनुष्य के जीवन को दो भागों में बांटा जा सकता है। वैयक्तिक और सामाजिक। वैयक्तिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में उसे स्वतन्त्र ही रहना चाहिये।

कांग्रेस तो संभव है महात्मागांधी जी के बाद खादी को छोड़ भी दे। परन्तु मैं समझता हूँ आर्यसमाज को अभी से खादी को अपना मुख्य प्रोग्राम बनाना चाहिये। क्योंकि खादी प्राचीन जीवन और आदर्शों की प्रतीक है। यदि आर्यों को वेद पर भ्रष्टा है, तो उन्हें शुद्ध खादी के ही वस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए। इसका धार्मिक महत्व मेरे लिए अधिक उपादेय है।

सम्राट् की याद

श्री पण्डित चमूपति जी का देहावसान—

गत १५ जून, मंगलवार, को मध्याह्न के १२ बजे कर १० मिनट पर आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री पण्डित चमूपति जी का आकस्मिक देहावसान हो गया। यह देहावसान सारे आर्य सामाजिक जगत् में एक अनभ्र वज्रपात के रूप में देखा गया। जिसने भी इस हृदयविदारक समाचार को सुना वही अवाक् रह गया। किसी को भी यह विश्वास नहीं होता था कि वे चमूपति जी जिन के काव्यमय वक्तृत्व की छटाएँ पंजाब के प्रत्येक नगर की आर्य सामाजिक तथा दूसरी धर्म—पिपासु जनता के कानों में ताजी गूँज रही थीं, सिर्फ ४४-४५ वर्ष की छोटी सी अवस्था में इस प्रकार एका-एक हम से अलग हो जावेंगे। पण्डित जी अपने शरीरपात से ८—६ दिन पहले यथानियम प्रातः भ्रमण के लिये गये। परन्तु उस दिन भ्रमण में पण्डित जी अपने को बड़ा थका हुआ सा अनुभव करते रहे। कई बार तो उन्हें रास्ते में बैठ जाना पड़ा। जब किसी तरह घर पहुँचे तो देखने पर मालूम हुआ कि उन्हें १०४ का बुखार है। साथ ही कुछ छाती में दर्द और खाँसी की शिकायत भी थी। २-३ दिन ता टाइफाइड बुखार समझा जाता रहा। फिर पता चला कि निमोनिया हो गया है। लाहौर के डाक्टरों के मूर्धन्य डाक्टर निहालचन्द जी आपका इलाज

करते रहे। पण्डित ज्ञानचन्द जी, पं० नरदेव जी पं० बुद्धदेव जी आदि कितने ही महानुभाव दिन रात आप की सेवा में लगे रहे। ये लोग रात को भी उन्हीं के घर सोते रहे। पण्डित ज्ञानचन्द जी का नाम तो इन में विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने उनकी सेवा में कोई कसर नहीं उठा रखी थी। इस सब सेवा का फल भी बड़ा आशा जनक दीखता रहा। मृत्यु से एक दिन पूर्व तक डाक्टर यही कहते रहे कि बिल्कुल ही कोई खतरे की बात नहीं है। मृत्यु वाले दिन प्रातः ८ बजे से अवस्था एक दम बिगड़नी प्रारम्भ हो गई और १२-१० बजे आप असार संसार से चल दिये।

पण्डित जी के देहावसान से आर्यसमाज की जो हानि हुई है उस का वर्णन नहीं हो सकता। आपका आर्यसमाज के सिद्धान्तों का ज्ञान बड़ा गहरा था। आप की ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज में असीम भक्ति थी। आपने अपनी सारी शक्ति ऋषि के सिद्धान्तों के प्रचार में लगा रखी थी। आप हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी के प्रभावशाली लेखक थे। आपने इन भाषाओं में अनेक उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं। आप हिन्दी और उर्दू के एक प्रतिभाशाली कवि भी थे। आपकी कवितायें बहुत ऊँची श्रेणी की होती थीं। कवि और लेखक होने के अतिरिक्त आप एक ओजस्वी

व्याख्याता भी थे। आप के व्याख्यानों की कविता-मयी छटा श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर देती थीं आप आर्यसमाज में अपने ढंग के एक निराले ही विद्वान् थे। आप में मस्तक और हृदय दोनों के ही गुण बहुत बड़ी मात्रा में विद्यमान थे। जो आपके सम्पर्क में आता था आप के प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रभावित हुये बिना नहीं रहता था। आप आर्यसमाज के इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ गये हैं। आप अपनी योग्यता और अध्यवसाय के बल से थोड़े ही समय में आर्यसमाज में सब से प्रतिष्ठा के पदों पर जा पहुँचे थे। ऐसे गुणी प्रचारक के छिन जाने से आर्यसमाज की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति अविष्य में आसानी से होती दृष्टिगोचर नहीं होती।

परन्तु परमात्मा की इच्छा के आगे किसी का वश नहीं चलता। उसके आगे तो हम को सिर झुकाना ही पड़ेगा। प्रभु दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करें और उनके दुःखी परिवार को धैर्य प्रदान दें यही उनसे हार्दिक प्रार्थना है।

वेद और ज्योतिष शास्त्र —

वेद के षडङ्गों में ज्योतिष शास्त्र भी एक अंग है। वेद में स्थान २ पर ज्योतिष शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन है। संस्कृत साहित्य का दिग्गज विद्वान् तथा वेद में अव्याहत गति रखने की सामर्थ्य वाला भी विद्वान् यदि ज्योतिष शास्त्र से अनभिज्ञ हैं तो वह भी वेद पारावार में सुगमतया प्रवेश न कर सकेगा। वेदों की गुत्थियाँ सुलझाना कोई सरल काम नहीं है। वेदों में कई जगह तो हमें ऋषि महर्षियों से प्रतिपादित अर्थ संकेतों से कुछ ज्ञान हो भी जाता है परन्तु बहुत सारे स्थल ऐसे हैं जहाँ पर कि उनका संकेत भी हमारी पूरी

सहायता नहीं कर सकता। ऐसे स्थलों में इन ६ अंगों के रहस्य प्रकाश से ही कुछ सहायता मिल सकती है। अतः इन ६ अंगों के गूढ़तत्त्व का समझना वेदार्थ के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जब तक इन ६ अंगों का पूर्ण ज्ञान न हो तब तक वेदार्थ के रहस्य खोलना असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु आजकल की इस दुनिया में इन ६ अंगों का पूर्ण ज्ञाता होना नामुमकिन है। हाँ! किसी एक या दो अंग के विद्वान् मिल सकते हैं। जब ६ अंगों के विद्वान् मिलकर बैठें हों वहाँ ही वेदार्थ का सुन्दर रूप से हो सकता है। जब तक एक २ अंग के ज्ञाता दिग्गज विद्वान् मिलकर न बैठें तब तक वेदार्थ हो सकना असम्भव है। आजकल जितने भी प्रयत्न वेदार्थ के खोलने के लिये किये जा रहे हैं वे सब अपूर्ण हैं यदि उन में ६ अंगों के ज्ञानाग्नि का सहयोग न हो। हम देखते हैं कि आजकल आर्यसमाज वेदार्थ के खोलने में कुछ प्रयत्न कर रहा है परन्तु आर्यसमाज को यह ख्याल रखना चाहिये कि वह पहिले ६ अंगों के ज्ञाताओं को प्रोत्साहन दें। कई अंग तो ऐसे हैं जिनकी तरफ आर्यसमाज ने ध्यान दिया है परन्तु ज्योतिष एक ऐसा अंग है जिसकी तरफ आर्यसमाज ने ध्यान नहीं दिया। चाहिए तो यह था कि वेद भाष्य करने से पहिले सब अंगों के विशेषज्ञों को इकट्ठा करे और फिर वेद भाष्य शुद्ध करावे। केवल इतना ही नहीं आर्यसमाज को अपनी तरफ से एक २ अंग के विद्वान् पैदा करने चाहिये तभी जाकर आर्यसमाज की तरफ से विरोधियों का भली प्रकार उत्तर दिया जा सकता है। आज यूरोप का एक विद्वान् उठा है वह ज्योतिष के आधार पर वेदों को ३, ४ हजार साल पहिले का सिद्ध कर देता है। इस प्रकार विरोधियों का उत्तर देने के लिये आर्यसमाज को भी ज्योतिष रूपी दण्ड सम्भालना पड़ेगा। तभी वेदों की रक्षा को कुछ सहारा हो सकता है।

छप गई!

छप गई !!

छप गई !!!

अग्निहोत्र की अनूठी व्याख्या

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार की प्रतिभापूर्ण लेखनी का एक और चमत्कार



नामक पुस्तक छपकर तैयार हो गई !!

पण्डित बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार आर्यसमाज के प्रतिभाशाली वैदिक विद्वान् हैं। उनकी लिखी स्वर्ग, सोम, मरुत, शतपथ में एक पथ, शतपथ भाष्य, ब्रह्मयज्ञ आदि पुस्तकें आर्य समाज के साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। उनकी संख्या की व्याख्या ब्रह्मयज्ञ के थोड़े ही काल में दो संस्करण निकल चुके हैं। देवयज्ञ पुस्तक भी ब्रह्मयज्ञ की ही कोटि की है। देवयज्ञ में अग्निहोत्र के मन्त्रों की व्याख्या के अतिरिक्त देवयज्ञ के अङ्ग, उद्देश्य-प्रणिधान, ईर्ष्या-विजय, विश्वेदेवा और यजमान, वषट्कार और स्वाहाकार, स्विष्टकार, अदब्धता, यज्ञ-चक्र, ब्रह्मप्रणिधान, आदि कितने ही अन्य विषयों पर भी सर्वथा मौलिक विचार दिये गये हैं। एक बार मँगा कर पढ़िये। मूल्य केवल 1=) है।

निम्न पुस्तकें भी मँगाकर पढ़िये

ब्रह्मयज्ञ 1=)

स्वर्ग 1=)

सोम 1)

मरुत् 1)

शतपथ में एक-पथ 1)

मिलने का पता—

अध्यक्ष अनुसन्धान-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब
गुरुदत्त भवन, लाहौर

पण्डित प्रियव्रत प्रिण्टर और पब्लिशर द्वारा भारती प्रिण्टिङ्ग प्रेस, हस्पताल रोड, लाहौर।

में छपकर गुरुदत्त भवन, रावी रोड लाहौर, से प्रकाशित हुआ।

आर्य

भाद्रपद

१९६४

वैदिक तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रचारक पत्र

{ वार्षिक मूल्य ३)
{ एक प्रति १=)



सम्पादक—

आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब

पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

पुस्तक भवन, लाहौर

विषय-सूची

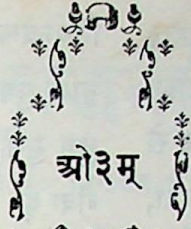


सं०	लेख	लेखक	पृष्ठ संख्या
१.	वेदोपदेश	“अभय”	१७७
२.	वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त	पं० प्रियव्रत जी वेद वाचस्पति	१७६
३.	आर्य समाज का विस्तार	पं० इन्द्र जी	१८५
४.	इन्द्र और वृत्रासुर	श्री वीरेश विद्यालंकार	१८८
५.	आनन्द साम्राज्य (कविता)	पं० धर्मदेव जी	१६२
६.	ब्रह्मण वृत्ति	आचार्य देवशर्मा जी	१६३
७.	हमारा अविवेक	श्री के० ज्ञानी	१६६
८.	सम्पादकीय	भगवदत्त वेदालङ्कार	१६८
९.	वेदभाष्यम्		७७-८४
१०.	शत-पथ ब्राह्मणम्		२६३-३००

आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये यह आपका कर्तव्य है।

ग्राहकों से—आर्य अङ्गरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है। पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये। फिर अङ्गरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये। इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे। अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये।

**पत्र-व्यवहार करते हुए अपना ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
पता ग्राहक संख्या वाले चिट पर लिखा होता है।**



ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽरावणः ॥

भाग २२

लाहौर, भाद्रपद १९६४, सितम्बर १९३७

[दयानन्दाब्द ११३]

अंक ५

वेदोपदश



हे इन्द्र तू ही मेरा आश्रय है !

न घा त्वद्रिक् अपवेति मे मनः त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय ।

राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि, अस्मिन् सु सोमे अवपानमस्तु ते ॥

ऋक् १०।४३।२।

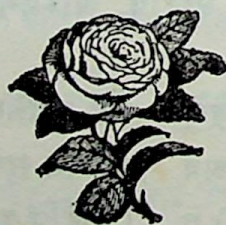
शब्दार्थः [हे इन्द्र] (मे) मेरा (त्वद्रिक्) मैंने आश्रित कर दिया है । (दस्म) हे दर्शनीय !
मनः) तेरी तरफ गया मन (न घ अपवेति) अब हे परम सुन्दर ! तू (राजा इव) राजा की तरह
कभी लौटता नहीं, तुझ से हटता नहीं, (पुरुहूत) हे (बर्हिषि अधि) मेरे हृदयासन पर (निषदः) बैठ
ने पुकारे गये ! (कामं) अपनी सब इच्छा जा (अस्मिन् सुसोमे) इस उत्तम सोम आत्मा में
नोरथ कामना को (त्वे इत्) तुझ में ही (शिश्रिय) अब (ते) तेरा (अवपानं अस्तु) अवपान हो,

उतर कर पीना हो ।

भावार्थ: — हे देव ! मैंने संसार में बहुत विहार किया, बहुत इच्छायें कामनायें पालीं, बहुत भटका; परन्तु जब से मेरा मन तेरी तरफ गया है जब से शास्त्र श्रवण द्वारा, तेरे एक सच्चे भक्त (गुरु) द्वारा, तेरे स्वरूप की एक भांकी मुझे मिली है तब से मेरा मन मुग्ध हो कर ठहर गया है । हे दर्शनीय ! तुझे देख कर मैंने सब कुछ पा लिया है । जिस प्यारे अमर तत्व को न पा लेने से सब व्याकुलता थी वही पा लिया है । तेरे स्वरूप ने दीख कर ऐसा मोहित कर लिया है कि अब मेरा मन हे परम सुन्दर ! तुझ से जरा देर को भी हटना नहीं चाहता है । मैं अब अन्य किस वस्तु की कामना करूँ ? मेरी सब इच्छा कामना अभिलाषा, मनोरथ, सब का तू ही एक आश्रय हो गया है । अब मुझ में दीखने वाली कुछ स्वाभाविक कामनायें भी जिस में अवलम्बित हैं वह एक तेरी ही वाग्ना रह गई है । हे मेरे हृदय को सब अन्य कामनाओं से शुद्ध कर देने वाले देव ! अब तुम मेरे इस निष्काम हृदयन्तरित्त को अपने इस मुग्ध करने वाले दृश्यमान स्वरूप से परिपूर्ण कर दो, मेरे अन्तःकरण के आसन पर आ विराजो । राजा की तरह मेरे हृदय के सिंहासन पर आरूढ़ हो

जाओ । हे अभीष्ट देव ! तुम मेरे हृदय के शासक, नियन्त्रक, राजा, स्वामी हो जावो । हे समस्त प्रजाओं द्वारा पुकारे गए पुरुहूत ! मेरे महाभाग्योदय से जब तुम मुझे एक बार मिल गये हो तो मैं तुम्हें क्यों गंवा दूँ । अतः अब तुम मुझ में स्थिर हो जाओ, आ बैठो । हे दर्शनीय ! तुम्हें एक बार देख लेने पर अब मैं तुम्हें आंखों से क्षण भर के लिये भी ओझल नहीं करना चाहता । अतएव कहता हूँ कि इस मेरे हृदय को अपना निवास स्थान बना लो । हे “रसेन तृप्त !” तुम अपने परिपूर्ण स्वरूप के सोमरस से सदा ही तृप्त हो, मैं तुम्हें अपने हृदय में निमन्त्रित कर के क्या सुख दे सकूंगा ? परन्तु नहीं, मेरा भक्त मन कहता है तुम्हें भी विशुद्ध हुई आत्मा को देख कर अवश्य सुख तृप्ति मिलती होगी । अतः तुम मेरे हृदय में बैठ कर मेरे शुद्ध हुवे, उत्तम हुवे, आत्मा से स्वभावतः निकलने वाले भक्तिरस का—सुसोम का आस्वादन करो । अपने उच्च सिंहासन से उतर कर मेरे इस तुच्छ पान को ग्रहण करो । मेरा यह कामना मल से रहित हुआ निर्लेप आत्मा तुम्हारा सोम हो कर सर्वभाव से तुम्हें समर्पित है, तुम इसे ग्रहण करो, स्वीकार करो, अपना लो ।

“अभय”



वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

१६. राज्य में करने योग्य कुछ बातें (Some ends to be realised by the state)

२३. राष्ट्र के जंगलों की रक्षा

वेद के
अवसृजा वनस्पते देव देवेभ्यो हविः । ऋ०
१।१३।११
त्वं च सोम.....वनस्पतिः । ऋ० १।६१।६
अवसृजन्नुप त्मना देवान् यक्षि वनस्पते । ऋ०
१।१४।११
उप त्मन्या वनस्पते । ऋ० १।१८।१०
वनस्पतिरवसृजन्नुपस्थादग्निः । ऋ० २।३।१०
अरिषण्यन् वीलयस्व वनस्पते । ऋ० २।३७।३
अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तो वनस्पते । ऋ०
३।८।१
उच्छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन् पृथिव्या अधि । ऋ०
३।८।३
यान् वो नरो देवयन्तो निमिष्युर्वनस्पते । ऋ०
३।८।६
वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयं
रुहेम । ऋ० ३।८।११
अयमस्मान् वनस्पतिर्मा च हा मा च रीरिषत् ।
ऋ० ३।५३।२०
यत्र वेत्थ वनस्पते । ऋ० ५।५।१०
नित्यस्तोत्रो वनस्पतिः । ऋ० ९।१२।७

वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ उपवक्षि
विद्वान् । ऋ० १०।७०।१०
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः । ऋ० १०।११।०।
१०। अथर्व० ५।१२।१०
ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता । यजु०
२०।६५
वनस्पते सृजा रराणः ।
त्मना देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥
अथर्व० ५।२७।११
इन मन्त्रों में से ऋ० १।६१।६ और ऋ० ६।१२
७ में सोम को, ऋ० ३।५३।२० में इन्द्र को और
शेष सब में अग्नि को वनस्पति कहा है। वनस्पति
का अर्थ होता है वनों अर्थात् जंगलों का रक्षक।
सायण ने भी इसका अर्थ “वनानां पालकः” ऐसा ही
किया है। वनस्पति शब्द जहाँ विशेषण होकर प्रयुक्त
नहीं हुआ प्रत्युत विशेष्य रूप में प्रयुक्त हुआ है वहाँ
भी इसका अर्थ वेद में प्रायः अग्नि ही किया जाता
है। सायण ने प्रायः सर्वत्र वनस्पति का अर्थ “एत-
न्नामकोग्निदेवः” ऐसा किया है। निरुक्त में यास्काचार्य
ने भी अपने से पूर्ववर्ती शाकपूर्णा आचार्य का मत
देकर वनस्पति का एक अर्थ अग्नि ही स्वीकार किया

है। याज्ञिक पद्धति में यद्यपि कुछ लोग वनस्पति का अर्थ यज्ञयूप भी करते थे परन्तु इस यूप को भी अग्नि का ही एक रूप समझा जाता था। कुछ भी हो, वनस्पति शब्द अग्नि के एक विशेष रूप का बोधक समझा जाता रहा है। अब हम इस ग्रन्थ में निरन्तर देखते आ रहे हैं कि वेद में अग्नि और इन्द्र का एक अर्थ सम्राट् भी होता है। सोम भी कर्तव्य भेद से राजा का ही एक नाम है। इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में अग्नि, इन्द्र और सोम को वनस्पति कहने का अभिप्राय वेद के राष्ट्र परक अर्थ में राजा को ही वनस्पति कहने का हुआ। जिसका भाव यह हुआ कि राजा को वनस्पति होना चाहिये। अर्थात् राष्ट्र के जंगलों की रक्षा करनी चाहिये। किसी राष्ट्र के जंगल उसकी एक बड़ी भारी सम्पत्ति होते हैं। उनको यों ही नष्ट नहीं होने देना चाहिए।

नकी वनपाल लोगों को रखकर पूरी रक्षा करानी चाहिये। जब किसी तरह की आवश्यकता के बश होकर जंगलों के किसी भाग को काटना हो तो वह राज्य की स्वीकृति के बिना नहीं काटना चाहिए। जो बिना राज्य की स्वीकृति के जंगल के पेड़ काट लेगा उसे राज्य दण्ड देगा। राजा को वनस्पति कहने का यही आशय है।

वनस्पति शब्द के और भी कई यौगिक अर्थ हो सकते हैं। उदाहरण के लिये 'वन' शब्द का एक अर्थ वैदिक और लौकिक संस्कृत में जल भी होता है। तब वनस्पति का अर्थ होगा जलों का रक्षक। इस अर्थ में यह शिक्षा निकलेगी कि राजा को राष्ट्र के जलों की रक्षा करनी चाहिये। प्रजाजनों के काम में आने वाले पानी को कोई बिगाड़ न सके, गन्दा और ज़हरीला न कर सके, जिससे उसके पान से राष्ट्र के मनुष्य और पशु रोगी न हो जायें, ऐसा

प्रबन्ध राजा को करना चाहिये। जिन प्रदेशों में पानी थोड़ा मिलता है वहां कोई पानी को व्यर्थ न खो सके इस अर्थ में भी राजा को पानी की रक्षा करनी होगी।

परन्तु हमने यहां वन का अतिप्रसिद्ध अर्थ जंगल लेकर वनस्पति का अर्थ जंगलों की रक्षा करने वाला ही किया है। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्र भी देखिये :—

वना सिषक्ति । ऋ० १।६६।१

तदस्येदं पश्यता भूरि पुष्टं... ..अविन्दत्.....

स वनानि । ऋ० १।१०३।५

स वना न्युञ्जते । ऋ० १।१४३।५

पूर्वीरस्य निष्पिधो मर्त्येषु पुरुवसूनि पृथिवी विभर्ति ।

इन्द्राय द्याव ओषधीरुताभो रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि ॥ ऋ० ३।५१।५

त्वं त्या चिदच्युताग्ने पशुर्न यवसे ।

धामा ह यत्ते अजर वना वृश्चन्ति शिकसः ॥

ऋ० ६।२।६

भीमो दधते वनानि । ऋ० ६।६।५

नू गृणानो गृणते प्रत्न राजन्निषः पिन्व वसुदे-
याय पूर्वीः ।

अप ओषधीरविषा वनानि गा अर्वतो नृनृचसे
रिरीहि ॥ ऋ० ६।३६।५

सं यो वना युवते । ऋ० ७।४।२

देवास आगन् परशू विभ्रन् वना वृश्चन्तो अभि
विद्धिभरायन् ।

नि सुद्रवं दधतो वक्षणासु यत्रा कृपीटमनु तद-
हन्ति ॥ ऋ० १०।२८।८

अन्विद्वनान्यन्वोषधीरनु पर्वतासः ऋ० १०।८६।१३

इन्द्र ओषधीरसनोत्.....वनस्पती रसनोत् ।

ऋ० ३।३४।१०

मुमुचाना ओषधयोभने वैश्वानरादधि ।

भूमिं सं तन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥

अथर्व० ८।७।१६

इन मन्त्रों और मन्त्र खण्डों का शब्दार्थ क्रम से इस प्रकार है :—

“अग्नि (सम्राट्) वनों से सम्बन्ध रखता है और उनका सेवन करता है (सिषक्ति) ।”

मन्त्र का ‘सिषक्ति’ क्रिया पद ‘षच’ धातु से बनता है। इस धातु के समवाय और सेवा ये दो अर्थ होते हैं। समवाय का अर्थ घनिष्ठ सम्बन्ध रखना होता है। सेवा के दो अर्थ होते हैं। एक परिचर्या द्वारा रक्षा करना और दूसरा किसी चीज़ का उपभोग करके उससे लाभ उठाना। मन्त्र का भाव यह हुआ कि राजा जंगलों से सम्बन्ध रखता है अर्थात् उसे पता रहता है कि राज्य में कहां-कहां कितने बड़े और किस प्रकार के वृक्षों के जंगल हैं, और उनकी सेवा करता है अर्थात् उनकी भली भांति रक्षा करता है तथा समय पर उनसे उचित लाभ उठाता है।

“इस इन्द्र (सम्राट्) के प्रभूत पुष्टिदायक ऐश्वर्य को देखो वह जंगलों को प्राप्त करके उनसे लाभ उठाता है (अविन्दत्) ।”

अर्थात् राजा के ऐश्वर्य का एक बड़ा कारण यह है कि वह राष्ट्र के जङ्गलों की रक्षा कर के उनसे समय पर लाभ उठाता है।

“वह अग्नि (सम्राट्) जङ्गलों का प्रसाधन करता है (निकृञ्जते) ।”

यास्काचार्य ने ऋञ्ज धातु का अर्थ प्रसाधन करना लिखा है। प्रसाधन के दो अर्थ होते हैं। एक बनाना और दूसरा सजा कर रखना। मन्त्र का भाव यह हुआ कि राजा जंगलों को बनाता है अर्थात् जहां

जङ्गल नहीं हैं उन प्रदेशों में भी आवश्यकता पड़ने पर नये जङ्गल लगवाता है। तथा इन जङ्गलों को सजा कर रखता है अर्थात् अच्छे वृक्षों की आकृति को बिगाड़ने वाले पासके अनभीष्ट वृक्षों और झाड़ी भंखाड़ों आदि को कटवा देता है तथा जङ्गलों में आने जाने के लिये आवश्यक सड़कें बनवाता है। भाव यह कि वह जङ्गलों को भी एक प्रकार के उद्यान से बना कर रखता है। जिससे लोग वायु सेवन के लिये उनमें निर्भय होकर जा सकें।

“इस इन्द्र (सम्राट्) के अनुशासन (निषिधः^१) मनुष्यों में पूर्ण होकर (पूर्वीः) चलते हैं, इसके अनुशासन से पृथिवी प्रभूत धन धारण करती है, इसके अनुशासन से द्युलोक के पदार्थ अर्थात् पक्षी आदि, मनुष्य (जीरयः^२), ओषधियों, जल और जङ्गल इसके लिये धन की रक्षा करते हैं अर्थात् इसे धन उत्पन्न कर के देते हैं ।”

मन्त्र का भाव यह है कि सम्राट् के अनुशासन अर्थात् राज्य प्रबन्ध और आज्ञाओं का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता है, उनका पूर्ण रूप में पालन होता है, और वह अपना अनुशासन इस प्रकार चलाता है कि राष्ट्र के जङ्गल आदि उसके लिये ऐश्वर्य देने वाले बनते हैं।

“अपने प्रभाव से कभी जीर्ण न होने वाले (अजर) अग्नि (सम्राट्) तुभ तेजस्वी के (शिक्षः^३) जङ्गलों को जो लोग काट डालते हैं (वृश्चन्ति) उन को (त्या) चाहे वे अपनी शक्ति के मद में अपने को कितना ही स्थिरशक्तिसम्पन्न क्यों न समझते हों (अच्युताचित्) तू उनको अपने तेज से खा डालता

१. अनुशासनानीति सायणः ।

२. जीर्यन्त इति जीरयो मनुष्याः ।

३. दीप्तस्येति सायणः ।

है। अथोत् खूब दण्ड देता है, जैसे कि पशु घास को खा जाता है।”

मन्त्र का भाव यह है कि जो लोग बिना आज्ञा प्राप्त किये राज्य के जंगलों को काट डालें राजा को उन्हें दंडित करना चाहिये चाहे वे कितने ही बली और बड़े क्यों न हों, बड़े बड़ों की भी शक्ति राज्य के सम्मुख ऐसी है जैसे घास की पशुओं के सम्मुख।

“यह भीम अर्थात् दुष्टों को डराने वाला है अग्नि (सम्राट्) जंगलों की रक्षा करता है (दयते)।”
“हे इन्द्र (सम्राट्) तेरे रक्षणादि गुणों की प्रशंसा करने वाले प्रजा जनो को ऐश्वर्य देने के लिये, तू प्रभूत अन्न दे, जल दे, विष दूर करने वाली (अविषा) ओषधियों दे, जङ्गल दे, गौ, घोड़े और पुरुष दे।”

मन्त्र में अन्य वस्तुओं के साथ जङ्गलों को भी ऐश्वर्य देने वाली एक चीज माना गया है। प्रजाजन राष्ट्र को जङ्गल सम्पत्ति से उन को समृद्ध बनाने के उपाय करने की राजा से प्रार्थना कर रहे हैं।

“अग्नि (सम्राट्) वनों से सम्बन्ध रखता है”

मन्त्र का भाव यह है कि राजा को राष्ट्र के सब जङ्गलों की पूरी जानकारी रहनी चाहिये।

“इन्द्र (सम्राट्) की आज्ञा से राष्ट्र के व्यवहारी पुरुष (देवासः) कुल्हाड़ों को लिये जङ्गलों में आते हैं, जङ्गलों को काट कर प्रजाओं से (विड्भिः) अभिगत होते अर्थात् मिलते हैं (अभ्यायन्), प्रजाजन जङ्गल की सुन्दर लकड़ियों को (सुद्वं) भार उठाने वाली गड़ियों में (वक्षणासु) रख कर ले जाते हैं और जहां जल (कृपीट) आदि गरम करने होते हैं वहां आग जलाते हैं (दहन्ति)।”

मन्त्र का भाव यह है कि यों ही कोई जङ्गलों की
१. देङ्खणे।

लकड़ियों नहीं काट सकता। राज्य की आज्ञा ले कर खास व्यवहारी लोग ही लकड़ी काट सकते हैं। ये व्यवहारी लोग जङ्गल से काट कर लाई गई लकड़ियों को प्रजाओं के पास ले जाते हैं। प्रजाजन आवश्यकतानुसार श्रेष्ठ लकड़ियों को खरीद कर गड़ों में लाद कर अपने घर ले जाते हैं और वहां उन से जल गरम करने आदि का जो कार्य करना होता है करते हैं। जल गरम करना लकड़ियों के अनेक प्रकार के उपयोगों का केवल उपलक्षणमात्र है।

“सम्राट् (इन्द्र) के अनुशासन में जङ्गल, ओषधियों और पर्वत चलते हैं।”

भाव यह है कि राजा जङ्गलों, ओषधियों और पर्वतों की देख-रेख और उन की समुचित रक्षा करता है। तभी जङ्गलादि अच्छी हालत में रहते हैं और राष्ट्र के लिये उपयोगी बनते हैं।

“सम्राट् (इन्द्र) प्रजाओं को ओषधियों देता है और वृक्ष (वनस्पतीन्) देता है।”

क्योंकि राष्ट्र के जङ्गल राजा की पालना में होते हैं इस लिये जब प्रजाओं को लकड़ी आदि के लिये वृक्षों की आवश्यकता हो तो वे राजा की आज्ञा से ही उन्हें प्राप्त हो सकते हैं। इस मन्त्र से यह भी भाव निकलता है कि राष्ट्र के लोगों को जितनी ओषधियों और लकड़ियों और फल प्राप्त करने के लिये जितने वृक्षों की आवश्यकता हो उन का प्रबन्ध राजा को करना चाहिये। ओषधियों और वृक्षों सम्बन्धी आवश्यकता पूरी न होने से प्रजा को जो कष्ट प्राप्त हो सकता है उन का उपाय करना राजा का कर्तव्य है।

“वनों का पालक (वनस्पतिः) सम्राट् जिन का राजा है ऐसी हे ओषधियों सब लोगों के हित-

कारी (वैश्वानरात्) सम्राट् की (अग्नेः) आज्ञा से प्रजाओं के हित के लिये मुक्त की गई तुम भूमि को व्याप्त करती हुई चलो ।”

मन्त्र का भाव यह है कि राजा को वनस्पति अर्थात् राष्ट्र के जङ्गलों का पालक होना चाहिये । ‘राजा ओषधियों का राजा है’ इस वाक्य का यह अभिप्राय है कि राष्ट्र के जङ्गलों में उत्पन्न होने वाली सब प्रकार की ओषधियों पर राजा का नियन्त्रण रहना चाहिये । शेष मन्त्र का भाव यह है कि राज्य की आज्ञा प्राप्त करने के अनन्तर ही ओषधियों जङ्गलों से काट और उखाड़ कर बेची जाने के लिये मुक्त की जानी चाहिये । और इस प्रकार एक से दूसरे के पास पहुंचती हुई वे ओषधियाँ सारे देश के नगरों और ग्रामों में व्याप्त हो जायें । इस मन्त्र से यह भी ध्वनि निकलती है कि राज्य में जो ओषधियाँ तैयार हों उन के निर्माण और क्रय-विक्रय पर भी राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिये । कहीं ऐसा न हो कि अशिक्षित और अर्द्ध शिक्षित वैद्य लोग निकम्मी ओषधियाँ बना और बेच कर राष्ट्र के स्वास्थ्य की हानि करते रहें ।

पाठकों ने देखा होगा कि जो बात सम्राट् को वनस्पति कहने से व्यक्ति होती थी उसी को उपर्युक्त मन्त्रों में अधिक स्पष्टता के साथ खोल कर कह दिया गया है । इन मन्त्रों में जङ्गलों को ऐश्वर्य देने का एक भारी साधन बताया गया है और कहा गया है कि राजा को उन का पालन और रक्षण करना चाहिये । राजा को ऐसा प्रबन्ध रखना चाहिये कि राजकीय जङ्गलों में से बिना राज्य की स्वीकृति के कोई भी लकड़ी या ओषधियाँ न ले सके । जङ्गलों का पालन और रक्षण होना चाहिये और इस कार्य के लिये विशेष वनस्पति या वनपाल रखे जाने

चाहिये इस का निर्देश वेद में अन्यत्र भी मिलता है उदाहरण के लिये यजुर्वेद के —

वनानां पतये नमः । यजुः १६ । १८

अरण्यानां पतये नमः । यजुः १६ । २०

इन मन्त्रों में वनों और अरण्यों के पालकों का नमः अर्थात् आदर सत्कार करने का वर्णन है—

यहां वन और अरण्य दो शब्दों का इकट्ठा प्रयोग हुआ है । सामान्य रूप में इन दोनों शब्दों का प्रयोग जङ्गल अर्थ में होता है । वेद और लोक दोनों में ही इन शब्दों का एक सामान्य अर्थ जङ्गल है । परन्तु यहां ये दोनों शब्द साथ-साथ आये हैं । इस लिये इन के अर्थों में कुछ भेद अवश्य होना चाहिये । दोनों शब्दों के धात्वर्थ को देखने से वह भेद स्पष्ट हो जाता है । अरण्य शब्द ‘ऋ गतो धातु से अथवा नञ् पूर्वक ‘रमु क्रीडायाम्’ धातु से निष्पन्न होता है । अतः अरण्य वह जङ्गल होगा जो नगर से दूर हो अर्थात् जिन में क्रीडा न की जा सके, जिस में मनुष्यों का विहार और सञ्चार न हो सके । नगर से दूर के और सघन जङ्गलों को अरण्य कहेंगे । वन शब्द ‘वन संभक्तौ’ धातु से बनता है । संभक्ति का अर्थ सेवन, दान और विभाग होता है । जो सड़कों द्वारा सुविभक्त हो, जिस में मार्ग विभाग होने के कारण लोग फिर सकते हों, जिस में वायु आदि का सेवन करने के लिये लोग भ्रमण करने जा सकते हों, जो शुद्ध वायु आदि के प्रदान द्वारा लोगों को स्वास्थ्य, प्रसन्नता आदि देता हो ऐसे जङ्गल या वृक्षों के समूह को वन कहते हैं । ऊपर ‘स वना न्यूञ्जते’ (ऋग १ । १४३ । ५) इस मन्त्र में कहा

१. अपार्णं ग्रामाद् अरमणं भवतीति वेति यास्कः ।
निरु० ६ । ३ । २८ । २४

भी है कि राजा को वनों को प्रसाधित करना अर्थात् सजाना चाहिये। जो वृक्ष समूह मार्गविभागादि के द्वारा सजाये गये हों जिस से कि लोग उन में भ्रमण कर सकें उन्हें वन कहेंगे। प्रचलित भाषा में जिस वृक्ष समूह को उद्यान कहते हैं उसी को यहां वन कहा गया है। वन शब्द लौकिक संस्कृत में भी उद्यान के लिये प्रयुक्त होता है। आम्रवण, पुष्पवन आदि शब्दों में वन के प्रयोग से यह बात स्पष्ट है। आम्रोद्यान और पुष्पोद्यान को आम्रवण और पुष्पवन कहेंगे परन्तु आम्रारण्य और पुष्पारण्य कभी नहीं कहेंगे। इस से वन और अरण्य का भेद साफ हो जाता है। जब वन और अरण्य शब्द एकार्थक होते हैं तब वन की व्युत्पत्ति हिंसाथक वन

धातु से होती है। बड़े-बड़े सघन जङ्गलों में हिंसक प्राणी रहते हैं। यदि कोई अकेला टुकेला मनुष्य वहां चला जाय तो उन हिंसक प्राणियों द्वारा अरण्य उस की हिंसा कर देता है इस लिये वह वन कहलाता है। अथवा अरण्यों में रहने वाले प्राणी एक दूसरे को मार कर खाते रहते हैं इस प्रकार अरण्य मानों प्राणियों की हिंसा करते रहते हैं इस लिये भी वे वन कहलाते हैं।

वेद द्वारा वनों और अरण्यों के रक्षकों का सत्कार करने का विधान होने से यह स्वयं ही सिद्ध हो जाता है कि ऐसे वन-पाल राष्ट्र के वनों की रक्षा के लिये रखे जाने चाहियें। क्योंकि वनपाल न होने की अवस्था में उन का सत्कार सम्भव ही—नहीं हो सकता।

ट्रैक्टों का सिलसिला

सभा का साहित्य विभाग प्रति मास हिन्दू तथा उर्दू में समाजों में प्रचारार्थ मुफ्त बांटने के लिये ट्रैक्ट प्रकाशित करता है। २५ प्रतियों का एक पैकट प्रति मास मँगवाने पर २) वार्षिक चन्दा है। यदि आप का समाज अभी तक इस ट्रैक्टों के मासिक सिलसिले का ग्राहक नहीं बना तो शघ्र ही २) मन आर्डर द्वारा भेज कर इस के अवश्य ग्राहक बन जाइये।

अध्यक्ष—साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

आर्य समाज का विस्तार

तीन वर्ष का कार्यक्रम

ले०—श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति

मैंने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्त-रङ्ग सभा में निम्न लिखित प्रस्ताव उपस्थित किया था, जो थोड़े से आवश्यक परिवर्तन के साथ स्वीकार हो गया—

(१) वर्तमान में आर्य समाजों के लिए ऐसा कार्यक्रम बनाया जाय जो सामूहिक और अपील करने वाला हो और वह कार्यक्रम १९४१ में होने वाली मनुष्य गणना को लक्ष में रख कर बनाया जाय ।

(२) यह कार्यक्रम कम से कम ३ वर्ष का होना चाहिये और इस काल में आर्य सभासदों और आर्थों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिए ।

(३) समाजों को प्रेरणा की जानी चाहिए कि वे नई २ संस्थाएँ खोलने का यत्न न करें ।

(४) आर्य समाजों को प्रेरणा की जाय कि अन्य धर्मावलम्बियों के साथ संघर्ष से बचा जाय । अनिवार्य होने पर ही संघर्ष में पड़ना चाहिए ।

(५) यत्न होना चाहिए कि ३ साल में आर्य-समाजों की संख्या तिगुनी और आर्य-सभासदों की संख्या दस गुनी होनी चाहिए ।

(६) नौजवानों के सङ्गठन को समाज अपने

हाथ में ले और उन्हें आर्य समाज की ओर आकर्षित करने का यत्न होना चाहिए ।

(७) आर्य समाज के अधिक से अधिक शिक्षणालय होते हुए भी शिक्षा की समस्या बड़ी जटिल हो रही है । उस पर पूर्ण विचार हो कर उसे तथा ढङ्ग या Impetus मिले नित नई संस्थाओं का उद्घाटन न होना चाहिये ।

विचार के बाद प्रस्ताव सर्व सम्मति से स्वीकृत हुआ । निश्चय हुआ कि निम्न सज्जनों की एक उप-समिति बनाई जाय जो इस सम्बन्ध में अपनी विस्तृत रिपोर्ट सभा में पेश करे:—

(१) श्री पं० इन्द्र जी

(२) श्री डा० युद्धवीर सिंह जी

(३) श्री लाला नारायणदत्त जी

इस प्रस्ताव के तीन भाग हैं ।

पहला भाग विधायक है । वह इस प्रस्ताव का मुख्य भाग है । उस में कहा गया है कि आगामी तीन वर्षों में आर्य समाजों की संख्या तिगुनी और आर्य सभासदों की संख्या १० गुनी हो जानी चाहिये ।

दूसरा भाग निषेधात्मक है। उस में कहा गया है कि यथासम्भव दो चीजों को रोकने का प्रयत्न किया जाय। अन्य धर्मावलम्बियों से व्यर्थ संघर्ष में न पड़ा जाय, और ठर्रे पर चल कर व्यर्थ में ही संस्थाओं के खोलने का प्रयत्न बन्द कर देना चाहिये।

प्रस्ताव के तीसरे भाग में पहले भाग को कार्य में परिणत करने के लिये उप समिति का निर्माण किया गया।

इन में से पहला भाग ही सब से आवश्यक है। वही प्रस्ताव की जान है। शेष दोनों भाग उस के केवल सहायक हैं। उन की यह आवश्यकता है कि वह पहले भाग में बताये हुये कार्यक्रम को पूरा करने योग्य परिस्थिति पैदा कर सकते हैं।

मैं इस लेख में प्रस्ताव के मुख्य भाग को समझाने का प्रयत्न करूंगा।

उपनिषदों में कहा है 'भूमा वै बलम्' संख्या में बल है। यह मानी हुई बात है कि आर्य-समाज के सदस्यों की प्रारम्भिक संख्या-वृद्धि आज से शायद २५ वर्ष पूर्व ही समाप्त हो गई थी। उस के पीछे यदि कुछ संख्या वृद्धि हुई है तो वह कुदरत का परिणाम है, प्रयत्न का नहीं। आर्य-समाजियों की सन्तान अपने को आर्य समाजी कहने लगी और इस प्रकार परिवार के परिवार आर्य समाजी हो गये। जो व्यक्ति अब से २५ वर्ष पूर्व आर्य समाजी बन चुके थे, इस समय उन्हीं का विस्तार है। प्रयत्न से नये बनाये हुये नये आर्य समाजियों की संख्या बहुत ही कम है।

इस त्रुटि के अनेक कारण हैं। सब से मुख्य कारण तो यह है कि आर्यसमाज ने अपने आप

को स्वयं ही अपना लक्ष्य बना लिया है। जैसे कोई मनुष्य लम्बी यात्रा तय करने के लिये गाड़ी बनाये, परन्तु उस गाड़ी को अपना लक्ष्य बनाकर उसी के रंगने और सजाने में सारी आयु व्यतीत कर दे आर्यसमाज की वैसी ही दशा हुई है। आर्यसमाज का संगठन एक लक्ष्य के लिये हुआ था। वैदिक धर्म का अधिक से अधिक प्रचार करना, संसार में आर्यसमाज के सिद्धान्तों को मानने और तदनुसार आचरण करने वालों की संख्या में अधिक से अधिक वृद्धि करना उसका लक्ष्य था। परन्तु हुआ क्या? आर्यसमाज अपने असली लक्ष्य को तो भूल गया, और अपने संगठन को ही लक्ष्य मान कर उसी के पालन पोषण में लग गया। जो साधनमात्र था उसे साध्य बनाकर पूजने लगा।

संख्या में रुकावट पड़ने का दूसरा कारण यह था कि आर्यसमाज भूल करने में इस से भी आगे बढ़ा। उस ने केवल अपने को ही लक्ष्य बना लेने की भूल नहीं की, उस ने अपनी खोली हुई संस्थाओं को भी पवित्र मान लिया नई संस्थाओं की स्थापना और पुरानी संस्थाओं का संचालन उनके लिये एक धर्म सा बन गया है। जो लोग संस्थाओं के उपासक हैं, उन से पूछिये कि क्या आर्यसमाज उन्नतिकर रहा है? तो उत्तर मिलेगा 'क्यों नहीं'। आर्यसमाज अवश्य उन्नति कर रहा है। देखिए बीस वर्ष पहले आर्यसमाज के पास जितने स्कूल थे, आज उस से ५ गुने हैं। जितनी कन्या पाठशालायें थीं, उस से १० गुनी हैं, और अनाथालय भी अधिक हैं। ऐसे संस्थापक सज्जनों को जानना चाहिये कि संस्था बनाना आर्यसमाज का कोई उद्देश्य नहीं है। संस्था यदि आर्य समाज के लक्ष्य की पूर्ति में सहायक है तो ठीक है। अन्यथा वह केवल बोझ है।

इस समय की संस्थाओं का अधिक भाग आर्यसमाज पर बोझ ही है। जो शक्ति प्रचार में लगनी चाहिये, वह संस्थाओं में व्यय हो गई है। आर्यसमाज की दशा बिलकुल उस बाल-गृहस्थ जैसी हुई है, जिस पर छोटी आयु में ही सन्तानका बोझ पड़ जाय। जैसे उस मनुष्य की उन्नति कुण्ठित हो जाती है आर्य समाज की भी वैसी ही दशा हुई है।

एक और भी भ्रान्ति है जो आर्य समाज के विस्तार के मार्ग में बाधक होती रही है। प्रारम्भ काल में यह आवश्यक था कि आर्यसमाज के प्रचारक खण्डन और शास्त्रार्थ की रीति का अनुसरण करते। उस समय जनता सीधी थी, और सचाई को सुनने के लिये उद्यत थी परन्तु अब दशा बिलकुल बदल गई है। मतमतान्तरों ने शास्त्रार्थ और खण्डन की पद्धति की निर्बलताओं को समझ कर उन से पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। अब न शास्त्रार्थ होते हैं, और न वाद—अब तो शास्त्रार्थ के नाम से अधिकतः तू तू मैं मैं और वितण्डे का ही प्रयोग होता है। उन से सत्या-सत्य निष्पन्न तो खाक भी नहीं होता, उल्टा धर्म का मज्जाक बनता है, और परस्पर वैमनस्य के बीज बोये जाते हैं।

इस प्रस्ताव में संस्था और शास्त्रार्थ को सीमाओं में परिणत करते हुए आर्य समाज के सामने प्रचार के कार्य को मुख्यता के साथ रखा गया है।

१९४१ में मनुष्य गणना होने वाली है। हम चाहते हैं कि आगामी तीन वर्षों में आर्य समाज के सन्देश को इतने वेग से और दूर दूर तक पहुँचाया जाय कि यदि आज उनकी संख्या २० लाख है, तो १९४१ में उन की संख्या कम से कम २ करोड़ होनी चाहिये। साथ ही उस बढ़ी हुई संख्या को सम्भालने के लिये आर्य समाज के केन्द्रों में वृद्धि करने की भी आवश्यकता है। आर्य समाजों की संख्या को तिगुना कर देने के विचार की तह में यही बात है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की आये अन्तरङ्ग सभा ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर के आर्य समाज को एक सही मार्ग दिखलाया है। यदि सभा ने सचेत हो कर पथ-प्रदर्शन किया, और आर्य समाज ने उत्साह दिखलाया तो तीन वर्षों में आर्यों का दस गुना और आर्य समाजों का तीन गुना हो जाना कुछ कठिन नहीं है। इच्छा और प्रयास का थोड़ा सा सहारा चाहिये, कार्य की पूर्ति बहुत ही सुलभ है।



इन्द्र और वृत्रासुर

श्री वीरेश विद्यालंकार

वेद में आये हुए आलंकारिक वर्णनों को हमारे पुराणकारों ने लौकिक उपाख्यान (ऐतिहासिक इति-वृत्त) अथवा काल्पनिक कथाओं के (Fictions) रूप में कैसे क्यों और कब परिवर्तित किया इसकी खोज करना कुछ सहल काम नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि वस्तुतः ये घटनायें घटी हैं तो इन्हें ज्यों का त्यों वर्णन करने की बजाय इन्होंने इन कथाओं को आधुनिक उपन्यास सुलभ ढंग से नमक मिर्च लगा कर क्यों इतना रोचक बनाने का यत्न किया था-यह समझ में नहीं आता। हो सकता है कि आजकल के काल्पनिक उपन्यास (Fictions) व चित्रपट के जमाने की तरह उस समय भी साहित्य-कला में इस प्रकार की लेखन पद्धति विशेष बल पूर्वक प्रचलित होगई हो जिसके वेग में बहकर इनके लेखकों ने सत्य-यथार्थ (Realistic theme) को तिलाञ्जलि देकर हमारे हाला व छाया वादी कवियों की तरह काल्पनिक जगत में अधिक से अधिक विचरण करने में ही अपने को कृत कृत्य समझा हो, और इसी कारण दृश्य सत्य के आधार को छोड़कर अपने कल्पना के घोड़ों को बेलगाम करके तीनों लोकों की स्वच्छन्द सैर कराने में ही अपने पाण्डित्य की इतिश्री समझी हो। कुछ भी क्यों न हो इतना तो सत्य है कि इन नवीन पुराणों में वैदिक

रूपकादि अलंकारों की नकल में जो ऐतिहासिक व काल्पनिक घटनाएं घड़ी गई हैं उनमें तत्कालीन साहित्य कला की प्रगति की जो दिशा रही होगी उसका सविस्तर विवरण हमें आसानी से प्राप्त होजाता है।

उदाहरणार्थ हम इन्द्र और वृत्रासुर की कथा लेते हैं। यह कथा प्रथम तो शतपथब्राह्मण में आती है। कथा का रूप एक आख्ययिका का है जिसमें मन्त्रों के शब्द पदादि को शुद्ध स्वर वर्ण के अनुसार न उच्चारण करने से क्या दोष होता है इसको बताया गया है। कथा इस प्रकार है कि वृत्रासुर के पिता की यह इच्छा थी कि उसका पुत्र इन्द्र का हनन करने वाला हो, इसी उद्देश्य को समझ करके उसने अपने पुत्र को 'इन्द्रशत्रु र्वधस्व-कहकर इन्द्र का बध करने की आज्ञा दी। परन्तु वृत्र बेवारा व्याकरण और सौवर के नियमों को क्या जाने। उसने भी पिताकी आज्ञा से 'इन्द्रशत्रु र्वधस्व' कहा, परन्तु कहने में गलती की, क्योंकि उसे अन्तोदात्त उच्चारण (अर्थात् उत्तरपदार्थप्रधानवाचीतत्पुरुष कर्मधारयसमास से निष्पन्न इन्द्रशत्रु शब्द जिसका अर्थ इन्द्र होता है) करना चाहिये था परन्तु उसने तो (अन्य पदार्थ प्रधानवाची बहुव्रीहि समास का आश्रय करके इन्द्रः शत्रुः यस्य स वृत्रः) आधु-

दत्त स्वर से उच्चारण कर दिया । इसलिये स्वयं अपनी वाणी का दोष युक्त प्रयोग करके अपने ही वध का कारण बना । वेदांग शिक्षा में इसी आख्यायिका का दृष्टान्त दिया गया है । वहां आता है ।

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतो
पराधात् ॥ ५२ ॥

पुराणों में कथा का रूप बदल जाता है । त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर का देवराज इन्द्र से युद्ध हुआ । युद्ध में वृत्र ने इन्द्र को ही निगल लिया जिससे सब देवता भयभीत होकर 'त्राहि मां त्राहि मां' करते हुए विष्णु भगवान की शरण में पहुँचे और वृत्रासुर के विनाश के लिये प्रार्थना करने लगे । विष्णु भगवान् ने कहा कि इसके मारने का उपाय यही है कि मेरे समुद्रफेन में प्रविष्ट होने पर यह मारा जायगा ।

ऐसे ही एक और कथा आती है, जो नमुचि (न मुंचति इति) असुर से सम्बन्ध रखती है । जब इन्द्र ने सब असुरों का विजय कर लिया तो नमुचि ही रण में टिका रहा ! उसने इन्द्र का पराभव करके ही विश्राम लिया । नमुचि ने इन्द्र का पराभव तो किया परन्तु उसको यह भय रहा कि इन्द्र समय पाकर पुनः मेरा पराभव करेगा क्यों कि यह इन्द्र किसी की अधीनता स्वीकार नहीं करता । अस्तु, उसने स्वयं इन्द्र से सन्धि का प्रस्ताव किया और वचन दिया कि वह इन्द्र को इस शर्त पर मुक्त करेगा कि वह (इन्द्र) उसे (नमुचिको) न तो दिन न रात में, न जल न स्थल में, कहीं भी उसका हनन न करेगा । इन्द्र ने प्रतिज्ञा की कि वह इस शर्त को स्वीकार करेगा-और समय पाकर उसने उषा व सन्ध्या काल में (जब न दिन न रात होती है) समुद्रीय फेन से (जो न द्रव और न शुष्क होता है) नमुचि का शिर काट डाला ।

इन से मिलती जुलती कथाओं में भी अश्विनौ अश्विनी कुमार तथा सरस्वती देवी द्वारा वृत्रासुर दल के वधार्थ इन्द्र को वज्र व कुलिश का दिया जाना वर्णित है । ऋग्वेद में प्रथम 'इन्द्रस्य तु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्रो । अहन्नहिम्...' आदि मन्त्र में तथा 'त्वष्टास्मे वज्रं स्वर्ग्यं ततत्त' मन्त्र पद में भी इन्द्र के अमोघ वज्र का स्पष्ट वर्णन हुआ है । इसके अतिरिक्त असुर लोग इन्द्र की यज्ञ यागादि में प्राप्त सोमरस के पान द्वारा उत्पन्न शक्ति का पान कर इन्द्र को निस्तेज बनाये रखने का कुचक्र रचते थे, इसीलिये मरुत आदि देवता मघवा इन्द्र को अपनी अनेक शक्तियां (कुलिश, वज्र, अशनि, इषु, जात तथा वध्रि आदि साधनभूत) प्रदान कर असुरों पर विजय के लिये यत्नवान् रहते थे ।

इस प्रकार इन ऐतिहासिक व काल्पनिक परन्तु मनोरञ्जक कथानकों के आधार व स्रोत को ढूँढ़ने का प्रयत्न किया जाए तो निम्नन्द्हे गवेषक की दृष्टि वैदिकी अलंकारों द्वारा वर्णन करने की शैली की ओर सहसा खिंच जाती है । वह जिन देव-दानव-मानवों के संघट्ट में पुराणों द्वारा निर्मित चित्रपट का अवलोकन करता है उसी के आभ्यन्तर चित्रपटों में वैदिक अलंकारों की काव्यमय परिभाषा में प्राकृतिक व भौतिक पदार्थ-विद्या के सुन्दर और भव्य-नियमों के ताने बाने को सुचारु रूप से संचालित होता हुआ पाता है । वह (Natural sciences) आधिभौतिक व आधिदैविक विज्ञान के संग्रहालय में प्रवेश करता हुआ वेद के रूपकालङ्कारादि रूपी दिव्य नेत्रों से प्रकृत व सृष्टिक्रम के गुह्यतम रहस्यों को शनैः २ देखने और विज्ञात करने का आदि होता जाता है । व्यष्टि, समष्टि एकत्व, अनेकत्व तथा

विश्व में निरन्तर प्रार्तमान देशसुर संप्राम के नाना काण्डों-पर्वों तथा परिच्छेदों की उलझनों को सुत-भाने की योग्यता प्राप्त करके कृत-कृत्य हो जाता है प्राकृतिक घटनाओं के संघर्ष, जिनमें विजय-पराजय की कथा, अथवा ऐसे संघर्ष में एक तीसरी परिवर्तनकारी अद्भुत घटना का उपस्थित हो जाना और उनमें सम्मेलन तथा समता स्थापित करने में साधनभूत कारण बनना, देखने वाले के लिये क्या कुछ कम आश्चर्यकारी है। ऋतुचक्र का निरन्तर समय पर सञ्चालन; घाम ताप से तपी धरती जब शुष्कता तथा उष्णता से पीड़ित प्राण विहीन हुई २ अनन्त प्यास से तड़प रही होती है, उस समय इस असह्य अवस्था में परिवर्तन लाना, इस घर्म जाल में फँसे हुए कृमि-कीट पतंग, तरु मानवादि समस्त प्राणि-जगत को जीवनाश्वासन देना किस प्राणदा और जीवनदा शक्ति का काम हो सकता है। धन्य है उस विजयशील वज्रबाहु मघवा इन्द्र का जो इस घर्मजाल से मायारूप में परिवर्तित हुई २, सम्पूर्ण विश्व को अपने विस्तार से व्याप्त करके गाढ़ अन्धकार में संमग्न करती हुई, अत्यन्त बलवती घनघटा रूपी वृत्रासुर की सेना जो अपने घनघोर गर्जन से तथा तड़तड़ाती और चमचमाती हुई विजलियों के प्रहार से इस दीन हीन संसार को संतस्त कर रही होती है, ऐसी हालत में उर ऐश्वर्यशाली मघवा इन्द्र का धन्यवाद है, जो विश्व को इस विकट संकटमयी अवस्था से बचाता है। यही इन्द्र अपने दिव्य कर्मों से यज्ञ में देव मानव द्वारा सोमरस प्राप्त करता है, क्योंकि यही विजयशील इन्द्र है जो कि समस्त वृत्रासुर की सेना का नियमन कर के उन्हें अपने विद्युन्मय वज्र किरण रूप तेज से अङ्ग २ और कण २ छेदन भेदन करके जगत् में जल वर्षण-सिंचन

तथा प्रवाह रूप बनाकर स्निग्धता, आर्द्रता, ओषधि वनस्पति में बीजाङ्कुरत्व व पत्र-पुष्प फल-मूलादि भाव तथा कूड़ा कर्कट तथा मज्जादि को प्रवाहित कर अपने बड़े घर समुद्र में भेजना रूप सेवा के लोकोपकारक कर्म नियमों में नियोजित करता है।

इन्द्र की आज्ञानुवर्ती होकर नदी पूर में वेग से बहती हुई उस जलधरा का ध्यान करें जिसे मानो निरन्तर दौड़ने की आज्ञा हो तथा कहीं रुकने की मनाही न हो, जो अपने बड़े घर समुद्र में पहुँच कर भी जलप्लावन तथा तूफान रूपी उत्पात मचाने पर तुली हो, उसे तीव्र तोप से बाष्पीभूत कर के मरुद्वायु द्वारा आकाश मण्डल में पहुँचा फिर कण २ हनन कर के भूमि में सुला देना उस इन्द्र का ही कर्म है।

वेद में नाना अलङ्कारों द्वारा अध्यात्म व भौतिक विज्ञानों के नियमों का जिस खूबी से वर्णन है वह स्वयं इतना पूर्ण है कि उस पर कुछ अधिक कहना सूर्य को दीप दर्शाने के समान है। परन्तु ऋग्वेद के अनेक सुन्दर सूक्तों में उपरोक्त विज्ञान नियमों के प्रकाशक मन्त्रों के होते हुये भी आश्चर्य तो इस बात का है कि बहुत से यूरोपियन विद्वानों को यह भ्रम हुआ कि वेद तो प्राचीन आर्यों के ग्राम्य गीत हैं। शायद संस्कृत व वेद मन्त्रों के ठीक अर्थ समझने की योग्यता न रखने के कारण ही उन्होंने यह कल्पना की हो कि सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र, घनघटा व विद्युत् आदि प्राकृतिक दृश्य घटनाओं को देखकर जब खुशी से उन्माद की अवस्था को प्राप्त होकर आर्य लोग अपना हृदयोद्गार निकालते थे तब वही गीत संग्रह होकर वेद रूप में आये।

इस कल्पना की निस्सारता न केवल अनेक यूरोपीय विद्वानों ने ही सिद्ध की है परन्तु कल्पना

के आविष्कर्ताओं ने स्वयं अपने वेद विषयक लेख व व्याख्यान द्वारा इसकी निर्मूलतः प्रसिद्ध की है।

पुराणकारों ने जिस प्रकार अपने समय की बलवती साहित्य-कला धारा के पीछे आँख मूँद कर वेद से इतिहास निकालने व उसमें इतिहास प्रविष्ट कराने का सन्तत प्रयत्न किया और वह अपने प्रयत्न में विफल हुए इसी प्रकार इन यूरोपियन भौतिक विज्ञानवादियों का हालत हुई कि उनका कहना बाल-प्रलाम मात्र सिद्ध हुआ। परन्तु हमें इतने से सन्तोष न कर लेना चाहिये और उचित तो यह है कि इन दोनों पक्षों के युक्ति जाल रूप अन्धकारावरण का आर्य्य विद्वान् तर्क प्रमाणानुकूल खण्डन करने में यत्नशील हों जिससे वेद विषयक अनेक संशय लोगों के दिलों से दूर होकर वेदार्थ का सत्य प्रकाश हो।

उपरोक्त गाथा का स्रोत जो ऋग्वेद म० १। सूक्त ३२ के मन्त्रों में मिलता है इस बात की अन्तःसाक्षी है कि वेद में आलंकारिक तौर पर सृष्टिक्रम में हो रही स्वाभाविक घटनाओं का किस कलामय ढंग से वर्णन किया जाता है। इस सूक्त में तो वृत्रासुर तथा इन्द्र का संग्राम मानो 'देव-विजय नाटक' के रूप में रक्खा गया हो और दर्शाया गया हो कि इन्द्र की शक्ति पृथ्वीस्थानी अपने से अवर परन्तु प्रगल्भ तथा उद्धत हुई २ शक्ति का किस प्रकार नियमन करने में सफल होती है। उदाहरणार्थ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका से दो मन्त्र दिये जाते हैं जिनसे उपरोक्त स्थापना की पूर्ति होती है।

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन ।

स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उप-
पृक् पृथिव्याः ॥ म० ५॥

(इन्द्रः) सूर्य (वज्रेण) वज्रः, प्रकाशः प्राणो-
वास्यास्तीति, वीर्यं वै वज्रः ॥ श० का० ७ अ० ४।
अपने विद्युत् रूप किरण से (महता वधेन) बड़े तीक्ष्ण
प्रहार से (वृत्रम्) मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर
इत्यैतिहासिकाः । यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वं । निरुक्त
अ० २ । खं० १६।७७, वृत्रो हवा इदं सर्ववृत्वा शिश्ये
तस्माद्वृत्रो नाम । शत० का० १ अ० १, ब्रा० ३, मेघ
को (वृत्रतरम्) अत्यन्त वर्धमान, बलवान् (व्यंसं)
काट दिया है कंधा जिसका अर्थात् छेदन कर दिया
है घन जाल जिसका ऐसा (अहन्) मारता है और
वह (अहिः) मेघ (अहिरिति मेघ नामसु पठितं)
निघं० अ० १। खं० १० । (कुलिशेन) वज्र द्वारा
(विवृक्णा स्कन्धांसीव) कटे हुए कन्धे अर्थात् अंग
वाले के समान (पृथिव्या उपपृक्) पृथिवी के
ऊपर (अशयत्) सो जाता है (छन्दसि लुङ् लङ्
लिटः) इससे सामान्य काल में लङ् । जिसके बल
से वृत्रासुर रूप मेघ का विशाल शरीर कट २ कर
भूमि पर गिरकर सो जाता है उसके पराक्रम का
मन्त्र में वर्णन हुआ है।

परन्तु वृत्रासुर की मेना भूमि पर हमेशा के लिये
सो गई हो ऐसा नहीं, क्यों कि समय पाकर वह फिर
उठ खड़ी होती है और अन्तरिक्ष स्थानी इन्द्रासन
के लिये पुनः २ चेष्टा करती है । इस कारण इन्द्र
इनका हनन करके ही अपने इन्द्रत्व की रक्षा करता है

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यं मिहमकिर
द्भ्रादुनिच । इन्द्रश्च यद्युधुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो
मघवा विजिग्ये ॥ म० १३ ॥

(नास्मै विद्युत्) नवृत्र द्वारा माया रूप से प्रयुक्त
की हुई विद्युत् (न तन्यतुः) ने तड़ २ शब्द द्वारा
कम्पाने वाली विजली (नयामहि मकिरद्भ्रादुनिच)
और नहीं मेघ द्वारा प्रयुक्त तोपके समान गंभीर

गर्जना से भयभीत करने वाली भीषण विजली (न सिषेध) इस इन्द्र का निरोध करने में समर्थ नहीं होती। (उत)वितर्क में(अहिश्च इन्द्रश्च यद् युयुधाते) जो मेघ और सूर्य परस्पर विजय के लिये लड़ते हैं (वृत्र के बढ़ने पर इन्द्र का तेज आवृत अर्थात् मन्द पड़ जाता है और जब सूर्य की ताप प्रकाश रूप किरण सेना बढ़ती है तब मेघ का घटाटोप फटकर विदीर्ण होजाता है) तो इन सब (अपरीभ्यो) विद्युतों से (मघवा विजिग्ये) पूजनीय इन्द्र का विजय होता है। घोर और भीषण बलों का प्रयोग करता हुआ भी वृत्रासुर अंत में विजय शील इन्द्र के सन्मुख परास्त होता है, यह भौतिक विज्ञान के दृश्य मान प्राकृतिक विषय का अलंकार युक्त वर्णन है। इसी प्रकार वेद

में उन उपाख्यानों का मूल भी देखा जा सकता है जो पुराणादि ग्रंथों में ऐतिहासिक व कल्पनामूलक मनोरञ्जन के लिये लिखे गये हैं ॥

अग्ने ?

ओं सनः पितेव सूनवे ऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥

हे प्रकाश ज्ञानमय

जगत् पिता प्रभो !

पिता समान पुत्र को हे देव । बाल बुद्धि हम
कल्याण दान देकर, आये शरणमें आपकी
सुभूरिप्रेम भेंट से, सद्धर्म कर्म के लिये
हमें सदा उबारो । प्राण नाथ प्रेरो ॥
‘द्विरेफ’

आनन्द साम्राज्य

(लेखक—धर्मदेव विद्या वाचस्पति बङ्गलौर)

आनन्दमयि माता का मैं हूँ, ध्यान कर रहा। उस की कृपा से मन में दिव्या-नन्द भर रहा ॥
आनन्द वह जिस में न होता, क्लेश लेश है। जिस में दिखाई दे सदा, ज्योतिर्विशेष है ॥
आनन्द की विशुद्ध गङ्गा की मैं मीन हूँ। माँ के ही ध्यान में सदा, दिन रात लीन हूँ ॥
तूफान आंधियां नहीं, मुझ को हिला सकें। भय शोक चिन्ता है न जो, मुझ को रुला सके ॥
आनन्दमयि माता ने मुझे, गोद में लिया। भय आधि चिन्ता शोक को, है उस ने हर लिया ॥
आनन्द के साम्राज्य में, मैं हूँ विचर रहा। आनन्द नद में हूँ सदा, कल्लोल कर रहा ॥
कामादि शत्रुगण न मेरे, पास आ सके। माँ की न गोद से मुझे, कोई हटा सके ॥
मैं लाड़ला हूँ पुत्र अब, माता का बन गया। आनन्दमयि माता को दे, तन मन व धन दिया ॥
उसकी जिधर मर्जी मुझे, अब वह चला रही। आनन्द का अमृत मुझे, निशिदिन पिला रही ॥
आनन्दमयि माता की मैं नित, गोद में रहूँ। उसके लिये आपत्तियां, आनन्द से सहूँ ॥
बस और कोई कामना, मेरे मन में अब नहीं। माँ की मधुर गोदी मिले, दिन रात हर वहीं ॥



गुरुकुल के ब्राह्मचारियों को श्री आचार्य देवशर्मा जी का उपदेश

सब से प्रथम मैं ब्राह्मण वर्ण को लेता हूँ चूँकि आशा की जाती है कि गुरुकुल से ब्राह्मण अधिक मात्रा में निकलेंगे। किसी भी अन्य संस्था की अपेक्षा यहां से ब्राह्मण अधिक निकलेंगे इतनी आशा रखना तो सर्वथा स्वाभाविक भी है। मैं तो गुरुकुल संस्था को ब्राह्मण-संस्था देखना चाहता हूँ, और ऐसा ही मानकर व्यवहार करता हूँ। यह गुरुकुल ब्राह्मणों के जन्म का मुख्य स्थान हो यह तो समझता ही हूँ। लोग गुरुकुल से जैसे स्नातकों की आशा करते हैं और जिस आशा से गुरुकुल को तन मन धन से पोषित करते हैं वह तो ब्राह्मणों के निकलने से ही पूरी हो सकती है।

तुममें से जिन्होंने ब्राह्मण का संकल्प किया है उन्हें आज का मेरा कथन विशेष ध्यान से सुनना ही चाहिये, परन्तु जिन्होंने वैसा संकल्प नहीं किया उनके लिये भी इस उच्चवर्ण का माहात्म्य अच्छी तरह जान लेना बहुत लाभकर होगा, क्योंकि क्रमशः सब को उसी तरफ जाना है।

वेद में कहा है कि ब्राह्मण ही इस पृथ्वी का असली राजा है। वस्तुतः ब्राह्मण इस संसार को चलाते हैं। मैं बता चुका हूँ कि संसार में सदा सत्य की रक्षा करते हुए ज्ञान द्वारा नये सत्य के मार्ग पर

संसार को ले चलने वाले ब्राह्मण होते हैं। 'आइडियाज़ रूल दि वर्ल्ड' का अर्थ यही है कि संसार पर असल में ज्ञानशक्ति, ब्रह्मशक्ति ही शासन करती है। क्षत्रशक्ति समझती है कि मैं बड़े बड़े वीरता के कार्य करके उथल पुथल कर रही हूँ। या धन शक्ति समझती है कि मैं संसार में बड़े परिवर्तन ला रही हूँ परन्तु असल में इन दोनों को पीछे से गति देने वाली एक ज्ञान-शक्ति है। जो लोग उस ज्ञानशक्ति से अपनी एकता करते हैं वे ब्राह्मण होते हैं। ब्राह्मण मनुष्य समाज रूपी शरीर के मस्तिष्क (बुद्धि) होते हैं,

सत्त्व गुणामय होने से ऊपर ठहरने वाले और ऊपर से ज्ञान प्रकाश का प्रभाव उत्पन्न करने वाले होते हैं। क्या तुम में से कोई है जो उस जगह अपना स्थान देखते हैं? तो उनमें जो स्वाभाविक गुण होने चाहिये उन्हें गीता के शब्दों में सुनो—

शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।

यदि तुम दुनिया में ब्राह्मण का भोग पूरा करने आये हो तो तुम्हारे अन्दर ये शम, दम, आदि गुण स्वभावतः होंगे। ये ब्राह्मणत्व की पक्की पहचान हैं। यदि तुम में शम है, मानसिक शान्ति है, यदि तुम्हारा मन इतना चलायमान नहीं है कि वह विशेष यत्न

करने पर भी न रुके, तुम्हारे मन की वृत्ति प्रशान्त वाही हैं; और यदि तुम में दम है अर्थात् इन्द्रियनिग्रह, इन्द्रियदमन करना तुम्हारे लिये बड़ी भारी समस्या नहीं है, यद्यपि कहा है कि 'बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कषेति' तो भी यदि तुम कुछ यत्न करके इन्द्रियों पर अपना प्रभुत्व पा लेते हो तो तुम इन ब्राह्मण गुणों वाले हो। यदि तुम तपस्वी हो कष्ट सहने से नहीं घबराते हो बल्कि अपने कर्त्तव्यपालन में जो स्वाभाविक कष्ट आवें उन्हें झेलने में आनन्द पाते तो तुम्हारे पास ब्राह्मण का धन या ब्राह्मण की शक्ति (वज्र) विद्यमान है। तपः शक्ति, सत्य के लिये कष्टसहन [आजकल की भाषा में 'सत्याग्रह'] वह हथियार है जिससे ब्राह्मण सर्वत्र विजय प्राप्त करता करता है। यदि तुम में स्वभावतः अन्दर और बाहर की पवित्रता (शौच) रखने की वृत्ति रहती है तो यह ब्राह्मण वृत्ति है। ब्राह्मण किसी भी मलिनता को बर्दाश्त नहीं करता है, बाहर की नहीं किन्तु अन्दर की कभी भी नहीं। क्षमा ब्राह्मण का स्वभाव होता है, वह कभी बदले की सोच ही नहीं सकता। वह मानता ही नहीं कि उसका कभी कोई अपकार कर सकता है, अतः वह अपनी तरफ से सबको सदा क्षमा किये रहता है। क्षत्रिय क्षमा न करे यह हो सकता है पर ब्राह्मण सहनशीलता (क्षमा) छोड़ दे तो ब्राह्मणत्व से गिर जाय। और फिर आर्जव, सरलता ऐसा गुण है जो ब्राह्मण का सर्वोत्कृष्ट भूषण है। कुटिलता टेढ़ापन, असत्य ये ब्राह्मण में नहीं हो सकते। जहां ज्ञान है वहां कुटिलता टेढ़ापन, मिथ्या व्यवहार टिक नहीं सकते। अतः सरलता सच्चे ज्ञान के पात्र ब्राह्मण की पक्की पहिचान है। और अन्त में ज्ञान और विज्ञान ब्राह्मण के मुख्य

लक्षण हैं। ज्ञान और उच्च प्रकार का ज्ञान जिसमें होता है उसमें शम दम आदि स्वयमेव होते हैं। मन की शान्ति का ज्ञान से सम्बन्ध स्पष्ट है इन्द्रिय-दमन भी जबरदस्ती करने से कभी नहीं सफल हो सकता पर ज्ञान प्रकाश होने पर आसानी से हो जाता है। तप की शक्ति भी ज्ञान-शक्ति ही है। अतः परमेश्वर के तप विषय में कहा है "यस्य ज्ञानमयं तपः"। इसी तरह अन्य सब ब्राह्मण के गुण भी ज्ञानमूलक ही हैं। पर उसके भी मूल में आत्मपरमात्मसत्ता पर निर्भर होना अर्थात् आस्तिक्य है। ब्राह्मण में आत्म-सत्ता पर विश्वास तर्क द्वारा नहीं किन्तु एक प्रकार के हार्दिक अनुभव द्वारा होता है। वह सहज स्वभाव से परमेश्वर में श्रद्धा रखता है। और फिर ब्राह्मण की सब शक्ति, सब उच्चता, सब ज्ञान भंडार उसे जगदन्तरात्मा पर इस प्रकार पूर्णतया आश्रित होने के कारण ही प्राप्त होते हैं। अस्तु। ये ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण हो गये। जैसे कि गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव !

उसी तरह जो लोग इस शम, दम आदि संपत्ति को जन्म से ही साथ लेकर पैदा होते हैं वे ब्राह्मण होते हैं अतः तुममें से जिनमें ये सहज गुण हों या आसानी से आ सकते हों वे अपने को ब्राह्मण के धर्म द्वारा सेवा करने के योग्य बनावें।

कौन ब्राह्मण है या नहीं, यह बात माता पिता तथा गुरु बालक के इन गुण-कर्म-स्वभावों द्वारा जन्म से ही देखकर जान सकते हैं इतना ही नहीं किन्तु यदि हम और आगे बढ़ें तो पायेंगे कि ब्राह्मण आदि उत्पन्न कर लेना माता-पिता पर आश्रित है अर्थात् माता-पिता के संकल्प पर आश्रित है कि वे

गर्भाधान संस्कार करते हुए किस प्रकार के आत्मा का, किन गुणों वाले आत्मा का आह्वान करते हैं। पर इतना आजकल कौन करता है? किस में इतनी शक्ति है? पर यह सत्य है कि असल में वर्णव्यवस्था का पुनरुद्धार वहाँ से शुरू होना चाहिये। संकल्प वहाँ से प्रारम्भ होवे तब तुम्हारे लिये अब संकल्प करना कुछ कठिन न रहे। अस्तु अन्त में मैं यह कहना चाहता हूँ कि अपने संकल्प की दृढ़ता के लिए तुम्हें वर्तमान काल के महान् ब्राह्मणों के चरित्र ध्यान से देखने चाहियें, उनके संपर्क में आने का यत्न करना चाहिये, बल्कि उनकी शिष्यता ग्रहण करनी चाहिये, तब तुम्हारा ब्राह्मणत्व अतिशीघ्र चमक उठेगा यह तुम देखोगे। मैं किस वर्ण का हूँ, यह जानने का भी सबसे अच्छा तरीका यह है कि मनुष्य भिन्न भिन्न प्रकार के महा पुरुषों के जीवन—चरित्र पढ़े और फिर देखे कि उसे किस का चरित्र सब से अधिक भाता है, किस जैसा बनने को उसका अन्तरात्मा उद्यतता है तो वह महा-पुरुष जिस वर्ण का माना जाता है उसी वर्ण का तुम अपने को समझ लो।

इस युग के एक महान् ब्राह्मण दयानन्द हुए हैं। उनको देखो। उन्होंने उदित हुए सूर्य की तरह देश के घोर अज्ञान को दूर किया। अपने शम, दम और तप के बल से देश में क्रान्ति पैदा कर दी, सब लोग इनके दृष्टिकोण से देखने सोचने लगे। पश्चिमीय सभ्यता के प्रबल प्रवाह को ऐसा धक्का पहुँचाया कि अवस्थायें ही बदल दीं। गांधी जी हैं जो कि सचमुच दुनिया को एक नया सन्देश देने को जन्मे हैं। इस ज़माने में उनका अहिंसा पर—न केवल वैयक्तिक अहिंसा किन्तु सामुदायिक अहिंसा पर भी, इतना अटल विश्वास होना यह एक अत्यन्त असाधारण

बात है, मानवातीत सी बात है, उनके नज़दीक साथी भी उनके इस विषयक व्यवहार से बहुत वार चकरा जाते हैं। पर उनका आस्तिक्य, उनका ज्ञान उनका तप, उनकी क्षमा उन्हें ऐसा अजेय बनाये हुए हैं कि यह हिंसाभरी दुनिया आज उस एक व्यक्ति की आसानी से अवहेलना नहीं कर सकती। एक और महान् ब्राह्मण बल्कि ऋषि, परमहंस योगी श्री अरविन्द हैं जिनकी महत्ता, शायद अभी संसार के लिये प्रकट होने को है।

यह तो बहुत बड़े ब्राह्मणों का वर्णन हुआ। पर तुम अपने स्नातक भाइयों में ही देखो। मुनि देवराज जी विद्यावाचस्पति एक ब्राह्मण हैं। नैष्ठिक-ब्रह्मचारी हैं। मानसिक शान्ति तो उनमें इतनी है कि एक स्नातक मित्र कहते थे कि मुनि जी जब चलते हैं बैठते हैं तो एक शान्ति का वातावरण सदा उनके साथ रहता प्रतीत होता है, जो दूसरों पर शान्ति का प्रभाव डालता है। उन्होंने अब तक (स्नातक हो जाने के २० वर्ष बाद तक भी) ज्ञान-संगदन करने में अपना जीवन लगाया है। उन्हें कुछ सच्चा सूक्ष्म और ऊँचा ज्ञान मिला है यह उनसे बातचीत करने पर उनके लेख पढ़ने से प्रतीत हुए बिना नहीं रहता है। उनका इन्द्रियनिग्रह, उनकी तपस्या, उनकी सरलता से हम सब अच्छी तरह परिचित हैं। श्री० पं० बुद्धदेव जी को कौन नहीं जानता? उनके अन्दर जो एक लगन है, अग्नि है, आर्यसमाज व ऋषि दयानन्द के लिये ज्ञानमयी भक्ति है उसे कौन अस्वीकार कर सकता है? सन् ३० में जब मैंने उन्हें स्नातक सत्याग्रही जलथे में शामिल होने को कहा तो उन्होंने कुछ ऐसा सा जवाब दिया (उन जैसी सुन्दर और ठीक २ भाषा तो मैं नहीं बोल सकता) कि आप जिस काम के लिये मुझे चाहते हैं वह है तो बहुत ही अच्छा किन्तु मैं क्या करूँ। मैं अपना सिर तो पहले ही दयानन्द को दे चुका हूँ, यदि मेरा दूसरा सिर होता तो उसे इसके लिये दे देता। उनकी तपस्या और

क्षमा शीलता के भी कई दृष्टान्त सुनाये जा सकते हैं। बड़े से बड़ा त्याग उनके लिये खेल है। पर सब से बड़ी विशेषता उनकी आर्जव (सरलता) सरल-हृदयता है उनका हृदय में कुटिलता ज़रा भी नहीं है। उनके विरोधी भी अपने दिल में उनकी इस लगन और इस सरलहृदयता के कायल हैं। उन की विद्वत्ता, वक्तृत्वशक्ति तथा कवित्व तो शायद बच्चा-बच्चा जानता है। फिर पं० जयदेव जी वेद भाष्यकार हैं। जिन के ब्राह्मण होने में मुझे कोई शक नहीं। उनका विद्या-व्यसन, उनका विस्तृत अध्ययन, उन का तप, सादगी तथा सरलवृत्ति उन्हें ब्राह्मण वर्णीय बनाती है। स्वामी व्रतानन्द जी हैं, जो संन्यासी भी हो चुके हैं, आनन्द ब्रह्मचारी हैं। कितने सच्चे, सरल, तपस्वी और धर्म परायण हैं। ब्रह्म-शक्ति के बल से चिचौड़ जैसी जगह में गुरुकुल चलाने का कार्य कर रहे हैं। इन कुछ प्रसिद्ध पुराने स्नातकों के अतिरिक्त मैं अन्य कई प्रचार कार्य में लगे या गुरुकुलों में लगे तथा देश-सेवा में लगे स्नातकों को भी ब्राह्मण वर्ण में गिना सकता हूँ और कुछ ऐसे हैं जिन से मैं भव्य में दृढ़ आशा रखता हूँ कि वे कुछ समय बाद अपने ब्रह्मतेज से चमकेंगे

पर अभी उन सब का नामोल्लेख करने की शायद आवश्यकता नहीं। जिस में ब्राह्मणत्व ऊँचे दर्जे का होगा और स्पष्ट होगा वह छिपेगा नहीं, उसका अनुकरण भी ब्राह्मण-वृत्ति रखने वाले लोग करेंगे, पर यह भी सत्य है कि बहुत लोग ऐसे होते हैं जो इन वर्णों में से ब्राह्मण वर्ण में ही आ सकेंगे और किसी में नहीं, किन्तु उन का यह ब्राह्मणत्व किसी न किसी वृत्ति या कमी के कारण पूरी तरह समर्थ या प्रभावशाली नहीं हो पाता है। ऐसे पुरुषों को ब्राह्मण धर्म पालन करते हुए ही अपनी उन वृत्तियों, कमियों को दूर करने का यत्न सतत जारी रखना चाहिये। अन्य वर्ण के लिये भी यही बात लगती है अस्तु। आज का मेरा विषय तुम्हें ब्राह्मण वृत्ति के स्वाभाविक गुण, धर्म, बतलाने का ही था। कुछ ब्राह्मणों के चरित्र का वर्णन भी मैंने इसी बात को स्पष्ट करने के लिये किया है। अगली बार मैं ब्रह्मण-कर्म पर बोलूँगा, और (यह बताऊँगा कि कौन कौन से कार्य, कर्म (पेशे) हैं जो कि ब्राह्मणत्व प्राप्त कर निकले स्नातकों को भविष्य जीवन में स्वीकार करने चाहिये, अर्थात् देश में कौन से कार्य स्थान और क्षेत्र हैं जो कि ब्राह्मण स्नातकों को प्रतीक्षा कर रहे हैं।

हमारा आविवेक

[श्री के ज्ञानी, मद्रास]

सर्वेंटस-आफ-इण्डिया सोसाइटी, पूर्वा के मंत्री श्री कोदण्ड राव जी अपनी विदेश-यात्रा के पश्चात् मद्रास पधारे और यहां उनके व्याख्यान भी हुए। विदेश में भारतीयों की अवस्था बतलाते हुए ट्रिनिडाड तथा ब्रिटिश गायना का उन्होंने जिक्र किया। उस सम्बन्ध में निम्न वाक्य ध्यान देने योग्य हैं:—

“गत कुछ समय से ट्रिनिडाड में भारतीय भिन्न २ पार्टियों में विभाजित हो रहे हैं। उदाहरणार्थ ब्रिटिश गायना और ट्रिनिडाड में पहिले पर्दा प्रथा न थी। कुली-स्त्रियां बिना किसी प्रापेण्डा के ही इस बीमारी से छूट गई थीं। दुर्भाग्य वश एक मौलवी भारत से वहां गया जिसने उन्हें बताया कि पर्दे के

बगैर खुले मुंह रहना मजहब की रूढ़ि से हराम है। अब इस प्रश्न पर वहां के मुसलमानों में दलबन्धियां हो गई हैं।”

“और यह दलबन्दी का कार्य केवल मौलवी ही नहीं कर रहे हैं। गत कुछ समय से आर्य समाजी और सनातनी पण्डित भी वहां पहुंचे हैं। उनका काम एक दूसरे को बुरा भला कहना तथा धार्मिक समालोचना। परिणाम यह है कि भारतीयों की संघ-शक्ति बढ़ने की जगह घट रही है।”

संभव है कि हमारे पाठकों को श्री कोदण्ड राव जी के उपरोक्त वाक्य अप्रिय प्रतीत हों। परन्तु उनमें ‘सत्य’ है इसका निषेध नहीं किया जा सकता। क्यों

हमारे आर्य-प्रचारक अनुचित समालोचना को अपना ध्येय बनाते हैं ? क्या बगैर लड़े झगड़े धर्म-प्रचार नहीं हो सकता ? क्या सनातनी रीति-रिवाजों का खण्डन अच्छे ढंग से नहीं किया जा सकता ? क्या ईसाई मत व इस्लाम की नुकतावीनी हंसी-मज़ाक के बगैर नहीं हो सकती ? हमारे इस प्रचार का फल क्या है ? जहां २ आर्य समाज के ऐसे प्रचारकों ने पैर रखे हैं वहां २ जातीय विद्वेष की अग्नि भड़क उठी है। एक ओर हमने हिन्दुओं में आपस की फूट का बीज बोया है और दूसरी ओर मुसलमानों व ईसाइयों को श्रेणीरूपेण शत्रु बनाया है। इस पारस्परिक वैर-विरोध का परिणाम यह है कि समझदार व्यक्ति मत व मजहब के नाम से ही घबड़ाने लगे हैं। वो समझते हैं कि मजहब के माने समालोचना व ईर्ष्या-द्वेष के हैं। और आर्यसमाज का तो दुर्भाग्य यह है कि इसके अपने घर में भी भयंकर फूट है। नेताओं की आपस में नहीं बनती। संस्थाएं आपस में जलती हैं। पत्रों व पत्रकारों-दोनों में दैनिक तू तू-मैं मैं है। प्रतिनिधि-सभाओं व उनके अधिकारियों ने तो समाजों को बराबर 'अखाड़े' का रूप दिया हुआ है। ऐसी अवस्था में प्रचार तो क्या ? अनाचार बढ़ रहा है। सिद्धान्तों से प्रेम छूट कर स्वार्थ-परता अधिकाधिक हो रही है। सेवा व त्याग की जगह अधिकार-क्षिप्ता र्वत्र दिखाई देती है।

इसी कारण समाज में नया खून कम आ रहा है। और जो पुराणा है वह भी बहुत कुछ विकृत हो चुका है।

और फिर इस मनोवृत्ति से विशेष लाभ भी तो नहीं हुआ। न तो सनातनियों की संख्या में कमी आई। और न विधर्मियों के मत-परिवर्तन-कार्य में कोई अन्तर हुआ। ईसाइयत व इस्लाम की जन-संख्या पूर्वापेक्षया अधिक ही बढ़ रही है कम नहीं।

दूसरी ओर हम महात्मा गांधी जी की तरफ देखते हैं। कुछ ही वर्षों पूर्व उन्होंने ने 'हरिजन' समस्या को हाथों लिया। अत्यन्त शिष्टता पूर्ण शब्दों में उन्होंने ने सर्व-सामान्य को इस विषय में समझाया। परिणाम क्या हुआ कि आज सनातनी व हरिजन दोनों ही महात्मा जी के आभारी हैं। और समस्या के सुलभने का इससे अधिक क्या प्रमाण है कि दक्षिण की कट्टरतम रियासत टाउनकोर में मन्दिरों के दरवाजे हरिजनों के लिये खुल गये हैं। और मैसूर एसम्बली में यह विषय इस वक्त पेश है। अस्तु।

किसी ने कहा है 'कठोर शब्दों से पत्थर नहीं टूटते'। हमें भी अशिष्टता पूर्ण अपनी समालोचना शैली को छोड़ प्रेम, बुद्धि व क्रियात्मक जीवन द्वारा धर्म-प्रचार के मार्ग में अग्रसर होना चाहिये॥

किमधिकम् ?

सूचना—आर्य समाज कलकत्ता के लिये पुरोहित की आवश्यकता—

आर्य समाज कलकत्ता में पुरोहित का स्थान शीघ्र रिक्त होने वाला है उस के लिये एक ऐसे सदाचारी अनुभवी विद्वान् की आवश्यकता है जो संस्कृत हिन्दी तथा अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता वैदिक सिद्धान्तों के पूर्ण पण्डित अच्छे अनुभवी वक्ता हों। शास्त्रार्थादि कर सकें, प्रचार की बड़ी लगन हो तथा दार्शनिक रुचि रखते हों। आवेदन पत्र प्रमाण सहित निम्न पते पर आगामी ता० ३०—६—३७ ई० तक आना चाहिये और यह भी लिखें कि कम से कम कितनी दक्षिणा चाहते हैं।

निवेदक—

लक्ष्मी प्रसाद मंत्री आर्य समाज

१६ कार्न वालिस स्ट्रीट कलकत्ता।

सम्पादकीय

खेद-प्रकाश—

आर्य के गत २ अगस्त के अङ्क में “मां की याचना” नामक कविता गई है। वह मेरे ज्ञान के बिना निकल गई है। उसमें जो भाव प्रकाशित किये गये हैं वे आर्य प्रतिनिधि सभा और उसके पत्र आर्य की निश्चित नीति के विरुद्ध हैं। मुझे खेद है कि वह कविता आर्य में निकल गई। भविष्य में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा जायेगा कि इस प्रकार की आर्य की नीति के विरुद्ध चीजें उसमें न छप सकें।

प्रियव्रत “सम्पादक आर्य”

साम्प्रदायिकता और धर्म —

आजकल हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिकता ने इतना उपरूप धारण किया हुआ है कि मनुष्य साम्प्रदायिक इतिकर्तव्यता को ही धर्म समझने लग गये हैं। वास्तव में धर्म का साम्प्रदायिकता से कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म, प्राणिमात्र पर दया तथा विश्वप्रेम की भांकी दिखाने वाला होता है। इसके विपरीत साम्प्रदायिकता गुटबन्दी तथा असहिष्णुता की पैदा करने वाली होती है। धर्म में प्राणिमात्र पर परोपकार के लिये अपने ऊपर कष्ट भेलने की भावना पायी जाती है। और धर्म में रहता हुआ मनुष्य अपने

ऊपर कष्ट भेल लेगा परन्तु दूसरों को कष्ट न देगा। साम्प्रदायिकता में बिल्कुल इसके विपरीत भावनायें पायी जाती हैं। साम्प्रदायिक मनुष्य अपना दुःख नहीं देख सकता। कोई उसकी पड़ताल करे यह उसे चुभता है। वह विरोधी को हर तरह से नीचा दिखाने की कोशिश करता है। इसका यह मतलब नहीं समझ लेना चाहिये कि सम्प्रदाय में रहता हुआ मनुष्य कभी भी धर्म का आचरण नहीं करता, समय समय पर उसके अन्दर भी धर्म की प्रवृत्तियाँ जाग उठती हैं। परन्तु वह भी बहुत थोड़ा देर के लिये, प्रायः उस पर सम्प्रदाय का भूत सवार रहता है। इसके लिये बहुत से हिन्दु-मुस्लिम नेताओं के उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनकी वाणी में विश्वप्रेम का स्रोत बहता हुआ दिखाई देता है परन्तु उनके कार्यों में सदा साम्प्रदायिकता की वृत्ति आती है। दूसरी चीज जो कि सम्प्रदाय में अक्सर पायी जाती है वह है आक्रमण की भावना। साम्प्रदायी मनुष्य अपने सम्प्रदाय को बढ़ाने के लिये सदा दूसरी जातियों पर आक्रमण किया करता है। इसके कुछ-कुछ उदाहरण आजकल की शुद्धि और तबलीग है बहुत कम ऐसी शुद्धियाँ हैं जो कि सच्चे धर्म की भावना से प्रेरित होकर की जाती हों। दूसरे मतों में शामिल होने वालों में बहुतों को तो यह ही नहीं पता

होता कि इन दो मतों में वास्तव में कौनसा अच्छा है। किसी लोभ या भय के कारण वे मत परिवर्तन कर रहे होते हैं। जहां स्वार्थ, लोभ, भय, या राजनीति आदि हों, वहां धर्म कैसे रह सकता है। धर्म में तो सदा आलिङ्गन की भावना पायी जाती है। धर्म में अपना पराया कोई चीज नहीं। जहां ममत्व आ गया वहां धर्म का होना असम्भव है। इसलिये यदि आज हिन्दुस्तान से सम्प्रदाय-रूपी विष, वृत्त को उखाड़ना हो तो उसकी जड़ों में स्नेह मयी जल धारा का लगातार सिंचन करना पड़ेगा। तब कहीं अगली सन्तति में हम इस साम्प्रदायिकता को जड़ से उखाड़ सकेंगे। स्कूल और कालेजों में प्रेम का पाठ पढ़ाया जाये, तथा घर २ में बच्चे के अन्दर दूसरों के प्रति प्रेम का संस्कार पैदा किया जाये तो यह साम्प्रदायिकता का विष दूर हो सकता है। हमें इस बात की बड़ी खुशी है कि मौजूदा पञ्जाब गवर्नमेंट ने दो जातियों के अन्दर वैमनस्य के कारण बढ़ती हुई खाई को भरने के लिये कमर कस ली है। हमारी यह दिली इच्छा है और पूर्ण आशा भी है कि मौजूदा गवर्नमेंट इस परिवर्तनकारी युग लाने में पूर्ण सफल होगी।

लाहौर छावनी में बूचड़खाना :-

लाहौर छावनी में फौज के लिये बूचड़खाना खोला जाने वाला है। जिस में प्रतिदिन ४ हजार गौवों की फौज देवी की तृप्ति के लिये बलि दी जायेगी। यह स्पष्ट तौर पर हिन्दू तथा सिख धर्म पर एक वज्रपात है। हिन्दु धर्म-शास्त्रों में गौ का इतना बड़ा महत्व है कि उसको माता, जननी का दर्जा मिला हुआ है। वेदादि-धर्म शास्त्रों में जगह जगह इसके गुण गाये

गये हैं। इसलिये हिन्दू धर्म को यदि गौ धर्म कहा जाये तो इस में कोई अत्युक्ति न होगी। हिन्दु गौ को इतना पवित्र समझते हैं कि उसकी रक्षा के लिये वे हर तरह की कुर्बानी करने को तय्यार हैं। इसी मर्म को जानते हुए हमारे शत्रुओं ने गौ को आगे करके ऐसे बड़े २ युद्ध जीते जिनका जीतना उनके लिए नामुमकिन था। इसी तरह समय २ पर हिन्दू जाति ने गौ के लिये और भी कई बड़ी २ कुर्बानियां की हैं। इसलिये सरकार को हिन्दू जाति की गौ के प्रति इस उच्च भावना का मान करना चाहिये। और महाराणी विक्टोरिया की आघोषणा के अनुसार ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत किसी भी जाति की धार्मिक भावनाओं पर ठेस नहीं पहुँचानी चाहिए। बूचड़खाना हिन्दू तथा सिख धर्म पर कुठाराघात है इसलिये हिन्दू तथा सिखों को परस्पर संगठित होकर इसका मुकाबिल करना चाहिये।

इसका एक दूसरा आर्थिक पहलू भी है। जिसका क्या मुसलमान, क्या हिन्दू, और क्या सिख-सब के साथ इसका सम्बन्ध है। यह देश कृषि प्रधान देश है। ऊँट, घोड़े, हाथी आदि से तो यहां खेती हो नहीं सकती। इसलिये उत्तम खेती के लिये तथा उत्तम घी, दूध के लिये इस पशु की अत्यन्त आवश्यकता है। गांवों में गरीब किसान आदियों का तो एकमात्र यही सहारा है। खेती के लिये या उत्तम घी दूध के लिये मुसलमानों को भी इसकी रक्षा की उतनी ही आवश्यकता है कि जितनी हिन्दुओं को। इसलिये प्रत्येक देश वासी को चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान हो, अथवा अन्य किसी धर्म से सम्बन्ध रखने वाला हो-परस्पर संगठित होकर और साम्प्रदायिकता के संकुचित

वातावरण से ऊपर उठ कर इस बूचड़खाने के विरोध में आवाज उठानी चाहिये। हमारी सरकार से भी प्रार्थना है कि—जहाँ उनके अपने देश में घी दूध की नदियाँ बहती हैं प्रत्येक व्यक्ति को १२ सेर के लगभग मक्खन पड़ता है, वहाँ इस देश पर भी कुछ रहस करें। और इस बूचड़खाने को बन्द करवा कर हिन्दुओं तथा सिक्खों की धार्मिक भावनाओं की रक्षा करें।

दहेज-प्रथा के विरुद्ध बिल

सिंध-असैम्बली में दहेज प्रथा के विरुद्ध एक बिल पेश होने वाला है। बिल का संक्षेप में स्वरूप यह है कि विवाह के समय दहेज लेना अथवा देना, लड़के और लड़कियों का व्यापार इसी प्रकार और भी कोई सा दहेज का स्वरूप किसी भी प्रकार से न्याय युक्त न समझा जाये। और यदि कोई अपनी इच्छा से सहायता देता है तो वह भी किसी सीमा के अन्दर होना चाहिये। इस प्रकार दहेज-प्रथा के विरुद्ध सिंध-असैम्बली में हिन्दू मैम्बर ने जो पग उठाने का निश्चय किया है वह सराहनीय है। दहेज प्रथा अन्य कुरीतियों के समान हिन्दू जाति पर एक कलङ्क है। इसको धो डालना प्रत्येक गवर्नमेंट का कर्तव्य है।

फ्रांसीसी-भारत में—

फ्रांसीसी भारत में बाल-विवाह रोकने के लिये फ्रांसीसी सरकार ने जो नियम लागू किया है वह अत्यन्त श्लाघनीय है। वहाँ १६ वर्ष से कम आयु वाले लड़के १४ वर्ष से कम आयु वाली लड़की का विवाह न हो सकेगा। वैसे तो यह अवधि भी इतनी समुन्नत नहीं जितनी कि हिन्दुस्तान के सुधार के लिये आवश्यक है, परन्तु तो भी फ्रांसीसी सरकार ने यह एक उत्तम कार्य कर हिन्दुस्तान का बहुत उपकार किया है हमारी प्रार्थना है कि वह और भी सुधार के कार्य कर हिन्दुस्तान को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये योग्य बनावेगी।

शराब पर पाबन्दी:—

कांग्रेसी-सरकारों ने जब से शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया है तब से सामाजिक व आर्थिक आदि अवस्थाओं को सुधारने के लिये हमेशा प्रयत्नशील रही हैं। वे जनता की प्रतिनिधि हैं इस लिए उनसे सामाजिक सुधारों की आशा करना स्वाभाविक भी था। बोम्बे, मद्रास आदि की कांग्रेसी सरकारों ने मद्य पर पाबन्दी लगाकर एक अति सराहनीय कार्य किया है। शराब मनुष्य जाति को अन्दर से खोखला करने वाली है जिस जाति में मद्य आदि का प्रचार हो वह जाति कभी तरक्की कर ही नहीं सकती इसलिये इन सरकारों ने जो प्रशंसनीय कार्य किया है हमें आशा है कि अन्य सरकारें भी इस ओर सराहनीय पग उठाएंगी। और चूंकि मुस्लिम धर्म में मद्य का निषेध किया गया है इसलिये मुस्लिम जनता के प्रतिनिधि भी अपने २ प्रान्तों में इसे रोकने का भरसक प्रयत्न करेंगे।

जम्मू की हड़ताल :—

अखबार पढ़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति इस बात को भली भाँति जानता है कि जम्मू हड़ताल कितना भयंकर रूप धारण कर चुकी है। जेलों में देवियों की भूख हड़ताल से एक नाजुक स्थिति पैदा हो गई है। इस प्रकार न जाने यह हड़ताल कब तक जारी रहे। हमारी महाराज से प्रार्थना है कि वे हिन्दुओं और सिक्खों की उचित मांगों पर अवश्य ध्यान दें। और हमारी हिन्दुओं तथा सिक्खों को बधाई है कि उन्होंने शान्त वातावरण रखते हुए गौ माता की रक्षा में एक ऐसा उत्कृष्ट संगठन बनाया जो कि सब हिन्दुओं तथा सिक्खों के लिये अनुरूपी है।

तिसृभिः” पारस्कर, का० २ क० २ सू० १४
 “आपोहिष्ठेति च प्रत्यृचम्” पारस्कर काण्ड
 २ कण्डिका ५ सू० १३ । प्रजापते च प्रजा वै
 राजसूये राजानं जनयन्ति । ताश्च तत्राप
 इत्युच्यन्ते । तथा च यजुर्वेदे “अपो देवा मधु-
 मतीरगृभ्णन् ऊर्जस्वती राजस्वश्चित्तानाः”
 (यजु १०।१) अत्रास्तं राजस्व इति विशेषणं
 स्वयमेवात्मनो हृद्गतं प्रकाशयति ।

व्या० प्र०—अरम् । अलभूषणो निवारणो अमु ।
 “बालमूललध्वलमङ्गुलीनां वा लो रत्वमापद्यत
 इति वक्तव्यम्” (उ० वा० १।२६) इति लत्व-
 विकल्पः । गमाम । गम्लृगतौ, लोट् आडुत्तमस्य
 पिच्च (पा० ३।४।६२) इति आडागमः । बहुलं
 छन्दसि । (पा० २।४।७३) इति शपो लुक् । यद्वा ।
 “छन्दसि लुङ् लङ् लिटः । पा ३।४।६ इति
 लोटर्थे लुङ् । लृदित्वात् च्लेरडादेशः । बहुलं
 छन्दस्यमाङ् योगेऽपि । पा० ६।४।७५ । इति
 अडभावः । वः । बहुवचनस्य वस्नसौ । पा०
 ८।१।२१ इति द्वितीयान्तस्य युष्मदो वसादेशः ।
 क्षयाय । क्षि निवासगत्योः । एरच् । पा० ३।३
 ५६ इति भावे अच् । जिन्वथ । जिवि प्रीणने

इदित्वात् नुम् । जनयथ । जनी प्रादुर्भावे ।
 अस्मात् हेतुमति च । पा० ३।१।२६ इति णिच् ।
 जनीजृष्णसुरञ्जोमन्ताश्च । इति मित् संज्ञक-
 त्वात् । मिता ह्रस्वः । पा० ६।४।६२ इति उपधा
 ह्रस्वत्वम् ॥३॥

इत्थं तासां रसवत्वमन्नादिजनकत्वञ्चानु-
 कीर्त्य भैषज्यकर्मणोपसंहरति ।

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणी-
 नाम् । अपो याचामि भेषजम् ॥४॥

ईशानाः । वार्याणाम् । क्षयन्तीः ।
 चर्षणीनाम् । अपः । याचामि । भेषजम्
 ॥४॥

अ०—वार्याणामीशानाश्चर्षणीनां क्षयन्तीः
 अपो भेषजं याचामि ॥४॥

वार्याणां वरणीयानां सेवादिगुणानामी-
 शानाः शिशूनामातुराणाञ्च परिचरणकाले
 रात्रिजागरणादिसमर्थाः । अत एव चर्षणीनां
 सेनानां क्षयन्तीर्निवासप्रदाः संप्रामादौ क्षतानां
 शरण्या इत्यर्थः । यद्यपि चर्षणिशब्दो मनुष्य-

योग किया है, उपनयन ही द्विजों का जन्म है ।
 गृहस्थाश्रम प्रवेश भी एक प्रकार का जन्म
 होता है । वहाँ भी इन मन्त्रों का विनियोग
 होता है । उधर प्रजायें जहाँ राजा का ढर
 आदि द्वारा तर्पण करती हैं वहाँ वे उसे राजा
 रूप में पैदा भी करती हैं ॥ ३ ॥

अब अगले मन्त्र में उनके रोगनिवारकत्व
 गुण का वर्णन करते हैं—

हे स्त्रियो तुम (वार्याणां) वरणीय सेवादि
 गुणों की (ईशानाः) स्वामिनी हो (चर्ष-
 णीनाम्) सैनिकों की (क्षयन्तीः) निवास
 देने वाली हो अर्थात् युद्धादिके समय घायल
 सैनिकों की सेवा शुश्रूषा द्वारा उनकी शरण
 देने वाली बनती हो, (अपः) ऐसी हे स्त्रियो
 तुम से (भेषजम्) औषध (याचामि)
 मांगता हूँ ।

वाची निघण्टुषु पठ्यते तथापि चर्षणिसहमित्यादीन्द्रविशेषणदर्शनात् (ऋ० १।११६।१०) मनुष्यविशेषसमुदाये सैन्यादौ तत्प्रयोग इति विज्ञेयम् । व्युत्पत्त्यर्थस्तु सेनापतिना व्यूहकाले दृश्यमानत्वात्तदभिमुखदर्शनाद्वा सङ्गच्छते तथा चायं शब्दः संग्रामशास्त्रे पाश्चात्त्यैः (Rank) रैंक्केतिष्यार्येणोच्यते । तादृग् गुण युक्तः अपो योषितो ऽहं भेषजं याचामि । ता एव व्याधि पीडितपरिचारे निसर्गसिद्धकौशला इत्यर्थः । अपां पक्षे त्वपां विश्वभेषजत्वमनुपदमेवाग्निमे सूक्ते वक्ष्यते तस्येयमवतरणिका । प्रजानाञ्च राजदुःखनिवारणे शक्तिः स्फुटैव ।

व्या० प्र०—ईशानाः । ईश ऐश्वर्ये-शानच् । वार्याणाम् । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३।१।१२४ ।

स्त्रियों से औषध माँगने का यह भाव है कि रोगी की सेवा करने में स्त्रियों को स्वभाव से ही विशेष कौशल होता है ।

चर्षणी का अर्थ वेद में मनुष्य होता है । परन्तु वेद में युद्ध प्रकरणों में इन्द्र को “चर्षणीसहम्” कहा है, जिसका भाव सैनिकों का पराभव करने वाला ही होसकता है । इस लिये औषध के साहचर्य से हमने यहां चर्षणि का अर्थ सैनिक कर दिया है ।

जल अर्थ में “वार्य” का अर्थ शीतलत्व आदि वरणीय गुण करना होगा । चर्षणी का अर्थ सामान्य मनुष्य करना होगा । जलों में औषध होता है इसका वर्णन ऊपर हो चुका है अगले सूक्त में भी होगा । प्रजा अर्थ में “भेषज” का अर्थ राज्य के उपद्रवों की शान्ति होगा ॥ ४ ॥

इति पञ्चमं सूक्तम् ॥

वृङ् संभक्तौ-एयत् । जयन्तीः । क्षि निवासे, ऐश्वर्ये च । लटः शतृ प्रत्ययः । उगितश्च । पा० ४।१।६। इति डीप् । चर्षणीनाम् । कृपेरादेश्चः । उ० २।१०४। इति कृष कर्षणे-अनि, चादेशः । चर्षण्यः मनुष्याः (निघ० २।३) ॥४॥

इति पञ्चमं सूक्तम्

अथ षष्ठं सूक्तम्

चतुर्ऋचं सूक्तम् । आपो देवता । सिन्धु-द्वीपः ऋषिः । १-३ गायत्री । ४ पथ्यापङ्क्तिः । अथेदानीन्ता आपः स प्रजापतिरित्यादिभिः स्तूयमानाः परमा आप उपक्षिप्यन्ते । अनुवाकस्योपसंहरणे तद्वर्णनं विना श्रौतवाचो भक्तिपरायणत्वव्याघातात् तत्सादृश्यञ्चान्या-

अथ षष्ठं सूक्तम्

सूक्त में ४ ऋचायें हैं । ऋषि—सिन्धुद्वीप । देवता—आपः । छन्द—१-३ गायत्री, ४ पथ्यापङ्क्तिः ।

उपर्युक्त दो सूक्तों में विस्तार से जल (आपः) की रोगनिवारकत्वशक्ति के वर्णन के अनन्तर इस सूक्त में “ताः आपः स प्रजापतिः” (यजुः ३१।१) इन शब्दों से गोयमान परब्रह्मरूपी सर्वोत्कृष्ट जल (आपः) का उपक्षेप किया जाता है । क्योंकि अनुवाक के उपसंहार में यदि उन का वर्णन न किया जाये तो श्रुति में परमात्मा की भक्ति-परायणता के व्याघात का दोष आता है और दूसरे यहां पर परब्रह्मरूपी आपः के वर्णन करने का तात्पर्य यह

स्वप्सु समुत्पादनीयमिति सम्बन्धः । तथा च सु वर्षन्तु ।
स्तुतिः :—

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु
पीतये । शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥१॥

शम् । नः । देवीः । अभिष्टये ।
आपः । भवन्तु । पीतये । शम् । योः ।
अभि । स्रवन्तु । नः ॥१॥

अन्व—देवीरापो नोऽभिष्टये शं भवन्तु ।
पीतये [शं भवन्तु] शंयोर्नः अभिस्रवन्तु ॥१॥

ता हि “तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स
प्रजापति” (यजु० ३१।१) रित्यादिवचनैरुप-
श्लोक्यमानाः परब्रह्मरूपा देव्यो दिव्यगुणयुक्ता
आपो नः अभिष्टयेऽभियजनायाभीष्टसिद्धये
वा शं भवन्तु । परमरसलुब्धैरन्तः सरसि केना-
प्यनिर्वचनीयेन करणेन निपीयमाना नः पीतये
च भवन्तु । यद्वा ब्रह्मरूपा आपोऽभिष्टये
याश्चेमाः स्थूलरूपा आपस्ता नः पीतये भवन्तु ।
ता उभयविधा अप्यापो नः शंयोः शंयुं सुखो-
त्पत्तिं दुःखनिवारणरूपञ्च रसमभिस्रवन्त्वस्मा-

है कि हमें परब्रह्म की सुखोत्पादन तथा दुःख-
निवारणरूपशांति इन स्थूल जलों में भी पैदा
करनी चाहिये । अब मन्त्र का अर्थ इस प्रकार
है:—

(देवीः) दिव्यगुणयुक्त (आपः) पर-
ब्रह्मरूप जल (नः) हमारे (अभिष्टये) अभि-
यजन अथवा अभीष्टसिद्धि के लिये (शं)
कल्याणकारक (भवन्तु) हों । और परमरस
के पिपासु महात्मागण अन्तःकरण में जिस

व्या० प्र०—देवीः । वा छन्दसि । पा० ६।
१।१०६ । इति जसि पूर्वसवर्णादीर्घः । अभिष्टये
अभि—इष वाञ्छायाम्-क्तिन् । शकन्ध्वादिषु
पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६।१।१८४ । इति
पररूपम् । पीतये । घुमास्थागापाजहातिसां
हलि । पा० ६।४।६६ इति पा पाने-क्तिनि प्रत्यये
ईत्वम् । यद्वा । पा रक्षणे, ओप्यायी, प्यैड
वृद्धौ वा-क्तिन्, क्तिच् वा । शंयोः । शम् रोगशम-
नाय । योः । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३।
२।७५ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः विच्, सका-
रश्छान्दसः । यद्वा । यु-डोस् । शमनं च रोगाणां
यावनञ्च भयानाम्, इति निरु० ४।२१ । अभि-
स्रवन्तु । अभि+सु स्रवणे ॥१॥

यथा हि परब्रह्मयोगाभ्यासादिविधिना समा-
राध्यमानं विविधांशफलपरम्परं प्रसूते तथैव
तद्विदा वैद्येन चिकित्सितकर्मणि-नियुज्यमाना
आपोऽपीतरभैषज्यस्वातन्त्र्येण निखिलरोगनि-
वारणे समर्थास्तन्मार्गस्तु मूत्रपुरीषद्वारेणेति ।
यदान्त्रेषु यद्गवीन्योरित्यादिना तृतीयसूक्ते प्रागु-

रस को पान करते हैं, वह हमारे (पीतये)
पान के लिये हो । अथवा यह भी अर्थ हो
सकता है कि परब्रह्मरूप जल हमारी अभीष्ट
सिद्धि के लिये हों, और ये भौतिक स्थूल जल
हमारे पान के लिये हों । ये दोनों प्रकार के
भी जल (नः) हमारे ऊपर (शंयोः) सुखोत्पत्ति
तथा दुःखनिवारणरूप रस को (अभिस्रवन्तु)
बरसावे ॥ १ ॥

जिस प्रकार योगाभ्यासादिविधि से

क्तम् । प्रस्वेदनादि च तत्कर्मसाध्यमित्यस्मिन्ने-
व मन्त्रेऽग्निञ्च विश्वशम्भुवमिति वाक्येन
वक्ष्यते । तदित्थं वने वसद्भिरप्यनायासेन लभ्या-
नामपां निखिलरोगभेषजत्वरूपं जलचिकित्सि-
तशास्त्रस्य बीजम्प्रादुर्भावयति श्रौतवाणी ।

अप्सु मे सोमो अत्रवीदन्तर्विश्वानि
भेषजा । अग्निं च विश्वशम्भुवम् ॥२॥

अप्-सु । मे । सोमः । अत्रवीत् । अन्तः ।
विश्वानि । भेषजा । अग्निम् । च । विश्व-
शम्भुवम् ॥२॥

अ०:—सोमो मे अप्सुरन्तर्विश्वानि भेषजा
अत्रवीत् । अग्निञ्च विश्व-शम्भुवम् [अत्रवीत्] ॥२॥
सोमो नानौषधानामभिष्वक्कर्मणि चतुरः

प्राणाचार्यो मामेवं रहस्यद्वयमाह । प्रथमन्ता-
वदप्सु विश्वानि भेषजानि तिष्ठन्तीत्यब्रवीत् ।
अपि चाप्सु तेजःप्रवेशनेन प्रस्वेदनादिकर्म-
कुशलमग्निमपि विश्वस्य शमः कल्याणस्य
भुवं जनयितारं साम्प्रत्यब्रवीत् । उभाभ्यामेता-
भ्यामग्नीषोमाभ्यां सकलं व्याधिनातं शक्यं वार-
यितुमिति भावः ।

व्या० प्र०:—सोमः । अतिस्तुसुहु० । उ०
१।१४० इति पु प्रसवैश्वर्ययोः—मन् । अत्रवीत् ।
ब्रून् व्यक्तार्यां वाचि-लङ् । भेषजा । शेषञ्छन्दसि
बहुलम् । पा० ६ । १ । ७० । इति शैलौपः ।
अग्निम् । अङ्गेर्न लोपश्च । उ० ४ । ५० । इति
अग्नि गतौ-नि, न लोपः । विश्वशम्भुवम् । किप्
च । पा० ३ । २ । ७६ इति विश्व+शम्+भू-
क्विप् उङ् आदेशः ॥२॥

सम्यक् प्रकार से आराध्यमान पर-ब्रह्म नाना
प्रकार के फल देता है, उसी प्रकार जल चिकि-
त्सक के द्वारा चिकित्सा कार्य में प्रयुक्त जल
भी अन्य औषधियों की सहायता के बिना भी
सम्पूर्ण रोगों को दूर करने में समर्थ होते हैं ।
ये सब रोग मूत्र पुरीष आदि द्वारा दूर किये
जाते हैं जिन का वर्णन तृतीय सूक्त में पहले
किया जा चुका है । और जल-चिकित्सा के
द्वारा ही पसीना आदि लाकर रोग दूर कये
जाते हैं—यह इसी मन्त्र के ‘अग्निञ्च विश्व-
शम्भुवम्’ इस वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट किया
गया है । इस प्रकार श्रुति में सम्पूर्ण रोगों के
निवारण करने में समर्थ जलचिकित्साशास्त्र
का बीज पाया जाता है । मन्त्र का अर्थ इस

प्रकार है:—

(सोमः) नाना प्रकार की औषधियों से
रस संग्रह करने में चतुर वैद्य ने (मे) मुझे
दो प्रकार के रहस्य (अत्रवीत्) बताये हैं ।
पहला रहस्य यह है कि अप्सु-अन्तः) जलों
के अन्दर (विश्वानि भेषजा) सब औषध
विद्यमान हैं । (च) और दूसरे, जलों में तेज
के प्रवेश से पसीना आदि लाने में कुशल,
(विश्वस्य) संसार के (शम्) कल्याण के
(भुवम्) उत्पन्न करने वाली (अग्निम्) अग्नि
को मुझे बताया है । तात्पर्य यह है कि इन
दोनों अग्नि और सोम के द्वारा सम्पूर्ण व्याधियां
दूर की जा सकती हैं ॥ २ ॥

यद्यप्यस्यत्पपां सकलरोगवारणे शक्तिः
परन्तस्य पथो दुरधिगमत्वात्, दीर्घकालापेक्ष-
त्वाच्चेतरौषधसहयोगेनेमा आपस्त्वरितमेव
रोगापनयने समर्था इत्यन्यत्तत्त्वमाविष्क्रियते ॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

आपः । पृणीत । भेषजम् । वरूथम् ।
तन्वे । मम । ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे
॥ ३ ॥

अ०:—आपः भेषजं पृणीत मम तन्वे वरूथं
[सम्पादयत] ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥३॥

हे आपः ? यूयं स्वयं भेषज्यरूपाः सत्यो-
ऽन्यौषधसहयोगेनान्यदपि भेषजम्पृणीत तर्प-
यत । युष्मत्साहचर्येणान्यासामप्योषधीनां
सुखपेयत्वं त्वरितं रोगनिवारणसामर्थ्यञ्च

जायते । तदीदृशमन्यौषधतर्पणं यूयं कुरुतास्माभिः
प्रयुज्यमाना इत्यर्थः । तथा चैवम्भेषज्यसम्पादनेन
मम व्याधीनां शरव्यस्यतन्वे वरूथमाच्छादन-
समर्थकवचं यूयं सम्पादयत । येनाहं ज्योक् चिरं
सूर्यं दृशे सूर्यदर्शने समर्थः स्याम् चिरं जीव्या-
समिति भावः ।

व्या० प्र०:—पृणीत । पृ पालनपूर-
णयोः—लोट्, क्रादित्वात् आ प्रत्ययः ।
ईदृश्यघोः पा० ६।४।११३ । इति ईत्वम् ।
प्वादीनां ह्रस्वः । पा० ७।३।८० । इति धातो
ह्रस्वत्वम् । वरूथम् । जृवृञ्भ्यामूथन् । उ० २।६।
इति वृञ् वरणे ऊथन् प्रत्ययः । ज्योक् । ज्यौ
नियमे-डोकि । दृशे । दृशे विख्येच पा० ३।४।११
इति दृशिर् प्रेक्षणे—तुमर्थे के प्रत्ययान्तो
निपात्यते ॥ ३ ॥

यद्यपि जलों में सम्पूर्ण रोगों के निवारण
करने की शक्ति मौजूद है । परन्तु यह रास्ता
बहुत दुरधिगम्य है, और रोग के दूर होने में
बहुत दीर्घकाल की अपेक्षा होती है इस लिये
अगले मन्त्र में बताया गया है कि अन्य ओष-
धियों के सहयोग से जल रोग को जल्दी शांत
करते हैं । मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है:—

(आपः) हे जलो ! तुम ओषध रूप होते
हुए भी अन्य ओषधियों के सहयोग से
(भेषजम्) अन्य ओषध का भी (पृणीत)

तर्पण करो ! तुम्हारे साहचर्य से अन्य ओष-
धियां सुख से पीने योग्य हो जाती हैं और
उन में रोग को जल्दी शान्त करने की सामर्थ्य
पैदा हो जाती है इस प्रकार भेषज्यसम्पादन
से व्याधियों के आक्रमण के स्थान (मम)
मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (वरूथं) आच्छा-
दन में समर्थ कवच तुम पैदा करो । जिससे
कि मैं (ज्योक्) देर तक (सूर्यं दृशे) सूर्य के
दर्शन कर सकूँ । अर्थात् चिरकाल तक
जीऊँ ॥ ३ ॥

ताश्च विविधा आपो नानाक्षत्रसमुद्भूता
विविधान् संस्कारानपेक्षन्त इत्याशयान् आहः—
शन्न आपो धन्वन्या ३ः शमु सन्त्व-
नूपाः । शन्नः खनित्रिमा आपः शमु याः
कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः
॥ ४ ॥

शम् । नः । आपः । धन्वन्याः ।
शम् । ऊँ-इति । सन्तु । अनूपाः । शम् ।
नः । खनित्रिमाः । आपः । शम् । ऊँ
इति । याः । कुम्भे । आ-भृताः । शिवाः ।
नः । सन्तु । वार्षिकीः ॥ ४ ॥

अ०—धन्वन्या आपः नः शम् सन्तु,
अनूपाः शमु [सन्तु] खनित्रिमाः आपो नः
शम्, याः कुम्भे आभृता आप शम् [भवन्तु]
वार्षिकीः नः शिवाः सन्तु ॥४॥

धन्वन्याः धन्वनि मरुक्षेत्रे समुद्भूता आपो
नः शम्भवन्तु, कृमिदोषाद्यपाकरणेन कल्याणाय
कल्पन्तामिति भावः । अनूपाः रोगबहुले जल-
प्रधाने सर्वतो जलपरिवृतेऽनूपदेशे भवा आपो
ऽप्यस्माकं शं सन्तु सुखवारिण्यो भवन्तु ।

(१) ये जल नाना स्थानों से उत्पन्न होने के
कारण नाना प्रकार के होते हैं इस लिये इन
को शुद्ध निर्मल करने के लिये नाना प्रकार के
संस्कारों की अपेक्षा होती है । इस आशय को
अगले मन्त्र में स्पष्ट किया गया है ।

मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

(धन्वन्याः) मरुस्थल में उत्पन्न (आपः)

खनित्रिमाः कूपखननादिजन्या आपोऽपि
वस्त्रौषधिपूता नः शम्भवन्तु । याः कुम्भे घटादा
वाभृता आदृत्य स्थापितास्ता अपि पात्राणां
निर्मलत्वादिना शम्भवन्तु । अपिच, वार्षिकीः
वृष्टेः समुद्भूता आपो नः शिवाः विशेषसुख-
कारिण्यो भवन्तु तासाम्प्रशस्ततमत्वात् ।
तथा चाह भगवानात्रेयः—“यदन्तरीक्षात्
पततीन्द्रसृष्टं चोक्तैश्च पात्रैः परिगृह्यते ऽम्भः
तदैन्द्रमित्येव वदन्ति धीरा नरेन्द्रपेयं सलिल
प्रधानम्” चरकः सूत्र अ० २७ श्लो. १६५ ।

इत्थम्मूत्रादिमार्गेषां रोगनिवारकत्वं
तन्वो बलाधायकत्वञ्च प्रथममन्त्रप्रार्थितमुप-
स्तूयेदानीमग्रिमेऽनुवाकेऽनेस्तनूपकारकत्वं व्या-
ख्यास्यते ।

व्या. प्र०—धन्वन्याः । कनिन् युवृषितन्नि०
। ३० १ । १५६ । इति धवि गतौ कनिन् ।
इदित्वात् नुम् । इति धन्वन् । भवे छन्दसि ।
पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । अनूपाः अनु-
गता आपो यत्रेति अनूपो देशः । ऋक पूरब्धूः०
पा० ५।४।७४ । इति अनु + अप-अकारः
समासान्तः । ऊदनोदेशे । पा० ६।३।६८ । इति
अथ शब्दस्याकारस्य ऊकारः । पूर्ववद् यत् प्रत्ययः ।

जल (नः) हमारे लिये (शम्भवन्तु) कृमि
आदि दोषों से रहित हो कर कल्याण करने
वाले हों । (अनूपाः) रोग बहुल, जल-प्रधान
चारों ओर से जल से घिरे हुए ऐसे अनूप देश में
होने वाले जल (शम् सन्तु) हमारे लिये कल्याण
करने वाले हों । (खनित्रिमाः) कूप आदि

खनित्रिमाः । खनु अवदारणे अस्माच्छा-
न्दस क्विप्र प्रत्ययः । आर्धधातुकस्य० । पा० ७ ।
२ । ३५ इति इडागमः । कत्रेर्मन्तित्यम् । इतिमप् ।
कुम्भे । कुम्भमिमुम्भति जलेन । उन् भ पूरणे-अच् ।
शकन्धवादित्वात् सन्धुः । आभृताः । हृच् हरणे-
क्तः । हृप्रहोर्भः इति भेत्वंम् । वार्षिकः । छन्दसि
ठच् । पा० ४ । ३ । १६ इति वर्षा ठच्-डीप् ।
जसि पूर्व सवर्णादीर्घः ॥ ४ ॥

इति षष्ठं सूक्तम्

इति मौद्गल्यकृतेऽथर्वभाष्ये प्रथमकाण्डे
प्रथमोऽनुवाकः ।

खोदने से उत्पन्न (आपः) जल, वस्त्र, औषध
आदि से पवित्र किए हुए (नः शम्) हमारे
लिये सुख देने वाले हों । (याः) जो जल
(कुम्भ आभृताः) कूएँ आदि से लाकर घड़े
आदि बर्तनों में रखे हुए हैं, वे भी पात्रों के
निर्मल होने से (शम् उ) कल्याण करने वाले
हों, (वार्षिकीः) वृष्टि से उत्पन्न जल भी
(शिवाः नः) हमारे लिये विशेष सुखकारी
हों । ये वर्षा के जल सब जलों में श्रेष्ठ होते
हैं । भगवान् आत्रेय ने भी यही कहा है, (चरक
सूत्र० अध्याय २७ श्लोक १६५) ।

इस प्रकार मूत्रादि मार्ग से जलों के रोग-
निवारकत्व और शरीर में बल-प्रदत्व आदि
गुण दिखा कर अब अगले अनुवाक में शरीरो-
पकारक अग्नि-तत्त्व की व्याख्या होगी ।

इति षष्ठं सूक्तम्

इति मौद्गल्यकृतेऽथर्वभाष्ये प्रथमकाण्डे
प्रथमोऽनुवाकः ।

प्रथमेऽनुवाके मूत्रमार्गेण मले क्षीणे शीत-
वीर्यौषधिसेवनेन शुके च पुष्टिं गते तन्त्रो बल-
माधीयत इत्युक्तम् । मूत्रशब्देन च रुद्धिम्परि-
त्यज्य योगमाश्रित्यान्येषामपि मलानामात्म-
न्यन्तर्भावः कृत इत्यपि स्फुटीकृतम् ।

इदानीं जलचिकित्सिते सकलरोगाणां-
मेकमेव निदानम् । तच्च मलसंचय इति । तच्च-
मलमग्निमान्द्यादेकस्मादेव कारणादुत्पद्यते ।
समुत्पन्नश्चोपाधिभेदान्नानाव्याधीनाविष्करोति ।
तदिदं द्वैतिनाम्न ह्येव नानारूपधरमलमेकमेव
सद् वैद्यैर्बहुधा मिरूप्यते । तस्मात् सकला-

प्रथम अनुवाक में यह कहा गया है कि
मूत्र मार्ग के द्वारा मल के क्षीण हो जाने पर
और शीत गुण प्रधान औषधी के सेवन से
वीर्य के पुष्ट हो जाने पर शरीरमें बल आजाता
है । और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि
रुद्धिका परित्याग कर और यौगिकवाद का
आश्रय लेकर मूत्र शब्द से अन्य भी कई
प्रकार के मलों का ग्रहण किया गया है ।

अब इस द्वितीय अनुवाक में दर्शाया गया
है कि जल चिकित्सा शास्त्र में सब रोगों का
निदान एकही होता है । और वह मल सञ्चय
है । और यह मल उदरगत अग्निमान्द्य के
कारण ही पैदा होता है । और उत्पन्न हुवा हुवा
यह मल उपाधि भेद से नाना बीमारियों को
पैदा करता है, जिस प्रकार अद्वैत वादियों का
ब्रह्म एक होता हुवा नाना रूपों को धारण कर-
लेता है इसी प्रकार यह मल भी एक होता हुआ

मयविनाशायाग्निमधुक्षणां मलस्यक्षयश्चेत्येत-
देवोपायद्वयम् । मलश्चापाम्बलेन कटिस्नानमेह-
नस्नानादिभिरुपाक्रियते । प्रधानश्च मूत्रमार्गो
मलनिस्सारणमार्गाणाम् । परं तस्य मलस्य
स्वस्थानाच्छयावनायगनेरपिसाहाय्यमपेक्ष्यते ।
अग्निबलेन च नाना-रूपाणि धृत्वा यत्र तत्र-
निलीनमलं यातुधानशब्देनोच्यते । अयमभि-
सन्धिर्यथातुशब्दो हि याते गत्यर्थाद्भाववचनस्स-
मुत्पद्यते । अविनीयहृदया हि साधवो मार्ग-
मेकमेव सत्यमृजुमव्याहतम् जानन्ति । माया-
विनस्तु, “गृध्रयातुम्, श्वयातुमुलूकयातुं” शुशु-
लूकयातुमन्यान्यपि शतानि विदुर्यातूनाम् ।
तस्मान्नानायातूनां विविधगतिमार्गाणां निधा-

नत्वात्ते यातुधानशब्देनोच्यन्ते । मलमपीदं
मायाविनामूर्धन्यमेकमेव सन्नानारूपाणि धृत्वा
विजृम्भते तस्मादिदमपि यातुधान-
शब्देनोच्यते । जीवनाधारभूतायाः प्राणशक्ते-
रूपक्षयकरत्वाच्च दस्युशब्देनाप्याख्यायते ।
तस्य यातुधानस्य दस्योर्नाना-सन्धिषु निलीय
स्थितस्य च्यावनाय प्रस्वेदनादिनाऽप्योद्गारी-
कृत्याग्निरेव प्रधानं साधनम् । तस्मादपां वर्ण-
नानन्तरमिदानीमग्निः प्रस्तूयते ।

न चास्मिंश्चेतनवद् व्यवहारोऽपि हेतो-
र्विरहितः । अनेनैव प्रसङ्गेनाग्निशब्दाभिधेयेन
ब्राह्मणेन राष्ट्रशरीरात् कथम्मायाविनो बहि-
ष्क्रियन्ते इत्यपि सूचितम् । यद्यपि राजानो

नाना रूपों को धारण करता है। बहुधा श्रेष्ठ वैद्य
निरूपण करते हैं। इस लिये सम्पूर्ण रोगों का
विनाश करने के लिये अग्नि दो प्रदीप्त करना
तथा मलका क्षय, ये ही को उपाय हैं। और मल
का क्षय कटि-स्नान, मेहन स्नानादि जलीय
प्रयोगों से किया जाता है। मल को बाहिर
निकालने वाले मार्गों में मूत्र मार्ग प्रधान है।
परन्तु उस मल को अपने स्थान से च्युत करने
के लिये अग्नि की सहायता की भी अपेक्षा
होती है। और अग्नि के बल से नाना रूपों को
धारण करके जहाँ तहाँ छिपे हुए मल को
यातुधान कहते हैं। यह यातु शब्द गत्यर्थक
या धातु से भाव में निष्पन्न होता है।
सरल हृदय वाले सज्जन पुरुष एक हीमार्ग
को सरल, सत्य तथा अव्याहत जानते हैं।
परन्तु मायावी लोग तो “गृध्रयातुं श्वयातुमुलू-

कयातुं शुशुलूकयातुम्” (अथर्व ८। ४। २२)
इत्यादि यातु नामक सैकड़ों कुटिल मार्गों का
अवलम्बन करते हैं। इस कारण नाना
यातुओं अर्थात् विविध विविध प्रकार के
कुटिलमार्गों के आश्रय होने से वे भी यातुधान
कहे जाते हैं। और मायाविज्यों में शिरोमणि
यह मल भी एक होता हुआ नाना रूपों को
धारण करने के कारण यातुधान शब्द से
कहा जाता है। जीवन की आधार भूत प्राण-
शक्ति के उपक्षय करने के कारण इसे दस्यु
भी कहते हैं। नाना सन्धियों में छिप कर
बैठे हुए यातुधान अथवा दस्यु नामक मल को
अपने स्थान से च्युत करने के लिये पसीने
इत्यादि के द्वारा गौण रूप से जल को साधन
बना कर अग्नि ही प्रधान साधन माना गया
है। इसलिये जलों के वर्णन के पश्चात् अब
अग्नि का वर्णन किया जाता है। अग्नि का

अपने कार्य क्षेत्र में समय का क्रम सङ्गठित करता है। १०।

एक दिन को संवत्सर मान कर वसन्त वर्षादि ऋतुओं का वर्णन पृष्ठ २०४ पर तृतीयाध्याय पञ्चम ब्रह्मण की व्याख्या में पहिले लिख आए हैं वहां हमने दोपहर के समय सब कार्यालयों में छुट्टी होनी चाहिये यह दिखाया था। वह इस प्रकार कि ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा आती है। सो कार्यालय में जब खूब कार्य चल रहा हो वह समय यदि ग्रीष्म है तो जब सूर्य मेघाच्छन्न हो वह वर्षा है। दिन भर में वह समय कौन सा होना चाहिये यह शतपथ कार की सम्मति में मध्यन्दिन है। इसी लिये लिखा है 'यदा मध्यन्दिनोऽथ वर्षाः' (श. २. २. ९) (देखो पृ० २०१) परन्तु यदि किसी कार्यालय में कोई अन्य समय भोजन तथा विश्राम का हो वह उन की वर्षा है। जैसे आज कल दफ्तरों में भोजन के पश्चात् कार्य आरम्भ होता है सो यह प्रकृति नियम विरुद्ध है। प्रकृति का नियम है वसन्त ग्रीष्म वर्षा। हमारे दफ्तरों का नियम है वर्षा वसन्त ग्रीष्म अथवा वर्षा ग्रीष्म वसन्त यह अनुचित है। सो इस वर्षा काल में क्या होना चाहिये यह इड नामक प्रयाज में बताते हैं। अब इडों का यजन करता है। वह शब्द वस्तुतः इड बहुवचनान्त स्त्रीलिङ्ग है सो 'इडो यजति' में इडः द्वितीया का बहुवचन है जैसे अपः। यह इड क्या है सो कहते हैं कि इड वर्षा है यह जितने छोटे छोटे जीव जन्तु सरीसृपादि

हैं यह भी ग्रीष्म और हेमन्त के प्रभाव से निस्सत्त्व से हो जाते हैं। किन्तु वर्षा की वृद्धि पड़ते ही उन में जान सी आजाती है और वह मानां अकड़े अकड़े अन्न चाहते हुए विचरते हैं। इसी लिये वर्षा इडः है। सो देवों ने वर्षा को वश में कर लिया। वर्षा से शत्रुओं को वञ्चित कर दिया। सो जो इडों का हवन करता है वह वर्षा ऋतु पर अधिकार करलेता है शत्रुओं को वर्षा से वञ्चित करता है। इसी लिये इडों का हवन करता है तात्पर्य यह कि जिस प्रकार ग्रीष्म से प्राणी निस्सत्त्व हो जाते हैं इसी प्रकार कुछ घण्टे लगातार पूरे वेग से कार्य करने के पश्चात् कार्य कर्ता थक जाते हैं उस समय भोजन की छुट्टी होते ही उन्हें ऐसा उल्लास होता है जैसा ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा की वृद्धि पड़ने से इस चराचर विश्व को उल्लास होता है। उस समय उस छुट्टी के उल्लास में सब भोजन की इच्छा करते हैं और भोजन खाते हैं। बस यही इड प्रयाज अथवा भोजन विश्रामादि का Period है। तात्पर्य यह कि होता का एक प्रधान कर्तव्य यह भी है कि उस के कार्य कर्ता उल्लसित हो कर भोजन और विश्राम पावे। इस प्रयाज (Period) का वह ठीक पालन करावे। ११।

इस के पश्चात् बर्हि नामक प्रयाज आता है। यह वह काल है जो किसी भी कार्यशाला अथवा वेदि में तय्यार हुई वस्तुओं को अन्तिम परिष्कृत रूप देना, बांधता क्रम बद्ध करना अर्थात् प्रयोग में लाने योग्य अवस्था में पहुंचाना

अपने ही दूध से स्वीकार करते हैं । इपलिये प्रयाज आज्य हवि वाले होते हैं ॥५॥

इसमें कई आचार्यों का मत है कि सो जहां खड़ा होकर प्रयाजों के लिए आश्रावण विधि करता है वहां से पीछे न हटे क्योंकि यह जो प्रयाजों से यज्ञ करता है, यह वस्तुतः संग्राम का अभिनय किया जाता है । सो परस्पर युद्ध करने वालों में (संग्रह्योः) जो हार जाता है वह पीछे हट जाता है । विजयी आगे ही आगे आगे बढ़ता जाता है । इस लिये आगे ही आगे बढ़े । आगे आगे बढ़ कर आहुति करे ॥६॥ (किन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं) कि सो वैज्ञान करे । जहां से खड़े हो कर प्रयाजों के लिये आश्रावण विधि की हो उस स्थान से पीछे न हटे, किन्तु आगे बढ़ने का कोई नियम नहीं । जिस स्थान पर यह देखे कि अग्नि प्रदीप्ततम है वहां आहुति हवन करे । क्योंकि आहुतियों की समृद्धि इसी में है कि जहां प्रदीप्त प्राग्नि हो वहां हवन की जावे ।

तात्पर्य यह कि प्रबन्धकर्त्ताओं को किसी अंश तक कार्यकर्त्ताओं को स्वतन्त्रता भा देनी चाहिये । उदाहरण के लिये एक सेनापति ने संग्राम में एक छोटे दलपति को एक पहाड़ी जीतने को दी । अब यदि पग पग पर एक एक छोटी बात के लिये बड़े सेनापति के शिविर से ही आज्ञा निकले तो फिर सैनिकों को कार्य करना असम्भव कल्प है । अच्छी सेना वही है जिस में एक बार उद्दिष्ट कार्यक्रम सैनिकों के सामने रख दिया जावे किन्तु साथ

ही प्रत्येक सैनिक व्यक्ति भी इतना सधा हो कि उस पर विश्वास किया जा सके और छोटे छोटे कामों की पूर्ति उस की बुद्धि पर छोड़ी जा सके । सो आश्रावण विधि तो मूल रूप रेखा का चिन्ह है जिस में साधारण रूप से कर्त्तव्य पथ का निर्देश कर दिया गया है और वह प्रत्येक कार्यकर्त्ताओं को सुना दिया गया है । अब अध्वर्यु का आगे आगे बढ़ना इस प्रकार है मानो प्रत्येक पग पग पर हर सैनिक के कार्य में हस्नान्वेष करना । कार्य प्रणाली में मूल कार्यक्रम और समय विभाग के पालन का ध्यान रक्खा जाय, और आगे जिस से कार्य सुचारु रूप से चले । वही क्रम है युद्ध में भी । मूल उद्देश्य विजय को याद रखना चाहिये, उस से नहीं टटना चाहिये । इसी का नाम है 'युद्धे चाप्यपलायनम्' और युद्ध में जिस स्थान पर प्रहार करने से विजय हो वही ठीक स्थान है । आगे बढ़ने पीछे हटने का कोई नियम नहीं । सेनापति को इस प्रहार के भावुकतामय बन्धनों में नहीं बधना चाहिये । इसी लिये कहा जहां प्रदीप्ततम हो वहां आहुति करे । इस प्रकार परिणाम यह हुआ कि न तो कार्य क्रम विहीन समारम्भ में सकृत्ता होती है और न अति मात्रा में क्रम बनाने में । मूल उद्देश्य को सामने रख कर कार्य कर्त्ताओं को उस मर्यादा में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता देने में ही विजय लाभ है । इस प्रकार क्रम-बन्धन और मतिस्वातन्त्र्य इन दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का उचित समन्वय बना कर आगे बढ़ते हैं ॥७॥

सो आश्रावण के पश्चात् अध्वर्यु होता के प्रति प्रैष वाक्य बोलता है “ओं समिधो यज” सो यह वसन्त ऋतु का समिन्धन करता है। वह वसन्त समिद्ध हो कर अन्य ऋतुओं का समिन्धन करता है ऋतु समिद्ध होकर प्रजा और वृक्ष वनस्पति आदि हरयावल उत्पन्न करती है। सो यह सब ऋतुओं का निर्देश कर दिया। अब यहां थोड़ा भेद है। वसन्त के याग में ‘समिधोयज’ ऐसा कहा और अन्य प्रयाजों में केवल ‘ओंयज’ ‘ओंयज’ इसी प्रकार कह दिया। सो यह असमानता के लिये वसन्त को विशिष्टता देने के लिये किया। यदि अगले सब में भी ‘तनूनपातं यज’ ‘इडो यज’ इस प्रकार नाम निर्देश कर दे तो वसन्त को सब के जासि ० धत् तुल्य कर दे। कोई विशिष्टता उस की न रहे। इस लिये अगले प्रयाजों में यज यज इतना ही कहता है। सो वह पहिले समिध नाम के प्रयाज का हवन करता है। समिध नाम ऋतुओं में वसन्त का है। सो देवों ने उसे वश में किया और शत्रुओं को वसन्त से वंचित कर दिया। वस इस मर्म को जानने वाला वसन्त को वश में कर लेता है और शत्रुओं को वसन्त से वंचित कर देता है। तत्पर्य यह कि होता को प्रत्येक समय विभाग में यह ५ बातें क्रम में बांधनी हैं। सब से प्रथम समिन्धन। सेना में सैनिकों को अपने कार्य के प्रति उत्साह समिध है। यन्त्रशाला में यन्त्रों में कोरला बिजली पेट्रोल जो जिस यन्त्र की समिधा है वह पहुंच कर इंजिन गर्म

हो गया वा नहीं यह देखना उस का प्रथम कर्त्तव्य है। पाठशाला में विद्यार्थियों को पाठ में रुचि है वा नहीं। यह देखना उस का कर्त्तव्य है। सैनिकों में उत्साह उत्पन्न हुआ, इंजिन गर्म हो कर चलने लगे, विद्यार्थी पाठ के लिये उत्साह दिखाने लगे, मानों सैन्यशाला यन्त्रशाला तथा पाठशाला में वसन्त ऋतु आ गई। वस प्रत्येक विभाग के होता के कार्य विभाग तथा समय विभाग में सब से पहिला कर्त्तव्य समिन्धन है इसी का नाम वसन्त है ॥८॥

उस के पश्चात् दूसरे प्रयाज का हवन करता है। इस का नाम तनूनपात् है। इस की व्याख्या से पहिले तनूनपात् शब्द के अर्थ पर ध्यान देना होगा। यह शब्द तनू और नपात् इन दो शब्दों से बना है। तनू का अर्थ शरीर प्रसिद्ध ही है। अब नपात् शब्द के अर्थ की ओर ध्यान देना है नपात् शब्द निघण्टु में अपत्य शब्द के पर्याय वाचियों में पड़ा है। अपत्य शब्द की व्युत्पत्ति भगवान् यास्क ने ३. १. १. में इस प्रकार दी है। “अपत्यं कस्मात् अपततं भवति नानेन पततीति वा” इस में से “नानेन पततीति” इस भाग को ले लीजिये। इस का अर्थ है कि जिस के होने से कुल पतित न हो। जिस प्रकार एक योग्य शस्त्रपारङ्गत ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न होकर उस का पुत्र पिता के सब गुण यथावत् धारण कर ले तो उस से वह विद्वत् परम्परा अविच्छिन्न हो गई। इसके विपरीत यदि पुत्र उत्पन्न न हो अथवा उत्पन्न

तथा अन्यो में 'वेतु' द्वारा यजन करता है। सो यह विशेषता उत्पन्न करने के लिये यदि सर्वत्र 'व्यन्तु व्यन्तु' कह दें तो सब को एक बराबर कर दें अथवा वेतु वेतु' ही कर दें। व्यन्तु स्त्री है वेतु पुरुष है। सो दोनों मिल कर ही उत्पत्ति कर सकते हैं इसलिये व्यन्तु और वेतु यह दो शब्द रखे। १५। चौथे प्रयाज में समानयन विधि होती है इसका वर्णन पहिले विधिभाग में इसलिये नहीं दिया कि यहां फिर देना पड़ता। पहिले विधि लिखते हैं फिर उसकी व्याख्या लिखेंगे विधि इस प्रकार है।

तीसरे प्रयाज की समाप्ति पर अध्वर्यु जुहू को उठा कर बाएं हाथ में जुहू को ले कर दाहिने हाथ से उपभृत् को नीचे पकड़ी हुई जुहू के अग्रभाग की ओर ऊपर ऊपर ला कर उपभृत् और जुहू का परस्पर स्पर्श न करता हुआ उपभृत् में से आधा घृत जुहू में उलट दे, उसके पश्चात् उपभृत् को फिर नीचे करके फिर औंभावय कहे। और अस्तु श्रौषट् कहने पर पूर्ववत् विधि करे। सो यह उपभृत् के घृत का जुहू में लाना समानयन कहलाता है। इसकी व्याख्या आगे करते हैं।

पहिले कण्डिकाओं का शब्दार्थ करेंगे। वह इस प्रकार है—

अब चौथे प्रयाज में (उपभृत् के घृत को जुहू के घृत में) समानयन करता है। जिस प्रयाज का नाम बर्हि है। बर्हि नाम प्रजा का है। और घृत वीर्य है सो यह प्रजाओं में वीर्य का संचन है इस शक्ति के संचन से प्रजा फिर बारम्बार उत्पन्न होती हैं इसलिये इस चौथे बर्हि नामक प्रयाज में समानयन करता है (उपभृत् के घृत को जुहू में डालता

है)। १६। अथवा इसी क्रिया को एक और दृष्टान्त से भी समझ सकते हैं। यह समझ लीजिये कि यह जो प्रयाज से यज्ञ करता है यह एक प्रकार से संग्राम का नाटक किया जाता है। सो संग्राम में दो लड़ने वालों में से जिसको किसी मित्र की सहायता मिल जाती है वह जीत जाता है। सो यहां भी यह उपभृत् में से मित्र निकल कर जुहू के पास पहुंच जाता है। इसलिये जुहू की विजय होती है। इसी लिये चौथे बर्हि नामक प्रयाज में समानयन करता है। १७। यजमान जुहू के समान है। और जो उसका विरोध करता है वह उपभृत् के समान है। सो यजमान के सामने इस क्रिया द्वारा उसके द्वेष करने वाले शत्रु से कर दिलवाता है। जुहू उपभोक्ता का प्रतिनिधि है। उपभृत् उपभोग्य का प्रतिनिधि है। सो यहां उपभोक्ता के सामने उपभोग्य द्वारा कर (टैक्स) दिलवाता है। इसी लिए चौथे प्रयाज में समानयन करता है। १८। समानयन के पश्चात् जुहू को उपभृत् से स्पर्श नहीं होने देता यदि स्पर्श होने दे तो यजमान को द्वेष करने वाले शत्रु से स्पर्श करने दे। उपभोग्य को उपभोक्ता की बराबरी करने दे। ऐसा न हो इसलिए उपभृत् से जुहू को स्पर्श न करता हुआ समानयन करता है। १९। अब समानयन के समय जुहू को ऊपर रखता है (उपभृत् को नीचे)। इस क्रिया द्वारा यजमान को द्वेष करने वाले शत्रु से ऊंचा आसन देता है। उपभोक्ता को उपभोग्य से ऊंचा आसन देता है। इसीलिये जुहू को उपभृत् से ऊंचा रखता है ॥२०॥

इस पर देवों ने भक्तिभावयुक्त परिश्रम करना प्रारम्भ किया और करते गए तब उन्होंने ने संवत्सर की सफलता का रहस्य पा लिया। वह यह कि उन्होंने ने इन प्रयाजों को ठूँठ निहाला, फिर इन के सहारे अपने कार्य को सङ्गठित किया इस से उन के कार्यों में भी ऋतु और संवत्सर बन गये। (यदि कोई द्रव्य १५ दिन में तैयार होता हो तो उस का १५ दिन का संवत्सर हुआ और उस के भिन्न भिन्न अङ्गों की पूर्ति में जो नियत समय के भाग लगे वह ऋतु हुए। एक कम्बल बनाने में भेड़ मूँडना। ऊन साक करना, ऊन का काटना, रङ्गना, बुनना, इतने ऋतु हुए। और यदि एक मनुष्य ७ दिन में उस कम्बल को तैयार करे तो कम्बल का ७ दिन का संवत्सर हुआ) सो इस प्रकार उन्होंने ने प्रथम ऋतुओं को और फिर उन के द्वारा संवत्सर को जीत लिया फिर ऋतु और संवत्सर के विजय द्वारा शत्रुओं को तिरस्कृत कर दिया। इसी लिये इन का नाम “प्रजयाः” हुआ। यह प्रयाजाः वास्तव में प्रजयाः ही हैं। सो इसी प्रकार इन को जान कर जानने वाला अपने अपने क्षेत्र के ऋतु और संवत्सरों को जीत लेता है। और इनका मर्म न जानने वालों, अस्तव्यस्त कार्य करने वालों, को ऋतु और संवत्सर के आनन्द से वञ्चित कर देता है। इसी लिये विजय कामना करने वाला प्रयाजों द्वारा सङ्गठन करता है ॥३॥

इन प्रयाजों की मुख्य हवि आज्य है। अर्थात् समय विभाग कितना भी अच्छा क्यों

न बना हो कार्यकर्त्ताओं के परस्पर स्नेह के बिना वह ठीक ठीक व्यवहार में नहीं आ सकता। इस लिये इन देवताओं को बुलाने का मुख्य साधन (हवि) आज्य अर्थात् कार्य-कर्त्ताओं का परस्पर स्नेह और मिल कर एक उद्देश्य को पूर्ण करने की प्रबल अभिलाषा है। सो यह अभिलाषा बड़ी से बड़ी कठिनाइयों के पहाड़ों को काट गिराती है। इसी लिये कहा कि आज्य वज्र है। इसी वज्र से देवों ने ऋतुओं और संवत्सर को जीता और ऋतु और संवत्सर के विजय द्वारा शत्रुओं को परास्त किया। इसी प्रकार यज्ञ करने वाला इस आज्य रूप वज्र के सहारे ऋतुओं और संवत्सर को जीतता है। और ऋतु और संवत्सर से शत्रुओं को परे रखता है। इसी लिये आज्य अर्थात् घृत इन की हवि है ॥ ४ ॥

संवत्सर रूप गाय का यह खास दूध है अर्थात् आज्य, अर्थात् जिस वर्ष संवत्सर खेती उत्पन्न करना रूप कार्य अच्छी प्रकार करता है तो उस से पशुओं की पुष्टि द्वारा खूब घृत उत्पन्न होता है। फिर उस घृत के खूब हवन करने से अच्छी वृष्टि होती है। सो जिस प्रकार उत्तम घृत से संवत्सर और संवत्सर से घृत होता है इसी प्रकार परस्पर प्रेम से सङ्गठन की सफलता होती है और फिर सफलता को देख कर परस्पर प्रेम खूब बढ़ता है। इस लिये जिस प्रकार आकाश के देव घृत द्वारा ही संवत्सर को स्वीकार करते हैं। अपने वश में करते हैं। इसी प्रकार यहां भी उस के

है। जिस प्रकार शरद ऋतु में सब फसलें पक कर तय्यार हो जाती हैं वही अवस्था पहुँचाना इस काल का काम है। यदि वह वस्तु दान योग्य है तो दान के लिये, विक्रय योग्य है तो विक्रय के लिये यदि उपयोग में आने वाली है तो उपयोग के लिये बिल्कुल परिपक्व (Finished and packed) अवस्था में रखना इस काल का काम है। अब कण्डिका की व्याख्या आरम्भ करते हैं।

अब बर्हि नामक प्रयाज का यजन करता है। बर्हि नाम शरद का है शरद बर्हि अर्थात् इस कारण है कि यह जो औषधिये अर्थात् वृक्ष वनस्पति आदि ग्रीष्म तथा हेमन्त में निढ़ाल हो जाती हैं वह वर्षा में बढ़ती हैं। वह शरद में इस प्रकार बिंध जाती हैं मानों आसन बिछा हो। इसी लिये शरद बर्हि है। सो देवों ने शरद को वश में कर लिया। शत्रुओं को शरद से वञ्चित कर दिया। इस प्रयाज से यज्ञ करने वाला शरद को वश में कर लेता है। शत्रुओं को शरद से वञ्चित कर देता है। इस लिये बर्हि का यजन करता है। १२।

अब यह पञ्चम प्रयाज आया इस में दान विक्रय अथवा प्रयोग द्वारा पदार्थों को पाकर लोग स्वाहा स्वाहा अर्थात् वाह वाह करने लगे किन्तु इस समय उत्पत्ति का कार्य बन्द हो गया। इस लिये कार्य शाला में हेमन्त आगई। सँसार में इस प्रयाज के लोप से

आज यह देखने में आ रहा है कि पदार्थ उत्पन्न होकर तय्यार हैं, लोग भूखे मर रहे हैं, किन्तु दुष्ट लोग दान बढ़ाने की भावना से उन्हें जला रहे हैं अथवा समुद्र में फेंक रहे हैं। सो उत्पन्न पदार्थों का प्रयोग में न आना मानो स्वाहाकार का लोप होना है।

अब अन्तिम प्रयाज का हवन करता है। उसमें बार बार स्वाहा शब्द का प्रयोग है। 'स्वाहा ऽग्नि स्वाहा सोमम्' इत्यादि स्वाहा शब्द यज्ञ समाप्ति सूचक है। सो यह प्रयाज हेमन्त ऋतु का प्रतिनिधि है। हेमन्त भी ऋतुओं का अन्त है। सो अन्तिम ऋतु के लिये अन्तसूचक स्वाहा शब्द का प्रयोग है। वसन्त, ऋतुओं का आदि का सिरा है हेमन्त परला सिरा, सो अन्तिम से अन्तिम को वश में किया। अन्तिम द्वारा शत्रुओं को अन्त से वञ्चित रक्खा। इस प्रकार यज्ञ की सुख समाप्ति को वश में करता है उत्तम अन्त से शत्रुओं को वञ्चित करता है। १३।

प्रकृति में यह नियम है कि हेमन्त में वृक्षों में पोषक तत्व का सञ्चय होता रहता है। वसन्त की मधुर उष्णता पाते ही वह एकदम विकसित हो उठता है। जिस प्रकार निद्रा काल में दिन भर के काम काज की थकावट से उत्पन्न शरीर हानि पोषक द्रव्य द्वारा दूर होकर शरीर आप्यायित हो जाता है इसी प्रकार हेमन्त वानस्पत्य जगत का शयन काल है। वस इसी प्रकार जब तय्यार पदार्थ प्रयोक्ताओं तक पहुँच जाता है तो उससे प्राप्त आय द्वारा फिर

नए वसन्त का आगमन होता है। अर्थात् फिर नया उत्पत्ति कार्य प्रारम्भ होता है। यह पञ्चम प्रयाज वह अङ्ग है जिसे पाश्चात्य अर्थशास्त्र की भाषा में Distribution कहते हैं। Distribution के पश्चात् फिर नया Production आरम्भ होता है। हेमन्त के पश्चात् फिर वसन्त आती है। यही प्राकृत नियम यहाँ कहा गया है। सो यह हेमन्त की महिमा है कि वसन्त भी हेमन्त के सहारे ही पुनर्जीवन प्राप्त करता है। इसीलिये जो इसके तत्त्व को जानता है वह फिर नया हो जाता है। और उस लोक अर्थात् वृद्धावस्था में भी पुनः इस कमाई का लाभ पाता है जो इसके तत्त्व को जानता है। तात्पर्य यह कि जिस कार्यशाला में जा कुछ भी बने उसकी सफलता उपयोग पर आलम्बित है। यदि उपयोग कर्त्ताओं ने उसे पसन्द किया तो वह पदार्थ फिर भी बनेगा। हेमन्त के पश्चात् फिर वसन्त आयेगी किन्तु यदि पसन्द न किया तो वह पदार्थ फिर नहीं बनता। और यदि कोई मनुष्य इस लोक अर्थात् गृहस्थाश्रम में ऐसे पदार्थ बनाएगा जो उपयोगी हों चाहे वह उत्तम मनुष्य हों, उत्तम ग्रन्थ हों अथवा उत्तम जड़ पदार्थ हों तो वह उस लोक अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में भी सुख पावेगा। और यदि उस लोक का अर्थ मृत्यु के अनन्तर नया जन्म ऐसा ही लेना हो तो भी कोई क्षति नहीं किन्तु इस प्रकरण में उस लोक का अर्थ वृद्धावस्था करना अधिक युक्ति सङ्गत है। जो युवावस्था में

प्रजा के लिये उपयोगी सिद्ध होता है वृद्धावस्था में उतना सुखी होता है। इस प्रकार वसन्त की सफलता का तत्त्व हेमन्त के गर्भ में छिपा है। १४।

यहाँ प्रथम और अन्तिम प्रयाज में “समिधः अग्न आज्यस्य व्यन्तु” और “देवा आज्यपा जुषाणा आज्यस्य व्यन्तु” इस प्रकार का पाठ है। शेष प्रयाजों में “तनूनपाद्म आज्यस्य वेतु” इस प्रकार एक वचनान्त पाठ है। वीधातु यहाँ भोजन अर्थ में प्रयुक्त हुई है। सो इस का भाव यह है कि समिध का अर्थ शक्ति है चाहे वह जड़ हो वा चेतन। जिस कार्य शाला में केवल मनुष्य श्रम करते हों वः। मनुष्य समिध है। जहाँ यन्त्र मनुष्य दोनों कार्य करते हैं वहाँ दो प्रकार की समिध हैं। सो वसन्त अर्थात् कार्य शाला के उत्पादन द्वारा कार्य कर्त्ता खाते हैं। और उत्पन्न पदार्थों को खाकर संसार जीता है। और बीच में कार्य चलाने वाला होता जीता है। होता अकेला होकर भी इन से बड़ा है जहाँ एक सबका बड़ा न हो वहाँ कार्य सुन्दर रूप से नहीं चल सकता। इसलिये व्यन्तु का समुदाय एक ओर, और होता एक ओर, फिर भी वह बड़ा है। अथवा रुच्चा माल = तनूनपात्, श्रम जीवियों को ठीक भोजन = इड, और सुसम्पन्नता = र्हि, यह तीनों ऐसे हैं जिनके बिना यह वसन्त और हेमन्त कुछ नहीं कर सकते। इसलिये यह वेतु का एक वचन ‘व्यन्तु’ के बहुवचन से बड़ा है किन्तु कार्य दोनों मिलकर हो कर सकते हैं। अतः कहते हैं कि प्रथम और पञ्चम प्रयाज में ‘व्यन्तु’

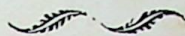
हो कर पिता के गुणों को धारण न करे तो वह पत्रपुष्प समन्वित पिता रूपी वृक्ष अपनी मृत्यु के साथ गिर पड़ता है। इस लिये अपत्य का अर्थ है योग्य उत्तराधिकारी। बस यही नपात् शब्द का अर्थ है 'नानेन पतति' भेद केवल इतना है कि अपत्य में नञ् के न का लोप हो गया है और नपात् में नहीं हुआ। न पात् शब्द न+पात् इस प्रकार बना है यह पाणिनि मुनि को भी अभीष्ट है। इसी लिये उन्होंने "नभ्राणनपात्" (६. ३. ७५) इस सूत्र में दूसरे ही स्थान पर इस नपात् शब्द का पाठ किया है।

अब प्रश्न हो सकता है कि यास्काचार्य ने नपात् शब्द की व्युत्पत्ति "निणेततमा प्रजा" (दैव. ८ अ. २. पा. ६. ख) इस प्रकार की है। सो वह इस लिये कि कई स्थानों पर नपात् शब्द पोते अथवा नाती के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। उस अर्थ को दृष्टि में रख कर यह व्युत्पत्ति दी गई है। किन्तु जहां साधारण अपत्य अर्थ हो वहां अपत्य और नपात् दोनों की व्युत्पत्ति "नानेन पतति" ऐसी ही माननी चाहिये। ऋग्वेद १०. ३३. ७ में सायण ने भी नपात् का अर्थ पुत्र, ऐसा किया है। ऋग्वेद १. १४३. १ में अपांनपात् की व्युत्पत्ति में नपात् की व्युत्पत्ति 'न पातयिता' इस प्रकार दी है। फिर ऋ० १. १८८. २ में तनूनपात् की व्युत्पत्ति भी इसी प्रकार दी है। 'तनूनपात् यज्ञशरीरस्य न पातयिता'। ऋषि दयानन्द ने भी ऋ. १. १८८. २ में

यस्तनूनि शरीराणि न पातयति सः" ऐसी व्युत्पत्ति दी है। बस यही व्युत्पत्ति हमें यहां अभीष्ट है। जो शरीर को न गिरने दे अर्थात् जिस के सहारे शरीर खड़ा हो। अब समझ लीजिये कि एक कम्बल अथवा मोटर बनाने का कारखाना है। सो उस कम्बल अथवा मोटर का शरीर किस के सहारे खड़ा है। उन के अथवा लोहे के! बस यह उन अथवा लोहा तनूनपात् है जिसे आज कल की भाषा में Raw-Material कहते हैं। बस अग्नि समिन्धन के पश्चात् होता का काम है कच्चे माल (Raw Material) की परीक्षा कर के काम चालू कर देना। यन्त्र का (मानव अथवा प्राकृत किसी प्रकार के भी यन्त्र हों) समिन्धन हो चुका अब तनूनपात् के आने पर काम चालू हो गया मानों वसन्त के पश्चात् ग्रीष्म आ गई। अब खूब सर गरमी से काम होना चाहिए। बस यही तनूनपात् का प्रयाज अथवा Period है। इसी की कण्डिका में व्याख्या करते हैं ॥६॥

अब तनूनपात् नामक प्रयाज का यजन करता है। तनूनपात् ग्रीष्म है ग्रीष्म प्रजा के शरीरों को उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार पूरे ध्यान लगा कर काम करना सारे कारखाने को गरम कर देता है। ग्रीष्म को ही देवों ने वशी भूत कर लिया ग्रीष्म से शत्रुओं को परे कर दिया। बस यहां भी ग्रीष्म को ही अधिकार में करता है! शत्रुओं को ग्रीष्म से वञ्चित कर देता है जो इस तनूनपात् के अनुसार

अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन शिमला अधिवेशन



१—सम्मेलन के आगामी अधिवेशन के समय शिमला में सम्मेलन के अतिरिक्त जो परिषदें होगी जैसे साहित्य परिषद, विज्ञापन परिषद, दर्शन परिषद, इतिहास परिषद, महिला परिषद, कवि सम्मेलन, संगीत सम्मेलन, पत्रकार सम्मेलन साहित्य प्रदर्शनी, आदि उनके सम्बन्ध में अपने विषय के विद्वानों से स्वागत समिति ने पत्र व्यवहार आरम्भ कर दिया है। परन्तु पूरी जानकारी न होने के कारण सम्भव है कि सब महानुभावों के पास वह पत्र न पहुँच पावे इसलिये स्वागत समिति इन विषयों के विद्वानों से इस सूचना द्वारा प्रार्थना करती है कि इन परिषदों को किस प्रकार सफल बनाया जावे इस सम्बन्ध में वे अपनी सम्मति तथा परामर्श और उन स्थानीय विद्वानों के नाम जिनको इस विषय में पत्र अवश्य लिखा जाना चाहिये स्वागत समिति के कार्यालय में भेजने की कृपा करें।

२ हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नियमावली के नियम ७७ के अनुसार स्वागत समिति शीघ्र ही एक विषय सूची बनावेगी जिन विषयों पर हिन्दी के अच्छे विद्वानों से और लेखकों से लेख लिखवा कर प्रकाशित करने का प्रयत्न किया जावेगा। इस सूचना द्वारा समिति सर्व साधारण से प्रार्थना करती है कि वे उन विषयों की सूची जिन पर लेख लिखाना उचित होगा तथा उन लेखकों के नाम जिनसे उस विषय पर लेख लिखाये जाना उपयुक्त होगा स्वागत समिति के कार्यालय में शीघ्रातिशीघ्र भेजने की कृपा करें।

३—सम्मति तथा विषय सूची आदि मन्त्री स्वागत कारणी समिति, अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन (शिमला अधिवेशन) आर्यसमाज भवन लोअर बाजार शिमला के पते पर २० सितम्बर १९३७ ई० तक आजानी चाहियें।

प्रभुदयालु श्रीवास्तव

प्रकाशन मन्त्री

छप गई!

छप गई !!

छप गई !!!

अग्निहोत्र की अनूठी व्याख्या

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार की प्रतिभापूर्ण लेखनी का एक और चमत्कार



नामक पुस्तक छपकर तैयार हो गई !!

परिणत बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार आर्यसमाज के प्रतिभाशाली वैदिक विद्वान् हैं। उनकी लिखी स्वर्ग, सोम, मरुत, शतपथ में एक पथ, शतपथ भाष्य, ब्रह्मयज्ञ आदि तर्क आर्यसमाज के साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। उनकी संध्या की व्याख्या ब्रह्मयज्ञ के थोड़े ही काल में दो संस्करण निकल चुके हैं। देवयज्ञ पुस्तक भी ब्रह्मयज्ञ की ही कोटि की है। देवयज्ञ में अग्निहोत्र के मन्त्रों की व्याख्या के अतिरिक्त देवयज्ञ के अङ्ग, उद्देश्य-प्रणिधान, ईर्ष्या-विजय, विश्वेदेवा और यजमान, वषट्कार और स्वाहाकार, सिष्टकार, अदब्धता, यज्ञ-चक्र, ब्रह्मप्रणिधान, आदि कितने ही अन्य विषयों पर भी सर्वथा मौलिक विचार दिये गये हैं। एक बार मँगा कर पढ़िये। मूल्य केवल 1=) है।

निम्न पुस्तकें भी मँगाकर पढ़िये

ब्रह्मयज्ञ 1=)

स्वर्ग 1=)

सोम 1)

मरुत् 1)

शतपथ में एक-पथ 1)

मिलने का पता—

अध्यक्ष अनुसन्धान-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब
गुरुदत्त भवन, लाहौर

परिणत प्रियव्रत प्रिण्टर और पब्लिशर द्वारा भारती प्रिण्टिङ्ग प्रेस, हस्पताल रोड, लाहौर।

में छपकर गुरुदत्त भवन, रावी रोड लाहौर, से प्रकाशित हुआ।

आय

आश्विन

१९६४

वैदिक तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रचारक पत्र

{ वार्षिक मूल्य ३)

{ एक प्रति १=)



सम्पादक —

प० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब

गुरुदत्त भवन, लाहौर

विषय-सूची

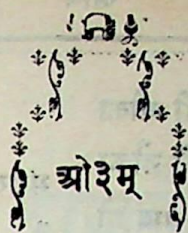


सं०	लेख	लेखक	दृष्ट संख्या
१.	वेदोपदेश	सम्पादक	२२१
२.	वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त	पं० प्रियव्रत जी वेद वाचस्पति	२२३
३.	वेदवाटिका	सम्पादक	२३०
४.	वेद में नाना विद्यार्थें	श्री सत्यभूषण जी यांगी	२३१
५.	शयन मरण है	"	२३६
६.	ब्राह्मण कार्य	आचार्य देवशर्मा जी	२३७
७.	वैदिक ईश्वरवाद और वर्तमान विज्ञान	पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति	२४१
८.	सम्पादकीय	पं० भगवद्दत्त जी वेदालङ्कार	२४४
९.	अथर्व-भाष्यम्	पं० बुद्धदेव जी त्रिद्यालङ्कार	८५-८२
१०.	शत-पथ ब्राह्मणभाष्यम्	"	३०१-३०६

आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये यह आपका कर्तव्य है।

ग्राहकों से—आर्य अङ्गरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है। पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये। फिर अङ्गरेजी मास का २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये। इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे। अपना पता बदलने की सूचना भी हमें तत्काल दीजिये।

पत्र-व्यवहार करते हुए अपना ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
पता ग्राहक संख्या वाले चिट पर लिखा होता है।



आर्य

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराणः ॥

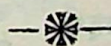
भाग १६

लाहौर, आश्विन १९६४, अक्तुबर १९३७

[दयानन्दाब्द ११३]

६ अंक

वेदोपदश



मैं तो भगवान् के घर में जाऊँगा।

क त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुराचित् ।

बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥

ऋग् ० ७।८८।५

अर्थ—(वरुण) हे वरुण (त्यानि) वे (नौ) हम दोनों के (सख्या) सखि-भाव (क) कहां (बभूवुः) हो गये ? (पुराचित्) पहले (यद्) जो (अवृकं) अटूट सखि-भाव हमारा था (सचावहे) उसे हम फिर प्राप्त कर लें, हे (स्वधावः) सामर्थ्य देने वाले (ते)

तेरा जो (बृहन्तं) बहुत बड़ा (मानं) सब भूतों को अपने में समा लेने वाला (सहस्रद्वारं) सहस्रों द्वारों वाला (गृहं) घर है (जगमा) उसमें मैं प्राप्त हो जाऊँ ।

जो उपासक सूक्त के पूर्ववर्णित चारों मन्त्रों के अनुसार अपने जीवन को ढाल लेते हैं, जो इनमें

कहे अनुसार वर्णीय भगवान् को अपनी नौका पर बिठा लेते हैं अथवा स्वयं भगवान् की नौका पर बैठ जाते हैं, उनका भगवान् से सखि-भाव हो जाता है। उनकी भगवान् से मित्रता हो जाती है। इस सखि-भाव इस मित्रता के कारण उनका भगवान् के घर में प्रवेश हो जाता है। अर्थात् वे मोक्षधाम में पहुँच जाते हैं। मित्र का मित्र के घर में खुला प्रवेश होना स्वाभाविक ही है। जब हम भगवान् के मित्र होगये तो हमारा उसके घर में निर्बाध प्रवेश होना ही था। भगवान् का घर, उनकी रहने की स्थिति, उनकी निरतिशय आनन्द की अवस्था है जिसमें वे सनातन काल से रहते आ रहे हैं, जिस अवस्था को हम अपने शब्दों में मोक्षधाम कहते हैं। हम भगवान् के मित्र होकर इसी अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।

इस मोक्ष की अवस्था को हमने इस अनादि सृष्टि चक्र में न जाने कितनी बार प्राप्त किया है। परन्तु जब मोक्ष की अवधि को समाप्त कर के हम पुनः संसार में आ जाते हैं तो हम प्रायः सब बात को भूल जाते हैं कि हमारा भगवान् से गहरी मित्रता का नाता रह चुका है और हम मोक्षधाम के अधिवासी बन चुके हैं। पर जब हम वेदादि शास्त्रों का स्वाध्याय करके और सद्गुरुओं की संगति में बैठकर फिर से भगवान् की मित्रता प्राप्त करने के मार्ग पर चलने लगते हैं तो हमारी वह पुरानी स्मृति फिर जाग उठती है। और हम भगवान् की मित्रता प्राप्त करके उसके घर में, मोक्षधाम में, पहुँचने के लिये लालायित हो उठते हैं। इसी लालायित अवस्था का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में है।

उपासक परम उत्कण्ठा के वश में होकर भगवान् से बातें करने लगता है। वह कहने लगता है—हे भगवान् पहले तो मेरा और आपका बड़ा सखि-भाव था, हमारी बड़ी मित्रता थी। वे हमारी सारी मित्रतायें कहाँ चली गईं? मैं आपसे अलग कैसे हो गया? हे भगवान् इतने दिन तक तो मैं आप से अलग रह लिया सो रह लिया। अब और मैं आप से अलग नहीं रह सकता। अब तो मैं हमारा जो अटूट सखि-भाव है—जो केवल अज्ञान के कारण ओझल हो जाता है—उसे प्राप्त करके रहूँगा। और आपके साथ इस घनिष्ठ सखिभाव के फल स्वरूप मैं आपके सहस्रों द्वार वाले घर में घुस कर रहूँगा। मन्त्र में मोक्षावस्था को सहस्रद्वार वाला घर इसलिये कहा है कि सत्य की सहस्रों शाखायें हैं। उनमें से किसी एक शाखा को भी मनोयोग पूर्वक पकड़ने से, उसके अनुसार पूर्ण रूप से जीवन व्यतीत करने से—योगदर्शन के शब्दों में उसकी 'प्रतिष्ठा' कर लेने से—हमारे लिये मोक्ष का द्वार खुल जाता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि जो सत्य के अनेक अंग हैं उनमें से किसी एक की भी हमारे अन्दर पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने से हमें मोक्षप्राप्त हो जायेगा। क्योंकि इनमें से किसी एक की पूर्ण सिद्धि हो जाने पर दूसरों की सिद्धि स्वयं ही हो जाती है। अपनी रुचि के अनुसार पहले किसी एक को पकड़ कर उसे पूर्ण रीति से सिद्ध करने में लग जाइये दूसरों की सिद्धि अपने आप साथ-साथ होने लग पड़ेगी।

पाठक यह भी देखेंगे कि इस मन्त्र में मोक्ष से पुनरावृत्ति की स्पष्ट सूचना है। इसके लिये मन्त्र का शब्दार्थ एक बार फिर ध्यान से पढ़िये।

मनुष्य ! भगवान् से मित्रता कर के उसके घर में जाने योग्य बन।

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

१६. राज्य में करने योग्य कुछ बातें

(Some ends to be realised by the state)

२०. विवाहों पर नियन्त्रण

वेदका स्वाध्याय करते हुए कितने ही मन्त्र ऐसे मिलते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि राज्य का प्रजाजनों के विवाहों पर एक विशेष प्रकार का नियन्त्रण रहना चाहिये। इस भाव को व्यक्त करने वाले कुछ मन्त्र नीचे दिये जाते हैं:—

तान् यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि ।
मध्वः सुजिह्व पायय ॥ ऋग् १।१४।७
अग्ने पत्नीरिहावह देवानामुशतीरुप । ऋग्
१।२२।६ ॥ यजुः २६।२०
यमो ह जातो यमो जन्तुं जारः कनीनां पति-
जनीनाम् । ऋग् १।६६।४
याभिः पत्नीर्विमदाय न्यूहथुरा घ वा याभिररुणी-
रशित्तम् ।
याभिः सुदास ऊहथुः सुदेव्यन्ताभिरु पु ऊति-
भिरश्विना गतम् ॥ ऋग् १।११२।१६।
यावर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतू रथेन
ऋग् १।११६।१
युवं शचीभिर्विमदाय जायां न्यूहथुः पुरुमित्रस्य
योषाम् । ऋग् १।११७।२०
प्रतं विवक्मि वक्म्यो य एषां मरुतां महिमा
सत्यो अस्ति ।

सचा यदीं वृषमणा अहंयुः स्थिराचिज्जनी
वहते सुभागाः ॥ ऋग् १।१६७।७
जनीयन्तो जनिदामक्षितोतिमाच्यावयामोऽवते न
कोशम् ॥ ऋग् ४।१७।१६।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व । ऋग् ५।२८।३।
यजुः ३३।१२
नहि त्वदिन्द्र वस्यो अन्यदस्त्यमेनांश्चिज्जनिव-
तश्चकर्थ ॥ ऋग् ५।३१।१
उत मा व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्र एयगनायश्विनी राट्
आरादेसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्
अथर्व. ७।४६।२ ॥ ऋग् ५।४६।८
अतो न आ नृन् अतिथं नतः पत्नीर्दशस्यत ।
आरे विश्वं पथेष्ठा द्विषो युयोतु यूयुविः ॥ ऋग् ५।५०।३
अध स्या योषणा मही प्रतीची वरामश्व्यम् ।
अधिरुक्मा वि नोयते ॥ ऋग् ५।४६।३३
रपद्गन्धर्वीरण्या च योषणा नदस्य नादे परि
पातु मे मनः । इष्टस्य मध्ये अदिति निर्धातु नो भ्राता
नो ज्येष्ठः प्रथमो विवोचति ॥ ऋग् १०।११।२
अथर्व. १८।१।१६।
अत्रेदु मे मंससे सत्यमुक्तं द्विषाच्च यच्चतुष्पा-
त्संसृजानि । स्त्रीभिर्यो अत्र वृषणं पृतन्यादयुद्धो
अस्य विभजानि वेदः ॥ ऋग् १०।२७।१०।

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण ।
भद्रा वधूर्भवति या सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने
चित् ॥ ऋ० १० । २७ । १२ ॥

युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम् ।
युवं हवं वध्निमत्या अगच्छतं युवं सुषुतिं चक्रथुः पुरन्धये
॥ ऋ० १० । ३६ । ७ ॥

न तं राजानावदिते कुतश्चन नाहो अश्नोति दुरितं
न किर्भयम् ।

यमश्विना सुहवा रुद्रवर्तनी पुरोरथं कृणुथः पत्न्या
सह ॥ ऋ० १० । ३६ । ११ ॥

तुम्यमग्ने पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।

पुनः पतिभ्यो जायां दाः अग्ने प्रजया सह ॥ ऋ० १० ।
८५ । ३८ अथर्व १४ । २ । १

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।

दीर्घायुस्स्यायः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ ऋ० १०
८५ । ३६ । अथर्व १४ । २ । २ ॥

अयमायात्यर्यमा पुः स्ताद् विषितस्तुपः ।

अस्या इच्छन्न्नुवै पतिमुत जायामजानये ॥ अथर्व
६ । ६० । १

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो वृहन्निन्द्र हिरण्ययः ।

तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥ अथर्व
६ । ८२ । ३ ॥

इन मन्त्रों में सम्राट् से पत्नी की प्रार्थना की
गई है। मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

“हे सम्राट् (अग्ने) देवप्रजा, संगतीकरण, दानादि
यज्ञीय गुणों से युक्त (यजत्रान्) सत्य ज्ञान को
बढ़ाने वाले, उन प्रजा जनों को (तान्) पत्नी
वाला बनाइये, इस प्रकार उन्हें गृहस्थाश्रम के मधुर
रस का (मध्वः) पान कराइये ।”

मन्त्र में प्रयुक्त ‘तान्’ सर्वनाम ऊपर पाँचवें
मन्त्र में प्रयुक्त हुए ‘कण्वासः’ अर्थात् मेधावी विद्वान्

पुरुषों की ओर निर्देश करता है। उस मन्त्र में इन
मेधावी विद्वान् पुरुषों के लिये प्रयुक्त हुए विशेषणों
में से ‘वृत्तवर्हिषः’^१ अर्थात् प्रजा या सन्तान को पाप
मार्ग से अलग रखने वाले, ‘हविष्मन्तः’ अर्थात् भोज्य
सामग्री से युक्त ‘अरंकृतः’ अर्थात् अपनी परिस्थि-
तियों को सुन्दर रखने वाले, ये विशेषण देखने
योग्य हैं। इन्हीं के लिये वहां छठे मन्त्र में
‘घृतपृष्ठाः’^२ अर्थात् घृतादि दीप्तिदायक भोजनों के
सेवन से पुष्ट और तेजस्वी शरीर वाले, ‘मनोयुजः’
अर्थात् विचारशील ‘वह्नयः’^३ अर्थात् सब कर्तव्य-
भारों को उठाने में समर्थ और ‘त्वा देवान् सोमपीतये
वहन्ति’ अर्थात् जो अग्नि (सम्राट्) और राज्य के
अन्यदेवों को ऐश्वर्य पान के लिये उठाये रखते हैं—
जो स्वयं ऐश्वर्यवान् हैं और जिनकी अनुमति के
बिना राज्य कर्मचारियों को उनका ऊंचा पद और
तदुपयोगी ऐश्वर्य नहीं मिल सकता—ये विशेषण
भी प्रयुक्त हुए हैं। इन्हीं ‘कण्व’ प्रजाजनों के ओर
प्रस्तुत सातवें मन्त्र का ‘तान्’ सर्वनाम निर्देश करता
है। किस प्रकार के लोगों को विवाह करना चाहिए
इस के लिए वेद जो आदर्श रखता है उसकी एक
भूलक प्रजा जनों के इन विशेषणों से मिलती है।

“हे सम्राट् (अग्ने) प्रजा के नाना व्यवहार-
शील विद्वान् पुरुषों के लिए (देवानाम्)^४ कामना-
युक्त (उशतीः)^५ पत्नियों लाइये ।”

१. वृत्तं कुमारैभ्यो निवारितं बर्हिः प्रजा येस्ते वृत्तवर्हिषः ।

वृजी वर्जने । प्रजा वै बर्हिः । श. १ । ५ । ३ । १६

२. पुष्टाङ्गत्वेन दीप्तपृष्ठा इति सायणः ।

३. वोढार इति सायणः ।

४. दिवुधातोरर्थेषु व्यवहारोऽप्यन्यतमः । दीव्यन्ति
व्यवहरन्तीति देवाः ।

५. कामयमाना इति सायणः । वश कान्तौ ।

पत्नियों के 'कामनायुक्त' विशेषण से यह प्रकट होता है कि उन्हीं कन्याओं का विवाह हो सकता है जिनमें विवाह की कामना उत्पन्न हो गई है। यह कामना यौवन में ही उत्पन्न हो सकती है। इस लिए युवति कन्याओं का विवाह होना चाहिए। बालिकाओं का नहीं।

“प्रजाजनो को कामनाओं को पूरा करने वाला (यमः) ^१ यह सम्राट् (अग्निः) जो कुछ राष्ट्र में उत्पन्न हो चुका है (जातः) और जो कुछ उत्पन्न होगा (जनित्वं) ^२ उस का अधिरक्षक (पतिः) है, सब का नियन्ता (यमः) ^३ यह सम्राट् ही कन्याओं को कन्यात्व से मुक्त करने वाला है (भारः) ^४ यही राष्ट्र की स्त्रियों का रक्षक (पतिः) है।”

मन्त्र के 'कन्याओं को कन्यात्व से मुक्त करने वाला है' इस वाक्य का भाव यह है कि जब तक राज्य नियम द्वारा आघोषित कन्यात्व की सीमा को पार करके युवतित्व की सीमा में कोई बालिका न चली जाये तब तक उसका विवाह नहीं किया जा सकता। इस अवधि से पहिले कन्या का विवाह करनेवाले राज्य द्वारा दण्डित किये जायेंगे। 'स्त्रियों का रक्षक है' इस वाक्य का भाव तो स्पष्ट ही है। जब तक राजा समर्थ और शक्ति-शाली न हो तब तक राष्ट्र की स्त्रियों की मान प्रतिष्ठा सुरक्षित नहीं रह सकती। इस लिये मन्त्र के पूर्वार्द्ध में, जिसे हमने यहां उद्धृत नहीं किया, सम्राट् के बल की प्रशंसा की गई है।

१. यच्छति ददाति कामानिति यमः इति सायणः।
२. जनयितव्यमुत्पत्स्यमानमिति सायणः।
३. नियन्तेति दयानन्दः।
४. जरयिता, अग्नौ होमे सति कन्यात्वं निवर्त्तते इति सायणः।

“जिनके द्वारा विविध आनन्द-दायक पदार्थों से युक्त पुरुषों के लिये (विमदाय) तुम पत्नियों को उठाकर लाते हो, जिनके द्वारा ब्रह्मचर्याभ्यास द्वारा रक्त वर्ण की ब्रह्मचारिणियों को (अरुणीः ^१) तुम शिक्षा देते हो, जिनके द्वारा राज्य के लिये देय धन को उत्तम रीति से देनेवाले प्रजाजन के लिये अथवा प्रजाओं को उत्तम रीति से रक्षा देनेवाले राज्य के लिये (सुदासे ^२) प्रशस्त धन (सुदेव्यं ^३) को लाते हो, उन अपनी रक्षाओं के साथ हे अश्वियो तुम हमारे पास आओ।”

“ये अश्विनौ जो चेष्टा-शील ज्ञानवान् (अर्भगाय ^४) और विविध आनन्ददायक पदार्थों से युक्त पुरुष के लिये (विमदाय) अपने सेना-सहगामी (सेनाजुवा) रथ से पत्नी को उठाकर लाते हैं।”

“हे अश्वियो तुम अपनी शक्तियों से, विविध आनन्द युक्त पुरुष के लिये (विमदाय) अनेक मित्रों या मित्रता योग्य गुणों वाले पुरुष की (पुरु-मित्रस्य) संगम योग्य कन्या को (योषां ^५) स्त्री रूप में (जायां) लाते हो।”

‘मरुतों की जो सबके प्रशंसा करने योग्य और सत्य महिमा है मैं उसका वर्णन करता हूँ, जिससे सम्बन्ध करके सन्तानात्पति के लिये वीर्यसेचन की

१. ब्रह्मचारिणीरिति दयानन्दः।
२. शोभनं ददातीति सुदाः इति सायणः।
३. प्रशस्तं धनमिति सायणः।
४. अर्तिगृभ्यां भन् इत्यर्तेर्भन् इत्यर्ति गच्छतीति अर्भः, अर्भ एवाभगः छान्दसो गकारः। इति सायणः। गतेस्त्रयोऽर्था गमनं ज्ञानं प्राप्तिश्चेति।
५. मिश्रणयोग्या संगमयोग्या। यु मिश्रणे औणादिकः सः। जायासाहचर्यादयमत्र कन्यामाचष्टे।

इच्छा वाले (वृषभणाः) गर्वीले युवक (अहंयुः) सुभग और दाम्पत्य जीवन में स्थिर रहने वाली (स्थिराचित्) पत्नियों को (जनीः) प्राप्त करते हैं।” “पत्नियों की इच्छा वाले (जनीयन्तः) हम पत्नी देनेवाले (जनिदाम्) और जिसकी रक्षा क्षीण कभी नहीं होती ऐसे सम्राट् (इन्द्र) इन्द्र को बुलाते हैं—अपने अनुकूल करते हैं (आ च्यावयामः) जैसे कि जल चाहने वाले लोग क्रूर में (अवते) जलपात्र को (कोशं) भेजते हैं (आ च्यावयान्ति)” “हे सम्राट् (अग्ने) हमारे दाम्पत्य जीवन को (जास्पत्यं^१) भली-भांति सुनियमित कर।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तुमसे भिन्न कोई और श्रेयस्कर (वस्यः^२) नहीं है, तू जिनके पास पत्नी नहीं है (अमेनांश्चित्^३) उनको भी पत्नी वाला (जनिवतः) कर देता है।” “इन्द्राणी, अग्रायी, अध्विनी, रोदसी (रुद्र-पत्नी), वरुणानी ये इन्द्रादि राज्याधिकारी देवों की पत्नी स्त्रियं (आः), हम प्रजा-जनों द्वारा ताव्य भाग का भक्षण करें—सेवन करें (व्यन्तु^४) और हमारी प्रार्थना को सुनें (शृणोतु) और पत्नियों का (जनीनाम्) जो ऋतु है उसको ये दिव्य गुणोंवाली (देवीः) जानें (व्यन्तु^५)।”

१. जाया च पतिश्च जायापती तयोः कर्म जास्पत्यम् । इति सायणः ।
२. वसीयः श्रेयस्कर मिति सायणः ।
३. मेनाशब्दः स्त्रीवाची अपगतस्त्रीकाश्चिदिति सायणः । मेनाग्ना इति स्त्रीणामिति यास्कः । नि० ३।४।२१॥
४. हविर्भक्ष्यन्तु इति सायणः ।
५. कामयन्तामिति यास्कः । निरु० १२।४।४६। वस्तुतस्तु वेतेर्गत्यर्थमादाय जानन्त्वित्यर्थोभ्युपगन्तव्यः । गतिर्हि ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च । धातोर्ज्ञानमेवार्थोत्र सुसंगतो भवति । यास्कस्य कामयन्तामित्ययमर्थोप्यनु जानन्त्वित्यर्थोऽवसेयः ।

मन्त्र के ‘पत्नियों का जो ऋतु है उसको ये दिव्य-गुणों वाली जानें’ इस वाक्य का भाव यह है कि पत्नी बनने के लिये उपयुक्त जो ऋतु काल है उसको ये देवियें निर्धारण करेंगी और उसके अनु-सार विवाह करके पत्नी बनना चाहने वाली कन्याओं को पत्नी रूप में अनुज्ञा अर्थात् स्वीकृति देंगी। ऋतु तो कई कन्याओं को बारह-तेरह वर्ष की आयु में भी प्रारंभ हो जाता है। परन्तु वह ऋतु पत्नी बनने के लिये उपयुक्त समय का नहीं होता, पत्नी बनने के लिए उपयुक्त समय प्रथम ऋतु-दर्शन के कम-से कम तीन साल^१ बाद होनेवाला ऋतु है। और इस लिये कम-से-कम प्रारंभ के तीन वर्ष के ऋतु, कन्याओं के ही ऋतु हैं, पत्नियों के ऋतु तीन साल तक होने-वाले ऋतुओं के बाद के ऋतु हैं। ये देवियें इन्हीं पत्नियों के ऋतुओं के समय का निर्धारण करेंगी। इस मन्त्र में इन्द्रादि देवों की पत्नियों से प्रार्थना करने से यह भाव व्यक्त होता है कि राज्य की ओर से विवाह के योग्य कालादि के सम्बन्ध में तथा दूसरे भी जो नियम बनें उनकी स्त्रियों के सम्बन्ध में क्रियापरिणति (Application) का निरीक्षण उस-उस विभाग के राज्याधिकारियों की स्त्रियें क्रिया करें। यदि उनकी स्त्रियें कथंचित् इस कार्य के लिये उपयुक्त न हों तो दूसरी उपयुक्त स्त्रियें क्रिया करें। क्योंकि स्त्रियों की बातों का निरीक्षण स्त्रियें ही अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं। वेद के इस और ऐसे ही अन्य मन्त्रों के आधार पर ही ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में कई स्थानों पर यह लिखा है कि पुरुषों का न्याय पुरुष न्यायाधीश करें और स्त्रियों का न्याय स्त्री न्यायाधीश करें।

“हे राज्याधिकारी देवो हमें इस राष्ट्र-यज्ञ में

१. त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती । मनुः

(अतः^१) पुत्र-पौत्रादि मनुष्य दो (नृन्), अति-
थि दो, पत्नियों दो (दश्यत), हमारी उन्नति के मार्ग
में बाधा डालकर बैठने वाले सब प्रकार के द्वेषियों
को (पथेष्ठां द्विषः) विघ्नों को परे हटाने वाला
राजा (यूयुविः) मार भगावे (युधोतु) । ” “तब
(अथा) अपने गुणों के कारण महिमा वाली
(सही) सुवर्णाभरणों से युक्त (अधिरुक्ता) वह
प्रसिद्ध स्त्री (योषणा) विद्याओं में व्याप्त रहने
वाले (अश्वयम् ^२) और जितेन्द्रिय पुरुष की (वश)
और लाई जाती है । ”

मन्त्र का ‘तब’ शब्द ऊपर के ३२ वें मन्त्र में
वर्णित अवस्था की ओर निर्देश करता है । उस
मन्त्र में कहा है—‘इमे जना मदन्तीन्द्रागोपा मदन्ति
देवगोपाः ।’ अर्थात् ‘सम्राट् (इन्द्र) और उसके राज्या-
धिकारी देवों से वक्षित होकर ये प्रजाजन आनन्द
के जीवन का उपभोग करते हैं ।’ इसी प्रसंग में इस
प्रस्तुत ३३ वें मन्त्र में कहा है कि सम्राट् और उसके
राज्याधिकारी देवों द्वारा रक्षण की अवस्था में ही
राष्ट्र के जितेन्द्रिय और विद्या-प्राप्त पुरुषों को गुण-
वती स्त्रियों प्राप्त होती हैं ।

“विद्या को धारण करने वाली अथवा इन्द्रियों
को वश में रखने वाली (गन्धर्वी^३) और कर्म-शील
यह स्त्री (योषणा) अपने अभिप्राय को प्रकट कर
चुधी है (रपत्^४) इसके गुणों की स्तुति करनेवाले
(नदस्य^५) मेरे द्वारा इसकी प्रशंसा और मेरे

अभिप्राय की घोषणा हो चुकने पर (नादे), अख-
ण्डनीय यह सम्राट् (अदितिः^१) मेरे मनकी रक्षा
करे अर्थात् मेरे मनकी इच्छा को नष्ट न करे, और
हमें इष्ट के मध्य में रख दे अर्थात् हमारी अभीष्ट
कामना को पूरा करे, अति प्रशंसनीय (ज्येष्ठः^२)
और गुणों में प्रथम यह हमारा भ्राता सम्राट् अपनी
आज्ञा दे देवे (विवोचति^३) । ”

मन्त्र का भावार्थ यह है कि जो युवक और
युवति एक दूसरे के प्रशंसनीय गुणों से आकृष्ट
होकर परस्पर विवाह करना चाहें वे पहले अपने
अभिप्राय की घोषणा सम्राट् अर्थात् सम्बद्ध राज्या-
धिकारियों से करें, तदनन्तर उनका विवाह हो ।
और राज्य का प्रबन्ध ऐसा सुन्दर हो कि उन्हें
स्वीकृति प्राप्त करने में असुविधा न हो ऐसी ध्वनि
मन्त्र के ‘मेरे मनकी रक्षा करे’, ‘हमें इष्ट के मध्य में
रखदे, इन वाक्यों से निकलती है ।

“हे मेरे गुणों की स्तुति करनेवाले प्रजाजन मेरे
कहेको सत्य जान, मैं सम्राट् (इन्द्र) राष्ट्र में दोपाये
आर चौपायों को उत्तरत्र करता हूँ (संस्तुजानि),
जो राष्ट्र की स्त्रियाँ के ऊपर अपने वृषण से आक्र-
मण करता है अर्थात् उनसे व्यभिचार करना चाहता
है, मेरी इतनी शक्ति है कि मैं बिना युद्ध किये ही
(अयुद्धः) उसके धन-सम्पत्ति को छीनकर
[आक्रान्त लोगों और राज्य में] बांट देता हूँ । ”

मन्त्र के ‘मैं राष्ट्र में दोपाये और चौपाये उत्पन्न

१. अस्मिन् यज्ञे सार्वविभक्तिकस्तसिरिति सायणः ।

२. अश्वेषु व्याप्तविद्येषु साधुमिति दयानन्दः ।

३. गां विद्यावाचं इन्द्रियं वा या धरेति ।

४. रपितवती गुणानुक्तवतीति सायणः ।

५. नद इति स्तोतृनामसु पठितम् । निघ० ३।१६।

१. अखण्डनीयोऽग्निरिति सायणः ।

२. अतिशयेन प्रशस्यः । प्रशस्यस्य ज्यः । इष्ठन् ।

३. परिपातु, निदधातु इति लोटन्तक्रियापदसाहचर्याद्
विवोचतीति क्रियापदमपि लोटन्तमेवावसेतव्यमन्यथा
संगतेरसुकरत्वात् । व्यत्ययेन लोट्यै लट् ।

करता हूँ' इस वाक्य का यह भाव है कि राज्य इस बात का प्रबन्ध रखता है कि उसके राष्ट्र में अच्छे उत्कृष्ट कोटिके दोपाये और चौपाये उत्पन्न हों। इसके लिये जो भी उपाय आवश्यक हों राजा उनको प्रयोग में लाता है। मन्त्र के उत्तरार्द्ध का यह भाव है कि राज्य में से व्यभिचार को नष्ट करके राजा स्त्रियों की पवित्रता की रक्षा करता है और इसी भांति मानो उनके स्वामियों को उनको पत्नियों देता है।

“मुक्त सम्राट् (इन्द्र) के राज्य प्रबन्ध में, विवाह करना चाहने वाले मनुष्य की (वधूयोः मर्यतः) वरणा करने योग्य गुण-प्रशंसा से (रन्यसा^१) प्रसन्न होकर (परि-प्रीता) कितनी (कियती) सुन्दर स्त्रियों (गोपा^२) मंगल-कारिणी (भद्रा) वधू बनती हैं और वे (सा^३) जन-समूह में से भी अपने मित्र अर्थात् गति को स्वयं प्राप्त कर लेती हैं (वनुते)।”

मन्त्र के ‘कितनी (कियती)’ इस प्रश्न-वाचक पद का भाव यह है कि राष्ट्र की सारी ही स्त्रियाँ अपने योग्य व्यक्ति के गुणों से प्रसन्न होकर उसका जन-समूह में से पति रूप में स्वयं वरणा करती हैं। प्रश्न करके उसका उत्तर पाठक पर ही छोड़ देना यह वेद का अपना रहने का एक ढङ्ग है। इसका बहुत जगह प्रयोग हुआ है। सम्राट् के मुँह से इस मन्त्र के उच्चारण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह अपने राष्ट्र में वर वधू स्वयंवरण द्वारा ही उनका विवाह होने देगा। वर-वधू की बिना इच्छा के विवाह को वह नहीं होने देगा।

१. गुण-प्रशंसया। पण व्यवहारे स्तुतौ च।

२. बहुष्वेकत्वविवक्षयैकवचनम्।

३. बहुष्वेकत्वविवक्षयैकवचनम्।

“हे अश्विनो तुम अनेक मित्रों वा मित्रता योग्य गुणों वाले पिता की (पुरुमित्रस्य) कन्या को (योषणां) विविध प्रकार के आनन्द-दायक पदार्थों से युक्त पुरुष के लिये (विमदाय) पतिगृह को शुद्ध कर देनेवाली (शुन्ध्युवं) पत्नी के रूप में अपने रथ में बिठाकर लाते हो, तुम विद्यादि गुणों में बढ़ा हुई सत्स्त्रियों की (वध्रमत्याः) पुकार को सुनते हो— अर्थात् उनकी आवश्यकताओं को पूरा करते हो, तुम स्त्रियों के लिए (पुरन्धये, उत्तम सन्तान का (सुपुति) प्रबन्ध करते हो ”

राज्याधिकारो उत्तम सन्तान किस प्रकार देते हैं इसका वर्णन पौछ हो चुका है।

“हे अदीन (अदिते^१), आ मी से बुनाये जाने योग्य (सुहवा), रुद्र को मांग देनेवाले रुद्रवर्तनी), राजा अश्विनो तुम जिस व्यक्ति को पत्नी के साथ अगले रथपर चलने वाला (पुरोरथ) बनते हो उसे कहाँ से भी पाप, दुर्गति और भय प्राप्त नहीं होता।” “हे अश्विनो ! हम उस ज्ञान को नहीं जानते जिससे युवा पुरुष युवतियों के घर में निवास करते हैं—अर्थात् विवाह करके उनके घर में रहने के अधिकारी बनते हैं, उस ज्ञान का हमें उपदेश करो, हम गौवों के प्यारे (प्रियोस्त्रियस्य), सब कामनाओं की वर्षा करने वाले, वीर्यशाली (रेनिनः) पुरुष के घर में जावें, उस घर को हम चाहती हैं।”

मन्त्र के पूर्वार्द्ध में युवकों की प्रार्थना है और उत्तरार्द्ध में युवतियों की। दोनों इस प्रकार के ज्ञान की, योग्यता की, प्रार्थना कर रहे हैं जिसे प्राप्त करके वे अपने लिए उत्तम पति-पत्नी प्राप्त कर सकें। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह इस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध करे जिससे राष्ट्र के युवक-युवतियें

१. अदीनामिति सायणः।

योग्य होकर योग्य पति-पत्नियों का लाभ कर सकें।

“हे सम्राट् (अग्ने) दातव्य धनादि के (वहतुना^१) साथ पहले विवाह योग्य कन्या को (सूर्या) तुम्हारे पास लाते हैं, तू फिर इसे पति के लिए पत्नी रूप में (जायां) दे। यह सन्तानों से युक्त हो।”

“सम्राट् (अग्निः) ने इसे फिर पत्नी रूप में दिया है, यह लम्बी आयुवाली और तेन से युक्त हो, इसका पति भी लम्बी आयुवाला होवे और सौ वर्ष तक जावे।”

ये दोनों मन्त्र विवाह प्रकरण के हैं। वहाँ सामान्य तौर से अग्नि का अर्थ परमात्मा और उसका भौतिक प्रतिनिधि (symbol) यज्ञ का अग्नि किया जाता है। परन्तु हम देख चुके हैं कि वेद में अग्नि का अर्थ सम्राट् भी होता है। इसलिए इन मन्त्रों से एक अर्थ यह भी निकलेगा कि किसी कन्या का किस व्यक्ति से विवाह होने लगा है इसका सूचना पहले राज्य के सम्बद्ध अधिकारियों को दे दी जानी चाहिए। ‘वहतुना सह’ इन शब्दों से यह भी भाव निकलता है कि कन्याको जो धनादि वहेज में दिया जाए उसे भी राज्य में अङ्कित करा दिया जाना चाहिए।

“अपने सिरके बालों को भली-भाँति बन्धन में

२. कन्याप्रियार्थं दातव्यो गवादिपदार्थो वहतुरिति सायणः।

किये हुए (विपितस्तुपः) यह अर्यमा सामने आ रहा है, यह इस कन्या के लिए पति को और इस अविवाहित के लिए (अजानये) पत्नी की इच्छा कर रहा है।” “हे वाणी, कर्म और प्रज्ञा के अधि-पति (शचीपते^१) सम्राट् (इन्द्र) तेरा जो धन देनेवाला, सुवर्ण बहुल (हिरण्ययः^२) महान् नियन्त्रण (अंकुश) है उससे तू मुझ पत्नी चाहनेवाले को पत्नी दे।”

मन्त्रों में जो इन्द्र और अग्नि से भिन्न अश्विनो, मरुत, अर्यमा आदि देवतावाची पद आए हैं उन्हें कर्त्तव्य भेद से राजा के ही विभिन्न-स्वरूपों के बोधक समझना चाहिए। उनके विशेष स्वरूप पर विचार आगे होगा। अब विचारणीय यह है कि सम्राट् से जो यह पात और पत्नी की प्रार्थना की गई है सम्राट् उसे किस तरह पूरा करेगा—वह किस भाँति पति को पत्नी और पत्नी को पति दिलवाएगा। पाठक यदि उपर्युक्त मन्त्रों के अर्थ को एक बार फिर ध्यान से पढ़ेंगे तो उन्हें इस प्रश्न का उत्तर वहीं स्पष्ट मिल जाएगा। इन मन्त्रों को ध्यान से पढ़ने पर इस सम्बन्ध में निम्न बातें अवगत होती हैं :—

१. शचीति वाङ्नामसु पठितम्। निघं० १।११॥ कर्म नामसु पठितम्। निघं० २।१। प्रज्ञानामसु पठितम्। निघं० ३।६॥

२. हिरण्ययः हिरण्यमयः अत्र हिरण्यप्रचुर इति सायणः।

वेद वाटिका

वैदिक नारी की वीरभवना

[ऋग्० १०।१५६ सूक्त ६ ऋचाओं का सूक्त है। इन मन्त्रों में एक गृहपत्नी अपनी और अपने कुटुम्ब के लोगों की वीर-भावना के उद्गार गा रही है। नीचे मन्त्रों का शब्दार्थ दिया जा रहा है। उसे पढ़िये और मनन कीजिये। और अपनी नारियों को भी वैसा ही योग्य और वीर बनाइये।—संपादक]

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः ।

अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः ॥१॥

अर्थ—(आसौ) वह (सूर्यः) सूर्य (उद्-अगात्) उदय हो आया है, उसके साथ ही (अयं) यह (मामकः) मेरा (भगः) सौभाग्य भी (उद्) उदय हो गया है (अहं) मैं (तत्) उस सौभाग्य को (विद्वला) प्राप्त करके (पति) अपने पतिको (अभ्यसाक्षि) वश में रखती हूँ (विषासहिः) मैं सब किसीको वश में रखने वालो हूँ।

अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी ।

ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत् ॥२॥

अर्थ—(अहं) मैं (केतुः) सब कुछ अच्छी तरह जानने वाली हूँ (अहं) मैं (मूर्धा) सब का मस्तक हूँ (अहं) मैं (उग्रा) बड़ी बलशालिनी हूँ और (विवाचनी) व्याख्यान-कलावित् हूँ (सेहानायाः) विरोधियों का पराभव करने वाली (मम) मेरी (क्रतुं) वृद्धि के (अनु) अनुसार (इत्) ही (पतिः) मेरा पति (उपाचरेत्) आचरण करता है।

मम पुत्राः शत्रुहणोथो मे दुहिता विराट् ।

उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥३॥

अर्थ—(मम) मेरे (पुत्राः) पुत्र (शत्रुहणः) शत्रुओं को मारने वाले हैं (अथो) और (मे) मेरी (दुहिता) पुत्री भी (विराट्) शत्रुओं पर खूब चमकने वाली है (उत) और (अहं) मैं भी (संजया) शत्रुओं को अच्छी तरह जीतनेवाली (अस्मि) हूँ (मे) मेरे (पत्यौ) पति में भी (उत्तमः) सबसे श्रेष्ठ (श्लोकः) शत्रु विजय सम्बन्धी यश है।

येनेन्द्रो हविषा कृत्वथभवद्दुम्न्युत्तमः ।

इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम् ॥४॥

अर्थ—(येन) जिस (हविषा) आत्म-त्याग से (इन्द्रः) सम्राट् (कृत्वी) कर्म करने में समर्थ और (उत्तमः) श्रेष्ठ (द्यम्नी) ऐश्वर्यशाली (अभवत्) बनता है (तत्) वही (इदं) यह आत्म-त्याग (देवाः) हे देव पुरुषा (अक्रि) मैंने भी किया है, और इसीलिये मैं (किल) निश्चितरूपमें (असपत्ना) शत्रुरहित हो गई हूँ।

असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी ।

आवृक्षमन्यासां वर्वा राधो अस्थेयस मिव ॥५॥

अर्थ—मैं (असपत्ना) शत्रु रहित हूँ (सपत्नघ्नी) यदि कोई शत्रु हो जाए तो उसे मार डालती हूँ (जयन्ती) मैं विजयिनी हूँ और (अभिभूवरी) सब और से शत्रुओं का पराभव करनेवाली हूँ (अन्यासां) अन्य स्त्रियों के (वर्चः) तेज को और (राधः) ऐश्वर्य को (आवृक्षम्) मैंने काट डाला है (इव) जैसे कि (अस्थेयसाम्) अस्थिर अर्थात् निर्बल लोगों के तेज और ऐश्वर्य को काट दिया जाता है। भाव यह है कि मुझसे बढ़कर तेजस्विनी और ऐश्वर्यशालिनी कोई स्त्री नहीं है—मैं सबसे सौभाग्यशालिनी हूँ।

समजैषमिमा अहं सपत्नोरभिभूवरी ।

यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ॥६॥

अर्थ—मैं (अभिभूवरी) शत्रुओं का पराभव करनेवाली हूँ इसलिये (अहं) मैंने (इमाः) इन (सपत्नीः) शत्रु सेनाओं को (अजैषम्) जीत लिया है (यथा) जिस से कि (अहं) मैं (अस्य) इन (वीरस्य) वीर पुरुषों के और (जनस्य) दूसरे लोगों के ऊपर (विराजानि) खूब चमक रही हूँ।

वेद में नाना विद्याएं

ऋषि दयानन्द वेद की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं:—

“विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषुः वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। तथा ऽऽदिस्ष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्य विद्या श्रूयन्तेऽनया सा श्रुतिः।

जिनमें सब सत्य विद्याएं हैं, वे वेद हैं। और जिनमें या जिनके द्वारा सब मनुष्य सब सत्य विद्याओं को जानते हैं। प्राप्त करते हैं, विचारते हैं और विद्वान् होते हैं, वे वेद हैं। इनका नाम श्रुति क्यों है? सृष्टि के आरम्भ से आज तक ब्रह्मादियों ने इनसे सब सत्य विद्याओं का श्रवण किया है। अतः इनका नाम श्रुति है। तो क्या वेद में सम्पूर्ण ज्ञान है? इसके विषय में श्री देवराज जी विद्यावाचस्पति लिखते हैं:—

बहुत से विद्वान् कहते हैं। वेद में सम्पूर्ण ज्ञान है। ये विद्वान् वेद शब्द से ऋग् यजुः साम अथर्व नाम से चार पुस्तकों को ही वेद कहते हैं। इन्हीं में सम्पूर्ण सत्य ज्ञान मानते हैं और कहते हैं कि परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में मनुष्य को सम्पूर्ण ज्ञान दे दिया है। इसी लिए यदि कोई वैज्ञानिक या तत्त्ववेत्ता किसी ऐसे सिद्धान्त को, नियम को या किसी ऐसी वस्तु को प्रकाश करके बताता है जो

उसके समय की जनता को मालूम नहीं, तो वेद पर अभिमान करने वाले लोग वेद नाम से विख्यात ऋगादि चार पुस्तकों में से उसके वर्णन की खोज करनी आरम्भ करते हैं और किसी न किसी तरह से उसका दिग्दर्शन कराते हैं। यदि वह बात उनको उन पुस्तकों में से न मिले तो वे निराश हो बैठते हैं और कह उठते हैं कि भाई! वेदों में कुछ नहीं, भला बताओ तो सही अमुक पुरुष ने अमुक बात बात निकाली वह वेदों में कहां लिखी है निकालने वाले ने तो वे नहीं पढ़े थे परन्तु उसने आविष्कार कर दिखाया यदि वेदों में सब कुछ है तो तुम कोई आविष्कार क्यों नहीं कर दिखाते। इस प्रकार अनेक तरह से आक्षेप करते हुए निराश होते हुए अश्रद्धावान् होते हुए वेदों से विमुख हो बैठते हैं। वेदों पर श्रद्धा करते हुए पहले ही उन्हें विचारना चाहिए था कि वेदों में सर्व-ज्ञान है, इसका क्या अर्थ है? यदि संसार के सारे ज्ञान का या जा मुख्य मुख्य सत्य ज्ञान है उसी का संग्रह किया जाय तो संसार में बड़े से बड़ा जो विश्वकोष है उससे भी कई गुना अधिक वह संग्रह बन जाय और सम्भव है हलके से हलके पत्रों पर भी वह लिखा हो तो भी एक अच्छा बलिष्ठ आदमी उसे न उठा सके। क्या वेद की पुस्तकें जिन में सर्व ज्ञान माना जाता है वे भी इतनी बड़ी

हैं ? जब वे इतनी बड़ी नहीं हैं तो यह कैसे हो सकता कि उनमें सर्वे ज्ञान हो। 'आज मैंने रोटी खाई और वह रुचिपूर्वक खाई उसके खाने से मेरी भूख हट गई'—यह भी तो ज्ञान है ज्ञान ही नहीं किन्तु सत्यज्ञान है, परन्तु चारों वेदों की पुस्तकें खोल जाइये, कहीं आपको यह सत्यज्ञान नहीं मिलेगा। चूँकि यह सत्य-ज्ञान वेद में नहीं है इस लिए इसकी सत्यता खण्डित हो जावेगी या वेद को अपूर्ण ज्ञानवाला समझा जावेगा..... सृष्टि के आरम्भ में जब ज्ञान दे दिया गया हो तो मनुष्य उसको प्राप्त कर बुद्धि के विकास से क्या भिन्न भिन्न प्रकार से ज्ञान उपलब्ध नहीं कर सकते.....—अथवा यूँ समझिये कि पुत्र को उसका पिता उसके हाथ में अपने घर की कुँजी दे देता है और कहता है कि मैंने अपना सारा धन तुझे दे दिया। वस्तुतः दिया क्या। दो चार आने की कुँजी ही दी परन्तु कहा क्या कि सारा धन दे दिया..... इसी प्रकार सृष्टि के आदि में मनुष्य को वह ज्ञान मिला जिसके मिलने से सारा ज्ञान उसके हाथ में आ गया”.....

मान्य विद्वान् के उपर्युक्त सन्दर्भ से हम सर्वथा सहमत हैं। यह समझना सर्वथा भूल है कि वेद में हमें आज कल के सारे आविष्कार मिलेंगे। वेद में ज्ञान मूल रूप से दिया गया है—जैसे किसी को वृक्ष का बीज दे दिया जावे।

अब हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं—
वेद में दो प्रकार की विद्यार्य हैं—

१. परा विद्या—

२. अपरा विद्या—

पर ब्रह्म सम्बन्धी परा विद्या वेद में है—इसका

प्रतिपादन करने की कोई खास जरूरत नहीं है—
जगह जगह इसका वर्णन मिलता है।

ऋग्वेद में एक मन्त्र है

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि-
विश्वे निषेदुः यस्तन्न वेद किमुचा करिष्यति य
इतद्विदुस्त इमे समासते। ऋ० मं० १। सूक्त १६४।
मंत्र ३६।

अर्थात् जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट
परमेश्वर में सब विद्याएं और पृथिवी सूर्य आदि
सब लोक स्थित हैं, जिसमें सब वेदों का मुख्य
तात्पर्य है; उस ब्रह्म को जो नहीं जानता वह
ऋग्वेदादि से क्या सुख को प्राप्त हो सकता है ?
नहीं नहीं, किन्तु जो वेदों को पढ़ के धर्मात्मा योगी
होकर उस ब्रह्म को जानते हैं वे सब परमेश्वर में
स्थित होके मुक्ति रूपी परमानन्द को प्राप्त
होते हैं।

अपरा विद्या—

वैदिक साहित्य परा और अपरा विद्या दोनों के
ज्ञान को आवश्यक बताता है। धर्म का लक्षण
“यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः”—इसी बात
को स्पष्ट कर रहा है। कहा भी है जो केवल अविद्या
अर्थात् अपरा विद्या का उपासना करते हैं, वे अन्ध-
तम अर्थात् घोर अंधेरे में प्रवेश कर रहे हैं और
जो केवल विद्या अर्थात् पराविद्या की उपासना
करते हैं वे और भी अधिक घोर अन्धेरे में जा रहे
हैं।*

इस लिए परा विद्या के साथ अपरा विद्या का
जानना अत्यावश्यक है।

वेदों को गडरियो के गीत कहने वालों की

* अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ततोभूय इव
ते तमो य उ विद्याया रताः।

आँखों में आज वेदों के चमत्कारों से चकाचौंध पैदा हो रही है। आजकल का सम्पूर्ण विज्ञान वेदों में किस तरह से है। इसको मैं इस छोटे से निबन्ध में नहीं दर्शा सकता अतः कुछ मुख्य २ विद्याओं का दिग्दर्शन कराऊंगा—

वेद और ज्योतिष

पृथ्वी की गतियाँ—आज-कल के वैज्ञानिक लोग पृथ्वी की तीन प्रकार की गतियाँ मानते हैं—

(१) (प्रथम) Revolution—(रिवोल्यूशन) पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूम रही है और एक साल में इस चक्र को पूरा कर लेती है।

(२) (द्वितीय) Rotation—(रोटेशन) पृथ्वी अपने अक्ष पर भी घूमती है।

(३) Precession—(प्रिसेशन) पृथ्वी का अक्ष भी घूम रहा है—

इन गलियों को देखिए निम्न मन्त्रों में किस सुन्दरता से दर्शाया गया है—

आयं गौः पृथिवी रक्रमीदसदन्मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः । ऋ० १० । १८६ । १ ।

इसका अर्थ यह है कि यह पृथ्वी अपनी माता जलों के साथ लिए हुए—अपने पिता सूर्य के चारों तरफ घूमती है और प्रयम्—अपने अक्ष पर भी घूमती है। 'गौ' शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि पृथ्वी में एक तीसरी भी गति है—अर्थात् पृथ्वी का अक्ष भी घूमता है—क्योंकि पृथ्वी की जब गतियाँ सूचित की जा चुकीं। फिर 'गौ' शब्द का प्रयोग बताता है कि एक तीसरी भी गति है—जिसे अंग्रेजी में Precession कहा गया है।

इस मन्त्र में गौ शब्द से सूर्य चन्द्रादि लोकों का भी ग्रहण है।

सूर्य की बातें—

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुभमानाः । न हिन्वाना सस्ति तिरुस्त इन्द्रं परिस्पशो अदधात्सूर्येण । ऋ० १।३३।८

अर्थात् पृथ्वी गोलाकार है। इसका आधा भाग सूर्य से प्रकाशित होता है। और आधा भाग अन्धेरे से ढका रहता है। यह सूर्य आकर्षण से ठहरी है। पृथ्वी सूर्य के ही आधार पर है। इस बात का वर्णन ऋग्वेद में दूसरी जगह इस प्रकार है कि—

'उक्षा दाधारपृथिवी सुतयाम्'—अर्थात् पृथ्वी और ध्रुवोक्त सूर्य के आधार पर ठहरे हैं। अन्यत्र वेद में लिखा है। 'दाधार पृथिवीमभितो मयूखैः'—अर्थात् किरणों से सूर्य पृथिवी को धारण किए हुए हैं।

ऋग्वेद १०।१४६।१ में "सवितायन्त्रैः पृथिवीमर-रम्णाद् अस्कम्भने सविता द्यामदृंहत,—अर्थात् निराधार प्रदेश में सूर्ययन्त्र द्वारा पृथिवी घूम रही है और उसी सूर्य ने ग्रहों को दृढ़ किया है। तथा—परि जमा चित्क्रमते अस्य धर्मणि—

अर्थात् इस सूर्य की धारण शक्ति के आश्रय में पृथ्वी परिक्रमा करती है। सूर्य सब का आधार है, इस बात को अर्वाचीन विज्ञान भी स्वीकार करत है।

सूर्य की गति

"एकं पादं नोत्तिवदति सलिलाद्वांस उच्चरन् यदङ्ग स तमुत्तिवदे न्नेवाद्य नश्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत्कदाचन

अर्थात् हंस आकाश व क्षितिज से ऊपर आता हुआ अपना एक पैर नहीं उठाता। (अर्थात् एक पैर को ही उठाता है) क्योंकि हे प्रिय यदि वह अपने उस पैर को भी उठा ले तो न तो आज की सत्ता हो और नाहीं कल की—न रात की

सत्ता हो और न दिन की सत्ता हो और न कभी उषाकाल चमके ।

इस मन्त्र में सूर्य को हंस मान कर कहा है कि इसके दो पैर हैं । इनमें से सूर्य चलने के लिए एक पैर को तो उठाता है परन्तु दूसरे पैर को नहीं उठाता । प्रत्येक मनुष्य इस कथन का परीक्षण अपने घर कर सकता है । मनुष्य खड़ा हो, वह अपने एक पैर को गति देने के लिए उठाए और दूसरे को जमा रहने दे, तो मनुष्य की गति अपने केन्द्र पर या धुरी पर ही हो सकेगी । एवं मन्त्र ने सूचित किया कि सूर्य अपने केन्द्र पर या अपनी धुरी पर गति कर रहा है । इस प्रकार हमें ज्ञात हुआ कि वैदिक सिद्धान्त के अनुसार—सूर्य अपनी धुरी पर ही घूमता है । सूर्य अपना धुरी पर घूमता है इस सिद्धान्त का ज्ञान पाश्चात्य संसार में सन् १६११ के लगभग हुआ था ।

उपयुक्त बात को ध्यान में रखते हुए निम्न लिखित मन्त्र को देखिए—

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन् न्यन्या अर्क-
मभितो विशन्त ।

वृहन् ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणी-
राविवेश ॥ अथर्व० १०.८।३

अर्थात् परमात्मा ने तीन प्रकार के लोक पैदा किए हैं ये तीनों लोक (अत्यायमायन्) बहुत गति वाले हैं—(न्यन्या) इनमें से दो (अर्कम् अभितः न्य विशन्त) सूर्य के चारों ओर घूमते हैं । सूर्य सब में से बड़ा है, जो हि (तस्थौ) स्थिर खड़ा है, वह (हरितः) वृक्षों को हरा रंग देता है और इस प्रकार वह हरी भरी दिशाओं में प्रविष्ट है ।

एवं पता चला कि सूर्य अपने ग्रह-मण्डल (ग्रह और उपग्रह) का केन्द्र है । यह खड़ा है

अर्थात् यह किसी के चारों ओर नहीं घूमता । इस मन्त्र से पहले मन्त्र (एकं पादं नो०) में बताया गया था कि सूर्य अपन धुरी पर घूमता है ।

चन्द्रमा का सूर्य से प्रकाशित होना—

यजुर्वेद (१८-४०) में एक मन्त्र है ।

सुषुम्णः सूर्य रश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः.....

निरुक्तकार कहते हैं—

अथाप्यस्यै रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते-
तदेतेनोपेक्षितं स । आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवतीति
“सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः” इत्यपि
निगमो भवति ।

अर्थात् सूर्य की एक रश्मि चन्द्रमा में जाकर प्रकाशित होती है । अतः, वेदार्थ करने वाले का ज्ञान लेना चाहिए कि इस चन्द्रमा की दीप्ति आदित्य से होती है ।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए प्रोफेसर विलसन (Wilson) टिप्पणी में लिखते हैं—“The purport of the stanza is obscure expression of an astronomical fact, known to the authors of the Vedas, that the moon shone only through the light of the sun.”

अर्थात् इस मन्त्र का आशय एक ज्योतिषिक सत्यसिद्धान्त प्रतीत होता है जो वेदों के कर्ताओं को भी ज्ञात था अर्थात् चन्द्र केवल सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है ।

वेद में—

अत्राह गौरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था
चन्द्रमसो गृहे । १।८।१५

इस पर निरुक्तकार—

अत्राह गोः सममंसतादित्यरश्मयः । स्व

नामापीच्यमपचितम्, अपगतम्, अपहितमन्तर्हित
वासुत्र चन्द्रमसो गृहे ।

अर्थात् इस चन्द्रमा के मण्डल में सूर्य की
रश्मियों ने अपनी कतिपय रश्मियों का नत होना
झुकना मान लिया ।

सूर्य की सात रंग की किरणें—“सप्त त्वा हरितो
रथे वहन्ति देव सूर्य ! शोचिष्केशं विचक्षणः ।

ऋ० १।५० ६॥

अर्थात् हे सूर्य तुमको रथ में जुड़ी हुई सात
घोड़ियाँ (किरणें) ले जा रही हैं ।

एको अश्वो वहति सप्तनामा । ऋ० १।१६४.२॥

अर्थात् सूर्य को घोड़ा ले जा रहा है, परन्तु
उसके सात नाम हैं ।

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः ।

अथर्व० १७।१०।१७।१॥

अर्थात् सूर्य की सात किरणें दिन को उत्पन्न
करती हैं ।

सूर्य—ग्रहण—

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः अक्षेत्र-
विद् यथा मुग्धो भुवनात्यदीधयुः स्वर्भानोरधय-
दिन्द्र भायाऽवो दिवोवर्तमाना अवाहन् गूढं सूर्य-
तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददात्रि ।

ऋ० ५।४० ५-६॥

अर्थात् हे सूर्य ! तुम्हें चन्द्रमा ने जो अन्धकार
से घेर लिया है—इससे ज्योतिष और रेखागणित
न जानने वाले मुग्ध हो रहे हैं । ब्रह्मलोक में तुम्हारा
प्रकाश है उसको चन्द्रमा ने आच्छादित कर दिया
है । इस लिए विद्वान् लोग सूर्य को तुरीयन्त्र से
देख सकते हैं । इस तुरीयन्त्र का वर्णन भास्कराचार्य
ने सिद्धान्तशिरोमणि में इस प्रकार किया है—

दृगुच्च मूलं नलकं निवेश्य

वंशद्वयाधारमथास्यरन्ध्रे ।

विलोकयेत्खेचरं किलैवं

जले विलोमं तदपि प्रवक्ष्ये ॥

वेदों में गणित—

इसके लिए कई प्रमाण दिए जा सकते हैं—
अंक-गणित सम्बन्धी मन्त्रों में से कुछ मन्त्र हम
यहां देते हैं—

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव अशीतिः
सन्त्यष्टा उतो ते सप्तसप्ततिः । पष्टिश्च षट् च रेवति
पञ्चाशत् पञ्चसुम्नथि चत्वारश्चत्वारिं शच्च त्रय-
स्त्रिंशच्च वाजिनि । द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येका-
दशा वमाः । अथर्व० १६।४७।३-५॥

इन मन्त्रों में ६९, ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३,
२२ और ११ का क्रम से वर्णन है । एक ओर से
ग्यारह-ग्यारह की हानि है और एक ओर से
ग्यारह-ग्यारह की वृद्धि है । हर तरफ से ग्या ह
का पहाड़ा है ।

इसी प्रकार—इस मन्त्र से जोड़ इत्यादि के
नियम निकलते हैं (देखिए वैदिक संपत्ति पृष्ठ ६३३)
एक और चमत्कार-पूर्ण मन्त्र है—जिसमें अंक
विज्ञान के एक अपूर्व सिद्धान्त का वर्णन है—

‘तस्येमे नवकोशा विष्टम्भा नवधा हिताः’

इसका भाव यह है कि उस अंक (एक) के
नौ कोश हैं अथवा ९ का अंक कोश है और
(विष्टम्भा) एक विशेष स्तम्भ (आधार) है ।
१ से ९ तक ही सम्पूर्ण अंक शास्त्र का खजाना
है इसमें ही सारा अंक विज्ञान आ जाता है ।

यो अकृन्दयत्सलिलं महित्वा

योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः ।

वत्सः कामदुधो विराजः

सगुहाचक्रे तन्वः पराचैः ॥

अथर्व० ८।१।२॥

अर्थात् पानी के केवल (सतह) को सच्चा मानकर और आधार तथा लम्ब को ठीक-ठीक करके त्रिभुज चक्र (क्षेत्र) बनावे—जिसके भीतर वत्सरूप से क्षेत्रफल बैठा है। इस समकोण त्रिभुज का सिद्धान्त ३-४ और ५ है। यदि लम्ब ३ और आधार ४ होगा तो करण ५ ही होगा और इन्हीं में गुणा बाकी करने से क्षेत्रफल ज्ञात हो जावेगा।

इसी प्रकार रेखागणित के अन्य सिद्धान्त भी वेदों में उपलब्ध होते हैं।

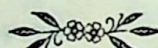
१ ३ १ २ २ १२ ३ २ ३ १ २
अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
१ २ २ २ १ २
नि हाता सत्सि बर्हिषि । साम० छ० प्र० १ खं० १ ॥

इस पर स्वामी बयानन्द ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका में लिखते हैं—

यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धेति न्यायेन स्वरसंकेतांके बीजगणितमपि साध्यमिति बोध्यम्—

जिस प्रकार एक क्रिया से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं उसी प्रकार यहां स्वर के संकेतरूप अङ्कों से बीजगणित की सिद्धि होती है।

शयन मरण है



अर्णव में रव धोर वीचियां उत्ताल हैं,
रौद्र चण्ड नम नाच रहा महाकाल है।

स्थान स्थान पै महान भीषण चट्टान हैं,
पड़ता सुनाई नित्य प्रलय का गान है!

सखे, लघुतरी यह जा रही कहां अहा,
मांकी मधुमत्त पथ भुष्ट हुआ सो रहा!

धीरे धीरे तरणी में भर रहा जल है,
भंक्का वेग चहुं ओर हो रहा प्रबल है!

हाय, कोई दीखता प्रकाश गृह भी नहीं,
‘दिशासूची यन्त्र’ भी विलुप्त हो गया कहीं!

जाग जाग जाग “योगी” दुर्गम अयन है,
जागरण जीवन है शयन मरण है ॥

सत्यभूषण “योगी”



ब्राह्मण कार्य

[ले० श्री आचार्य देवशर्मा जी 'अभय']

तुम में से जो ब्राह्मण हैं उन्हें क्या कार्य करने चाहियें जब मैं इसका वर्णन करने लगा हूँ तो तुम यह आशा करोगे कि मैं कुछ 'पेशा' गिनाऊंगा, अपनी जादिका (रोजी) चलाने के कुछ धन्धे गिनाऊंगा जो कि ब्राह्मण वृत्ति वाले पुरुषों को करने चाहियें। पर सब से पहली और अन्तिम बात ध्यान देने योग्य यही है कि ब्राह्मण (बल्कि क्षत्रिय भी) कोई 'पेशा' नहीं करते हैं, कोई भी कार्य इस लिये नहीं करते हैं कि इस से इन्हें धन मिलेगा, अर्थ मिलेगा। वे तो सेवा करते हैं। सेवा के बदले में कुछ चाहते नहीं। ऐसा वही पुरुष कर सकता है, जिसे परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास है। इसी लिये (तुमने देखा होगा कि) ब्राह्मण के गुणों में 'आस्तिक्य' को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। जो यह विश्वास रखता है कि जिस परमेश्वर ने मुझे यह शरीर मन आत्मा दिया है, उसी ने इसको चलाने का प्रबन्ध भी कर रक्खा है, जिसे भगवान् की इस प्रतिज्ञा पर पूरा भरोसा है—

“तेषां स तयुक्तानां यागक्षेमं वहाम्यहम्”

वही पुरुष खाने पीने की चिन्ता में न पड़ कर सामने जो अपने योग्य सेवा कार्य देखते हैं, उसे करने लगते हैं। उन्हें ही (जैसा कि मैं आगे कहूंगा) भिक्षा स्वीकार करने का अधिकार होता है। अतः प्रारम्भिक

बात यह हुई कि ब्राह्मण लोग पेशे के तौर पर कोई कार्य नहीं करते। तो भी (पेशे के तौर पर नहीं किन्तु अपने अन्तः प्रेरित कर्तव्य के तौर पर) जो जो कार्य करते हैं उन्हें तुम मनु महाराज के शब्दों में निम्न प्रकार से याद कर लो—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा

दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनु० १।८८॥

अर्थात्, पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना, ये कार्य ब्राह्मणों के लिये विधान किये गये हैं। मैं तुम्हारा इस तरह ध्यान खींचना चाहता हूँ कि ब्राह्मणों के लिये निर्दिष्ट किये गये इन छे कर््यों में से तीन कार्य अर्थात् पढ़ना यज्ञ करना और दान देना ऐसे हैं जो कि आगे क्षत्रिय के लिये भी बताये हैं, बल्कि ठीक उन्हीं शब्दों में वैश्य के लिये भी कहे हैं, शेष तीन कार्य ही ऐसे हैं जो कि केवल ब्राह्मण के लिये हैं। वे हैं पढ़ाना (अध्यापन), यज्ञ कराना (याजन) और दान लेना (प्रतिग्रह)। यदि इन तीन को तुम् अच्छी तरह समझ लो तो ब्राह्मण कार्य के सम्बन्ध में असली बातें जान लोगे।

इनमें से दान लेना (अर्थात् भिक्षाचर्या) तो और तरह की चीज है इसका वर्णन मैं पीछे करूंगा शेष पढ़ाना और यज्ञ कराना ये दो कार्य ब्राह्मणों के

करने के रह जाते हैं। पर इन दोनों को भी हमें जरा विस्तृत अर्थ में लेना चाहिये। पहले अध्यापन को लीजिये। विस्तृत अर्थ में इसका मतलब है—ज्ञान को फैलाने के सब कार्य, जिसमें पढ़ाना भी एक कार्य है। पढ़ाना अर्थात् शिक्षक, गुरु अध्यापक या उपाध्याय, आचार्य का कार्य ब्राह्मण का ही कार्य है। यदि सचमुच शिक्षण का सारा कार्य आज देश भर में उन लोगों के हाथ में आजाय जो ब्राह्मण हैं अर्थात् जिनमें (पिछली बार व्याख्या किये गये) शम दम, तप, आस्तिक्य आदि गुण स्वभावतः हैं तो थोड़े ही काल में देश का कायापलट हो जाय। पर आज कल तो शिक्षक बनने के लिये अक्षरज्ञान या एक पाठ क्रम में से गुजरा होना ही काफी समझा जाता है, आचरण आदि कुछ नहीं देखा जाता। मुझे यह देख कर हंसी आता है कि प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जिसने कुछ पढ़ लिया है अपने को शिक्षक बनने के योग्य समझता है। कई बार रोनी दूँढते हुए लोग यहाँ आते हैं और गुरुकुल में कहीं स्थान चाहते हुए कहते हैं कि “और कोई काम न हो तो छोटे बच्चों को पढ़ाने का ही काम दे दीजिये”। मानो पढ़ाने का कार्य ऐसा है जो हरेक पढ़ना जानने वाले को दे दिया जाना चाहिये। गुरुकुल के स्नातक भी प्रायः सभी पढ़ाने का कार्य प्राप्त करना सबसे अधिक पसन्द करते हैं, पर गुरुकुल में रहते हुए ब्राह्मणत्व को पाने का उतना गंभीर यत्न नहीं करते। प्रायः स्नातक भाई मुझे कहते या लिखते हैं कि “मेरे लिये किसी स्थान का खयाल रखियेगा, मेरी विशेष रुचि पढ़ाने के कार्य में है यह भी ध्यान रखियेगा” पर उनमें ब्राह्मण वृत्ति के बहुत कम होते हैं, जो ब्राह्मण वृत्ति के होते हैं उन्हें प्रायः ऐसा कहने की जरूरत नहीं होती। अभी एक स्नातक बन्धु ने जब मुझे कहा कि

मैं कुछ पढ़ाने का कार्य करना चाहता हूँ तो मैंने उसे कहा कि पढ़ाने का कार्य तो बहुत है वेहद है। उसने पूछा—कहाँ? मैंने कहा तुम जानते हो हिन्दुस्तान देश में ६५ फी सदी बे-पढ़े हैं, निरक्षर हैं, देश भर के लोग घोर अज्ञान में ग्रस्त हैं तुम किसी भी गाँव में जा बैठो और पढ़ाओ, शिक्षा दो। मेरे इस उक्त से वह समझ गया कि उसे असल में पढ़ाने का कार्य नहीं चाहिये किन्तु उसे कोई ऐसा उपाय निकालना चाहिये जिस से वह कम से कम ४०) मासिक प्राप्त कर सके। जो ब्राह्मण होगा (उसने यदि ऐसा अध्यापन करना ही अपना कर्तव्य निश्चय किया होगा तो) वह तो पढ़ाने जा बैठेगा और उसे पूर्ण विश्वास होगा कि मेरे खाने को भगवान् ने वहाँ प्रबन्ध कर रखा है। अस्तु मैं कह यह रहा था कि शिक्षा का कार्य ब्राह्मणों का ही है। आज बहुत सी बुराई की जड़ यह है कि हमारे बच्चों और युवकों को शिक्षा देने वाले वे हैं जो ब्राह्मण नहीं हैं, अर्थात् ऐसे लोग हैं जिनमें पढ़ाई-लिखाई की दृष्टि से बहुतेरी विद्वत्ता वेशक है पर उनमें शम तप आर्जव आस्तिक्य आदि यथेष्ट मात्रा में नहीं हैं। मेरे एक सनातनी मित्र हिन्दू यूनिवर्सिटी को एक लाख रुपया इस शर्त पर देना चाहते थे कि वहाँ के सब प्रोफसर ब्राह्मण (जन्म से, जाति से ब्राह्मण) ही हों। पर श्री० मान्य पं० मालवीय जी ने इसे स्वीकार नहीं किया। पर वे दानी महाशय यदि जन्म के ब्राह्मणों के स्थान पर शम दमादि गुणोंवाले ब्राह्मणों का आग्रह करते तो मैं भी पूर्णतः उनके साथ होता। शिक्षा के लिये धन देते हुए ऐसी शर्त लगाना मैं आज भी पसन्द करता हूँ।

जब ‘अध्यापन’ का अर्थ मैंने ‘ज्ञान-प्रसार’ का कार्य किया है तो यह स्पष्ट है कि अध्यापन में

प्रचारक का कार्य, उपदेश व्याख्यान देना, ग्रन्थ लेखन, पत्र संचालन आदि सब आ जाते हैं। मैं क्रमशः इनकी चर्चा करता हूँ। ये सब ब्राह्मणों के ही कार्य हैं, अन्यो के नहीं। यह तो शायद हम सब अनुभव करते हैं कि प्रचारक बनना, जनता को शिक्षित करना लोगों में उनके हितकी बातें बताना, ज्ञान चर्चा करना, व्याख्यान, उपदेश आदि देना यह उन्हीं को करने का अधिकार है जो ब्राह्मण वृत्ति वाले हैं। जब दूसरे लोग प्रचारक हो जाते हैं तो लाभ की जगह भारी हानि होती है। पर आज कल हरक चीज व्यावसायिक होगयी है। धनी लोग, व्यावसायिक कंपनियां, पार्टियां या सरकारें अपने धन बल से वा सत्ता बल से असत्य का, हानिकारक विचारों का भी प्रचार करती हैं। उनके रखे हुए 'प्रचारक' 'उपदेशक' वेब्टके अनर्थ करते हैं, दुनिया को धोखा देते हैं। पर जो प्रचारक ब्राह्मण होगा वह कभी ऐसा नहीं करेगा। वह कभी अपनी आत्मा को नहीं बेचेगा। वह न धन के लोभ में फंसेगा और न किसी से डरेगा। वह तो इन सब से ऊंचा रहता हुआ जो कुछ सत्य होगा, कल्याणकारी होगा उसे ही कहेगा, उसका प्रचार करेगा। वह धन की व राजा की परवाह नहीं करेगा। 'ब्राह्मण' की 'गौ' ही उसका वह हथियार है जिससे वह बड़े से बड़े अभिमानी राजा को भी परास्त कर के सत्य का प्रसार करता हुआ विजय लाभ करता है। इस लिए प्रचारक व उपदेशक बनना ब्राह्मण का ही अधिकार है। यहां पर भी मैं फिर एक बार दोहरा दूँ कि जिस ब्राह्मण ने प्रचारक बनना है वह यह प्रतीक्षा नहीं करेगा कि उसे फलानी संस्था द्वारा कम से कम इतने रुपयों पर नियत किया जायगा तब वह प्रचार करेगा। वह तो

स्वयं अपना क्षेत्र चुनेगा या फिर लोग उसे स्वयं निमन्त्रण देंगे जिसे वह स्वीकार या अस्वीकार करेगा। ऋषि दयानन्द को पीछे से तो निमन्त्रण आने लगे थे और वे जहां जाते थे प्रायः उसी के 'धर्म' का खण्डन करते थे, पर पहले तो वे स्वयमेव डंडा लेकर वहीं भी खड़े हो जाते थे और गरजने लगते थे। वेवल अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से, किसी भी अन्य शक्ति की आधीनता से नहीं।

इसी तरह ग्रन्थ-लेखन का कार्य है जो आज कल पेशा होगया है और व्यावसायिक ढंग पर चलता है। रही और गन्दी चीजें धड़ाधड़ छप रही हैं और जो अच्छे अच्छे साहित्य हैं उन्हें कोई प्रकाशक ही नहीं मिलते। प्रकाशक कहते हैं कि यह चीज तो बड़ी अच्छी है पर क्या करें यह बिकेगी नहीं। दो आने आठ आने प्रति पृष्ठ देकर प्रकाशक लोग जनता की खराब, नीची रुचि के अनुसार साहित्य लिखवाते हैं, जनता की रुचि को भी सुधारना, उन्नत करना चाहिये इस से अपना कुछ सम्बन्ध नहीं समझते। यह सब इसीलिये है कि ग्रन्थ लेखन का कार्य ब्राह्मणों के हाथ में नहीं रहा। हम देखते हैं पश्चिम में या इधर जो बड़े बड़े वैज्ञानिक पुरुष या कोई अन्य ज्ञानमयी रचना करने वाले पुरुष हुए हैं उन्हें अपने जीवन में रूपाति भी नहीं मिली, ये बड़ी तंगी और दरिद्रता का जीवन बिताते रहे। प्रायः उनकी कद्र उनके मरने के बाद संसार ने की। ब्राह्मण लेखक तो ऐसे होते हैं। यदि तुम में से किसी ब्राह्मण के ग्रन्थ कोई सचमुच समय का आवश्यकता को पूरा करने वाले ज्ञान भरे ग्रन्थ के लिखने की प्रेरणा होता है तो उसे समझ लेना चाहिये कि इसके लिये उसे जीवन

व्यापी तपस्या की जरूरत होगी। पर ब्राह्मण को ऐसी तपस्या निसन्देह प्यारी लगेगी। श्री स्नातक जयचन्द्र जी विद्यालंकार ने ही अपनी वह इतिहास की पुस्तक १०, १२ वर्ष के विशेष प्रयत्न से लिखी है। सचमुच लोगों ने जीवन भर के प्रयत्न से ही ग्रन्थरत्न निकाले हैं। आपटे ने जो अंग्रेजी संस्कृत कोश लिखा है उसके लिये उसने बहुत भारी प्रयास किया था, अपनी आंखें तक खो दी ऐसा कहा जाता है। कई यूरोपियनों के बारे में जब हम सुनते हैं कि उन्होंने २० वा ३० वर्ष लगातार वैदिक साहित्य का अध्ययन किया तो हमें लज्जा आती है और दुःख होता है कि अपनी शताब्दी मना लेने पर तथा बहुत से स्नातक निकाल लेने पर भी आर्य सामाजिक साहित्य की दशा में कोई महान् कार्य हम नहीं कर सके हैं।

पत्र-संचालन का कार्य भी किसी प्रकार ब्रह्मणों के हाथ में नहीं है। अखबार नवीस तो ऐसे हैं जो कि वही बात अखबार में लिखेंगे जिससे अखबार ज्यादा बिके, चाहे उन विचारों से जनता का कितना ही नुकसान हो। साम्प्रदायिक अखबार अपनी विक्री के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों को भड़काने वाली बातें मोटे २ अक्षरों में भूठी सच्ची लिखेंगे, यह नहीं सोचेंगे कि इससे देश का कितना भारी नुकसान वे कर रहे हैं। आर्यसामाजिक अखबार भी गन्दे से गन्दे इशतिहार छापेंगे, क्योंकि उनसे अधिक से अधिक पैसे मिलते हैं। यह तो साफ है जो जितना भूठा गन्दा इशतिहार छपाना चाहेगा। वह उसके लिये उतना ही अधिक पैसा देने को तैयार होगा। इन सब अनर्थों से रक्षा तभी हो सकती है यदि यह ज्ञान प्रसार का कार्य (पत्र सम्पादन) भी ब्राह्मण वृत्ति वाले पुरुषों की

आधीनता में हो। आज ब्राह्मण कार्य करने वाले पत्रों की सख्त जरूरत है। जो राजा महाराजाओं से भी किसी तरह की रिश्त न लेवे, जो सरकार की सच्ची आलोचना करने से न डरें, धन के लिये झूठे गन्दे तथा विदेशी वस्तु प्रचारक इशतिहार न छापें और अपने लेखों टिप्पणियों समाचार संग्रहों द्वारा जनता में निष्पक्षपात सच्चे, कल्याणकारी ज्ञान को फैलायें ऐसे ही पत्रों की जरूरत है। क्या तुममें से कोई ब्राह्मण-स्नातक इसके लिये तैयार हो रहे हैं? यह सब बड़ी तपस्या से सिद्ध होने वाले कार्य हैं। मुझे याद है कि कानपुर में जब प्रताप साप्ताहिक का प्रारम्भ हुआ था तो कितनी मुश्किलों का सामना करना पड़ा था। स्वनामधन्य गणेशशंकर जी का ही सामर्थ्य था कि उस सब आर्थिक कष्ट, विरोध, घर वालों से भी जुड़ा होना, पग-पग पर अड़चनें आना इस सबको सहते गये और लोगों में राष्ट्रीय जागृति पैदा करने के ध्येय से इस पत्र को चलाकर छोड़ा। अब तो प्रताप का अपना प्रेस है, विज्ञापनों से भी खूब आमदनी होती है, कार्यकर्ताओं की कोई कमी नहीं है। दैनिक 'अर्जुन' के संपादक श्री पंडित रामगोपाल जी से कभी पूछना तो पता लगेगा कि उन्होंने हिन्दी पत्र संचालन के कार्य को कितनी मुसीबतों झेलकर, कितने वर्षों के सतत परिश्रम के बाद हस्तगत किया है। पर शुद्ध ब्राह्मणवृत्ति से पत्र चलाना और भी कठिन है। वह किसी-किसी के ही बस का काम है।

अस्तु, इन सब ज्ञान-प्रचार के कार्यों को तथा अन्य ऐसे कार्यों को तुम मनु महाराज के 'अध्यापन' इस शब्द द्वारा याद रख सकते हो।

(अपर्णा)

वैदिक ईश्वरवाद और वर्तमान विज्ञान

लेखक—धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार विद्यावचिस्पति

(गतांक से आगे)

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि विज्ञान वैदिक ईश्वरवाद का ही समर्थक है। अन्य मतमतान्तरों की ईश्वर विषयक मतुपपत्त कलना का वह कभी समर्थन नहीं करता। वेद के 'ऋत' वा अटल नियमों की जगह बाइबल आदि में जिन चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है उन के विषय में विज्ञान के मत को स्पष्ट करते हुए भारत के सुप्रसिद्ध विचारक सर राधाकृष्णन ने बहुत ठीक कहा है कि

‘If miracles are necessary to prove God then science has killed God for all time. Divine intelligence is regulated by laws.’
(Philosophy of Upanishads)

अर्थात् यदि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये चमत्कार आवश्यक हैं तो यह कहना पड़ेगा कि विज्ञान ने ईश्वर को सदा के लिये मार दिया है।

विकासवाद और ईश्वरवाद—

बहुत से विज्ञान के विद्यार्थियों का यह कयाल है क्योंकि अनेक वैज्ञानिक विकासवाद (Evolution Theory) को मानते हैं। इस लिये वे ईश्वरवाद को स्वीकार नहीं कर सकते हैं यतः उनके विचार में ये दोनों परस्पर विरुद्ध वाद हैं। पर यह विचार सर्वथा भ्रान्ति पूर्ण है।

इसको दिखाने के लिये इतना ही निर्देश करना यहां पर्याप्त होगा कि “Is it your opinion that belief in evolution is compatible with belief in a creator?”

क्या आप की सम्मति में विकासवाद में विश्वास ईश्वरवाद का विरोधी नहीं। इस प्रश्न के उत्तर में Royal Society London के सुप्रसिद्ध १४२ वैज्ञानिक सदस्यों ने यही उत्तर दिया कि इन दोनों का परस्पर कोई विरोध नहीं केवल ५ ने इनको परस्पर विरुद्ध बताया जो संख्या सर्वथा उपेक्षणीय है। जिन्होंने ने यह दूसरा उत्तर दिया उन्होंने भी निम्नलिखित प्रकार के शब्दों में दिया।

“Belief in evolution is not compatible with such an idea of a creator as that put Forward in the Book of Genesis.”

(Religion of Scientists P. 58)

“Yes, but not a creator in the Biblical sense.” (P. 64)

“If by ‘creator’ is meant a sort of glorified man no.”

(James Swin Bome F.R.S.M.G.C.E.)

अर्थात् विकासवाद का Book of Genesis

आदि पुराने वसीयतनामे में प्रतिपादित जगत्कर्ता के स्वरूप से स्पष्ट विरोध है।

यदि जगत्कर्ता से अभिप्राय एक बड़े मनुष्य से हो अथवा यदि ईश्वर की मनुष्यवत् कल्पना की जाए तो विकासवाद के साथ उसका साफ़ टाकरा है। इत्यादि

वज्ञानिकों का अत्यधिक बहु संख्या ने यही सम्मति प्रकट की कि विकासवाद से ईश्वरवाद में विश्वास दृढ़ होता है।

“Yes, it tends to strengthen belief in a creator.” (I)

“It is obvious that no *consistent* evolutionist *can possibly* be an atheist.” (P. 4)

“Yes, Evolution requires a creator.
(Dr. A. T. master man M.A.D.Sc.
F.R.S.E.)

Yes, there must be a beginning of evolution a source of the necessary energy. (Prof. Vines M.A.D Sc.)

P. 64

“Evolution is a continuous revelation of a creator.”

“there must be a power behind the universe. This power must be intelligent i. e. know and will.

P. 63 (Prof. Macbride M.A. D.Sc. LL. D.)

“I consider that there are evidences of purpose atwork in religious

over which ordinary living thing have little or no control or understanding. Such purpose may well be ascribed to a creator.”

P. 63 (Dr. Robb Sc.D.D.Sc. ph.D.

भावार्थ यह कि कोई यथार्थ विकासवादी नास्तिक वा अनीश्वरवादी नहीं हो सकता।

हां, विकास के लिये भी तो एक जगत्कर्ता की आवश्यकता है। विकास जगत्कर्ता की शक्ति का निरन्तर प्रकाश है। जगत के पीछे एक बड़ी चेतन शक्ति काम कर रही है। साधारण जीवों का नहीं कोई वश नहीं चल सकता, और जिनका ज्ञान तक उन्हें बहुत कम हो सकता है वहां भी हमें उद्देश्य पूर्वकता (purpose) दृष्टि गोचर होती है। जिसका सम्बन्ध जगत्कर्ता के साथ मानना सङ्गत प्रतीत होता है। विकासवाद और ईश्वरवाद की सङ्गति प्रो० सर आर्थर थॉम्पन M. A. LL. D. से Science and Religion symposium नामक ग्रन्थ में इस प्रकार लगाई है

“The religious doctrine of creation implies the belief that the institution of the order of nature expressed a Divine purpose or idea. It is not inconsistent with this to hold also to the scientific view that the mode of the becoming has been evolutionary. The two views are complementary, not antithetic, that one is interpretative, the other descriptive.” (Science & Religion p. 29)

भावार्थ यह है कि ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना के तत्त्व में यह भाव आता है कि प्रकृति नियमों से दिव्य उद्देश्य प्रकट होता है अथवा ईश्वर की सत्ता का द्योतन होता है इसके साथ यह वैज्ञानिक-विचार असम्बद्ध नहीं कि उस रचना का प्रकार विकास-युक्त है। ये दो वाद (सृष्टि रचनावाद और विकासवाद) परस्पर सहायक है विरोधी नहीं। इनमें से एक (ईश्वरवाद) तो इस बात की व्याख्या करता है कि सृष्टि किसने और किस उद्देश्य से की और दूसरी (विकासवाद) उस सृष्टि-रचना के क्रम का वर्णन करता है।

वैदिक धर्म—वैज्ञानिक धर्म

फ्रांस के सुप्रसिद्ध विद्वान् जैकोलियट महोदय ने 'Bible in India' नामक ग्रन्थ में संभवतः।
'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत'...
'यश्चिदापोमहिनापर्यपश्यद् दत्तं दधाना जेनयन्ती-यऽज्ञम्' इत्यादि को देखकर विस्मय के साथ लिखा।

Astonishing fact ! The Hindu Revelation (Veda) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern Science as it proclaims the slow and gradual formation of the world.

(Mr. Jacolliot in the Bible in India)

अर्थात् यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि ईश्वरीयज्ञान रूप से माने जानेवाले धर्म-ग्रन्थों में से केवल वेद ही हैं जिनके अगदुत्पत्ति इत्यादि विचार वर्तमान विज्ञान के सर्वथा अनुकूल हैं।

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध निष्पक्षपात विद्वान् मि० ब्रौन (W. D. Brown) ने Superiority of Vedic Religion में वैदिक धर्म के विषय में लिखा है—

"It recognises but one God. It is thoroughly Scientific religion, where religion and science meet hand to hand. Here theology is based upon Science and Philosophy."

अर्थात् वैदिकधर्म एकेश्वरवादी है। यह पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म है जिसमें धर्म और विज्ञान हाथ में हाथ मिला कर चलते हैं। इसके धार्मिक विद्वान्त विज्ञान और तत्त्वज्ञान पर आश्रित हैं।

विषय का अधिक विस्तार न करते हुए उपसंहार के तौर पर निबन्ध में प्रदर्शित विचारों का सारांश निम्न प्रकार कहा जा सकता है।

(१) सच्चे धर्म और सच्चे विज्ञान का परस्पर कभी विरोध नहीं हो सकता। वे दोनों विरोधी नहीं बल्कि सहायक हैं।

(२) वेदों में विशुद्ध एकेश्वरवाद (Pure mono theism) का प्रतिपादन है न कि अनेक ईश्वरवाद वा हीन देवतावाद (Henotheism) आदि का।

(३) वर्तमान विज्ञान के प्रायः सब धुरन्धर विद्वान् वैदिक ईश्वरवाद का समर्थन करते हैं। सर् आइज़कन्यूटन्, सर ऑलिवर् लॉज, लॉड कैल्विन, प्रो, फ्लेमिङ्ग डा० मास्टर मेन इत्यादि वैज्ञानिक शिरोमणियों के लेखों वा भाषणों से इस विषयक कुछ उद्धरण निबन्ध में दिये गये हैं।

(४) जिन वैज्ञानिकों ने ईश्वरवाद का निषेध किया भी है। वह ईश्वर के अस्तित्व मात्र का नहीं बल्कि वाइबल् इत्यादि की इस विषयक मनुष्यवत् कल्पना (Anthropomorphic conception) का।

(५) यदि विकासवाद को सर्वथा सत्य मान लिया जाए तो भी उस वा वैदिक ईश्वरवाद के साथ कोई विरोध नहीं।

सम्प्रदायिकीय

राष्ट्रिय-गान वन्दे मातरम्—

जब से कांग्रेस ने नवविधान के अधीन मिनिस्ट्री सम्भाली है तभी से साम्प्रदायिक मुसलमानों में बंटवारे की भावना ज्यादा प्रबल हो उठी है। कोई भी ऐसा पद या चीज नहीं जहाँ कि मुसलमानों ने अपने हिस्से की मांग न की हो। आश्चर्य तो यह है कि जब स्वतन्त्रता संग्राम का बिगुल बजा था, उस समय आकर मुसलमानों ने यह मांग न की कि लाइये हम भी इसमें हाथ बटावें। उस समय तो वे बैठे तमाशा देखते रहे जब कि उनके सैकड़ों हिन्दू भाई कोड़ों तथा लाठियों और जेलों की अमह्य यन्त्रणायें भुगत रहे थे। जब उन्हीं भाइयों की कुर्बानी का फल पामने आया तो हिस्सा बटवाने के लिये सब से आगे आ कूदे। मेरा कहने का यह तात्पर्य नहीं कि सभी मुसलमानों ने इस विरुद्ध समय में कुर्बानी से किनारा कसा। जिन्होंने इस कुर्बानी में हाथ बंटाया वे इस लज्जास्पद बंटवारे में आगे न आये। सीमाप्रान्त के पठानों ने भी कुर्बानी की परन्तु उन्होंने इस घृणित बंटवारे के लिये कभी सोचा तक नहीं। इस्लामिया कालिज की अतिरिक्त ग्रांट बन्द करके उन्होंने ज्वलन्त उदाहरण पेश कर दिया। वे इस साम्प्रदायिकता के विषाक्त वातावरण से ऊपर रहे। जैसा निर्णय कांग्रेस ने कर दिया उनके

लिये वह ठीक और जो कांग्रेस ने नामजूर कर दिया वह उनके लिये भी नामजूर रहा। परन्तु अन्य प्रान्तों के सम्प्रदायिक मुसलमानों ने जो हव अगिनयार किया हुवा है वह बहुत ही निन्दनीय है।

मद्रास प्रान्त कि एक घटना है कि मद्रास असेम्बली के लालबान नाम के एक मुसलमान एम० एल० ए० ने राष्ट्रिय-गान 'वन्दे मातरम्' पर आपत्ति उठाई कि यह गीत मुसलमानी धर्म के बखिलाफ है, इसमें मूर्तिपूजा की भावना पायी जाती है। इसी प्रकार के और भी कई आक्षेप दो तीन महीने से एंग्लो-इण्डियन तथा मुसलमानों की तरफ से किये जा रहे हैं। विचारणीय यह है कि क्या वास्तव में वन्देमातरम् गीत अन्य धर्मों के बखिलाफ प्रोपेगण्डा है। क्या इसके अन्दर मूर्ति पूजा की भावना पायी जानी है ?

'वन्देमातरम्' गीत किस प्रकार बंग-विच्छेद के समय स्फुरित हुवा। किस प्रकार रिवोल्यूशनरी समझा गया। और फिर जनता ने इसे कैसे अपनाया और किस प्रकार अन्त में यह राष्ट्रीय गीत बना। इसकी कथा बड़ी लम्बी चौड़ी है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो आक्षेप वन्देमातरम् गीत के ऊपर उठाये जाते हैं वे इसके इतिहास तथा इसकी बनावट को देखते हुए

सरासर गलत प्रनीत होते हैं। केवल हिन्दू ही नहीं परन्तु कई मुसलमानों तथा कई योगोपियनों ने भी इसे आक्षेप रहित बताया तथा इसे बहुत पसन्द किया। फिर यह नहीं समझ में आता कि मुसलमान अपनी जिद्द पर क्यों हैं। या ता वे संस्कृत तथा हिन्दी भाषा न जानने के कारण ऐसा आक्षेप कर रहे हैं या वे अड़ंगा नीति को ही पसन्द करते हैं। कुछ भी हो, हम तो यह समझते हैं कि प्रत्येक देश का अपना राष्ट्रिय गान होता है जिस पर हर एक देश को अभिमान होता है। और उस गान की रक्षा में वे अपने तन मन धन की भी परवाह नहीं करते। परन्तु बड़े शर्म की बात है कि जो गान अन्य सब देशों की दृष्टियों में हिन्दुस्तान का राष्ट्रिय गान बन चुका उस पर ये मुसलमान आक्षेप करते हैं।

यदि मुसलमानों की यह मांग है कि इसे उर्दू में कर देना चाहिये अथवा इस के स्थान पर कोई उर्दू का गान रख देना चाहिए तो यह मांग भी उन की सर्वथा अनुचित है। जो गान एक बार राष्ट्रीय गीत समझा जने लगा जिस के लिए हजारों आदमियों ने कुर्बानी की। जिस वन्दे मातरम् के बोलने पर कोड़ा की मार पड़ी, जिस के उच्चारण मात्र से हजारों युवकों ने तथा स्त्री जाति ने अमानुषीय यन्त्रणायें सहीं। वह गीत इस लिए बदल दिया जावे कि कुछ साम्प्रदायिक मुसलमान इस पर आक्षेप करते हैं बिल्कुल अन्याय है। हमारी तो देश के नेताओं से विनम्र-प्रार्थना है कि वे इस विषय में कुछ सोच विचार कर ही कोई कदम उठायें। ऐसा न हो कि कहीं फिर पीछे पछताना पड़े।

२. सत्य और अहिंसा का सन्देश—

आज सत्य और अहिंसा के पुतारी महात्मा गांधी की ६६वीं वर्ष गांठ मनाई जा रही है। गांधी जयन्ती का यह सप्ताह विश्व के लिये सत्य और अहिंसा का सन्देश है, ऐसा प्रतीत होता है कि मानों परमात्मा ने इसे भारत वर्ष में अंकुरित कर विश्व शान्ति के लिये भविष्य की तह में रख

छोड़ा है। समय आयेगा तो सभी ओर इस सत्य तथा अहिंसा के पुजारी की पूजा होगी। परन्तु प्रकृति ने कुछ विचित्र हा लोला रच रक्खी है, जिस के कारण आज इस सन्देश की उपेक्षा की जा रही है। उपेक्षा क्यों न हो जब कि हमें आज क्या पूर्व क्या पश्चिम सभा ओर रणचण्डी का ताण्डव नृत्य दिखाई दे रहा है।

अबीसीनिया का बबरता पूर्ण अमानुषीय नर-संहार समाप्त ही हुआ था कि इतने में स्पेन में युद्ध की चिंगारियां जग उठीं। और जा प्रलयंकर नरसंहार वहां हो रहा है और स्पेन गृह युद्ध की ओट में जो अन्तर्राष्ट्रिय लड़ाईयां वहां लड़ी जा रही हैं वह किसी से छिपी नहीं। इस प्रकार योरोप तो स्पेन के गृह युद्ध की ओट में रणदेवी की पूजा कर ही रहा था कि सुदूर पूर्व में भी युद्ध की दुन्दुभी बज उठी। रूस तथा योरोप को स्पेन तथा भूमध्यसागर की उतझनों में उलझे हुए देख कर सुअवसर हाथ आया जान जापान ने भी अपनी साम्राज्य लिप्ता को शान्त करना चाहा और झूट चीन पर चढ़ दौड़ा। और जो मानव संहार के समाचार चीन से आ रहे हैं उन्होंने ने सब जगह भय पैदा कर दिया है। इस प्रकार जो नर संहार तथा उस की ओट में कूटनीति के बड़े २ दांव पेच खेले जा रहे हैं, वे निरुक्त भविष्य में होने वाले बड़े भारी नर संहार की रूप रेखायें हैं। ऐसी अवस्था में सत्य अहिंसा के सन्देश पर महात्मा गांधी की कितनी आवश्यकता है इस बात को ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि लार्ड लिनलिथगो भी महसूस कर रहे हैं उन का कहना है कि—संसार की शान्ति के लिये यह आवश्यक है कि महात्मा गांधी अभी द्वादश वर्षों तक जीवित रहें। इस लिये महात्मा गांधी आज हिन्दुस्तान का ही नेता नहीं अपितु अखिल विश्व की विभूति है जो कि समय आने पर संसार के लिये सत्य और अहिंसा के देवदूत समझे जायेंगे। हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि हे प्रभो ! इस युग परिवर्तन का सन्त को चिरंजीवी बनाओ।

३. अलोगढ़ में रामलीला का जलूस—

अली गढ़ में हिन्दू-मुस्लिम तनातनी इतना उग्र रूप धारण कर चुकी थी कि १२ वर्षों से रामलीला का जलूस नहीं निकला था। परन्तु इस साल मुस्लिम भाईयों की विशाल उदात्ता तथा अनथक परिश्रम से न केवल राम लीला का जलूस ही निकला अपितु सूर्यभंजक मुसलमानों ने भी जलूस में हजारों की तादाद में शामिल हो कर रामचन्द्र जी को हार मालायें पहनायीं और हिन्दुओं को मिठाइयाँ बांटी। यह दृश्य हिन्दु मुस्लिम एकता का सच्चा स्वप्न दिखा रहा है। इस अवसर पर हम अलोगढ़ युनिवर्सिटी के मुस्लिम भाईयों को बधाई दिये बिना भी नहीं रह सकते। अलीगढ़ युनिवर्सिटी के छात्रों ने समय २ पर साम्प्रदायिक समस्याओं के सुतझाने में सदानेतृत्व किया है। और जातीय एकता के प्रयत्न में एक आदर्श पेश किया है। जो कि सदा सुवर्णाक्षरों में लिखा जायगा। स्वराज्य प्राप्ति में यदि कोई रोड़ा है तो वह हिन्दू मुसलमानों की फूट। यदि यह दूर हो जाये तो हिन्दुस्तान कल अपने लक्ष्य पर पहुँच जाये। परन्तु साम्प्रदायिक नेताओं ने जितना विष फैला रक्खा है। उस को दूर करना कोई आसान काम नहीं। यह विष प्रेम और परोपकार की भावना से ही दूर हो सकता है। आपस में चलेज्ज देना तथा छिपे छिपे घृणित हमलों से कभी दूर नहीं हो सकता। प्रेम का बन्धन ही एक ऐसा है जिसे कोई तोड़ नहीं सकता। परन्तु यह प्रेम का बन्धन बन्धे कैसे! धार्मिक भावना से तो वह प्रेम पैदा हो नहीं सकता। चूँकि साम्प्रदायिक नेताओं ने आपसी मतभेद इतना बढ़ा दिया है कि धार्मिक एकता तो होने से रही। अतः राष्ट्रीय एकता ही एक ऐसी चीज़ है जो आपस में प्रेम पैदा कर सकती है।

यदि एकराष्ट्रियता की भावना को आदर्श समझते हुए हमारे पंजाब के मुस्लिम तथा हिन्दु मन्त्री इस उदाहरण को अपने सामने रक्खें तथा एक दूसरे के त्योहारों में इसी तरह से शामिल हुआ करें तो इस में कोई आश्चर्य नहीं कि इन की एकता कान्फरेंस तथा इन के सब दावे सफल हो जायें।

४. रा. सा. मक्खन लाल जी का देहावसान—

गत २६ सितम्बर को प्रतिनिधि सभा के भूत-पूर्व उपप्रधान रा० सा० मक्खन लाल जी का देहावसान हो गया। आप के अवसान से पंजाब के आर्य जगत् को एक पूर्ण सच्चरित्र, उदात्त विचारों के अनुभवी वृद्ध से वंचित होना पड़ा है। आप काश्मीर रियासत के भूतपूर्व ऐगजैक्टिव इंजिनियर थे। आप अपने काल में भी आर्यसमाज को कभी नहीं भूलते थे। रियासत की सेवा से रिटायर होने के पश्चात् आप का समय केवल स्वाध्याय और समाज की सेवा में ही बीतता था। आप कितने ही वर्षों तक प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान रहे। इस पद से आपने सभा और समाज की खूब सेवा की। आपका स्वभाव बड़ा मधुर, सरल और सत्यप्रिय था। आप की दिनचर्या नियम-परायण जीवन का आदर्श था। जो भी आप के सम्पर्क में आता था वह आप के सौम्यगुणों से प्रभावित हुए बिना न रहता था। हम उनके परिवार के लोगों के साथ इस दुःखमय अवसर पर हार्दिक समवेदना के भाव प्रकट करते हैं भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वे उनको शान्ति प्रदान करें।

भगवदत्त वेदालंकार।

इन कण्डिकाओं का मर्म समझने के लिये यह आवश्यक है कि यह चौथा बर्हि नामक प्रयाज क्या है यह फिर याद कर लिया जाय। हम पहिले कह आये हैं कि बर्हि नामक प्रयाज किसी कार्यशाला में उस समय का है जब कि उसमें तय्यार किये हुए पदार्थ के बांधना लपेटना आदि वह अनुसंस्कार किये जाते हैं जो कि किसी पदार्थ को उसके पास भेजने से पहिले आवश्यक हैं, जिसके लिये वह तय्यार किया जाता है। और जिन अनुसंस्कारों के बिना वह पदार्थ गुणसम्पन्न और सारवान् हाते हुए भी अधूरा और निकम्मा प्रतीत होता है। शतपथकार कहते हैं कि इस समय चूकना ऐसा ही है जैसा युद्ध में ठाक विजय प्राप्ति के समय थोड़ी सी सेना भेजने में कंजूसी द्वारा विजय को पराजय में परिणत कर देना। विक्रेता और ग्राहक का युद्ध हो रहा है। उसने पदार्थ बड़ा उत्तम तय्यार किया है। ग्राहक उस पदार्थ के गुणों पर मुग्ध होगया परन्तु उस पदार्थ के लपेटने आदि में विक्रेता ने ऐसा भद्दापन दिखाया कि ग्राहक का ग्लानि उत्पन्न हो गई। हाथ में आई हुई विजय पराजय में परिणत हो गई। इस लिये शतपथकार कहते हैं कि यह चौथा समय बड़ा महत्व पूर्ण है। यहां तक कि पांच प्रयाजों के निमित्त घृत का आधा अंश यदि इस में लग जाये तो भी अनुचित नहीं। हम पहिले कह आये हैं कि जुहू व्यय और उपभूत, आय की प्रतिनिधि है। तात्पर्य यह हुवा कि यदि पदार्थों के विक्रय

से आशंसित आय एक लाख हो तो उसके पञ्चमांश का आधा अर्थात् दशमांश फलतः दस हजार रुपया तक इस अन्तिम सजावट और पदार्थों को आकर्षक बनाने के निमित्त अन्य अनुसंस्कारों में व्यय कर देना भी आपत्ति-योग्य नहीं। साथ ही यह भी कहा गया है कि जीवात्मा को प्रकृति से कर वसूल करना है, कर देना नहीं। इस लिये कर वसूल करने की प्रक्रिया में क्षण भर के लिये प्रकृति का स्थान ऊंचा भी हो जाये तो भी जीवात्मा को यह नहीं भूलना चाहिये कि वह बड़ा है, उपभोक्ता है प्रकृति उससे छोटी है, उसकी दासी है, उपभोग्या है और उसने लड़कर उसे विजय करना है। इन अनुसंस्कारों द्वारा वह पदार्थ और अधिक वीर्यवान् हो जाता है। पहले उसमें उपयोग शक्ति थी अब उसमें आकर्षण शक्ति भी उत्पन्न हो गई। अब लोगों की इच्छा होती है कि ऐसा पदार्थ बारम्बार बने। रेतः सेचन से प्रजा उत्पन्न होती है परन्तु उत्पन्न प्रजा में रेतः सेचन विस्मय जनक है। परन्तु ऊपर वर्णित रहस्य को समझ लेने से 'प्रजास्वेवैतद्रेतः सिच्यते तेन रेतसा सिक्तेनेमाः प्रजाः पुनरभ्यावर्त प्रजायन्ते' यह पंक्ति रहस्य मय नहीं रह जाती। इन अनुसंस्कारों का होना ऐसा है जैसा संग्राम में समय पर सहायता (Re-enforcement) का पहुंच जाना। १५—२०।

अब आगे पञ्चम प्रयाज की व्याख्या करते हैं। इसमें पहिले कण्डिकाओं का अन्तरार्थ

देंगे। किन्तु उससे पहिले पञ्चम प्रयाज की विधि को एक बार दाहरा देना आवश्यक है जिसके बिना अगली कण्डिकाओं का समझना मुश्किल है। विधि इसप्रकार है:—

होता “ओं येयजामहे स्वाहाऽग्निं स्वाहा सोमं स्वाहाऽग्निं स्वाहा (मुखमें बोले) अग्नीषोमौ (ऊंचे बोल कर) स्वाहा अग्नीषोमौ स्वाहा देवा आज्यपा जुवाणा अग्न आज्यस्य व्यन्तु ३ वौ ३षट्” इस प्रकार पढ़े। और अध्वर्यु पहिले की तरह जुहू को पूर्व की ओर उतार कर अवशिष्ट घृत को थोड़ा सा बचा कर हवन करदे। और यजमान “ओं इदमग्नये सोमायाग्नये (मुख में बोले) अग्नीषोमाभ्याम् (ऊंचे बोलकर) अग्नीषोमाभ्यां देवेभ्य आज्यपेभ्यो अग्नये स्विष्टकृते च” इस प्रकार जलमें घृत छोड़ कर ‘पञ्च मम न तस्य किञ्चन योस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः अन्नादो भूयासम्’ इस प्रकार बोले। “अन्नादो भूयासम्” यह अनुमन्त्रण वाक्य बोले। इस प्रकार विधि दिखा कर काण्डिकाओं का अक्षरार्थ लिखते हैं। पांचवां प्रयाज ऋतुओं में हेमन्त और संग्राम में शत्रु की पराजय का सूचक है। उस समय युद्ध क्षेत्र की दशा बिल्कुल हेमन्त के समान होती है। जिस प्रकार पराजय के पीछे युद्ध क्षेत्र में कहीं लाश पड़ी हैं, कहीं रुएड मुएड कटे पड़े हैं, कहीं अंग कटे पड़े हैं। चारों ओर पतझड़ के समान अवसाद ही अवसाद दिखाई देता है। इसी को लक्ष्य करके इस प्रकार कहना आरम्भ करते हैं।

देव लोग कहने लगे ! लो बस ! इस विजय के साथ ही सारे यज्ञ को समाप्त कर दें जिससे यदि कहीं असुर राक्षस हम पर धावा कर बैठें तो भी हमारा यज्ञ उनके आक्रमण से पहिले समाप्त होजाये। २१।

इसी लिये अन्तिम प्रयाज में बारम्बार स्वाहा का शब्द उच्चारण किया गया है और इस स्वाहाकार से हा सारे यज्ञ को समाप्त किया गया है। उदाहरण के लिये “स्वाहाऽग्निम्” इस वाक्य से आग्नेय आज्य-भाग की समाप्ति की गई। “स्वाहा सोमम्” इस वाक्य से सोम्य आज्य भाग की समाप्ति की गई। फिर दूसरी बार ‘स्वाहाऽग्निम्’ इस शब्द से दर्श और पौर्णमास इन दोनों में विद्यमान आग्नेय पुरोडाश की समाप्ति की गई। २२।

उसके बाद पौर्णमास में अग्नीषोमौ और दर्श के प्रयाज में इन्द्र अग्नि आदि देवताओं का नाम लेकर यज्ञानुकूल जिस २ देवता का प्रकरण हो उसके नाम से तैय्यार होने वाले एकादश कपाल पुरोडाश की समाप्ति की गई। फिर ‘स्वाहा देवा आज्यपाः’ इस वाक्य से प्रयाजानुयाज की समाप्ति की गई। क्यों कि प्रयाजानुयाज का ही नाम आज्यपा देव है फिर “अग्निराज्यस्य वेतु” इस वाक्य से स्विष्टकृत् अग्नि की समाप्ति की गई क्योंकि अग्नि का ही दूसरा नाम स्विष्टकृत् है। सो आजकल भी यह यज्ञ ठीक उसी प्रकार समाप्त होता है जैसे (ब्रह्माण्डमहायज्ञ में) देव इसको समाप्त

करते आये हैं इस लिये अन्तिम प्रयाज में जितनी हवियां होती हैं उन सब की ओर निर्देश करके स्वाहा, स्वाहा करते हुए यज्ञ करता है। बस विजय के साथ ही यज्ञ को समाप्त करता है। इस लिये इसके बाद यज्ञ में यदि कोई भूल भी हो जाय तो उसकी बहुत चिन्ता न करे। ऐसा ही समझे कि मानो मेरा यज्ञ समाप्त हो गया। इसके पश्चात् यज्ञ “यातयामा” अर्थात् सारहीन सा हो गया जैसे वषट्कार के पश्चात् आहुति हो जाने के पश्चात् स्वाहा कर देने के पश्चात् सारहीनता आजाती है। क्योंकि वषट् स्वाहा आदि शब्द समाप्ति सूचक हैं। कार्य-समाप्ति पर थकावट सी आ ही जाया करती है)। २३। अब यह दिखाने के लिये कि यद्यपि यहां यज्ञ समाप्त सा हुवा प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः वह समाप्त नहीं हुवा। अगली कण्डिका लिखते हैं।

वे देवज्ञो विचारने लगे कि इस यज्ञ को कैसे फिर आप्यायित कर दें। अयातयामा अर्थात् सार युक्त कर दें। २४। और फिर उस सार युक्त यज्ञ से आगे चलें। सो वह जो जुहु में थोड़ा सा घी बचा हुवा था जिस घृत द्वारा यज्ञ समाप्ति की-उसी घृत में से बचे हुए-इस घृत से क्रमशः फिर हवियों का अभिघारण किया अर्थात् उनमें घी मिलाया। इस प्रकार इन हवियों को फिर आप्यायित कर दिया। सार युक्त कर दिया। घृत ही तो सबसे बड़ा सार हीनता को दूर करने वाला है। इसी लिये अन्तिम प्रयाज का हवन करने के पीछे क्रमशः

हवियों का फिर अभिघारण करता है। इन्हें फिर आप्यायित करता है, सार युक्त करता है घृत ही सारहीनता का नाशक है। इसी लिये जिस किसी हवि में से आहुति करने के लिये कुछ टुकड़ा काटा जाता है उस स्थान को फिर फौरन ही अभिघारण (Lubricate) करता है। यह वास्तव में उन हवियों को स्विष्टकृत् आहुति के लिये फिर आप्यायित करता है सार युक्त करता है। फिर जब स्विष्टकृत् के लिये हवि में से टुकड़ा काटा जाता है फिर उसका अभिघारण नहीं करता, क्योंकि फिर वह स्विष्टकृत् आहुति के बाद उस हवि में से फिर कोई आहुति अग्नि में हवन नहीं किया चाहता। २५।

इन कण्डिकाओं का भाव यह है कि पदार्थ की तय्यारी के साथ किसी कार्यशाला में होने वाले कार्य का मुख्य भाग समाप्त होजाता है। विद्या समाप्ति पर पाठशाला का कार्य समाप्त सा हो जाता है। मोटर तय्यार होने पर मोटर के कार्यालय का मुख्य कार्य समाप्त सा हो जाता है। यज्ञ का सबसे मुख्य अंग निष्पाद्य पदार्थ को यथोचित रूप से निष्पन्न करना है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इसी के साथ यज्ञ समाप्त हो जाता है। अगली क्रियाओं द्वारा यज्ञ के जो अंग दिखाये जायेंगे वह इस निष्पत्ति की अपेक्षा गौण होने पर भी अपने आप में बड़े महत्व पूर्ण हैं। उदाहरण के लिये स्विष्टकृत् आहुति को ले लीजिये। यज्ञ में स्विष्टकृत् आहुति का अर्थ है निरीक्षण (Inspection)

किसी मोटर के कारखाने में यदि उत्तम मोटर तय्यार होकर ठीक प्रकार से विभक्त (Distribute) होगई तो यज्ञ का मुख्य कार्य समाप्त हो गया। परन्तु इस कार्य में जो आय और व्यय हुए हों सामग्री में जो वृद्धि अथवा हास हुआ हो उसका निरीक्षण कुछ कम महत्व पूर्ण अंग नहीं हैं। इसी लिये कहा कि सारा राज्य अर्थात् समय उत्साह, सामग्री आदि अन्तिम प्रयाज अर्थात् पदार्थ निष्पत्ति के साथ ही समाप्त न कर देना चाहिये। अगले अंगों में व्यय करने के लिये भी कुछ बचा लेना चाहिये। इसी बात को उपलक्षित करने के लिये जुहू में थोड़ा सा घी बचा लिया गया था जिससे हवियों का अभिघारण किया गया।

१६—२५।

इति पञ्चमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणं समाप्तम्

अथ पञ्चमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम्।

अब जिस प्रकार ऋतुओं और संप्राम के दृष्टांत द्वारा पांच प्रयाजों का वर्णन किया उसी प्रकार मनुष्य की उत्पत्ति में पांचों प्रयाजों का वर्णन करके दिखाते हैं। इस में कण्डिकाओं का अर्थ कर देना ही पर्याप्त होगा। स्पष्ट होने से अधिक व्याख्या की अपेक्षा नहीं होगी कण्डिकाओं का अर्थ इस प्रकार है:—

वह (अध्वर्यु) समिध नामक प्रयाज का हवन करता है। (मनुष्य शरीर में) प्राण ही समिध हैं। (सो मनुष्य शरीर में प्रथम प्रयाज का हवन करते समय) वह प्राण का समिन्धन करता है क्योंकि प्राणों से ही यह पुरुष समिद्ध

अर्थात् प्रदीप्त हैं। इस बात की सचाई की परख करने के लिये कि प्राण मनुष्य के शरीर की अग्नि का इन्धन हैं वा नहीं। यह घटना पर्याप्त है कि जब मनुष्य यह जानना चाहता है कि अमुक मनुष्य जीता है कि नहीं? तो समझदार मनुष्य उससे कहता है कि इसे छूकर देख। यदि तापशेष है यदि अभी भी गरम है तो आशा करनी चाहिये कि वह जीयेगा। जब तक उष्णता शेष है वह समिद्ध ही है। यदि ठंडा पड़ जाये तो फिर उसके जीने की आशा न करे। सो प्रथम प्रयाज द्वारा मनुष्य में प्राण का आधान करता है। तात्पर्य यह है कि उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के लिये प्रथम प्राणशक्ति की आवश्यकता है। मनुष्य जानदार होना चाहिए, महाप्राण होना चाहिये।

इसी लिये समिध नाम प्रयाज का हवन करता है। महाप्राण हो कर दम्पती का तीव्र अनुराग से एक दूसरे की ओर आकृष्ट होना दाम्पत्य क्षेत्र का बसन्त है। १। अब तनूनपात् का हवन करता है। (इसे पहिले प्रसंग में ग्रीष्म से उपमा दे आये हैं सो अनुराग से उत्तम होकर वीर्य का सेचन करना तनूनपात् नाम का प्रयाज है। क्योंकि मनुष्य शरीर में वीर्य का नाम तनूनपात् है क्योंकि जब तक वह रहता है तनु अर्थात् शरीर का पतन नहीं होता, इसी बात को सूचित करने के लिए तनूनपात् नाम के प्रयाज का हवन करता है। २। अब इड नाम के प्रयाज का हवन करता है (इसको पहिले वर्षा से उपमा दे आये हैं)

सन्तान का नाम इड है। जब सेचना के पश्चात् वीर्य सन्तान रूप होकर उत्पन्न हो जाता है तब वह उल्लसित सा होकर अन्न मांगता हुआ विचरता है तात्पर्य यह है कि गर्भाधान हो जाने के पश्चात् पूर्वोक्त सूर्य जिसकी कि पहले वसन्त और भीष्म आ चुकी है मेघाच्छन्न रहना चाहिए और तब तक रहना चाहिए जब तक पहली सन्तान अन्न अर्थात् दूध मांगती है और माता उस पर दूध की वर्षा करती है। इसीलिए इस प्रयाज को वर्षा ऋतु से उपमा दी गई है। तो इस प्रयाज द्वारा सन्तति उत्पन्न करता है। इसलिये इड नामक प्रयाज का हवन करता है। ३। इसके पश्चात् बर्हि नामक प्रयाज का हवन करता है। बर्हि भूमा अर्थात् ऐश्वर्य की सूचक है किसी कुल में उत्तम सन्तान उत्पन्न हो गई तो उसमें भूमा आ गई यह वह काल है जिसमें गुरुकुल जाने से पहिले बच्चे को तय्यार किया जाता है। यह दाम्पत्य धर्म की शरद्वतु है, इसमें वात्सल्य रस की ठण्डक सारे घर को आनन्दमय बनाती है। सो इस संस्कार द्वारा घर में भूमा अर्थात् ऐश्वर्य उत्पन्न करता है। इस लिये बर्हि नामक प्रयाज का हवन करता है। ४। अब स्वाहा स्वाहा नाम के पाँचवें प्रयाज का हवन करता है। हेमन्त ऋतुओं का स्वाहाकार है। हेमन्त संसार की समस्त प्रजा को अपने बश में ले आता है। इसी लिए हेमन्त में अन्नादि मुरझा जाते हैं। वृत्तों के पत्ते झड़ जाते हैं। पत्ती सिकुड़ से जाते हैं नीचा सिर किए से पड़े रहते हैं। पुरुष भी

विपतितलोमा सा भदा बन जाता है। जो इस प्रयाज के इस मर्म को इस प्रकार जानता है वह जिस अर्द्ध अर्थात् भूखण्ड में उत्पन्न होता है उसे अपना बना लेता है। और उससे लक्ष्मी और अन्न प्राप्त करता है तात्पर्य यह है कि गुरुकुल के लिए तय्यार की हुई सन्तान जब गुरुकुल में भेज दी जाती है तो घर में पतझड़ का अवसाद आ जाता है। परन्तु जो लोग इस अवसाद की महिमा को जान कर जी कड़ा करके इस पतझड़ से नहीं घबराता और बच्चों को गुरुकुल में भेज देता है। वह अपने संसार को बश में कर लेता है। ५।

अब फलनिष्पत्ति अर्थात् पञ्चम प्रयाज की महिमा बताने के लिये एक आख्यायिका लिखते हैं। पहिले आख्यायिका की कण्डिकाओं का अक्षरार्थ देंगे। उसके पश्चात् भावार्थ भी देंगे। अक्षरार्थ इस प्रकार है।

देव थे और असुर थे। प्रजापति की ये दोनों सन्तान आपस में झगड़ पड़ी। उन्होंने आपस में एक दूसरे को लाठियों और धनुष से जीतना चाहा। परन्तु इस लड़ाई में किसी की जीत होती न देख वे बोले। चलो भाई! अब हम वाग्ब्रह्म के मैदान में एक दूसरे को जीतने का यत्न करें। सो जो हम दोनों में से कही हुई पुल्लिंग बात का जोड़ा अर्थात् स्त्रीलिंग साथ ले कर मैदान में न आ सके वह सब कुछ हार जाये और दूसरे दल वाले सब कुछ जीत जायें। देवों ने स्वीकार किया ऐसा ही हो। देवों ने

इन्द्र से कहा कि हमारी ओर से तू बोल । ६ । वह इन्द्र बोला “एको मम” अर्थात् मेरा एक । दूसरे दल वाले बोले “अस्माकमेका” अर्थात् हमारी एक । सो यह जोड़ा ढूँढ निकाला । एक और एका मिल कर जोड़ा होता है । ७ । इस पर इन्द्र ने कहा कि “द्वौ मम” अर्थात् मेरे दो । दूसरे पक्ष वाले बोले “द्वे अस्माकम्” अर्थात् हमारी दो । सो यह भी जोड़ा ढूँढ निकाला । द्वौ और द्वे मिल कर जोड़ा होता है । ८ । इस पर इन्द्र ने कहा कि “त्रयो मम” अर्थात् मेरे तीन । विरोधी पक्ष वालों ने कहा कि “तिस्रोऽस्माकम्” अर्थात् हमारे तीन । इस प्रकार यह भी जोड़ा ढूँढ निकाला गया । त्रयः तिस्रः यह जोड़ा बनता है । ९ । इन्द्र ने कहा कि “चत्वारो मम” अर्थात् मेरे चार । इस पर प्रतिवादियों ने कहा कि “चतस्रोऽस्माकम्” अर्थात् हमारे भी चार । इस तरह असुरों ने यह भी जोड़ा ढूँढ निकाला । चत्वारः चतस्रः यह जोड़ा बनता है । १० । इन्द्र बोला “पञ्च मम” अर्थात् मेरे पाँच इस पर दूसरे पक्ष वाले जोड़ा न ढूँढ सके । क्यों कि संस्कृत में पञ्चका स्त्री लिंग पञ्च ही होता है । सो इससे ऊपर अर्थात् चार से परे जोड़ा है ही नहीं । दोनों और पञ्च पञ्च यही होता है । इस पर असुर सब कुछ हार गए । सब ओर से देवों ने असुरों को जीत लिया । सब कुछ से विरोधी असुरों को वञ्चित कर दिया । ११ ।

इसलिए प्रथम प्रयाज के यज्ञ करने पर बोले “एकोमम एका तस्य यमहंद्वेष्मि” और

यदि उसका कोई द्वेषी न हो तो बोले “योऽस्मान्द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः” । १२ । दूसरे प्रयाज में “द्वौ मम द्वेतस्य योऽस्मान्द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः” । १३ । तीसरे प्रयाज में “त्रयो मम तिस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः” । १४ । चतुर्थ प्रयाज में “चत्वारो मम चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः” । १५ । पाँचवें प्रयाज में “पञ्चमम न तस्य किंचन योऽस्म न द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः” । सो वह पञ्च ऐसा बोले क्योंकि पाँच होता हुआ वह विरोधियों को परास्त करता है । इस प्रकार उसका सब कुछ छीन लेता है । सर्वस्व से विरोधियों को वञ्चित कर देता है जो इस प्रकार इसके मर्म को जानता है । १६ ॥

इस सारी आख्यायिका में दो मार्मिक बातें कही गई हैं, पहली बात तो यह है कि किसी बात का निर्णय लाठी और तलवार से करना मूर्खों का काम है, देवों का नहीं । देव लोग जिस विषय में उनका विरोध हो उसका निर्णय आपस की बात चीत से करते हैं जब तक एक पक्ष की सम्मतियों का जाड़ दूसरे पक्ष में भी होता है तब तक निर्णय नहीं होता । जब एक ओर सम्मति अधिक बढ़ जाती है तो निर्णय हो जाता है । दूसरी मार्मिक बात यह कही है कि बहुपक्ष को अपनी ओर करने का सबसे गहरा उपाय पंचम प्रयाज अर्थात् निष्पन्न फल का उक्तोक्तों के हाथ में पहुँच कर परीक्षा द्वारा प्रमाणित होना है । जब तक फल प्रमाणित नहीं हो जाता, तब तक

ऽपि राष्ट्रे मायावित्रिनाशायैव सततं बद्धपरि-
कराः प्रचेष्टन्ते परं यत्रोपदेशबलात्ते स्वय-
मेवागत्यात्मनो दोषं प्रख्याप्य दण्डं स्वीकु-
वन्ति । स कोऽप्यन्य एव ब्राह्मणानां पन्थाः ।
ज्ञात्रे तु मार्गे ते बन्धनैर्निगडिताः प्रसह्यानीयन्ते
अयमेवास्य मार्गस्य राजमार्गाद्विशेषः ।

शारीरतन्त्रेऽपि चौषधोपचारैर्मलम् विरेचना-
दिना प्रसह्य त्वरया बहिरानीयते । जलचिकि

त्सिते तु तत्स्वस्थानाच्च्युतं स्यवमेव शनैः शनैः
शिरनद्वारेण गुदद्वारेण रोमकूपेभ्यश्च बहिर्गच्छति
अयमेव जलचिकित्सतस्येतरागदङ्कारपद्धति-
भ्यो विशेषः । तदेतावुभावपि रहस्यौ यातु-
धानाग्निशब्दाभ्यां श्लेषयुक्ताभ्यां युगपदेव
प्रकटयति परमकवेर्वाणी । तस्मादस्मिन्ननुवाके-
ऽग्निः सम्बोध्यते । तश्चादिमे सूक्तेऽयमाद्यो
मन्त्रः ।

वर्णन करते हुए जो चेतनवद् व्यवहार किया है
वह भी निर्हेतुक नहीं है चूंकि इसी ही प्रसङ्ग से
अग्नि शब्द से स्तूयमान ब्राह्मण को राष्ट्र रूपी
शरीर में से मायाविश्रों को कैसे बाहिर करना
चाहिये यह भी सूचित कर दिया गया है ।
यद्यपि राजा लोग भी दुष्ट के त्रिनाश के
लिए हमेशा प्रयत्न करते रहते हैं । परन्तु जहां
उपदेश के बल से दुष्ट पुरुष अपना दोष
स्वीकार कर खुशी से अपने ऊपर दण्ड ले लेते
हैं वही ब्राह्मणों का ही बल है, ब्राह्ममार्ग है ।
और ज्ञात्रमार्ग में तो बलपूर्वक हथकड़ी और
बेड़ी लगा कर बन्दी किये जाते हैं यही

ब्राह्ममार्ग की राजमार्ग से विशेषता है ।

शारीरतन्त्र में भी मल ओषधी आदियों
के द्वारा विरेचन करा कर बलपूर्वक बाहिर
लाया जाता है । परन्तु जल चिकित्सा में अपने
स्थान से च्युत हुवा २ मल शनैः शनैः मूत्रमार्ग,
गुदामार्ग, रोमकूप इत्यादियों के द्वारा बाहिर
चला जाता है । जल चिकित्सा की अन्य
चिकित्साओं से यही विशेषता है । ये दोनों
रहस्य यातुधान और अग्नि शब्दों के श्लेष से
प्रकट हो रहे हैं । इस कारण इस अनुवाक में
अग्नि को सम्बोधन किया गया है । जिसका
पहला मन्त्र निम्न है ।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

अथ सप्तमं सूक्तम्

सप्तमं सूक्तम् । चातन ऋषिः । अग्निर्देवता । १—४, ६, ७ अनुष्टुभः ५ त्रिष्टुप् ।

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।

त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥१॥

स्तुवानम् । अग्ने । आ । वह । यातुधानम् । किमीदिनम् । त्वम् । हि । देव ।

वन्दितः । हन्ता । दस्योः । बभूविथ ॥१॥

अ० :—[हे] अग्ने ! [त्वं] किमीदिनं
यातुधानं स्तुवानमावह । देव ! त्वं हि वन्दितो

दस्योर्हन्ता बभूविथ ॥१॥

हे अग्ने प्रस्वेदनादिनिमित्तभूताग्ने ! त्वं

किमीदिनं किमिदानीमन्यन्मया विनाशनी-
यमित्यहर्निशं शरव्यान्वेषणतत्परतया चरन्तं
तथा चाह भगवान् यास्कः “किमीदिने
किमिदानीं चरते” इति (नि० ६।११) तं
तथाविधं यातुधानं नानाविधानां यातूनां
गतिप्रकाराणां निधानं स्तुवानमावह स्वकीयया
शक्त्या तथावशीकुरु येनासौ स्तुतिं कुर्वाणो-
ऽस्मानुपातिष्ठेत् तेनाह स्तुवानमावहेति ।
हे देव ! दिव्यगुणयुक्ताग्ने । त्वं हि वन्दित-
स्तद्विद्धिः स्तूयमानो दस्योः शरीरोपघात-
कस्य मलस्य हन्ता सदाऽभवः, इदानीमपि च
भविष्यसीति भावः । ब्राह्मणपक्षे राष्ट्रोप-
घातकादस्यवोऽपि ब्राह्मणैस्त्वोपदेशेन तथानु-
ग्राह्या विनेयाश्च येन ते स्तुवाना आगच्छेयु-
रयमेव दस्यूनां ब्राह्मणोचितो वध इत्यर्थः ।
तथाचानुश्रूयते । ब्रह्मचर्योद्धारनिधृताखिल-
कल्मषाणामन्तकाले धम्मार्थं शरीरप्रणि-
धानेन प्रणिधातृमूर्धन्यताङ्गतानामस्मदीय-
गुरुकुलस्याद्यकृत्पतीनां श्रीश्रद्धानन्दस्वामि-
नाश्चरितेः—

‘तुलसी कृत रामायण पर इन दिनों
एक विशेष घटना ने मेरी श्रद्धा और भी
बढ़ा दी । एक रात पिता जी बलिया में ही
अपने नित्य नियम के अनुसार रामायण की
कथा कह रहे थे । मेरी उपस्थिति में पुलिस
वालों तथा कुछ मुहल्ले वालों के अतिरिक्त
एक बड़े मुकद्दमे की अस्त्रामियां भी बैठी हुई
थीं । प्रसंग भगवान् रामचन्द्र की क्षमा का
छिड़ गया और पिता जी ने सिद्ध किया कि
यदि मनुष्य अपने पाप को स्वीकार कर ले
तो उस से बढ़कर कोई प्रायश्चित्त नहीं ।
भगवान् शरणागत को कभी त्यागते नहीं ।

अकस्मात् पकड़े हुए अपराधियों में से एक
लम्बा दृढ़ांग पुरुष दोनों हाथ बांध पिता
जी के सामने यह कहता हुआ, साष्टांग
लेट गया—

स्रवन सुजस सुन आयो प्रभु भञ्जन भवभीर ।
त्राहि त्राहि आरत हरन सरन सुखद रघुवीर ॥

पिता जी ने खड़े हो कर उसे भूमि पर
से उठा लिया और कहा ‘मुझ मनुष्य के
सिर पाप क्यों चढ़ाते हो’ उत्तर मिला
“भगवान् ! राम ते अधिक राम कर दासा,
मैं आप की शरण में आया हूँ । सारी कहानी
सुन लो ।” उस ने फिर चोरी और खून
दोनों को मान लिया और जब उस का
“इकबाल” लिखकर उस के हस्ताक्षर करा
लिये गये तो उस के मुख की कान्ति वर्णन
की सीमा को उल्लङ्घन कर गई थी ।
मुझ पर उस दृश्य का प्रभाव पड़ा, और
अपने जीवन में कई बार उस का स्मरण
आया ।

कल्याण मार्ग का पथिक,

पृष्ठ—१८—१६

यद्यप्यत्र राजपुरुषः कथां कथयति नतु
ब्राह्मणस्तथापि पुण्योख्यानोपदेशन पापिनां
स्वयमात्मदोषख्यापने प्रवृत्तिर्यदि राजपुरुषो-
पदेशादपि जायते किन्ततः स्यात्तपोधनाना-
म्ब्राह्मणश्रेष्ठानामुपदेशेनेत्यर्थमिदं वृत्तमुदा-
हृतम् । तद्रसमास्वादयन्तु ममविदः । इदानी-
मग्निशब्दस्य ब्राह्मणाभिधायकत्वे प्रमाणान्यु-
दाहिन्यते । “ब्रह्माग्निः । श० १।३।३।१६ । ब्रह्म
वा अग्निः । कौ० ६।१, ५।१२।८॥ श० २।५ ४।८॥
५।३।५।३२॥ तै० ३।६।१६।३॥ ब्रह्म ह्यग्निः ।

श० १।५।१।११। अग्निरु वै ब्रह्म । श० ८।५।१।
१२। अग्निरेव ब्रह्म । श० १०।४।१।५।
ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति । श० १
।४।२।२॥

व्या. प्र०—स्तुवानम् । षुद्रुस्तुतौ—लटः
शानच । अचिरनुवातुभ्रुवां० । पा० ६।४।७७।
इति उवङ् । अग्निः । अग्नि रग्नि लग्नि
गत्यर्थाः । अंगेर्नलोपश्च । उ० ४ । ५० । इति
निप्रत्ययः तत्संनिधौगेन न लोपश्च । यास्कस्तु
अग्निः ऋस्मात् । अग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु

प्रणीयते अंगं नाति संनममानः । अक्रोपनो
भवतीति स्थौलाष्टीविः । न क्रोपयति न
स्नेहयति । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत
इति शाकपूर्णिः । स खलु ऐते' अकारम्
आदत्ते गकारम् अनक्तेर्वा दहतेर्वानीःपर
इति । नि० ७ । १४॥ आवह । वह प्रापणे ।
अस्मात् लोटि "अतोहेः" इतिहेर्लुक् । वन्दितः ।
वदिस्तुत्यभिवादनयोः—क्तः । दस्योः ।
यत्रि मनि शुन्धि दसि० उ० ३।२०। इति
दसु उपक्षये—युच् ॥१॥

(अग्ने) हे पसीने आदि को लाने वाली
अग्नि ! तू (किमीदिनम्) शरीर के किस
अंग को नहीं खाजाने वाले ! अर्थात् सब अंगों
को खाजाने वाले (यातुधानं) वि वध प्रकार
के रोगों की उत्पत्ति में कारणभूत (स्तुवानम्)
स्तुति करते हुए अर्थात् वश में आये हुए रोग
जनक मल को (आवह) शरीर से बाहिर
कर । हे (देव) दिव्य गुण युक्त अग्नि ! (त्वं)
तू (हि) निश्चय से (वन्दितः) विद्वानों से
स्तुति किया जाता हुवा (दस्यो) शरीर का
विनाश करने वाले मल का (हन्ता) क्षय
करने वाला (बभूविथ) हमेशा हो ।

उपर्युक्त मन्त्र में मलपक्ष में 'किमीदिनम्'
का अर्थ है कि शरीर के किस अंग को न
खाजाने वाले, अर्थात् सबको खाजाने वाले ।
यहां पर मलों को यातुधान तथा किमीदिन
नाम से याद किया गया है और जाठराग्नि से
प्रार्थना की गई है कि हे अग्नि तू पीड़ा देने
वाले इन मलों को अपनी शक्ति से वश में

कर । मलों की स्तुति करने का तात्पर्य यह है
कि जलचिकित्सा के कारण प्रदीप्त जाठराग्नि के
द्वारा मल को वश में ले आना । ब्राह्मणपक्ष में
मन्त्रार्थ स्पष्ट है । इसलिये मन्त्रार्थ देने की आवश्यक
कता नहीं । केवल भावार्थ ही दिये देते हैं, भावार्थ
निम्न है "ब्राह्मणों को अपने उपदेशामृत से
राष्ट्र के विघातक दस्युओं को ऐसा विनयशील
तथा अनुगृहीत बनाना चाहिये जिससे कि
वे स्तुति करते हुए आवें और अपना अपना
अपराध स्वीकार कर लें ।' यही दस्युओं का
ब्राह्मणोचित वध है । यास्क भगवान् ने 'किमी-
दिनम्' की निरुक्ति देते हुए लिखा है "किमी-
दिने किमिदानीं चरते" (नि. ६।१०)
अर्थात् अब आगे किसका विनाश करना
चाहिये ऐसा जो सोचते रहते हैं । ब्रह्मवर्ष
शिक्षा-प्रणाली के पुनरुद्धारक तथा धर्म की
बलि वेदी पर कुर्बान होने वाले शहीद
श्री स्वामी श्रीरामानन्द जी के जीवन चरित
"कल्याण मार्ग का पथिक" में एक घटना
आती है—जिसमें दर्शाया गया है कि सज्जन के

उपदेशों से पापी आदमी किस प्रकार अपने अपराधों को स्वीकार कर लेते हैं (संस्कृत भाग में ऊपर हिन्दी में ही उद्धृत कर दी गई है। पाठक गण वहीं से देख लें)। अग्नि को ब्राह्मण मान कर ब्राह्मण पक्ष में मन्त्रार्थ किया गया है। अग्नि शब्द ब्राह्मण का वाचक है

यह दिखाने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों से “ब्रह्म वा अग्निः” श. २।४।४।८। इत्यादि बहुत सारे प्रमाण उद्धृत कर दिये हैं और श. १४।२।२ में तो स्पष्ट ही कर दिया गया है कि “ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति” ब्रह्म अग्नि है इस लिये अग्नि को ब्राह्मण कहते हैं ॥१॥

अथेदानीङ्कीदृशो मनुष्य ईदृशे कर्मणि चतुरः कश्च तेनोपायः अश्रयणीय इत्याहः—

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन्

अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् विलापय ॥२॥

आज्यस्य । परमेऽस्थिन् । जातवेदः । तनूवशिन् । अग्ने । तौलस्य ।

प्र । अशान । यातुधानान् । वि । लापय ॥२॥

अ०—(हे) परमेष्ठिन् ! (हे) जातवेदः ! (हे) तनूवशिन् ! अग्ने ! तौलस्य आज्यस्य प्राशान यातुधानान् विलापय ॥२॥

हे परमेष्ठिन् ! परमे शारीरव्यापाराणा-
माधारभूते जठरे तिष्ठतीति परमेष्ठी तत्सम्बु-
द्धौ परमेष्ठिन्, हे जातवेदः जाते जाते
देहभृन्मन्त्रे विद्यते इति जातवेदस्तत्सम्बुद्धिः ।
हे सर्वप्राणिनामन्नपाकाय तेषु विद्यमान
तनूवशिन् सकलशरीराणां वशे स्थापयितः
जाठराग्ने त्वम् तौलस्य तुल्यमितस्य आज्य-
स्याज्यादिद्रव्यस्य प्राशान भोजनं कुरु । इत्थं
तुलापरिमितभोजनेन च यातुधानान् विला-
पय मलविशेषान् रोदय । यद्वा जडीभूतघृता-
दिवत् स्वोष्मणा विलीनङ्कुरु । आज्यशब्दो ह्यत्र
स्निग्धन्नपानादेरुपलक्षणः । यो हि तुला-
परिमितं शरीरधारणायपेक्षितात्तण्डुलमात्रम-
प्यनधिकम्भोजनङ्करोति तच्छरीरे मलसञ्चया-

भावादयातुधाना विलपन्तु । हन्त । कुत्रास्मा-
भिरवस्थितिर्विधेयेति भावः । जलचिकित्सितेन
रोगानग्नेतुमिच्छता च नियतन्तनूवशिना
भाव्यं विशेषतश्च स्नेहनद्रव्याणामुपयोगे । तथा
च स्नेहोपयोगान्मेदस्वित्तां विगर्हन्नाह भग-
वानात्रेयः—“स्थौल्यकाश्यं वरं काश्यं समो-
पकरणौ हि तौ । यदुभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूत-
मेवातिपीडयेत् ॥” चरक सूत्र० अ० २१
श्लोक० १३ । तच्च मेदस्वित्वमाज्याद्युपयोगेन
जायते तस्मादाज्यं प्रस्तुत्य तनूवशिन्निति
विशेषणे परिकरचमत्कारमनुभवन्तु सहृदय-
शिरोमणयः ।

ब्राह्मणपक्षे तु हे परमे सर्वप्राणिनामूर्धन्ये
स्थानेस्थित ! जातानाम्पशार्थानान्तत्ववित् !
तुलापरिमितभोजनशील ! तनूवशिन्नग्ने !
लोकानामग्रणीभूत ब्राह्मणत्वमेव तादृशोपदेशो
समर्थोऽसि येनानुतापपरवशाः स्मारं स्मारं

स्वकीयदुश्चरितानि विलपान्त यातुधानास्त-
स्मात्त्वमेव तान्वित्तापय रोदयेत्यवदानम् ।

व्या० प्र० = आज्यस्य । आङ् + अञ्ज
मिश्रणे गतौ-क्यप्, न लोपः । कर्मणि षष्ठी,
आ अज्यते शरीरेण । आज्यं घृतम् । परमे
स्थिन् । परमे कित् उ० ४।१०। इति परमे + ष्टा
गतिनिवृत्तौ-इति, स च कित् । हलन्तात्
सप्तम्याः संज्ञायाम् । पा० ६।३।९ इत्यलुक् ।
स्थास्थिन् स्पृणाम् । वा० पा० ८।३।६७ । इति
षत्वम् । परमे उत्तमे पदे तिष्ठतीति । हे उच्च-
पदस्थब्राह्मण । जातवेदः जातानां वेदितः ।
जातशब्दोपपदात् विद ज्ञाने इत्यस्मात् गति-
कारकयोरपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ०
४।२२६। इत्यसुन् । अस्य पादादित्वात् आष्ट-
मिकनिघाताभावे “आमंत्रितस्य च” इति

षाष्ठिकं आद्यदातृत्वम् ॥ यास्कस्तु बहुधा
निग्वोचत् । जातवेदाः कस्मात् । जातानि
वेद, जातानि वै न विदुः, जाते जाते विद्यत
इति वा, जातवित्तो वा जातधनो वा जातविद्यो
वा जातप्रज्ञो वा, यत्तज्जातः पशून् अविन्दतेति
तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वमिति हि ब्राह्मणम् ।
नि० ७।१६। तनू-वशिन् । वशोऽस्त्यस्य-इति ।
हे तनूनां अस्माकं शरीराणां वशयितः ।
प्र + अशान । अश भोजने । लोणमध्यमैकवचने
“हलः श्नः शानज्ज्ञौ” पा० ३।१।२३। इति शना
प्रत्यस्य शानजादेशः । “अतो हेः” पा०
६।४।१०५॥ इति हेर्लुक् । वि + लापय ।
हेतुमति च । पा० ३।१।२६ इति विकृतं । लप
भाषे + णिच् + लोट् । विलापेन दुःखवचनेन
युक्तान् कुरु ॥२॥

इन यातुधानों को वश में करने के लिये
कैसा मनुष्य श्रेष्ठ है । और किन उपाय का
उपने अवलम्बन करना है यह अगले मन्त्र में
दिखाया गया है । मन्त्रार्थ इस प्रकार है:—

हे (परमेष्ठिन) शरीर की सब चेष्टाओं
के आधार पेट में रहने वाले (जातवेदः)
उत्पन्नमात्र देहधारियों में विद्यमान अथवा
सब प्राणियों के उदर गत अन्न को पकाने के
लिये उनमें विद्यमान (तनूवशिन्) सम्पूर्ण
शरीरों को वश में रखने वाले (अग्ने) हे
जाठराग्नि ! (तौलस्य) तराजू से मापकर तोले
हुए (आज्यस्य) घी आदि द्रव्य का (प्राशन)
भक्षण कर । इस प्रकार तुला परिमित भोजन
के खाने से (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले
मलों को (विलापय) रुला अर्थात् दूर कर

अथवा घनीभूत घी इत्यादि की तरह उन्हें
पिघला ।

आज्य शब्द यहां पर स्नेहप्रधान अन्न का
उपलक्षण है । तुलापरिमित भोजन खाने का
तात्पर्य यह है कि शरीर धारण के लिये उतना
ही अन्न खाये जितना कि आवश्यक हो,
आवश्यकता से थोड़ा सा भी अधिक न खाये
इस प्रकार आवश्यकतानुसार भोजन करने से
मल का सञ्चय नहीं होगा और मल स्वयं ही
विनष्ट हो जायगा । इस मन्त्र में “तनूवशिन्”
शब्द एक और चमत्कार को प्रकट करता है
कि घी इत्यादि के खाने से मनुष्य में स्थूलता
आती है । और भगवान् आत्रेय ने स्थूलता की
बहुत निन्दा की है । और चरक सूत्रस्थान
अ० २१ श्लोक १३ में कहा है कि ‘स्थूलता और

कृशता में कृशता ही श्रेष्ठ है चूंकि बीमारी का आक्रमण होने पर कृश अर्थात् पतले आदमी की अपेक्षा स्थूल आदमी ही ज्यादा पीड़ित होता है। इस लिये आज्यादि के उपयोग के साथ साथ यह भी कहा है कि मनुष्य को व्यायाम आदि भांति भांति के उपायों के द्वारा अपने शरीर को वश में भी रखना चाहिये।

मन्त्र का दूसरा अर्थ ब्राह्मण पाक लगता है। उस पक्ष में मन्त्र का शब्दार्थ यह है।

हे (परमेष्ठिन्) सर्व प्राणियों में शिरोमणि (जातवेदः) उत्पन्न पदार्थों के तत्त्वों को जानने वाले (तौलस्य आज्यस्य प्राशान्) शरीर धारण के लिये ही थोड़ा सा भोजन करने वाले (अग्ने) सब मनुष्यों के अग्रणीभूत ब्राह्मण ! (यातुधानान्) अपने उपदेश से यातुधानों को (विलापय) रुला अर्थात् वे अपने पापों को याद कर कर के रोवे। २।

अन्येऽपि गुदादिदेशे ये कृमयो निलीय पुरुषस्थाहारं स्वतनुषोषणाय परिमुष्णन्ति तानुद्दिश्याह—

विलपन्तु यातुधाना अत्रिणो ये किमीदिनः।

अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रतिहर्यतम् ॥३॥

वि। लपन्तु। यातुऽधानाः। अत्रिणः। ये। किमीदिनः। अथ। इदम्। अग्ने।

नः। हविः। इन्द्रः। च। प्रति। हर्यतम् ॥३॥

अ० :—ये अत्रिणः यातुधाना किमीदिनः [सन्ति ते] विलपन्तु अथ इदं नो हविः अग्नेग्निश्च प्रतिहर्यतम् ॥ ३ ॥

अत्रिणश्चौर्येण पुरुषाहारभक्षणशीला यातुधाना मायाविनः किमीदिनः किमिदानीमित्यन्वेषणव्यग्राः कृम्यादयो विलपन्तु भोज्याभावाद्गोदं कुर्वन्तु। इदञ्च नो हविः शारीरदेवतानामिन्द्रियाणां स्वकर्मणि नुष्ठातुमाह्वानायोपयोगिनानाविधमाहारं हे अग्ने ! जाठराग्ने ! त्वम् इन्द्रो जीवात्मा च प्रतिहर्यतं स्वीकुरुतम्।

आहारस्योपयोगे जाठराग्निना कृते तदिन्द्रस्य भागतां गच्छति न यातुधानानां कृम्यादीनाम्। ये तु विहाय मात्राप्रौढरिक्तव्यासक्ता रसनापरितोषमात्राय व्यर्थमपरिमितामाहारमात्रामुदरकटाहे प्रवेशयन्ति ते यातुधानेभ्य एव हविरुत्पादयन्ति नाग्नये

नापीन्द्रायेत्याशयः।

ब्राह्मणपक्षे त्वर्थकामादीनामनायासेनाजनपरायणा रसनालोलुपा इव यातुधानानां वञ्चनगोचरतां गच्छन्ति। ये तु तत्त्वज्ञास्ते तु स्वीयं हविर्ब्राह्मणेभ्यो राज्ञे वा सम्पादयन्ति तेन च तेषाम्पुष्टिरिति योजनीयम्।

व्या० प्र०—विलपन्तु। लप् कथने लोट्। विकृतं लपनं परिदेवनं कुर्वन्तु। अत्रिणः अदनशालाः सर्वेषां भक्षकाः। अद भक्षणे। अदेस्त्रिनिश्च। उ० ४।६६। इति औणादिकस्त्रिनिप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेण अन्तोदात्तत्वम्। किमीदिनः। किमिदानीं वर्तत इति स्वप्रवृत्तये कालपात्राद्यन्वेषणं कुर्वन्तः। अथवा किमिदं किम् इदं इति स्वीचितं पदार्थमन्विष्य चरन्तः ये प्रसिद्धा यातुधाना राज्ञसाः सन्ति ते विलपन्तु परिदेवनं कुर्वन्तु ॥३॥

गुदादि देश में छिपकर बैठे हुए कृमि जो कि अपने पोषण के लिये मनुष्य में स्थित आहार को चुराते हैं उनको उद्देश्य करके अगले मन्त्र में कहा गया है । मन्त्र का शब्दार्थ यह है:—

(अत्रिणः) पुरुष में स्थित भोजन को चुराकर खाने वाले (यातुधानाः) पीड़ा देने वाले (किमीदिनः) अब किसका भक्षण करना चाहिये इस प्रकार अन्वेषण में लगे हुए कृम्यादि (विलपन्तु) भोज्य के न होने से विलाप करें । (अथ) और (इदं) यह (नः) हमारी (हविः) शारीरिक इन्द्रियों को अपने र व्यापार में लगाने में उपयोगी नानाविध भोजन को (अग्नेः) हे जाठराग्नि ! तू (च) और (इन्द्रः) जीवात्मा तुम दोनों (प्रतिहृतम्) स्वीकार करो ।

जाठराग्नि से पचकर भोजन जीवात्मा का भाग बनता है कृम्यादि यातुधानों का नहीं । और जो मनुष्य जिह्वा के लालच से आवश्यकता से अधिक खालेते हैं वे ही कृमि आदि यातुधानों के लिये हवि तय्यार करते हैं ।

ब्राह्मण पक्ष में मन्त्र का शब्दार्थ निम्न है —

(अत्रिणः) औरों का भाग भी खा जाने वाले (किमीदिनः) कूट नीति से अब किसको लूटना चाहिये इस चिन्ता में पड़े हुए (यातुधानाः) मायावी (विलपन्तु) विलाप करें अर्थात् विनष्ट होजाये । (अथ) और जो तत्त्वज्ञ हैं वे कहते हैं कि (इदं) यह (नः) हमारी (हविः) दान रूप या कर रूप हवि (अग्ने) हे ब्राह्मण ! (च) और (इन्द्रः) हे राजन् ! तुम दोनों (प्रतिहृतम्) स्वीकार करो ।

इसका तात्पर्य यह है कि जो लालची और छल से धन कमाकर ऐश्वर्यशाली बनते हैं उनके ऐश्वर्य को लूटने वाले भी पैदा हो जाते हैं । परन्तु जो तत्त्वज्ञानी हैं वे ब्राह्मणों को दान तथा राजा को समुचित कर आदि देकर तथा प्रजा के लिये परोपकार के काम करके जग में यशस्वी बनते हैं और उनकी रक्षा के लिये राजा तथा प्रजा दोनों सदा तय्यार रहते हैं ॥ ३ ॥

अथेदानोऽलचिकित्सतप्रसंगे विद्युतो महिमानन्दर्शयति—

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् ।

ब्रवीतु सर्वो यातुमान् अयमस्मीत्येत्य ॥४॥

अग्निः । पूर्वः । आ । रभताम् । प्र । इन्द्रः । नुदतु । बाहुमान् । ब्रवीतु ।

सर्वः । यातुमान् । अयम् । अस्मि । इति । आऽइत्य ॥४॥

अ०—अग्निः पूर्वः आरभताम्, [यातुधानान्] बाहुमान् इन्द्रः प्रणुदतु सर्वो यातुमान् एत्य ब्रवीतु अयमस्मीति ॥४॥

अस्मिन् मलस्य स्वस्थानात् प्रच्यावन-

कर्मण्यग्निः पूर्व आरभताम् पूर्वमग्निः स्व-
कौशलं दर्शयतु प्रस्वेदनादिना तन्मलं स्व-
स्थानाच्छ्यावयतु पश्चादापस्तम्बत्रादिमार्गेण
प्रवाहयिष्यन्ति । अथ चाग्नेस्साहाय्याय

बाहुमानिन्द्रोऽपि तान्यातुधानान् प्रणुदतु ।
अभ्यङ्गादिकर्तुर्बाहुप्रविष्टो विद्युद्रूपोऽग्निरे-
न्द्रशब्देनोच्यते । विद्युच्चयेयं संघर्षसमुद्भवा ।
तेनाभ्यङ्गोऽसादनादिना मृदूकृतमूलं सुखापने-
यताङ्गच्छति । अभ्यङ्गादन्येऽपि विद्युत्प्रयोगा
जलचिकित्से कर्तव्या इति श्रुतिर्दर्शयति ।
यस्याभ्यङ्गादिकर्मणः प्रभावेण सर्वो यातुमान्
जातावेकवचनम् । अयमस्मीत्येत्पागत्यात्मानं
निवेदयतु सूत्रमार्गेण बहिर्गमनाय सज्जो
भवत्विति भावः ।

प्रजापक्षे तु न तावदिन्द्रेण क्षत्रियेण राज्ञा
पूर्वं यातुधानानां निग्रहाय त्वरणीयमपितु
तेषां दुष्टभावपरित्याजनरूपं कर्म पूर्व-
मग्निर्ब्राह्मण आरभताम् । ये न स स्वयमेवा-
गत्यात्मानं निवेदयतु । चिरन्तनदुष्टसंस्कार-
कल्मषग्रस्तान् ब्राह्मणोपदेशं श्रोतुमपि प्रत्या-
दिशताम् — सुकुमारोपायैरसाध्यव्या गीनां
वर्गं ब्राह्मणानां शक्तेरगौचरमिन्द्रः प्रणुदतु
स्वदण्डेनापाकरोतु । तथा च राज्ञा ते नियंत्र-
णीया यत्ते प्रत्यहमयमस्मीत्यात्मानं रक्षा-

अब जलचिकित्सा के प्रसंग में अगले
मन्त्र में विद्युत् की महिमा को दिखाते हैं ।
मन्त्र का शब्दार्थ निम्न है -

मलको अपने स्थान से च्युत करने के
काम में (अग्निः) जाठराग्नि (पूर्वः आर-
भताम्) पहिले अपना कौशल दिखाए अर्थात्
प्रस्वेदन आदि के द्वारा मल को अपने स्थान
से च्युत कर दे, पीछे जल द्वारा मूत्रादि मार्ग
से वह मल बाहिर फेंक दिया जायगा । और
अग्नि की सहायता के लिए (बाहुमान् इन्द्रः)

सदने निवेदयेयुरनिवेदयन्तश्च दण्ड्याः स्युरिति
तात्पर्यम् ।

प्रथमे मंत्रेऽग्नेर्मलक्षणा नामर्थमुक्तं द्वितीये
जाठराग्नेरतिस्नेहप्रयोगान्मन्दत्वम्परिमितमा-
त्रयोपयोगाच्च यातुधानविलापनं वर्णितम् ।
तृतीये कृमिनाशनं तद् भोजनभूतपल-
दुर्मिक्षोत्पादनेन प्रोक्तम् । चतुर्थेऽभ्यङ्गा-
दिना समुत्पद्यमानस्य वैद्युत्स्याग्नेः प्रयोग
उक्तः ।

व्या. प्र. — रभतां । रभ राभस्ये । राभस्यं
कार्योपक्रमः । नुदतु । नुद प्रेरणे । तुदादि-
त्वात् शः । शस्यङित्वात् लघूपधगुणाभावः
तिपः पित्वाद् अनुदात्तत्वे विकरणस्य प्रत्यय-
स्वरेण उदात्तत्वे प्राप्ते “तिङ्, तिङ्” इतिसर्वानु-
दात्तत्वम् । “व्यवहिताश्च” इति उपसर्गस्य
व्यवहितप्रयोगः । यातुमान् । यातूनि रक्षांश्चि
विशन्ते अस्मिन्निति यातुमान् राक्षसाधिपतिः ।
यद्वा यातवो यातनाः । यतनि हारा एह हारयोः
इत्यस्मात् औणादिक उण् । ता अस्मिन्
विशन्न इति यातुमान् ॥ ४ ॥

मालिश करने वाले की बाहुओं में प्रविष्ट
इन्द्र अर्थात् विद्युद्रूप अग्नि (प्रणुदतु) मलों
को प्रेरित करे । मालिश आदि के प्रभाव से
(सर्वः यातुमान्) सब मल (एत्यः) बाहिर
आकर (ब्रवीतु) कहे कि (अयमस्मीति)
लो ! मैं यह आगया बाहिर ।

जल चिकित्सा में जहाँ अग्नि कार्य कर
रही होती है वहाँ मालिश आदि के द्वारा
एतन्न विद्युत् भी अग्नि की सहायता के लिए
आ जाती है । यह विद्युत् भी अग्नि ही है ।

पुस्तक-परिचय

पौराणिक दम्भ पर वैदिक बम्ब



लेखक और प्रकाशक धर्म नारायण शर्मा, पृष्ठ संख्या ११०, मूल्य लिखा नहीं।

सनातनी पण्डितों ने (१) रामपूजा और शैतान की तालीम (२) दयानन्दभाव चित्रावली (३) दयानन्द के सिर पर बुद्धदेव का जूता (४) शिवपूजा और दयानन्द की तालीम (५) कलियुग इन्सान के लिबास में, आदि कितनी ही ऐसी निन्दनीय पुस्तकें लिखी हैं जिन में ऋषि दयानन्द के पवित्र चरित्र पर मनघड़न्त, सर्वथा असत्य और घृणित लांछन लगाये हैं। दयानन्द भाव चित्रावली में ऋषि के सम्बन्ध में अश्लील चित्र बनाये गये हैं। यद्यपि ऐसे लोगों को दण्डित करने के लिये कानून है तो भी सरकार ने इन घृणित पुस्तकों के निर्लज्ज लेखकों के साथ कोई कार्यवाही नहीं की और इन गन्दी पुस्तकों को ही ज़ब्त किया। इससे दुःखित होकर एक जोशीले आर्ययुवक ने जैसे को तैसा जवाब देने के अभिप्राय से उपर्युक्त पुस्तक, लिखडाजी है। इस में सनातनियों के बुजुर्गों के सम्बन्ध में पुराणों में जो अश्लील कहानियाँ लिखी हैं उन को उद्धृत करके उनके आधार पर चित्र बनाये गये हैं। चित्र कैसे २ हैं उनका हम यहां वर्णन नहीं कर सकते। हमें इस प्रकार की पुस्तकों का लिखा जाना पसन्द नहीं है। इससे धर्म का प्रचार न होकर अधर्म का प्रचार होता है। परन्तु जब एक पक्ष दूसरे पक्ष के धर्म गुरु पर लांछन लगाने लगता है तो दूसरे पक्ष को भी जोश आ जाना स्वाभाविक है। यदि सनातनी नेता और सरकार अपने कर्त्तव्य का पालन करती तो प्रस्तुत पुस्तक न लिखी जाती। हम आर्य लेखकों को यही कहेंगे कि वे उराजना होने पर भी ऐसी पुस्तकें न लिखें। पवित्र आर्यसम्पत्ता ऐसा करने की आज्ञा नहीं देती।

छप गई !

छप गई !!

छप गई !!!

अग्निहोत्र की अनूठी व्याख्या

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार की प्रतिभापूर्ण लेखनी का एक और चमत्कार



नामक पुस्तक छपकर तैयार हो गई !!

पण्डित बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार आर्यसमाज के प्रतिभाशाली वैदिक विद्वान् हैं। उनकी लिखी स्वर्ग, सोम, मरुत, शतपथ में एक पथ, शतपथ भाष्य, ब्रह्मयज्ञ आदि पुस्तकें आर्यसमाज के साहित्य में अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। उनकी संध्या की व्याख्या ब्रह्मयज्ञ के थोड़े ही काल में दो संस्करण निकल चुके हैं। देवयज्ञ पुस्तक भी ब्रह्मयज्ञ की ही कोटि की है। देवयज्ञ में अग्निहोत्र के मन्त्रों की व्याख्या के अतिरिक्त देवयज्ञ के अङ्ग, उद्देश्य-प्रणिधान, ईर्ष्या-विजय, विश्वेदेवा और यजमान, वषट्कार और स्वाहाकार, स्विष्टकार, अदब्धता, यज्ञ-चक्र, ब्रह्मप्रणिधान, आदि कितने ही अन्य विषयों पर भी सर्वथा मौलिक विचार दिये गये हैं। एक बार मँगा कर पढ़िये। मूल्य केवल 1) है।

निम्न पुस्तकें भी मँगाकर पढ़िये

ब्रह्मयज्ञ 1=)

स्वर्ग 1=)

सोम 1)

मरुत् 1)

शतपथ में एक-पथ 1)

मिलने का पता—

अध्यक्ष अनुसन्धान-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब
गुरुदत्त भवन, लाहौर

पण्डित प्रियव्रत प्रिण्टर और पब्लिशर द्वारा भारती प्रिण्टिङ्ग प्रेस, हस्पताल रोड, लाहौर।

में छपकर गुरुदत्त भवन, रावी रोड लाहौर, से प्रकाशित हुआ।

आर्य

कालिक
१९६४

वैदिक तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रचारक पत्र

{ वाषिक मूल्य ३)
{ एक प्रति १=)



सम्पादक—
पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति

आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब
गुरुदत्त भवन, लाहौर

विषय-सूची

सं०	लेख	लेखक	पृष्ठ संख्या
१.	वेदोपदेश		२६५
२.	वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त	पं० प्रियव्रत जी वेद वाचस्पति	२६६
३.	वेद में नाना विद्यायें	श्री सत्यभूषण जी योगी	२७४
४.	दीपमाला पर	श्रीमती विद्यावती 'मीरा'	२८४
५.	उपनिषत् और वेदार्थ	श्री पं० चन्द्रकान्त वेदवाचस्पति	२८५
६.	जय जंगलधर बादशाह	श्रीचांदकरण शारदा	२८६
७.	ब्राह्मण कार्य	आचार्य देवशर्मा जी 'अभय'	२९२
८.	गुरुकुल की विशेषताएँ	" " " "	२९७
९.	सम्पादकीय		३०१
१०.	पुस्तक परिचय		

आर्य के ग्राहक बनिये और दूसरों को बनाइये—यह आपका कर्तव्य है।

ग्राहकों से—आर्य अङ्गरेजी मास की ५-६ तारीख को प्रकाशित हो जाता है। पत्र न मिलने की अवस्था में पहिले अपने डाकखाने में पूछताछ कीजिये। फिर अङ्गरेजी मास की २० तारीख से पहिले पहिले हमें सूचना दीजिये। इसके पश्चात् हम पत्र भेजने के उत्तरदाता न होंगे। अपना पता बदलने की सूचना भी हम तत्काल दीजिये।

पत्र-व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य दीजिये
पता ग्राहक संख्या वाले चिट पर लिखा होता है।

ओ३म्

आर्य

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽरावः ॥

भाग १६

लाहौर, कार्तिक १९६४ नवम्बर १९३७

७ अंक

[दयानन्दावद ११३]

वेदोपदेश

हमारा सदा का मित्र

य आपिर्नित्यो वरुणप्रियः सन् त्वामागांसि कृणवत् सखा ते ।

या त एनस्वलो पक्षिन् भुजेम यन्धिष्मा विप्र स्तुवते वरुथा ॥

ऋ० ७ । ८८ । ६

अर्थ—(वरुण) हे भगवान् वरुण (या) जो मैं
तेरा उपासक (नित्यः) सदा का (आपिः) तेरा
बन्धु (प्रियः) प्यारा सखा, (सन्) मित्र हो कर भी
(त्वाम्) तेरे प्रति (आगांसि) पापों को (कृणवत्)
कर देता हूँ, ऐसे पापी हम लोग (ते) तेरे भोगों को

(मा) न (भुज्य) भोगें । अर्थात् निष्पाप होकर ही
आप की कृपाओं का सुख हम भोगें । (विप्र)
हे ज्ञान भण्डार (स्तुवते) मुक्त भक्त के लिये (वरुथम्)
वरणीय अपने स्वरूप को (यन्धि) दीजिये ।

हमारा और भगवान का नित्यकाल से प्रिय,

बन्धु और मित्र का सम्बन्ध चला आ रहा है। परन्तु जब हम अज्ञान में पड़ कर भगवान् की उपासना छोड़ देते हैं और जब इस लिये हमें भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता तो हम अनेक प्रकार के पाप करने लग जाते हैं। उन पापों के फल स्वरूप हमें भगवान् अनेक प्रकार के दुःख देते हैं। पर इस प्रकार दुःख रहित होने पर भी हमें यह नहीं समझ बैठना चाहिये कि भगवान् की हमारे साथ प्रेममयी बन्धुता नहीं रही। भगवान् जो हमें हमारे पापों का फल दुःख देते हैं उस में भी उन की हमारे प्रति दया ही काम कर रही होती है। हम अपने जीवन के दुःखों पर विचार करें और सोचें कि यह दुःख हमारे किसी न किसी पाप का फल है, इस लिए दुःख से बचने के लिये हमें सभी पापाचरण छोड़ देने चाहियें न जाने किस पाप का क्या फल मिल जाये। इस प्रकार विचार द्वारा सभी पापाचरण छाड़ कर हमारा आत्मा निर्मल हो जाता है। आत्मा के निर्मल होने का फल मोक्ष अर्थात् ब्रह्मानन्द प्राप्ति होता है। इस भाँति हमारे दुःख

में भी हम पर भगवान् की दया ही हो रही होती है।

परन्तु जब तक हम पापाचरण नहीं छोड़ते हैं तब तक हमें भगवान् के आनन्द का उपयोग प्राप्त नहीं हो सता। तब तक हमें पाप का फल दुःख ही प्राप्त होगा। और हम मूल से यह समझते रहे हैं कि शायद भगवान् ने हमारी मित्रता ही छोड़ दी है। पाप से छूटने, दुःख से बचने और ब्रह्मानन्द रस का उपयोग करने के लिये आवश्यक है कि हम भगवान् की स्तुति करके उस के वरणीय स्वरूप को पहचानें। इस के लिये हमारी स्तुति सही प्रकार की होनी चाहिये। वह प्रकार ऊपर के मन्त्रों में भली भाँति बताया गया है।

मन्त्र में एक भाव और दिया है। वह यह कि यद्यपि हम भगवान् के मित्र हैं तो भी—यदि हम पापाचरण करेंगे तो हम पापियों को भगवान् के आनन्दस्वरूप का उपयोग नहीं मिल सकता। हमें पाप का फल दुःख ही मिलेगा। भगवान् किसी भी पूर्वकृत को क्षमा नहीं करते हैं। किये का फल तो भोगना ही होगा।



वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक - श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

१६. राज्य में करने योग्य कुछ बातें

(Some ends to be realised by the state)

२०. विवाहों पर नियन्त्रण

(१) उद्धृत मन्त्रों में से अन्तिम २३ वें मन्त्र में कहा है कि सम्राट् (इन्द्र) का अंकुश अर्थात् नियन्त्रण पत्नी चाहने वाले को पत्नी दिलाता है। सम्राट् का नियन्त्रण एक ही अवस्था में पत्नी दिला सकता है और वह तब जब कि विवाह करने के इच्छुक भावी पति-पत्नी के परस्पर विवाह सम्बन्ध में बंधने के निश्चय की सूचना राज्य को देनी आवश्यक होती हो और सम्बद्ध राज्याधिकारियों द्वारा उस निश्चय को अंकित कर लेने पर वही विवाह हो सकता हो। मन्त्र में क्योंकि कहा गया है कि सम्राट् का नियन्त्रण पत्नी दिलाता है इससे यह परिणाम निकलता है कि भावी पति-पत्नी को अपने विवाह का निश्चय राज्य में अंकित कराना चाहिये और उसके अनन्तर ही विवाह-संस्कार होना चाहिये। ६वें मन्त्रखण्ड के 'हमारे दाम्पत्य जीवन को सुनियमित कर' इस वाक्य से भी यही परिणाम निकलता है। ऊपर १४ वें, २०वें और २१ वें मन्त्रों में यही बात और स्पष्ट रूप में कही गई है। १४ वें मन्त्र में कहा है कि विवाह करने के इच्छुक

भावी पति-पत्नी अपने निश्चय की घोषणा राज्याधिकारियों के आगे कर देते हैं। और उसे अंकित करके राज्याधिकारी उन्हें विवाह करने की स्वकृति दे देते हैं। वे २० वें और २१ वें मन्त्र में कहा है कि भावी वधू पहले राजा के पास जाई जाती है, उसके निश्चय को अंकित करने के पीछे राजा उसे भावी पति से विवाह-संस्कार करने की आज्ञा देता है और इस प्रकार पति को पत्नी देता है। इस से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि संस्कार होने से पहले भावी पति-पत्नी के परस्पर विवाह का निश्चय राज्य में अंकित (Register) हो जाना चाहिये। क्योंकि राज्य में अंकित होने से पहले कोई विवाह-संस्कार नहीं हो सकता इसलिये मानो राजा पति को पत्नी और पत्नी को पति दिलाता है।

(२) बीसवें मन्त्र से यह भी परिणाम निकलता है कि जो कुछ दहेज में दिया जावे वह भी राज्य में अंकित हो जाना चाहिये।

(३) चौदहवें मन्त्र की प्रार्थना से यह भी परिणाम निकलता है कि राज्याधिकारियों को इस ढंग

से भावी पति-पत्नी के विवाह बन्धन में बन्धने के निश्चय को अंकित करना चाहिये कि उन्हें स्वीकृति प्राप्त करने में असुविधा न उठानी पड़े। 'मेरे मन की रक्षा करे,' 'हमें इष्ट के मध्य में रखे,' वर-वधू की इन प्रार्थनाओं का यही तात्पर्य निकलता है।

- (४) दूसरे मन्त्र में कहा है कि जो कन्याएँ विवाह करें वे 'उशतीः' अर्थात् कामनायुक्त हों। कामना यौवन में ही हो सकती है, बाल्यकाल में नहीं। आठवें और तेईसवें मन्त्र में पति को 'पत्नी की कामना वाला (जनीयन्)' कहा है। पत्नी की कामना यौवन में ही हो सकती है बाल्यकाल में नहीं। चौदहवें मन्त्र में भावी पति-पत्नी के परस्पर विवाह करने की घोषणा का वर्णन है। विवाह की इच्छा की घोषणा युवक और युवती में ही उपपन्न हो सकती है, बालकों में नहीं। सोलहवें मन्त्र में स्त्रियों के स्वयंवर द्वारा पति चुनने का वर्णन है। स्वयंवर युवति स्त्री ही कर सकती है, बालिका नहीं। इन मन्त्रों से यह परिणाम निकलता है कि राजा बाल-विवाह नहीं होने देगा। उन्नीसवें मन्त्र में तो स्पष्ट ही युवती कन्या से युवक पति के विवाह का वर्णन है। इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में विवाहेच्छु पुरुष 'युवति' से विवाह करके उसके घर में जाने का वर्णन कर रहा है। उत्तरार्द्ध में कन्या वीर्यशाली (रेतिनः) पुरुष के घर में जाने की इच्छा कर रही है। युवक ही वीर्यशाली हो सकता है, बालक नहीं। वेद में अन्यत्र भी युवक और युवतियों के विवाह का ही वर्णन है। अथर्ववेद

११।५ सूक्त ब्रह्मचर्य सूक्त है। इस में बालक और बालिकाओं के लिये ब्रह्मचारी रहने का विधान है। उसी सूक्त के १८ वें मन्त्र में लिखा है कि "कन्या ब्रह्मचारिणी रह कर युवा पुरुष को पति बनाती है" - "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।" अथर्व० ५।१७।५ औः ऋग्० १०।१०६।५ में कहा है कि "ब्रह्मचारी सब प्राप्ति योग्य कर्तव्य कर्मों में (विषः^१) व्याप्त होता हुआ अर्थात् उन्हें सीखता हुआ (वेविषत्) जीवन व्यतीत करता है (चरति), इस प्रकार वह अपने आपको देवों का अंग बना लेता है अर्थात् इन्द्रादि सब देवों के धारण करने के योग्य गुणों को अपने अन्दर धारण कर लेता है। और तब ज्ञान से सब की रक्षा करने वाला बृहस्पति बन कर पत्नी को प्राप्त करता है," - "ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः देवानां भवत्येकमङ्गम्, तेन जाया मन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुहं न देवाः।" अब बालकपन में तो कोई सब ज्ञान सीख कर बृहस्पति नहीं बन सकता। इस के लिए बड़ी आयु का होना आवश्यक है। अथर्व २।३०।५ में पति कह रहा है "एयमागन् पतिकामा जनिकामोहमागमम्," अर्थात् "यह पति की कामना वाली हो कर आई

१. विध्यन्ते व्याप्यन्ते इति विषः प्राप्तुं योग्यानि ज्ञानानि कर्माणि च। विष्ट व्याप्तौ।

हैं और मैं पत्नी की कामना वाला हो कर आया हूँ।” पति और पत्नी की चाह युवती और युवक में ही हो सकती है, बालिका और बालिका में नहीं। ऋग्वेद १० १८३ में वधू और वर क्रम से एक दूसरे को कह रहे हैं—

“अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्, इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम ॥ ऋग् १०।१८३। १ ॥ अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्वे नाधमानाम्, उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे ॥ ऋग् १०।१८३। २” अर्थात्—

“हे वर ज्ञानवान्, तपसा द्वारा उत्पन्न हुए और तपस्या की विभूति तुझको मैंने अपने मन से देख लिया है। हे पुत्र की कामना वाले तू मुझ में सन्तान रूपमें उत्पन्न होकर मुझे सन्तान और पेश्वर्य दे। १। हे वधू विचारशील अथवा तेजस्विनी (दीध्यानां), अपने शीर में ऋतु में होने वाली सन्तान की कामना वाली तुझ को मैंने अपने मनसे देख लिया है, हे पुत्र की कामना वाली तू युवति मेरे समीप आ और सन्तान उत्पन्न कर। २।” मनसे एक दूसरे को देखना अर्थात् पसन्द करना, तपस्वी और ज्ञानवान् होना, पुत्र की कामना करना, सन्तान उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखना, ये सारी बातें युवक और युवतियां में ही हो सकती हैं, बालकों में नहीं। फिर वधू के लिये तो स्पष्ट युवति शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद १०।८५ और

अथर्ववेद १४।१, २ सूक्तों के मन्त्र स्पष्ट ही विवाह विषयक हैं। विवाह संस्कार में इन्हीं सूक्तों के मन्त्र पढ़े जाते हैं। वहां पर वधू के लिये ‘पत्ये मनसा शंसन्तीम्’ (ऋ० १०।८५।६ अथ० १४।१६) अर्थात् “मन से पति की कामना करने वाली” इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। मन में पति की कामना युवति में ही हो सकती है, बालिका में नहीं। इसी भांति वहां वधू के सम्बन्ध में कहा है “शिवा नारीयमस्तमागन् इमं धाता लोक-मस्मै दिदेश, तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रज पतिः प्रजया वधयन्तु। अथर्व १४।२। १३॥ आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां वपत नरो बीजमस्याम् सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो विभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः। अथर्व १४।२।१४॥ आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि। अथर्व १४।२।३१॥” अर्थात्—“यह मन्तकारिणी नारी इस घर में आई है, धाता ने इसे यह लोक (घर) दिया है, अर्यमा, भग, अश्विनो, और प्रजापति इसे सन्तान से बढ़ायें ॥ १३॥ आत्मन्वती अर्थात् अपने आत्मा की विशेषताओं को प्रकट कर सकने वाली, सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ (उर्वरा) यह नारी आई है, हे पति ! इसमें बीज बोओ, वीर्य-सेचन समर्थ (वृषभस्य) पति के वीर्य को धारण करके वह अपनी कोख से सन्तान उत्पन्न करे ॥ १४॥ प्रसन्न मन वाली होकर पतिकी शय्या का आरोहण कर, इस पति के लिए सन्तान

उत्पन्न कर, इन्द्राणी की तरह ज्ञान से ज्ञान-वती होकर प्रकाश जिनके आगे चलता है उन उषःकालों से पहले जाग । ३१।” सन्तान उत्पन्न करने का यह सामर्थ्य और इन्द्राणी जैसा ज्ञान युवति वधू में ही हो सकता है, बालिका में नहीं। पत्नी में वीर्य-सेचन करने वाला ऋषभ भी युवक पति ही हो सकता है, बालक नहीं। इन सूक्तों में और अन्यत्र भी वेद में अनेक ऐसे प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि युवक और युवति का ही विवाह होना चाहिए, बालक और बालिका का नहीं। विस्तार भय से अधिक मन्त्र उद्धृत नहीं किए जा रहे। वेद के इसी आशय को इस खण्ड के ऊद्धृत मन्त्रों में पुष्ट किया गया है और यह बताया गया है कि राजा को विवाहों पर ऐसा नियन्त्रण रखना चाहिए जिससे राष्ट्र में युवक-युवतियों का ही विवाह सम्भव हो सके, बालक-बालिकाओं का विवाह कदापि न हो सके। इस भांति सम्राट् युवक और युवति को ही पत्नी एवं पति प्राप्त होने देगा। बालक और बालिका को वह पत्नी और पति प्राप्त नहीं होने देगा।

- (५) सोलहवें मन्त्र से यह परिणाम निकलता है कि वर-वधू का विवाह एक दूसरे के गुणों से आकृष्ट होकर स्वयम्बर की रीति से होना चाहिए। जिस विवाह में वर-वधू की पारस्परिक सहमति नहीं होगी सम्राट् उसे नहीं होने देगा।
- (६) विवाह वर-वधू पर दूसरों की ओर से थोपा नहीं जाना चाहिये, उनकी पारस्परिक सहमति से होना चाहिए—दूसरे लोग वर-वधू को चुनाव

में सलाह भले ही देते रहें—यह तो १६वें मन्त्र से स्पष्ट है ही। परन्तु उद्धृत सातवें मन्त्र से यह भी स्पष्ट है कि जब एक बार विवाह हो गया तो उसका विच्छेद नहीं हो सकता, वह टूट नहीं सकता, स्थिर रहेगा। मन्त्र के “स्थिराच्चित् जनीर्वहते,” अर्थात् “सदा स्थिर रहने वाली पत्नी विवाह में प्राप्त करता है” इस वाक्य की यही ध्वनि है। एक बार हुए विवाह का विच्छेद नहीं होना चाहिए यह अन्यत्र भी वेद का सुव्यक्त आशय है। ऋग्वेद १०।८२ और अथर्ववेद १४।१ सूक्तों में जो कि विवाह-संस्कारों में पढ़े जाने वाले मन्त्रों के सूक्त हैं, स्पष्ट आज्ञा है कि “इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्, क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे। ऋग्वेद १०।८५।४२। इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्, क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ। अथर्व० १४।१।२२” हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ दोनों मन्त्र एक ही हैं। इनमें कहा है कि ‘हे वर-वधू यहीं इकट्ठे रहो, कभी वियुक्त न होवो, सारी अर्थात् सौ वर्ष की आयु प्राप्त करो, पुत्रों और पौत्रों से खेलते हुए अपने घर में आनन्द से रहो।’ अथर्व० ७।३६। १ में पति-पत्नी एक दूसरे को कह रहे हैं—“अक्ष्यौ नो मधुसंकाशे अनीकं नौ सम-जनम्, अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति।” अर्थात् “हमारी एक दूसरे की आंखें श द जैसी मिठास बरसाने वाली हैं,

हमारा मुख (अनीकं^१) घी की स्निग्धता से युक्त है, तू मुझे अपने हृदय में कर ले, हमारा मन सदा एकत्र रहे ।” इसी भांति अथर्व० ७।३६।१ और अथर्व० ७।३८।४ में पत्नी पति को सम्बोधन करके कह रही है — “अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा, यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ अहं वदामि नेत्स्व सभायामह त्वं वद, ममे-दसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥”

इनका क्रम से अर्थ है, “हे पति मैंने अपने मन से उत्पन्न हुए प्रेम रूपी वस्त्र से तुझे बांध रखा है, जिससे तू केवल मेरा ही होकर रहे औरों का नाम भी न ले । १। हे पति मैं ही बोलती हूँ तू नहीं, जब मेरी इच्छा हो तभी तू सभा में जाकर बोल, तू मेरा ही होकर रह, औरों का नाम भी न ले । ४।” इन मन्त्रों से वेद का आशय स्पष्ट हो जाता है । वेद की सम्मति में विवाह सोच-समझ कर, परस्पर की अभिरुचि और सम्मति से होना चाहिए, उसमें किसी प्रकार का दबाव नहीं होना चाहिए । परन्तु जब एक बार विवाह हो जाए तो पति-पत्नी को सदा प्रेम-पूर्वक एक दूसरे के साथ ही रहना चाहिए, विवाह के विच्छेद को सोचना भी नहीं चाहिए, वेद का यही आशय इस खण्ड के ऊपर उद्धृत सातवें मन्त्र में भी व्यक्त किया गया है और राजा से कहा गया है कि वह एक बार हुए विवाह का विच्छेद न होने दे ।

१. अनीकं मुखम् । अनिदृषिभ्यां किञ्चेत्यौणादिक ईकन् । अनिति जीवयतीत्यनीकम् ।

(७) ग्यारहवें मन्त्र से यह परिणाम निकलता है कि पत्नी बनने के लिए उपयुक्त ऋतु का निर्धारण राज्य की ओर से किया जाये । उस ऋतु से पहले कोई कन्या पत्नी न बन सके । राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि यह उस निर्धारित ऋतुकाल से पहले किसी कन्या को पत्नी न बनने दे । मनु महाराज की सम्मति में प्रथम ऋतुदर्शन के कम-से-कम तीन वर्ष बाद कन्या का विवाह होना चाहिए ।

(८) इसी मन्त्र से यह भी परिणाम निकलता है कि इस सम्बन्ध में विवाद उठने पर कन्याओं का निरीक्षण करना और उपयुक्त निर्णय देना राज्याधिकारिणी स्त्रियों के हाथ में रहना चाहिए ।

(९) पन्द्रहवें मन्त्र से यह परिणाम निकलता है कि राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिससे कोई दुष्ट पुरुष किसी स्त्री के साथ व्यवभिचार न कर सके । जो व्यक्ति किसी स्त्री से व्यवभिचार करे उसकी सारी सम्पत्ति छीनकर आक्रान्त व्यक्तिको बांट दी जाये या राज्य में मिला दी जाये ।

(१०) उन्नीसवें मन्त्र से यह परिणाम भी निकलता है कि जिस योग्यता को प्राप्त करके युवक अपने योग्य युवति स्त्री और युवति अपने योग्य युवा पति प्राप्त कर सके उसकी शिक्षा का राज्य की ओर से प्रबन्ध होना चाहिए । समुचित शिक्षा से योग्य बनकर ही उपयुक्त स्त्री प्राप्त की जा सकती है इसका अन्यत्र भी वेद में वर्णन है । ऋग्वेद के ७।६५।३ और ऋग्वेद ७।६६।४ मन्त्र क्रम से इस प्रकार हैं—

“स वावृधे नर्यो योषणासु वृषा शिशुर्वृषभो
यज्ञियासु, स वाजिनं मधवद्भ्यो दधाति वि
सातये तन्वमामृजीत ॥ ऋग्. ७/६५।३॥ जनीयन्तो-
न्वग्रवः प्रजीयन्तः सुदानवः, सरस्वन्तं हवामहे ।”

ऋग्. ७/६६।४ मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है
—“जिसे सरस्वती (ज्ञान) प्राप्त हो जाता है वह
बालक (शिशुः) लोगों का हितकारी, कामनाओं
का वर्षण करने वाला (वृषभः) वीर्य सेवन
समर्थ (वृषा) होकर, यज्ञिया अर्थात् देव-
पूजा, संगतीकरण, दान आदि राष्ट्र-पक्ष के
अभ्युन्नायक सद्गुणों में निपुण स्त्रियों में
(योषणासु) वृद्धि पाता है अर्थात् उसे योग्य
स्त्रियों में आदर की दृष्टि से देखा जाता है
जिससे उसे अपनी उपयुक्त सहधर्मिणी प्राप्त
करने में सुविधा रहती है, वह अपने पेश्वर्य-
शाली कुटुम्बियों के लिये (मधवद्भ्यः) अपना
बलवान् पुत्र (वाजिनं^१) उत्पन्न करता है,
भांति-भांति के पेश्वर्य-लाभों के लिये (सातये^२)
अपने शरीर को शिक्षाभ्यास से मांजकर
संस्कृत कर लेता है (वि^३ मामृजीत) । ३। हम
चेष्टा-शील (अग्रवः) और अपनी शक्तियों का
दूसरों के लिए भली-भांति दान करने वाले
(सुदानवः) लोग पत्नी की और पुत्रकी इच्छा
वाले होकर ज्ञानको (सरस्वन्तं) पुकारते हैं । ४।”
सरस्वती समग्र संस्कृत साहित्य में ज्ञान देवता
के लिए प्रसिद्ध है। प्रस्तुत ऋग्. ७/६६।४ में
इसी सरस्वती को पुलिंग की विवक्षा से सर-

स्वान् कह दिया है। ज्ञान के दोनों ही रूप हैं।
जब वह मृदुता, नम्रता, सौम्य और कोमल
भावनाओं को जगाने वाली कलाओं के दाता
के रूप में देखा जाता है तो वह सरस्वती है—
सुकुमार नारी है। जब वह उग्रता, वीरता,
शक्ति, विज्ञान और तीक्ष्ण भावनाओं को जगाने
वाली कलाओं के दाता के रूप में देखा जाता
है तो वह सरस्वान् है—उग्र-शक्तियों वाला
नर है। इन मन्त्रों में स्पष्ट बताया गया है
कि यदि गुणवती पत्नी प्राप्त करनी हो तो उसके
लिए ज्ञान सीखकर योग्य बनना होगा। यह
ज्ञान जहां विविध विद्याओं के सम्बन्ध में
होगा वहां स्त्री-पुरुषों के स्वरूप और स्वभाव
के सम्बन्ध में भी होगा। यह भी एक आव-
श्यक विद्या है और गृहस्थाश्रम के लिए
नितान्त आवश्यक विद्या है। इस विद्या के
सीखने की ध्वनि मन्त्र के “पत्नी और पुत्रकी
इच्छा वाले होकर ज्ञान को पुकारते हैं” इस
वाक्य से स्पष्ट निकलती है। स्त्री-पुरुषों के
स्वरूप और स्वभावादि से परिचित कराके,
उपयुक्त साथी प्राप्त करने की योग्यता देकर ही
ज्ञान हमें पति-पत्नी प्रदान कर सकता है।
अपना साथी प्राप्त करने के लिए हमें इस प्रकार
का ज्ञान मिलना चाहिए इसीका विधान इस
खण्ड के उन्नीसवें मन्त्र में “न तस्य विद्म
तदु पु प्रवोचत” इन शब्दों द्वारा किया गया
है। और राजा का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र में
इस प्रकार के ज्ञान का प्रबन्ध करके हमें उप-
युक्त पति-पत्नी प्रदान करे।

(११) उद्धृत चौथे, पांचवें, छठे, सत्रहवें और अठा-
रहवें मन्त्र में यह कहा गया है कि राज्य के

१. बलिनं पुत्रमिति सायणः ।

२. लाभार्थमिति सायणः ।

३. विमार्ष्टि संस्करोतीति सायणः ।

अश्विनौ नामक अधिकारी वर-वधू को अपने रथ में बिठाकर लाते हैं। पांचवें मन्त्र में यह भी कहा है कि उनके इस रथ के साथ सेना भी चलती है। अठारहवें मन्त्र में कहा है कि अश्वियों के रथपर वधू लाने वाले वरको किसी प्रकार की दुर्गति और भय प्राप्त नहीं होते। इस मन्त्र में अश्वियों को 'रुद्र के लिए मार्ग बनाने वाले' (रुद्रवर्तनी) इस विशेषण से विशेषित किया गया है। रुद्र सेनापति का नाम है यह हम आगे देखेंगे। अश्वियों के इस विशेषण से भी यह ध्वनित होता है कि वे वर-वधू के

रथ के साथ सेना को भेजते हैं और इसीलिए वर को भय प्राप्त नहीं होता। इन मन्त्रों से यह परिणाम निकलता है कि विवाह के समय वर-वधू के लिए राज्य की ओर से निःशुल्क सवारी का प्रबन्ध होना चाहिए, और आवश्यकता हो तो बरात और वर-वधू की रक्षा के लिए राज्य की ओर से सेना या पुलिस का भी प्रबन्ध होना चाहिए। जो मांगे उसीको विवाह के समय का यह सवारी का प्रबन्ध और सेना या पुलिस की रक्षा राज्य की ओर से बिना किसी व्यय के मिलनी चाहिए।

आर्यजनता के चरणों में गुरुकुल माता की एक उत्साह वर्धक भेंट

एक और होनहार नौजवान का आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में प्रवेश

मैंने जब से आर्य प्रतिनिधि सभा की सेवा में प्रवेश किया है तब से बराबर मेरा यह ध्येय रहा है कि होनहार नौजवानों को खेंच कर कार्यक्षेत्र में लाऊँ पं० प्रियव्रत जी, पं० गुरुदत्त जी, पं० रामेश्वर जी, पं० शान्तिप्रकाश जी मेरे उस उद्योग के प्रत्यक्ष फल हैं। मुझे आज आर्य जगत् को यह शुभ सूचना देते हुए बड़ा आनन्द होता है कि एक और नौजवान ने आर्य प्रतिनिधि सभा की सेवा में प्रवेश किया है। इनका नाम है

श्री चन्द्रगुप्त जी वेदालङ्कार

आर्य जनता को वह दृश्य भूला नहीं होगा जब इस नौजवान ने दीक्षान्त-संस्कार के समय अपने सारे स्वर्ण पदक गुरुकुल काङ्गड़ी के अर्पण कर दिये थे जिन्हें उस समय श्री गोकुलचन्द्र जी नारङ्ग ने (५००) दे खरीद कर फिर वापिस कर दिया था। उसके पश्चात् इन्होंने एक वर्ष निर्वाह मात्र लेकर गुरुकुल काङ्गड़ी की सेवा की और वर्ष के अन्त में जब जाने लगे तो जो (१००) वर्ष भर में जमा हुए थे वे गुरुकुल माता की भेंट दे गए। यही नहीं कि स्नातक चन्द्रगुप्त जी में केवल त्याग भाव है उन का इतिहास-शास्त्र का ज्ञान इतना

ऊँचा है कि उनकी लिखी पुस्तक "बृहत्तरभारत" गुरुकुल काङ्गड़ी की "सूर्यकृपा-ग्रन्थमाला" में प्रकाशित हो रही है जो इनकी विद्वत्ता और त्याग दोनों का एक साथ परिचय दे रही है। क्योंकि यह पुस्तक भी इन्होंने गुरुकुलकाङ्गड़ी के अर्पण कर दी है। इन के धारा प्रवाह संस्कृत बोलने की धाक काशी जैसी विद्या की नगरी में जम चुकी है। इन सब से बढ़ कर खूबी इस नौजवान में वह जोश है जो इसकी रग रग में फूटा पड़ता है।

मैं इस नवयुवक के गुणों के गीतगाने नहीं चला हूँ। मैं जानता हूँ कि इस हीरे के कई कोने अभी तराशने के योग्य हैं। पन्तु वह हीरा कौनसा है जो राजमुकुट में लगने से पहिले तराशा नहीं जाता। किन्तु मेरा काम तो इसी हीरे को आर्य जनता के चरणों में भेंट करने का था सो एक सितम्बर से वे आर्य प्रतिनिधिसभा के अनुसन्धान विभाग में आ गए हैं। अब तराशना और अपनी ठीक जगह पर जड़ना आर्यजनता का काम है। मुझे विश्वास है कि यह हीरा आर्यसमाज के इतिहास में उज्ज्वल तारेकी तरह चमकेगा। बुद्धदेव विद्यालङ्कार

अध्यक्ष, अनुसन्धान विभाग

वेद में नाना विद्याएं

ले० श्री सत्यभूषण जी 'योगी' गुरुकुल कांगड़ी

वेद में काल सम्बन्धी ज्ञान

द्वादश प्रथमचक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क
उ तच्चिकेत ।

तस्मिन् साकं त्रिशता न शंकवो अर्पिता
पष्ठिर्न चलाचलासः

ऋ० १। १६४। ४८ अथर्व १०-८-४

(एकं) एक (चक्रम्) चक्र है, जिसमें (द्वादश प्रथमः) बारह अरे हैं, (त्रीणि) तीन (नभ्यानि) गाभिस्थान हैं। (तस्मिन् साकं शंकवो न त्रिशता पष्ठिर्न) उस चक्र में साथ ही कोलकों की तरह तीन सौ साठ (चलाचलासः अर्पितः) चल और अचल, दिन और रात, चलते जाने वाले अहोरात्र अर्पित हैं पड़े हुए हैं—कौन है जो उस एक चक्र के रहस्य को समझता है? इस मन्त्र में सवत्सर चक्र का वर्णन है। तीन नाभि स्थान सर्दी, गर्मी और चौमासा हैं। और सवत्सर के ३६० दिवसों का वर्णन है। बारह अरे चैत्रा वैशाखादि बारह मास हैं। अब हम वेद के वैज्ञानिक आविष्कारों की ओर आते हैं—

वेद में विमान—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तराद्यावापृथिवी
संचरन्ति ते मां जुषन्तां पयसा घृतेन यया क्रोत्वा
धनमाहराति ।

जो बहुत से पन्था अर्थात् मार्ग हैं जिनके द्वारा
व्यापारी लोग आते जाते हैं और जो धुलोरु और
पृथिवी के बीच में हैं जो कि खूब आवागमन वाले
हैं उन मार्गों में दूध और घी सुझे आनन्दित करें

आत्मानं ते मनसारादजानाम्-अवोदिवा पतयन्तं
पतङ्गम् शिरो अपश्यं पथिभिः सुगेभिः अरेणुभिर्जहम्
पतन्ति ऋ० १। १३६। ६

अर्थात् रास्ते में घी दूध का प्रबन्ध हो। इस
मन्त्र में धुलोरु और पृथ्वी लोक के मध्य में चलने
वाले-अर्थात् अन्तरिक्ष में चलने वाले मार्गों का
वर्णन है।

अर्थात् हे अश्व, मैं इस पृथ्वी से उठकर दूर
आकाशमार्ग में उड़ते हुए पक्षरूप (आत्मानं)
शरीर को (मत्वा अजानाम्) मन से जानता हूँ—
(सुगेभिः) बिना किसी बाधा के सुख पूर्वक
संचार के योग्य अरेणुभिः पथिभिर्गहमानं पतन्ति
शिरः अपश्यम्) धूल रहित मार्गों से उड़ते हुए
तुम्हारे पक्षी के से सिर को मैंने देखा है।

तथा

हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादाः मनोजवाः

ऋ० १। ६३। ६

(हिरण्यशृङ्गः) इसके शृङ्ग सुवर्ण के अथवा
सुवर्ण की तरह चमकने वाले (अयोअस्य पादाः)

इसके पैर लोहे के हैं (मनोजवाः) उन पैरों का वेग, मन के समान के तीव्र है।

यह अश्व क्या है ? विमान के सिवाय कुछ नहीं हो सकता। अश्व शब्द की एक निरुक्ति—

‘अश्नुते ऽध्वानम्’ भी है अर्थात् अश्व वह है कि जो मार्ग को व्याप्त करले; उसे शीघ्र समाप्त करले। (यदि इस अश्व का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना हो तो फाल्गुन १९६३ के ‘आर्य’ में पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति की ‘उड़ने वाला अश्व’ लेख पढ़िए)

तथा—

वेदा योवीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्

वेद नाव समुद्रियः । १। २५। ७.

तिसुःक्षपस्त्रिरहाति ब्रजद्विर्नासत्या भुज्यमूहथुः
पतङ्गैः । समुद्रस्य धन्वन्नाद्रस्य पारे त्रीभि रथैः
शतपद्भिः षडश्वैः । ऋ० १। ११६। ४

इस मन्त्र में तीन क्षपा अर्थात् रातों और तीन अहः अर्थात् दिनों में—अर्थात् ७२ घण्टा में आकाश में उड़ते हुए विमान द्वारा आर्द्र समुद्र के पार जाने का वर्णन है।

पतङ्ग का अर्थ पक्षी होता है। पतङ्ग शब्द का प्रयोग इस मन्त्र में विमान के लिए हुआ है ‘पतङ्ग’ शब्द से स्पष्ट है कि आकाश में उड़ने वाले विमानों का वर्णन है समुद्री जहाजों का नहीं।

क्रीडं वः शर्धो मारुतमनर्वाणं रथेशुभम् कण्वा अभिप्रगायत—

ऋ. १. ३६. १.

अर्थात् हे बुद्धिमानो ! तुम ऐसे बल की स्तुति या वर्णन करो जो कि मरुत अर्थात् वायु के कारण पैदा होता है, जो कि अनर्वा होता है अर्थात् जिसके

पैदा करने के लिये अर्वा (घोड़े) आदि पशुओं की जरूरत नहीं होती।

तथा जिसका प्रयोग यदि रथ में किया जावे तो रथ की शोभा बढ़ जाती है, तथा जो बल क्रीड़ा के निमित्त विशेष साधनरूप है।

इस मन्त्र में मोटर को क्रीडारथ कहा है अर्थात् वह रथ जिसके द्वारा क्रीड़ा, विहार, व सैर की जाय यह रथ घोड़े से विहीन होता है। मरुत् सम्बन्धी बल से यह चलता है मोटर में पैदा हुई तेल आदि की वायु को यहां मारुत, शर्ध व बल कहा है।

इस वायु को मारुत इस लिए कहा है कि इसके चलने से (रुत् मा) आवाज और शोर नहीं होता आज कल की मोटरों की अपेक्षा वैदिक मोटर में यह विशेषता है।

वेदों में जलयान

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदत्तः परि गां नयध्वम् । संयोपयन्तो दुरितानि विश्वा हित्व न ऊर्जं प्ररतात्पतिष्ठः

ऋ. ११। १६५। ५

चलाने योग्य क-पोत (क का अर्थ है जाला उसका पोत) ऋग्वेद की विधि से चलाओ। आनन्द प्रसन्न रहते हुए और सब कष्टों को अलग करते हुए अन्त को पृथ्वी के चारों तरफ ले जाओ।

अत्यन्त वेग से चलने वाला हमारा कपोत अन्त को दूसरे देशों में छोड़ कर लौट आवे।

वेदों में गृहनिर्माण विद्या

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत शाला या विश्ववाराया निद्धान विचृतामसि
अथर्व०। ६। ३। १

शाला कैसी:—

उपमिता—अर्थात् (Well designed) हो अच्छे (Design) को हम कहां से प्राप्त कर सकते हैं?—वेद स्वयं बताता है कि वह उपमिता हो अर्थात् उसे संसार की किसी भी सुन्दर तथा उपयोगी वस्तु से उपमा दी जा सके ।

प्रतिमिता का अर्थ है—प्रतिमान (Symmetry) वाली है । इसका अर्थ ऋषि ने संस्कारविधि में इस प्रकार किया है—“प्रतिमान् अर्थात् एक द्वार के सामने दूसरा द्वार कोणों और कक्षा भी सम्मिलित हों ।

परिमिता—इसका अर्थ यह है कि जितने कार्य उससे लेने हैं उनके अनुकूल कमरे परिमित तथा आपस में उनका सम्बन्ध परिमित हो । अर्थात् वह Well measured तथा Well proportioned हो—तथा ।

वह शाला विश्वद्वारा हो—उसके चारों आर द्वार हों । वायु का निर्गम तथा प्रवेश खुला हो—तथा

वह शाला नद्धा हो—उसके बन्धन तथा चिनाई दृढ़ हों—फिर कहा कि विचृतामसि—वह बन्धन जब चाहें खोले भी जा सकें—अर्थात् द्वार जब चाहें खोले व बन्द किये जा सकें—

इस एक छोटे से मन्त्र में इतनी बड़ी बात किस सुन्दरता से भरी हुई है—और कैसा है वैदिक गृह निर्माण का आदर्श—इसे विज्ञ पाठक अच्छी तरह समझ सकते हैं ।

और देखिए—

अक्षुमोऽंशं विततं सहस्राक्षं विषूवति

अथर्व० १।३। ८

(विषूवति) ऊंचे आर (विततम्) फैले हुए स्थान पर ही मकान बनाने चाहिये ।

और कहा है—

उद्धितातन्वे भव

अथर्व० ९. ३. ६.

अर्थात् वह शाला ऊंची उठी—हुई हो—

तथा

‘तृणैः पृथुता’—

शाला की छत—घास फूस पत्तों आदि से छाई हुई हो—यह कोई जङ्गलीपन नहीं है—क्योंकि घास फूस आदि से छाई हुई छत हर एक ऋतु में उपयोगी होती है । और घास फूपादि से मकान यदि ढंग से छाया जावे तो खूब सुन्दर मालूम होता है ।

तथा—

“हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः

सदो देवानामसि देवि शाले ।’

अथर्व० ६. ३. ७.

अर्थ—(देविशाले) हे दिव्य शाला ! तू (हविर्धानम्) अन्न घृत आदि का भण्डार (अग्निशालम्) अग्नि विद्युत आदि का स्थान

अर्थात् मकान बनवाते समय प्रत्येक कार्य के लिये अलग अलग कमरे होने चाहिए जिससे कि सब काम सुव्यवस्थितरूपेण चलें ।

वेद में पशुओं के लिए भी अच्छी २ शालाएँ बनवाने का उपदेश है ।

गोम्यो अरवेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते

अथर्व० ६. ३. १३

अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह

अथर्व ६. ३. ६४

हे शाले ! तू अग्नि को और मनुष्यों को पशुओं सहित अपने अन्दर ढक लेती है अर्थात् जिस प्रकार मनुष्यों के लिये मकान बनवाए जावें उसी प्रकार पशुओं के लिये भी वायु प्रकाशादि का सम्बन्ध करके मकान बनवाने चाहियें ।

वैदिक सृष्टि—विद्या

यह सृष्टि कैसे बनी—यह एक प्रश्न है, जिसका उत्तर प्रत्येक धर्म को देना चाहिये । इससे पहले कि हम वैदिक सृष्टि विद्या का वर्णन करें—आजकल के ज्ञान के अनुसार बता दें कि सृष्टि कैसे बनी ।

सृष्टि के सम्बन्ध में सबसे अधिक मान इस समय नीहारिकावाद को दिया जाता है । इसका आविष्कार फ्रांस के ज्योतिषी लैप्लेस ने किया था । नीहारिकावाद का अभिप्राय यह है कि यह ब्रह्माण्ड पहिले नीहारिका (चमकती हुई धुंध) (Nebula) के रूप में था । और यह जोर से घूम रहा था । इसका आकार अण्डे का सा था—

(Elliptical) था । प्रकृतिक नियमों के प्रभाव से यह नीहारिका शनैः शनैः ठण्डी होती गई और इसके ऊपर के खोल (Rings) शनैः शनैः अलग होगए । जो खोल अलग होगया उसके ताप और तेज दोनों कम होते गए । बच का भाग अधिक तेजस्वी तथा अधिक ताप युक्त रहा । यह बीच का भाग सूर्य है और अलग हुए खोल ठण्डे होकर ग्रह (Planets) बन गये हैं ।

इन ग्रहों में से एक पृथ्वी है । इन खोलों की गति अब तक कायम है । सभी ग्रह अपने तथा सूर्य के गिर्द निरन्तर घूमते चले जाते हैं ।

अब आइये—आप को ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में से एक मन्त्र दिखाएँ :—

तस्माद्विराट जायत विराजोऽधिपुरुषः

स जातो अतिरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः

• ऋ. मं. १०. सूक्त ६०, मन्त्र ५

अर्थ—उस परमात्मा के सामर्थ्य से विराट पैदा हुआ । विराट् शब्द वि उपसर्ग पूर्वक 'राजृ' दीप्तो धातु से बनता है—अर्थात् विशेष रूप से चमकने वाली चीज पैदा हुई । उस विराट का अधिष्ठाता पुरुष या परमात्मा था । वह विराट (जातः) जब उत्पन्न होचुका तो (अतिरिच्यत) उसके बहुत से टुकड़े होगए ।—

फिर उसके बाद भूमि पैदा हुई—और मनुष्य पैदा हुए ।

पाठक, स्पष्टतया देख सकते हैं कि यह विराट (Nebula) (नीहारिका) के सिवाय कुछ नहीं है ।

उत्पन्न हुआ—हुआ वह विराट् बहुत से टुकड़ों में विभक्त होगया—यह इस मन्त्र में कहा है । बहुत से टुकड़े क्या हैं सूर्य—पृथिवी ग्रह इत्यादि—

विज्ञान का आजकल सिद्धान्त है कि चन्द्रमा पृथ्वी से उत्पन्न हुआ है । और पृथिवी का जा अंश चन्द्रमा बनगया है उसका खाली छोड़ा हुआ स्थान प्रशान्त-सागर ने लिया है ।

यजुर्वेद में एक मन्त्र है ।

पुरा क्रूरस्य विसृषो विराप्शन् नुदादाय पृथिवी जीवदानुम् । यामैरयंश्चद्रमसि स्वधाभिस्ता मुयीगसो अनुदिश्य यजन्ते । प्राक्षणी रासादय द्विषतो बधोऽसि ।

यजु० १. १८.

इसमें कहा है —

पुरा क्रूरस्य विसृपः ... आदाय पृथिवीं ... चन्द्र
मसि उदैरयन्—

अर्थात् प्राचीनकाल में क्रूर विसर्पणशील पदार्थ
के एक अंश को लेकर पृथिवी के रूप में परिणाम
किया—इसका मतलब यह है कि—

नीहारिका के अण्डे से अलग हुआ पृथिवी रूपी
खोल जब कुछ तो क्रूर (कठोर) हो चुका था और
कुछ विसृप् (सर्पणशील) द्रव- अवस्था में था
तो इसका एक भाग उस से अलग होकर चन्द्र
बन गया ।

छान्दोग्योपनिषद् में एक आख्यायिका आई है—
जिसके प्रारम्भिक शब्द ये हैं —

आदित्यो ब्रह्म, इत्यादेशः—तस्योपव्याख्यानम्
असदेवेदमग्र आसीत् तत्सदासीत्, तत्समभवत्,
तद् अण्डं निरवर्तत—तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत्,
तन्निरभिद्यत्, ते आण्डं कपाले रजतं सुवर्णं
चाभवताम् ॥ १ ॥

तद् यद् रभजत^१ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं^२ सा
द्यौः ॥ २ ॥

अर्थात् सूर्य प्रकृति है—यह मूल मन्त्र है । इसकी
व्याख्या यह कि यह (संसार आरम्भ) में नहीं था
वह कारण अवस्था में था । वह कार्य अवस्था
में आया । वह अण्डाकार हो गया । वह एक संवत्सर
की अवधि तक ऐसा रहा । तब वह टूट गया । अण्डे
के दो भाग होगए—

एक चांदी का (श्वेत), एक सोने का (पीला)
जो चांदी का हिस्सा था, वह पृथिवी बन गया और
जो सुनहरी हिस्सा था, वह सूर्य हुआ ।

इसमें (Nebular Theory) नीहारिकवाद
अलंकारिक ढंग से समझाया गया है ।

वेद और जल

आज कल जल दो गैसों से बना हुआ माना
जाता है । अर्थात् जल को तत्त्वरूप में स्वीकार नहीं
किया जाता ।

इह विषय में वेद क्या कहता है :—

विद्युता ज्योतिः परिसज्जिहानं मित्रावरुणा
यदपश्यतां त्वा तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो
यत्त्वा विशआजभार ॥

ऋ. ७. ३३. ३.

वसिष्ठ ! (विद्युतः ज्योतिः परिसज्जिहानं यत् त्वा)
हे वासकतम जल ! विद्युत् की ज्योति से अपने पूर्ण
रूप को छोड़ते हुए जिस तुझको (मित्रावरुणों अप-
श्यताम्) मित्र और वरुण वायुएँ देखती हैं कि ये
हमारे से पैदा हुआ है (तत् एकं जन्म) इस लिये
तेरा एक नाम जन्म है (उद् यत् त्वा अगस्त्यः)
और जिस तुझको सूर्य ने (विशः आजगा) मनुष्यों
को प्रदान किया है, वह तू 'जन्म' नाम वाला है—

इस मन्त्र में.....निम्न शब्द विशेष विचार
णीय है—वसिष्ठ—मित्रावरुणा वसिष्ठ का अर्थ
हैं वसुतम—८ वसुओं में जल भी परिगणित है ।

निष्पटु में पढ़े हुये मित्र और वरुण का अर्थ
यास्काचार्य ने वायु किया है तो ये दो वायुएँ क्या
हैं—हाईड्रोजन और आक्सीजन ये दो वायुएँ हैं—
विद्युत् के द्वारा ये दोनों मिलकर जल बनाती हैं—

कोई पूछ सकता है कि हाईड्रोजन और आक्सी-
जन तुम वहाँ से ले आए ?—

मानार्थक मां धातु से मित्र शब्द सिद्ध होता है
जिसका अर्थ है मापक—अंग्रेजी का थर्मामीटर—
धममित्र का बारोमीटर—भारमित्र हैड्रोमीटर सान्द्र-
मित्र का अपभ्रंश है—इसी प्रकार और मीटर भी
अपभ्रंश हैं—

मित्र और वरुण शब्द हाईड्रोजन (उद्रजन) और ऑक्सिजन (ओषजन) के लिये हैं—इसे निम्न मन्त्र बिल्कुल स्पष्ट करता है—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसं । धियं घृताचीं साधन्ता ।

ऋ० १. २. ७.

पवित्रत करने में चतुर मित्रको और (रिशादसा घृताचीं धियं साधन्ता) येदो मिलकर जलनिर्माण कर्म को सिद्ध करनेवाली हैं—पूतदक्ष वायु हाईड्रोजन ही है इस लिए इसे (Reducing agent) अशुद्धि को दूर करने का मुख्य साधन बताया जा है—यथा—ताम्रके अम्लजिद पर से यदि हाईड्रोजन (उद्रजन) को गुजारें तो यह ओषजन को लेकर वाष्प बन जाती है और शुद्ध ताम्र शेष रह जाता है । उद्रजन को मित्र इस लिये कहा क्योंकि यह सबसे हलकी है अतः मपने का साधन है ।

रिशादस वरुण—ओषजन जंग द्वार धातुओं को खा जाती हैं—मानो वह उनकी हिंसा करती है ।

रिश और रुश् धातुएँ हिंसा अर्थ में प्रयोग आती हैं । अंग्रेजी का जंगवाची (Rust) शब्द रुश् धातु से बने रुष्ट का ही अपभ्रंश है । इस प्रकार विद्युत के द्वारा उद्रजन और ओषजनसे जल बनता है यह स्पष्ट हो गया—

निघन्तु में जल के कई नाम हैं एक नाम 'जन्म' भी है । जन्म तो बहुत चीजों का होता है—पर सबको जन्म नहीं कहा जाता है इसके लिये जन्म शब्द विशेष तौर से कहना ज्ञापक है कि जल किन्हीं अन्य वस्तुओं से बना है—

एक और मन्त्र -

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्म मनसो अधिजातः । द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ।

७. ३३. ११.

(वसिष्ठ ! उत मैत्रावरुणः असि) हे वासकतम जल ! तू मित्र वरुण वायुओं से पैदा हुआ है (ब्रह्मन् ! उर्वश्याः मनसः अधिजातः) अन्नदातः तू विद्युत के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है । (द्रप्सं स्कन्नं त्वा) जल के रूप में परिणत तुझको (दैव्येन ब्रह्मणा) देवजनों के अन्न के निमित्त से अर्थात् उत्तम अन्न पैदा करने के लिए (विश्वेदेवाः) सूर्य किरणें (पुष्करे अददन्त) अन्तरिक्ष में धारण करती हैं । और भी है ' मित्रावरुणौ वृष्ट्यधिपती तौ मावताम् ' अर्थात् मित्र और वरुण वृष्टि के अधिपति हैं । वे दोनों मेरी रक्षा करें । इस प्रकार मित्र और वरुण विद्युत के द्वारा मिल कर जल बनाते हैं ।

वेद में एक मन्त्र है—

“सप्तास्यासन् परिधयः त्रिःसप्त समिधः कृताः ।

देवा यज्ञं वितन्वाना अवधन्पुरुषं पशुम् ॥”

अथर्व० १६।६।१६ । यजु० ३१।१५ ।

इस मन्त्र में काव्यमय बर्णन है । इन शरीर में जीवन रूप यज्ञ का आयोजन करने के लिए पृथ्वी जल, तेज, वायु और आकाश ने इस शरीर रूप यज्ञ-भूमि में सात परिधियाँ बनाई—और उसमें २१ (तीन सप्तक) समिधाएँ डालीं—पशु के रूढ़ में जीवात्मा को रखा ।

इस मन्त्र में शरीर रचना विज्ञान (Anatomy) का संक्षेप से वर्णन है । कैसे ?—

इस शरीर की सात परिधियां त्वचा के सात पत्र हैं (सप्तत्वचो भवन्ति-सुश्रुत शरीरस्थान अ० ४) तीन सप्तक निम्न है —

कलाः सप्त । आशयाः सप्त । धातवः सप्त । (सु० शा० स्था० अ० ५)

१. रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात धातु हैं (अष्टांगहृदय सूत्रस्थान (अ० १ श्लोक १२)

वाताशय पित्ताशय श्लेष्माशय रक्ताशय आम-
शय पक्काशय और मूत्राशय (गर्भाशय स्त्रियों के)
ये सात आशय हैं । (सु० शा० स्था० अ० ५)

मांसधरा, रक्तधरा, मेदोधरा, श्लेष्मधरा, पित्त-
धरा, पुण्डरीकधरा और शुक्रधरा ये सात कलाएँ हैं ।

इस विषय में डाक्टरी सिद्धान्त भी अयुर्वेदिक
सिद्धान्त से मिलता जुलता है एक दो जगह भेद है ।
तथा शल्य क्रिया (सर्जरी) के विषय में—

रोहण्यसि रोहण्यस्थनश्छिन्नस्य रोहणी ।
रोहयेदमरुन्धति ।

अथर्व ४।१२।१

मज्जा मज्जा सन्धीयतां चर्मणा चर्म
रोहतु ।

असृक्ते अस्थिरोहतु मांसं मांसेन
रोहतु

अथर्व ४।१२।४

इन मन्त्रों में चिमटी, संडासी, नशर, कैवी
आदि के द्वारा इस समय चिकित्सा में व्यवहृत होने
वाले प्रथम अंग (शल्य) का व्रण-चिकित्सा और
अस्थि-सन्धान (हड्डी जोड़ना) का संकेत पाया
जाता है ।

कीटाणुवाद—(Germs theory)

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्व-
प्सवन्तः । ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं
तद्धन्मि जनिमक्रिमीणाम् ।

अथर्व ० काण्ड २।३१ सूक्त

पर्वतों में, वनों में, औषधियों में, पशुओं में आर
हमारे शरीर में जो कृमि घुस गए हैं उन सबका मैं
नाश करता हूँ—और भा—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निमोचन्
हन्तुरश्मिभिः ये अन्तः क्रिमयो गवि ।

अथर्व ० २।३२।१

यहाँ पर रश्मिचिकित्सा व सूर्यचिकित्सा के
वर्णन है—इसकी पुष्टि में एक और ऋक्—

उद्यन्नप्य मित्रमहम् आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।
हृद्गोमं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय ।

इसमें हृद्गोग और हरितता की चिकित्सा सूर्य
की रश्मियों द्वारा की गई है ।

जल चिकित्सा—

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु
क्षेत्रियात् ।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजाः
अग्निं च विश्वं शं भुवम् ।

अथर्व ० १. ७. ५.

जल औषध है—जल रोग नाशक है—जल सब
रोगों की औषध है—जल क्षेत्रिय अर्थात् असाध्य रोग
से भी छुड़ा देता है—

मानस-चिकित्सा—

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वावाचः पुरोगवी ।

अनामयिनुभ्यां ताभ्यां त्वोपस्पृशामसि ॥

अ० १०. १३३७. ७.

मैं अपने दस अंगुलियों वाले और बिल्कुल नीरोग कर देने वाले दसों हाथों से तुम्हें स्पर्श करता हूँ । मैं अपनी उस वाणी—शक्ति से भी जो कि सब वचनों (Suggestions) के आगे आगे जाने वाली है—तुम्हें अभिमर्शन (Jorec) करता हूँ अर्थात् ते। स्पर्श करता हूँ ।

वेद में वैद्य का लक्षण—

यत्रौषधीः समगमत राजानः समिताविव ।

प्रियः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः ॥

(समितौ राजान इव , जिस प्रकार राजा लोग संग्रामभूमि या सभा में इकट्ठे होते हैं । उस प्रकार (औषधिः) हे आषधियो । तुम (यत्र समगमत) जिस पुरुष में इकट्ठी होती हो (रक्षोहा) रोग पैदा करने वाले कृमियों का नाशक तथा (अमीवचातनः) रोग विनाशक (सविषुः) वह ब्राह्मण (भिषग् उच्यते) भिषक् वैद्य कहा जाता है ।

इस प्रकार वेद में आयुर्वेद सम्बन्धी बहुत ज्ञान भरा पड़ा है । यदि उसी का वर्णन करने लगे तो एक बड़ा ग्रन्थ बन सकता है ।

हमारे पूर्वजों ने दर्शन, विज्ञान और भाषा के क्षेत्रों में जो उन्नति की थी वह सारी चार वेद छः अङ्ग और छः उपाङ्ग—इन तीन शीषकों के नीचे आ जाती है । इन तीनों को वेदों पर आश्रित माना जाता है । अर्थात् इन में जिन विषयों का वर्णन है वे सब मूलरूपेण वेदों में विद्यमान हैं । इनमें वेद-बीज वृत्त रूप में परिणत हुआ ।

चार उपवेद निम्न हैं—

(१) आयुर्वेद—(Science of life)—इसमें वर्णित विषयों के आधुनिक नाम Medicine (मैडिसन) Surgery (सर्जरी), Hygiene (हाइजीन), Chemistry (कैमिस्ट्री), Physiology (फिज़िओलॉजी), Anatomy (एनोटमी) आदि हैं ।

(२) अर्थवेद या शिल्पविज्ञान—(Science of Mechanics) मिकेनिक्स ।

(३) गन्धर्व वेद—Science of Music and song drama, and dancing. (संगीत, गान, अभिनय और नृत्य का विज्ञान)

(४) धनुर्वेद—Science of war and weapons. (युद्ध और शस्त्रों की विद्या)

छः अंग निम्न हैं—

(१) शिक्षा—Science of Phonetics (फोनेटिक्स) and Orthoepey (ऑर्थिओपी)

(२) कल्प (कल्प में निम्न चीजें शामिल हैं)

(i) धर्म सूत्र—Principles of law.

(ii) श्रौत सूत्र Rules of vedic ceremonies. (सैरिमनीज)

(iii) गृह्य सूत्र—Rules of domestic ceremonies.

(iv) शुल्ब सूत्र—Principles of Geometry (ज्योमैट्री)

(३) व्याकरण—Grammar (ग्रामर)

(४) निघण्टु—Phylology (फाइलोलॉजी)

(५) छन्द—Prosody (प्रोसोडी)

(६) ज्योतिष—Astronomy (एस्ट्रोनोमी)

छः उपाङ्ग निम्न हैं—

(१) न्याय दर्शन—Logic.

(२) वैशेषिक दर्शन—Metaphysics (मेटा-फिजिक्स)

(३) योग दर्शन—Psychology (साइकालोजी)

(४) सांख्य दर्शन—Ethics (एथिक्स)

(५) मीमांसा दर्शन—Physics (फिजिक्स)

(६) वेदान्त दर्शन—

पहले बताया जा चुका है कि इन सबका आधार एवं मूल वेदों को माना जाता रहा है। पाठकों! इस से अनुमान करो कि वेदों में कितनी विद्यायें हैं।

वेद विषयक पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति।

A. Wallace अपनी पुस्तक Social Environment and moral Progress में लिखते हैं—

If we make allowance for the very limit knowledge at this early period, we must admit that the mind which concerned and expressed in appropriate language such ideas as are everywhere apparent in the vedic hymns, could not have been in any way inferior to those of the best of our religious teachers and poets.

M. Louis Jocolliet अपनी पुस्तक 'Bible in India' में लिखते हैं—

"The Veda is the word of eternal wisdom, the principle of principles as revealed to our fathers—the pure primeval doctrine, the sublime instructions."

अर्थात् वेद परमात्मा का ज्ञान है और इसमें सब विद्याओं के बीज विद्यमान हैं।

एडवर्ड कार्पेन्टर Art of Creation में लिखते हैं।

A new philosophy we can hardly expect or wish for, since indeed the same germinal thoughts of the Vedic authors came all the way down history even to Schopenhauer and Whitman, inspiring philosophy after philosophy and religion after religion and it is only to-day that science with its huge conquests in the material plains is able to provide for these new old principles... some what of a new form and so wonderful a garment of illustrations and expression as it does.

अर्थात् संसार में कोई नया ज्ञान नहीं पैदा होता, चाहे शोपनहार की फिलोसफी पढ़ जाय चाहे विटमैन के धर्मोपदेश—वेदों के ही विचार सर्वत्र मिलते हैं। वैदिक ऋषियों के विचार ही संसार में विकसित हो रहे हैं और वर्तमान में भी इन्हीं विचारों का रूपान्तर हो रहा है, न कि कोई नवीन ज्ञान।

नोबल प्राइज़ विजेता मैटरलिक जो कि बड़ा भारी फिलोसोफर (दार्शनिक) माना गया है। लिखता है—

Only the glair of the clairvoyant directed upon the mysteries of the

past may reveal unrivalled wisdom which lies hidden behind these Vedas.

भावार्थ यह है कि वेद ही एक मात्र ज्ञान के भण्डार हैं जिनकी तुलना हो ही नहीं सकती; वेदों में गुप्तरूप से (मन्त्र गुप्तावयणो) अर्थात् मन्त्र-रूप से समस्त विद्याओं का उपदेश निहित है।

अमेरिका के विभूत विचारक मिस्टर थॉरो— निरन्तर वेदों का स्वाध्याय करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि—

“What extracts from the Vedas I have read fall on me like the light of a higher and purer luminary which describes a loftier course through a purer stratum free from particulars, simple Universal—the Vedas contain a sensible account of God.”

अर्थात् वेदों की विचारधारा पवित्रतम है। वेदों में प्रकाश, ज्ञान और विज्ञान है। वेद सार्वजनिक सार्वकालिक और सावदेशिक हैं। वेदों में परमात्मा का पवित्रतम प्रकाश प्रसरित है।

इस प्रकार हमने कुछ वेद विद्याओं को संक्षेप से देखा। वेदरूपी समुद्र में अनन्तों मोती पड़े हैं—बिना डुबकी लगाये वे प्राप्त नहीं हो सकते। आओ, मानव जाति को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाले मनस्वी भाइयो आओ! उस अनादि अमृत वाणी की उपासना करो। धर्म का आदि स्रोत वेद ज्ञान का आदि स्रोत वेद और विज्ञान का आगार वेद—आज दुनियां में फिर चमक उठा है। ऋषि दयानन्द ने उस पर आप बादलों को छिन्न भिन्न कर दिया। आज दुनियां आश्चर्यचकित हो देख रही है—उसकी आंखों में चक्काचौंध हो रही है।

आर्य भाइयो! अभिमान करो, तुम्हें तुम्हारे पूर्वजों ने बहुत ऊँची चीज दी है। अपने को इस योग्य बनाओ कि वेदों का डंका आलम में बज जावे। अरब की मस्जिदों से और इङ्गलैण्ड के गिरजाघरों से उस अनादि पूर्ण कवि की श्रुति सुखदा मङ्गलवाणी सुनाई दे।

आचार्य का यह कहना विश्कुल ठीक है—

“वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है—उसका पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना प्रत्येक आर्य का परम धर्म है।



“दीपमाला पर”



(लेखिका—विद्यावती “मीरा” माता डा० सत्यपाल जी बीडन रोड लाहौर)

बलिदान हुये ऋषि दयानन्द, अज दीपक माला आई है ।

भारतमाता भी इसी खुशी में फूली नहीं समाई है ॥

क्या तन पर दीपक चमक रहे, हीरे मोती से दमक रहे ।

कई दिनों बाद शृङ्गार किया क्या अपूर्व ज्योति छाई है ? ॥ १ ॥

ज्यों नाश दुष्टों का राम ने किया और जय कः डङ्का बजाय दिया ।

कर स्वागत राम का अवध बासियों ने दीपक माला मनाई है ॥ २ ॥

त्यों पाप तिमर का नाश किया भारत का मान बढ़ाय दिया ।

कर स्वागत ऋषि का ब्रह्मलोक के देवों ने ज्योति जलाई है ॥ ३ ॥

माता के दूध को सफल किया निज देश पै तन-मन वार दिया ।

वैदिकधर्म प्रचार किया गुरु आज्ञा पात दिखाई है ॥ ४ ॥

अविद्या अन्धेरा छाया था स्वार्थियों ने जाल फैलाया था ।

भारत का मान घटाया था यह नीति ऋषि को न भाई है ॥ ५ ॥

अनाथ विधवा गौ-दुःख दूर किये शूद्रों के मान बढ़ाय दिये ।

सत् शास्त्रों के प्रमाण दिये अब नारी देवी बनाई है ॥ ६ ॥

निज देश का मान बढ़ाने गौ माता की लाज बचाने को ।

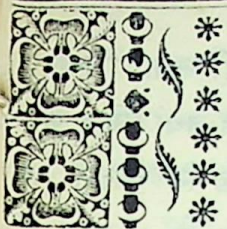
बनवासी और सन्यास बन दुःख भेल के मुक्ति पाई है ॥ ७ ॥

लोक में सूर्य चमक गया यहाँ चन्द्र भी अब लोप हुआ ।

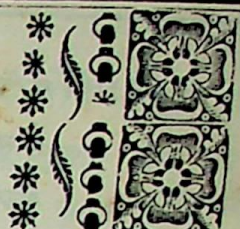
उस अन्धकार की रात्रि में ऋषि पूनम चान्दनी दिखाई है ॥ ८ ॥

उपकारा का कुछ अन्त नहीं ऋषि दयानन्द की दया घनी ।

गुण गावे “विधवा” शक्ति नहीं जो महिमा मन में समाई है ॥ ९ ॥



उपनिषद् और वेदार्थ



(ले० श्री पं० चन्द्रकान्त जी वेदवाचस्पति)

उपनिषत् के उपयुक्त स्थल में “इन्द्र” का निर्वचन दिया गया है। निरुक्तकार ने भी इन्द्र के अनेक निर्वचन देते हुए एक निर्वचन “इदं दर्शनात्” भी किया है।

(२) छा० उ० प्रथम प्रपाठक चतुर्थ खंड की श्रुति में “छन्द” शब्द की निरुक्ति दी है। निरुक्तकार भी इस निरुक्ति से सहमत प्रतीत होता है।

“देवा वै मृत्योर्विभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन् । ते छन्दोभिरच्छादयन् । यदेभिरच्छादय स्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ।”

यहां छन्द शब्द छादनार्थक ‘छद’ धातु से व्युत्पन्न किया गया है।

(३) छा० उ० १ प्रपाठक २ खण्ड १०, १२ श्रुतियों में क्रमशः प्राणवाचक ‘अंगिरा’ तथा ‘अपास्य’ शब्दों की निरुक्तियां की गई हैं—

“एतमु एवांगिरसं मन्यन्ते यदंगान्तं यद्रसः”

“इस प्राण को ही जानी अंगिरा कहते हैं क्योंकि वह अंगों का रस है ।”

“एतमु एवापास्यं मन्यन्ते आस्याद्यदयते”

“इस प्राण को ही उपासक अपास्य कहते हैं, क्योंकि यह प्राण मुख से जाता है ।”

इसी प्रकार छा० छ० ३० प्र० १२ खण्ड में प्रथम श्रुति “गायत्री” शब्द की, छा० उ० ४ प्र० १५ खण्ड की २, ३, ४ श्रुतियां तथा छान्दोग्य ८ प्र० ३। २ में क्रमशः परमात्मा वाचक ‘संयद्वायम्’

“वामनी” “गायत्री” तथा हृदय आदि शब्द की निरुक्तियां दी गई हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक शब्दों की निरुक्तियां उपनिषदों से जानी जा सकती हैं, जिनसे वेदार्थ में पर्याप्त सहायता ली जा सकती है।

(४) उपनिषदों से एक ऐसे कोष का भी निर्माण किया जा सकता है, जिससे वेदमन्त्रों की अध्यात्मव्याख्या में पर्याप्त सहायता ली जा सकती है। उदाहरणार्थ—

(१) याज्ञिक शब्दों की अध्यात्म व्याख्या
(२) (३)

उपनिषदों में आध्या- (क) श्वेताश्वतर ४ अध्याय त्मिक अर्थों का कोष १० श्लोक को देखिये—

है। याज्ञिक शब्द १ “मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं ‘माया’

तु महेश्वरम् “अर्थात् माया को तो प्रकृति जाने और महेश्वर को माया जाने ।”

यदि वेद में कहीं “माया” शब्द आवे तो हमें वेदान्तियों की माया न ले कर ‘प्रकृति’ ही लेनी चाहिये। चारों वेदों के दार्शनिक मन्त्रों में बहुधा ‘माया’ शब्द आया करता है, ऐसे स्थलों की व्याख्या करते हुए वेदान्तियों की माया नहीं लेनी चाहिये। ‘प्रत्युत’ उपनिषत् के आधार पर ‘माया’ का अर्थ ‘प्रकृति’ ही करना चाहिये। ऐसा करने से अनेकों वेदमन्त्रों के रहस्य खुल जाते हैं, और व्याख्या रुचिकर तथा संगत प्रतीत होने लगती है। विस्तार-भय से उदाहरण नहीं दिये गये।

(२) वेदों में कहीं २ 'अरणि' शब्द दृष्टिगोचर होता है। ऐसे स्थानों में 'अरणी' शब्द 'अधियज्ञ' अर्थ 'यज्ञकी लकड़ी' किया जाये तो बहुधा मन्त्र का स्वारस्य मारा जाता है। ऐसी अवस्था में हमारी शरण उपनिषत् होती है। देखिये -

श्वेताश्वेतर प्रथम अध्याय की १४वीं श्रुति -

'स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ।'

“उपासक अपने शरीर को नीचे की अरणि समझ कर और प्रणव को ऊपर की अरणि समझ कर ध्यानरूप निर्मथनाभ्यास से लकड़ी में छिपे अग्नि के समान परमेश्वर को देखे ।”

यहां पर उपनिषत् ने 'देह तथा प्रणव' को ही अरणि बताया है। यह स्पष्ट आध्यात्मिक अर्थ है। उपनिषत् के इस अर्थ को चरितार्थ करने के लिये हम एक मन्त्र उपस्थित करते हैं अथर्ववेद १० कांड के ८वें स्कंध सूक्त का २० वां मन्त्र इस प्रकार है-

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्भध्यते वसु ।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ।

अर्थ-“जो पुरुष निश्चय से उन दो लकड़ियों को जानता है। जिनसे ब्रह्मरूपी अग्नि मथ कर निकाली जाती है। वह जानने वाला सबसे बड़े ब्रह्म को समझता है वह महान् ब्रह्म को जानता है ।”

मन्त्र का अर्थ अरणि शब्द ने रोक रक्खा है। ऐसे समय में ये (अरणियाँ) लकड़ियाँ आड़े आकर बाधा पैदा कर रह हैं। इस बाधा को कैसे दूर करें? एक ही तरीका है कि उपनिषत् की बाँह पकड़ लें अर्थ स्पष्ट होजाता है।

मन्त्र में दोनों अरणियाँ “स्वदेही तथा “प्रणव” (ओंकार) की हैं। इन दोनों (स्वदेह तथा प्रणव की) अरणियों को ध्यानरूपी मन्थन दण्ड से रगड़ने पर वसु (ब्रह्म) का प्रकट होना स्वाभाविक है। मन्त्र में इसी विषय का निर्देश किया गया है। अब मन्त्र का अर्थ निम्न हो जाता है ‘जो पुरुष निश्चय से स्वदेह तथा ओंकार रूप दो लकड़ियों को जानता है जिनसे ब्रह्मरूपी अग्नि मथ कर निकाली जाती है, वह जानने वाला सबसे बड़े ब्रह्म को समझता है, वह महान् ब्रह्म को जानता है। इस प्रकार मन्त्र में कहा है कि ओंकार के जाप से शरीर जितना पवित्र होता जायगा उतना ही तेज स्वरूप परमात्मा हममें प्रकट होता जायगा जो इस सचाई को जान लेता है वेद उसके विषय कहते हैं कि वह महान् ब्रह्म को जानता है।

वेदों में “अजा” शब्द स्थान २ पर आता है-

(३) इस ‘अजा’ शब्द में पाश्चात्य तथा कुछ पौरस्त्य भाष्यकारों को बकरा की अजा + वे वे ही सुनाई देती है। परन्तु उपनिषत् का अध्यात्म कोष ‘अजा’ से प्रकृति की रागिणी सुनवाता है। देखिये-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः
सृजमानां सरूपाः ।’

श्वे. उ. ४।५

ॐ अजारे पिशंगिला, श्वावित् कुरु पिशंगिला ।
शश आस्कन्दमर्हति अहिःपन्थां विसर्पति ।

यजु. २३।५६

अर्थ-हे विद्वान् ! जन्मरहित प्रकृति (अजा) रूपों को प्रलय काल में निगलने वाली है वह श्वावित् (संसारवस्थापन्न होकर कामों के रूपों को प्रकट करने वाली होती है (शशः) चतुर ज्ञानी प्रकृति के बन्धनों को कूद जाता है (अहिः) सर्पवत् कुटिल मनुष्य जन्म मरण के मार्ग पर विविध रीतियों से चलता है

यहाँ 'अजा' स्पष्ट प्रकृति ही है। इस अर्थ के द्वारा मन्त्रों में आध्यात्मिक अर्थ करने में बड़ी सरलता होती है।

इसी प्रकार 'शर' शब्द है।

(४) इस शब्द का आध्यात्मिक अर्थ "आत्मा" है। एतदर्थं मुण्डकोपनिषत् २।४ देखिये—

शर

“प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेदव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥”

“भगवान् का नाम धनुष है। भक्त का आत्मा वाण है। और ब्रह्म वह लक्ष्य कहा है। प्रमाद को छोड़ कर सावधानी से उसे वीधना चाहिये।”

यहाँ शर को आत्मा कहा है। इस अर्थ के स्वीकार करने पर अथर्ववेद का निम्न मन्त्र कितना सुन्दर तथा संगत प्रतीत होने लगता है।

(५) “ओदन” शब्द का साधारणतया “भात” का अर्थ होता है, और उपसेचन चटनी। उपनिषत् का ओदन और उपसेचन कुछ भिन्न ही है। यहाँ ब्रह्म तथा क्षत्र के प्रतिनिधित्व को “ओदन” शब्द से कहा गया है।

१. अ. १।२।३ ‘वृक्षं यद्गावः परिष्वजता अनुस्फुरं शरमर्चन्त्युभुम्’।”

गुरु-शिष्य के आध्यात्मिक सम्वाद के प्रसंग में ‘शर’ शब्द का, ‘आत्मा’ अर्थ करने पर प्रकरण संगत अर्थ हो जाता है।

❖ विशेष विचारार्थ अ. १।२।३ देखो, अ. १।१।१६ ब्रह्मओदन का वर्णन द्रष्टव्य है १।३ का प्रथम पर्याय बार्हस्पत्य ओदनरूप से विराट् प्रजापति का वर्णन करता है।

तस्योदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्ममुखम्।

ओदन एवोदनं प्राशीत् इसमें “ओदन” विराट् प्रभु ही है।

“यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः मृत्युस्योर्यपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः”

कठ २ वल्ली १२४ श्रुति

“जिसका ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ओदन (भात) रूप है। सबका मारने वाला यम जिसकी चटनी है, उसे कौन इस रूप में जनता है जिस रूप में वह है। इस प्रकार उपनिषद् ने संसार को ओदन तथा मृत्यु को चटनी बताया है।

(६) वेद में रथ, रथी, सारथि, अश्व आदि शब्द आते हैं। उनके आध्यात्मिक अर्थ क्या होने चाहिएँ ? एतदर्थ उपनिषदों की निम्न श्रुतियाँ द्रष्टव्य हैं—

“आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुः विषयाँस्तेषु गोचरान्”

क ३ वल्ली १३

“हे नचिकेता ! आत्मा को रथवाला और शरीर को निश्चय रथ जान बुद्धि को निश्चय सारथि और मन को केवल लगाम जान। इन्द्रियों को घोड़े और उनके विषयों को सड़क कहते हैं।”

इस अद्भुत अलङ्कार में रथी आत्मा है। रथ शरीर है, सारथि बुद्धि है, घोड़े इन्द्रियाँ हैं। इन अर्थों के स्वीकार कर लेने पर वेदके अनेकों मन्त्र सुन्दर आध्यात्मिक अर्थ का प्रतिपादन करने लगते हैं।

(७) “भारद्वाज, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि,

कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, आदि शब्दों ऐतिहासिक शब्दों को बहुत से विद्वान् ऐतिहासिक के व्यक्ति मानते हैं। परन्तु उपनिषत्

की श्रुतियाँ इन शब्दोंकी अध्यात्म परक व्याख्या करती हैं। इसके लिये देखिये वृ.उ. २। अ. १२ ब्रा, १४ श्रुति.....

“इमामेव गौतम भरद्वाजा वयमेव गौतमोऽयं

भरद्वाजः ।

बृ. उ. २ अ. २ । ४ श्रुतिः—

इमामेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं
जमदग्निः । इमामेव वसिष्ठ कश्यपा वयमेव वसिष्ठोऽयं
कश्यपः । वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिह वै मामैतद्य-
द्विरिति सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति य
एवं वेद ।”

“ये दोनों कान ही गौतम, भरद्वाज हैं, उन में यह
ही दक्षिण श्रोत्र गौतम है और वह वाम भरद्वाज है ।
ये ही दोनों नेत्र विश्वामित्र और जमदग्नि हैं; यह ही
दक्षिण नयन विश्वामित्र है, यह वाम नयन जमदग्नि
हैं । ये ही होनों नासिकायें वसिष्ठ और कश्यप हैं;
यह ही दक्षिण नासिका वसिष्ठ है, यह वाम नासिका
कश्यप है । वाणी ही अत्रि ऋषि है क्योंकि वाणी से
ही अन्न खाया जाता है । इस कारण वाणी का
अत्रि ही नाम है; इस लिये यह वह अत्रि है । जो
उपासक इन देहस्थ सात ऋषियों को ऐसे जानता है
वह सब भोजनों का भोक्ता हो जाता है; इस का सारा
भोग्य पदार्थ अन्न हो जाता है ।”

यहाँ पर गौतम, भरद्वाज क्रमशः दाये बाये
नों कानों के वाचक हैं । दाये बाये नेत्र विश्वामित्र,
जमदग्नि हैं । दाई बाई नासिकायें वसिष्ठ और कश्यप
हैं, तथा वाणी अत्रि है । उपनिषत् में स्थान २ पर
इन शब्दों की निरुक्तियाँ भी की गई हैं । यहाँ पर
इतना ही संकेत पर्याप्त है ।

इसी प्रकार छा. उ. प्रथम पाठक ५ अनुवाक में
भूः, भुवः, स्वः इन व्याहृतियों के अधिदैव तथा
प्रध्यात्म अनेक अर्थ बताये गये हैं । बृ. उ. ६.
अध्याय प्रथम ब्राह्मण में वसिष्ठ, प्रतिष्ठा तथा सम्पत्
शब्दों के क्रमशः “वाक्” “चक्षु” तथा “श्रोत्र”
अर्थ दिये हैं । इसी प्रकार वेद में स्थान २ पर आने-

वाले वसु, रुद्र, आदित्य आदि देव समूह (Group)
वाचक शब्दों को (बृ. ३।१।३-९) उपनिषदों ने विस्पष्ट
किया है । इनसे वेदों के आध्यात्मिक अर्थों में बड़ी
सहायता मिलती है ।

संक्षेप में कहें तो उपनिषदों में वेदों में आनेवाले
अनेकों देवताओं ऊपर से प्रतीयमान ऐतिहासिक
व्यक्तियों तथा अन्य अनेक याज्ञिक पारिभाषिक (१)
शब्दों के आध्यात्मिक अर्थ दिये गए हैं । उपनिषदों
के इस कोष से वेदकी वास्तविक रहस्यभूत विद्या के
समझने में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है !

(४) वेदों की सबसे बड़ी पहेली देवता निर्णय की
है । उपनिषदों से इन देवताओं के आध्यात्मिक भावों
पर पर्याप्त प्रकाश मिल सकता है । देवों के अंशावतार
का वर्णन उपनिषदों में स्थान २ पर आता है जिससे
कि ‘अथर्ववेद’ के देवता सम्बन्धी विचारों को पर्याप्त
पुष्टि मिलती है ।

उदाहरणार्थ देखिये:—

(१) ऐतरेय — १।४.... “यथाऽण्डं मुखात् वाक्
वाचो अग्निः ।— नासिकाभ्यां प्राणः प्राणात् वायुः”
इत्यादि उदाहरण में देवों की आध्यात्मिक सत्ता को
अधिदैव में विकसित होता हुआ प्रदर्शित किया
गया है !

[२] मुण्डक २।१ खण्ड । ४ अति

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशःश्रोत्रे वाग्
विष्टाश्च वेदाः वायु प्राणो हृदयं विश्वस्य,
पदभ्यां पृथिवीत्यथ सर्वभूतान्तरात्मा ॥

यु इस पुरुष का शिर है, चाँद सूर्य नेत्र हैं दिशाये
कान और वाणी विस्तृत वेद हैं वायु इसका प्राण है,
और इसका हृदय विश्व है । दोनों पैर भूमि हैं यह
पुरुष सब भूतों का अन्तरात्मा है :—

(१) क. ६।११ में योग शब्द तथा क ६।१०, में
पदमा गतिः शब्द के पादिभाषिक अर्थ किये गये हैं,

कार्य है तो भी इसका पुनरुद्धार करने के लिये इस विज्ञान का अध्ययन करना, स्वयं गौण रखकर और उनकी सब तरह की सेवा करके इस विद्या का आविष्कार करना यह ब्रह्मण करेगा और यह याजन (यज्ञ करना) कहलायगा । राष्ट्र एक यज्ञ है । इस यज्ञ को करने वाला तो क्षत्रिय (राजा) होता है, पर इस यज्ञ को करने वाला (राजपुरोहित) ब्राह्मण होता है । उस पुरोहित को कानूनी तौर से राजा पर कोई अधिकार होता था यह नहीं कहा जा सकता, पर यह एक प्रथा थी या अजिज्ञित सन्तान (Convention या Unwritten law) कि राजा को उसी बात माननी ही चाहिये कि राज्य को पीछे से अप्रत्यक्ष तौर पर किन्तु असल में चलाने वाला ब्राह्मण ही होता था । आज कांग्रेस में जो गांधी जी की स्थिति है उसे देख कर तुम इसका साक्षात् उदाहरण पा सकते हो । गांधी जी आज कांग्रेस के मामूली १) के सदस्य भी नहीं हैं अतः उन्हें किसी भी स्थानीय प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में भी मत देने का अधिकार प्राप्त नहीं, पर फिर भी कांग्रेस की अखिल भारतीय कार्य समिति स्वेच्छा से उसकी सलाह को सर्वोपरि मानती है, बल्कि उसकी सलाह बिना कुछ नहीं करती है । यह कहना भी गलत नहीं करती है । तो यह गांधी जी की ब्राह्मण शक्ति है जिसके कारण वे इस तरह आज राष्ट्रोत्थान यज्ञ (कांग्रेस) के परोहित बने हुए हैं । आशा है कि इस सब कथन से मैं तुम्हें समझा सका हूँ कि 'यज्ञ कराना' इस कार्य का क्या तात्पर्य है । इससे यह भी स्पष्ट है कि संसार का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जिसे कि पोषण की दृष्टि से पूरा करने के प्रयोजन से ब्राह्मण के लिये अकरणीय कहा जा सके । क्षत्रियों और वैश्यों के सभी कार्य

सुधार के लिये, ठीक नेतृत्व के लिये ब्राह्मण कर सकता है । अर्थात् वह युद्ध कार्य में तथा व्यापार के कार्यों में भी कभी सक्रिय हस्तक्षेप कर सकता है, ऐसा करना उसका आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है आगे मैं कहूँगा कि क्षत्रिय को तथा वश्य का अपने सब कार्य व पेशे यज्ञ भावना से ही करने चाहिये । अपने अपने यज्ञ क्षत्रिय और वैश्यों को के लिये आवश्यक कर्त्तव्य है । अतः जब कभी क्षत्रियों या वैश्यों के कर्त्तव्य में कोई बिगाड़ हो जाता है उसे ठीक करके यज्ञ रूप में चलाना ब्राह्मण का कर्त्तव्य हो जाता है । यह सब ब्राह्मण 'याजन' कर्त्तव्य में आ जाता है ।

तुम में से जो आयुर्वेद महाविद्यालय में पढ़ते हैं उन्हें मैं कहना चाहता हूँ कि असल में वैद्य चिकित्सक होना यह भी ब्राह्मण का कार्य है । कम से कम वेद में मैंने यही पाया है । ऋग्वेद के ओषधि सूक्त में कहा है :—

यत्रौषधीः समग्रत राजानः समिताविव ।

विप्रः स उच्यते भिषक् रक्षोहामीव वातनः ॥१०।६७।६

इस में स्पष्ट 'विप्र' विशेषण से भिषक् (वैद्य) का लक्षण किया गया है । इस का अर्थ यह है कि जैसे युद्ध में क्षत्रिय इकट्ठे होते हैं उस तरह जिस के पास सब ओषधियां आकर एकत्र हो जाती हैं ऐसा विप्र (ब्राह्मण) वैद्य कहलाता है, जो उन द्वारा राक्षसों का हनन करने वाला और रोगों का विनाश कर देने वाला होता है । इस का तात्पर्य मुझे यह लगता है कि जैसे युद्ध में क्षत्रियों का ठीक ठीक उपयोग ब्राह्मण करता है वैसे ही दुनिया में फैले हुये राक्षसों (रोगबीजों) या व्याधियों से लड़ने और उन्हें इस युद्ध में परास्त करने के लिये मानो सब ओषधियां ब्राह्मण वैद्य के नेतृत्व में इकट्ठी होनाती

हैं अर्थात् ब्राह्मण वैद्य को सब औषधियों का इतना ज्ञान होता है और उन पर उसका इतना पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त होता है कि वह औषधियां मानों हाथ जोड़कर उसकी आज्ञा पालन के लिये सब की सब उसके पास एकत्र हो जाती हैं। इसी तरह एक दूसरे मंत्र में कहा है : -

औषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा ।

यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥

इसमें तो स्पष्ट ब्राह्मण शब्द है। इसमें कहा है कि औषधियां सोम राजा को कहती हैं कि हे राजन्! ब्राह्मण (वैद्य) जिस किसी (रोगी) को देखता है उसे हम (दुस्तर रोग से भी) पार कर देती हैं।

अतः वेद को तो वैद्य का ब्राह्मण का होना ही अभीष्ट प्रतीत होता है। परन्तु आजकल यह भी धन कमाने का ही एक जबरदस्त पेशा समझा जाता है। क्योंकि रोगग्रस्त पुरुष अपनी बेवसी में सब कुछ देने को तैयार होता है वैसे मैंने कहा कि अधिक से गन्दे इशितहार से अधिक से अधिक पैसे अखबार वालों को मिलते हैं वैसे ही अधिक से अधिक दुःखी (रोगग्रस्त) से चिकित्सक को अधिक से अधिक पैसे मिलते हैं। पर ऐसी बुरी कमाई तो वैश्य वैद्य को भी नहीं करनी चाहिये, जैसे कि मैं वैश्य के प्रकरण में बहूँगा। तो भी आज तो दूसरे की विवशता से लाभ उठाना जिस किसी तरह पैसा कमाना मनुष्यों का ध्येय सा हो गया है। पर अब भी कहीं वही ब्राह्मण वैद्य मिल जाते हैं, तुम्हें उनका अनुकरण करना चाहिये। उन के सामने पैसे का ज़रा भी विचार नहीं होता और वे केवल रोगियों को रोगमुक्त करने और इसके लिये सेवा-परायण होने में ही परमानन्द पाते हैं पर प्रायः देखा जाता है कि उन्हें पैसे की भी

कभी कमी नहीं रहती। हमारे डाक्टर चिरञ्जीव भारद्वाज थे जो कि गरीब बीमारों को दवाई ही मुफ्त नहीं किन्तु उनके दूध आदि के लिये रुपये भी अपने पास से दे दिया करते थे। ऐसे भी वैद्य हैं जो देना चाहने वालों के लिये दानपात्र में धन डालने की व्यवस्था करते हैं, यह भी नहीं देखना चाहते कि किसने कितना रुपया दिया है। मतलब यह कि जो ब्राह्मण होगा और चिकित्सक का कार्य करना चाहेगा तो वह इसीलिये चाहेगा कि चूंकि उसे जगत् में फैली हुई व्याधियों और रोगग्रस्त नरन रियों की दशा देख कर अत्यन्त करुणा आयी होगी। धन के लिए नहीं, किन्तु अपनी हृदय की व्यथा मिटाने के लिये वह धंधा शुरू करेगा। यह तो साफ ही है कि ब्राह्मण कभी दूसरों के अज्ञान का, दरिद्रता का या अन्य बेवसी का फायदा उठाकर कोई अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं करना चाहेगा जैसा कि आज कल चारों तरफ हो रहा है, और ब्राह्मण कहलाने वालों द्वारा भी निःशंक हो रहा है।

इसी तरह चिकित्सा के साथ वकालत का पेशा भी धन संग्रह का कामधेनु पेशा समझा जाता रहा है। पर वह भी असल में ब्राह्मण का पेशा है क्योंकि कानून के ज्ञान द्वारा दूसरे न जानने वालों की ठीक ठीक सेवा करना-यही वकालत करने का प्रयोजन है। ऐसा ब्राह्मण वकील ('प्राड्विवाक्') झूठे मुकदमे लड़ने को कभी तैयार नहीं होगा, यद्यपि यहाँ भी जितना ही अधिक झूठा मुकदमा हो उतना अधिक धन मिलता है।

तात्पर्य यह कि ज्ञान द्वारा सेवा करने के सब कार्य ब्राह्मण के ही हैं। ब्राह्मण ने ही सच्चे ज्ञान की उपासना की होती है और इस ज्ञान के कारण ही प्रत्येक प्रकार के यज्ञ को चताने का अधिकार भी केवल ब्राह्मण को प्राप्त है। ब्राह्मण की इस शक्ति को अवस्थानुसार, ज्ञानशक्ति, वाजी की शक्ति, तपःशक्ति अध्यात्मशक्ति, आदि नामों से पुकारा जाता है। अध्यात्मशक्ति यह नाम पुकारने से एक और तरफ ध्यान जाता है जिसे तुम्हारे लिये प्रकट करना जरूरी है। वह है योग का क्षेत्र। योगमार्ग के अद्भुत चमत्कार सच्ची अध्यात्मशक्ति पर ही अवलम्बित हैं। सर्वोच्च ब्राह्मण जो है वे इसी महती योगशक्ति द्वारा जगत् को हिलाते हैं। अतः तुम में से ब्राह्मण स्नातक हों बड़े २ गुरु व आचार्य बनें, प्रभावशाली उपदेष्टा बनें, वेद, वेदांग, चिकित्सा मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन, ज्योतिष, कला आदि अनन्तों विद्याओं में से किसी के भी अद्वितीय ग्रन्थकार बनें, सच्चे पत्रकार हों, या दिव्य पीयूषपाणि वैद्य हो, प्रसिद्ध राजनियमनिर्माता वा राष्ट्रपुरोहित हों या किसी भी दिशा के धुन्धर पण्डित अग्रणी व नेता हों, वहां तुम में से कुछ ऊंचे महान् योगी भी बनें यह मेरी आन्तरिक अभिलाषा है। मेरो ही नहीं शायद आर्यजनता और सबकी अभिलाषा है। पश्चिम में जो पिछले बीस-तीस वर्षों विरोधी शक्तियों का संघर्ष और विचारों का मन्थन जोरशोर से चल रहा है उससे वहां सच्ची अध्यात्मशक्ति पाने की प्यास पैदा हुई प्रतीत होती है और लोग स्वभावतः इसके लिए भारत की तरफ देखने लगते हैं और जो भी कोई ऐसा जिज्ञासु भारत में आता है तो उसकी दृष्टि गुरुकुल की तरफ जरूर जाती है, बीसियों पाश्चात्य लोग इस खोज में गुरुकुल आ चुके हैं पर मैं देखता हूं कि अभी हमारे पास ही कुछ विशेष देने लायक वस्तु नहीं बही जा सकती। क्या तुम में से किसी ब्राह्मण को योगमार्ग में जीवन खपा देने की इच्छा

पैदा नहीं होती? इसमें तो सन्देह नहीं है कि संसार में सर्वोच्च प्रकार के ज्ञान का अवतारण योग द्वारा ही किया जा सकता है और संसाररूपी यज्ञ की प्रक्रियाएं चलाना, इनका सर्वोत्कृष्ट प्रकार से याजन योगशक्ति द्वारा ही किया जा सकता है। आज लोग बड़े बड़े धावे बोलते हैं, महान् काय हाथ में ले लेते हैं, कोई दुनियां भर की यात्रा करता है, कोई समुद्र तैरता है, कोई हिमालय की चोटियों या भ्रवों में पहुंचने का प्रयत्न करता है। परन्तु ये सब तो यात्रियों के साहस हैं। पर ब्राह्मणों की महत्वाकांक्षाओं के विषय या भारतवासियों को शोभने वाले एकिस्पडिशनस तो यह हैं कि कई जन्म लगा कर भी योग की सिद्धियों विभूतियों को प्राप्त किया जाय। योगसिद्धियों को प्राप्त करने की इच्छा करना कोई बुरा नहीं है, यदि यह उचित मनःस्थिति के साथ किया जाय। अभी तक हमारी अपवृत्ति का मुख्य कारण मेरी समझ में हमारी घोर अशक्तता, कमजोरी या इन बातों को असंभव समझना, इन पर अविश्वास होना है, न कि इन सिद्धियों के प्रति हमारा सच्चा वैराग्य। कहने का मतलब यह है कि यदि तुम में से किसी की अन्तरात्मा महान् योगी बनने को उद्बुद्ध होना चाहती है तो वह वेशक इस दुर्गम मार्ग पर आवे। वह गुरुकुल माता के सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मण पुत्रों में गिना जायगा।

ब्राह्मण के तीसरे प्रतिग्रह (भिक्षा लेने) के विषय में शायद मुझे अब अधिक कहने की जरूरत नहीं रही। चूंकि ब्राह्मण का अपना कुछ नहीं होता। उसका सब जनता का या संसार का होता है, उसके अपने लिए नहीं। अतएव ब्राह्मण को अग्नि कहा है। जैसे—अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर सब जगह पहुंच जाता है वैसे ही ब्राह्मण को दी गई भिक्षा सार्वजनिक हित करने वाली होती है। स्वार्थी और अज्ञानी पुरुष को अर्थात् ब्राह्मण को दिया गया दान ऐसा फल नहीं ला सकता। अतएव वैदिक-वर्ण मर्यादा में ब्राह्मण को ही भिक्षा लेने का अधिकार दिया है, अन्यो को

नहीं। क्षत्रिय सरकार द्वारा तथा अन्य संस्थाओं द्वारा पालन-पोषण प्राप्त करता है और वश्य अपने कमाये धन पर जीता है। पर ब्राह्मण परमात्मा के भरोसे रहता है और इसी का नाम भिक्षा है। वह अपनी सेवा के बदले में बाहर के किसी प्रतिफल की आकांक्षा नहीं रखता। सेवा के फलस्वरूप वह न धन चाहता है और न यश। वैश्य धन चाहता है, धन प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होकर वह काम करता है। यह कहा जा सकता है। क्षत्रिय यद्यपि धन नहीं चाहता तो भी यश और मान चाहता है, यश की इच्छा करना उसे त्याज्य नहीं है। पर ब्राह्मण के लिए तो कहा है कि मान से वह विष की तरह दूर हटे और अपमान को अमृत समझ कर ग्रहण करे अर्थात् ब्राह्मण मान और अपमान के प्रभावों से भी प्रभावित नहीं होता। तो फिर ब्राह्मण क्या चाहता है? इसका उत्तर है अन्तरात्मा की सन्तुष्टि। न उसे धन से तृप्ति मिलती है न मान से। केवल अन्तरात्मा की आवाज़ को (ईश्वरीय आज्ञा को वा भगवान् की इच्छा को) पूरा करने में वह जा निरन्तर परमानन्द पाता है इसके सिवाय उसे और कुछ नहीं चाहिये। यह अन्तरात्मा की सन्तुष्टि उसकी सब क्रियाओं की प्रेरक कारण होती है दूसरा कोई भी भाव नहीं।

याद रखो कि क्षत्रियों और वैश्यों को ठीक करना सुधारना ब्राह्मण शक्ति द्वारा ही हो सकता है अर्थात् वर्णाश्रम व्यवस्था का पुनरुद्धार जगत् में उत्पन्न होने वाले सच्चे ब्राह्मणों द्वारा ही सम्भव है। वैश्यों की चाहे कुछ हद तक क्षत्रिय भी सुधार सकें पर क्षत्रियों को और वैश्यों को ठीक प्रकार मर्यादा में लाना ब्रह्म शक्ति के ऊपर उठने से ही हो सकता है। पर आज संसार में धन शक्ति का ही प्रभुत्व है। क्षत्रिय और ब्राह्मणों को धन ने

खींच रखा है। बड़े बड़े विद्वान् वैज्ञानिक रूपों वालों की गुलामी में बैठ हुए मारने की गैसों तथा अन्य हत्या के सामान बनाने में अपनी सब ज्ञान-शक्ति लगा रहे हैं। कहीं युद्ध चाहने वाले लोग युद्ध करा देते हैं और विद्वान् ब्राह्मणों को भी इस के लिए मजबूर होना पड़ता है। इसका मतलब है कि ब्राह्मण निस्तेज हो गये हैं, ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रहे। भगवान् से मांगना (भिक्षा) छोड़ धनियों से जीवन (धन) मांगने लगे हैं। कहते हैं कि गत यूरोपीय महायुद्ध के दिनों में इंग्लैण्ड के सब अखबार एक समय लायड जार्ज के खरोदे हुए, पूरी तरह उसके हाथ में थे। एक शब्द भी उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी अखबार में नहीं लिखा जा सकता था। पर धन ने क्षत्रियों को भी कैसे खरीदा हुआ है इसका सब से उत्तम नमूना तब देखा गया जब कि जर्मनी के गोला बारूद के कारखाने वालों ने न केवल अपनी बिक्री के लिए लड़ाई शुरू करवा दी किन्तु जब उन्हें कुछ दवाने का यत्न किया गया तो उन्होंने अपना गोला बारूद फ्रान्स भेजना शुरू कर दिया और जर्मनी का बना हुआ गोला बारूद जर्मन सिपाहियों पर ही पड़ने लगा और उनकी हत्या करने लगा। इस तरह आज सारा क्रम ही उलटा हुआ हुआ है, ब्राह्मण क्षत्रियों के आधीन हैं और ब्राह्मण सहित क्षत्रिय वैश्यों के आधीन हैं। तो आज ब्राह्मणत्व को ठीक स्थान पर स्थापित करना कितना कठिन है? पर इसी पर संसार का भविष्य निर्भर है। क्या तुममें से किन्हीं को वर्तमान जगत् के अन्तर आत्मा की सच्चे ब्राह्मणों के लिये की गयी पुकार सुनायी देती है? और क्या तुममें से किन्हीं के अन्तर-हृदयों से उनके प्रत्युत्तर में शान्त 'हाँ' निकली है?

गुरुकुल की विशेषतायें

(ले० पं० देवशर्मा जी आ० गुरुकुल-कांगड़ी)

गुरुकुल की मौलिक विशेषतायें चार हैं।

- (१) गुरु का केन्द्रभूत होना।
- (२) कुल बना कर रहना।
- (३) ब्रह्मचर्य।
- (४) वैदिक संस्कृति।

इन में से प्रथम तीन बातें तो ऐसी हैं जो कि शिक्षा पद्धति के तौर पर महत्व रखती हैं अतः उन्हें भी शिक्षा-संस्थाएँ अपने उद्देश्यों के अनुसार थोड़ा या बहुत अपना सकती हैं। चौथी बात ऐसी है जो कि पद्धति जनता से सम्बन्ध नहीं रखती जितना सम्बन्ध उद्देश्य से रखती है। इस में उचित प्रकार की सम्प्रदायिकता भी है। अतः आर्यसमाज ने (वैदिक धर्म का प्रचार करने वाली एक संस्था ने) गुरुकुलों को प्रारम्भ किया है। यद्यपि यह ठीक है कि पद्धति के तौर पर पहली तीन बातों को ले कर गैर आर्यसमाजी संस्थाएँ भी गुरुकुल चला सकती हैं, चला रही हैं और चलाना चाहें। पर इस चौथी बात का भी एक सामान्य रूप है जो कि कम से कम भारत देश में सबको स्वीकार्य हो सकता है और उसे साम्प्रदायिक माना नहीं जायगा। वह है 'भारतीयता' वैदिक संस्कृति को यदि वर्तमान रूप दे दिया जायगा तो उसे हम 'भारतीय संस्कृति' कह सकते हैं। यद्यपि भारतीय संस्कृति और वैदिक संस्कृति में बहुत लोग भेद करना चाहेंगे तो भी इसमें दो मत न होंगे कि भारतीय संस्कृति का आधा वैदिक संस्कृति ही है। अस्तु... अब मैं इन चारों मूल तत्वों को (चौथे मूल तत्व का नाम वैदिक संस्कृति को जगद् भारतीय संस्कृति करके) लेख विचार करूँगा कि इस में से किस बात

किस किस रूप में स्वराज्य सरकार की शिक्षा पद्धति में अपनाया जा सकता है:—

(१) गुरु का केन्द्रभूत होना

हम गुरुकुल कहते हैं शिष्यकुल नहीं। किसी प्रकार का (विशेषतः आध्यात्मिक (भारी प्रभाव-शाली ज्ञान रखने वाले (अतएव गुरु से) वह ज्ञान पाने के लिये उस के इर्द गिर्द बहुत से शिष्य एकत्रित होते थे। तब गुरुकुल बनता था। इस शिक्षा-प्रणाली में "गुरु" का मुख्यता है। जैसा गुरु होगा वैसा ही विद्यार्थी बनेगा।

(१) अतः पहिली बात यह है कि हमारे देश की शिक्षा पद्धति में शिक्षक बहुत सच्चरित्र और योग्य होने चाहिए। इस प्रति जितना ध्यान रखा जाय उतना थोड़ा है। इस दिशा में गुरुकुल प्रणाली का तात्पर्य (Spirit) यहां तक है कि ठीक प्रकार के शिक्षक न मिल तो बालकों को बेराक अशिक्षित रखा जाय यह हजार गुणा उत्तम होगा पर खराब तथा अयोग्य शिक्षक के नीचे पढ़ने देना बहुत बुरा है।

(२) गुरु के केन्द्र होने में दूसरा भाव अपनी रुचि के अनुकूल गुरु को चुनना है। यह बात हमारे यहां पहिले चतुर्वर्ण्य के अनुसार होती थी। आज कल यह कहां तक हो सकता है, यह एक लम्बा विषय है जिस पर कि अन्त में गुरुकुल प्रणाली पर सामूहिक रूप से विचार करते हुये कुछ निवेदन करूँगा। पन्तु बालक को गुणकर्मानुसार शिक्षा देना यह भी गुरुकुल पद्धति का एक तत्व है। जिस पर कुछ कुछ समझ अब भी किया जा सकता है। विद्यार्थी शिक्षा-काल में कौनसा उद्योग सीखे इसके निश्चय में उसके

गुण-कर्म प्रवृत्ति पर ध्यान देना यह तो किया हो जा सकता है।

(३) यह पद्धति प्रत्येक शिष्य पर वैयक्तिक ध्यान देने की पद्धति है। अतः इस में गुरु अपने चारों तरफ उतने हो शिष्यों को इकट्ठा करता है जितने वह सम्हाल सकता है। अतः यदि हम इस तत्त्व पर ध्यान दें तो हमारी पाठशालाओं में एक शिक्षक के पास परिमित हो विद्यार्थी होने चाहिये। मेरे विचार में एक शिक्षक के पास बीस से अधिक विद्यार्थी नहीं होने चाहिये।

(२) कुल बना कर रहना

गुरुकुल में गुरु और शिष्य, पिता और पुत्र के से अत्यन्त निकट सम्बन्ध से रहते हैं। ज्ञान द्वारा दूसरा जन्म देने वाला (पिता) गुरु होता है। अतः गुरुकुलप्रवास उस पिता के कुल-कुटुम्ब में रहता है। इस तत्त्व को सार्वजनिक शिक्षा में निम्नप्रकार लाया जा सकता है—

(१) शिक्षक और विद्यार्थी यथाशक्ति अधिक से अधिक देर साथ रह सकें छात्रावास में विद्यार्थियों को रहने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। इतना ही काफी नहीं, कन्तु विद्यार्थी के सारे जीवन में सोना उठना, खाना पीना, भोजन, व्यायाम, परिश्रम सब में वह अपने शिक्षक के संपर्क में रह के शिक्षित हो सकें इस का प्रयत्न होना चाहिये। विद्यार्थी जो कुछ भी घर में या ग्राम में करता है वह सब शिक्षा के पथ-दर्शन में पाठशाला में कर सके तब गुरु-सम्पर्क का पूरा लाभ मिल सकता है। प्रश्न यह कि विद्यार्थियों के दिन रात पाठशाला में रह सकने की व्यवस्था न हो सके तो वे अधिक से अधिक देर रहे केवल भोजन शयन के लिये घर जावें या कभी भोजन भी पाठशाला में हो करे, और कभी कभी छुट्टी का भी दिन मेलकर पाठशाला में ही बितायें इस की व्यवस्था करना चाहिये।

(२) जब शिक्षक का पिता का सा यह सम्बन्ध विद्यार्थियों से होना अभीष्ट है तो अब हमारी

पाठशालाओं में भय, आतङ्क, हकूमत के वायुमण्डल की जगह प्रेम, सहानुभूति तथा सहयोग का वायुमण्डल हो जाना चाहिये। बाह्यी दण्ड का स्थान कर्म से कम रह जाना चाहिये।

(३) विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण में शिक्षक का यह अधिक से अधिक सम्पर्क बहुत अधिक होता है अतः शिक्षक के इस विद्यार्थी सम्पर्क में यह दृष्टि रुका रहनी चाहिये।

(४) जैसे कि घर 'कुल' कुटुम्ब अपने आप में परिपूर्ण होता है वैसे ही पाठशालारूप कुटुम्ब को भी जीवन दृष्टि से परिपूर्ण होने का अर्थात् विद्यार्थियों को जीवन की सब अवस्थायें यहीं मिल जाए इसका यत्न करना चाहिये। अतः पाठशाला भोजन वस्त्र आदि निर्वाह की दृष्टि से आवश्यक बातों में स्वावलम्बी बन सके इस का प्रयत्न करना चाहिये। पाठशाला के साथ कुछ भूमि हो, जिस में विद्यार्थी खेता कर सकें, कपास को कात बुन सकें, तथा गोपालन आदि दैनिक जीवन के अन्य आवश्यक काम कर सकें तो यह कुटुम्ब भावना के आदर्श को पूरा करने वाली बातें होंगी और सच्ची शिक्षा देने वाली होंगी।

(५) भौतिक जीवन देने वाले माता पिता के घर का अपेक्षा इस अधिक बड़े घर को ग्रामरूपी घर को (जिस में पिता शिक्षक हैं) अनुभव कराना इस बात के द्वारा बताना चाहिये कि विद्यार्थी में ऐसी भावना उत्पन्न हो जाय कि वह राष्ट्र को अपना घर समझने लगे और अपने को राष्ट्र का पुत्र समझे। केवल माता पिता का पुत्र नहीं। विद्यार्थी अपने पाठशाला के सब काम राष्ट्ररूपी कुटुम्ब के लिये करे निज के लिये या निजी कुटुम्ब के लिये नहीं। उन का शिक्षक भी उन के लिये राष्ट्र का ही प्रताक है यह समझने लगे।

(६) यह कहने की जरूरत नहीं कि इस कुटुम्ब भावना का रखने वाला नये प्रकार के शिक्षक बहुत वेतन लेने वाले नहीं रहेंगे। जो आसपास के जीवन से भिन्न जीवन बिताने में

अपना बच्चा न समझें और रोव जमावें। गुरु बड़े योग्य होंगे ज्ञानी होंगे, ग्राम के बालकों के ही नहीं किन्तु सब ग्रामवासियों के गुरु होंगे, पूजा के पत्र होंगे। तब हम उस अवस्था के समीप पहुँच जायेंगे जिस में प्रत्येक ग्राम में शिक्षक गाँव वालों से प्रेम-पूर्वक मिलने वाली अन्न वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं की भित्ति पर ही निर्भर रहने वाली सच मुच पूनीत ब्राह्मण होगा।

वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि ब्रह्मचर्य के बिना सच्चा ज्ञान नहीं मिल सकता, जो कालशिक्षा का उद्देश्य है। अतः उन्होंने ने विद्याध्ययन काल को ब्रह्मचर्य काल बना दिया था। विद्याध्ययन काल में शिष्य पूरी तरह बायें सरक्षण कर सकें इस की व्यवस्था की गई थी। चारित्र निर्माण के लिये जो कई प्रकार के संयम नियम चाह्यें उन का आधार भी ब्रह्मचर्य ही है। अतः गुरुकुल पद्धति का सब से बड़ा लाभ जो चरित्र निर्माण है इस का रहस्य भी उस के ब्रह्मचर्य व्रत में है। बचपन से गुरुकुल में गुरुओं को सौंपा जाना और तपस्या उस के साधन है। इस ब्रह्मचर्य व्रत के लिये हमारे शिक्षणालयों में जितना किया जाय थोड़ा है। कुछ नर्देश निम्न हैं।

(१) शिक्षा समाप्ति तक अविवाहित रहना और सगाई तक न होना अनिवार्य कर दिया जाय।

(२) विद्यार्थियों को विषय सम्बन्धी इन्द्रिया-कषक प्रलोभन के वायुमण्डल से पृथक् रखने का व्यवस्था की जाय। जैसे आज कल के थियेटर सिनेमा इत्यादि विद्यार्थी के लिये वर्ज्य कर दिये जायें।

(३) हमारे पाठ्यक्रम की पुस्तकों का कोई भाग अश्लील न रहे इस की शर्त जाँच की जाय और उसे हटा दिया जाय। बल्कि तपस्या संयम के सच्चे भाव का हृदयांकित करने वाले विचार उस उमर के बालकों के समझाने योग्य ढंग से पाठ्य पुस्तकों में आवें इस का आयोजन किया जाय।

(४) सादे शुद्ध अनुत्तेजक पोषक भोजन के लिये तथा ठीक प्रकार व्यायाम आदि के लिये विद्यार्थियों में प्रीति उत्पन्न की जाय।

(५) वष्ट रहने तपस्या, पश्चिम वर्म खाली न होना, निरालस्यता, सैनिकभाव निरन्तर देर तक निरुत्साहित हुवे बिना कार्य करते जाना, इस प्रकार के जीवन का अभ्यासी बनाया जाय।

(६) शिक्षक के शाय मित्र कर खेती गोपालन, भोजन पकाना, कताई बुनाई, बटुई का काम इत्यादि किन्हीं जीवनोपयोगी रचनात्मक कार्य में लगे रहने में उच्चतर आनन्द व तृप्ति पाने का अभ्यासी बनाया जाय।

(७) सब से बड़ी बात यह है कि चुने हुए लोगों को शिक्षक बनने देना जो ब्रह्मचर्य में किसी प्रकार ढीले न हों ब्रह्मचर्य की मद्दानत पर विश्वास रखने वाले हों तथा ब्रह्मचर्य का वातावरण बनाने में समर्थ हों।

वैसे तो ब्रह्मचर्य शब्द में ही भारतीय संस्कृति आ जाती है पर आज कल साधारणतया ब्रह्मचर्य से वीर्यरक्षा ही लिया जाता है अतः मैं दूसरे शब्दों में कहूँगा चूँकि भारतीय संस्कृति का लक्ष्य ब्रह्मा की प्राप्ति है (जिस के लिये ब्रह्मचर्य किया जाता है) अतएव इस संस्कृति में सादे रहन सहन का महत्व है तथा इस संस्कृति का उद्गम जिस भाषाद्वारा हुआ है वह साकृत भाषा है इस लिये (यदि हम अपनी शिक्षा द्वारा भारत की आत्मा को ही नष्ट नहीं कर देना चाहते तो) हमें अपनी शिक्षा में निम्न बातों का सम वेरा अवश्य करना चाहिये।

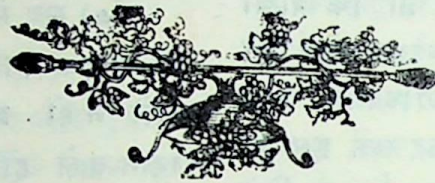
(१) सब विद्यार्थी किसी न किसी समय शिक्षकों सहित सम्मिलित ईश्वरोपासना अवश्य करें। आस्तिकता परमेश्वर निर्भरता यह जरूर से खें।

(२) अतएव हमारे विद्यार्थियों और शिक्षकों का रहन सहन सादा हो। प्राकृतिक वस्तुओं का अवलम्बन ज्ञान पूर्वक जितना कम हो सके उतना कम किया जाय। हमारे जीवन में पश्चिमी लोगों की तरह जटिलता न आने पावे। 'सादा रहन-सहन तथा उच्च विचार' शब्द हमारी सभ्यता के सूत्र-भूत शब्द ठीक हैं। इस का कारण यह कि हमारी सभ्यता परमेश्वरोन्मुखी है। हमारा रहन सहन,

हमारा सब जीवन-सर्घष भी अन्त में परमेश्वर प्राप्ति के लिये हैं।

(३) हमारा शिक्षा में कम से कम प्रत्येक हिन्दू विद्यार्थी के लिये संस्कृत भाषा का प्रारम्भिक ज्ञान धराना आवश्यक होना चाहिए। इस के लिये

सरल मातृ भाषा में लेखी हुई संस्कृत पाठमलाओं का सावधानता पूर्वक निर्माण किया जाना चाहिए, और इस का स्थान प्रारम्भिक शिक्षा के पाठक्रम में लगभग तीन वर्ष के लिए (सम्भवतः ३ री कक्षा से ५ वीं कक्षा तक) अवश्य होना चाहिये।



ट्रैक्टों का सिलसिला

सभा का साहित्य विभाग प्रति मास हिन्दू तथा उर्दू में समाजों में प्रचारार्थ मुफ्त बांटने के लिये ट्रैक्ट प्रकाशित करता है। २५ प्रतियों का एक पैकट प्रति मास मँगवाने पर २) वार्षिक चन्दा है। यदि आप का समाज अभी तक इस ट्रैक्टों के मासिक सिलसिले का ग्राहक नहीं बना तो शत्रु ही २) मनी आर्डर द्वारा भेज कर इस के अवश्य ग्राहक बन जाइये।

अध्यक्ष—साहित्य-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब,
गुरुदत्त भवन, लाहौर।

सम्पादकीय

पाठकों को सूचना—

इस अंक में शतपथ ब्राह्मण का भाष्य और अथर्ववेद-भाष्य नहीं जा रहे हैं। फाइलों के इधर-उधर हो जाने से इन दोनों की समग्री समय पर नहीं दी जा सकी। अगले अंक में यह कमी पूरी करी जायेगी।

दीपावलि—

गत दो नवम्बर को दीपावली का उत्सव था। भारतवर्ष के हिन्दुओं के लिये इस उत्सव का एक अद्वितीय महत्व है। वर्तमान युग के विधाता महर्षि दयानन्द के निर्वाण का इस दिन के साथ सम्बन्ध जुड़ जाने से आर्यसमाजी जनता के लिये इस उत्सव का महत्व दुगुना हो जाता है। इस अवसर पर आर्यों के मन्दिरों और घरों में दीपावलियाँ जलाई जाती हैं, अपने आचार्य के जीवन का गुणानुवाद करने के लिये उनके मन्दिरों में सभायें की जाती हैं, आर्य पत्रों के ऋषि अंक प्रकाशित किये जाते हैं। आर्य का ऋषि अंक शिवरात्रि के अवसर पर प्रकाशित हुआ करता है इसलिये इस दीपावली के अवसर पर हमारा विशेषांक तो नहीं निकल रहा है। परन्तु हमारा हृदय भी इस अवसर पर ऋषि की गुणावलि की स्मृति से समग्र आर्य जनता के

हृदयों की तरह परिपूर्ण हो रहा है। गीता के एक श्लोक का भाव है कि यदि आकाश में एक सहस्रा सूर्य इकट्ठे चमकने लग जायें तो उनकी जैसी कान्ति होगी वैसी कान्ति महाराज कृष्ण की थी।" हम गीता के इस श्लोक को भगवान् दयानन्द के जीवन में पूरी तरह चरितार्थ पाते हैं। ऋषि से पूर्व जितने महापुरुष हो चुके हैं वे सभी एक-एक सूर्य के समान हैं। उन सभी सूर्यों के गुणों का मिला देने से महासूर्य दयानन्द बनते हैं। इन सूर्यों में एक २ क्षेत्र के प्रचण्ड गुण थे। दयानन्द में सभी क्षेत्रों के प्रचण्ड गुण थे। भीष्म और हनुमान् का ब्रह्मचर्य, बुद्ध की अहिंसा, ईसा की दया, मुहम्मद की एकेश्वरपूजा, हरिश्चन्द्र और गान्धी का सत्य प्रेम—वे सब महा गुण दयानन्द के चरित्र में आकर एकत्र हो गये थे। हम आर्य लोग जब अधिक इन गुणों पर विचार करते हैं तो हमारे गर्व और प्रसन्नता का अन्त नहीं रहता पर ऋषि के गुणों पर हमारा यह गर्व और प्रसन्नता किसी काम के नहीं यदि हमने उनके गुणों का अनुकरण करके अपने को भी उन गुणों का धनी कभी बनागे का प्रयत्न न किया। हम समझते हैं दीपावलि के दिन अनेक आर्यों ने अपने अन्दर अपने ऋषि के गुणों को धारण करने का संकल्प किया होगा।

दूसरा विवाह न हो—

२७ अक्टूबर को अमृतसर में गुरु रामदास की सराय में 'स्त्री-सहायक सभा' की ओर से एक उत्सव हुआ उसमें यह प्रस्ताव पास किया गया कि—
 “कोई भी पुरुष जब तक उसकी पहली स्त्री जीवित है दूसरे विवाह करने का अधिकारी नहीं है। यदि फिर भी वह द्वितीय विवाह करता है तो उसे पहली स्त्री को अपनी आधी सम्पत्ति देनी पड़ेगी ताकि वह अपना निर्वाह कर सके।” इस प्रस्ताव के साथ ही स्त्रियों ने भी कहा कि हम द्वितीय विवाह को रोकने के लिए विवाह करने वाले के घर पर सत्याग्रह, सामाजिक बहिष्कार तथा काले झंडों से अपमान तक करेंगी। इसमें सन्देह नहीं कि ये शब्द दुःखी हृदयों से—उन हृदयों से जो अपनी परित्यक्ता दुःखी बहिनों के कष्टों को अनुभव करती हैं—निकले हुए हैं। आर्यसमाज तो प्रारम्भ से ही इस बात का प्रचारक रहा है कि दूसरा विवाह सर्वथा निषिद्ध है। पाठकों को स्मरण होगा कि कुछ समय पूर्व जब दिल्ली के एक सेठ अपनी पहली पत्नी के होते हुए दूसरा विवाह करने देहरादून गये थे तो पं० चतुर्मुख जी, वैद्य अमरनाथ जी, श्री बिहारीलाल जी आदि आर्यसमाजी सज्जनों ने ही उनको काले झण्डे दिखाए थे और हर तरह से प्रदर्शन कर के उन विवाह को रोका था। यद्यपि इसके लिये उन्हें कुछ घण्टे तक हवालात में भी पड़ा रहना पड़ा था। आर्यसमाज आज भी डंके की चोट कहता है कि दूसरा विवाह निषिद्ध है। हम स्पष्ट कहते हैं कि हम इस आन्दोलन में 'स्त्री सहायक सभा' के साथ ही नहीं अपितु एक कदम आगे हैं और चाहते हैं कि राज्य की ओर से इस विषयक नियम बनना चाहिए।

‘श्री’ और ‘पद्म’—

पिछले कुछ समय से बंगाल के मुसलमान कलकत्ता विश्वविद्यालय की मोहर पर बने ‘श्री’ और ‘पद्म’ के चिह्नों के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे हैं। उन कारण यह है कि दोनों चिह्न इस्लाम के विरुद्ध हैं। हमें यह बात समझ में नहीं आती—कि ये चिह्न इस्लाम के विरुद्ध किस प्रकार हैं? क्या इस से इस्लाम का अन्त हो जाएगा या इन के रहने से इस्लाम का हानि पहुंचेगी? यदि वही बात है तो जिन मुसलमान राजाओं ने अपने शासन काल में इन दोनों चिह्नों को अपनाया है और उन का धर्म दोनों नष्ट हो जाने चाहिये पर ऐसा नहीं होगा। फिर हम पूछते हैं कि इतराज केवल मोहर पर है या आर भी चीजों पर। सरकारी नई टिकटों (Stamp) पर कमल का चिह्न है। रुपया, अठन्नी, चवन्नी सभी पर कमल बना होगा। दिल्ली का लाल किला, अजमेरी दरवाजा, लाहौर का शाहजहाँ का किला, भाटी गेट सभी पर कमल बने हुए हैं। इन को बनाने वाले तो मुसलमान ही थे। उन का धर्म क्यों नष्ट नहीं हो गया। फिर जो मुसलमान बाजारों में लक्ष्मी आदि के चित्र बेचते फिरते हैं, जो लक्ष्मी इन्श्योरेन्स में अपना बीमा कराते हैं वे नष्ट क्यों नहीं होते। पता चला कि यह तो केवल संकीर्ण हृदय की शरारत मात्र है।

और लीजिये—मुहम्मदगौरी के सिक्कों पर ‘लक्ष्मी’ की प्रतिमा है। उस के सिक्कों पर देवनागरी अक्षरों में ‘श्री’ लिखा हुआ है। रुक्मुद्दीन, अलाउद्दीन, गयासुद्दीन, जलालुद्दीन, मुहम्मदशाह, अलीवर्खवां बहादुरशाह—इन सब के सिक्कों पर

देवनागरी अक्षरों में 'श्री' लिखा हुआ है। हैदर अली के सिक्कों पर तो शिव और पार्वती तक की मूर्ति है अकबर के सिक्कों पर राम और सीता की, जहांगीर के सिक्कों पर सूर्य और शेर की प्रतिमा है। मुहम्मद गौरी से लेकर अलाउद्दीन तक के सब पठान राजाओं के सिक्कों पर 'नीन्द' की मूर्ति बनी हुई है। इन में से कई सिक्कों पर चतुर्दल, पंचदल, षट्दल, अष्टदल कमलों में ईरानी भाषा में आयतें लिखी हुई हैं। लेटर मुगल अपने सिक्कों पर कमल, सूर्य, नक्षत्र, सिंह, मत्स्य और यहां तक कि त्रिशूल के चित्र भी बनाते थे। यह बात आज तक बढ़ी कि 'कलिमा' की मस्जिद के एक सिक्के पर तो ईरानी भाषा में लेख लिखा हुआ है और दूसरा ओर विष्णु की मूर्ति बनी हुई है। लाहौर के किले में जो सिक्के पड़े हैं उन में मैंने एक सिक्के पर 'श्री' और दूसरे पर 'ॐ' देवनागरी अक्षरों में लिखा हुआ देखा। ये दोनों सिक्के मुसलमान राजाओं के हैं। ये भी तो मुसलमान थे। हिन्दू चिह्नों का प्रयोग करने से उन का धर्म नष्ट क्यों नहीं हुआ? यदि यह कहा जाए कि तब तो नष्ट नहीं होता था और अब होता है तो बताइये कि मालाबार का वह 'मोपला' मुसलमान जो अपनी काफ़ी का ट्रेडमार्क 'गजलक्ष्मी' रखता है। और मद्रास का वह मुसलमान जो अपने कपड़े का ट्रेडमार्क 'गणेश' को बनाता है धर्मच्युत क्यों नहीं हो जाता? इतना ही नहीं सर शहाबुद्दीन तो 'सरस्वती' इन्श्योरेन्स कम्पनी के डायरैक्टर हैं। वहां भी तो सरस्वती की मूर्ति है। उन का धर्म नष्ट क्यों नहीं हो जाता? कहने का अभिप्राय यह है कि धर्म इन वस्तुओं से नष्ट नहीं होता धर्म तो

शरात से नष्ट होता है। हमारी यह दृढ़ सम्मति है कि आन्दोलन में शरात के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है और थोड़े से संकीर्ण हृदय मुसलमानों के कहने से विश्वविद्यालय के चिह्न को नहीं बदलना चाहिये।

बन्देमातरम् की समस्या—

हमारे देश के कुछ संकीर्ण हृदय मुसलमान ३२ वर्ष से चले आ रहे बन्देमातरम् गीत के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे हैं जब कि उन्हीं के भाई डा० खां साहब सीमा प्रान्त-निवासियों को 'अक्ला हो अकबर' के स्थान पर 'बन्देमातरम्' बोलने का आदेश दे रहे हैं। मुसलमानों का कहना है कि यह गीत एक ऐसी पुस्तक में है जो कि इस्लाम के विरुद्ध है, परन्तु यह उनका भ्रम है। आनन्दमठ जिसमें यह गीत है—मुसलमानों के विरुद्ध न होकर अंगरेजी सरकार के विरुद्ध है। इस ग्रन्थ का आधार वह सन्यासी विद्रोही है जो १७२-७४ तक बर्निहेस्टिंग्स के समय हुआ था। 'आनन्दमठ' में कुल मिला कर १० बार "बन्देमातरम्" का प्रयोग किया गया है। इनमें से एक बार भी मुसलमानों के विरुद्ध नहीं बोला गया। इसकी शिक्षा स्पष्ट वह पुस्तक है दूसरी बात यह है कि गीत पहले लिखा गया था और आनन्दमठ पीछे फिर यह इस्लाम विरोधी कैसे हो सकता है? और यदि आनन्दमठ को मुसलमानों के विरुद्ध मान भी लिया जाय तो क्या ऐसे ग्रन्थ में आने मात्र से गीत खराब हो गया? क्या इस्लाम विरोधी ग्रन्थों में मुहम्मद साहब का नाम आने से वे खराब हो जाते हैं? यदि नहीं तो इस विषय में यह धांधली क्यों है?

इस गीत में मूर्ति पूजा का नाम तक नहीं है। इसमें मातृभूमि की वह स्तुति की गई है जिसके कारण यह संसार भर के राष्ट्रगीतों में सर्वश्रेष्ठ बन गया है। संसार का कोई भी गीत इसका सामना नहीं कर सकता। आज संसार में एक भी ऐसा राष्ट्र नहीं जिस के देशभक्तों ने अपने राष्ट्रगीत के लिये उतना बलिदान दिया हो जितना भारतीय युवकों ने ५ अक्षर से बने इस वन्देमातरम् एकशब्द के लिये किया है। हजारों इसको बोलने मात्रसे जेलों में ठूस लिये गये सैकड़ों का विद्यार्थी जीवन बर्बाद हो गया। सैकड़ों को सख्त गर्मी के दिनों में कड़ी दुपहरी में खड़ा करके ऊपर से गरम पानी छोड़ा गया बीसियों ऐसे भी निकले जो इसे बोलते हुए हंसते २ फांसी के तख्ते पर झूल गये। आज वीरों की, नहीं

नहीं उन अमरात्माओं की स्मृति हमारे देशमें क्या है? यही एक गीत उनकी अमरस्मृति है। इस गीत को हटाना उन हुतात्माओं के नाम को मिटाना है। उन के बलिदान को भुलाना है। क्या देश नेता कुछ लोगों के कहने से उन के नाम को मिटा देंगे? स्मरण रहे कि राष्ट्रीय गीत रात में खुम्बों की भांति उत्पन्न नहीं होते। वे तो एक ही बार बनते हैं और फिर प्रलय तक रहते हैं। वन्देमातरम् की आलोचना हो, पर इस का हटाना घोर अन्याय है और फिर इस कारण हटाना कि कुछ मुनलमान आक्षेप करते हैं भयंकर पाप है। हमें आशा कि देश के नेता इस दिशा में अधिक सतर्कता काम लेंगे और कोई ऐसा पग न बढ़ायेंगे जिस से देश में एक नया आन्दोलन उठ खड़ा हो।



पुस्तक-परिचय

ईशापनिषद्—

लेखक स्वामी धीरानन्द जी महाराज, प्रकाशक सुशीला देवी, पृष्ठ संख्या ७२, मूल्य ३)

इस पुस्तिका में स्वामी जी ने ईशापनिषद् का कविता में अनुवाद किया है। साधारण जनता में उपनिषद् शिक्षा के लिये काम की चीज़ है।

भगवद्गीता सार—

लेखक स्वामी धीरानन्द जी, प्रकाशक श्रीमती विरलावती जी 'मीरा' पृ० सं० ८० मूल्य १।)

इसी पुस्तिका में स्वामी जी ने गीता के चुने हुए श्लोकों का कविता में अनुवाद किया है। साधारण जनता में गीता की शिक्षा का प्रचार करने के लिये पुस्तक अच्छी है।

श्री गायत्री—

लेखक और प्रकाशक भक्त धनपति आर्य मिशन मुलतान शहर पृष्ठ सं० ३० मूल्य १)।

इस में गायत्री मन्त्र पर उत्तम विचार किया गया है।

राष्ट्रभाषा क्या हो ?—

लेखक और प्रकाशक पं० चन्द्रगुप्त वेदालङ्कार गुरुदत्तभवन, लाहौर, पृष्ठ सं० ३२ मूल्य ॥

भारत की राष्ट्रभाषा क्या हो इस विषय पर आज कल खूब आन्दोलन चल रहा है। प्रस्तुत पुस्तिका

में पं० चन्द्रगुप्त जी ने बड़ी योग्यता के साथ यह सिद्ध किया है। कि—भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है। पुस्तिका पढ़ने योग्य है।

भूगोल का बाल-संसार अंक—

प्रकाशक भूगोल कार्यालय, प्रयाग, मूल्य १॥)

यह अंक पाँच भागों में प्रकाशित हुआ है।

प्रत्येक भाग में क्रम से भारत वर्ष, एशिया, योरोप अमरीका और अफ्रीका के बालकों का वर्णन है। प्रत्येक भाग का पृथक्-पृथक् मूल्य २) है। प्रत्येक लेख को अनेक चित्रों से सुभूषित किया गया है।

उभर रहे बालकों को पढ़ने के लिये बहुमूल्य सामग्री का संग्रह किया गया है। हर घर एक में इसकी एक-एक प्रति जानी चाहिये।

Agnihotra

लेखक डा० सत्यप्रकाश, प्रकाशक साव देशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली, पृष्ठ सं० ; मूल्य

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने, जा स्वयं इलाहाबाद यूनीवर्सिटी में सायंस के उपाध्याय हैं, वैज्ञानिक अनुसंधान से यह सिद्ध किया है कि—अग्निहोत्र में जो सामग्री डाली जाती है वह वायु शुद्धि और भाँति-भाँति के रोग-कृमियों को नष्ट करने के लिये किस प्रकार उपयोगी है पुस्तक योग्यता पूर्ण रीति से लिखी गई है और वह प्रत्येक अग्नि होत्र-प्रेमी के पास रहनी चाहिये।

छप गई !

छप गई !!

छप गई !!!

अग्निहोत्र की अनूठी व्याख्या

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार की प्रतिभापूर्ण लेखनी का एक और चमत्कार



इस पर पूज्य महात्मा नारायण स्वामीजी क्या कहते हैं ?

“श्री पण्डित बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार रचित ‘देवयज्ञ’ पुस्तक को मैंने पढ़ा पं० जी ने देवयज्ञ की इतनी उत्तम व्याख्या की है कि उससे न केवल एक धार्मिक कृत्य की पूर्ति होती है अपितु उससे देश और जाति की सब से बड़ी संगठनात्मक आवश्यकता भी पूर्ण होती है। आवश्यकता इस बात की है कि पुस्तक को अधिक से अधिक प्रकाशित किया जाए।

आप का

नारायण स्वामी

निम्न पुस्तकें भी मँगाकर पढ़िये

ब्रह्मयज्ञ ।=)

स्वर्ग ।=)

सोम ।)

मरुत् ।)

शतपथ में एक-पथ ।)

मिलने का पता—

अध्यक्ष अनुसन्धान-विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब
गुरुदत्त भवन, लाहौर

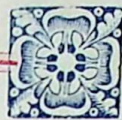
पण्डित प्रियव्रत प्रिण्टर और पब्लिशर द्वारा भारती प्रिण्टिङ्ग प्रेस, हस्पताल रोड, लाहौर।

में छपकर गुरुदत्त भवन, रावी रोड लाहौर, से प्रकाशित हुआ।
CC-0. Gurukul Kangri University Haridwar Collection. Digitized by S3 Foundation USA

वागुदन
६-१२-३६

15/12/36

उ. पुस्तकालय



आर्य



१०५५

सम्पूर्ण भारत में

वैदिक तत्त्वज्ञान और धर्म का प्रचारक एक मात्र पत्र

इस अंक में पाढ़िये

वेदोपदेश

श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति

बृहत्तर भारत

श्री पं० चन्द्रगुप्त जी वेदालंकार

अध्यात्मिक अभिलाषा (कविता)

श्रीमती विद्यावती देवी जी बंगलौर

ईश-विनय, अस्तोदय (कविता)

श्रीयुत् 'द्विरेफ' जी

प्रसार कैसे हो ?

श्री पं० चन्द्रगुप्त जी वेदालंकार

उपनिषद् और वेदाथ

श्री पं० चन्द्रकान्त जी वेदवाचस्पति

महर्षि के भाष्यों की बहिरंग परीक्षा

श्री० सुशीलादेवी त्रिवेदी विद्यालंकृता

सम्पादकीय

धार्मिक सहिष्णुता, पुनर्जन्म का नया प्रमाण, दक्षिण
हैद्राबाद के अछूत, प्राचीन भारतीय संस्कृति की खोज

विश्वभ्रवा के मुख से

धूल से धन, ताश खेलने वाला कुत्ता, बोलने वाली घड़ी,
लंका का कल्प वृक्ष, १०० व्यक्तियों का ग्राम, देशों के
राजा, नकली मनुष्य,

अर्थवेद-भाष्यम्

श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार

शत-पथ ब्राह्मणभाष्यम्

श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार

आर्य प्रतिनिधि सभा

गुरुदत्तभवन, लाहौर ।

सम्पादक— पं० प्रियव्रतजी

वेदवाचस्पति

आर्यप्रतिनिधि सभा

के

“पंजाब-वैदिक-पुस्तकालय”

में संस्कृत, हिन्दी अंग्रेजी तथा उर्दू की १६ हजार पुस्तकें विद्यमान हैं। प्रति वर्ष १० हजार पुस्तकें इस पुस्तकालय से पढ़ने के लिये ली जाती हैं। पुस्तकालय के साथ एक वाचनालय भी है। इसमें भिन्न भिन्न प्रान्तों से लगभग ५० पत्र पत्रिकाएँ आती हैं। ऐसे पुस्तकालय की धन तथा पुस्तकों से सहायता करना प्रत्येक विद्याप्रेमी का अपना कर्त्तव्य है। जिन सज्जनों के पास कुछ ऐसी पुस्तकें हों जिन्हें वे स्वयं पढ़ चुके हों वे कृपा कर दूसरों के लाभ के लिये पुस्तकालय में भेज दें। इसके लिये सभा उनकी बड़ी कृतज्ञ होगी। जो पुस्तकों से सहायता न कर सकें वे धन से ही सहायता दें। उनके लिये सभा और भी अधिक आभारा होगी। आशा है विद्याप्रेमी सज्जन इस ओर ध्यान देंगे।

अध्यक्ष, वैदिक पुस्तकालय पंजाब

गुरुदत्त-भवन, लाहौर।

अवसर न चूकिये

आर्य के ग्राहक बनिये तथा दूसरों को भी बनाइये

यदि आप वैदिक खोज, भूली संस्कृत, भारत का गौरव, सामाजिक हलचल, राजनैतिक उथल-पुथल, देश विदेश के समाचार तथा सब से बढ़ कर अपने आपको जानना चाहते हैं तो आज ही ३) भेज कर आर्य के ग्राहक बन जाइये।

आर्य, आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब का एकमात्र पत्र है। वेद तथा भारतीय संस्कृत का यह एक मात्र पोशक पत्र है। इसे अपनाना प्रत्येक भारतीय का अपना कर्त्तव्य है।

ओ३म्

आर्य

ओ३म् इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तोऽराव्णः ॥

भाग १६

लाहौर, मार्गशीर्ष १९६४, दिसम्बर १९३७

८ अंक

[दयानन्दाब्द ११३]

वेदोपदेश

भगवान् हमारे पाश काट दो

ध्रुवासु त्वा क्षितिषु क्षियन्तो व्यस्मत्पाशं वरुणो मुमोचत् ।

अवो वन्वाना अदिते रुपस्थाद् यूयं पात स्वस्थिभिः सदा नः ॥

ऋग्वेद ७।८८।७

अर्थ—हे भगवन् (आसु) इन (ध्रुवासु) स्थिर
(क्षितिषु) भूमियों पर (क्षियन्तः) निवास करते हुए
हम (त्वा) तेरी उपासना करते हैं (वरुणः) आप
वरणीय भगवन् (पाशं) बन्धनों को (अस्मत्) हम
से (वि मुमोचत्) परे कर दीजिये (अदितेः) अख-

ण्डनीय प्रकृति माता के (उपस्थात्) गोद में से (अवः)
रक्षा—कल्याण (वन्वानाः) प्राप्त करने वाले हम
बन जायें (यूयं) हे दिव्य भावो तुम सब (नः) हमारी
(स्वस्थिभिः) कल्याणों द्वारा (पात) रक्षा करो ।
ये जो लोक लोकान्तरों की भूमियें प्रभु ने हमारे

रहने के लिये बनाई हैं वे सब ध्रुवा हैं। इन्हें ध्रुवा इसलिये कहा जाता है कि इनमें स्थिरता है। ये सब चिरकाल तक प्रभु द्वारा नियत अपने कार्य को करती रहती हैं। और जो कार्य इन्हें सौंपा गया है उसे भी स्थिरता पूर्वक करती रहती हैं—उस में किसी प्रकार का व्याघात नहीं आने देती। इन ध्रुवा भूमिगों पर हम रहते हैं। इस कथन की ध्वनि यह है कि हमारे जीवन में भी ध्रुवता है। हम भी अपने कर्तव्यों का स्थिरतापूर्वक पालन करते हैं और हमारी आयुर्वे भी लम्बी हैं जिन में हम उन कर्तव्यों का स्थिरता पूर्वक पालन करते हैं। इस प्रकार का हम जीवन व्यतीत करते हैं उस में हे भगवन् ! हमारी दृष्टि “त्वा”—तेरी ओर ही रहती है। हमारे प्रत्येक कर्तव्य का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष झुकाव आप की ओर ही रहता है। हमारे सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मों का निचोड़ आप हैं—आप की उपासना है। यदि कोई कर्म ऐसा होगा जो हमें आप से परे हटाता होगा, तो हमें वह काम अच्छा नहीं लगेगा। हम उसे त्याग देंगे। हमारा समग्र जीवन ही आप के प्रति है—आप

की सजीव उपासना है। भगवन् ! हम आप को ऐसे मनोयोग से उपासना कर रहे हैं। आप कृपा करके हमारे सब प्रकार के पाशों को—बन्धनों को—काट दीजिये। जिस से हमें ‘अवः’ प्राप्त हो सके—सच्ची रक्षा, सच्चा कल्याण प्राप्त हो सके। जिस से प्रकृति माना से बने इस संसार की गोद में रहते हुए कोई भी बन्धन हमें किसी प्रकार का दुःख न दे सके। हमें सब कहीं से कल्याणमयी रक्षा ही प्राप्त हो।

केवल भगवान् से ऊपर के मन से प्रार्थना करने से—उस प्रार्थना से जिस का प्रभाव हमारे चरित्र पर कुछ भी न पड़ता हो—हमारा मंगल नहीं हो सकता, हमारे पाश नहीं कट सकते। इस के लिये हमारे मन के सभी भावों में ‘स्वस्ति’ होनी चाहिये। कल्याणमयी पवित्र भावना होनी चाहिये जो हमारी ‘अस्ति’ को—सत्ता को, जीवन को, ‘सु’ बना सके, उत्कृष्ट बना सके। जब हमारे मन के सभी भाव हमारे जीवन को ‘स्वस्ति मय’ बनाने वाले हो जायेंगे तब जो प्रार्थना हम भगवान् से करेंगे वह सार्थक होगी।

सूचना

पंजाब आर्य्य वीर दल का वार्षिक सम्मेलन जभूराम द्वाबा हाई स्कूल जालन्धर शहर में २६—२७—२८ दिस बर सन् १९३७ को होना निश्चित हुआ है, इस समय पर ‘आर्य्य वीर हाकी और सपोर्ट्स टूरनामेंट’ भी होगी जिस में आर्य्य स्कूलों की टीमों का अलग मुकाबला होगा और जवान उमर के आर्य्य वीरों का कालेज के विद्यार्थियों की हाकी टीमों का अलग मुकाबला होना, प्रवेश शुल्क ३) ५० है, जीतने वालों को पारितोषक दिये जावेंगे। और उस के इलावा गतके और लाठी

खेलने वालों के भी मुकाबले होंगे जिस की फीस ॥) प्रति खिलाड़ी होगी, दस साल से न्यून आयु के आर्य्य परिवारों के बालों और पच्चास वर्ष से अधिक आयु के आर्य्य वीरों के भी मुकाबले होंगे। अतः इस सम्मेलन और टूरनामेंट में सम्मिलित होने के लिये आर्य्य वीरों को बड़ी संख्या में आना चाहिये। उतरे और भोजन का प्रबन्ध स्वागत कारिणी सभा अपने पास से करेगी।

हरदयाल
दलपति, पंजाब ‘आर्य्य वीरदल’

वेदों के राजनैतिक सिद्धांत

[लेखक—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति]

१६. राज्य में करने योग्य कुछ बातें

(Some ends to be realised by the state)

२१. अश्व-पालन

गोपालन की तरह ही वेद में अश्वपालन का भी बड़ा भारी महत्त्व है। स्थान-स्थान पर गौ, पुत्र, धन और अन्य पशुओं की प्रार्थनाओं के साथ-साथ अश्वों की प्रार्थना भी सम्राट् से की गई है। कितने ही स्थलों पर सम्राट् को 'अश्व रखने वाला' इस प्रकार के विशेषणों से विशेषित किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ थोड़े से मन्त्र नीचे उद्धृत किये गये हैं :—

अश्वयुर्गव्यु रथयुर्वसुरिन्द्रः । ऋ० ११५११४ ।

हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् । ऋ० १८११४ ।

नकिष्ट्रधीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे ।

नकिष्ट्रानु मज्जना नकिः स्वश्व आनशे । ऋ० १८४६ ।

उत नः सुद्योत्मा जीराश्वो होता मन्द्रः शृण्वच्चन्द्ररथः ।

स नो नेषन्नेषतमैश्मूरोऽग्नि वीमं सुवितं वस्यो अच्छ ।

११४११२

अश्वजिते... भरेन्द्राय सोमम्... ऋ० २१२११

समिन्द्रो गा अजयत्संहिरण्या समश्विया मघवा यो

ह पूर्वीः । एभिर्नृभिर्नृतमो अस्य शाकै रायो

विभक्ता सम्भरश्च वस्वः ॥ ४११७११

गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी । ऋ० ४१२१५

तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम् ।

उ लोककृत्नुमद्विवो हिरश्रियम् । ऋ० ८१५४

अश्वपते । ऋ० ८२१३

विद्वा हि त्वा हरिवः पृत्सु सासहिम् । ऋ० ८६१२

अग्नि धीषु प्रथममग्निम 'त्यग्निं क्षेत्राय साधसे ।

ऋ० ८७११२

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति घेनवः ।

अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिनः ॥

ऋ० ५६११ यजु० १५४१.

सो अग्निर्यो वसुगृणे सं यमायन्ति घेनवः ।

समर्वन्तो रघुद्ववः सं सुजातासः सुरयः ॥ ऋ० ५६१२ ॥

यजु० १५४२

हरिवः । ऋ० ८५३८

यदाजि यात्याजिकृदिन्द्रः स्वश्वयुरुप ।

रथीतमो रथीनाम् । ऋ० ८४५७

तदस्येदं पश्यता भूरि पुष्टं अदिन्द्रस्य धत्तन वीर्याय ।

स गा अविन्दत् सो अविन्ददश्वान् स ओषधीः सो

अपः वनानि । ऋ० ११०३५

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ अश्वौ अग्ने । ऋ० ८७५१

यो अश्वानां यो गवां गोपति वंशी । ऋ० ११०१४

अग्ने युक्ष्वाहि ये तवाश्वसो देव साधवः

ऋ० ६१६४३

अर्वद्विर्यो हरिभिर्जोषमीयते । ऋ० १०६६७

हरिम्भरः । ऋ० १०६६४

मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है :—

“यह सम्राट् (इन्द्र) घोड़े, गौवों, रथों और धनों को अपने पास रखने की इच्छा रखने वाला है।” “हे सम्राट् (इन्द्र) जब तुम अपने तीव्रगामी दोनों घोड़ों को (हरी) अपने रथ में जोड़ते हो तब तुम से बढ़िया रथ वाला कोई नहीं होता, बल में (मज्जना) तुम्हारे जोड़ का कोई नहीं होता और सुन्दर घोड़ों में भी तुम्हारी बराबरी कोई नहीं कर सकता।” “तेजस्वी, तीव्रगामी घोड़ों वाला (जीराश्वः), दान-आदानों का कर्ता (होता), आनन्दित करने वाला (मन्द्रः) आह्लादकारी और सुवर्णसज्जित रथ वाला (चन्द्ररथः) बुद्धिमान्, वह सम्राट् (अग्निः) हमारे निवेदनों को सुने और निवास देने वाला (वस्यः) वह हमें उत्तम मार्गों से (नेपथ्यैः) प्राप्त करने योग्य सुन्दर (वामं) सुख की ओर (सुवितं) भली भांति ले जावे।” “अश्वों को जीत कर अपने पास रखने वाले सम्राट् (इन्द्र) को ऐश्वर्य (सोम) दो।” “यह सम्राट् (इन्द्र) गौवों, हिरण्य और अश्वों के समूहों को (अश्विया) जीत कर रखता है, इन मनुष्यों की सहायता से यह अत्युत्कृष्ट मनुष्य (इन्द्र) अपनी शक्तियों से प्रजा में ऐश्वर्य बाँटता है और धनों को एकत्र करता है।” “हे गौवों, घोड़ों और भेड़ों वाले सम्राट् (अग्ने)।” “कामनाओं के वर्षक, युद्धों में शत्रुओं का पराभव करने वाले राष्ट्र को सुरक्षित और सुव्यवस्थित रखने वाले (लोककृत्नुं) और घोड़ों से शोभा पाने वाले (हरिश्चयम्) तेरे आनन्द दायक बल की (मदं) हम हे सम्राट् (इन्द्र) महिमा गाते हैं।” “हे अश्वों के पति सम्राट् (इन्द्र)।” “हे घोड़ों वाले (हरिवः) सम्राट् (इन्द्र) हम तुझे युद्धों में

शत्रुओं का पराभव करने वाला जानते हैं।” “यह सम्राट् (अग्नि) बुद्धियों में सब से प्रथम है, घोड़ों में सब से प्रथम है, खेतों की सिद्धि अर्थात् कृषि के लिये सब से प्रथम है।” “सम्राट् (अग्निं) उस को मानता हूँ जो सब को धन देने वाला है, जिसके घर में दुधारू गौवें आती हैं या जो दुधारू गौवों का आश्रय होता है, जिस के घर में शीघ्रगामी घोड़े होते हैं या जो शीघ्रगामी घोड़ों का आश्रय होता है, और जिस के पास सदा ही अन्न और बल वाले लोग रहते हैं।” “सम्राट् (अग्निः) वह है जो सब को बसाने वाला है, जिस के गुणों की सब लोगों द्वारा स्तुति की जाती है अथवा जो उत्तम बातों का उपदेश देता है, जिस के पास दुधारू गौवें होती हैं, अथवा घेनु का अर्थ वाणी कर लेने पर यह भाव होगा कि जिस के पास कामनाओं को पूरा करने वाली वाणियाँ अर्थात् विद्यायें रहती हैं, जिस के पास द्रुतगामी घोड़े रहते हैं अथवा जिस के पास शीघ्र काम करने वाले चेष्टाशील आदमी रहते हैं, और जिस के पास अच्छी प्रकार उत्पन्न किये विद्वान् रहते हैं।” “सवार को उठाकर दूर लेजाने वाले शीघ्रगामी घोड़ों वाले (हरिवः) हे सम्राट् (इन्द्र)।” “युद्ध करने में निपुण, उत्तम अश्वों वाला, सब रथियों में श्रेष्ठ रथी, यह सम्राट् (इन्द्र) जब युद्ध में जाता है तो कोई भी इस के सामने ठहर नहीं सकता।” “सम्राट् (इन्द्र) के इस अति पुष्ट शरीर को देखो, इस के बल वीर्य में श्रद्धा रखो, वह गौवों को प्राप्त करता है, घोड़ों को प्राप्त करता है, वह औषधियों, जलों और जंगलों को प्राप्त करता है।” “हे सम्राट् (अग्ने) व्यवहारशील विद्वान् देव-पुरुषों द्वारा बुलाये जाने वाले (देव-हूतमान्) अपने

अश्वों को रथ में जोड़ ।” “जो सम्राट् (इन्द्र) अश्वों को वश में करके रखने वाला है और जा गोपति गौवों को वश में करके रखने वाला है ।” “हे सम्राट् (अग्ने) तुम्हारे जो सुशिक्षित और सरल स्वभाव वाले (साधवः) अश्व हैं उन्हें रथ में जोड़ ।” “जो सम्राट् (इन्द्र) द्रुतगामी (अर्चद्भिः) घोड़ों से (हरिभिः) शूरों से सेवनीय संग्राम में (जोषम्^१) जाता है ।” “यह सम्राट् (इन्द्र) शीघ्रगामी घोड़ों की पालना करने वाला (हरिभरः) है ।”

पाठकों ने देखा होगा कि इन मन्त्रों में सम्राट् का अश्वों से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है। वह घोड़ों वाला है, वह घोड़ों को रथ में जोड़ कर युद्धों में जाता है, बलिष्ठ और शक्तिशाली घोड़ों की सहायता से युद्धों को जीतता है, घोड़ों पर बैठ कर उसकी शोभा (श्री) बढ़ती है। वह अश्वों के समूह के समूह (अश्विया) अपने पास रखता है। वह घोड़ों को सुशिक्षित (साधु) कराता है और उनको पालना और पोषण करता है (हरिभरः)। राजा को दो प्रयोजनों से अपने पास अश्व रखने की आवश्यकता होती है। एक तो बलिष्ठ, शीघ्रगामी, सुशिक्षित घोड़ों की घुड़सवार सेनाओं की सहायता से युद्धों में विजय प्राप्त करना, और दूसरे घुड़सवारी द्वारा अपनी श्री अर्थात् शोभा—शान-शौकत—बढ़ा कर अपने गौरव का आतङ्क जनता पर बिठाना। इन दोनों ही प्रयोजनों की ओर इशारा ऊपर के मन्त्रों में आ गया है। इन दोनों ही उद्देश्यों की प्राप्ति में घोड़ों का अपना निराला स्थान है। अश्वों की युद्धोपयोगिता के सम्बन्ध में आगे युद्ध सम्बन्धा अध्याय

१. शूरैः सेवनीय संग्राममिति सायणः ।

में भी कुछ कहा जायेगा। यहाँ अश्वों की श्री अर्थात् शोभा शालिता की वृद्धि में उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ मन्त्र और उद्धृत करते हैं :—

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा पद्भिर्मह्यमानः॥
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमखमा मृधस्कः॥
आविंशत्या त्रिंशता याह्यर्वाडा चत्वारिंशता हरिभि-
युं जानः ।

आ पञ्चाशता सुरथेभिर्निद्रा पष्टया सप्तत्या सोमपेयम्॥
आशीत्या नवत्या याह्यर्वाडा शतेन हरिभिरुह्यमानः ।
अयं हि ते शुतहोत्रेषु सोम इन्द्र त्वाया परिषितो
मदाय ॥ ऋ० २।१८।४।६

इन मन्त्रों में प्रजाजन सम्राट् (इन्द्र) को उसे सोमपान करा के उसका स्वागत-सत्कार करने के लिये अपने घरों में बुला रहे हैं। सोमपान से अभिप्राय सोमौषधादि आनन्ददायक, शक्तिवर्धक रसीले पदार्थों से है। एक ओषधि-विशेष और उसके रस के अतिरिक्त दही, अन्न, रस, श्यामाक (साम^२), जल, दूध आदि को भी साम^१ कहते हैं। प्रजाजनों द्वारा सम्राट् को अपने घर बुलाके रसीले पदार्थ खिलाने और उसका इस भांति स्वागत करने का अनेक स्थलों पर वेद में वर्णन है। वेद के राजा और प्रजा का आपस में बड़ा मधुर, प्रेम-पूर्ण और समीपता का सम्बन्ध है। इसीलिये राजा

१. सोमो वै दधि । कौ० ८।६

अन्नं सोमः । कौ० ६।६॥ श० ३।३।४।२८॥ ता०
६।६।१

रसः सोमः । श० ७।३।१।३

एते वै सोमस्यौषधीनां प्रत्यक्षतमां यच्छ्यामाकाः ।
श० ५।३।३।४

आपः सोमः । ७।१।१।२२

सोमः पयः । श० १२।७।३।१३

को घर में बुला कर भोजन खिलाने के ये वर्णन मिलते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक आगे लिखेंगे। इन उद्धृत मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है :—

“हे सुमख अर्थात् राष्ट्ररूप यज्ञ को उत्कृष्ट रीति से चलाने वाले अथवा उत्कृष्ट मख अर्थात् धन देने वाले सम्राट् (इन्द्र) हमारे द्वारा बुलाये हुये आप दो, चार छः, आठ दस, घोड़ों पर सवार होकर हमारे यहां सोमपान करने के लिये आइये और हमारी किसी प्रकार की भी हिंसा मत होने दीजिये।” “उत्तम रथ में जुड़े हुए बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, घोड़ों पर सवार होकर हमारे यहां सोमपान करने के लिये आइये।” “अस्ती, नव्वे, और सौ घोड़ों पर सवार होकर हमारे यहां सोमपान करने के लिये आइये, हे सम्राट् यह सोम तुम्हें आनन्द और बल देने के लिये (मदाय) सुखपूर्वक जिनसे पिया जा सके ऐसे पात्रों में (शुनहोत्रेषु^१) भर कर रखा है।”

ऋग् ४।४८।४, ५ मन्त्रों में इस से भी अधिक घोड़े सम्राट् के रथ में जोड़ने का वर्णन मिलता है। मन्त्र इस प्रकार है :—

वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर्नव ।
वायवा चन्द्रेण रथेन याहि सुतस्य पीतये ॥
वायो शतं हरीणां युवस्व पोष्याणाम् ।
उत वा ते सहस्रिणो रथ आयातु पाजसा ॥

इन मन्त्रों में वायु को सम्बोधन किया गया है। इसी सूक्त के इनसे ऊपर के तीसरे मन्त्र में वायु का सोमपान के लिए आह्वान करते हुए उसे “इन्द्रसारथि” अर्थात् इन्द्र का रथ हांकने वाला कहा है। इसलिये इन दोनों प्रस्तुत मन्त्रों में भी

१. सुखेन दूयते सोमो येभिरिति शुनहोत्राः पात्रविशेषाः
इति सायणः ।

वायु को इन्द्र अर्थात् सम्राट् का सारथि ही समझना चाहिये। वायु की तरह द्रुतगामी होने से यहां सम्राट् के सारथि को वायु कह दिया है। इसके अतिरिक्त इस सूक्त का एक अर्थ वायु-परक भी हो सकेगा। हम यहां केवल मन्त्रों का अधिराष्ट्र अर्थ ही कर रहे हैं। मन्त्रों का शब्दार्थ इस प्रकार है :—

“हे सम्राट् के सारथि (वायो) तुम्हें मन की तरह तीव्रगामी (मनोयुजः^१) रथ में जुड़े हुए नौ नव्वे अर्थात् ८१० (नवतिः नव^२) घोड़े ले चलें। हे सारथि (वायो) तू आह्लादकारी और सुवर्ण-सज्जित (चन्द्रेण) रथ से सोमपान के लिए हमारे पास आ।” “हे सारथि (वायो) तू प्रयत्न पूर्वक पोषण करने योग्य (पोष्याणां) सौ घोड़ों को रथ में जोड़, अथवा हजार घोड़ों वाले तेरा (सहस्रिणः ते) रथ बल से अर्थात् वेग से हमारे पास आइए।”

सम्राट् के घोड़े केवल तीव्रगामी ही न हों, प्रत्युत वे सुन्दर भी हों ऐसी शिक्षा निम्न मन्त्र में दी गई है :—

आमन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।

ऋग् ० ३।४५ १॥

अर्थात्—“हे सम्राट् (इन्द्र) हर्षदायक (मन्द्रैः) और मयूरों जैसी चमकीली रोमवाले (मयूररोमभिः) घोड़ों पर सवार होकर आइये।”

इन मन्त्रों में वेद ने यह शिक्षा दी है कि अपनी श्री का आतङ्क प्रतापर स्थापित करने के लिए आवश्यकतानुसार सम्राट् को दो से लेकर हजार

१. मनःसमानगतय इति सायणः ।

२. नवोत्तरनवतिसंख्याकाः (६६) इति तु सायणः ।

३. सायणस्तु सहस्रसंख्यापूरका अश्वास्तैर्युक्तो रथ इति योजयति। नेयं योजना समीचीना। वस्तुतस्तु सहस्रिण इति सर्वनाम्नो विशेषणम्। निष्कृष्टार्थस्तूभयत्र समानः ।

तक घोड़ों से चलने वाले रथों पर बैठकर प्रजा में विचरण करना और उनके पास जाना चाहिये। भली भाँति राज कराने के लिए प्रजा पर राजा की शान का रोब-दाव रहना भी एक आवश्यक अङ्ग है। घोड़ों की सवारियों शान के उस रोब दाव को बनाने में बहुत अधिक सहायक होती हैं। वेषभूषा द्वारा अपनी शान के रोब दाव को प्रजाओं पर बिठाने के सम्बन्ध में हम पीछे “राजा के वैयक्तिक गुण” नामक अध्याय के ३७ वें वाक्य के नीचे कुछ पंक्तियों लिख ही चुके हैं।

न केवल सम्राट् अपने पास ही घोड़ों को रखता है प्रत्युत वह प्रजाजनों के भी यथोचित संख्या में घोड़े रख सकने की व्यवस्था करता है। सम्राट् से की गई निम्न प्रार्थनाओं से यही भाव निकलता है:—
अश्विनावश्वावत्पेषा यातं शवीरया । ऋग् १।३०।१७
सं देव्या प्रमत्या.....अश्वावत्ता रभेमहि ।
ऋग् १।५३।५॥

उषस्तमर्षा यशसं सुवीरं दासप्रवर्गं रयिमश्व-
बुध्यम् । ऋग् १।६२।८

प्रजावतो नृवतो अश्वबुध्यानुषो गोअग्राँ उप
मासि वाजान् । ऋग् १।६२।७

युवं श्वेतं पेदव इन्द्रजुतमहिहनमश्विना दत्तमश्वम् ।
जोहूत्रमर्यो अभिभूतिमुग्रं सहस्रतां वृषणं वीड्वङ्गम् ।
ऋग् १।११।८।६

प्र नो वाजान् रथो अश्वबुध्यानिषे गन्धि अवसे
सूनुतायै । ऋग् १।१२।१।१४

स्वश्व्यं.....अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वनतां
हविष्मान् । ऋग् १।१६।२।२२

स नो अग्निः सुवीर्यं स्वश्व्यं दधातु । ऋग् १।२६।३
अश्वायन्तो वृषां वाजयन्तः.....आच्यावयामः ।
ऋग् १।१७।१६

ये अग्ने चन्द्र ते गिरः शुम्भन्त्यश्वराधसः ।
शुष्मेभिः शुष्मिणो नरो दिवश्चिद्येषां बृहत् सुकीर्ति-
र्बोधति त्मना ॥ ऋग् ५।१०।४

गोमदश्वावद्वथवत् सुवीरं चन्द्रवद्राधो मरुतो ददा
नः । ऋग् ५।५७।७

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि । गामश्वं
पोषयित्वा स नो मृडातीदृशे । ऋग् ४।५७।१

दूयाशं सख्यं तव गौरसि वीर गव्यते । अश्वो
अश्वायते भव । ऋग् ६।४५।२६

गामश्वं रथमिन्द्र सं किर । ऋग् ६।४६।२
उत नो गोपणिं धियमश्वसां वाजसामुत । नृवत्कु-
णुहि वं तपे । ऋग् ६।५३।१०

अश्वायन्तो.....इन्द्र.....त्वा हवामहे । ऋग् ७।३२।२३

अश्वामघा.....वां हुवेम । ऋग् ७।७।१

धेनुष्ट इन्द्र सूनुता यजमानाय सुन्वते । गामश्वं
पिप्युषी दुहे । ऋग् ८।१४।३

गोमद्विरण्यवद्वसु यद्वामश्वावदीमहे । इन्द्राग्नी तद्व-
नेमहि । ऋग् ८।१४।६

स गोरश्वस्य वि व्रजं मन्दानः सोम्येभ्यः । पुरं न
शूर दर्शसि । ऋग् ८।३२।५

आ नो.....वोढमश्वावतीरिषः । ऋग् ८।५।१०

जनिताश्वनानां जनिता गवामसि । ऋग् ८।३६।५

पौरो अश्वस्य पुरुकृद्गवामसि । ऋग् ८।६।१६

त्वं होहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।

उद्रावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ।

ऋग् ८।६।१७

आ नो भर व्यञ्जनं गामश्वमभ्यञ्जनम् । ऋग् ८।७८।२
त्वामिन्द्र यवयुर्मम कामो गव्युर्हिरण्ययुः ।

त्वामश्वयुरेपते । ऋग् ८।७८।६।

स न इन्द्रः शिवः सखाश्वावद्गोमद् यवमत् ।
उरुधारेव दोहते ॥ ऋ० ८।१३।३
यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम् ।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा
पणौ । ऋ० ८।१७।२
गोषा इन्द्रो नृषा अश्वसा वाजसा उत ।

ऋ० ६।२।१०

पवमान महि आवो गामश्वं रासि वीरवत् ।
सना भेधां सना स्वः । ऋ० ६।६।६
उत नो गोविदश्ववित् पवस्व सोमान्धसा । ऋ०
६।५।३
परि णो अश्वमश्वविद् गोमदिन्द्रो हिरण्यवत् ।
क्षरा सहस्रिणीरिपः ॥ ऋ० ६।६।१३
इन्द्रः पविष्ट चेतनः प्रियः कवीनां मती ।
सृजदश्वं रथीरिव । ऋ० ५।६।४।१०
आ नः पवस्व वसुमद्विरण्यवदश्वावद्गोमद् यवमत्
सुवीर्यम् । ऋ० ६।६।६।८
ब्रह्म प्रजावद् रयिमश्वपस्त्यं पीत इन्द्राविन्द्रमस्मभ्यं
याचतात् । ऋ० ६।८।६।४१
अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा
उ ।

आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ।
ऋ० १०।१६।०।५

सौवश्यं यो वनवत् स्वश्वो वृत्रा समत्सु सासहदमि-
त्रान् ॥ ऋ० ६।३३।१

अर्वद्विरग्ने अवेतः... वनुयाम त्वोताः । ऋ० १।७३।६

अर्चामि ते सुमतिं घोषर्वाक् सं ते वावाता
जरतामिय गीः ।

स्वश्वास्त्वासुरथामर्जयेमास्मे क्षत्राणि धारयेरनुद्युन् ॥

ऋ० ४।४।८

उत नो गोमतस्कृधि हिरण्यवतो अश्विनः ।

इळाभिः संरभेमहि । ऋ० ८।३२।६

अहमेतं गव्यमश्व्यं पशुं पुगीपिणं सायकेना हिरण्यम् ।

पुरु सहस्रत्रा निशिक्षामि दाशुषे यन्मा सोमास

उक्थिनो अमन्दिषुः ॥ ऋ० १०।४।८।४

अग्निः सप्तिं वाजम्भरं ददाति । ऋ० १०।८।०।१

गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं

वाजयन्तः ऋ० १०।१३।१।३

इन मन्त्रों और मन्त्रखण्डों का अर्थ क्रम से
इस प्रकार है:—

“हे अश्वियो ऐसे अन्न के साथ आओ अर्थात्
ऐसा अन्न (इषा) दो जिससे घोड़े प्राप्त हों और जो
गति देने वाला हो (शवीर्या) ।” “हे सम्राट्
(इन्द्र) हम तेरी घोड़े देने वाली प्रकृष्ट मननशील
बुद्धि से युक्त होकर पराक्रम के कार्य आरम्भ करें ।”
“हे उषा ! हम यशस्वी, सुवीर, सेवकों के समूह से
युक्त (दासप्रवर्ग^१), घोड़ों की विद्या को जानने
वाले (अश्वबुध्यस्^२), गोपालन में अग्रगामी
पुत्ररूप धन वो प्राप्त करें ।” “हे उषा सन्तानों वाले,
सहायक मनुष्यों वाले, घोड़ों की विद्या जानने
वाले (अश्वबुध्यान्), गोपालन में अग्रगामी
(गोअग्रान्) जन-बल (वाजान्) को हमें दे
(उपमासि^३) ।” “हे अश्वियो तुम चेष्टाशील
उद्योगी पुरुष को (पेदवे) इन्द्र द्वारा प्रेरित अर्थात्
राज्य प्रबन्ध से पुष्ट होने वाला (इन्द्रजूतं),
शत्रुओं का हनन करने वाला (अहिहनं^४),

१. प्रकृष्टो वर्गः प्रवर्गः दासानां कर्मकराणां प्रवर्गो
यस्मिन् तं अनेकैर्भृत्यैरुपेतमित्यर्थ इति सायणः ।

२. अश्वा बुध्या बोद्धव्या येन तमिति सायणः ।

३. प्रयच्छेति सायणः ।

४. शत्रूणां हन्तारमिति सायणः ।

यात्रा के समय बुलाने के गान्य (जोहूत्र), शत्रु का (अयः) अभिभव करने वाला, उग्र, हजारों विजय दिलाने वाला (सहस्रसां) कामनाओं को पूरा करने वाला दृढ़ाङ्ग श्वेत घोड़ा देते हो।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तू हमें रथों को चलाने वाले, अश्वों की विद्या को जानने वाले (अश्वबुध्नान्) जन-बल (वाजान्) दे, जिससे हमें अन्न प्राप्त हो सके (इषे) कीर्ति मिल सके (अवसे) और सत्य और प्यारी वाणी सुनने को मिल सके (सूनुतायै)।” “यह अदीन सम्राट् (अदितिः) हमें सुन्दर घोड़ों के समूह (स्वश्व्यं) प्रदान करे, पुष्ट भोज्य पदार्थों की प्राप्ति वाले (हविष्मान्) घोड़े हमारे क्षत्रियों को (क्षत्रं) मिलें।” “वह सम्राट् (अग्निः) हमें सुवर्ण और उत्तम घोड़ों के समूह देवे।” “घोड़ों को चाहने वाले और और बल को चाहने वाले हम कामनाओं के वर्षक सम्राट् (इन्द्र) को अपनी ओर झुकाने हैं।” “सब के आह्वादाकारक (चन्द्र) हे सम्राट् (अग्ने) अश्वरूप धन देने वाली (अश्वराधत्) तेरी वाणियों को अर्थात् तेरे शिक्षा-उपदेशों को जो लोग शोभन कर लेते हैं (शुम्भन्ति) अर्थात् शोभन रीति से सीख लेते हैं वे बल प्राप्त करके बली हो जाते हैं, ऐसे हो जाते हैं जिनकी भारी सुकीर्ति द्युलोक तक फैल जाती है, उन्हें स्वयं ज्ञान प्राप्त होने लगता है।” “हे मरुतो हमें गौवों से युक्त, अश्वों से युक्त, रथों से युक्त, वीर पुत्रों से युक्त, सुवर्ण से युक्त, पश्वर्य दो।” “हम क्षेत्रपति की सहायता से सर्वत्र विजय प्राप्त करते हैं, वह हमें गौ, घोड़े और पुष्टि कारक पदार्थ देकर सुखी करे।”

यहां क्षेत्रपति से अभिप्राय इन्द्र से है। क्योंकि आगे सातवें मन्त्र में ‘इन्द्रः सीतां निगृह्णातु’ अर्थात् ‘सम्राट् (इन्द्र) हमारी सीता अर्थात्

तदुपलब्ध कृषि को नियमित रखे’ इन शब्दों द्वारा स्पष्ट ही कृषि पर सम्राट् के नियन्त्रण की बात कही है। जो कृषि पर नियन्त्रण रखेगा वही क्षेत्रपति होगा। सम्राट् ही वास्तव में क्षेत्रपति है। यहां क्षेत्रपति से गौ और अश्व मांगने की व्यंजना यह है कि कृषि के बिना गौवों और घोड़ों का उत्तम रीति से पालन नहीं हो सकता। अन्य पुष्टिकारक पदार्थ तो कृषि से प्राप्त होते ही हैं।

“हे सम्राट् (इन्द्र) तुम्हारी हमारे साथ मित्रता नष्ट नहीं हो सकता अर्थात् वह अति दृढ़ है, हे वीर तुम गौ चाहने वाले के लिये गौ हो जाते हो, अर्थात् उसे गौवे प्रदान करते हो, अश्व चाहने वाले के लिये अश्व बन जाओ अर्थात् उसे अश्व प्रदान करो।” “हे सम्राट् (इन्द्र) हमें गौवें और रथों को जोतने योग्य अश्व दो।”

यहां देने अर्थ में ‘सं किर’ क्रिया का प्रयोग हुआ है। इस क्रिया का मूलार्थ है बखेरना। इसलिये मन्त्र की प्रार्थना का भाव यह हुआ कि हमें बहुतायत में गौवें और घोड़े द्यो।

“हे पूषा हमें सुखोपभोग के लिये (वीतये) गौ देने वाला, अश्व देने वाला, अन्न देने वाला, सन्तान देने वाला (नृवत्) ज्ञान दीजिये।” “हे सम्राट् (इन्द्र) हम अश्वों की कामना से तुम्हें पुकारते हैं।” “हे अश्वियो अश्वरूप धन की इच्छा वाले हम तुम्हें पुकारते हैं।” “हे सम्राट् (इन्द्र) अपना देय भाग उत्पन्न करके राज्य को देने वाले (सुन्वते) व्यावहारयज्ञ चला रहे प्रजा जन को (यजमानाय) तुम्हारी सत्य और प्रिय उपदेश देने वाली (सूनुता) कामनाओं की पूर्ति करने

१. नृवती नृणां वनित्री दात्रीमिति सायणः।

वाली वाणी (धेनुः) गौ और घोड़े देती है (दुहे) और इस प्रकार उसकी वृद्ध करने वाली (पिष्युषी) बनती है।” “हे इन्द्राग्रे हम गौ घोड़े और सुवर्ण से युक्त जा ऐश्वर्य तुमसे मांगते हैं, उसे हम प्राप्त कर सकें।”

हम इन्द्र और अग्नि का अथसम्राट् काते आरहे हैं। परन्तु जब अग्नि का प्रयोग इन्द्र के सहचार में गौण रूप में होता है तब उसका जो स्वरूप होता है उस पर हम आगे विचार करेंगे।

“हे सम्राट् (इन्द्र) हविर्तु हुर (मन्दानः) तुम ऐश्वर्य के अधिकारियों के लिये (सोम्येभ्यः) गौओं और घोड़ों के बाड़ों के द्वार खोल देते हो।” “हे अश्विनयो तुम हमारे लिये ऐसे अन्न (इपः) लाओ जिन से अश्वों की वृद्धि होती हो।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तुम गौओं और अश्वों को उत्पन्न करने वाले हो।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तुम अश्वों और गौओं को बढ़ाकर बहुत बनाने वाले हो।” “हे ऐश्वर्यशाली सम्राट् (इन्द्र) मुझ चेष्टाशील पुरुषार्थी को (चेरवे) धन देने के लिये आइये और धन दीजिये, गौओं की और घोड़ों की इच्छा वाले मुझ पर उन की वर्षा कीजिये, अर्थात् बहुतायत में दीजिये।” “हे सम्राट् (इन्द्र) आप हमें मुख्य भोजन के साथ सहकारी रूप में खाये जाने वाले भोज्य पदार्थ (व्यञ्जनं), घृतादि स्निग्ध पदार्थ (अभ्यञ्जनं), गौवें और घोड़े दीजिये।” “हे सम्राट् (इन्द्र) जौ, गौ, सुवर्ण और घोड़े प्राप्त करने की इच्छा वाला मेरा मन तुम्हारे पास ही आता है।” “वह सम्राट् (इन्द्र) हमारा मंगलकारा मित्र है, वह हमारे लिये घोड़े, जौ और गौओं की भारी धारा बहा देता है अर्थात्

प्रभूत मात्रा में देता है।” “हे सम्राट् (इन्द्र) राज्य को अपना देय भाग उत्पन्न कर के देने वाले प्रजानन को (सुन्वति यत्नमाने) जो तुम गौवां और घोड़ां का न क्षीण होने वाला (अव्ययम्) भाग देते हो वह उसी के पास रहे दुष्ट व्यवहारी दस्यु को (पणी) न मिले।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तुम गौ देने वाले, मनुष्य देने वाले, अश्व देने वाले और बलकारी अन्न देने वाले हो।” “हे सोम तुम महिमाशाली अन्न, गौ, घोड़े और वीर पुत्र देने वाले हो, हमें मेधा दो और सुख दो।” “हे सोम तुम गौओं की विद्या को जानने वाले हो, अश्वों की विद्या को जानने वाले हो (अश्ववित्), तुम अन्न से इन्हें पवित्र करो अर्थात् पवित्र अन्न खाने को दो।” “हे अश्वों की विद्या को जानने वाले (अश्ववित्) सोम, घोड़े, गौ, सुवर्ण युक्त ऐश्वर्य और हज़ारों का पालन करने वाले अथवा हज़ारों प्रकार के (सहस्रिणीः) अन्नों को हमारे लिए बरसाइये अर्थात् बहुतायत में दीजिये।” “सोम ज्ञानवान् है (चेतनः), ज्ञान से पवित्र करता है (पविष्ट), अपनी बुद्धि के कारण (मती) यह ज्ञानियां का प्यारा है, यह ज्ञान से अश्वों को उत्पन्न करता है।” “हे सोम हमारे लिये ऐसा पराक्रम (सुवोर्यं) पवित्र कर अर्थात् पवित्रता पूर्वक दे जो ऐश्वर्य, सुवर्ण, घोड़े, गौ और जौ से युक्त हो।” “हे सोम तू सम्राट् (इन्द्र) से हमारे लिये ऐसा ज्ञान (ब्रह्म) मांग जो सन्तान देने वाला हो, ऐसा धन मांग जिस के कारण हमारे घर में घोड़े बँधे रहें।”

इन छः मन्त्रों में सोम से अश्व देने की प्रार्थना की गई है। छठे मन्त्र में यह भी स्पष्ट कर दिया

गया है कि वह हमें किस प्रकार अश्वदि पेश्वर्य देना है। वह हमें ये चीजें प्रदान करने के लिये सम्राट् (इन्द्र) को प्रेरणा करता है। हम पीछे 'पर्णमणि' नामक अध्याय में देख चुके हैं कि सोम का वेद में अति मुख्य अर्थ गुरुकुल में विद्या-प्राप्त स्नातक है। इन छः मन्त्रों में अश्व-विद्या जानने वाले विद्वान् सोमों (स्नातक) का वर्णन है। ये विद्वान् सोम अपनी अश्वविद्या के कारण हमें उत्तम घोड़े तय्यार करके देते हैं। और राजा को प्रेरणा करते हैं कि वह राज्य में उत्तम घोड़ों की उत्पत्ति का प्रबन्ध करे। इस प्रकार ये विद्वान् सोम राज्य-प्रबन्ध द्वारा उत्तम घोड़ों की उत्पत्ति की व्यवस्था कराके राज्य द्वारा भी घोड़े दिलवाते हैं। इस सारे सन्दर्भ का भाव यह है कि राज्य को उत्तम अश्ववेत्ता विद्वानों के प्रबन्ध से राष्ट्र में बढ़िया घोड़े तय्यार कराने चाहियें।

“हे सम्राट् (इन्द्र) घोड़ों, गौओं और बलकारी अन्न की इच्छा से हम तुझे अपने पास आने के लिये बुलाते हैं, तेरी नवीन अर्थात् नया-नया ज्ञान सिखाने वाली सुमति से भूषित होकर हम तुझ सुखकारा को सदा बुलाते रहें।” “हे सम्राट् (इन्द्र) हमें ऐसा पुत्र दे जो सुन्दर अश्वों के समूहों को (सौवश्व्यं) प्राप्त कर सके और सुन्दर अश्वों वाला होकर युद्धों में उन्नति के अवरोधक (वृत्रा^१) शत्रुओं का पराभव कर सके।” “हे सम्राट् (इन्द्र) तेरी रक्षा में रहते हुये हम अपने लिये घोड़ों को प्राप्त करते रहें।” “हे सम्राट् (अग्ने) मैं तुम्हारी सुमति की अर्चना करता हूँ, अर्थात् उससे श्रद्धापूर्वक नई-नई

१. वारयितृन् इति सायणः।

बातों को सीखता हूँ, तेरी यह वाणी अर्थात् शिक्षा-उपदेश बहुत गतिशील (वावाता^१) होती हुई अर्थात् राष्ट्र में सर्वत्र फैलती हुई और घोषणा युक्त (घोषि) हो कर इस राष्ट्र में (अर्वाक्) पदार्थों की सम्यक् प्रकार स्तुति करे (संजरताम्) अर्थात् उन का यथोचित स्वरूप-वर्णन करे, हम सुन्दर अश्व और रथों वाले होकर तुझे अलङ्कृत करते रहें (मर्जयेम) तू प्रति दिन हम में बल और धन (क्षत्र) धारण करा।” “हे सम्राट् (इन्द्र) हमें गौ, सुवर्ण और अश्वों से युक्त कीजिये, हम अन्नों से युक्त दोहर पराक्रम के कार्यों का आरंभ कर सकें।” “मैं सम्राट् (इन्द्रः), जब मुझे प्रजाजनों द्वारा दिये गये प्रशंसनीय पेश्वर्य (सोमासः) आनन्दित करते हैं तो मैं उन अपना भाग देने वाले प्रजाजनों को (दाशुपे), सुवर्णालङ्कृत (हिरण्यमयम्^२), पुरीष वाले, घोड़े और गौवों का पशु समूह, (पशु^३) अपने शास्त्रके बल से (पायकेन) लाकर देता हूँ और उन के लिये सहस्रों शस्त्रों को तीक्ष्ण कराता हूँ—बनवाता हूँ—जिस से वह अपनी रक्षा कर सकें।”

मन्त्र में पशुओं का एक विशेषण ‘पुरीष वाले’ दिया है। पुरीष गोवर को कहते हैं। यह विशेषण देने की यह व्यञ्जना है कि पशुओं का गोवर भी एक कीमती वस्तु है। उसे व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये। प्रत्युत इस मूल्यवान् पदार्थ को खेती में

१. पुनः पुनरभिगच्छन्तीति सायणः।

२. हिरण्यमयं हिरण्यालंकारोपेतमिति सायणः।

३. जात्यैकवचनं पशुसंज्ञमित्यर्थ इति सायणः।

डाल कर लाभ उठाना चाहिये । अच्छे गुण से ही किसी को विशेषित किया जाता है । यहां पशुओं का 'सुवर्णजङ्कत' विशेषण के साथ ही प्रयुक्त 'पुगीषी' विशेषण पुराण की उत्कृष्टता को प्रकट करता है । आर्य उस की वः उत्कृष्टता कृषि के लिये खाद्यादि के रूप में है । पुगीष का अर्थ पानी भी होता है । इन से पशुओं के सूत्र की भी खान के लिये उपयोगिता सिद्ध होनी है । गौ का सूत्र तो कई रोगों के लिये भी उत्कृष्ट औषधि

है । सायण ने पुगीष का अर्थ जल लेकर उस का अर्थ लक्षण से दूध कर लिया है । यह अर्थ लेने पर पशु-संव में गौ के अनितिक्रि प्रौर भी दूध देने वाले भैंस, बकरी, भेड़ आदि पशु अन्तर्गत हो जायेंगे, यद्यपि सायण को इन का अन्तर्भाव सूझा नहीं है ।

‘सम्राट् (अग्नि) बलशाली घोड़े देना है ।’
“गौ, घोड़े और अन्न-बल की इच्छा वाले मेधावी (विप्र) लोग कामनाओं के वर्ष ह सम्राट् (इन्द्र) को मित्रता के लिये आह्वान करते हैं ।”

शुभ सूचना

‘फाखण्ड खण्डिनी फत्ताका’

का

आगामी अंक ‘आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त’ की स्वर्ण जयन्ती के उपलक्ष्य में निकलेगा । जो महानुभाव लेखादि भेजना चाहें वे शीघ्रता करें । जो उसे खरीदना चाहें अभी से एक प्रति सुरक्षित रखा लें । कहीं पीछे पछताना न पड़े ।

मिलने का पता :—

हितैषी प्रैस भवन, नीची बाग, बनारस ।

पुस्तक प्राप्ति और समालोचना

सप्त प्रश्नोत्तर माला—लेखक और प्रकाशक स्वामी अभयानन्द सरस्वती, योग मण्डल, काशी, पृष्ठ संख्या ६४, मूल्य ॥)

इस पुस्तक में ब्रह्मचर्य आदि योग सम्बन्धी विषयों पर एक पोलिश ‘डिक्शन’ नामक लेखक से सात प्रश्न पूछे थे । इन्हीं का सविस्तार उत्तर इस में लिखा है । पुस्तक पढ़ने योग्य है । यह मनुष्य पोलैंड में लोगों को योग सिखाता है ।

विजय—[साप्ताहिक पत्र] सम्पादक दत्तात्रेय बाबले एम० ए० एल० एल० बी०, प्रकाशक दुर्गाप्रसाद शास्त्री, अजमेर, वार्षिक मूल्य २॥)

अजमेर से उपर्युक्त साप्ताहिक हिन्दी पत्र निकालना प्रारम्भ हुआ है लेख पढ़ने योग्य रहते हैं । हम चाहते हैं कि पत्र अपने नाम के अनुरूप विजय प्राप्त करे ।

लेखक—श्री पं० चन्द्रगुप्त जी
वेदालंकार, अनुसंधान विभाग,
गुरुदत्तभवन लाहौर।

बृहत्तर भारत

(१)

मितनी और भारत

यह लेख माला प्रत्येक अंक में निकलेगी। इसमें विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार पर एक संक्षिप्त विवरण हुआ करेगा। विस्तृत जानकारी के लिये लेखक की पुस्तक गुरुकुल कांगड़ी से मंगाये।

१६०७ में जब ह्यू गो विकंलर नामक एक जर्मन महानुभाव कपादोसिया (संस्कृत कपादोष) स्थान पर खुदाई कर रहे थे तो 'बोगज़-कोई' स्थान पर मितनी भाषा में लिखा हुआ एक लेख प्राप्त हुआ यह लेख ईसा से १३६० वर्ष पूर्व मिश्री लोगों के विरुद्ध हित्ताईत और मितनी लोगों में परस्पर सन्धि के रूप में लिखा गया था। इसमें मितनी राजा दुसरथ' इस प्रकार अपने देवों की शपथ खाता है—

“इलानी मितर अस्सुइल इलानी उरुवना अस्सुइल इल इनदार नसअतिया अन्ना।”^१

अर्थात्—मितर (मित्र), उरुवना (वरुण), इनदार (इन्द्र) और नसअतिया (नसत्य) देव साक्षी हैं।

इस लेख ने आर्य जाति के प्राचीन इतिहास के विषयमें एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। अब तक यह माना जाता था कि प्राचीन काल में पश्चिम एशिया में शासन करने वाली जातियाँ सैमिटिक ही थीं परन्तु इस सन्धि पत्र ने यह प्रमाणित कर दिया कि आर्य लोग पश्चिम एशिया तक भी पहुंचे थे और वहां उन्होंने राज्य भी स्थापित किए थे। यह सच-सुच आश्चर्य का विषय है कि ईस' से १३६० वर्ष पूर्व भी उत्तरीय मेसोपोटामिया में वैदिक देवता पूजे जाते थे। न केवल पूजे जाते थे परन्तु जहां संसार के अन्य देवता परस्पर लड़ाते हैं, एक दूसरे का

रक्त पीने को उकसाते हैं, वहां भारत के देवता 'शान्ति के देवदूत' समझे जाते थे। बड़े बड़े सम्राट् उनकी शपथ ग्रहण करते थे। इतना ही नहीं इस सन्धि पत्र में मितानी राजा का नाम दुसरथ (दशरथ) भी आर्य पाया जाता है। पुराणों में अनेक दशरथों का उल्लेख है। उनमें से यह कौन सा था यह, बताना तो अभी कठिन है। फिर भी इतना निश्चित है कि वह आर्य ही था। इसी बोगज़-कोई स्थान से एक तख्ती और मिली है। इस पर सुतन (Sutarna), दुसरथ (Dusaratha), अर्ततम (Artatama) आदि मितनी राजाओं के नाम अंकित हैं।^१ ये नाम आर्य नामों से बहुत मिलते हैं। यह भी ज्ञात हुआ है कि मितानी लोगों में एक लड़ाकू-जाती थी जिसका नाम मरिअन्न (Marianne) था। यह संस्कृत 'मर्य' है। पुरातत्त्व विभाग द्वारा यह भी पता चला है कि तल्ल-अत-अमर्न (Tell el-Amarna) तख्तीयों में सीरिया और पैलस्टाईन के प्राचीन राजकुमारों के नाम विद्यमान हैं। इन में (Biridaswa of Yenoam. Suwardata of Keilah, yasdata of Taanach, Astamnya of Zir-Bashen) बिरिदस्व; सुवरदत्त, यसदत्त, अर्तपन्य आदि नाम संस्कृत-

१. देखिये, The Cambridge History of India, Vol. I Page 72.

नामों के अपभ्रंश हैं। २ वे ईरानी राजा नहीं हो सकते, क्योंकि यदि वे ईरानी हाते तब तो 'बिरिदस्व' न होकर 'बिरिदस्प' होना चाहिये था परन्तु। ऐसा हुआ नहीं।

प्रश्न यह है कि मितनी लोग कौन थे ? इस विषय में ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। कुछ ऐतिहासिक इनके राजाओं नामों को देख कर इन्हें भारतीयों की उपशाखा मानते हैं। इनके देवताओं से इन्हें अविभक्त-भारतीय-ईरानी-बहुदेवता-वाद (Undivided-Indo-Iranian-Patheon) समझते हैं। श्रीयुत 'हडन' के मत में ये वे आरामी नियन थे। जो किसी भारतीय देवताओं को मानने वाली जाती द्वारा मितनी देश में बसाये गये थे।

१-२ देखिये, The Calcutta Review, Oct, 1937. Artical By B. N. Datta. A, M. (Brown) Dr. Phil. (Hamburg).

'वान लुशन' और 'चाईल्ड' की सम्मति में ये नारडिकनस्ल के साथ मिले हुए आर्य लोग थे। इनमें से अधिकांश स्थापनायें इस कल्पना पर आश्रित हैं कि भारत में आने वाले आर्यलोग नारडिक नस्ल से मिलचुके थे।

जब वे काकेशियस पर्वत पार कर भारत की ओर आ रहे थे तो मार्ग में उन्होंने मितनी राज्य की स्थापना की। परन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है। अभी यही निश्चित नहीं कि आर्यलोग काकेशियस पर्वत के पार से आये थे। वस्तुस्थिति तो यह है कि मितनी लोग भारत से आये आर्य लोग थे। 'महेन्जोदारो' की खुदाई से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि 'सिन्धुतट को सभ्यता' मितनी सभ्यता समता खाती है। इसके अतिरिक्त मितनी भाषा, उत्तर वैदिक कालीन भाषा से मेल खाती है। उनके देवता और राजाओं के नाम भारतीय नामों के किञ्चित् विकारमात्र हैं।

इसाई प्रचारक की निराशा

एक इसाई प्रचारक जो अमेरिका से भारत में इसाई धर्म का प्रचार करने भेजा गया था, घूम फिर कर बड़ी निराशता से लिखता है "भारत में सारी परिस्थिति बदल चुकी है। इसाई मत के विस्तार का मार्ग बन्द हो गया है। जहाँ पहले हजारों हिन्दू इसाई बने थे वहाँ पिछले छः मास के अन्दर ५० हजार इसाई हिन्दू धर्म में लौट आये हैं। इसका कारण यह है कि आर्यसमाज और

राजनीतिक आन्दोलन ने भारत में जागृति पैदा कर दी है। आर्यसमाज इसाईयों के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रहा है। अब तो रुपया भी हमारी सहायता करता। मुझे अब भारत में इसाई मत के प्रति रुचि दिखाई नहीं देती। भीलों में जहाँ इसाईयों ने बहुत काम किया था वहाँ भी अब हिन्दू प्रचारक पहुँच गये हैं और हमारे कार्य में रुकावट डाल दी है।" आर्यसमाज से निराश होने वाले सज्जन इन वाक्यों को ध्यान से पढ़ें।

अध्यात्मिक अभिलाषा

(लेखिका—श्रीमती विद्यावती देवी जी धर्मपत्नी पं० धर्मदेव जी बंगलौर)

पात पात में, मात को पाती रहूं ।

उसके खयाल से, दिल को खिलाती रहूं ॥ १ ॥

मुझ बाला का, मां खोल ताला ।

अनमोल रतन, भर जाती रहूं ॥ २ ॥

तव भजन में ही, लवलीन हुई ।

नयनन से नीर बहाती रहूं ॥ ३ ॥

तेरे साथ ही माँ में बात करूं ।

बिगड़ी तेरे से ही, बनाती रहूं ॥ ४ ॥

तेरी सुन्दर फुलवारी का बन ।

फूल सबन को सुहाती रहूं ॥ ५ ॥

तव स्मरण बने आभरण मेरा ।

जिसके सङ्ग में अङ्ग सजाती रहूं ॥ ६ ॥

सब खलकत में झलकत है मां ।

में लखत लखत सुख पाती रहूं ॥ ७ ॥

मां के मिलन की मस्ती में ।

में मन्द मन्द मुसकाती रहूं ॥ ८ ॥

ईश-विनय

(लेखक—'द्विरेफ')

मैया अजब सुनी तोरे द्वारे ।

दरसन मिस कोई आवत जावत नैन नैन सब वारे ।

तुव अखियन की ज्योति मिले से अन्धरो रूप दिखारे ॥

हित उपदेश कहौ हरिजन को, अन-जल छुधित दियारे ।

याधुनि को देवादिकतरसैं मूक सुन्यौ शुचि पद उचरारे ॥

मन इन्द्रियगन हिय में व्याघौ घट घट मांहि समारे ।

परमार्थ हित सबै दियौ नित लेत लेत जग हम हारे ॥

बुधि बल ठांव आप सुखदाता प्रभुयाचक आया अविचारे ।

सांझ सुबह की घड़ी हुए से नित मांगे वर माँ रे ॥

अस्तोदय

(लेखक—‘द्विरेफ’)

विश्व कानन के वेदना निकुञ्ज में प्राण कोकिला का जब मधु कूजन हुआ, मरे जग ने सविषाद स्वर में पूछा—“यह भी किस लिये ?”

समीप ही अरण्यवल्ली से नवमालिका ने मृदुस्मित में कहा—“जगत तेरे जीवन के लिये ?”

उधर ‘विश्व कानन में वेदना और इधर नवमालिका का मुदुल हास ?—यह धूप छाया और दुःख सुख की कैसी केलि क्रीड़ा है’ इस प्रकार फल भार से नत तरु शाखा पर कीर कौतुक ने ऊर्ध्वचञ्चु हो कल उच्छ्वास किया ।

वन्यमार्ग को स्पर्श करती हुई ग्रामा सीमा में क्लान्तकृषि बल ने जब अपने श्रान्त शरीर से स्वेद बिन्दुओं को पोंछते हुए स्वगत भाव से पूछा—“इस क्षेत्र के पक जाने पर स्वस्व नाम मात्र को भी न रह जायगा ?”

तत्काल ही मलय मारुत की दीर्घ निश्वास भरी सरकन ने कानों में कहा—“हे कीर कौतुक, श्रान्त कृषक ! जीवन के साथ जग का यही पुरातन व्यवहार है !!”

सुदूर वनान्त के अन्तराल में चिन्ताकुल वृद्धकृषीवल ने वनबालाओं को गाते सुना—

रुदन हास सा जीवन ।
उदय अस्त की बाल केलि में
लुक छिप सी चितवन ।
दुःख सुख में है धूप छांह की
झलक दिखाई अनमन ।
लेन देन औ मिलन विरह में
जग भूले से दूर गमन ।
आह चाह की तोल तुलाये
फिर फिर आवागमन ।
प्रेम लियो न दियो हम जीवन
कैसे करें समर्पण ॥

प्रसार कैसे हो ?

(ले० श्री प० चन्द्रगुप्त जी वेदालङ्कार)

ठाई हजार वर्ष पुरानी बात है, कि महात्मा बुद्ध सारनाथ में खड़े अपने पाँच शिष्यों से कह रहे थे “चरथ भिक्खवे चरिकं बहुजनहिताय बहुन कुशलाय लोछानुष्म्पाय अत्याय हिताय देव-मनुस्सा” । देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झकल्याणं परिपोसानकल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं ब्रह्मचरियं पक्कासेथ” अर्थात् भिक्षुओं ! अब तुम जाओ और बहुनों के कुशल के लिये तथा देवताओं और मनुष्यों की भलाई के लिये भ्रमण करो । तुम उपसिद्धान्त का प्रचार करो जो आदि में उत्तम है मध्य में उत्तम है और अन्त में उत्तम है । सम्पन्न, पूर्ण तथा पवित्र जीवन का प्रचार करो । तथागत का अपने शिष्यों को यही प्रथम उपदेश था । यहीं से भगवान् का धर्म एक प्रवर्तन प्रारम्भ होता है । अपनी शिक्षाओं का प्रचार करने के लिये बुद्ध से पूर्व किसी भी सुशारू ने अपने शिष्यों को इतनी प्रबल प्रेरणा न की और नहीं संसार की शिष्यमण्डलियों में से किसी ने अपने गुरु के उपदेश का इतनी दृढ़ता से पालन किया जितना बौद्ध भिक्षुओं ने । इन भिक्षुओं की दृढ़प्रतिज्ञा तथा अपूर्व उत्साह के सम्मुख मीलों ऊँचा, बर्फ से लदा हुआ हिमालय लज्जावन्त हो गया । सैकड़ों मील लम्बी, सुनसान तथा ज्वालामयी मरुस्थलियाँ ठण्डी सड़के बन गई । प्रचण्डघोष-

कारी सागरों की तरल तरङ्गवली कोमल फूलों की सेज बन कर बिछ गई । ये लोग सोने-चान्दी की खाने दूढ़ने न निकलते थे, तेज के कुओं और चाय के बगीचों की भी इन्हें चाह नहीं थी । अन्य राष्ट्रों को अपना दास बना कर उन पर शासन करगे की उमंग इनके मन में एक क्षण को भी कभी न उठी थी । इनके सम्मुख तो एक ही उद्देश्य था और वह यह कि-प्राणिमात्र का कल्याण करना है । प्रेम, सेवा, दया अहिंसा और सत्य को लेकर वे एक के अनन्तर दूसरे देश में बढ़ते चले गये । वे जहाँ भी गये अपार जन समुदाय उनको शिक्षा के सम्मुख सिर झुकाता चला गया । तनिक सोचिये अज भारत और तुर्किस्तान के बीच सौ मील लम्बी पहाड़ी पट्टी है । कोई पड़ाव नहीं, कोई रास्ता नहीं, किसी प्रकार का रहने-सहने, खाने-पीने का प्रबन्ध नहीं, पीठ पर सामान लाद कर लेजाना भी अत्यन्त दुष्कर है । आज यदि इस प्रदेश को नारने के लिये कहा जाए तो कितने मनुष्य ऐसे होंगे जा इस कार्य को करने के लिये तय्यार होंगे ? लेकिन जिन्होंने उस समय जब न मोटर थी, न रेल थी, न नार थी, न वायुयान थे- कोई भी साधन न था इसे पार कर धर्म का संदेश फैलाया था । उन्होंने कितना महान कार्य किया था इसका अनुमान लगा सकना कुछ कठन नहीं है ?

बौद्ध भिक्षुओं के आत्मत्याग का ही यह परिणाम था कि बुद्ध के परिनिर्वाण के छः सौ वर्षों के भीतर ही जापान, कोरिया, चीन, खोतन, बर्मा, स्याम, अनाम, कम्बोडिया, मलाया-प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, और सलिबस तक बौद्धधर्म प्रचण्ड अभि की भाँति फैल गया।

यह चित्र है जिसे एक दिन आर्यसमाज ने अपना आदर्श बनया था। प्रत्येक आर्य एक ऐसे दिन का स्वप्न लेता है जब मक्का आर मदीने की बड़ी से बड़ी मस्जिद पर 'ओश्म' की वैजयन्ती फहराती होगी। ऐसा ही स्वप्न अमरात्मा श्रद्धानन्द ने लिखा था। उन्होंने कहा था—'मैं तो उस दिन को देखने को व्याकुल हो रहा हूँ जब कि योरुप और अमेरिका के बड़े से बड़े पार्लियामेंट हाऊस की ऊँची से ऊँची चोटी पर वैदिक पताका लहराती हो।

परन्तु प्रश्न यह है कि बाह्यों ने अग्ना विशाल धर्म-साम्राज्य स्थापित कैसे किया? क्या इसके आधार में बड़े बड़े शास्त्रार्थ माहारथियों के कलेवर बिछे हुए हैं, जिस पर यह भवन खड़ा है? नहीं, बिलकुल नहीं। बौद्ध धर्म के सम्पूर्ण इतिहास में शास्त्रार्थों का महत्त्व बहुत कम रहा है। स्वयं महात्मा बुद्ध ने महाकश्यप के शास्त्रार्थ के पश्चात् कोई भी शास्त्रार्थ नहीं किया। उनकी शिक्षाओं का प्रभाव उपदेशों तथा उनके क्रियात्मक जीवन द्वारा आप से आप फैलता चला गया। चीन में जब काश्यपमातङ्ग ने कन्फ्यूशस और ताऊधर्मी दोनों को परास्त कर दिया और चीनी सम्राट मिङ्गी ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया, फिर वहाँ भी शास्त्रार्थ की आवश्यकता नहीं रही। तिब्बत में जब आचार्य पद्मसम्भव ने विधर्मियों को हरा दिया और तिब्बती सम्राट सान्-

चङ्ग-गम्-पो ने बुद्ध का शरण ग्रहण की फिर वहाँ भी कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ। तदनन्तर मंगोलों का समय आया। मंगोलों की राजधानी कराकुरम में कुबलेईखाँ के सम्मेलन में जब 'नेमो' ने ताऊधर्मियों को पछाड़ दिया और ७०० ताऊधर्मियों ने तिर मुंडाकर बौद्ध मत स्वीकार कर लिया तथा कुबलेईखाँ ने यह कहते हुए बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण की कि—जिस प्रकार सब अंगुलियाँ हथेली से निकली हैं वैसे ही सब धर्म बौद्ध धर्म से निकले हैं। इस घटना के पश्चात् मंगोल-साम्राज्य में फिर कोई शास्त्रार्थ नहीं हुआ। बौद्ध मत फैला और बिना शास्त्रार्थ के फैला। महात्मा बुद्ध ने मगध, काशी, कोशल, वीराम्बी, अवन्ती, शाक्य, लिछवी, भग्न, कोलिय, मल्ल, तथा अङ्ग के राजाओं और प्रजाओं को शास्त्रार्थों द्वारा अपना अनुगामी नहीं बनाया था, प्रत्युत अपने मधुर उपदेशों के द्वारा ही पूर्व देश के सम्पूर्ण राजाओं को, यश जैसे समृद्ध नागरिकों को, अनाथ पिण्डरु से बड़े-बड़े व्यापारियों को, जीवक से वैद्यों को, शीपुत्र और मौद्गल्यान से महाविद्वानों को, महाप्रजापति गौतमी, भद्राकापिलानी और सामावती-सो रानियों तथा कुलीन देवियों को अपने उपदेशों तथा समयानुकूल शिक्षाओं द्वारा ही आकृष्ट किया था। बुद्ध के पश्चात् सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रति विशेष उत्साह प्रदर्शित किया। उसने भी शास्त्रार्थों का आश्रय न लेकर सेवाव्रत को अपनाया। आशोक की कार्यप्रणाली का वर्णन उसके शिलालेख स्र स्रों वर्षों पश्चात् आज भी कर रहे हैं। उसने कुएं बनवाए धर्मशालाएं खड़ी कीं, चिकित्सालय खोले, सड़कों पर पेड़ लगवाए, पशुहत्या बन्द की, दागना रोका, धर्म-यात्राएं कीं, जनता में धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न

करने के लिये कर्मचारी नियुक्त किये और इन सबसे बढ़कर उसने धर्म के लिये अपनी सम्पत्ति, अपना तन, अपना मन और अपने हृदय के टुकड़े राजकुमार और राजकुमारी तक दे डाले। एक बार प्रचारार्थ निकले हुए दूरलङ्का में बैठे अपने आंखों के तारों को उसने आयुभर फिर कभी देखा तक नहीं। ये कारण थे जिनसे बौद्धधर्म की दुन्दुभि मित्र से लेकर सिंहल द्वीप तक बजने लगे। तृतीय महाप्रभा का समाप्ति पर काश्मीर, गान्धार, हिमवन्त प्रदेश, वनवासि, अपान्त महिषमण्डल, सुवर्णभूमि और सिंहलद्वीप में जो प्रचारक मण्डल भेजे गये थे उन्होंने भी शास्त्रार्थ द्वारा प्रचार न किया था। दीपवंश और महावंश को पढ़ने से इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि सभी प्रचारकों ने जो इन देशों में प्रचारार्थ भेजे गये अपनी अलौकिक शक्तियों तथा उपदेशात्मक द्वारा देश के देश धर्म में दीक्षित कर लिये। इनमें से एक ने भी शास्त्रार्थ नहीं किया। कुशान सम्राट् कनिष्क ने मध्य एशिया तक बौद्धधर्म को फैलाया। उसने भी बिना शास्त्रार्थ के विध्याचल से लेकर पामीर की पर्वत-माला के परे तक बुद्ध का सन्देश प्रचारित कर दिया। भिक्षुओं में परस्पर फूट पड़ो, विवाद उठे, झगड़े हुए, सम्प्रदायों का विकास भी हुआ, यहां तक कि एक समय ऐसा भी आया जब बौद्ध संघ निश्चितरूप से १८ सम्प्रदायों में बँट गया। उनके पृथक् पृथक् दर्शन, साहित्य और सिद्धान्त भा चलने लगे। इतने पर भी बौद्धसंघ एक रहा। प्रत्येक देश में सब सम्प्रदाय साथ साथ चलते रहे। विहारों और पूजास्थलों में कोई भेद न था। संघारामों में सभी यात्रियों का समान आदर होता था। ह्वेन्-त्साङ् लिखता है “यात्रियों का आदर सभी जगह बहुत होता है। उनसे उनके धर्म, विचार आदि के विषय में कोई प्रश्न नहीं किया

जाता।” इसी नीति के कारण ही आज भी मनुष्य-जाति का एक तिहाई भाग बुद्ध का उपासक बना हुआ है।

आज आर्यसमाज को आवश्यकता है कि विविध देशों में प्रचारार्थ प्रचारक भेजे जाएं। जाने वाले योग्य व्यक्तियों का अभाव है। हर एक दूसरे के गले पर छुरी चलाना चाहता है। इस कार्य के लिये अपने को कोई आगे नहीं बढ़ाता। सम्राट् अशोक ने तो अपने पुत्र और पुत्री तक को परदेश भेज डाला था। चीनी दूत मण्डल की प्रार्थना पर काश्यपमातङ्ग, धर्मरत्न तथा कुमार जीव स्वयं चीन गये थे। तिब्बती सम्राट् के निमंत्रण पर नालन्दा के आचार्य अतिशा, पद्मसम्भव आदि पण्डित स्वयं विदेश जाते रहे। हिन्दूधर्म के प्रतिनिधि बन कर प्रिवेकानन्द स्वयं अमेरिका गये। एक दिन आर्य-समाज के नेता भी इसी तरह मैदान में उतरे थे। और बड़े बड़े विद्वान् अफ्रीका के विस्तृत मैदानों में धर्म का संदेश लेकर पहुँचे थे। पर आज दशा दूसरी ही है। आज तो आर्यसमाज के विद्वान् पारस्परिक झगड़ों की उलझन में उलझे हुए हैं। वे इसे तिलज्जलि देकर प्रचारार्थ क्यों नहीं निकल जाते? प्रचार की तो बात दूर आज तो समाज प्रमाणवाद से चिपट रहा है। वह एक एक शब्द पर मरने लगा है। विचार स्वातंत्र्य महापाप समझा जाता है। जरा जरा सी बात पर बड़े बड़े नेता नाल दिये गये। यही कारण है कि समाज का क्षेत्र बहुत संकीर्ण होता जा रहा है। विद्वान् लोग इसमें सम्मिलित होते हुए सकुचाते हैं। ऋषि ष्या-नन्द ने तो अपने ग्रन्थ-सत्या प्रकाश में स्पष्ट शब्दों में विचार स्वातंत्र्य का स्वीकार किया है फिर न जाने यह संकीर्णता कहां से घुस आई? सत्य, अहिंसा

आदि धर्म के तत्वों पर तो कोई विचार तक नहीं करता लेकिन संगठन के अवान्तर गौण भेदों में ही धर्म-अधर्म का प्रश्न बना रक्खा है। दूसरी ओर बौद्धधर्म को देखिये। महत्मा बुद्ध ने विचारों में खुली छूट दे रखी थी। अंगुत्तर निपाय में कथा आती है—एक व्यक्ति तथागत के पास पड़चकर कहने लगा महाराज! २५० नियमों का पालन करने में तो मैं असमर्थ हूँ। पर तथागत ने कहा क्या तुम ३ शीलों का पालन कर सकते हो? उत्तर में आगन्तुक ने स्वीकृति दी। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने देश तथा परिस्थितियों के अनुसार सीमान्त निवासियों, वनवासियों आदि को विशेष छूट दे रखी थी। ह्वेन्-त्साङ् अपने यात्रावृत्तान्त में लिखता है कि वैशाली के भिक्षु कुछ नियमों का पालन नहीं करते। पूछने पर ज्ञात हुआ कि बुद्ध ने उन्हें इस की छूट दी थी। सब प्रकार से स्वतंत्रता देने पर भी बौद्धधर्म की आत्मा का हनन न हुआ। धर्म की आत्मा वही रही, बाह्य आकार भी वही रहा, केवल समय तथा देश के अनुसार थोड़ा थोड़ा परिवर्तन आता रहा। इसका कारण बुद्ध

का उपदेश था जो उन्होंने निर्वाण के समय आनन्द को दिया था। उन्होंने कहा था “अत्तदीपा विहरथ अत्तपरिणअनञ्ज, सरणा धम्मादीपा धम्मसरणा अनञ्जसरणा।

अर्थात् आनन्द! आत्मा ही तुम्हारी ज्योति है, तुम्हारा प्रथ-प्रदर्शक है, आत्मा ही तुम्हारी शरण है इसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु तुम्हारी सहायक नहीं। तुम धर्म की ज्योति में चलो, धर्म की शरण में रहो और किसी की नहीं। यदि आर्यसमाज आज इसे आदर्श बनाकर चले तो शीघ्र ही संसार का कल्याण हो सकता है। फिर हमारा वह स्वप्न पूर्ण हो सकता है जब कि सम्पूर्ण संसार आर्य-सभ्यता का अनुयायी होगा। आर्य समाज की आज भी आवश्यकता है। संसार में शान्ति स्थापना, अत्याचार दमन, भेद भाव तथा छूआछूत को मिटाने के लिये आर्यसंस्कृति की आज भी ज़रूरत है। लेकिन उसके संदेश को संसार के कोने कोने में पहुँचाने के लिये योग्य कार्यकर्ताओं तथा उत्तम योजनाओं की आवश्यकता है! आशा है आर्य भाई मेरे विचारों पर उदारतापूर्वक विचार करेंगे।

नोट कर लें

जो सज्जन गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में अपने बच्चों को प्रविष्ट कराना चाहें वे अभी से श्री मुख्याधिष्ठाता जी के साथ पत्र व्यवहार आरम्भ कर दें। यदि देर की तो चूक जाएंगे।

सत्यव्रत

मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी।

उपनिषद् और वेदार्थ

(ले० श्री पं० चन्द्रकान्त जी वेदवाचस्पती)

यहां पुरुष के विराट् स्वरूप का वर्णन है। प्रायः सब वेदों में आने वाले पुरुष सूक्तों के भावों से इसकी तुलना की जा सकती है।

प्रथम अध्याय, प्रथम ब्राह्मण की प्रथम श्रुति से भी देवों के अंशावतार सम्बन्धी विषय पर प्रकाश पड़ सकता है।

(३) ऐ० उ० २ खंड ४ श्रुति में देखिए—

“अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् । वायुः

प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ।

आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षणी प्राविशत् ।

दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन् ॥”

‘ओषधि वनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत् । मृत्युरपानोभूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिरः प्राविशत् ॥”

अग्नि ने वाणी होकर मुख में प्रवेश किया। वायु ने प्राण (घ्राण) होकर नाक के दोनों छेदों में प्रवेश किया। सूर्य ने दृष्टि होकर आंख के दोनों छेदों में प्रवेश किया। दिशाओं ने सुनने की शक्ति

होकर बान के दोनों छेदों में प्रवेश किया। ओषधियों और वनस्पतियों ने बाल और रोम होकर त्वचा में प्रवेश किया। चन्द्र ने मन होकर हृदय में प्रवेश किया। मृत्यु ने अपान होकर गुदा में प्रवेश किया और प्रजापति ने वीर्य होकर प्रजननेन्द्रिय में प्रवेश किया।”

उपर्युक्त उपनिषद् की प्रतीकें देवों के अंशावतार के स्वरूप को स्पष्ट कर रही हैं। इस प्रकार के विचार ऋग्वेद तथा विशेषतः अथर्ववेद में भी प्रायः आया करते हैं। इन अध्यात्म भावनाओं की सहायता से हम अथर्ववेद के गुह्य रहस्य को भली-भांति समझ सकते हैं। देखिये अथर्ववेद में एक मन्त्र आता है—

‘तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वाह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ।’

१८-३२। अथर्व०

‘इसीलिये इस पुरुष को तत्त्वज्ञानी साक्षात् ब्रह्म कर के जानता है क्योंकि समस्त पृथिवी आदि दिव्य तत्त्व इस पुरुष देह में उसी प्रकार आ विराजते हैं जिस प्रकार बाड़े में गौवं आ बैठती हैं।’

मन्त्र स्पष्ट है। इसमें पृथिवी, वायु आदि आधिभौतिक देवों का अध्यात्म से सम्बन्ध सूचित किया गया है। इसी भाव को उपर्युक्त उपनिषद् की प्रतीकों भी खोल रही हैं। इस विषय में वेदों के अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। परन्तु विस्तार भय से इतना ही लिखना उचित समझते हैं।

एवं हम उपनिषदों में एक विशेष प्रकार के कोष को प्राप्त करते हैं जिस की सहायता से याज्ञिक, ऐतिहासिक तथा देवतावाद सम्बन्धी शब्दों के वास्तविक अर्थों पर प्रकाश डाला जा सकता है। ये शब्द किन आध्यात्मिक भावों के सूचक हैं यह उपनिषदों से सीखा जा सकता है। इतना ही नहीं वेदों के नाना सूक्तों में आने वाले प्राण, आत्मा, प्रकृति, परमेश्वर सम्बन्धी नाना विचारों का उपनिषदों ने विशद-स्पष्टीकरण किया है। चतुष्पाद ब्रह्म क्या है? सोलह कलायें क्या हैं? प्राण का स्वरूप क्या है? इत्यादि अनेक गुह्य रहस्यों का समाधान उपनिषदों में देखा जा सकता है। निस्सन्देह उपनिषदें वेदों की आध्यात्मिक व्याख्यायें हैं—वेद की मानो जान हैं।

उपर्युक्त लेख के आधार पर वेदों से उपनिषदों का घनिष्ठ सम्बन्ध ज्ञात होने पर निम्न परिणाम सहज में ही समझे जा सकते हैं—

(१) पाश्चात्य विचारकों की यह धारणा कि उपनिषदों तथा वेदों में मत भेद परिणाम है, वेद से उपनिषदें निचली कोटी की हैं—सर्वथा अशुद्ध है।

(२) उपनिषदों के सिद्धान्तों के विषय में बड़ा भागी मतभेद है। कोई उपनिषदों उपनिषदें त्रैत का पर द्वैत मड़ता है तो कोई अद्वैत। प्रतिपादन करती है यह पता ही नहीं चलता कि उपनिषदों का वास्तविक शिक्षण क्या है? परन्तु यह ज्ञान होने पर कि वेद उपनिषदों के ही स्रोत हैं, इस प्रश्न का सहज में ही निर्णय किया जा सकता है। हमें यह मानना होगा कि यदि वेदों में द्वैत है तो उपनिषदों में भी द्वैत होना चाहिये, यदि नहीं तो नहीं। एवं हमें उपनिषदों के सिद्धान्तों की सचाई वेदों से प्रमाणित करना होगी। परन्तु वेद^१ के गहरे अध्ययन से हमें यह प्रतीत होता है

(१) वेदों में 'त्रित्व' के प्रतिपादक अनेक मन्त्र हैं—

त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते सन्वत्सरे वयस एवैषां विश्वमेकाऽभिचष्टे शचीभिः प्राजिरेस्य ददृशे नदयम् । (क) अ. ११६१.४४

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्त्या अभिचाकशीति । (ख) अ. ११६४।१०

अस्य बाभस्य पलितस्य होतुः तस्य भ्राता मध्यमोऽस्त्यश्नः तृतीयां भ्राता घृतपृष्ठोऽस्या त्रापश्यं विपश्यति सप्तपुत्रम् । (ग) अ. ११६४।१

देखो अ. ११६४।२२, अ. १०।५।७; अ. ४।३।१

अ. १।५०।१०। अ. ६।६६।३.

कि वेद जीव, ईश्वर, प्रकृति इन तीनों सत्ताओं को पृथक् स्वीकार करते हैं। इस लिये उपनिषदों में अद्वैत का विचार युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता।

(३) उपनिषद् वेदों पर आश्रित हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उपनिषदों से वेदों की पृथक् सत्ता भी है। इस लिये 'वेद' शब्दसे उपनिषदों का ग्रहण नहीं हो सकता है। उपनिषद् 'श्रुति' तो कही जा सकती है पर 'वेद' नहीं। इसलिये जो लोग श्रुति तथा वेद शब्द को पर्यायवाचक मानकर श्रुतिशब्द से वाचा ब्राह्मण, उपनिषदों को भी वेद की तरह स्वतः प्रमाण उद्धोषित करते हैं वे सर्वथा भूल करते हैं।

(४) उपर्युक्त स्थापना के करने पर हमें यह समझ में आजाता है कि भारतीय पाश्चात्यों की तथा पाश्चात्य दोनों प्रकार के सम्मतियाँ विद्वान् उपनिषदों पर क्यों मोहित हैं ? हम भारतीय दर्शनों पर, विशेषतः वेदान्त पर, उपनिषदों का विशेष प्रभाव देखते हैं। भारत की अनेक धार्मिक पुस्तकों पर उपनिषदों का सिक्का जमा हुआ है, क्योंकि उपनिषदें वेदाश्रित हैं, आध्यात्मिकता के रंग से रंगी हुई हैं, और वेदों में प्रायः सब को श्रद्धा है। भगवान् कृष्ण का सर्वगुण सम्पन्न गीता के भक्त तो यहां तक कह उठे हैं :—

“सर्वापनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।

अर्थात् सारी उपनिषदें गायें हैं और कृष्ण ने ग्वाला बनकर गीतारूप दूध को उनसे दुहा है।—
ये कितने प्रशंसा परक शब्द हैं ?

आध्यात्मिकता की खान उपनिषदों पर पाश्चात्य विद्वानों की निम्न सम्मति है :—

(क) उपनिषद् के अभ्यासी डा० ड्यूसन कहते हैं :—

अर्थात् “संसार के साहित्य में उपनिषदों के आध्यात्मिक विचार अनुपम हैं।”

(ख) यूरोप का तत्त्वज्ञानी शोपनहार उपनिषदों को भारतीय रहस्य विज्ञान तथा product of highest wisdom के स्रोत रूप में स्वीकार करता है, और अन्त में पुकार उठता है—“संसार में उपनिषदों से अधिक हितकर तथा ऊँचा बनाने वाली शिक्षा किसी ग्रन्थ की नहीं है। यह मेरे जीवन का अन्तिम सदन बना हुआ है और मृत्युपर्यन्त बना रहेगा।”

इस प्रकार जो उपनिषद् पाश्चात्य विद्वानों को जीवन के विश्रामघाट और मृत्यु के आरामगाह लगी हैं, वे आर्यमुमुक्षुओं को मुक्ति के सेतु और ब्रह्मलोक के विमान जैसे लगें, इसमें क्या आश्चर्य है ?

(५) उपनिषदें वेदों की अध्यात्म व्याख्यायें हैं,

इस बात को भली-भाँति हृदयंगम न सायण-भाष्य करने के कारण ही सायणाचार्य की नीरसता बहुत स्थानों पर नीरस हो गये हैं।

विशेष कर “सामवेद” जैसे शक्ति प्रधान वेद पर आचार्य सायण की व्याख्या अरुचिकर प्रतीत होती है। इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये हम एक उदाहरण उपस्थित करते हैं :—

“अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।

निहोता सत्सि बर्हिषि।”

“हे प्रकाशमय परमात्मन् ! तू हमारे हृदय में

व्याप्ति के लिये आजा। दातव्य वस्तुओं के देने के लिये तू हमें उद्देश कर इस होत्र को करने वाला तू, हृदय के आसन पर सर्वदा स्थिर हो।”

मंत्र का मरल अर्थ कर दिया है। इस पर आचार्य सायण का भाष्य निम्न है:—

“हे अग्ने ! अङ्गनादिगुणविषिष्ट ! त्वं आयाहि,
अस्मद् यज्ञं प्रत्यागच्छ । किमर्थम् ?
भाष्य वीतये हविषा चरुपो, पुरोडाशादीनां
भक्षणाय” अर्थात्—“चमकीली
अग्नि ! तू आ, हमारे यज्ञ में आ। क्यों ? चरु,
पुरोडाश आदि को खाने के लिये।”

सायण-भाष्य का अग्नि भौतिक व याज्ञिक है;
और सामवेद भक्ति प्रधान है। उस के
अग्नि का प्रथम ही मंत्र में भौतिक देवता का
अत्यंतिक अर्थ आराधन खटकता है। यहाँ—“अग्नि”
शब्द का अध्यात्मिक अर्थ ही होना
चाहिए। इस विषय में हमें उपनिषदों से
पर्याप्त सहायता मिलती है। देखिये।

(१) क २।१८ में “अग्नि का अध्यात्मिक
स्वरूप बताते हुए लिखा है—

(i) क २।१८ में “अग्नि” का अध्यात्मिक
स्वरूप बताते हुए लिखा है—

“अरण्योनिहितो जातवेदाः, गर्भ इव
सुतितो गर्भिणीभिः । दिवे दिवे ईड्यो जात-
वद्भिः, हविष्यद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वैतत्”

“जो सब धनों का स्वामी, द्यु और पृथिवी रूपी
अरणिओं में विद्यमान है और गर्भवती स्त्रियों से
गर्भ की भांति सुगन्धित है, जो सब को आगे ले
जाने वाला प्रतिनिध उन मनुष्यों से स्तुति के योग्य

है जो जागते हैं और श्रद्धा-भक्ति पूर्वक हविर्यज्ञों
वाले हैं, यह है निश्चय वह।”

यहाँ “अग्नि” आत्मशक्ति है। यज्ञ का अग्नि
भी आत्मा का ही प्रतिनिधि होता है।

(ii) “स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्त-
रारणिम् । ध्याननिर्षथनाभ्यासादेवं पश्येन्नि-
गूढवत्” श्वे०

इसका अर्थ पहले किया गया है। यहाँ पर
“स्वदेह” तथा “प्रणव” रूप अरणिओं को रगड़ कर
परमात्मारूप अग्नि को ही पैदा करने का वर्णन है।

(iii) प्रश्नोपनिषत् प्रथम प्रश्न की ७ वीं श्रुति
में लिखा है—

“स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणो-
ऽग्निरुदयते । तदेतदृचाभ्युक्तम्” १।७

यहाँ पर ब्रह्म की सूय (अग्नि) रूप से उगसना है

(iv) मै० ड० ५।२ “अथ य एषोऽन्तरे हृत्पु-
ष्करे एवाश्रितोऽन्नमत्ति स एषोऽग्निर्विश्वितः
सोऽयं कालाख्याऽदृश्यः सर्वभूतान्नमत्ति ।”

“हृदय कमल में रहने वाला यह अग्नि आत्मा
है, जो भोजन खाता है और द्यु में स्थित कालाग्नि
नाम अग्नि परमात्मा है जो प्रलय काल में समस्त
भूतों को खा जाता है, लीन कर लेता है।”

इस प्रकार उपनिषदों के अन्दर “अग्नि” शब्द
“आत्मा तथा परमात्मावाचक” आया है। आचार्य
सायण तथा उनके पीछे चलने वाले पाश्चांत्यों ने
इस बात की उपेक्षा की है, इसलिए भी उनके वेद-
भाष्यों में वेद की आत्मा वेद का रस-सुख गया है।

एवं हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि उपनिषदें वेदों पर आश्रित हैं, उनको आध्यात्मिक व्याख्या करने वाले ग्रन्थ हैं। इस बात को उपनिषदों की व्याख्याशैली भी स्पष्ट कर रही है। इस विषय में एक दो विचार रखकर हम इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

उपनिषद् ज्ञान और भक्ति के ग्रन्थ हैं। इसलिए

इनकी भाषा सरल और कर्णप्रिय
उपनिषदों की है। रीति विलक्षण तथा सुन्दर है।

महिमा ब्रह्मज्ञान को कविता की भाषा में
रख देना उपनिषत्कारों का चम-

त्कार है। इन में पेचीले विचार बहुत कम स्थानों पर हैं। उपनिषदों में—स्थान २ पर “ह” “वा” आदि निपातों का प्रयोग किया है, जिससे इनके सौन्दर्य में और भी अधिक वृद्धि हुई है। उपनिषदों की भाषा जहाँ सरल है वहाँ पर इसमें बड़े २, समास वाले तथा अप्रसिद्ध शब्दों की भी कमी है। उपनिषद् छोटे २ वाक्यों में बड़े गहरे २ भावों को हमारे सामने रख देती हैं। एक उदाहरण लीजिए—

(१) कठोपनिषत् ३।१४ “उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत” “क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्या दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।”

इसका आशय यह है—“उस आत्मा को जानने के लिये उठो, जागो और सन्तों को पाकर उनके सत्संग से प्रभु भक्ति को समझो। ज्ञानी लोग उस्तरे की तीखी धार के समान इस मार्ग को लांघने में कठिन कहते हैं।”

उपनिषत्कारों ने कितने तुले हुए, असमस्त तथा मधुर शब्दों में कैसे उच्च साहसपूर्ण भावों को रखा है। सोने वाले के लिये कैसी उनके की चोट है।

“एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्,
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

(२) कल. २।१७

“यह नाम का सहारा उत्तम है, यह नाम का आश्रय परम है। इस नाममय सद्गुरु का ज्ञान कर तथा धारण करके ब्रह्मलोक में मनुष्य महिमा को पाता है।”

सचमुच गागर में सागर भर दिया है, अन्धेको आँख; निहत्थे को हाथ और निरालम्ब को अवलम्ब दे दिया है। भगवान् को जिसने अपना शरण समझ लिया, वह निहाल हो गया है।

१ उपनिषदों के वृत्त, वैदिक वृत्तों की तुलना में कम नियामत नहीं हैं। पिङ्गलशास्त्र उपनिषदों के के परवर्ती छन्दों की अपेक्षाभलेही वृत्त (छन्द) कम नियमित हों। मैक्समूलर उपनिषदों को Archai वृत्त कहते हैं, परन्तु उपनिषद् के छन्दों की अनियमितताओं से भी वन-घोष के समान एक भव्य धीरे गम्भीर नाद गूँज उठता है, जो काल की तरंगवली पर तैयार हुआ आज हजारों बरसों से सुनाई दे रहा है। यह तो हुई उपनिषदों की शब्दघोषणा की कथा। और उपनिषदों की कविता? हेमचन्द्र सरकार कहते हैं कि उपनिषदें “भावों में महाम् और भाषा में सुन्दर हैं।” उपनिषद् परम सत्य और परम कविता के संगमस्थल हैं। सर्वमेध यज्ञ करने वालों का महाव्रत होता है कि वे अपना सर्वस्व परमात्मा के चरणों में अर्पण करते हैं वैसे ही महाव्रती, उपनिषत्कार, महर्षि अपनी सर्वश्रेष्ठ आत्म-सामग्री परमात्मा के चरणों में समर्पित कर रहे हैं। उपनिषद् के मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने ब्रह्मविद्या के महा-

सत्य कविता की धारा में मानवकुल के सामने बखरे हैं। कुरानशरीफ का शब्द घोष अर्थघोष के समान भव्य है। Bible का Sermon on the mount (गिरी-प्रवचन) गिरी-शिखर के समान उच्च है। परन्तु जगत् की ब्रह्मविद्या की परम कविता तो उपनिषदों में है।

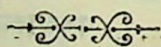
स्वामी।ववेकानन्द के अनुयायी अपने Miner Upanishads" के उपाद्धात में लिखते हैं—
“The Upanishads preach to us the sublime in the most exquisite poetry in the whole world of Literature.”
उपनिषदें संसार के इतिहास में ऊंची से ऊंची चीज को नपी-तुनी कविता में रख रही हैं। बाइबल की जगद्विख्यात Parables (बोध गाथा) तथा Plato के Dialogues की शैली में उपनिषदों का ब्रह्म ज्ञान समझाया गया है। आत्मा, शरीर, बुद्धि और मन आदि के सम्बन्धों को रथी, रथ, सारथी और लगाम के दृष्टान्तों से समझा कर उपनिषत्कार ने अलंकारों को सार्थक किया है। ज्ञान और भक्ति के भावों को दृष्टान्तों तथा कथाओं से समझाने की यह शली कितनी आदर्श, तथा रसवती है? उपनिषदें अगम्य को गम्य बनातीं वाणी से अवर्णनीय का वर्णन करतीं, इन्द्रिय से ओझल वस्तु को उपमा द्वारा हस्तालकवत् प्रत्यक्ष

करातीं—कविताओं से छलक रही हैं। डाक्टर मार्टिनो ने स्पेन्सर के unknowable के सम्प्रदाय को एक ही वाग्वाण से छिन्न-भिन्न कर दिया है “It is like silence, one breaks it as soon as he asserts it.” ऐसे कवितामय सत्य के सूत्र, हजारों वर्षों से विश्व को प्रकाशित करते, हृदयान्वकार को धोते, आकाश के टिम-टिमते तारकाओं के समान, उपनिषदों के आकाश में चमक रहे हैं। कविता और ब्रह्म-विद्या दोनों के महास्रोत एक ही सरोवर में से निकले हैं, और यह सरोवर वेद का महा सरोवर है।

उपनिषदें अर्थात् परम सत्य और परमकविता का संग तीर्थ इन उपनिषदों की वल्लियों में “द्वा सुपर्णा सयुजा” की सखियों के समान दर्शन और कविता की सखियाँ विहार करती हैं। इस लिये उपनिषद् अमर हैं। उपनिषदों के इस संगम तीर्थ को जगत् ने नहीं देखा, यह नहीं। जगत् ने देखा है—मान किया है। अस्तु—

इस प्रकार इस प्रकरण में वेदार्थ में उपनिषदों की सहायता, उपनिषदों का वेदों पर आश्रय, उपनिषदों का गौरव आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। वेदों पर किये व्याख्यान ग्रन्थों में उपनिषदों का भी महत्वपूर्ण स्थान है, इतना इस प्रकरण में स्पष्ट किया गया है।

शुभ संवाद



जो सज्जन यह जानना चाहें कि भारत की राष्ट्रभाषा-हिन्दी क्यों होनी चाहिये। वे ‘अनुसन्धान विभाग’ के पते पर () के टिकट भेज कर बिना मूल्य ‘राष्ट्रभाषा क्या हो?’ पुस्तक मंगा सकते हैं।

“महर्षि के भाष्यों की बहिरंग परीक्षा”

(लेखिका—सुशीला देवी त्रिवेदी विद्यालंकृता गुरुकुल महाविद्यालय सोनगढ़ (काठियावाड़)

महर्षि दयानन्द का जन्म १८८१ में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके समय में वेद विद्या का हास हो रहा था; वेदों की अनेक शाखाएं लुप्त हो चुकी थीं जो थी वे भी दुष्प्राप्य हो रही थी वेद में पठन पाठन के विषय में अनन्त भ्रमणाएं उत्पन्न हो गई थी यों कहो कि बिल्कुल अध्यायन ही बन्द होगया था यहां तई कि भारत के विद्यामंदिर काशी में भी पंडितों की बड़ी दयनीय दशा हो रही थी न तो उन्हें सायण आदि आचार्यों की भांति कोई राजकीय आश्रय ही मिल सकते थे और न ही कोई विद्वान् सहायक ही मिल सकते थे। ऐसी अवस्था में उस ऋषि ने अपनी अप्रतिम प्रतिभा से तत्कालीन कालुष्य का निवारण किया था। जैसे घनघटाटोप आकाश में अमावास्या के तामिस के समय में एकदम शून्य दिशाओं में एकाएक चपला चमक पड़े और प्रकाश हो उनसे जो नवजागृति प्रतीत होती है वैसे ही महर्षि ने मानव जाति को वेद के सूर्य का प्रकाश करके पुनरुज्जीवित किया था अविद्या के काले बादलों को छिन्न भिन्न कर दिया था। वैदिक साहित्य में एक नवीन क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। यह क्रान्ति किसी भी क्रान्ति से किसी भी अवस्था में कम महत्वकी नहीं है क्योंकि कि इसने भिन्न २ देशों में विशेषतः विदेशों में और

वहां की सभ्यता में रचेपचे अपने भारतीय युवकों के हृदयों में सभ्यता और संस्कृति का नव संदेश फूँका है, उनके मलिन मानसों में दिक् आलोक आलोकित किया है, उनके डगमगाते चित्तों को स्थिर किया है वेद की वीणा का मधुरालाप उनके शुष्क कर्ण कुहरों में आलापा है। उन्नीसवीं सदी में ऋषि के रूप में एक प्रचण्ड अग्नी इस आर्यावर्त में जगी थी जिसमें कि संपूर्ण मतमतान्तर भस्म हो रहे थे। अग्नि की समिधाएं छन्दोबन्द ऋचाएं थीं ऋषि ने इन ऋचाओं का सत्यार्थ प्रकाशित करके संसार को सत्य धर्म और सत्य मार्ग का प्रदर्शन करवाया है।

इस लेख में हमें यह देखना है कि महर्षि के वेदभाष्य कितने? उन्होंने किस किस भाषा में और कितने समय में भाष्य किया? इस विषय पर विचार करने से आधुनिक समय में ऋषि भाष्य पर की जाने वाली अनेक आपत्तियों का समाधान हो सकता है।

स्वामी जी महाराज का संपूर्ण भाष्य तो केवल मात्र यजुर्वेद पर ही मिलता है ऋग्वेद पर तो वे ७ वे मण्डल ६१ वे सूक्त के दूसरे मन्त्र से आगे किन्ही दैवीय कारणों से भाष्य न कर सके फिर सामवेद पर वे कब कलम उठाते? दुर्भाग्य भारतीयों के भाष्याकाश में वह अनमोल सिता

अधिक समय तक न चमक सका अकाल ही में अस्त हो गया। अतः वर्तमान काल में ऋषि के भाष्य, यजुर्वेद पर तथा आधे अधिक ऋग्वेद पर ही उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनकी शैली का परिचय इनसे भाष्यों से भी प्राप्त किया जा सकता है।

महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद भाष्य का निर्माण १८३४ मार्ग शीष शुक्ल पक्ष की छठी को प्रारम्भ किया था इस विषय में ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ में लिखा है।

विद्यानन्द समवति चतुर्वेद-संस्तावना या,
संपूर्येश निगमनितय संपणम्याथ कुर्वे।
वेदत्र्यङ्के विद्युयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्ग भौमे,
ऋग्वेस्याखिल गुणगुणीज्ञा दातुर्हि भाष्यम्।

अर्थात् जो चारों वेदों की भूमिका विद्यानन्द को देती है उसे पूरा कर परमेश्वर को प्रमाण मानकर सं० १८३४ मार्ग शुक्ल छठी मंगलवार के दिन ऋग्वेद भाष्य का आरम्भ करना है। इसके कुछ समय के अनन्तर विक्रमीय सं० १८३४ के पौष शुदी १३ गुरुवार के दिन यजुर्वेद भाष्य का प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में भाष्यारम्भ में निम्न श्लोक दिया गया है।

चतुस्त्र्यङ्करकैः-अवनि-सहितैर्विक्रमसरे
शुभे पौष मासे सितदल भविश्चोन्मित तिथौ।
गुरोर्वारे प्रातः प्रतिपदमतीष्टं सुविदुषां
प्रमाणैर्निबद्धं शतपथ् निरुक्तादिभिरपि॥

विक्रम की सं० १८३४ पौष सुदी गुरुवार त्रयोदश तिथि के दिन यजुर्वेद भाष्य का बनाना प्रारम्भ किया जाता है। एवम् ऋग्वेद भाष्य के

प्रारम्भ से लगभग एक मास के पश्चात् ऋषि ने यजुर्वेद भाष्य निर्माण प्रारम्भ कर दिया था। इस भाष्य की समाप्ति के विषय में भाष्य समाप्ति पर निम्न लेख लिखा गया है—

मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष १ (एक) शनौ सं० १८३६ में समाप्त किया। वैशाख शुक्ल ११ सं० १८४६ में छपकर समाप्त हुआ। एवं ऋग्वेद तथा यजुर्वेद का भाष्य ऋषि ने लगभग एक ही समय प्रारम्भ कर दिया था। उन में यजुर्वेद का भाष्य लगभग ५ वर्षों में पूरा कर लिया था। साथ ही साथ आधे से अधिक ऋग्वेद का भाष्य भी ऋषि निर्माण कर चुके थे।

महर्षि के ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका का मुद्रण सं० १९३४ में प्रारम्भ हुआ था तथा १८३५ में समाप्त हो चुका था। परन्तु वेद भाष्यों का मुद्रण तथा संशोधन उन के स्वर्गारोहण के पश्चात् भी १८४० तक होता रहा। उनके भाष्य प्रथम तो मासिक अङ्कों में ही निकलते रहे थे तथा उनके जीवन काल में यजुर्वेद के ११ अध्याय एवं कतिपय मंत्र ५१ अङ्कों तक मुद्रित हुए थे और ऋग्वेद का प्रथम मंडल ८६ सूक्त के पाँचवें मन्त्र तक ही ५१ अंकों में मुद्रित हो पाये थे इस प्रकार उनकी उपस्थित में दोनों भाष्यों में लगभग पाँचों हिस्से ही मुद्रित हो सके थे शेष उनके देहावसान के पश्चात् प्रकट हुए अजुर्वेद का पूर्ण मुद्रण ता उनकी मृत्यु के लगभग ६ वर्षों के अनन्तर १८४६ में हुआ और ऋग्वेद भाष्य का पूर्ण मुद्रण तो इसके भी १० वर्षों के बाद लगभग १९५६ वि० अषाढ़ मास और कृष्णपक्ष की पंचमी को हुआ है। इससे स्पष्ट हुआ कि ये दोनों भाष्य उनकी मृत्यु के चिरकाल

संस्कृत-दीर्घा

धार्मिक सहिष्णुता—

आज हमारे देश में धार्मिक असहिष्णुता के कारण वातावरण बहुत दूषित हो गया है। परन्तु भारत में सदासे ऐसी दशा नहीं रही। गुप्तकाल जिसे भारत का सुवर्णकाल कहा जाता है उस समय सर्व प्रकार से धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान थी। गुप्तकालीन लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय भारत में निम्न धार्मिक धारायें बह रही थीं—

(१) वैदिकधर्म (२) वैष्णवधर्म (३) शैवधर्म (४) सूर्यपूजा (५) शक्तिपूजा (६) बौद्धधर्म और (७) जैनधर्म, ये सब बिना किसी झगड़े के विकास पा रहे थे। गुप्तों के समय वैदिकधर्म राजधर्म बना हुआ था। इस पर भी वैष्णवधर्म पर उन की कृपा थी। चन्द्रगुप्त २ य, कुमारगुप्त, और स्कन्दगुप्त अपने को वैष्णवमतावलम्बी कहते थे। गिरनार पर्वत पर उत्कर्ण कराये स्कन्दगुप्त के शिलालेख में लिखा है—‘स जयति विजितार्तिविष्णु-रत्यन्तजिष्णुः।’ इसने मितरी (वर्तमान गाजीपुर) ग्राम में विष्णु की एक मूर्ति भी स्थापित कराई थी। स्कन्दगुप्त के अमात्य ‘चक्रपालित’ ने एक विष्णुमंदिर बनवाया था। बंगाल के राजशाही ज़िले के पहाड़पुर ग्राम में कृष्ण की बाल्यावस्था की अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। पुरातत्त्व ज्ञान से सिद्ध हो चुका है कि ये सब गुप्त कालीन हैं। इन्हीं गुप्तों के समय विष्णु के ‘वराह’ अवतार की मूर्तियों का प्रचार था। वैष्णवधर्म के साथ साथ शैवधर्म भी फैल रहा था। चन्द्रगुप्त २ य के मथुरास्तम्भ लेख में शिव की मूर्तियाँ बनवाने का उल्लेख है। कुमारगुप्त प्रथम ने ४३७ ई० में एक लिंगस्थापित कराया था। इन धाराओं के साथ सूर्यपूजा भी चल रही थी। गवालियर राज्य से कुमारगुप्त का एक लेख मिला है जिसमें सूर्यपूजा का

वर्णन है। वहाँ लिखा है—“पायात् स वो भार्करः” “तस्मै सविधे नमः”। विहार में प्राप्त स्कन्दगुप्त की माता द्वारा उत्कीर्ण कराये लेख में शाक्त धर्म की सूचना मिलती है। वहाँ लिखा है—“स्कन्द प्रधानैभुवि मातृभिश्च।” इन सब के साथ साथ बौद्धधर्म भी फैल रहा था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में सुकुलिदेश के पाँच भिक्षुओं को खान-पान का व्यय दिया गया था। शोरकोट (पंजाब) में प्राप्त हुआ। इस लेख में भी चन्द्रगुप्तद्वितीय द्वारा एक विहार को दान देने का उल्लेख है। कुमारगुप्त प्रथम के लेख में भगवान बुद्ध की मूर्ति स्थापित करने के उल्लेख है। इनके अतिरिक्त महावीर के अनुयायी भी उस समय सामाजिक कार्य में हाथ बंटा रहे थे। स्कन्दगुप्त ने तीर्थङ्कर की चार प्रतिमायें प्रतिष्ठित कराई थीं।

ये सब उदाहरण इस बात को सिद्ध करते हैं कि उस समय धार्मिक सहिष्णुता बहुत थी। राजा का अपना धर्म चाहे कुछ भी क्यों न हो वह दूसरों के भावों को चोट पहुँचाने के स्थान पर उनका आदर करता था, उन्हें दान देता था और उनके देवताओं की प्रतिष्ठा करता था। यही कारण है कि सातों धारायें समानान्तर बह रही थीं। उसी आदर का यह परिणाम है कि आज तक हिन्दू लोग विचार, देवता, दर्शन आदि से एक न होये हुए भी हिन्दुत्व की दृष्टि से एक हैं। क्या ही अच्छा हो यदि आज की सरकारें भी गुप्त राजाओं का अनुकरण करें। क्या श्री फजूल-उल हक और श्री जिन्ना इधर ध्यान देंगे?

पुनर्जन्म का नया प्रमाण—

झाँसी जिलान्तर्गत ‘मड’ नामक ग्राम में एक बच्चा रहता है। इसकी आयु ३ वर्ष है। यह बच्चा पूर्वजन्म का संस्कृत का विद्वान् है। बालक हिन्दी व संस्कृत शब्दों का

शुद्ध उच्चारण करता है। गीता और रामायण का उसे अच्छा ज्ञान है। यदि कोई उसके सम्मुख गीता का आवाश नोकर पड़े तो वह उसका उच्चारण कर देगा। इसी प्रकार रामायण की किसी भी अक्षरी चौपाई को वह पूरा करके सुना देगा। वह दिन में चार बार स्नान करता है। कपड़े पर न सोता है और न बैठता है। पृथ्वी ही उसका बिछौना है। जान पड़ता है कि वह पित्रु जन्म का ब्राह्मण है। यह पुनर्जन्म का ऐसा स्पष्ट प्रमाण है जिससे कट्टर से कट्टर भी इन्कार नहीं कर सकता। पुनर्जन्म को न मानने वाले लोग इनका समाधान क्या करेंगे

दक्षिण हैदराबाद के अछूत—

दक्षिण हैदराबाद भारत की सबसे बड़ी रियासत है। इसमें ६० प्रतिशत हिन्दू बसते हैं। रियासत में हिन्दुओं की संख्या लगभग १ करोड़ है। इनमें से कई लाख अछूत हैं। इनकी अवस्था बहुत अधिक चिन्ताजनक है। न खाने की अन्न है, न पीने की अच्छा पानी और न पहनने की वस्त्र! परिमाणतः इसाई प्रचारक धन के प्रलोभन से अछूतों को इसाई बना रहे हैं। पित्रु कुटुम्बों में हजारों लोग इसाई बन चुके हैं। इसाईयों की देखा देखी अब मुसलमान भी क्षेत्र में उतर जायें। अपनी थोड़ी संख्या को अधिक बनाने के लिये मुसलमानों ने इसे स्वर्गीय अवसर समझा है। इनको भी अच्छी सकलता हो रही है। इनको राज्य की ओर से गुप्तरूप से जन-धन की बड़ी सहायता प्राप्त हो रही है। इसलिये इनका काम बड़ी सुगमता से चल रहा है।

इस अवस्था में आर्यसमाज के लिये चुप बैठना असम्भव था। यही कारण है कि आर्यप्रतिनिधिसभा निजाम राज्य पूरी शक्ति से अछूतों को बचाने का प्रयत्न कर रही है। परन्तु उसे जन-धन की अत्यावश्यकता है। हम प्रत्येक आर्य व हिन्दू से विशेष कर निजाम राज्य की जनता से प्रार्थना करते हैं कि वे इस शुभ कार्य में आर्य प्रचारकों को धन और जन से सहयोग दे। आर्यसमाज का सारा कार्य जनता के सहारे चलता है। राज्य की शक्ति का सहारा बिना पाये ही ६० वर्ष से आर्यसमाज अपना प्रचार कर रहा है। यदि इस कार्य में भी जनता ने सहयोग किया तो हम इस बात को डंके की चोट कहते

हैं कि इसाई और मुसलमान प्रचारक सब प्रकार की सुविधाएं होते हुए भी पिछड़े जायेंगे। अन्त में हम आर्य-जनता का ध्यान एक बार फिर इस ओर आकृष्ट करने हैं। कि वह इस पुनीत कार्य में सहयोग देकर अपने हृदय के दुकड़ों को विवर्णी होने में बचावे।

प्राचीन भारतीय सभ्यता का खोज—

पुरातत्त्व विभाग की नवीनतम खोज द्वारा ज्ञात हुआ है कि सिन्धुतट की सभ्यता पूर्वी काठियावाड़ तक फैली हुई थी। अहमदाबाद जिला से लगती हुई 'लिम्बदी' रियासत में एक ८७ एकड़ लम्बे टील की खुदाई में वैसे ही वस्तुएं प्राप्त हुई हैं जसे 'महन्जोदारो' और 'हड़प्पा' से मिली हैं।

इसी प्रकार तथ्य शिला में प्राचीन 'धर्मजिक स्तूप' की खुदाई की गई है। वहां दरबारी मोहरें (प्रतीक चिह्न) मिली हैं जो उस समय प्रयुक्त की जाती थीं। सब से अधिक महत्व का विषय तो उस मध्यमवर्ती स्तूप की खुदाई है जिसमें सोन की सन्दूकड़ी में सहात्मा बुद्ध की अस्थियां सुरक्षित रखी गईं थीं। यह सोने की सन्दूकड़ी (कास्केट) स्वयं भी अन्य दो सन्दूकड़ियों में बन्द हुई पायी गयी है। इस सन्दूकड़ी का काल रोमन सम्राट् ऑगस्टस की मुद्रा (कायन) द्वारा जाना गया है। जो उस में पड़ी पाई गई है। इस मुद्रा के साथ ही शक राजा 'अजिलिसिज' की भी एक रजत मुद्रा मिली है। इस खोज से शकों के इतिहास में कुछ हेर फेर होने की सम्भावना है।

इसके अतिरिक्त उदयपुर रियासत में 'चितगढ़' के समीप एकदेवनागरी लिपि में लिखा हुआ शिलालेख लिखा है। इस में एक राजा द्वारा 'अश्वमेध यज्ञ' के उपलक्ष्य में वासुदेव और कृष्ण की स्तुति में एक दीवार बनाने का उल्लेख है यह लेख कई दृष्टियों से महत्पूर्ण (१) यह प्रथम लेख है जिस में अश्वमेध का उल्लेख है। इस विषय का अभी तक कोई शिलालेख नहीं मिला था (२) इसकी लिपि देवनागरी और भाषा संस्कृत है। (३) इस में वैष्णवि देवताओं की स्तुति है। यह लेख ईसा से १०० वर्ष पहले का है अर्थात् आज से लगभग २१०० वर्ष पुराना है।

विश्वश्रवा के मुख से

विश्वश्रवा के मुख से घर बैठे ही देश-विदेश की बातें सुनिये और उनसे लाभ उठाईये। यदि आप के घर में तार, रेडियो, टेलीफोन आदि कुछ नहीं तो कोई बात नहीं, हम आपको संसारके नये समाचार सुना-
देंगे। घरवाहों नही।

धून से धन—भारत के लोग तो अच्छी अच्छी वस्तुओं से भी धन नहीं प्राप्त करते परंतु योरोप वाले कूड़े से भी रुपया प्राप्त करते हैं। लन्दन, पेरिस और बर्लिन में कूड़े कर्कट को खरीदने वाली अनेक फर्में हैं। ये फर्में कौन सी वस्तु किस दाम में खरीदती हैं उसकी जानकारी के लिए नीचे कुछ आंकड़े दिए जाते हैं:—

वस्तु	भार	मूल्य
चिथड़े	५०६ टन	३७०००)
विभिन्न धातुएं	१००० ,,	३७०००)
शीशियां, बोतलें आदि	५ लाख	७५००)
कांच के टुकड़े	७६६ टन	७०००)
हड्डियां	३६५ ,,	१५०००)
रद्दी कागज	२६६ ,,	४०००)
पत्र लिफाफे आदि	२५५ ,,	२०००)
अन्य कूड़ा	५२६१ ,,	७५०००)

इस प्रकार के व्यवसाय से योरोप में केवल एक ही नगर में प्रतिवर्ष दो लाख रुपए की आय होती है। स्वीडन, नार्वे, डेन्मार्क और बर्लिन को नगर सभाएं (म्यूनिसिपैलिटीज) अपने कूड़े से लाखों रुपया कमाती हैं। पर भारत में तो इस ओर ध्यान देना हो पाय सम्भवा जाता है।

ताश खेलने वाला कुत्ता—कोलम्बिया निवासी रिचर्ड डेविडसन के पास एक ऐसा कुत्ता है जो भिन्न भिन्न ३०० खेल दिखा सकता है। इनमें से सबसे मुख्य ताश का खेल है। इसे सब पतों की बहुत अच्छी तरह पहिचान है। बादशाह पर इक्का मानने से यह कभी नहीं चूकता।

बोलने वाली घड़ी—ब्रिटेन मि० इ० जे० वेन्डर नामक आविष्कारक ने एक ऐसी घड़ी तय्यार की है जो बोलती है। यह घड़ी लन्दन के तार घर में है।

लका का कल्पवृक्ष—लंका में नारियल का पेड़ बहुत होता है। लका वाले इससे इतना कामलेते हैं कि इसे कल्पवृक्ष कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं। बच्चे के पालने से लेकर अर्थी तक सब कार्य इससे लिया

जाता है। खाने के लिए फल, पीने के लिये मीठा पानी, जलाने के लिए लकड़ी, घर बनाने के लिए बल्ला सोने के लिये पत्तों से बनी हुई चटाई, हवा के लिए पत्तों से बना पंखा, मलने के लिए गिरी का तेल, नशे के लिए तने से ताड़ी, तैरने के लिए पेड़ के तने का खोखला करके नाव, ऊपर के पतले छिलकों से तकिये गद्दे आदि, खोपड़ी से बटन, प्याला आदि, तथा चिता के लिये लकड़ी भी, इसी एक वृक्ष से ये सब काम ले लिया जाता है। बताईये यह कल्पवृक्ष नहीं ता क्या है ?

१०० वर्षीय व्यक्तियों का ग्राम—वीन के वयूचो प्रान्त में एक ऐसा ग्राम मिला है जहां के सब के सब निवासी १०० वर्ष आयु के अथवा इससे भी अधिक आयु वाले हैं। इनमें सब से बड़ा १८० वर्ष का है।

देशों के राजा—योरुप में कौन कौन देश कितनी कितनी भूमि का राजा है, यह जानना हो तो नीचे लिखे आंकड़े देखिए:—

नाम	जनसंख्य	वर्गमील
ब्रिटेन	५००,०००,०००	६००,०००,०००
फ्रांस	६०,०००,०००	३,०८०,०००
हालैंड	५५,०००,०००	८००,०००
इटली	१०,०००,०००	१,०००,०००
बेल्जियम	६,०००,०००	६,०००,०००
पुर्तगाल	५,०००,०००	५८०,०००

नकली मनुष्य—इंग्लैंड, अमेरिका, जापान, रूस और जर्मनी के डाकघरों में मशीने ही टिकट बेचती हैं। जर्मनी में तो नकली मनुष्य भी बन चुके हैं, जो प्रश्नों का उत्तर देते हैं। अभी २ एक नकली मनुष्य ने एक यात्री को सारे योरुप की रैर कराई थी। इसी तरह की एक नकली महिला ने एक सज्जन को अपनी मोटर में बिठाकर सैर कराई थी। वे सज्जन उस महिला पर इतने मुग्ध हुए कि उससे विवाह का प्रस्ताव भी करने लगे थे। ऐसे नकली मनुष्यों को 'रावट' कहा जाता है। ऐसा ही एक रावट लाहौर में भी तय्यार हुआ जो लाहौर प्रदर्शनी में दिखाया जायगा। यह भी प्रश्नों का उत्तर देता है।

और इसे 'बाहुमान् इन्द्रः' कहा गया है अर्थात् मालिश करने वाले की बाहुओं का जब शरीर के साथ संघर्ष होता है तब विद्युत् उत्पन्न होती है जो कि मलको कोमल बना देती है।

“मल बाहिर आकर कहे कि लो यह मैं आगया” यह एक अलंकारिक भाषा है इसका तात्पर्य इतना है कि मल, मूत्रादि मार्गों द्वारा बाहिर जाने के लिए तय्यार हो जाये। प्रजापति में मन्त्रार्थ इस प्रकार है :—

पहिले क्षत्रिय राजा इन्द्र ने दुष्टों का नियमन करने के लिए दण्ड का प्रयोग नहीं करना अपितु (अग्निः पूर्वः आरभताम्) ब्राह्मण पहले अपने उपदेशादि के द्वारा उनके दुष्टभावों को दूर करे। पान्तु यदि वे इतने दुष्ट हो चुके हैं कि ब्राह्मण के उपदेश की भी अवहेलना करते हैं तब (बाहुमान् इन्द्रः)

दण्ड देने में समर्थ राजा उनको (प्रणुदतु) दण्ड से वश में करे। और राजा को उनका ऐसा नियन्त्रण करना चाहिए कि जिससे (मर्वः यातुमान्) सब दुष्ट आदमियों का गण (एत्य) अपने आप आकर (ब्रवीतु) कहे कि (अयमस्मीति) लो यह मैं उपस्थित हूँ।

राज्य में दुष्टों का नियन्त्रण करने के लिए राजा को चाहिए कि वह पहिले ब्राह्मणों की प्रेरणा करे कि उपदेशादि के द्वारा वे दुष्टों से दुष्टभाव छुड़वा दें। यदि उनका मन इतना कलुषित होगया है कि ब्राह्मणों के उपदेशों की भी वे परवाह नहीं करते तब राजा को चाहिए कि वह उन्हें दण्ड से नियन्त्रित करे। और इतना नियन्त्रित कि करे जिससे वे प्रतिदिन जेल आदि में आकर अपनी हाजिरी देवें ॥४॥

इदानीं पञ्चमे प्रस्वेदनकर्मणि प्रयुज्यमानो भौतिकोऽग्निः स्तूयते ।

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र नो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः ।

त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आयन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥

पश्याम । ते । वीर्यम् । जात वेदः । प्र । नः । ब्रूहि । यातुधानान् । नृचक्षः ।

त्वया । सर्वे । परि-तप्ताः । पुरस्तात् । ते । आ । यन्तु । प्र-ब्रुवाणाः उपे । इदम् ॥५॥

अ० :—जातवेदः ! ते वीर्यं पश्याम । [हे] नृचक्षः ! नो यातुधानान् प्रब्रूहि । त्वया परितप्ताः ते सर्वे इदं प्रब्रुवाणा [नः] पुरस्तात् उपायन्तु ॥५॥

हे जातवेद ! जाते जाते द्रव्यमात्रे विद्यमानाग्ने ते वीर्यं रोगनिवारण शक्ति पश्याम । तथा स्वशक्ति प्रदर्शय येन साऽस्माकमपि

प्रत्यक्षगोचरा भवतु । हे नृचक्षः ! नृभ्यो रोगस्य याथातथ्यमाचक्ष्णस्त्वं त्वङ्मार्गेण विस्फोटकपिडं हृदि विभाव्य नानारूपधरा मलविकारा यातुधानाः क निलीना इति प्रब्रूहि त्वया परितप्तास्ते सर्वे न पुरस्तात् इदं प्रब्रुवाणा उपायन्तु ।

प्रजापक्षे—हे जातवेद ! यत्किञ्चित् प्रजासु

वृत्तां तस्य यथायथा जातं तथा तथा
वेत्तर्नृचक्षः नृणां सुबदर्शनादिना तेषां चरित्र-
परीक्षायां विचक्षणान्ने त्वं नो यातुधानान्
छद्मरूपधरान् प्रजासु नानाव्यञ्जनैस्वञ्चरतो
मायाविनो दुष्टान् स्वपरीक्षाशक्त्या विविच्य
प्रब्रूहि स्वकीयेनोपदेशेन तास्तथा परितापय

येन त्वया परितप्तास्ते न केवलपात्मनो दो-
षास्तव सम्मुखे प्रख्यापयन्त्वपित्वन्यानप्या-
त्मसदृशानुपदेशवद्भिना दग्धकल्मषान्कर्तुं
न्त्वत्समीपमानयन्तु ते च ते पुरस्तात् इदं
वक्ष्यमाणस्वरूपं वचः प्रब्रुवाणा उपायन्तु ।
तदा वयं ते वीर्यं पश्याम ॥ ५ ॥

प्रथम मन्त्र में अग्नि में मल विनाश का
सामर्थ्य, द्वितीय मन्त्र में जाठराग्नि की अति-
स्नेह के प्रयोग से मन्दता और परिमित मात्रा
में भोजन खाने से यातुधानों अर्थात् मलों का
विनाश, तृतीय मन्त्र में मलों के विनाश के
अनन्तर कृमियों के विनाश का वर्णन किया
गया है। चतुर्थ मन्त्र में मालिश आदि के
द्वारा बाहुओं तथा शरीर के संघर्ष से उत्पन्न
विद्युत् रूप अग्नि का प्रयोग बताया गया है।

अब पांचवें मन्त्र में पसीने आदि लाने
के काम में उपयुक्त भौतिक अग्नि का वर्णन
किया जाता है। मन्त्रार्थ निम्न है —

(जातवेदः) उत्पन्न हुए २ प्रत्येक पदार्थ
में विद्यमान हे अग्नि (ते वीर्यम्) तेरी रोग
निवारण शक्ति को (पश्याम) हम देखते हैं।

हे (नृचक्षः) मनुष्यों को रोग की यथा-
र्थता बताने वाली अग्नि ! तू (नः) हमें (यातु-
धानान्) नाना रूपों वाले 'मल विकार' कहां

छिपे बैठे हैं' यह (ब्रूहि) बता। (त्वया)
तेरे से (परितप्ताः) पीड़ित किए हुए (सर्वे)
सब यातुधान (इदं प्रब्रुवाणा) यह कहते
हुए (नः उपायन्तु) हमारे पास आवें।

प्रजापक्ष में मन्त्रार्थ निम्न होगा —

(जातवेदः) प्रजाओं में जैसा-जैसा हो
रहा है उसको वैसा २ जानने वाले। (नृचक्षः)
मनुष्यों के चरित्रों को देखने मात्र से पह-
चानने वाली अग्नि ! तू हमें (यातुधानान्)
प्रच्छन्न रूपधारी, प्रजाओं में नानारूपों से
विचरण करते हुए मायावियों को अपनी
विवेचन शक्ति से पहचान कर (प्रब्रूहि)
बतला और अपने उपदेश से इतना तपा कि
(त्वया परितप्ताः सर्वे) तेरे से तपाये गये वे
सब (ते पुरस्तात्) तेरे सामने (इदं प्रब्रुवाणा)
अपने दोषों को निवेदन करते हुए (उपायन्तु)
तेरे समीप आवें। (ते वीर्यं पश्याम) तब
हम तेरे कौशल को जानेंगे ॥ ५ ॥

ते च किम्ब्रुवाणा उपायन्त्वित्यग्रिममंत्रो दर्शयति—

आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थीय जज्ञिषे ।

दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

आ । रभस्व । जातवेदः । अस्माकं । अर्थाय । जज्ञिषे । दूतः । नः । अग्ने । भूत्वा ।

यातुधानान् । वि । लापय ॥ ६ ॥

उत्ताह समागम, विधानि, परिपाक, इन चारों दशाओं में सम्मति लक्षण दोनों ओर बराबर होती है। कार्य कर्ताओं की वितय सन्दिग्ध होती है। परन्तु फल के प्रयोग करने वालों द्वारा प्रमाणित होने पर सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता और बहुपक्ष काय कर्ताओं के हाथ में आजाता है। यही पञ्चम प्रयास की महिमा है।

अब अग्नी और प्रायाजों का परस्पर सम्बन्ध बताने के लिये एक आख्यान लिखते हैं। इस आख्यान का भाव समझने के लिये पहिले अग्नि क्या है, यह समझ लेना चाहिये। शतपथ ब्राह्मण में अग्नि के दो प्रयोग कहे गए हैं। एक दैव प्रयोग एक आसुर प्रयोग।

व्याक्तिगत स्वार्थ को पूरा करने के लिये हर एक का अपने लिये चावल पकाना, स्नान के लिये जल गरम करना आदि अग्नि के आसुर प्रयोग हैं। दूसरी ओर प्रजा के कल्याण के लिये अपने आप को आहुति करने के निमित्त हृदय में प्रबल स्वार्थ भाग की अग्नि जलाना अग्नि का दैव प्रयोग है। देखिये शतपथ में लिखा है कि—

“ते होचुः अथैनं वयं न्येव धास्यामहे
अत्र तृणानि दह, अत्र दारुणि दह, अत्र
ओदनम् पच, अत्र मांसं पचेति। स ये
तमसु सुरान्यदधत तेन अनेन मनुष्या
भुञ्जते। अथैनं देवा अन्तरात्मन्नादधत।

श० २-२-२-८—१४।

अर्थात्—(देवों के पूछने पर) वे (असुर)

बोले हम इस का (अग्नि का) निधान करेंगे इस से कहेंगे यहां तृण जला, यहां काष्ठ जला यहां भात पका, यहां मांस पका। सो जिस अग्नि का असुरों ने निधान किया उस से मनुष्य भोजन करते हैं। दूसरी ओर देवोंने उसका अन्तरात्मा में आधान किया।”

इस प्रकार स्पष्ट है कि असुर चूल्हे में अग्निनिधान करते हैं, देव आत्मा में अग्नि-आधान। वह आत्मा में जलने वाली अग्नि क्या करती है यह एक और वाक्य से स्पष्ट होता है:—

असुराः....स्वेवास्येषु जुहुतश्चैसः

श०। ११। १। ८।

देवाः अन्योऽन्यास्मिन्नेव जुहुतश्चैसः

। श०। ११। १। ८। २।

“असुर अपने अपने मुख में हवन करते विचारते रहे।” इस प्रकार निस्वार्थ लोगों के हृदय में जलने वाली यह अग्नि ही संसार के कल्याण का कारण है। किन्तु यह अग्नि अपने कार्य में सफल नहीं हो सकती जब तक यह क्रम बद्ध न हो।

दूसरी ओर यह देखने में आता है कि मनुष्य स्वार्थपूर्ति के लिये सङ्गठन श्रष्ट बनालेते हैं। असुरों के संगठन संसार में श्रष्ट बन जाते हैं। यह बात दूसरी है कि फल प्राप्ति पर बटवारे के लिये कलह उत्पन्न हो कर इन यज्ञों का विध्वंस शीघ्र ही स्वयं हो जाता हो परन्तु प्रत्यक्ष तथा शीघ्र फलदायक होने के कारण यह भट उत्पन्न हो जाते हैं।

और दृढ़ प्रतिज्ञ, अपने विचारों के लिये मर मिटने वाले, लोगों का सङ्गठन करना बड़ा कठिन है, क्योंकि वे लोग निःस्वाथ होने के कारण बिना तर्क के झूठ से दूसरे की बात मानने को तय्यार नहीं होते। किन्तु उनका सङ्गठन जैसा चिर साध्य है ऐसा ही चिर-स्थायी भी होता है। यही बात यहां आख्यायिका द्वारा दिखाई गई है।

अग्नि का अर्थ स्पष्ट कर ही दिया गया है। ऋतु का अर्थ है क्रम। यह स्थूल फलाभिलाषी असुर लोगों में बहुत पाया जाता है। दो डाकूओं का सङ्गठन बड़ा सुकर है डाके का स्वार्थ उन्हें झूठ मिला देता है। दो निःस्वार्थ विद्वानों का मतभेद मिटाना कठिन है, क्योंकि उनमें द्वेष नहीं मतभेद है, और दोनों ही स्वार्थ हीन हैं, किन्तु जब उनका भेद मिट जावे तो उनका सङ्गठन भी अटल होता है। अब आख्यायिका सुनिये:—

“जब वेदों को यज्ञ में भाग मिलने लगा तो ऋतुओं ने भी भाग चाहा। वे कहने लगीं हमें भी यज्ञ में भागी बनाओ। हमें यज्ञ से बहिष्कृत न करो। हमारा भी यज्ञ में भाग होना चाहिये ॥१॥ परन्तु ऋतुओं की इस बात को देवों ने अनसुनी कर दिया, कुछ न जाना, इस पर ऋतु देवों के अनजाने ही देवों के अप्रिय, देवों के शत्रु असुरों से जामिले ॥२॥ इस से उनमें समृद्धि बढ़ने लगी। वही समृद्धि जो देवों में सुनने में आती है। एक हल वाह रहे हैं, दूसरे बीज बो रहे हैं, तीसरे काटने जा रहे हैं कोई पयारी (पंजाबी ‘गाही’)

कह रहे हैं, किसी के घर बिना जोते खेती कट रही है ॥३॥ इस पर देवों के हृदय में बड़ी चोट लगी। वे सोचने लगे। यह तो हमारे लिये बड़ी छोटे पन की बात हुई जो शत्रु कल दबा हुआ था वह आज हमारा द्वेष बन कर भाग देने से बचना चाहता है, हमें कुछ दिया नहीं चाहता, अगति हो रहा है। अब कोई ऐसी तर्कीब सोच निकालो जिससे यह अवस्था बदल जावे ॥४॥ वे (देव) बोले चलो ऋतुओं को निमन्त्रण देकर अपने साथ मिला लो (प्रश्न हुआ) कैसे मिला लें? (उत्तर) यज्ञ में पहिले इनके नाम की आहुती हो ॥५॥ इस पर अग्नि बोला अब तक जो यज्ञ में पहिले मेरे नाम का यज्ञ होता था सो मेरा क्या बनेगा, मैं कहाँ जाऊँ? (देव बोले) हम तुझे भी अपने स्थान से भ्रष्ट न होने देंगे। सो ऋतुओं को निमन्त्रण देते समय, क्योंकि उन्होंने (देवों ने) अग्नि को अपने स्थान से च्युत नहीं होने दिया, इस लिये अग्नि का नाम अच्युत है जो इन प्रकार इस अच्युत अग्नि के मार्ग को जानता है वह अपने स्थान में स्थित होता है जिस स्थान से च्युत नहीं होता है ॥६॥ (इस अग्नि को स्थान से च्युत न होते हुए ऋतुओं को निमन्त्रण देने की उलझन को सुलझाने के लिये) वे देव अग्नि से बोले, जा इनके पास जा कर तू ही इन्हें मना कर ला। इस पर अग्नि उनके पास जा कर बोला ऋतुओ! मैंने तुम्हें यज्ञ में भाग दिलवा दिया है। वे बोले कैसे दिलवा दिया है? वह बोला यज्ञ में

तुम्हारे लिए ही यजन किया जायेगा । ७ ।
इस पर वे ऋतु अग्नि से बोले हम भी तुझे
अपने में सह भागी बनाते हैं क्योंकि तुने हमें
यज्ञ में भाग दिलवाया है । इसी लिये वह
यह अग्नि ऋतुओं में (प्रजाओं में)
सम्मिलित है । देखिये १ समिधो अग्ने

२ तनूनपादअग्ने ३ इडो अग्ने ४
बहिरअग्ने ५ स्वाहा अग्निम् इन पाँचों
ऋतुओं के पाँचों प्रयाजों में अग्नि का नाम है

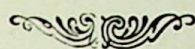
जो मनुष्य ऋतुओं के नाम के यज्ञ में
इस प्रकार अग्नि का भी भाग है यह जानता
है, उसके सामने जब मैं भी तेरे बराबर हूँ
ऐसा कहने वाला कोई पौर्णमासादि यज्ञ
कराता है, तो उस यज्ञ में इस अग्नि के भाग
की बात जानने वाले को भी फल का भाग
प्राप्त होता है । इस अग्नि तत्त्व को जानने के
कारण वह अग्निमान् कहलाता है । और इस
अग्निमान् के लिए ऋतु भी अग्निमान् बन कर
संसार के सब पदार्थों को परिपक्व कर के
उसके सामने उपस्थित करते हैं ॥८॥ अब इस
में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आवाहन
विधि में—“अग्निमग्न आश्वह साममाश्वह
अग्निमाश्वह अग्नीषोमा वाश्वह देवां २
आज्ययां २॥ आश्वह अग्नि होत्रायाश्वह
स्वं माहंमान् माश्वह आचवह जानवेदः
यज देवान् आज्यपातावह” (देखो पृष्ठ २४०)
इस वाक्य से प्रयाजों का आवाहन सब से
पीछे होता है । परन्तु मुख्य आहुतियों के

प्रसंग में इनके नाम के भाग की आहुतियाँ
सब से प्रथम दी जाती हैं । इसका क्या
कारण है ? इसका उत्तर यह है कि यज्ञ में
इनकी कल्पना पीछे हुई है इसलिए आवाहन
पीछे होता है । परन्तु क्योंकि उनके साथ
प्रतिज्ञा कर ली गई थी कि यज्ञ में तुम्हारी
आहुति पहिले होगी (देखो पृष्ठ २६० कं० ५)
इसीलिये आहुति पहिले दी जाती हैं । तात्पर्य
यह है कि पहिले उद्देश्य (अग्नि) है पीछे
कार्य-क्रम (प्रयाज) है । परन्तु कार्य आरम्भ
करने के समय कार्य-क्रम को सामने रख के
उद्देश्य की शर्तें की जाती हैं । कार्य-क्रम
बनाने के समय जो उद्देश्य उस कार्य-क्रम
का जन्मदाता था कार्य आरम्भ करने के
समय वह पीछे पड़ जाता है और कार्य-क्रम
पहिले आजाता है । कार्यारम्भ में क्रम
विपर्यय होता है । १६। चतुर्थ प्रयाज से देवों
ने यज्ञ को पाया, पञ्चम प्रयाज से उसको दृढ़
मूल कर दिया, उसके पश्चात् जो आज्यभाग,
पुरोडाश भागादि होते हैं उनसे स्वर्ग लोक
को प्राप्त होते हैं ॥१०॥ सो स्वर्गलोक को जाते
समय उन्हें यह भय था कि असुर और राक्षस
कहीं बीच में विघ्न न कर दें इसीलिये उन्होंने
राक्षसों को मानने में कुशल, राक्षस विनाशक,
अग्नि को आगे कर लिया । राक्षस नाशकुशल
राक्षस नाशक, अग्नि को बीच में कर लिया ।
राक्षस नाश कुशल, राक्षस विनाशक अग्नि को
पीछे कर लिया ॥११॥ सो यदि उन पर सामने
से राक्षसा ने आक्रमण करना चाहा

तो राक्षस नाशकुशल, राक्षस विनाशक अग्नि ने ही उन का नाश कर डाला। यदि मध्य भाग पर राक्षसों ने आक्रमण करना चाहा तो राक्षस नाश कुशल, राक्षस विनाशक अग्नि ने ही उन का नाश कर डाला। यदि पीछे से राक्षसों ने आक्रमण करना चाहा तो राक्षस नाशकुशल राक्षस विनाशक अग्नि ने ही उन का नाश कर डाला। इस प्रकार सम्मुख, मध्य और पीछे सब ओर से अग्नि द्वारा रक्षित हो कर उन्होंने ने स्वर्ग लोक का उपयोग पाया ॥१२॥ सो यह वही बात यहां होती है। यजमान चतुर्थ प्रयाज को वश में करके यज्ञ को वश में करता है और पांचवें प्रयाज से उसे दृढ़ मूल करता है। उस के पश्चात् जो कुछ किया होती है उस से स्वर्ग लोक का उपयोग करता है ॥१३॥ सो यह जा आग्नेय आज्य भाग का हवन किया जाता है यह राक्षसविनाश, कुशल, राक्षस विनाशक अग्नि को आगे करता है। यह जो आग्नेय पुरोडाश हवन किया जाता है यह राक्षस विनाश-कुशल, राक्षस विनाशक अग्नि को बीच में करता है। उस के पश्चात् स्विष्टकृत् अग्नि के नाम से जो हवन होता है यह राक्षस विनाशकुशल राक्षस, विनाशक अग्नि को पीछे करता है। सो यदि उस यजमान पर सामने से असुर-राक्षस आक्रमण किया चाहते हैं तो राक्षस विनाश कुशल, राक्षस

विनाशक अग्नि ही उन्हें मार देता है। यदि मध्य में असुर-राक्षस आक्रमण किया चाहते हैं तो राक्षस विनाश कुशल राक्षस विनाशक अग्नि ही उन्हें मार देता है। यदि पीछे से असुर राक्षस आक्रमण किया चाहते हैं तो राक्षस विनाश कुशल राक्षस विनाशक अग्नि ही उन्हें मार देता है। इस प्रकार चारों ओर से अग्नि द्वारा सुरक्षित होता हुआ वह यजमान स्वर्ग लोक का उपयोग करता है। १५। सो यदि यज्ञ के प्रथम भाग में कोई यजमान का ध्यान यज्ञ से विक्षिप्त करने के लिये उस से बात-चीत छेड़ दे तो अध्वर्यु को चाहिये कि यजमान को समझा दे तू यज्ञ के आदि भाग में जो कि यज्ञ का मुख है ध्यान च्युत होने लगा है सो तुझे मुख वाली व्याधि प्राप्त हो जावेगी। अन्धा या बहिरा हो जायगा। यही मुख की व्याधि में है और समय ध्यान च्युत होने से ऐसा ही होता है। १६। यदि यज्ञ के मध्य में कोई ध्यान च्युत करने के लिये बोल पड़े ता अध्वर्यु यजमान से कहे कि इस की ओर ध्यान मत दे, नहीं तो प्रजाहीन तथा पशुहीन हो जायगा क्योंकि यही यज्ञ का मध्य है और ऐसा ही होता है अर्थात् अध्वर्यु का कहना न मानने वाले को यही फल होता है। १७। यदि यज्ञ के अन्तर्भाग में कोई यजमान से उस को ध्यान च्युत करने के लिये बोल

आर्यसमाजें ध्यान दें



ऋषि की जन्मशताब्दी की एकमात्र स्मृति दयानन्द उपदेशक विद्यालय से आर्य जनता भली भाँति परिचित है। इस विद्यालय में वैदिक धर्म के प्रचारक उपदेशक तय्यार किये जाते हैं। यहाँ से पढ़ कर तय्यार हुए अनेक पतिद्ध उपदेशक बड़ी योग्यता से वैदिक धर्म के प्रचार का काम कर रहे हैं। इन उपदेशकों के तय्यार करने का सारा व्यय आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, ही उठाती है। उभा को इस व्यय के लिये ४०००) के लगभग आय तो महाविद्यालय के स्थिर कोश के व्याज से ही हो जाती है। शेष ३०००) के लगभग राशि का प्रबन्ध सभा को और करना होता है। पंजाब की ढाई सौ तीन सौ समाजें तो ऐसी समर्थ हैं जो प्रतिवर्ष उत्सव करती हैं और अनेक संस्थाओं को धन की सहायता पहुंचती हैं। यदि ये समाजें प्रति वर्ष उपदेशक विद्यालय को १०) की सहायता दे दिया करें तो विद्यालय धन की चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो सकता है। बड़ी समाजें तो इससे भी अधिक सहायता कर सकती हैं। सब समाजों को इस विषय पर अपनी अन्तरंग में विचार करा के लौटती डाक से कम से कम १०) अवश्य भिजवा देना चाहिये। अधिक जितना दे सकें।

इसके अतिरिक्त समाजों के सप्ताहिक सत्संग में सब सभासदों को यह भी प्रेरणा कर देनी चाहिये कि वे अपने घरों में संस्कारों के अवसर पर दान के समय दयानन्द उपदेशक विद्यालय जैसी उपयोगी संस्था का भी ध्यान रक्खा करें।

बदरीदास

प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब

पण्डित प्रियव्रत प्रिण्टर और पब्लिशर द्वारा भारती प्रिण्टिङ्ग प्रेस, हस्पताल रोड, लाहौर।
में छपकर गुरुदत्त भवन, रावी रोड लाहौर, से प्रकाशित हुआ।

आप ज ^{कालय} हैं

कि आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब ने ^{विभाग} जनता के सम्मुख **वेद**
गम्भीर समुद्र के उज्ज्वल रत्नों को रखने के लिये **“वैदि**
अनुसन्धान-विभाग” की स्थापना कर रखी है। इस विभाग
 वेदों के अद्वितीय, प्रतिभाशाली विद्वान् श्री **पं० बुद्धदेव जी** विद्यालंकार
 की अध्यक्षता में **पं० प्रियव्रत जी** वेदवाचस्पति, **पं० चन्द्रगुप्त जी**
 वेदालंकार तथा **पं० भगवदत्त जी** वेदालंकार जैसे उद्भट विद्वान् खोज
 का काम कर रहे हैं। इस विभाग की ओर से वेदों पर निम्न अद्वितीय
 ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—:

ब्रह्मयज्ञ १), देवयज्ञ १), स्वर्ग १), मरुत् १), सोम १)

शतपथ में एक पथ १), (इनका मूल्य लागत मात्र रक्खा गया है।

इसके अतिरिक्त प्रतिमास **शतपथ** भाष्य तथा **अथर्ववेद** भाष्य
 लिखा जा रहा है। **ऋग्वेद** तथा **अश्विनौ** पर खोज हो रही है। ये
 पुस्तकें रूप में आप के सम्मुख उपस्थित होंगे। इसी विभाग की ओर से
आर्य पत्र निकलता है। सब खोज पहले इसमें छपती है फिर पुस्तक रूप
 में। यदि पंजाब को प्रत्येक **आर्यसमाज प्रतिवर्ष १०)** इस विभाग
 को दे दिया करे, तो धन की चिन्ता से मुक्त होकर वैदिक साहित्य की उस से
 बड़ी सुविधा से हो सकती है। फिर वेद के परिणत रूपों की चिन्ता से मुक्त
 होकर स्वाध्याय में पूर्णरूप से जुट सकते हैं। **१०) प्रतिवर्ष देना क**
कठिन बात नहीं है। १०) भेजने वालों को आर्य विना मू
भेंट रूप में दिया जाएगा। हमें आशा है कि **१०) भेजना प्रत्ये**
 समाज तथा आर्यपुरुष अपना **कर्त्तव्य समझेगा।**

कार्यालय, अनुसन्धान विभाग, गुरुदत्तभवन, लाहौर

